श्रीः

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका

द्वितीय खण्ड

२

मोतीलालशर्म्मोपाह्वो मुक्तरक्तशर्म्मा
आङ्गिरसो भारद्वाजः
वेदवीथी-पथिकः
जयपत्तनाभिजनः

श्री:

श्रीयुत सम्माननीय संस्कृतिपरायण मानवश्रेष्ठ श्रेष्ठिप्रवर श्रीकुड़ीलालजी सेकसरिया महाभाग
के
समर्थ करकमलों में ससम्मान प्रस्तुत ग्रन्थ

कृतज्ञतापूर्वक-समर्पित

जिनकी महती उदारता से विगत ८-१० वर्षों से हमारी सांस्कृतिक-साहित्यिक--सम्पूर्ण प्रगतियाँ प्रक्रान्त हैं, जिनके सात्त्विक सहयोग से ही 'राजस्थानवैदिक--तत्त्वशोधसंस्थानमानवाश्रमदुर्गापुरा-जयपुर' नामक संस्थान प्राणप्रतिष्ठा का अनुगामी बन सका है, उन श्रेष्ठिप्रवर सम्माननीय मानवश्रेष्ठ श्रीकुड़ीलालजी महोदय सेकसरिया के समर्थ करकमलों में संस्थान की ओर से कृतज्ञताभिव्यक्ति के लिए प्रस्तुत 'उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका'-द्वितीय खण्ड सादर समर्पित करते हुए हम मनस्तुष्टि का ही अनुभव कर रहे हैं।

ज्येष्ठशुक्ल प्रतिपत् १
वि० सं० २०१३
शनैश्चरवासर

समर्पकः--
मोतीलालशर्मा
आङ्गिरसो भारद्वाजः
(अध्यक्ष)
राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान
मानवाश्रम-दुर्गापुरा
(जयपुर)

श्री:

महामहिम राष्ट्रपति श्री डॉ० राजेन्द्रप्रसादजी महाभाग–द्वारा प्राप्त
'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान' मानवाश्रम दुर्गापुरा (जयपुर) का
'प्रधानसंरक्षतानुगत–प्रमाणपत्र' अत्यन्त सम्मान से यहाँ उद्धृत हो रहा है—

भारत के राष्ट्रपति

डा॰ राजेन्द्र प्रसाद

राजस्थान-वैदिक तत्त्वशोध संस्थान-जयपुर

का

प्रधान संरक्षक

बनने की स्वीकृति प्रदान करते हैं

मिलिट्री सेक्रेट्री ऑफिस	भारत के राष्ट्रपति के आदेशानुसार
राष्ट्रपति भवन	यदुनाथसिंह
नई दिल्ली	(यदुनाथ सिंह) मेजर जनरल
दिनांक 30 अगस्त १९५८	मिलिट्री सेक्रेट्री टू दि प्रेसिडेन्ट

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-द्वितीयखण्ड

(पञ्चस्तम्भात्मक)

२

निबन्धा—
मोतीलालशर्म्मा, वेदवीथीपथिकः
भारद्वाजोपाह्वः
जयपत्तनाभिजनः

'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थानजयपुर' के द्वारा
प्रकाशित
एवं श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, मानवाश्रम दुर्गापुरा (जयपुर) के द्वारा
मुद्रित

★

प्रथमवार ५०० मूल्य १५)

श्रीः

'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थानजयपुर' के तत्त्वावधान से अनुप्राणित

एवं प्राच्यसाहित्य को ज्ञानविज्ञानपरिपूर्णा परिभाषाओं से समन्वित

प्रकाशित-ग्रन्थों की सूची

(निबन्धा-मोतीलालशर्म्मा-भारद्वाजः)

ग्रन्थनाम	पृष्ठसंख्या	मूल्य
१—शतपथहिन्दीविज्ञानभाष्य- प्रथमवर्ष	४०८★	१०)
२— " द्वितीयवर्ष	३६६★	१०)
३— " तृतीयवर्ष	४३४★	१०)
४— " चतुर्थवर्ष	४६४	१२)
५— " पञ्चमवर्ष	३००	७)
६—शतपथभाष्यत्रैवार्षिकविषयसूची	१००★	२)
७—ईशोपनिषत्-हिन्दी-विज्ञानभाष्य-प्रथमखण्ड	५००	१०)
८—ईशोपनिषत्-हिन्दी विज्ञानभाष्य-द्वितीयखण्ड	५००	१०)
९—माण्डूक्योपनिषत्-हिन्दी-विज्ञानभाष्य	५०	१)
१०-हिन्दी-गीताविज्ञानभाष्यभूमिका-प्रथमखण्ड (बहिरङ्गपरीक्षा)	५००	१२)
११- " द्वितीयखण्ड-आत्मपरीक्षा 'क' विभाग	५००	१२)
१२- " " -ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा 'ख' विभाग	६००★	१५)
१३- " " -कर्म्मयोगपरीक्षा 'ग' विभाग	५००★	१२)
१४- " तृतीयखण्ड-बुद्धियोगपरीक्षा 'ग' विभाग	६५०	२०)
१५-हिन्दी-उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-प्रथमखण्ड	५००	१२)
१६- " उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-द्वितीयखण्ड	५००	१५)
१७- " उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-तृतीयखण्ड	५००	१५)
१८-'आत्मस्वरूपविज्ञानोपनिषत्' नामक श्राद्धविज्ञान-प्रथमखण्ड	५००	२०)
१९-'सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत्' नामक श्राद्धविज्ञान-तृतीयखण्ड	६००	१५)
२०-खण्डचतुष्टयात्मक ३००० पृष्ठात्मक 'भारतीय हिन्दू-मानव और उसकी भावुकता' नामक निबन्धान्तर्गत असदाख्यान-विश्वस्वरूपमीमांसात्मक प्रथमखण्ड	५५०	१२)
२१-वेदेषु धर्मभेदः (सामयिक-संस्कृतनिबन्ध)	३४	॥)
२२-'श्राद्धविज्ञानप्रस्तावना (खण्डचतुष्टयात्मक श्रा० ग्रन्थपरिचय)	६०	१)
२३-हमारी समस्या (सामयिक-निबन्ध)	४०★	॥।)
२४-मानवाश्रमपाक्षिक-सप्ताङ्कसमष्टि (उपयोगी निबन्धसंग्रह)	२००	३)

चिह्नाङ्कित ग्रन्थ परिसमाप्त हैं, अतएव अनुपलब्ध हैं। पर्य्याप्त ग्राहकसंख्योपलब्धि ही इनके पुनः प्रकाशन का आधार है।

श्रीः

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-द्वितीयखण्डस्य
'किमपि प्रास्ताविकम्'

प्रस्तोता—वेदवीथीपथिकः

श्रीः

किमपि प्रस्ताविकम्

औपनिषद पुरुष के निग्रहात्मक अनुग्रह से 'उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-द्वितीयखण्ड' प्रकाशित हो रहा है, जो विगत १५ वर्षों से प्रकाशन की आशा-प्रतीक्षा का अनुगामी बना हुआ था। विगत कतिपय-वर्षों से प्रकामना अपनी शारीरिक अस्वस्थता के अनुबन्ध से बाह्यप्रवृत्ति-प्रधान प्रकाशनादि कार्य्यों से हम तटस्थ बन चुके थे। सहसा गत वर्ष सुहृद्वर श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल महोदय का व्यानप्राणात्मक वह सान्निध्य अङ्कुरित हो पड़ा, जिसका बीजवपन 'शतपथविज्ञानभाष्य' के माध्यम से सन् ३२ में हुआ था। अवश्य ही इस सान्निध्य को 'देवप्रसाद' ही माना जायगा, जिसके अनुग्रह से विगत १०-१२ वर्षों से सर्वथा अन्तर्म्मुख बन जानें वालीं प्रकाशन-प्रचारादि-लोकप्रवृत्तियाँ आज पुनः अग्रवाल महाभाग के द्वारा अभिव्यक्त हो रहीं हैं। अपनीं इन अभिव्यक्तियों को (युगभाषा के अनुसार) वैधानिकरूप से सुव्यवस्थित बनाने के लिए गत नवम्बर सन् ५५ में 'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान' नामक एक वैधानिक (राजस्थानशासन के द्वारा स्वीकृत-रजिस्टर्ड) संस्थान प्रतिष्ठित हुआ, जिसके 'मन्त्रित्त्व' का महान् उत्तरदायित्त्व भी तत्प्रेरक अग्रवाल महाभाग से ही अनुप्राणित हुआ।

संस्थान-संस्थापन से पूर्व अपनी अस्वस्थता के कारण प्रवासयात्राओं में कतिपय वर्षों से असमर्थ बन जाने से राजस्थान शासन का हमनें इस ओर ध्यान आवर्पित करने का प्रयत्न किया था। किन्तु निरन्तर २-३ वर्ष पर्य्यन्त सतत अनुधावन करते रहने पर भी हमें सम्भवतः किसी हमारी ही अज्ञात-त्रुटि से इस दिशा में कोई सफलता नहीं मिल सकी। संस्थान के मान्य मन्त्री महाभाग ने संस्थान के संस्कृतिनिष्ठ माननीय श्रीलक्ष्मीलालजी जोशी महाभाग के सहयोग से पुनः 'सत्ता' की अनुग्रहप्राप्ति का उपक्रम किया, जो निश्चयेन 'योगसंसिद्ध-कालोपस्थिति' पर सफल होगी, ऐसी धारणा है।

'संस्थान' की शैशवावस्था को जीवन प्रदान करने वाले इस साहित्यसेवी के शाश्वत सहयोगी माननीय श्रेष्ठिप्रवर श्रीकुड़ीलालजी सेकसरिया—श्रीमहावीरप्रसादजी मुरारका, एवं श्रीजगदीशप्रसादजी सेकसरिया महाभाग के सात्त्विक सहयोग से ही संस्थान "अब तक 'स्वजीवनयापन' में समर्थ बन सका है, जिसके लिए संस्थान अवश्य ही इन पुरातन-सहयोगियों

के प्रति कृतज्ञता अर्पित करना अपना नैष्ठिक कर्त्तव्य मानेगा। इसी सहयोग के बल पर संस्थान ने अपने प्रक्रान्त सम्वत्सर में दो सहस्र पृष्ठात्मक तो साहित्य प्रकाशित किया है, एवं दो मेधावी प्रतिभाशाली आचार्य्य स्नातकों को वैदिकतत्त्व-परम्परानुगत स्वाध्याय के प्रति आकर्षित किया है।

संस्थान-हितैषी इस 'सुसंवाद' को भी गौरव के साथ सुनेंगे कि, मान्य मन्त्री महाभाग के सर्वथा अभिनन्दनीय प्रयास से भारत राष्ट्र के महामहिम राष्ट्रपति **श्री डॉ० राजेन्द्रप्रसादजी महाभाग** ने संस्थान के 'प्रधानसंरक्षक' बनने की अनुमति प्रदान कर संस्थान को कृतज्ञ बनाया है। इसके अतिरिक्त यह भी अग्रवाल महाभाग के ही साम्वत्सरिक प्रयास का सुपरिणाम है कि, राजस्थान के मुख्यमन्त्री माननीय **श्रीमोहनलालजी सुखाड़िया** ने भी संस्थान की उपयोगिता के सम्बन्ध में अपने उदार विचार अभिव्यक्त किए हैं। महामहिम राष्ट्रपति महाभाग की ओर से प्राप्त 'प्रधान संरक्षकता-स्वीकृतिपत्र' अविकलरूप से मुखपृष्ठ के सान्निध्य में सम्मानपूर्वक उद्धृत कर दिया गया है। अवश्य ही यह संस्थान के लिए प्रतीक्षात्मक आशामय वातावरण माना जायगा, जिसके आकर्षण से संस्थान के सदस्य अब और भी अधिक उत्साह से इस प्राच्यतत्त्वानुष्ठान में सफलता प्राप्त कर सकेंगे।

'संस्थान' के अनुग्रह से ही प्रक्रान्त सम्वत्सर में हम चार ग्रन्थ-प्रकाशित कर सकें हैं। अतएव कृतज्ञता के रूप में इस प्रास्ताविक के आरम्भ में हमें 'संस्थान' का भुक्त-प्रक्रान्त इतिवृत्त समाविष्ट करना पड़ा। अब दो शब्दों में प्रस्तुत द्वितीयखण्ड के सम्बन्ध में किञ्चिदिव आवेदन कर दिया जाता है।

उपनिषद्भूमिका-प्रथमखण्ड में—**'क्या उपनिषत् वेद है?'**, इस प्रासङ्गिक प्रश्न का उत्थान हुआ है, जिससे सम्बन्ध रखनें वाले बाह्य-विषयों का प्रथमखण्ड में हीं विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। प्रस्तुत द्वितीयखण्ड उसी प्रक्रान्त प्रश्न का शेष-समाधान करने के लिए प्रवृत्त हुआ है। सचमुच यह भारतीय आर्षप्रजा का निःसीम दुर्भाग्य है कि, वह अपने सर्वस्वभूत आर्ष वैदिक-तत्त्ववाद के ज्ञानविज्ञानात्मक रहस्यपूर्ण बोध से, उसके मौलिक उपपत्ति-ज्ञान से सर्वथा पराङ्मुख ही बनी हुई है। पराङ्मुखता के विदित-अविदित अन्यान्य कारणों के समतुलन में सबसे प्रमुख कारण यही प्रतीत हो रहा है कि, आर्ष प्रजाने 'वेद की अपौरुषेयता' का मर्म्म न समझ कर शब्दात्मक वेदग्रन्थ को ही अपनी अपौरुषेयनिष्ठा का केन्द्र मान लिया। इसी महती भ्रान्ति ने इसके तात्त्विक जीवन को सर्वथैव साम्प्रदायिक, तथा अभिनिविष्ट जीवन बना डाला, जिसके दुष्परिणामस्वरूप इसके वैय्यक्तिक-पारिवारिक-सामाजिक-राष्ट्रीय-, तथा विश्वानुबन्धी समस्त कर्म्मकलाप एकान्ततः अव्यवस्थित ही प्रमाणित होते रहे। आर्ष वैदिक-साहित्य जैसी

ज्ञानविज्ञाननिधि का अधिपति भी भारतीय आर्यवर्ग अपनी प्रज्ञापराधजनिता 'अपौरुषेयभ्रान्ति' से वैदिकसाहित्य के ज्ञानविज्ञानात्मक तत्त्वबोध से अपरिचित रहता हुआ आज सभी क्षेत्रों के लिए उपहास का साधन बना हुआ है। इसकी इस भ्रान्ति के निराकरण के लिए ही प्रस्तुत द्वितीय खण्ड उपनिबद्ध हुआ है।

क्या वेदों को पौरुषेय प्रमाणित करना हीं हमारा मुख्य लक्ष्य है ?, प्रश्न के सम्बन्ध में यही स्पष्टीकरण पर्य्याप्त होगा कि, शब्दार्थ के औत्पत्तिक (नित्य) सम्बन्ध से अनुप्राणित अपौरुषेय-तत्त्वात्मक वेदशास्त्र का निरूपक शब्दात्मक वेदग्रन्थ भी यद्यपि अवश्य ही है तो अपौरुषेय ही। किन्तु इस वेदग्रन्थ की यह अपौरुषेयता अपना एक विशेष महत्त्व रखती है, जिसे अवगत किए बिना वेदग्रन्थ की अपौरुषेयता का रहस्यात्मक दृष्टिकोण स्पष्ट नहीं हो सकता। इसी रहस्यात्मक दृष्टिकोण के विश्लेषण के लिए 'भूमिका—तृतीयखण्ड' उपनिबद्ध हुआ है। प्रस्तुत द्वितीयखण्ड में शब्दात्मक वेदग्रन्थ में उपवर्णित अर्थात्मक (तत्त्वात्मक) उस नित्यकूटस्थ—अपौरुषेय 'वेद' का ही स्वरूप स्पष्ट करने का प्रयास हुआ है, जिसके स्वरूप से भारतीय प्रज्ञा अनेक शताब्दियों से सर्वथा अपरिचित ही मानी, और कही जा सकती है।

विगत शताब्दियों में वेदार्थ के सम्बन्ध में जिन भारतीय विद्वानों नें जो कुछ लिखा, सब का लक्ष्य शब्दात्मक वेदग्रन्थ ही रहा। "तेजोमय सूर्य्यमण्डल का मण्डलात्मक मूर्त्तिभाव 'ऋक्' है, सौर रश्मिरूप अर्चिर्म्मण्डल (तेजोमण्डल) साम है, एवं सौर प्राणात्मक गतिधर्म्मा अग्नि यजु है" इत्यादि रूप से उपवर्णित तत्त्वात्मक वेद की ओर किसी वेदव्याख्याता का ध्यान न गया *। "पाञ्चभौतिक महाविश्व में जितने भी व्यक्त—मूर्त्त—पिण्ड हैं, उन सबका अधिष्ठान तत्त्वात्मक ऋग्वेद है, वस्तुपिण्डों का स्वरूप सुरक्षित रखने वाला 'एति—प्रेति' लक्षण गतिधर्म्म तत्त्वात्मक यजुर्वेद से अनुप्राणित है, एवं स्पृश्य वस्तुपिण्ड को दृश्यमहिमामण्डलरूप में परिणत कर देने वाला 'विभूतिमण्डलात्मक'

---

*—यदेतन्मण्डलं तपति—तन्महदुक्थं, ता ऋचः, स ऋचां लोकः। अथ यदेतदर्चिर्दीप्यते—तन्महाव्रतं, तानि सामानि, स साम्नां लोकः। अथ य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः- सोऽग्निः, तानि यजूंषि, स यजुषां लोकः। सैषा त्रय्येव विद्या तपति। तद्धै—तदप्यविद्वांस आहुः—'त्रयी वा एषा विद्या तपति' इति।

—शत०ब्रा० १०।५।२।१,२,।

तेजोमण्डल तत्त्वात्मक सामवेद है," इस रहस्य का किसी भी भारतीय व्याख्याताने स्पर्शभी नहीं किया ÷। "वस्तुपिण्ड का विष्कम्भ (व्यास) ही उस वस्तु का ऋक् है, वस्तुपिण्ड का नभ्यविन्दु (केन्द्रविन्दु) ही उस वस्तु का यजुः है, एवं वस्तुपिण्ड का चारों ओर का वह परिणाह (घेरा-जो ऋग्रूप विष्कम्भ से त्रिगुणित है, अतएव जिसके लिए-'त्रिचं साम' यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है)-ही उस वस्तु का साम है" इस वस्त्वाधार-भूता तत्त्वात्मिका वेदत्रयी का किसी भी व्याख्याता ने अपनी वेदव्याख्याओं में नामस्मरण भी नहीं किया।

सचमुच हमारे लिए यह असमाधेय ही प्रश्न है कि, वेद के प्रति अनन्य श्रद्धा रखने वाले भी भारतीय व्याख्याता कैसे विस्पष्टतम भी इस तथोपवर्णित तत्त्वात्मक वेदस्वरूपबोध से अद्यावधि तटस्थ बने रह गए ? । सहजप्रज्ञानानुगत सविता देवता इस दिशामें यही समाधान कर रहे हैं कि, त्रिगुणभावप्रधानता से वेदानुगत (ब्राह्मणभागानुगत) आर्षविद्या-(प्राणर्षिविद्या)-त्मक धर्म्मबुद्धियोगलक्षण निष्कामकर्म्मयोग मानव की प्रकृतिनिबन्धना एषणा के निग्रहानुग्रह से कालान्तर में त्रिगुणभावापन्न बन गया। परिणामस्वरूप निष्कामयोग काम्ययोगात्मक 'यज्ञकाण्ड' रूप में परिणत हो गया। काम्यकर्म्मानुवन्धी इस यज्ञिय कर्म्मकाण्ड के प्रति भारतीय प्रज्ञा सर्वात्मना अभिनिविष्ट हो गई। इसी आसक्तिमूलक कर्म्माभिनिवेश ने भारतीय प्रज्ञा को इस सीमा पर्य्यन्त अभिनिविष्ट बना डाला कि, जिस किसी ने कर्म्मकाण्डपद्धतियों में जैसा कुछ सन्निवेश कर डाला, वह भी इस भावुक कर्म्मठ के लिए एक 'शास्त्रविधान' हीं प्रमाणित हो गया। ज्ञानविज्ञानात्मिका परिभाषाओं के महान् कोश शतपथब्राह्मण में एक इसी प्रकार के अभिनिवेश का भगवान् याज्ञवल्क्य ने स्पष्टीकरण किया है। पाठकों के अनुरञ्जन के लिए वह उदाहरण यहाँ भी उद्धृत कर दिया जाता है।

शारीरिक भूताग्नि में प्राणाग्नि के आधान के लिए विहित विशेष यज्ञकर्म्म ही 'अग्न्याधान-कर्म्म' कहलाया है। तैत्तिरीय सम्प्रदाय के किसी याज्ञिक ने जब अग्न्याधान किया होगा, तो वहीं कहीं आस पास 'अज' पशु भी बँध रहा होगा। एकमात्र इसी आधार पर तद्वंशजों नें, एवं तदाचार्य्यसम्प्रदायशिष्यों नें अग्न्याधानकर्म्म में अजपशु बाँधनी भी शास्त्रविहित मान लिया, जब

÷—ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्त्तिमाहुः, सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्।
सर्वं तेजः सामरूप्यं ह शश्वत्, सर्वं हेदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्॥
—तैत्तिरीय ब्रा०३।१२।९।१,२,।

कि इसका शास्त्रविधि से कोई सम्बन्ध नहीं है। भगवान् याज्ञवल्क्य ने इसी काल्पनिक 'अज-पशुबन्धन' कर्म्म की निःसारता बतलाते हुए कहा है कि, यज्ञ में समागत हविर्द्रव्यादि को सुरक्षित रखने के लिए ही आचार्य्यविशेष ने अग्न्याधानकाल में अपने घर के अजपशु को बँधवा दिया था, जिस बन्धनकर्म्म का यज्ञपद्धति से कोई सम्बन्ध नहीं है । कहीं से अजपशु लाकर बाँधना, एवं इससे यज्ञपद्धति की पूर्णता मान बैठना सर्वथा निरर्थक है। यदि घर में अज पशु हो, और उससे आशङ्का ही हो, तो अग्नीध्रादि किसी ऋत्विक को ही वह दे देना चाहिए। इससे भी हविर्द्रव्यादिरक्षात्मक प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। इसका तो कुछ भी अर्थ नहीं है कि, कहीं से अजपशु लाया जाय, और उसे पद्धति का अङ्ग मानते हुए बाँधा जाय *।

काम्य कर्म्मों का आत्यन्तिक अभिनिवेश, तत्पद्धतिमात्र के पूर्वापरसमन्वय की आतुरता, लोकफलैषणाओं की सतत चर्व्वणा, आदि आदि अभिनिवेशों नें हीं विगत शताब्दियों में वेद के रहस्यपूर्ण तत्त्ववाद को एकान्ततः आवृत कर लिया। फलस्वरूप तत्कालीन व्याख्याताओं का एकमात्र यही पुरुषार्थ शेष बना रह गया कि, वे पञ्चम्यर्थ-षष्ठ्यर्थादि के द्वारा प्रकृति-प्रत्यय-समन्वय-माध्यम से वेदशास्त्र की कर्म्मकाण्डपरा व्याख्याओं में हीं अपनी प्रज्ञा समर्पित करते रहें। अवश्य ही जहाँ तक 'कर्म्मपद्धति' का सम्बन्ध है, व्याख्याताओं का प्रयास स्तुत्य माना जायगा। किन्तु जिस मौलिक रहस्यविज्ञान के (सृष्टिविज्ञान के) आधार पर कर्म्मकाण्ड व्यवस्थित था, उसे सर्वथा विस्मृत कर देने का ही वह महाभयावह परिणाम हुआ, जिसके कारण आज वही आर्ष शास्त्र हमारी दृष्टि में एक अनुपयोगी शास्त्र प्रमाणित हो रहा है, किंवा प्रमाणित किया जा रहा है। 'यदेव विद्यया करोति-श्रद्धया-उपनिषदा, तदेव वीर्य्यवत्तरं भवति' (छान्दोग्य उप० १।१।१०।) इत्यादि शास्त्रसिद्ध आदेश की उपेक्षा करने वाले व्याख्याताओं का कार्य्यकारण-सम्बन्धपरिज्ञानात्मिका विद्या, मानस सत्यसंकल्प से अनुप्राणिता बुद्धियुक्ता धृतिलक्षणा श्रद्धा, एवं मौलिक उपपत्तिपरिज्ञानात्मिका उपनिषत्, इन तीनों माध्यमों से वञ्चित केवल प्रकृति-प्रत्यय-समन्वयात्मक व्याख्याकौशल उत्तरोत्तर निर्वीर्य्य ही प्रमाणित होता गया।

यज्ञकर्म्मानुगता तथाकथिता अभिनिवेशभावना का विगत युगों में अवश्य ही एक भारतीय मेधावी-महाविद्वान् के द्वारा संशोधन हुआ, जो आस्तिक प्रजा में 'भगवान् शङ्कराचार्य्य' नाम

---

*-तद्धैके (तैत्तिरीयाः) अजमुपबध्नन्ति-'आग्नेयोऽजः, अग्नेरेव सर्वत्वाय'-इति वदन्तः। तदु तथा न कुर्यात् । यदि-अजः स्यात् (गृहे', अग्नीध्र एवैनं प्रातर्दद्यात्। तेनैव तं काममवाप्नोति। तस्मान्नाद्रियेत ।

—शत०ब्रा०२।८।३।३।

से प्रसिद्ध हैं। आपने काम्य कर्म्मवाद की एषणाओं से भारतीय प्रज्ञा का उद्बोधन कराया। एवं तत्परिणामस्वरूप राष्ट्र में कर्म्मत्यागलक्षणा वैसी वेदान्तनिष्ठा जागरूक हो पड़ी, जिससे कामना के साथ साथ कर्म्मकाण्ड भी अभिभूत हो गया। संहिता, एवं तद्व्याख्याभूत ब्राह्मणग्रन्थों का स्पर्श भी न करते हुए आचार्य्य ने केवल उस 'उपनिषत्' को ही अपनी व्याख्या का मुख्य लक्ष्य बनाया, जो उपनिषत्-शास्त्र बाह्यदृष्ट्या सहसा ऐसी भ्रान्ति उत्पन्न कर देता है, मानो इसके द्वारा कर्म्मकाण्ड का विरोध ही हुआ हो, जैसा कि–'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः'–'नास्त्यकृतः कृतेन'–'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः'–'त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः' इत्यादि कतिपय औपनिषद वचनों से स्पष्ट है।

वस्तुस्थिति तो कुछ ऐसी है कि, 'संहिता-ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषत्' चारों विभाग परस्पर नित्य संश्लिष्ट हैं। चारों की समष्टि ही 'कृत्स्नवेदशास्त्र' है। अतएव चारों परस्पर अन्योन्याश्रित हैं, जैसाकि 'उपनिषत्' शब्द के अवच्छेदक का स्पष्टीकरण करते हुए भूमिका-प्रथमखण्ड में विस्तार से बतलाया जा चुका है। संहिता, एवं तद्व्याख्याभूत ब्राह्मणग्रन्थों की रहस्यपूर्णा सृष्टिविद्या का परिज्ञान किए बिना केवल उपनिषत् भाग के आधार पर 'उपनिषत्' के एक अक्षरार्थ का भी समन्वय सम्भव नहीं है। कहना न होगा कि, इसी अङ्गभङ्गात्मिका उपनिषद्भक्ति ने भारतीय विज्ञानगरिमा को सर्वथा अभिभूत ही कर डाला। और केवल वेदान्तनिष्ठा का उद्घोष करने वाली आर्षप्रजा अभ्युदय-निःश्रेयस-संसाधक समस्त कर्त्तव्य-कर्म्मों से एकान्ततः पराङ्मुख ही बन गई। कालान्तर में इसी पराङ्मुखता ने उस 'सन्तमत' को जन्म दे ही तो डाला, जिसका मूलकेन्द्र बना भावुकता, एवं महान् पुरुषार्थ बना'........., आलप्यालम्!

और आज के सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र-भारत की स्वतन्त्रनिष्ठ प्रज्ञा ने अपने इस मौलिक साहित्य, तथा तन्मूला राष्ट्रीय संस्कृति का कैसा स्वरूप समझा-समझाया?, प्रश्न इसलिए सर्वथा अमीमांस्य है कि, आसन्नप्राप्ता अभिनव-स्वतन्त्रता की स्वातन्त्र्यचर्व्वणा से मनः-शरीर-विभोर बने हुए जन-गण के अन्तराल को इस कटुप्रश्न की कटुमीमांसा से संक्षुब्ध कर देना हमें अभीष्ट नहीं है। 'संस्कृति' के नाम पर जहाँ-जैसा-जो कुछ घटित-विघटित हो रहा है, वही बहुत सम्भव है-निकटभविष्य में हीं राष्ट्रीय जन-मानस को उद्बोधन प्रदान कर दे। एतदतिरिक्त जब तक भारतीय विद्वान् अपने मौलिक आर्षसाहित्य को, एवं तन्मूला राष्ट्रीय संस्कृति को अनेक शताब्दियों के पूर्वनिर्दिष्ट काल्पनिक आवेशों से उन्मुक्त कर उसे विशुद्ध-ज्ञानविज्ञानस्वरूप से राष्ट्र के सम्मुख समुपस्थित नहीं कर देते, तब तक राष्ट्रीय प्रजा में इस सम्बन्ध में कुछ भी आग्रह करना केवल दुराग्रह ही तो माना जायगा।

अवश्य ही हमें इस दिशा में उन प्रतीच्य विद्वानों के प्रति कृतज्ञता व्यक्त कर देनी चाहिए, जिन्होंनें आर्ष वैदिक साहित्य के उन दुर्लभ ग्रन्थों का प्रकाशन कर अपनी प्राच्य-सांस्कृतिक निष्ठा से भारतराष्ट्र को ऋणी बनाया है, जबकि आर्ष वैदिक साहित्य की नामभक्ति में विभोर भारतराष्ट्र के सामान्य जनमानस की कौन कहे, अधिकांश विद्वानों को भी उन ग्रन्थों के नाम भी विदित नहीं है। रही बात प्रतीच्य विद्वानों के द्वारा संकलिता अर्थसमन्वयात्मिका व्याख्याओं की। सो इसलिए अमीमांस्य है कि, जब कि स्वयं भारतीय विद्वान् ही तथाकथितरूपेण 'व्याख्याजगत्' की दृष्टि से मीमांस्य हैं, तो जिन प्रतीच्य विद्वानों के साहित्य-विमर्श का एकमात्र आधार विशुद्ध बुद्धिवाद है, वे यदि इस दिशा में अपनी मान्यताओं के अनुपात से ही भारतीय आर्ष साहित्य की व्याख्या करें, तो कोई आश्चर्य्य नहीं है साथ ही जो आधुनिक भारतीय विद्वान्, जिनके कि आदर्श एकहेलया प्रतीच्य विद्वान् ही बनें हुए हैं, वे भी यदि वेदव्याख्या के सम्बन्ध में उन्हीं के विचारों का अनुसरण करें, तो इसमें भी कोई आश्चर्य्य नहीं है। विशुद्ध बुद्धिवादात्मिका इन प्रतीच्य-व्याख्याओं का केवल एक ही उदाहरण पर्य्याप्त होगा यह प्रमाणित करने के लिए कि, वैदिक पारिभाषिक तत्त्वार्थसमन्वय से वञ्चित श्रद्धा-आस्था-विद्या-उपनिषत्-शून्य-शुष्क बुद्धिवाद, एवं बुद्धितत्त्वशून्य अभिनिवेशात्मक विशुद्ध अन्धश्रद्धावाद किस प्रकार वेदार्थ को विकृत कर दिया करते हैं।

ब्राह्मणग्रन्थों में सुप्रसिद्ध ऐतरेय ब्राह्मण का आरम्भ-'ओं-अग्निर्वै देवानामवमः, विष्णुः परमः। तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः' (ऐत० ब्रा० १।१।१।) इस वचन से हुआ है। बुद्धिवादी प्रतीच्य व्याख्याताओं नें, एवं तदनुगामी केवल बुद्धिवादी अर्वाचीन भारतीय व्याख्याताओं नें उक्त वचन का तात्त्विक ? समन्वय करते हुए अपने ये विचार व्यक्त किए हैं कि-"यज्ञारम्भकाल में भारतीय प्रधानरूप से अग्नि को ही प्रधानता देते थे। किन्तु आगे जाकर अग्नि का स्थान विष्णुपूजा ने ग्रहण कर लिया। फलस्वरूप अग्नि गौण देवता बन गए, एवं विष्णु प्रधान देवता बन गए। इन दोनों के अतिरिक्त अन्य देवता अनुपात से विभिन्न स्थान-सम्मानों के अधिकारी मान लिए गए"।

प्राच्य भारतीय वेदव्याख्याता केवल श्रद्धालु सर्वश्री सायणाचार्य्य ने उक्त वचन का कैसा, और क्या समन्वय किया है ?, यह भी देख लीजिए। जैसा कि निवेदन किया गया है, इन प्राच्य भारतीय व्याख्याताओं की दृष्टि भी केवल कर्म्मपद्धतियों पर ही विश्रान्त है। अतएव पद्धति के माध्यम से ही वे वेदार्थ में प्रवृत्त हुए हैं। सायणाचार्य्य कहते हैं—"जो देवता 'अग्नि' नाम से प्रसिद्ध है, उन्हें देवताओं के मध्य में अवम-प्रथम समझना चाहिए। जो विष्णु है, वे परम-उत्तम हैं।

ऐसा समझने में 'अग्निर्मुखं प्रथमो देवतानामुत्तमो विष्णुरासीत्' इत्यादि मन्त्र ही प्रमाण है। अर्थात् मन्त्र में अग्नि को 'प्रथम', एवं विष्णु को 'उत्तम' कहा है। अतः यहाँ के अवम-परम-शब्दों को प्रथम-उत्तम-परक लगा लेना चाहिए। अथवा "वै" शब्द उपपत्ति का द्योतक है। और उपपत्ति की योजना (समन्वय) यों कर लेनी चाहिए कि, यद्यपि 'देव' शब्द सामान्यार्थक बनता हुआ सम्पूर्ण देवताओं का वाचक है। तथापि यहाँ प्रकरणबल से 'अग्निष्टोम' नामक यज्ञ के अङ्गों से सम्बन्ध रखने वाले शस्त्रकर्म्मों में प्रतीयमाना प्रधान देवता ही विवक्षित है। शस्त्र १२ हैं। इन में पहिला 'आज्यशस्त्र' है, जिसके सम्बन्ध में 'भूरग्निर्ज्योतिरग्निः' यह मन्त्र विहित है। 'अग्निमारुत' नामक शस्त्र अन्तिम (१२ वाँ) शस्त्र है, जिसके सम्बन्ध में 'विष्णोर्नु कम्' यह मन्त्र विहित है। इसप्रकार अग्निष्टोमसंस्था में द्वादश शस्त्रपाठापेक्षया अग्नि का प्रथमत्त्व, एवं विष्णु का उत्तमत्त्व प्रमाणित हो रहा है। (एवं यही पूर्ववचन के अवम-परम शब्दों की उपपत्ति है)। अथवा सभी संस्थाओं में उक्त न्यायानुसार अग्नि का प्राथम्य, एवं विष्णु का उत्तमत्त्व स्थापित है। (यह भी उपपत्ति मानी जा सकती है)। अथवा-प्रथमा दीक्षणीयेष्टि में अग्नि का यजन होता है, एवं अन्त की उपसदवसानीयेष्टि के स्थान में वाजसेनयी लोग वैष्णवी पूर्णाहुति करते हैं। इसलिए भी अग्नि-विष्णु को अवम-परम-माना जा सकता है। सभी उपपत्तियों का सार ? यही है कि, स्तोतव्य, तथा यष्टव्य देवताओं की अपेक्षा अग्नि का प्राथम्य, एवं विष्णु का उत्तमत्त्व ही युक्तियुक्त है। अतएव सम्पूर्ण देवताओं के दोनों ओर रक्षक की भाँति अग्नि-विष्णु हीं प्रशस्त मान लिए गए हैं"।

—देखिए ऐ० ब्रा० १।१।१। का सायणभाष्य

शास्त्रवादी(शास्त्राभिनिविष्ट)केवल श्रद्धालु प्राच्य व्याख्याता कहते हैं-"अमुक अमुक स्थलों में अग्नि-विष्णु को प्रथम-उत्तम कहा है, इसलिए अग्नि को देवताओं में अवम, तथा विष्णु को परम मान लिया है"। एवं शुष्क-बुद्धिवादी प्रतीच्य व्याख्याता कहते हैं-"आरम्भ में अग्निपूजन प्रधान था, कालान्तर में विष्णुपूजन प्रधान बन गया। उसी युग में ऐसी मान्यता बन गई कि, अग्नि का गौण स्थान है, एवं विष्णु का प्रमुख स्थान है"।

क्या उक्त दोनों दृष्टिकोणों से हम किसी तात्त्विक दृष्टिकोण का अनुगमन कर सकते हैं ?। नेति हो वाच। इसी लिए तो हमें यह निवेदन करना पड़ा कि, तत्त्ववाद की विलुप्ति ने हीं इसप्रकार वेदार्थ के सम्बन्ध में विविध भ्रान्तियों का सर्जन कर डाला है। पारिभाषिक तत्त्वबोध का अभाव, एवं अपने कल्पित सिद्धान्तों के माध्यम से वेदाक्षरों के समन्वय की

अनधिकार चेष्टा ही इस अनर्थ का प्रधान कारण है। पारिभाषिक तत्त्वसमन्वय की दृष्टि से 'यद्वा' 'यद्वा' की परम्परा से सम्बन्ध रखने वालीं संशयवृत्तियों की कोई आवश्यकता नहीं है। अपितु सर्वथा निर्णीत-व्यवस्थित समन्वय है वेदवचनों का। प्रकृत उदाहरण को ही लक्ष्य बनाइए।

'त्रयस्त्रिंशद्वै सर्वे देवाः' इत्यादि निगमवचन के अनुसार पार्थिव आग्नेय प्राण-देवता ३३ कोटियों (श्रेणियों-विभागों) में विभक्त हैं। **"यथाग्निगर्भा पृथिवी, तथा द्यौरि-न्द्रेण गर्भिणी"** इत्यादि मन्त्रश्रुति के अनुसार भूपिण्डोपलक्षिता पृथिवी के गर्भ में प्राणाग्नि प्रतिष्ठित है, एवं सूर्य्योपलक्षित। द्यु के गर्भ में प्राणेन्द्र प्रतिष्ठित हैं। भूगर्भस्थ प्राणाग्नि अपने रश्म्यात्मक अर्कभाव से भूपिण्ड से निकल कर चारों ओर अपना एक स्वतन्त्र मण्डल बनाता है, जिस प्राणाग्निमण्डल को 'रथन्तरसाम' कहा गया है। मण्डल में व्याप्त इस प्राणाग्नि की घन-तरल-विरल ये तीन अवस्थाएँ हो जातीं हैं, जो अवस्थाएँ वैदिक परिभाषा-नुसार क्रमशः ध्रुव-धर्त्र-धरुण कहलाईं हैं। ध्रुवाग्नि (घनाग्नि) 'प्राणाग्नि' नाम से, धर्त्राग्नि (तरलाग्नि) 'प्राणवायु' नाम से, एवं धरुणाग्नि (विरलाग्नि) 'प्राणादित्य' नाम से प्रसिद्ध है। इन तीनों प्राणाग्नियों के साथ क्रमशः अष्टाक्षर गायत्रीछन्द, एकादशाक्षर त्रिष्टुपछन्द, एवं द्वादशाक्षर जगतीछन्द, इन तीन वाक्परिमाणात्मक छन्दों का सम्बन्ध होता है। इन छन्दाक्षरों के सम्बन्ध से प्राणाग्नि-वायु-आदित्य-तीनों के क्रमशः ८-११-१२-ये अवान्तर अवस्थाविभाग हो जाते हैं, जो क्रमशः आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। तीनों में आठ और ग्यारह के मध्य में, तथा ११ और १२ के मध्य में दो साध्य प्राण और उद्भूत हैं। सम्भूय एक ही प्राणाग्नि के अवान्तर ३३ विवर्त्त हो जाते हैं। एवं यही पार्थिव ३३ प्राणदेवता हैं÷।

आरम्भ के आठ वसुओं में पहिला वस्वग्नि 'अग्नि' कहलाया है, एवं यही ३३सों प्राणा-ग्निदेवताओं का उपक्रमस्थान है। एवं अन्त के १२ आदित्यों में सर्वान्त का आदित्य 'विष्णु' नाम से प्रसिद्ध है*, एवं यही तेतीसों प्राणाग्निदेवताओं का उपसंहारस्थान है। आरम्भ में

÷ -अदित्यां जज्ञिरे देवास्त्रयस्त्रिंशदरिन्दम ! ।
आदित्या-वसवो-रुद्रा-अश्विनौ च परन्तप ! ॥
—वाल्मीकिरा०

अष्टौ-वसवः-८, एकादश-रुद्राः-११, द्वादश-आदित्याः-१२, द्वौ-अश्विनौ-(इत्थं ३३)।

* इन्द्रो(१)-धाता(२)-भगः(३)-पूषा(४)-मित्रोऽ(५)-थ वरुणो(६)-ऽर्य्यमा(७)।
अंशु(८)-र्विवस्वान्(९)-त्वष्टा(१०) च-सविता(११)-"विष्णु(१२)"-रेव च ॥

'अग्नि' नामक वस्वग्नि, सर्वान्त में 'विष्णु' नामक अन्तिम आदित्य, शेष मध्यस्थ ३१ सों प्राणदेवता दोनों के मध्य में भुक्त, सैषा प्राकृतस्थितिः।

वैध यज्ञ के द्वारा यज्ञकर्त्ता इन प्राकृतिक पार्थिव आधिदैविक प्राणाग्निदेवताओं को अपने आधिभौतिक प्राणाग्नि में अन्तर्य्यामसम्बन्ध से प्रतिष्ठित करना चाहता है। इस आधिदैविक-कर्म्माधिकार की योग्यतासम्पादन करने के लिए जो आरम्भ में 'इष्टिकर्म्म' किया जाता है, वही **'दीक्षणीयेष्टि'** कहलाया है। इससे यज्ञकर्त्ता दीक्षित (अधिकारी) बन जाता है। इस दीक्षणीयेष्टि में 'आग्नावैष्णवपुरोडाश' द्रव्य सम्पन्न होता है, जैसा कि-**'आग्नावैष्णवं पुरोडाशं निर्वपति दीक्षणीयमेकादशकपालम्'** (ऐ० ब्रा० १।१।२।) इत्यादि उत्तरवचन से स्पष्ट है। इस दृष्टि से सम्बन्ध रखने वाला पुरोडाश (हविर्द्रव्य) आग्नावैष्णव क्यों होता है?, दूसरे शब्दों में दीक्षणीयेष्टिकर्म्म में अग्नि, और विष्णु को ही क्यों प्रधानता दी जाती है?, इसी प्रश्न की मौलिक उपपत्ति (उपनिपत्) बतलाते हुए भगवान् एतरेय ने कहा है कि-**'अग्निर्वै देवानामवमः-विष्णुः परमः। तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः'**। तात्पर्य्य स्पष्टतम है। तेतीसों प्राणाग्नि-देवताओं के साथ यज्ञकर्त्ता को अन्तर्य्यामसम्बन्ध स्थापित करता है। एवं यह प्रयोजन सर्वादिभूत अग्निदेव, तथा सर्वान्तभूत विष्णुदेव के संग्रह से संसिद्ध होजाता है। क्योंकि इतर सम्पूर्ण प्राणदेवता इन दोनों अवम (उपक्रम)-परम (उपसंहार) स्थानीय प्राणदेवताओं से संगृहीत हैं। कहना न होगा कि, परिभाषाओं के समन्वय के विना स्पष्टतम भी इत्थंभूत समन्वय प्राच्य-प्रतीच्य व्याख्याताओं के अनुग्रह से एक जटिल-समस्या प्रमाणित कर दिए गए हैं। अलमतिपल्लवितेन।

यही अवस्था वेदपदार्थ के सम्बन्ध में घटित हुई है। जिस तात्त्विक वेद का स्वरूप स्वयं वेदशास्त्र में विस्पष्टरूप से यत्र तत्र सर्वत्र प्रतिपादित हुआ है, उसके स्वरूप से व्याख्याताओं नें अपने आप को सर्वथा तटस्थ ही प्रमाणित किया है। उनकी दृष्टि में वेद का अर्थ केवल वह 'शब्दराशिमात्र' ही है, जिसका महर्षियों के द्वारा तत्त्वात्मक अपौरुषेय नित्यकूटस्थ वेद के स्वरूपानुपात से संकलन हुआ है। व्याख्याता इस तथ्य से सर्वथा अपरिचित हैं कि, 'वेद' वह मौलिक तत्त्व है, जिससे सम्पूर्ण विश्व का, एवं तद्गर्भीभूता चराचरप्रजा का स्वरूपनिर्म्माण हुआ है। **'इषे त्वोर्जे त्वा०'** इत्यादि शब्दात्मक मन्त्र से उपक्रान्त, तथा **'खं ब्रह्म'** इत्यादि मन्त्र पर उप-संहृत शब्दसमाम्नायात्मक यजुर्वेदग्रन्थ ही व्याख्याताओं की दृष्टि में 'अपौरुषेय वेदशास्त्र, है,-जबकि स्वयं वेदशास्त्र ही 'यजुर्वेद' के तात्त्विक स्वरूप का स्पष्टीकरण करता हुआ यह कह रहा है कि—

"यही तो वह यजुः है, जो अपने प्राणात्मक गतिधर्म्म से सर्वत्र व्याप्त है। यही गतिधर्म्मा प्राणात्मक यजु सब कुछ उत्पन्न करता है। अतएव गत्यात्मक इस प्राणवायु को ही यजु कहा गया है। (वस्तुस्थिति यह है कि) आकाश ही 'जू' है, जो अन्तरिक्षरूप से प्रत्यक्ष है। इस 'जू' रूप अन्तरिक्षाकाश में आसन्तात् व्याप्त गतिधर्म्मा प्राणवायु ही 'यत्' है। एवं यत्-और जू की समन्वित अवस्था का ही नाम **'यज्जूः'** है, जो परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में-**'यजुः'** नाम से व्यवहृत हुआ है। देखिए !

"अयं वाव यजुर्योऽयं पवते। एष हि यन्नेव वेदं सर्वं जनयति। एतं यन्तमनुप्रजायते। तस्माद्वायुरेव यजुः। अयमेवाकाशो जूः, यदिदम् अन्तरिक्षम्। एतं ह्याकाशमनु जवते। तदेतत्-यजुर्वायुश्च-अन्तरिक्षञ्च, यच्च-जूश्च। तस्माद्यजुः। एष एव यत्, एष ह्येति। तदेतद्यजुर्ऋक्सामयोः प्रतिष्ठितम्। ऋक्सामे वहतः"।

—शतपथब्राह्मण १०।३।५।१, २,।

यज्ञिय कर्म्मकाण्डनिबन्धन कामभाव से समुत्पन्न अभिनिवेश के निग्रह से, आधिदैविक प्राणरहस्यस्वरूपज्ञानाभावजनिता आचारशून्या दर्शनदृष्टिभ्रान्ति से, जगन्मिथ्यात्ववादात्मिका कल्पित वेदान्तनिष्ठा से, तत्प्रसूनरूपा अभिनिविष्टा भावुकतापूर्णा सन्तमतानुगति से, विविध मतवादनिबन्धन साम्प्रदायिक संघर्ष से, प्रतीच्य शासनपाशबन्धनजनिता आत्मदासता से, क्षणिक-भूतविज्ञानानुगत तात्कालिक-चाकचिक्यव्यामोहन से, सर्वोपरि भारतीय ब्राह्मणप्रज्ञा के वेदस्वाध्यायपरित्याग-आचारपरित्याग-आलस्य-अन्नदोष से, एवमेव अन्याय ज्ञात-अज्ञात दोषपरम्पराओं के निग्रह से भारतराष्ट्र के सर्वस्वभूत इस आर्ष-वेदतत्त्व का स्वरूप सर्वथैव अभिभूत हो गया है, जिसके दुष्परिणामस्वरूप अनेक शताब्दियों से इस राष्ट्र को नितान्त भावुकतापूर्णा स्खलनपरम्पराओं का ही अनुगामी बना रहना पड़ा है। एवं तदवधिपर्य्यन्त इसका यह स्खलन कदापि उपसंहृत न हो सकेगा, जब तक कि यह अपनी इस मूल निधि की यों हीं उपेक्षा करता रहेगा। अतएव स्वतन्त्र भारत की स्वतन्त्रप्रज्ञा का सर्वप्रधान यह अनिवार्य्य, तथा प्रथम प्रमुख नैष्ठिक कर्त्तव्य होना चाहिए कि वह विशुद्ध आर्षदृष्टि से, तत्त्वानुगता ज्ञानविज्ञानदृष्टि से अपनी इस निधि के पुनरुत्थान के प्रति अविलम्ब जागरूक हो। 'नान्यः पन्था विद्यते-अयनाय'।

इसी 'जागरूकता' के अनुबन्ध से वेदतत्त्वस्वरूपनिरूपणात्मक प्रस्तुत द्वितीय-खण्ड भारतीय आर्षप्रज्ञा के सम्मुख इसलिए उपस्थित हो रहा है कि, वह दोषदर्शनदृष्टि से ही एक बार इस पर दृष्टिनिक्षेप का अनुग्रह अवश्य करे। अवश्य ही तद्द्वारा उसकी 'पुराणीप्रज्ञा' किसी वैसे अचिन्त्य-अप्रतर्क्य-अनिर्देश्य-प्रसुप्तमिव तत्त्व की ओर आकर्षित होगी, जिसके माध्यम से उसे भारतराष्ट्र के वास्तविक सांस्कृतिक आलोक का सान्निध्य प्राप्त हो सकेगा।

प्रस्तुत खण्ड में पाँच स्तम्भों का समावेश हुआ है, जिनके स्वरूप-दिग्दर्शन का भी समन्वय कर लेना चाहिए। **प्रथमस्तम्भ**-में वेद के उस मौलिक स्वरूप का दिग्दर्शन कराया गया है, जिसका सौरसावित्राग्नि से सम्बन्ध है। एवं जिसके माध्यम से सुप्रसिद्ध महर्षि भरद्वाज ने इन्द्र के वर से वेद की अनन्तता का साक्षात्कार किया था। **द्वितीयस्तम्भ**-में उन प्रमाणों का संकलन हुआ है, जिनके द्वारा यह स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है कि, "जिस वेद को आर्षप्रजा अपौरुषेय-नित्यकूटस्थ वेद कहती-मानती है, वह वेद वस्तुतः वह मौलिक तत्त्वविशेष ही है, जिससे सम्पूर्ण विश्व का सर्ज्जन हुआ है, एवं जिस सृष्टिमूलभूत इत्थंभूत वेदतत्त्व के स्वरूप-विश्लेषण के लिए ही शब्दात्मक वेदग्रन्थ आविर्भूत हुए हैं"। **तृतीयस्तम्भ**-में वेद के उस प्राजापत्यस्वरूप का स्वरूपविश्लेषण हुआ है, जिसका बृहतीसहस्र (३६०००) संख्या के व्यूहन से सम्बन्ध है। **चतुर्थस्तम्भ**-में अपौरुषेय वेद के उस तात्त्विक इतिवृत्त का स्वरूपोद्घाटन हुआ

है, जो वस्तुगत्या सम्पूर्ण विश्व का इतिहास (सृष्टिविज्ञानात्मक इतिहास) है। **पञ्चमस्तम्भ**—में वेदतत्त्वात्मक प्राणाग्नि के उन प्राकृत विकासों का स्वरूपविश्लेषण हुआ है, जिनसे नित्य वेद-पदार्थ अपने तत्त्वात्मक ऋक्-यजुः-साम-अथर्व-भावों से क्रमशः २१-२१-१०००-९-संख्या-विवर्त्तों में परिणत होकर विश्व का निर्म्माण कर रहा है।

सर्वान्त के परिशिष्ट विभाग के सम्बन्ध में एक सामयिक निवेदन और कर देना है। निबन्धों में जो शास्त्रीय वचन यत्र-तत्र उद्धृत हुए हैं, उनका समन्वय तत्तद्विषयों के साथ ही कर दिया गया है। इसलिए भी उनके अक्षरार्थसमन्वय का निबन्धों में प्रयास नहीं हुआ है। दूसरा कारण यह है कि, अत्यन्त रहस्यपूर्ण वेदवचनों का समन्वय केवल अक्षरार्थसमन्वय से कथमपि सम्भव नहीं है। हम तो इत्थंभूत अक्षरार्थसमन्वयमात्र में अपने आपको सर्वथा असमर्थ ही अनुभूत कर रहे हैं। यह सब कुछ अनुभव करते हुए भी हमने अमुक मित्रों की प्रेरणा से अनिच्छन्नपि यह सङ्कल्प कर लिया था कि, वचनों के अक्षरार्थसमन्वय का ग्रन्थान्त में परिशिष्टरूप से संकलन कर दिया जाय। संकल्पानुसार हीं प्रयत्न प्रक्रान्त भी हो चुका था, जिसके परिणामस्वरूप अनुमानतः १० पृष्ठ परिशिष्टरूप से प्रकाशित भी कर दिए। सहसा हमें शारीरिक पीड़ा से सन्त्रस्त हो जाना पड़ा। उधर 'संस्थान' के मन्त्री महाभाग का ऐसा आग्रह था कि, शीघ्र से शीघ्र मुद्रित ग्रन्थों को बाह्यजगत् की वस्तु बना देना चाहिए। अतएव यह 'अर्थसमन्वय-प्रकरण हमें तत्पृष्ठों पर ही विश्रान्त कर देना पड़ा। सम्भवतः कभी पुनःसंस्करण पर ही परिशिष्टविभाग पूर्णरूपेण प्रकाशित हो सकेगा।

तत्त्वानुगत विषयों के समन्वय की दृष्टि से प्रस्तुत खण्डमें ३१ रेखात्मक परिलेख (चित्र) समाविष्ट हुए हैं। यद्यपि विभक्त-विषय-प्रदर्शनानुबन्धी इन परिलेखों का तत्तद्वर्णानुपात से (तिरङ्गे-रूप से) ही समाविष्ट होना उचित था। तथापि संस्थान की आर्थिक शैशवावस्था की दृष्टि से वैसा सम्भव न हो सका। अवश्य ही इस सुविधा के प्राप्त हो जाने पर प्रकाशन को सर्वथा विषयानुरूप बनाया जा सकेगा। यही स्थिति प्रकाशन-सौष्ठव के सम्बन्ध में घटित हुई है। सर्वथा एकाकीरूप से अपनी शारीरिक अस्वस्थता के निग्रह से प्रकाशन जैसा चाहिए, वैसा नहीं हो रहा। जिस युग में आर्ष दृष्टिकोण से आर्षप्रजा सर्वथा पराङ्मुख बन रही हो, इत्थंभूत आपद्युग में वैसी सुविधाओं का प्राप्त हो जाना 'खपुष्पकल्पना' ही मानी जायगी, जिन सुविधाओं के बिना कोई भी आयोजन व्यवस्थित नहीं बन सकता। अनुरूप व्यवस्थित-साधन-परिग्रहों की कल्पना-चर्व्वणा व्यर्थ है। जैसा जो कुछ सम्भव है, तदनुपात से जीवन के इस शेषांश में जैसा कुछ बन पड़े, करते जाना हीं श्रेयपन्था है। और इसी श्रेयोभावना के फलस्वरूप यह वाङ्मय श्रद्धाप्रसून राष्ट्रीय आर्षप्रजा के प्रति समर्पित है।

विधेयः—

ज्येष्ठशुक्ल प्रतिपत् १
वि० सं० २०१३
शनैश्चर-वासर

मोतीलालशर्मा, वेदवीथीपथिकः
भारद्वाजोपाह्वः
जयपत्तनाभिजनः

श्रीः

उपरतञ्चेदं किमपि प्रास्ताविकम्

उ० भू० द्वितीयखण्डानुगतम्

श्रीः

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-द्वितीयखण्ड

की

संक्षिप्त-विषयसूची

श्रीः

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका—द्वितीयखण्डान्तर्गता

परिलेखसूची

—[(:)-❀-(:)]—

इति–उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका–द्वितीयखण्डान्तर्गता
परिलेखसूची

—०()-❋-()०—

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका--द्वितीयखण्डान्तर्गता

आलेखसूची

इति—उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका—द्वितीयखण्डान्तर्गता

आलेखसूची

श्रीः

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-द्वितीयखण्डस्य

संक्षिप्ता-विषयसूची

—✽—

सैषा पञ्चस्तम्भात्मिका द्वितीयखण्डानुगता उपनिषद्भूमिका

—✽—

(१)-'वेद का मौलिक स्वरूप' नामक प्रथमस्तम्भान्तर्गत अवान्तर परिच्छेद—

उपरतश्चायं प्रथमस्तम्भः

—१—

—✽—

(२)-'तात्त्विक वेद, और प्रमाणवाद' नामक द्वितीयस्तम्भान्तर्गत अवान्तर परिच्छेद—

उपरतश्चायं द्वितीयस्तम्भः

—२—

(३)-'प्राजापत्य वेदमहिमा' नामक तृतीयस्तम्भ के अवान्तर परिच्छेद—

उपरतश्चायं तृतीयस्तम्भः

३

(४)–'अपौरुषेय वेद का तात्त्विक इतिवृत्त' नामक चतुर्थस्तम्भान्तर्गत अवान्तरपरिच्छेद—

उपरतश्चायं चतुर्थस्तम्भः

४

(५)-'अग्निविकासरहस्य, और वेदशाखाविभाग' नामक पञ्चमस्तम्भान्तर्गत अवान्तरपरिच्छेद

उपरतश्चायं पञ्चमस्तम्भः

५

———❀———

———❀❀———

उपरता चेयं उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका—द्वितीयखण्डस्य

संक्षिप्ता—विषयसूची

———❀———

श्री:

उपरता चेयमुपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका–द्वितीयखण्डस्य

संक्षिप्ता–विषयसूची

श्रीः

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-द्वितीयखण्डान्तर्गत

'वेद का मौलिकस्वरूप' नामक

प्रथम-स्तम्भ

१

4

श्रीः

* ओं तत्सद् ब्रह्मणे नमः *

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका

द्वितीयखण्ड

—*—

१—मांगलिकस्मरण—

नि षु सीद गणपते ! गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम् ।
न ऋते त्वत् क्रियते किञ्चनारे महामर्कं मघवञ्चित्रमर्च ॥ १ ॥
एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्य्यो विश्वमनुप्रभूतः ।
एकवोषाः सर्वमिदं विभाति—"एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्" ॥ २ ॥
वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः ।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ॥ ३ ॥
वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य वेदानां माताऽमृतस्य नाभिः ।
सा नो जुषाणोपयज्ञमागादवन्ती देवी सुहवा मेऽस्तु ॥ ४ ॥
यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥ ५ ॥
अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते अग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति ।
अग्निर्जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ॥ ६ ॥
सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद्द्यावापृथिवी तावदित्तत् ।
सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद् ब्रह्मविष्ठितं तावती वाक् ॥ ७ ॥
ओष्ठा पिधाना नकुली दन्तैः परिवृता पविः ।
सर्वस्यै वाच ईशाना चारु मामिह वादयेत् ॥

विषयोपक्रमः

२—भूमिकाप्रथमखण्ड का सिंहावलोकन—

"क्या उपनिषत् वेद है ?", यह विषय प्रक्रान्त है। भूमिका के प्रथमखण्ड में इस प्रश्न से सम्बन्ध रखने वाले 'दार्शनिक विचार'—'वैज्ञानिक वेदनिरुक्ति', इन दो विषयों का विवेचन हुआ है। इन दोनों

विषयों में से वैज्ञानिक वेदनिरुक्ति से सम्बन्ध रखनें वाली मूलवेद, आत्मवेद, सच्चिदानन्दवेद, वेद–विद्या–ब्रह्मवेद, उक्थ–ब्रह्म–सामवेद, पर्ववेद, भावनावेद, भाववेद, कालवेद, दिग्वेद, देशवेद, वर्णवेद, आदि १७ वेदनिरुक्तियों का प्रथमखण्ड में स्पष्टीकरण हो चुका है÷। अत्र स्वतन्त्ररूप से वेद के मौलिक स्वरूप का विचार उपक्रान्त है। हमारा विश्वास है कि, प्रथमखण्ड में वेद की जो निरुक्तियाँ बतलाईं गईं हैं, एवं प्रस्तुत प्रकरण में वेद का जो तात्त्विक स्वरूप बतलाया जाने वाला है, उसके सम्यक् अवलोकन करने के अनन्तर वेदशास्त्र से सम्बन्ध रखने वाले चिरकालिक 'वेद पौरुषेय हैं, अथवा अपौरुषेय ?" इस प्रश्न का यथावत् समाधान हो जायगा। एवं इसी वेदस्वरूप के आधार पर दार्शनिक दृष्टि से सम्बन्ध रखनें वाले उन मतवादों का भी पूरा पूरा समन्वय हो जायगा, जो कि विभिन्न मतवाद वेद के तात्त्विक स्वरूप–ज्ञान के अभाव से वेदशास्त्र की अपौरुषेयता, पौरुषेयता के सम्बन्ध में विविध भ्रान्तियों के कारण बने हुए हैं।

३–वेदव्याख्याता यास्काचार्य्य की आलोच्या निर्वचनशैली—

मौलिक 'वेदपदार्थ' का परिज्ञान हमें उपलब्ध होने वाले सायण, महीधर, हरिहरादि के वेदभाष्यों से हो सकता है, अथवा नहीं ?, इस अप्रिय चर्चा से यथासम्भव हमें इसलिए बचना चाहिए कि, जिन श्रद्धातिरेक का प्रथमखण्ड में विश्लेषण किया जा चुका है, उस प्रचलित श्रद्धा का विघात करना हमें कदापि इष्ट नहीं है। कर्म्मकाण्ड के नाते सायण–महीधरादि वेदभाष्यकारों के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलियाँ समर्पित करते हुए, इन महापुरुषों के प्रति समस्त वेदभक्तों की ओर से कृतज्ञता प्रकट करते हुए, तथा इनके यश को अणुमात्र भी कम न करते हुए इस सम्बन्ध में केवल यही स्पष्टीकरण पर्य्याप्त होगा कि, स्वतःप्रमाण वेदशास्त्र के सम्बन्ध में सायणादि व्याख्याताओं के द्वारा बुद्धिपूर्वक जो व्याख्याएँ हुईं हैं, वे कर्म्मकाण्ड से सम्बन्ध रखने वालीं इतिकर्त्तव्यताओं का जहाँ अक्षरशः अनुगमन कर रहीं हैं, वहाँ वेद के मौलिक स्वरूप की दृष्टि से, वेदशास्त्र में प्रतिपादित पारिभाषिक शब्दों के तात्त्विक अर्थसमन्वय की दृष्टि से उनकी वे व्याख्याएँ अधिकांश में व्यर्थ ही प्रमाणित हुईं हैं।

यास्काचार्य्य से प्राचीन 'कौत्स' नामक वेदव्याख्याता के–"* **अविस्पष्टार्थत्वात्, अनर्थकत्वात्, विप्रतिषिद्धार्थत्वाच्च विधिमन्त्रयोर्वेदार्थप्रत्ययाय शास्त्रारम्भो निरर्थकः"** इस हेतुवाद की उपेक्षा करते हुए,–"**न × ह्येष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति, पुरुषापराधः स भवति"** इस न्याय

÷ देखिए, **उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका** प्रथमखण्ड, अन्तिमप्रकरण के १पृष्ठ से १०२ पृष्ठ पर्य्यन्त।

* "वैदिक शब्दों के अर्थ स्पष्ट नहीं हैं–इसलिए वैदिक शब्दों के कोई निश्चित अर्थ नहीं किए जा सकते। इसलिए वैदिक शब्दों के अर्थ एक दूसरे शब्दार्थों से अप्रामाणिक बन रहे हैं। अतएव विधिमन्त्रात्मक वेद के अर्थावबोध के लिए वेदव्याख्या करना निरर्थक है।"

× "यदि एक अन्धा मनुष्य स्थाणु से टकरा जाता है, स्थाणु उसे नहीं दिखाई देता है, तो यह स्थाणु का अपराध नहीं है, अपितु यह स्वयं उस अन्धे मनुष्य का ही अपराध है। इसी प्रकार यदि किसी को वेद–शब्दार्थों में सन्देह है, तो यह सन्देह करने वाले का ही अपराध माना जायगा।

को लक्ष्य में रखते हुए सुप्रसिद्ध वेदव्याख्याता यास्काचार्य्य ने वेदार्थ के लिए प्रयास किया, जिसके फलस्वरूप 'यास्कनिरुक्त' नामक ग्रन्थ आज विद्वत्समाज में सम्मानार्ह बन रहा है। यास्काचार्य्य के इस सम्मान को अणुमात्र भी कम न करते हुए हमें इनके सम्बन्ध में भी इस अप्रिय सत्य का आश्रय लेना ही पड़ रहा है कि, जहाँ सायणमहीधरादि भाष्यकारों के भाष्य कर्म्मकाण्ड (पद्धति) से सम्बन्ध रखने वालीं सम्पूर्ण जिज्ञासाओं के पूर्ण परितोषक बन रहे हैं, वहाँ यास्काचार्य्य का निरुक्तग्रन्थ वैदिक पदार्थों की वैकल्पिक निरुक्ति करता हुआ सन्देहनिवृत्ति के स्थान में **'एकस्मिन् धर्म्मिणि विरुद्धनानाकोट्यवगाहिज्ञानं संशयः'** के अनुसार सन्देहदृढ़ता का ही कारण बन रहा है। यास्काचार्य्य के वेदशब्दनिर्वचनों में हमारी सब से बड़ी विप्रतिपत्ति यही है कि, इन्होंनें ब्राह्मणग्रन्थोक्त शब्दनिर्वचनों की एक प्रकार से उपेक्षा कर अपने स्वतन्त्र दृष्टिकोण से ही शब्दों का निर्वचन किया है! कहना न होगा कि, ब्राह्मणग्रन्थों के निर्वचन जहाँ हमें एक सर्वथा निर्णीत तात्त्विक अर्थ का बोध कराते हैं, वहाँ यास्काचार्य्य के निर्वचन अविस्पष्टार्थसूचक ही बनें हुए हैं। उदाहरण के लिए समतुलनदृष्टि से कुछ एक शब्दों का विचार करना अप्रासङ्गिक न होगा। **इन्द्र, अग्नि, वरुण, वैश्वानर, बृहस्पति, अन्तरिक्ष, सम्वत्सर,** इत्यादि शब्दों के जो निर्वचन यास्काचार्य्य ने किए हैं, उन्हें भी दृष्टि के सामने रखिए, एवं स्वयं वेद ने जो निर्वचन किए हैं, उन्हें भी लक्ष्य बनाइए, और फिर दोनों का समतुलन कीजिए। स्थिति का स्पष्टीकरण हो जायगा—

१-इन्द्रः—

"इन्द्रः-इरां दृणाति, इति वा"।

—या० नि० १०।८।२।

"स योऽयं मध्ये प्राणः, एष एवेन्द्रः। तानेष प्राणान् मध्यत इन्द्रियेण-ऐन्द्ध। यदैन्द्ध, तस्मादिन्धः। इन्धो ह वै तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षम्"।

—शत० ब्रा० ६।१।१।२।

२-अग्निः—

"अग्निः कस्मात्?, अग्रणीर्भवति"।

—या० नि० ७।१४।४।

"स यदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत, तस्मादग्निः। अग्रिर्ह वै तमग्निरित्याचक्षते परोक्षम्"।

—शत० ब्रा० ६।१।१।११।

३—मृत्युः—

"मृत्युर्मारयतीति सतः"

—या० नि० ११।६।२।

"स समुद्रात्-अमुच्यत। स मुच्युरभवत्। तं वा एतं मुच्युं सन्तं मृत्युरित्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति, प्रत्यक्षद्विषः"।

—गोपथ ब्रा० पृ० १७।

४-वरुणः—

"वरुणो वृणोतीति सतः" ।

—या० नि० १०।४।२।

"आपः-यच्च वृत्वाऽतिष्ठंस्तद्वरणोऽभवत् । तं वा एतं वरणं सन्तं 'वरुण' इत्याचक्षते परोक्षेण । परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति, प्रत्यक्षद्विषः"

—गो० ब्रा० पू० १।७।

५-वैश्वानरः—

वैश्वानरः कस्मात् ? विश्वान्नरान्नयति" ।

—या० नि० ७।२२।५।

"स यः स वैश्वानरः-इमे स लोकाः । इयमेव पृथिवी विश्वं, अग्निर्नरः । अन्तरिक्षमेव विश्वं, वायुर्नरः । द्यौरेव विश्वं, आदित्यो नरः । (विश्वेभ्यो नरेभ्यः—अग्निवाय्वादित्येभ्यः—संघर्षादुत्पन्नस्तापलक्षणस्त्रैलोक्यव्यापको यौगिकाग्निरेव वैश्वानरः)" ।

—शत० ब्रा० ६।३।१।३।

६-बृहस्पतिः—

"बृहस्पतिर्बृहतः पाता वा, पालयिता वा" ।

—या० नि० १०।१।१६।

"वाग्वै बृहती, तस्या एष पतिः, तस्मादु बृहस्पतिः" ।

—शत० ब्रा० -१४।४।१।२२।

७-अन्तरिक्षम्—

"अन्तरिक्षं कस्मात् ?, अन्तरा क्षान्तं भवति, अन्तरेमे इति वा, शरीरेष्वन्तरक्षयमिति वा" ।

—या० नि० २।१०।४।

"सह हैवेमावग्रे लोकावासतुः । तयोर्वियतयोर्योऽन्तरेणाकाश-आसीत्, तदन्तरिक्षमभवत् । ईक्षं हैतन्नाम ततः पुरा । अन्तरा वाऽइदमीक्षमभून् , इति-तस्मादन्तरिक्षम्" ।

—शत० ब्रा० ७।१।२।२३।

८-सम्वत्सरः—

"सम्वसरः—सम्वसन्तेऽस्मिन् भूतानि" ।

—या० नि० ४।२७।

"स ऐक्षत प्रजापतिः-'सर्वं वाऽअत्सारिषं, य इमा देवता असृक्षीति' । स सर्वत्सरोऽभवत् । सर्वत्सरो ह वैनामैतद्यत्-'सम्वत्सर' इति"।

—शत० ब्रा० ११।१।६।१२।

इसके अतिरिक्त यास्काचार्य्य के असंख्य विकल्पभाव (वा–वा–भाव) भी हमें पदे-पदे लक्ष्यच्युत करते रहते हैं। उदाहरण के लिए यास्क के 'देवतावाद' को ही लीजिए। देवताओं के सम्बन्ध में यास्क ने प्रश्न उठाया है कि, देवता स्वरूपधारी हैं?, अथवा तत्त्वात्मक? । आगे जाकर इन प्रश्नों की मीमांसा करते हुए निरुद्धार्थप्रतिपादक वेदवचनों के आधार पर यह बतलाने की चेष्टा की गई है कि, देवता शरीरधारी भी हो सकते हैं, अथवा तत्त्वात्मक भी हो सकते हैं। इस प्रकार विविध पक्षों को उद्धृत करते हुए अन्त में यास्काचार्य्य वही संदिग्ध निर्णय करते दिखलाई देखते हैं, जैसा कि सन्देहात्मक निर्णय अस्मदादि साधारण मनुष्य पहिले से ही किए बैठे हैं। देखिए!

(१)—"* अपि वा उभयविधाः स्युः"।

—या० नि० ७।८।३।

(२)—"अपि वा पुरुषविधानामेव सतां कर्म्मात्मान-
एते स्युः, यथा यज्ञो यजमानस्य"।

—या० नि० ७।८।८।

हम अपने वेदप्रेमी पाठकों से पूछते हैं कि, देवतावाद–सम्बन्धिनी जिस जिज्ञासा को लेकर वे यास्काचार्य्य की शरण में पहुँचते हैं, क्या वहाँ उन की जिज्ञासा का पूरा पूरा समाधान हो जाता है?। क्या वे यास्क के 'अपि वा उभयविधाः स्युः' इस सन्देहात्मक उत्तर से सन्तुष्ट हो जाते हैं?। इसके अतिरिक्त यास्कनिरुक्त को जब हम आदि से अन्त तक अध्ययन करते हैं, तो हमें ऐसा प्रतीत होता है कि, मानो यास्काचार्य्य की दृष्टि में वैदिक अनन्त तत्त्ववाद मेघ, जल, सूर्य्यकिरण, इन में भी विशेषतः मेघ पर ही विश्रान्त है। यास्कनिरुक्त की इस संदिग्ध व्याख्याप्रणाली से थोड़ी देर के लिए तो हमें यह भी भ्रम हो जाता है कि, बहुत सम्भव है, यास्क के नाम से किसी अर्वाचीन पण्डित ने ही गत शताब्दियों में इस ग्रन्थ का निर्म्माण कर डाला हो?। कारण इस भ्रम का यही है कि. शाकपूणि, काशकृत्स्न, क्रौष्टुकि. कात्थक्य, और्णनाभ, चर्म्मशिरा, आदि जिन निरुक्तकारों के निर्वचन उदाहरणरूप से यत्रतत्र उपलब्ध होते हैं, उन निर्वचनों के समतुलन में प्रचलित यास्कनिरुक्त सर्वथा प्राद्विवादग्रहग्रस्त–सा प्रतीत हो रहा है। अस्तु इस अप्रिय सत्य के साथ ही कृतज्ञता के नाते हमें यह भी मान हीं लेना पड़ता है कि, जब लोगों की वेदार्थ की ओर प्रवृत्ति नही है, वेदार्थ में स्वप्रतिभा से श्रम करने वाले विद्वानों का अभाव-सा है, तो हमारी इस प्रारम्भिक दशा में यास्कनिरुक्त की निर्वचनशैली से भी लाभ उठाया ही जा सकता है। परन्तु इसके साथ ही वेदप्रेमियों से यह निवेदन किए बिना भी नहीं रहा जा सकता कि, यास्कनिर्वचन, एवं ब्राह्मणनिर्वचन में जहाँ कुछ भी विरोध प्रतीत होता हो, कुछ भी सन्देह रहे, वहाँ ब्राह्मणनिर्वचन को ही प्रधानता देनी चाहिए। एक एक शब्द के अनेक वैकल्पिक अर्थों का अनुगमन करने वाले ये यास्कीय निर्वचन कभी निश्चितार्थप्रतिपादक वैदिकमन्त्रों का तत्त्वविश्लेषण नहीं कर सकते। "यह भी हो सकता है, वह भी हो सकता है" यह तो एक प्रकार का संशयवादमूलक वैसा स्याद्वाद है, जिससे

* देवतावाद से सम्बन्ध रखने वाला विशद वैज्ञानिक विवेचन 'शतपथहिन्दीविज्ञान' भाष्यान्तर्गत "अष्टविधदेवतानिरूपण" नामक प्रकरण में देखना चाहिए।

सन्देहनिवृत्ति के स्थान में उत्तरोत्तर सन्देहवृद्धि ही होती है। हमें तो वैसे विद्वान् का आश्रय अपेक्षित है, जो वा-वा के प्रपञ्च में न डालकर हमें एक निर्णीत, निश्चित 'इदमित्थमेव, नान्यथा' लक्षण अर्थ का बोध करावे। स्वयं श्रुति भी ऐसे विद्वान् के आश्रय का ही समर्थन कर रही है, जैसाकि निम्नलिखित वचन से स्पष्ट है—

१—सम्पूषन् विदुषा नय यो अञ्जसानुशासति।
य एवेदमिति ब्रवत् ॥
२—समु पूष्णा गमेमहि यो गृहाँ अभिशासति।
इम एवेति च ब्रवत् ॥
३—पूष्णश्चक्रं न रिष्यति न कोशोऽवपद्यते।
नो अस्य व्यथते पविः ॥

--ऋक्सं० ६।५४।१-२-३ मन्त्र।

४-वेदभाष्यकार श्रीसायण-महीधराचार्य्य की आलोच्या भाष्यशैली—

यही अवस्था सायण-महीधरादि आचार्य्यों की समझिए। इन आचार्य्यों नें कर्म्मपरक जो वेदभाष्य लिखे हैं,उनके लिए आर्यप्रजा सदा इन की कृतज्ञ रहेगी। परन्तु वैदिक तत्त्वों के सम्बन्ध में इनकी ओर से जो स्पष्टीकरण हुआ है, वह परस्पर तो विरोध का सूचक ही है। इस के अतिरिक्त यास्काचार्य्यसिद्धान्तों का भी पूर्ण विरोध हुआ है। दोनों हीं आचार्य्य सम्मान्य हैं। ऐसी दशा में किनका कथन प्रामाणिक, एवं किन का अप्रामाणिक माना जाय ?, यह भी एक जटिल समस्या है। सायणमहीधरभाष्यों के सम्बन्ध में दो विप्रतिपत्तियों को प्रधान स्थान दिया जा सकता है। पहिली विप्रतिपत्ति है—'मुक्तकरूप से मन्त्रव्याख्या'। जब आप ऋक्संहिता पर दृष्टि डालेंगे, तो आपको विदित होगा कि, किसी भी सूक्त में क्रमबद्ध किसी विद्या का निरूपण नहीं हुआ है। उदाहरण के लिए 'वृष्टिविद्या' को ही लीजिए। इस के कुछ मन्त्र प्रथम मण्डल के कतिपय सूक्तों में मिलेंगे, कुछ मन्त्र दशममण्डल के विभिन्न सूक्तों में। इसी प्रकार यज्ञविद्या, खगोलविद्या, कालचक्रविद्या, नक्षत्रविद्या, प्रवर्ग्यविद्या, प्रणवविद्या, आत्मगतिविद्या, प्रजातन्तुवितानविद्या, इन्द्रविद्या, वरुणविद्या, ओषधिविद्या, वनस्पतिविद्या, सोमविद्या, वाग्विद्या, प्राणविद्या, मनोविद्या, ब्रह्मविद्या, सदसद्विद्या, इत्यादि यच्चयावत् विद्याओं का मुक्तक सूक्तों के मुक्तक मन्त्रों के द्वारा मुक्तकरूप से ही यत्रतत्र निरूपण हुआ है। इस मुक्तकभाव का कारण यही है कि, भिन्न भिन्न सूक्तों के भिन्न भिन्न ऋषि द्रष्टा हैं। जिस ऋषि ने जिस विद्या के सम्बन्ध में जिस विषय का जिस मन्त्र में स्पष्टीकरण कर दिया है, अन्य ऋषि ने उस विषय को छोड़ते हुए शेषांश पर ही प्रकाश डाला है। यही कारण है कि, ऋग्वेद में जिन असंख्यात गुप्त विद्याओं का निरूपण हुआ है, उन्हें आप क्रमबद्ध प्राप्त नहीं कर सकते। प्रत्येक विद्या के यथावत् समन्वय के लिए आपको समस्त ऋग्वेद का मन्थन करना पड़ेगा, यत्रतत्र से अंशात्मक विद्याविषयों का संग्रह करना पड़ेगा, तब कहीं आप अभीप्सित विद्याविषय को सर्वाङ्गीण बना सकेंगे।

सायणमहीधर ने स्वभाष्यों में इस प्रकरणमर्य्यादा की उपेक्षा क्यों की ?, यह प्रश्न तो अतिप्रश्न है। हाँ, उपेक्षा अवश्य हुई है, यह सिद्धान्त मान्य है। इन्होंनें मुक्तकरूप से ही वेदमन्त्रों की व्याख्या की, जो कि

पूर्वापर प्रकरणसमन्वय से वञ्चित रहतीं हुईं वेदार्थसम्बन्ध में अनुपयोगिनीं हीं सिद्ध हुईं। हमारा तो इन मन्त्रसंहिताओं के सम्बन्ध में आज भी ऐसा विश्वास है कि, ब्राह्मण, आरण्यक, तथा उपनिषदों के अतिरिक्त मन्त्रसंहिताओं के स्वतन्त्र भाष्य से कभी मन्त्रों के तात्त्विक अर्थ अवगत हो ही नहीं सकते। संहिता में पठित असंख्य ऐसे पारिभाषिक शब्द हैं, जिनका अर्थ व्याकरण के बल पर नहीं लगाया जा सकता। ऐसी असंख्य परिभाषाएँ हैं, जिनका विश्लेषण केवल मन्त्रों के अक्षरों के आधार पर नहीं किया जा सकता। इनके सम्यक् बोध के लिए ब्राह्मणनिरुक्तियों के आधार पर स्वतन्त्र ग्रन्थाध्ययन हीं अपेक्षित है। बिना परिभाषाज्ञान के एक वेदभाष्य तो क्या, सहस्र वेदभाष्य भी मन्त्रार्थपरिज्ञान में यथावत् सहायक नहीं बन सकते। सायणाचार्य्य के सम्बन्ध में दूसरी विप्रतिपत्ति है—"व्याकरणबलप्रयोग"। मन्त्रों में असंख्य शब्द ऐसे पठित हैं, जो अपना अर्थ जहाँ आप प्रकट रहे हैं, वहाँ व्याकरणबलप्रयोगद्वारा धातु-प्रत्यय की अर्गला लगा देने से वे अपना अर्थ खो बैठते हैं। इन सब विषम समस्याओं को देखते हुए एक वेदार्थपरिशीलनप्रेमी के सामने अवश्य ही यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि, वह अपनी वेदार्थविषयिणी जिज्ञासा शान्त करने के लिए ऐसे कौन-से उपाय का आश्रय ले, जिससे उसका अन्तर्जगत् वस्तुगत्या वेद के वास्तविक तात्पर्य्य की ओर अनुगत बन सके?।

५–वेदार्थपरिशीलनसाफल्योपाय—

उक्त प्रश्न का सिवाय इसके और क्या उत्तर हो सकता है कि, परम्परागत वेदव्याख्याओं को ही अपने स्वाध्यायकर्म्म की मूलप्रतिष्ठा बनाना चाहिए। जो अर्थ परम्परानुगति से सम्बन्ध नहीं रखता, वह वेदार्थपरिशीलनकर्म्म में कभी उपोद्बलक सिद्ध नहीं हो सकता। अब इस उत्तर के सम्बन्ध में यह प्रतिप्रश्न शेष रह जाता है कि, वे परम्परागत वेदव्याख्याएँ कौन सी हैं, जिनका अनुगमन तत्त्वज्ञान का सहायक बनता है?। इस प्रतिप्रश्न का एकमात्र उत्तर है–**"आर्षपरम्परा"–"ऋषिसम्प्रदाय"**। समस्त-ब्राह्मणग्रन्थ, समस्त आरण्यकग्रन्थ, समस्त उपनिषद्ग्रन्थ इसी आर्षपरम्परा की प्रतिमा माने जायँगे। मन्त्रात्मिका संहिता के पारिभाषिक शब्दों की जैसी व्याख्याएँ इस ब्राह्मणात्मक वेदभाग में हुई हैं, वैसी अन्य अनार्ष (मानुष) व्याख्याओं में सर्वथा अनुपलब्ध हैं। * सन्तमत से सम्बन्ध रखने वाली जिस साम्प्रदायिक दृष्टि ने हमारी बुद्धि को आर्षदृष्टि से पृथक् कर दिया है, ऐसी अनार्षदृष्टि से अनार्षव्याख्याओं को एकमात्र अवलम्ब बनाते हुए कभी वेद के तत्त्वार्थपरिशीलन में हम सफल नहीं बन सकते।

वैदिकसाहित्य आर्षदृष्टि से पूत, आर्षधर्म्म के अन्यतम प्रतिष्ठापक महामहर्षियों के द्वारा दृष्ट ईश्वरीय सहज ज्ञाननिधि है। सम्भव है, हमारी बुद्धि प्रयास करने पर इसके तट पर पहुँच सके। परन्तु इतना निश्चित है कि, जब तक हमारी बुद्धि कृत्रिमज्ञानप्रधाना बनती हुई बुद्धिगम्य वेदव्याख्याओं का अनुगमन करती रहेगी, तब तक हम कभी उस सहजज्ञानसागर के अन्तस्तल में निमज्जन नहीं कर सकेंगे। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए, स्वतःप्रमाण वेद के मन्त्रभाग का यथावत् परिज्ञान प्राप्त करने के लिए तो

---

* गीताविज्ञानभाष्यभूमिका तृतीयखण्डान्तर्गत **'वैदिककर्म्मयोग'** नामक प्रकरण के **'आर्षधर्म्म, एवं सन्तमत'** नामक अवान्तर प्रकरण में इस विषय का विशद विवेचन देखना चाहिए।

हमें सम्प्रदायवादशून्य, आर्षदृष्टि के विकास का प्रयत्न करते हुए स्वतःप्रमाणभूत वेद के ब्राह्मणभाग का ही अनुगमन करना पड़ेगा। "स्वयम्प्रकाशाः स्वतःसिद्धाश्च भवन्ति वेदार्थाः" इस सूक्ति को एक तथ्यपूर्ण सूक्ति मानते हुए स्वयं वेदशास्त्रपरम्परा को ही वेदार्थ में प्रमाण मानना पड़ेगा। जिन तात्त्विक विषयों का स्पष्टीकरण परम्परासिद्ध स्वयं ब्राह्मणग्रन्थ कर रहे हैं, जो तात्त्विक अर्थ स्वयं मन्त्रों से बिना किसी खैंचातानी के स्वतः अभिव्यक्त हो रहे हैं, उनकी उपेक्षा कर वेदार्थबोध के लिए परतःप्रमाणभूत अन्य व्याख्याग्रन्थों का आश्रय लेना, आर्षपरम्परा का परित्याग कर अनार्षपरम्परा का अनुगमन करना किसी भी आर्षधर्म्मानुयायी को शोभा नहीं देता। इसी आर्षदृष्टि को, आर्षदृष्टिद्वारा दृष्ट परम्परा को प्रमाण मानते हुए ही वेद का स्वरूपविचार प्रक्रान्त है। मौलिक वेद के जिस तात्त्विक स्वरूप का इस प्रकरण में संक्षेप से स्पष्टीकरण होने वाला है, प्रचलित परम्परा के अनुयायी विद्वानों के लिए वह सर्वथा नवीन बात होगी। उपलब्ध सायण-महीधर-यास्कादि व्याख्याग्रन्थों की परम्परा से वे इसका समर्थन प्राप्त नहीं कर सकेंगे। इस वेदस्वरूप का समर्थन उन्हें स्वयं वेदशास्त्र में ही उपलब्ध होगा, जो कि समर्थन परतःप्रमाणभूत इतर शास्त्रों की अपेक्षा सर्वात्मना प्रामाणिक माना जायगा। यही प्रकृत प्रकरण का उपक्रम है, एवं इसी के अव्यवहितोत्तरकाल में पाठकों का ध्यान वेद के तात्त्विक स्वरूप की ओर आकर्षित किया जा रहा है।

इति—विषयोपक्रमः

६-मौलिक वेद का इतिवृत—

महामायावच्छिन्न, सर्वेश्वर, सगुण, सर्वधर्म्मोपपन्न प्रजापति जिस तत्व के सहयोग से विश्वनिर्म्माण में समर्थ हुए हैं, उसी तत्त्व का नाम 'मौलिकवेद' है। जिस तत्त्व के सहयोग से प्रजापति यज्ञवितान में समर्थ होते हैं, वही तत्त्व मौलिकवेद' है। जिस तत्त्व के आधार पर प्रजापति प्रजातन्तुवितानद्वारा अपने 'प्रजापति' नाम को सार्थक करते हैं, वही तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जिस तत्त्व के आधार पर सर्वज्ञ प्रजापति त्रैलोक्य में अपना ज्ञानकला का प्रसार करते हैं, वही तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जिस तत्त्वाश्रय से सर्वशक्तिमान् प्रजापति रोदसी ब्रह्माण्ड में अपनी क्रिया का विस्तार करते हैं, वही तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जिस तत्त्वानुगति से सर्ववित् (सर्वार्थघन) प्रजापति अर्थप्रपञ्च के अध्यक्ष बने हुए हैं, वही तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जिस प्रतिष्ठातत्त्व के आधार पर प्रजापति ऋत, अतएव प्रतिष्ठाशून्य आपोमय समुद्र के गर्भ में प्रविष्ट होकर प्रतिष्ठित होते हैं, वही प्रतिष्ठातत्त्व 'मौलिकवेद' है। जो प्रतिष्ठातत्त्व सप्तपुरुषपुरुषात्मक चित्य प्रजापति को प्रतिष्ठा प्रदान करता है, वही प्रतिष्ठातत्त्व 'मौलिकवेद' है। जिस प्रतिष्ठातत्त्व के आधार पर गुणभूत, अणुभूत, रेणुभूत, महाभूत, सत्त्वभूत, इन पाँच भूतवर्गों का विकास होता है, वही प्रतिष्ठातत्त्व 'मौलिकवेद' है।

जिस प्रतिष्ठातत्त्व को आधार बनाकर प्रजापति 'विद्यते' लक्षण अस्तिभाव से युक्त हो रहे हैं, सत्तात्मक, सत्तास्वरूपसमर्पक वही प्रतिष्ठाभाव 'मौलिकवेद' है। जिसे प्रतिष्ठा बनाकर प्रजापति 'वेत्ति' लक्षण विद्भाव से युक्त हो रहे हैं, चिदात्मक, चित्स्वरूपसमर्पक वही प्रतिष्ठाभाव 'मौलिकवेद' है। जिसके सहयोग से प्रजापति 'विन्दति' लक्षण रसभाव (आनन्द) से युक्त हो रहे हैं, रसात्मक, रसस्वरूपसमर्पक वही प्रतिष्ठाभाव 'मौलिकवेद'

हैं। जिस मौलिक तत्त्व से सर्वव्यापक कालचक्र के भूत–वर्त्तमान–भविष्यत्, ये तीन सोपाधिक खण्ड हो जाते हैं, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जिस मौलिक तत्त्व के आधार पर ब्रह्म, क्षत्र, विट्, शूद्र–भावापन्न दिव्य–वीर–पशु–मृत्–भावमय अग्नि, इन्द्र, विश्वेदेव, पूषा, नामक चार वर्णदेवताओं का विकास हुआ है, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जिस मौलिक तत्त्वधरातल पर अग्निमय पृथिवीलोक, वायुमय अन्तरिक्ष-लोक, आदित्यमय द्युलोक, तथा आपोमय चतुर्थलोक का वितान हुआ है, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है।

जिस मौलिक तत्त्व के सहयोग से विशकलित क्षरपरमाणु संघरूप में परिणत होते हुए 'मूर्ति (पिण्ड) भाव में आ जाते हैं, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जिस मौलिक तत्त्व के अनुग्रह से मूर्त्तिभावापन्न (पिण्डात्मक) पदार्थों में आदान, विसर्गात्मक गतिभाव का सञ्चार हुआ करता है, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जो मौलिक उक्थतत्त्व अपनें तूलरूप अर्क (रश्मि) भावों के वितान से मूर्त्तिभावापन्न पदार्थों की आभ्यन्तर प्राणमूर्त्ति को केन्द्र बनाते हुए बड़ी दूरतक वियन्मण्डल में अपना एक स्वतन्त्र तेजोमण्डल बनाने में समर्थ होता है, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जिस मौलिक तत्त्व के आश्रय से एकांशु सूर्य्य सहस्रांशु बनता हुआ अनन्तांशु बन रहा है, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' हैं। जो मौलिक तत्त्व अपने सल्लक्षण असद्रूप से 'ऋषि' नाम से प्रसिद्ध होता हुआ सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति का जन्मदाता बन रहा है, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जो मौलिक तत्त्व केन्द्र–विष्कम्भ–परिणाहभावों में परिणत होता हुआ पिण्डों का स्वरूपसंरक्षक बन रहा है, वही मौलिक तत्त्व मौलिकवेद है।

जो मौलिक तत्त्व प्रस्ताव; उद्‌गीथ, निधन–भावों में परिणत होता हुआ वस्तुमात्र के उपक्रम, मध्य, उपसंहार-भावों का प्रवर्त्तक बन रहा है, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जो मौलिक तत्त्व उक्थ, ब्रह्म, सामरूप से पदार्थमात्र का प्रभव, प्रतिष्ठा, परायण बनता हुआ आत्मा बन रहा है, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जो मौलिक तत्त्व हृद्यपृष्ठ, बाह्यपृष्ठ, पारावतपृष्ठरूपों में परिणत होता हुआ पदार्थमात्र की साहस्री के वितान का कारण बन रहा है, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जो मौलिक तत्त्व पार्थिव श्यैत, नौधसभावों का अतिमान करता हुआ द्यावापृथिवी के परिणय का कारण बन रहा है, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जो मौलिक तत्त्व अपने वितानभाव से बृहत्, वैराज, रैवत–सामों में परिणत होता हुआ सूर्यपिण्ड को प्राणात्मना लोका-लोक पर्य्यन्त व्याप्त किए हुए है, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जो मौलिक तत्त्व अपने वितानभाव से रथन्तर, वैरूप, शाक्वर–सामों में परिणत होता हुआ भूपिण्ड को प्राणात्मना सूर्य्यपिण्ड से भी ऊपर तक व्याप्त किए हुए है, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है।

जो मौलिक तत्त्व 'स्वयम्भू' नाम से प्रसिद्ध 'आभूप्रजापति' का निःश्वास बनता हुआ '**ब्रह्मनिःश्वसित**' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है; वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जो मौलिक तत्त्व मायी पुरुषस्वरूप के भी विकास का कारण बनता हुआ स्वयं '**अपौरुषेय**' बन रहा है, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जो मौलिक तत्त्व भृग्वङ्गिरोरूप से षड्ब्रह्म बनता हुआ पारमेष्ठ्यमण्डल की प्रतिष्ठा बन '**सुब्रह्म**' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जो मौलिक तत्त्व गायत्रतेज में परिणत होता हुआ सौरगायत्रमण्डल का अतिष्ठावा बनकर '**गायत्रीमात्रिक**' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जो मौलिक तत्त्व सम्वत्सर, अयन, मास, पक्ष, अहोरात्र, मुहूर्त्त, घटिका, पल, श्वास, आदि

कालखण्डों में विभक्त होकर चान्द्रसम्वत्सर का स्वरूपसमर्पक बनता हुआ 'चान्द्रवेद' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जो मौलिक तत्त्व वसन्तादि षड्ऋतुसमष्टिरूप पार्थिवसम्वत्सरयज्ञ का स्वरूपसमर्पक बनता हुआ 'यज्ञमात्रिक' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है।

जिस मौलिक तत्त्व नें अपने सहस्र (अनन्त भाव से प्रत्येक वस्तु में सहस्र 'उक्थ' उत्पन्न कर, प्रत्येक वस्तु में सहस्र 'व्रत' उत्पन्न कर, प्रत्येक वस्तु में सहस्र 'अग्नि' धारा उत्पन्न कर ऋक्समुद्रलक्षण 'महोक्थ', सामसमुद्रलक्षण 'महाव्रत', एवं यजुःसमुद्रलक्षण 'पुरुष' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जो मौलिक तत्त्व शस्त्र, स्तोत्र, ग्रहभावों के द्वारा शंसन, उद्गान, याज्या-कर्म्मों का सञ्चालक बना हुआ है, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जिस मौलिक तत्त्व ने अपने शस्त्रभाव से प्राणाग्नि को हौत्रकर्म्म का, ग्रहभाव से प्राणवायु को आध्वर्य्यकर्म्म का, एवं स्तोत्रभाव से प्राणादित्य को औद्गात्र-कर्म्म का अध्यक्ष बना रक्खा है, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जिस मौलिक तत्त्व ने प्रातःसवन के द्वारा गायत्री का, माध्यन्दिनसवन के द्वारा त्रिष्टुप् का एवं सायंसवन के द्वारा जगती का नियन्त्रण कर,इन नियन्त्रित छन्दों के द्वारा त्रयस्त्रिंशत् यज्ञिय प्राणदेवताओं का नियन्त्रण कर रक्खा है, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है।

जिस मौलिक तत्त्व नें अपने अपान–व्यान–समान–रूप में परिणत होते हुए अपानद्वारा वस्तिगुहा का, व्यानद्वारा उदरगुहा का, समानद्वारा उरोगुहा का नियन्त्रण कर हमारी अध्यात्मसंस्थाओं को सच्छन्दस्का बना रक्खा है, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जिस मौलिक तत्त्व नें अपने वाङ्मय शरीर को परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी–रूप में परिणत करते हुए वाङ्मय प्रपञ्च पर अपना अनन्य शासन प्रतिष्ठित कर रक्खा है, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जिस मौलिक तत्त्व ने अपने शुक्ल, कृष्ण, एवं बभ्रुणीव हरीणि रूपों से कृष्णमृग को यज्ञस्वरूप प्रदान कर रक्खा है, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जिस मौलिक तत्त्व के आधार पर त्रैलोक्यव्यापक प्रजापति यज्ञसाधनभूता वेदि–स्वरूपसम्पत्ति सम्पादन करने में समर्थ होते हैं, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जो मौलिक तत्त्व अपने ऋण–धन भावों से ११३१ धाराओं में विभक्त हो रहा है, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है।

अनन्त ब्रह्माण्डों की अनन्त मायाओं के सहयोग से अनन्त बने हुए जिस मौलिक तत्त्व ने देवेन्द्र के वरप्रदान से अनुग्रहीत भरद्वाज महर्षि को अपने आंशिक स्वरूप से कृतार्थ किया, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जिस मौलिक तत्त्व का ईश्वरीय प्रेरणा से ब्रह्मादि–ऋषिपर्य्यन्त आप्त महापुरुषों के अन्तःकरणों में प्रादुर्भाव हुआ, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। अन्तःकरणों में प्रस्फुटित जो मौलिक तत्त्व (विद्यातत्त्व) अनादि–निधना सत्या वाक् के द्वारा शब्दरूप से आर्षप्रजा के सर्वाभ्युदय के लिए प्रवृत्त हुआ, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिक-वेद' है। जो शब्दशास्त्र जिस मौलिक तत्त्व (विद्यातत्त्व) के प्रतिपादन से 'वेदशास्त्र' नाम से प्रसिद्ध हुआ, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जिस मौलिक तत्त्वप्रतिपादन से अनित्यशब्दात्मक भी वेदशास्त्र स्वतः-प्रमाणशास्त्र माना गया, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। महर्षि कश्यप-वसिष्ठ–भृगु-अङ्गिरा–बृहस्पति–आदि भौम महर्षियों नें अपने तपःपूत जीवन का जिस मौलिक तत्त्व की आराधना–प्रचार, प्रसार में उपयोग करते हुए अपने आपको धन्य बनाया, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जिस मौलिक तत्त्व के रासायनिक सम्मिश्रण से भारतवर्ष के प्राचीन वैज्ञानिकों नें सूर्य्यसदन, हर्यश्व, स्कम्भ, यज्ञ

(वैश्वयज्ञ), गो, नौका, चमस, विमान, ग्रह, ज्योति, विद्युत्, आदि आविष्कारों से संसार को चमत्कृत किया, वही मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जहाँ के भूसुरों नें जिस मौलिकविद्या के बल से सैनापत्य, राजदण्ड, लोकनीति, समाजनीति, नागरिकनीति, राष्ट्रनीति, अर्थनीति, कामनीति, मोक्षनीति, शिल्प, कला, वाणिज्य, आदि में परपारदर्शिता प्राप्त करते हुए अपने आपको 'जगद्गुरु' की उपाधि से विभूषित किया, वही मौलिक विद्या 'मौलिकवेद' है।

और सर्वान्त में—घातक सम्प्रदायवाद से स्वस्वरूप से आवृत होने वाले जिस मौलिक तत्त्व की विस्मृति से आर्षप्रजा ने अपना सर्वस्व वैभव नियति के जिस विपुलोदर में आहुत कर दिया, वही विस्मृत मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जिस विस्मृत मौलिक तत्त्व ने शब्दराशिरूप जिस वेदशास्त्र को केवल पारायण की वस्तु बना डाला, वही विस्मृत मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जिस विस्मृत मौलिक तत्त्व का स्मृति के बिना आर्षप्रजा का समुद्धार असम्भव है, वही विस्मृत मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है। जिस विस्मृत मौलिक तत्त्व की स्मृति के लिए सम्प्रदायवादशून्य विशुद्ध आर्षदृष्टि का अनुगमन अपेक्षित है, वही विस्मृत मौलिक तत्त्व 'मौलिकवेद' है, जिसके कि कुछ एक स्मृतिचिन्हों का प्रकृत प्रकरण में संक्षेप से दिग्दर्शन कराया जा रहा है। यही हमारे इस विस्मृत, तात्त्विक, मौलिकवेद का अथ से इति पर्य्यन्त का संक्षिप्त इतिवृत्त है। इसी इतिवृत्त को सामने रखते हुए हमें मौलिकवेदस्वरूप की मीमांसा में प्रवृत्त होना है।

७—वेदार्थ की समस्यापूर्ण जटिलता —

वेदशास्त्र में प्रतिपादित अनन्त विषयों में यदि कोई सब से जटिल विषय है, तो वह एकमात्र यही 'वेदपदार्थ' है। वेद के (वेदशास्त्र के) वेद को (वेदपदार्थ को) जिसने जान लिया, वही सर्ववित् बन गया। और जिसने वेद के वेद को नही जाना, **'न स वेद, न स वेद'**। प्रस्तुत प्रकरण में इस वेदपदार्थ के सम्बन्ध में हम जो कुछ कहेंगे, वेदप्रेमी पाठक उसे अटपटा-सा समझेंगे, एक काल्पनिक वस्तु मान लेने का भ्रम कर बैठेंगे। क्योंकि जिस शैली से, जिस दृष्टिकोण से वेद का जो तात्त्विक स्वरूप हम बतलाने चले हैं, उसकी उपलब्धि वर्त्तमान युग में उपलब्ध होने वाले वेदभाष्यों, वेदव्याख्याओं में सर्वथा अनुपलब्ध है। और इसी भ्रान्ति के निराकरण के लिए प्रकरणारम्भ से पहले ही 'विषयोपक्रम' में हमें इस स्थिति का, इस जटिलता का स्पष्टीकरण करना पड़ा है। आस्तां तावत् **'निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु'** को अपना आराध्य मन्त्र बनाते हुए सर्वथा नवीनदृष्टि से, नहीं नहीं प्राचीनतमदृष्टि से वेद का मौलिक स्वरूप पाठकों के सम्मुख रक्खा जा रहा है।

सौ, दो सौ वर्षों से प्रचलित रूढ़िवादों को ही 'परम्परा' नाम से व्यवहृत करने वाले, इत्थंभूत परम्परानुगामी अनर्थात्मक अर्थों से ही सन्तुष्ट होने वाले, वैदिक साहित्य के तात्त्विक परिशीलन से सर्वथा अतिक्रान्त जो महानुभाव 'परम्परासिद्ध अर्थ ही मान्य है' इस वाक्य का उद्घोष किया करते हैं, उनका समाधान आंशिकरूप से तो पूर्व प्रकरण में किया ही जा चुका है। इसके अतिरिक्त स्वयं श्रुतिप्रमाण के आधार पर आर्षपरम्परासिद्ध जिस वेदार्थ का स्वरूप आगे बतलाया जाने वाला है, यदि शुष्क तटस्थ समालोचना को छोड़ते हुए दोषदृष्टि से भी इस वेदस्वरूप पर वे दृष्टि डालने का समय निकाल सकेंगे, तो हमें आशा ही नहीं, अपितु दृढ़ विश्वास है कि, चिरकाल से विलुप्तप्राय वेदपरम्परा के तात्त्विक स्वरूप

की ओर उनका ध्यान आकर्षित हो सकेगा। इस सामयिक उद्‌गार की आवश्यकता यह हुई कि, वेदप्रचार-सम्बन्धिनी अतीत यात्राओं में कई बार यह सुनने का अवसर मिला कि, "उपलब्ध वेदभाष्यों में जब ऐसा अर्थ उपलब्ध नहीं होता, तो इसे कैसे परम्परासम्मत कहा जाय"। यही नहीं, एक बार भारतवर्ष के एक सम्मान्य, सम्पन्न, गृहस्थ के यहाँ होने वाली वेदव्याख्या के सम्बन्ध में–'वेद अनन्त हैं' इस वाक्य को लेकर वहाँ उपस्थित, गृहस्थ के सम्पर्क में आए हुए एक वेदभक्त महाशय ने परोक्ष में बड़े उपहास के साथ अपने ये उद्‌गार प्रकट किए कि, "लो, आजतक सनातनधर्म्मी वेद की ११३१ शाखा मानते थे, स्वामी दयानन्द ने चार ही वेद माने थे, परन्तु अब तो वेद अनन्त हो गए"। क्यों कि ये महाशय उस गृहस्थ के किसी एक प्रमुख व्यक्ति की दृष्टि में वेदों के परपारदर्शी थे। अतएव उनका उक्त कथन ही इस बात में दृढ़ प्रमाण बन गया कि, "सचमुच हम वेदार्थ के सम्बन्ध में जो कुछ कहते हैं, वह एक सारहीन भ्रान्त कल्पनामात्र है। और ऐसे भ्रान्त साहित्य के प्रचार–प्रसार में हमें कोई सहयोग नहीं देना चाहिए।"

उक्त निदर्शन से अभिप्राय केवल हमारा यही है कि, वैदिक साहित्य का परिज्ञान स्वाध्यायवैमुख्य से हम से कितना पीछे हट चुका है ?, इसके लिए यह एक ही निदर्शन पर्य्याप्त है। जो वैदिक साहित्य से प्रेम नहीं रखते, उनकी बात तो जाने दीजिए। परन्तु जो अहर्निश वेदभक्ति का डिण्डिमघोष करते हैं, उन के लिए भी जब **'अनन्ता वै वेदाः'** वाक्य एक उपहास की सामग्री बन जाता है, तो अवश्य ही वेदना का आविर्भाव हो पड़ता है। क्योंकि हमारे इस वेदस्वरूप से अनन्तता का घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसलिए, एवं साथ ही भ्रान्त पथिकों की भ्रान्ति के निराकरण के लिए भी प्रसङ्गोपात्त वेद की अनन्तता प्रतिपादन करने वाला स्वयं वेद का ही एक आख्यान सर्वप्रथम वेदप्रेमियों के सामने रक्खा जा रहा है।

८–महर्षि भरद्वाज के अनन्तवेद—

"सुप्रसिद्ध वेदनिष्ठ महर्षि भरद्वाज ने अपनी वेदस्वाध्यायविषयिणी जिज्ञासा पूरी करने के लिए आयुः-प्रवर्त्तक इन्द्र की उपासना की। इन्द्र ने प्रसन्न होकर इन्हें ३०० वर्ष की आयु प्रदान की। अपनी आयु के इन ३०० वर्षों में अनन्ययोग से वेदस्वाध्याय किया। अन्त में समय आने पर भरद्वाज का शरीर सर्वथा जीर्ण-शीर्ण हो गया, वृद्धावस्था ने घर कर लिया, भरद्वाज ने शय्या का आश्रय ले लिया। भरद्वाज इस जीर्णावस्था से शय्या में पड़े हुए अन्तिम समय की प्रतीक्षा कर ही रहे थे कि, सहसा एक दिन इन्द्रदेवता आ पहुँचे. और भरद्वाज से कहने लगे कि, भरद्वाज ! यदि मैं तुम्हें १०० वर्ष की आयु और प्रदान करदूं, तो इस प्राप्त आयु का उपयोग तुम किस कार्य्य में करोगे ? वेदानन्यभक्त भरद्वाज के मुख से यही निकला कि, मैं आप से प्राप्त इस आयु में भी वेदस्वाध्याय ही करूँगा, (क्योंकि अभी मेरा वेदज्ञान अपूर्ण है)। (मन ही मन हँसते हुए इन्द्र ने भरद्वाज की इस तृष्णा का निराकरण करने के लिए) भरद्वाज की दृष्टि के सामने पर्वताकार वेद के वैसे तीन विशाल स्तूप रक्खे, जिन्हें कि इस दिन से पहिले भरद्वाज ने कभी न देखे थे। उन तीनों वेदपर्वतों में से इन्द्र ने एक एक मुट्ठी भर वेद लिया, और भरद्वाज को सम्बोधन कर कहने लगे कि, भरद्वाज ! देखते हो, मेरी मुट्ठी में क्या है ?, ये वेद हैं। भरद्वाज ! **"वेद अनन्त हैं"**। अपनी आयु के भुक्त तीन सौ वर्षों मे तुमने इन तीन मुट्ठियों जितना वेदतत्त्व प्राप्त किया है। अभी वह अनन्त पर्वताकार अनन्त वेद तुम्हारे लिए अविज्ञात ही पड़ा हुआ है। इसलिए यह आशा छोड़ दो कि, १०० वर्ष और मिल जाने से मैं सम्पूर्ण वेद जान जाऊँगा"।

स्पष्ट ही 'अनन्ता वै वेदाः' घोषणा के माध्यम से देवेन्द्र निम्नलिखित रूप से वेद की अनन्तता का समर्थन कर रहे हैं—

"भरद्वाजो ह वै त्रिभिरायुर्भिर्ब्रह्मचर्य्यमुवास । तं ह जीर्णं, स्थविरं, शयानं—इन्द्र उपव्रज्य उवाच । भरद्वाज ! यत्ते चतुर्थमायुर्दद्यां, किमेनेन कुर्य्या इति ? । ब्रह्मचर्य्यमेवैनेन चरेयमिति होवाच । तं ह त्रीन् गिरिरूपानविज्ञातानिव दर्शयाञ्चकार । तेषां हैकैकस्मान्मुष्टिमाददे । स होवाच, भरद्वाजेत्यामन्त्र्य । वेदा वा एते । "अनन्ता वै वेदाः" । एतद्वा एतैस्त्रिभिरायुर्भिरन्ववोचथाः । अथ त इतरदनूक्तमेव' । (तै० ब्रा० ३।१०।११) ।

कृतयुग जैसे शान्तयुग के शान्त वातावरण में सतत ब्रह्मचर्य्य का अनुगमन करने वाले. तपःपूत मेधावी भरद्वाज जैसे सर्वसमर्थ महर्षि ने निरन्तर तीन सौ वर्ष पर्य्यन्त वेदस्वाध्याय किया, और परिणाम में पर्वताकार अनन्त त्रयीवेदों में से वे मुट्ठी भर वेदज्ञान प्राप्त कर सके, उनको यह लालसा बनी ही रह गई । ऐसी दशा में कलियुग जैसे अशान्तयुग के अशान्त वातावरण में ब्रह्मचर्य्य, तपः, सत्य, आदि स्वाध्यायोपयिक साधनों से वञ्चित स्वल्पायु आज के द्विजाति के अन्तर्जगत् में स्वतएव इस भावना का उद्रेक सहज बन जायगा कि, जब कृतयुग में भरद्वाज जैसे महर्षि वेद का पूर्ण ज्ञान प्राप्त न कर सके, तो इस घोरयुग में हमारे जैसे हीन-वीर्य्यों का वेदस्वाध्याय की ओर प्रवृत्त होना ही निरर्थक है । प्रश्न होता है कि, जब वेद अनन्त हैं, उनका ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता, समस्त आयु लगाकर भी जिसका कणमात्र ही बोध होता है, ऐसे अनन्तवेद की प्रवृत्ति का आदेश ही श्रुति नें क्यों दिया ? । क्योंकि विना परिपूर्णता के किसी भी विषय में कौशल प्राप्त नहीं किया जा सकता । इसके अतिरिक्त अन्य श्रुतियों ने कई स्थलों में कई महर्षियों के लिए जब यह घोषित किया है कि, अमुक महर्षि वेद के परपारदर्शी है, अमुक वेदवित् हैं, अमुक सर्ववित् हैं । तो ऐसी दशा में उक्त तैत्तिरीय श्रुति के—"वेदज्ञान की परिपूर्णता असम्भव है" इस विरोधी सिद्धान्त का समन्वय भी कैसे किया जाय ? । सचमुच तैत्तिरीय श्रुति का उक्त आख्यान वेदस्वाध्यायप्रवृत्ति की ओर से हमें उदासीन ही बना रहा है । क्या कोई ऐसा भी उपाय है, जिसके अनुगमन से हमें यह विश्वास हो जाय कि, ऐसा करने से वेद की परिपूर्णता के हम भी अनुगामी बन जायँगे ? । है, और अवश्य है । जो तैत्तिरीय श्रुति अपने पूर्वाङ्ग से वेदों की अनन्तता का बखान करती हुई हमें एक दृष्टिकोण से निराश-सा करती है, वही तैत्तिरीय श्रुति अपने उत्तराङ्ग से एक उपायविशेषद्वारा उपाधिभेद से अनन्तवेद को सादि, सान्त बनाती हुई दूसरे दृष्टिकोण से हमें यह आशामय विश्वास भी दिला रही है कि उस उपाय से तुम वेदवित् बन सकते हो, अमृतत्त्व प्राप्त कर सकते हो, सम्पूर्ण विश्व का वैभव प्राप्त कर सकते हो, कृतकृत्य बन सकते हो । श्रुति का वह उपाय है सुप्रसिद्ध 'सावित्राग्नि', जिसके कि मौलिक स्वरूप-परिचय से सतृष्ण भरद्वाज अन्त में सन्तुष्ट हो गए थे, जिसके कि परिज्ञान से विश्वोपाधिक सादि. सान्त वेदस्वरूप की परिपूर्णता गतार्थ है, जिसका कि संक्षिप्त स्वरूप-प्रदर्शन ही प्रवृत्त वेदस्वरूपनिरूपण-प्रकरण का मुख्य लक्ष्य है ।

९—सावित्राग्नि के तटस्थ लक्षण—

सावित्राग्नि वह अग्नि है, जिसनें अपने मर्त्यरूप से जहाँ प्रजापति के मर्त्यभाग पर अपनी प्रभुता स्थापित कर रक्खी है, वहाँ अपने अमृतरूप से प्रजापति के अमृतभाग को स्वायत्त कर रक्खा है। सावित्राग्नि वह अग्नि है, जिसनें अपने मर्त्यभाग से वेदमूलक प्रवृत्तिलक्षण यज्ञ-तप-दानकर्म्मों के द्वारा लौकिक वैभव की रक्षा कर रक्खी है, एवं अपने अमृतभाग से वेदमूलक निवृत्तिलक्षण यज्ञ-तप-दानकर्म्मों से आत्मवैभव को सुरक्षित कर रक्खा है। सावित्राग्नि वह अग्नि है, जिसनें अपने ज्योतिर्भाग से विश्वमर्य्यादा का सञ्चालन करने वाले प्राणदेवताओं का स्वरूप सुरक्षित रख रक्खा है, अपने गौभाग से विश्व के पाञ्चभौतिक वर्ग का स्वरूप-सम्पादन कर रक्खा है, एवं अपने आयुर्भाग से चर-अचर की आत्मप्रतिष्ठा बना हुआ है। सावित्राग्नि वह अग्नि है, जिसनें अपने ऊर्ध्वलक्षण अमृतभाग से ब्रह्मनिःश्वसित, एवं ब्रह्मस्वेदवेद को स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित कर रक्खा है, अपने प्रातिस्विक (अमृतमृत्युलक्षण उभयविध) रूप से गायत्री-मात्रिकवेद को स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित कर रक्खा है, एवं अधोलक्षण अपने मर्त्यभाग से चान्द्रवेद, तथा यज्ञमात्रिकवेद की स्वरूपरक्षा कर रक्खी है। सावित्राग्नि वह अग्नि है, जिसनें अपने वाजिरूप से अपने उपासक महर्षि याज्ञवल्क्य को शुक्लयजुर्वेद का वर प्रदान किया है। सावित्राग्नि वह अग्नि है, जिसनें अग्निमयी पृथिवी, वायुमय अन्तरिक्ष, इन्द्रमय द्युलोक, बृहस्पतिमय बृहन्मण्डल प्रजापतिमय परमेष्ठीलोक, ब्रह्ममय स्वयम्भूलोक, इन ६ओं की स्वरूप-रक्षा करते हुए-उस अनन्तवेदविभूति को इस षट्पर्वा विश्व में सीमित कर रक्खा है। सावित्राग्नि वह अग्नि है, जिसके (चित्याग्नि की भाँति) न तो पक्ष है, न पुच्छ है। अपितु पक्षपुच्छ वाला चित्याग्नि उसका मुख (प्रवृत्तिद्वार) है, प्रत्यक्षदृष्ट आदित्य उसका मस्तक है। पूर्वोक्त ६ओं देवता उसी प्रकार इस सावित्राग्नि से बद्ध हो रहे हैं, जैसे कि एक महावस्त्र में अन्य वस्तु सूची से सीं दी जाती हो। इसीलिए तो यह सर्वमूर्त्ति अग्नि 'सावित्र' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। सावित्राग्नि ही तो वास्तविक अग्नि है, अग्नि ही तो विश्व है, विश्व ही तो वेद है, इस वेदात्मक विश्व के सावित्राग्निरहस्य को जान लेना ही तो वेद का मौलिक स्वरूप जान लेना है। सावित्राग्नि की इसी सर्वव्याप्ति का स्पष्टीकरण करते हुए इन्द्र भरद्वाज से कहते हैं—

१—"एहि ! इमं विद्धि। अयं वै 'सर्वविद्या'-इति। तस्मै हैतमग्निं सावित्रमुवाच।
तं स विदित्वा, अमृतो भूत्वा, स्वर्गं लोकमियाय-आदित्यस्य सायुज्यम्। अमृतो
हैव भूत्वा स्वर्गं लोकमेति, आदित्यस्य सायुज्यं, य एवं वेद।"

२—"एषा उ त्रयीविद्या। यावन्तं ह वै त्रय्या विद्यया लोकं जयति, तावन्तं लोकं
जयति, य एवं वेद"।

३—"अग्नेर्वा एतानि नामधेयानि। अग्नेरेव सायुज्यं सलोकतामाप्नोति, य०।
वायोर्वा एतानि नामधेयानि। वायोरेव सायुज्यं सलोकतामाप्नोति, य०।
इन्द्रस्य वा एतानि नामधेयानि। इन्द्रस्यैव सायुज्यं सलोकतामाप्नोति, य०।

बृहस्पतेर्वा एतानि नामधेयानि । बृहस्पतेरेव सायुज्यं सलोकतामाप्नोति, य० ।
प्रजापतेर्वा एतानि नामधेयानि । प्रजापतेरेव सायुज्यं सलोकतामाप्नोति, य० ।
ब्रह्मणो वा एतानि नामधेयानि । ब्रह्मण एव सायुज्यं सलोकतामाप्नोति, य० ।"

४—"स वा एषोऽग्निरपक्षपुच्छो वायुरेव । तस्य-अग्निर्मुखं, असावादित्यः—शिरः । स यदेते देवतं अन्तरेण, तत्सर्वं सीव्यति । तस्मात् सावित्रः" ।

—तैत्तरीयब्राह्मण ३ काण्ड । १०२ प्रपाठक । ११ अनुवाक ।

१०-सावित्राग्निमूलक ग्रहोपग्रहभाव—

यह तो हुआ सावित्राग्नि का तटस्थलक्षणदृष्टि से सामान्य विचार । अब स्वरूपलक्षणदृष्टि से इस का विशेष विचार करना चाहिए । जिस सावित्राग्नि ने अग्नि, वायु, इन्द्र, बृहस्पति, प्रजापति, ब्रह्म, इन ६ देवताओं को अपने में सीं रक्खा है, जो सावित्राग्नि स्वयं त्रयीविद्यामय बनता हुआ इन ६ ओं वेदसंस्थाओं की प्रतिष्ठा बन रहा है, उस सावित्राग्नि का, और उस सावित्राग्नि का—जिसके परिज्ञान से भरद्वाज की प्रवृद्ध वेदतृष्णा शान्त हो जाती है, क्या स्वरूप है ?, पहिले संक्षेप से इन प्रश्नों का विचार किया जायगा, अनन्तर क्रमशः इससे सम्बन्ध रखनें वालीं ६ वेदसंस्थाओं का स्पष्टीकरण किया जायगा ।

'सावित्राग्नि' शब्द से ही यह स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि, इस अग्नि का और सविताप्राण का घनिष्ठ सम्बन्ध है । सविताप्राण के सम्बन्ध से ही यह अग्नि 'सावित्र' कहलाया है । अतएव इस के स्वरूपपरिचय के लिए हमें पहिले तदभिन्न, किंवा तद्रूप 'सविताप्राण' का ही विचार करना पड़ेगा । एवं इसके लिए 'ग्रहोपग्रह विज्ञान' का आश्रय लेना पड़ेगा । जो वस्तु पिण्ड अपने अनेक अनुयायियों को साथ लेकर स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहता है, उसे तो 'ग्रह' कहा जाता है, एवं इस ग्रह के ही प्रवर्ग्यांशों से उत्पन्न, इस ग्रह से नित्य युक्त ग्रहानुयायी 'उपग्रह' (ग्रह के समीप, अनुवर्त्ती ग्रह) नाम से प्रसिद्ध है । ग्रह सदा एक होता है, उपग्रह सदा अनेक होते हैं । वैदिकविज्ञानपरिभाषा के अनुसार मुख्याधिष्ठातारूप ग्रह को 'इन्द्र' कहा जाता है, एवं तदनुवर्त्ती उपग्रहों को 'जनता' कहा जाता है । 'एको ह्वै जनतायामिन्द्रः' (तै०ब्रा० १।४।६।१) इस निगम-वचन के अनुसार उपग्रहभूता जनता (समूह, राशि, ढेर, संघ) में अवश्य ही एक एक ग्रहलक्षण इन्द्र हुआ करता है । बिना इन्द्र के जनता अप्रतिष्ठित है, बिना जनता के इन्द्र अप्रतिष्ठित है । दोनों में परस्पर उपकार्य्य, उपकारक सम्बन्ध है । वैदिक यज्ञपरिभाषा के अनुसार मुख्याधिष्ठातारूप ग्रह को 'प्रतिपत्' कहा जाता है । उपग्रह इसी में प्रपन्न रहते हैं, ग्रह ही उपग्रहों की उपक्रमोपसंहारभूमि है, अतएव इसे प्रतिपत् कहना अन्वर्थ बनता है । एवं उपग्रहों को 'अनुचर' कहा जाता है । ग्रह को मूल बनाकर ये उपग्रह इसी के अनुगत बनें रहते हैं, अतएव इन्हें 'अनुचर' कहना अन्वर्थ बनता है । इस प्रकार ग्रह, इन्द्र, प्रतिपत्, आदि नामों से व्यवहृत मुख्याधिष्ठाता, एवं उपग्रह, जनता, अनुचर, आदि नामों से प्रसिद्ध अनुयायी, इन दोनों के समन्वित रूप का ही नाम ईश्वर है । यह ईश्वरमर्य्यादा इसी रूप से ईश्वरीय गर्भ में प्रतिष्ठित आधि-भौतिक, आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधियाज्ञिक, आधिनाक्षत्रिक, आदि यच्चयावत् विवर्तों में ज्यों की त्यों व्यवस्थित है ।

एक गृहस्थ परिवार को ही लीजिए । गृहस्थ का वह वृद्धपुरुष, जो सम्पूर्ण गृह्यधर्म्मों का सञ्चालक है, जिस के आदेश पर गृहस्थ के अन्य व्यक्ति स्वस्वकर्म्मों में प्रवृत्त होते हुए इस वृद्धपुरुष के अनुगामी बने रहते हैं—ग्रह है, एव आदिष्ट पारिवारिक सब व्यक्ति उपग्रह हैं। वृद्धपुरुष इन्द्र है, प्रतिपत् है, पारिवारिक व्यक्ति जनता है, अनुचर है । जातीय व्यवस्थाओं का निर्णायक पञ्च (चौधरी) ग्रह, इन्द्र, प्रतिपत् है, तदनुगता सम्पूर्ण जाति उपग्रह, जनता, अनुचर है । ग्रामाध्यक्ष ग्रह, इन्द्र, प्रतिपत् है, तदनुगता ग्रामप्रजा उपग्रह, जनता, अनुचर है । कर्म्मात्मा ग्रह, इन्द्र, प्रतिपत् है, तदनुगत शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि सब कुछ उपग्रह, जनता, अनुचर है । वाक्[1], प्राण[2], चक्षु[3], श्रोत्र[4], मन[5], बुद्धि[6], शरीर[7], सब एक एक स्वतन्त्र ग्रह, इन्द्र, प्रतिपत् हैं, एवं विविधभावापन्न शब्दप्रपञ्च[1], प्राणापानसमानव्यानोदानादि प्राणप्रपञ्च[2], विविधभावापन्न रूपप्रपञ्च[3], विविधभावापन्न सत्-असत् शब्दश्रुतियाँ[4], काम, संकल्प, विचिकित्सा, सुख, दुःखादि मानसप्रपञ्च[5], विद्या, अविद्या, धृति, माल्य, आदि विविध बौद्धप्रपञ्च[6], एवं रसासृङ्मांसादि धातुप्रपञ्च[7], सब इन ग्रहों के क्रमशः उपग्रह, जनता, अनुचर हैं ।

ब्राह्मणवर्ण ग्रह,* प्रतिपत् इन्द्र है, इतर वर्ण उपग्रह, जनता, अनुचर है । राजा ग्रहादि है, प्रजा उपग्रहादि है । चक्रवर्त्ती ग्रहादि है, सामन्तराजागण उपग्रहादि है । गुरु ग्रहादि है, शिष्यमण्डली उपग्रहादि है । भोक्ता ग्रहादि है, भोग्य उपग्रहादि है । शास्ता ग्रहादि है, शासित उपग्रहादि है । और इस प्रकार भोक्तृ-भोग्यलक्षणा यह ग्रहोपग्रहमर्य्यादा न केवल मानवसमाज में हीं, अपितु चर-अचर सर्वत्र व्याप्त है । मधुमक्खियाँ जहाँ उपग्रह है, मधुकरराजा वहाँ ग्रह है । इसी प्रकार, पशु-पक्षी-कृमि-कीट-ओषधिवनस्पति-पर्वत-नद-नदी-नक्षत्र-आदि सर्वत्र सब जनताओं (मण्डलियों) में आप एक एक इन्द्र (मुख्याधिष्ठाता) का साम्राज्य देखेंगे । यह भी स्मरण रखना चाहिए कि, यह इन्द्र जनता से कोई पृथक्, विलक्षण तत्त्व नहीं है । अपितु जनता का ही वह एक भाग, जोकि स्वबल-वीर्य्य-पराक्रमादि से उन्नत बना रहता है, इन्द्र बन जाया करता है । इन्द्र क्या बन जाया करता है, स्वयं जनता ही उसे नतमस्तक होकर इन्द्र मान लेती है । सिंह का किसने राज्याभिषेक किया ?, अपितु वह अपने वीर्य्य से स्वयमेव अपने आपको जङ्गल का इन्द्र मनवा रहा है । सभी स्वात्मवीर्य्यविकास से इन्द्र बन सकते हैं, सभी का ऐन्द्रपद वीर्य्यपात से जनता के रूप में परिणत हो सकता है । अपेक्षया सभी इन्द्र (भोक्ता-अन्नाद) हैं, सभी जनता (भोग्य-अन्न) हैं ।

११-अनन्तवेद का अविज्ञेय इतिवृत्त—

विश्वप्रवर्त्तक, किंवा सर्वप्रवर्त्तक मौलिकतत्त्व ही 'मौलिकवेद' है, यह मौलिकवेद के इतिवृत्त से गतार्थ है । अब इस सम्बन्ध में हमें यह विचार करना है कि, जिस मौलिकवेद से विश्व का उद्गम हुआ है, उस विश्व का तो क्या स्वरूप है ?, तत्प्रवर्त्तक मौलिकवेद की अनन्तता का क्या स्वरूप है ?, एवं यह अनन्तवेद सावित्राग्नि के द्वारा कैसे सादि-सान्त बनता हुआ बुद्धिग्राह्य बन जाता है ? । सावित्राग्नि का ग्रहोपग्रहविज्ञान से क्या सम्बन्ध

---

* पन्द्रह दिनों की प्रपत्ति जिस तिथि से आरम्भ होती है, उस तिथि को भी इसी परिभाषा के अनुसार 'प्रतिपत्' (पड़वा) कहा जाता है । इसी परिभाषा के अनुरोध से शेष तिथियां को 'अनुचर' कहा जायगा ।

है ?, एवं स्वयं सावित्राग्नि का मौलिक स्वरूप क्या है ? । इन प्रश्नों के समाधान के लिए हमे ग्रह नामक '**प्रतिपत्**' भाव, एवं उपग्रह नामक '**अनुचर**' भाव के इतिवृत्त का ही अन्वेषण करना पड़ेगा, जो कि इतिवृत्त उक्त प्रश्नों का यथावत् समाधान कर रहा है ।

ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य, शतपथविज्ञानभाष्य, गीताविज्ञानभाष्यभूमिका आदि पूर्व प्रकाशित निबन्धों में, विशेषतः ईशभाष्य प्रथमखण्ड में विश्वात्मा के परात्पर, ईश्वर, उपेश्वर, जीव, आदि आत्मविवर्त्तों का, विश्व के स्वयम्भू, परमेष्ठी, आदि विश्वपर्वों का सुविशद निरूपण किया जा चुका है । जिन्हें इस दोनों विवर्त्तों के क्रमिक-संस्थान की जिज्ञासा हो, उनसे यही निवेदन किया जायगा कि, वे इस वेदस्वरूप का यथापूर्व समन्वय करने के लिए एक बार उन विवर्त्तों को अवश्य ही देखने का कष्ट करें । क्योंकि वैदिक साहित्य तन्तुरूप नहीं है, अपितु पटरूप है । एक भी तन्तु के ग्रहण से जैसे सारा पट गृहीत हो जाता है, एवमेव तन्तुस्थानीय प्रत्येक वैदिक विषय का उपक्रम करते ही पटस्थानीय सम्पूर्ण विश्वविज्ञान हमारे सामने उपस्थित हो पड़ता है । जब तक आत्मयुक्त विश्वविज्ञान को लक्ष्य नहीं बना लिया जाता, तब तक आप अणु से अणु, एवं महान् से महान्, किसी भी वैदिक विषय का पूरा पूरा स्पष्टीकरण नहीं कर सकते । वैदिक विषयों के परिज्ञान के सम्बन्ध में यही एक ऐसी जटिलता है, जिसने परिभाषाज्ञान के अभाव से सर्वथा सुगम भी इन विषयों को क्लिष्ट बना रक्खा है । और इसी क्लिष्टता को लक्ष्य में रख कर, विस्तारक्रम को असामयिक समझते हुए भी, प्रत्येक विषय के उपक्रम में हमें उस महाविज्ञान का थोड़ा-बहुत दिग्दर्शन कराना ही पड़ता है । क्योंकि बिना ऐसा किए हम वर्त्तमान-युग की जनता का किसी भी प्रतिपाद्य विषय से सन्तोष नहीं करा सकते । वेदस्वरूप भी एक ऐसा ही विषय है । इसके इतिवृत्त के साथ भी उस महाविश्वविज्ञान का घनिष्ठ सम्बन्ध है । यदि इस सम्बन्ध मे यह भी कह दिया जाय, तो भी कोई अत्युक्ति न होगी कि, बिना उसके परिज्ञान के इसका समन्वय कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव है । इसीलिए हमनें यह निवेदन करना आवश्यक समझा है कि, प्रकृत वेदस्वरूप का यथापूर्व समन्वय करने के लिए वेदप्रेमियों को एक बार ईशादि में प्रतिपादित महाविश्वस्वरूप पर दृष्टि डाल ही लेनी चाहिए ।

प्रतिपादित आत्म-विश्वविज्ञान के अवलोकन से पाठक इस निष्कर्ष पर पहुँचेगे कि, सर्वबलविशिष्ट-रसमूर्त्ति 'परात्पर' ही अनन्त ब्रह्म है । इस अनन्त, असीम, विश्वातीत परात्परब्रह्म के गर्भ में सीमाभाव-सम्पादक अनन्त (असंख्य) मायाबल अपनी व्यक्त, अव्यक्त अवस्थाओं से क्रीड़ा किया करते हैं । प्रत्येक मायाबल जाया, धारा, आपः, अम्भ, यक्ष, मोह, आदि गर्भीभूत इतर १५ बलकोशों से युक्त रहता हुआ व्यापक परात्पर के अंशों को सीमित बनाता रहता है । इस सीमा से मायापुरात्मक विश्व का उद्गम होता रहता है । जिस समय मायाबल व्यक्तावस्था को छोड़कर अव्यक्तावस्था में आ जाता है मायी विश्व भी लयावस्था में परिणत हो जाता है । कब किस मायाबल से किस विश्व का उद्गम होता है ?, कब किस का लय होता है ?, नियति की दृष्टि से यह सब कुछ व्यवस्थित होता हुआ भी मानवीय ज्ञान के लिए अतीत है, अगम्य है । इस सम्बन्ध में मानवीय ज्ञान केवल यह अनुमान ही लगा सकता है कि, जब उसमें अनन्त मायाबल हैं, एवं प्रत्येक मायाबल से व्यक्तावस्था में जब स्वतन्त्र ब्रह्माण्ड का उदय होता है, तो अवश्य ही अनवच्छिन्न परात्परब्रह्मधरातल में अनन्त ब्रह्माण्ड आविर्भूत, तिरोभूत होते रहते होंगे । मायाबल वेद को, किंवा वेदमूर्त्ति ब्रह्म को अग्रणी बना कर ही ब्रह्माण्डोदय का जब कारण बनता है, तो इन अनन्त ब्रह्माण्डों के द्वारा हमें वेद के आनन्त्य की सत्यता पर भी विश्वास करना ही पड़ता है । एक एक मायाबल, और एक एक त्रयीवेद,

एक एक त्रयीवेद, और एक एक ब्रह्माण्ड, अनन्त मायाबल, इसीलिए अनन्तवेद, अतएव अनन्त ब्रह्माण्ड। अनन्त के इस अनन्त इतिवृत्त का अनुगमन करते हुए ही महर्षिगण अनन्तपद के अधिकारी बने हैं। अनन्त के इस अनन्त इतिवृत्त का विश्लेषण करने से ही वेदज्ञान अनन्त बना है। अनन्त की उपासना करने वाली आर्षप्रजा की यही अनन्तता है, यही इसका शाश्वतधर्म्मानुगमन है, एवं यही उस अनन्त, सनातन, परात्पर का अनन्त सनातन सनातनधर्म्म है, जोकि ऋषिदिष्ट होने से 'आर्षधर्म्म' नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

१२–अनन्त वेद का दुर्विज्ञेय इतिवृत्त—

वेद क्यों कैसे अनन्त हैं ?, इस प्रश्न का परात्परगर्भ में रहने वाली वेदावच्छिन्ना महामायाओं के आनन्त्य की दृष्टि से एक समाधान किया गया। सर्वथा अविज्ञेय परात्पर, सर्वथा अविज्ञेय उसके अनन्त मायाबल, एवं सर्वथा अविज्ञेय मायामय अनन्त वेद, इन अविज्ञेयभावों की चर्चा छोड़कर केवल एक उस मायाबल पर दृष्टि डालिए, जिसका हमारे ब्रह्माण्ड से सम्बन्ध है। जिस मायामय महाब्रह्माण्ड के गर्भ में चर–अचर प्रजावर्ग प्रतिष्ठित है, उस महाब्रह्माण्ड का, ब्रह्माण्ड के उन असंख्य उपग्रहों का, जनता का, अनुचरों का एकाकी अधिष्ठाता, ग्रह, इन्द्र, प्रतिपत् कौन ?, यह प्रश्न उपस्थित होता है, जिसका कि समाधान निम्न लिखित श्रुतियाँ कर रहीं हैं—

१—ब्रह्मवनं, ब्रह्म स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा वि ब्रवीमि वो ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्॥
—तैत्तिरीयब्राह्मण।

२—यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्॥
—श्वेताश्वतरोपनिषत् ३५।३।५।

३—ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते॥
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्व्वे तदु नात्येति कश्चन। एतद्वै तत्॥
—कठोपनिषत् ६।१।

४—ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद, स वेदवित्॥
—गीता १५।१।

उपनिषद्–भूमिका प्रथमखण्ड के 'वैज्ञानिक वेदनिरुक्ति' नामक प्रकरण में (पृ० सं० १ से ६ पर्य्यन्त) यह स्पष्ट किया जा चुका है कि एक एक मायाबल से सम्बन्ध रखने वाला एक एक वृक्ष है, एवं उस परात्पर में अनन्त मायाबलों की अपेक्षा से अनन्त वृक्ष हैं। इन अनन्त ब्रह्माण्डोपलक्षित अनन्त वृक्षों को

अपने अनन्त धरातल पर प्रतिष्ठित रखने वाला विश्वातीत अनन्त परात्पर ही **'ब्रह्मवन'** है। इस ब्रह्मवन (परात्पर) के एक प्रदेश में प्ररोहित एक मायाबल से सम्बन्ध रखने वाला अव्यय, अक्षर, क्षरमूर्त्ति, महा-मायी, **'षोडशीपुरुष'** ही एक वृक्ष है, यही एक महाब्रह्माण्ड की इयत्ता है। वृक्षात्मक यही पुरुष सम्पूर्ण भुवनों का, उपग्रह, जनता, अनुचरों का एकाकी अधिष्ठाता, ग्रह, इन्द्र, प्रतिपत् है। प्रथम श्रुति का—**'ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्'**' यह वाक्य इसी प्रतिपत्, वृक्षब्रह्म का स्पष्टीकरण कर रहा है।

अपने मायामय महाविश्व में न तो इस मायी ब्रह्म से कोई पर है, न कोई अपर है। सापेक्षवादशून्य इससे न कोई छोटा है, न बड़ा है। यही पर है, यही अपर है, यही अणोरणीयान् है, यही महतोमहीयान् है। अपने विश्व में यही सर्वस्व बना हुआ है। यह वृक्षवत् (वृक्षस्थूणवत्, न तु शाखा, प्रशाखा, वृन्त, पत्रादिवत्) सर्वथा अचल है। इसी पूर्णपुरुष से यह मायामय महाब्रह्माण्ड परिपूर्ण है।

इसी वृक्ष को वैज्ञानिकों नें **'अश्वत्थ'** (ब्रह्माश्वत्थ) नाम से व्यवहृत किया है, जिसकाकि मूल ऊर्ध्व (केन्द्र) है, जो मायासीमा से सीमित, अतएव सादि-सान्त रहता हुआ भी मायोपाधिविरहितदशा से, अपने प्रातिस्विकरूप से सनातनपरात्पररूप बनता हुआ सनातन है, वही **'शुक्र[1]-ब्रह्म[2]-अमृत[3]'** (क्षर[1]-अक्षर[2]-अव्यय[3]) अपने इन तीन रूपों में परिणत होता हुआ **'विकृति[1]-प्रकृति[2]-पुरुष[3]'** भावों का स्वरूपसमर्पक बन रहा है। सम्पूर्ण लोक (पञ्चपुण्डीराप्राजापत्या सहस्र वल्शाएँ) इसीमें प्रतिष्ठित हैं। ऊर्ध्वमूल, तथा अधःशाख इसी अश्वत्थ को उपनिषद्रहस्यवेत्ता **'अव्यय'** नाम से व्यवहृत किया करते हैं। वेद ही इस अश्वत्थ वृक्ष के पत्ते हैं। जो इस अश्वत्थ को, अश्वत्थ की शाखाओं को, अश्वत्थ के पत्तों को जान लेता है, वैज्ञानिक लोग उसे ही **'वेदवेत्ता'** कहा करते हैं।

महाब्रह्माण्ड की महा उपनिषत्, महाग्रह, महा इन्द्र, महाप्रतिपत्-लक्षण इस महामायी महेश्वर के 'उक्थ, अर्क, अशीति' भेद से तीन संस्थाविभाग हो जाते हैं। उक्थरूप से (बिम्बरूप से) यह उस महा-मायापुर के केन्द्र में प्रतिष्ठित होता हुआ **'विश्वात्मा'** बन रहा है। अर्करूप से (रश्मिरूप से) विश्वप्रवर्त्तक बनता हुआ महामायापुर के केन्द्र से परिधि तक व्याप्त होता हुआ **'विश्वोपादान'** बन रहा है। एवं अशीति (अन्न) रूप से विश्वस्वरूप में परिणत होता हुआ **'विश्वमूर्त्ति'** बन रहा है। अशीतिलक्षण विश्व उसी का क्षरप्रधान, विकृतिरूप 'शुक्र' रूप है। अर्कलक्षण विश्वोपादान उसी का अक्षरप्रधान, प्रकृतिरूप 'ब्रह्म' रूप है। एवं उक्थलक्षण, विश्वात्मा उसी का अव्ययप्रधान, पुरुषरूप **'अमृत'** रूप है, जैसाकि-**'तदेव शुक्रं, तद्ब्रह्म, तदेवामृतमुच्यते'** इत्यादिरूप से पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। महामायी के ये तीनों रूप इसके अमृत-ब्रह्म-शुक्र, इन तीनों भावों से युक्त हैं। केवल गर्भभाव में अन्तर है। ब्रह्म-शुक्रगर्भित अमृतभाग अमृतात्मा है, यही अव्यय है, यही पुरुष है। अमृत-शुक्रगर्भित ब्रह्मभाग ब्रह्मात्मा है, यही अक्षर है, यही प्रकृति है। एवं अमृतब्रह्मगर्भित शुक्रभाग विश्व है, यही क्षर है, यही विकृति है। वही पुरुष है, वही प्रकृति है, वही विकृति है। पुरुष भी पुरुष-प्रकृति-विकृतिमय है, प्रकृति भी पुरुष-प्रकृति-विकृतिमयी है, एवं विकृति भी पुरुष-प्रकृति-विकृतिमयी है। 'तत्' के वितानरूप तीनों हीं विवर्त्त 'तत्' रूप हैं। और **'एतद्वै तत्'** का यही मौलिक रहस्य है।

'तत्'-वितानपरिलेखः—

महामायावच्छिन्नः—षोडशीपुरुषः—अश्वत्थः

१—पुरुषः (प्रकृति-विकृतिगर्भितः—पुरुषः, अव्ययः-अमृतम्)—उक्थं—'विश्वात्मा' (विश्वेश्वरः)।

२—प्रकृतिः (पुरुष-विकृतिगर्भिता—प्रकृतिः, अक्षरः-ब्रह्म)—अर्काः—'विश्वोपादानम्' (विश्वकर्ता)

३—विकृतिः (पुरुष-प्रकृतिगर्भिता—विकृतिः, क्षरः—शुक्रम्)—अशीतयः-'विश्वम्' (विश्वम्भरः)

इसके उक्त तीनों रूपों में उक्थरूप, केन्द्रस्थ, अव्ययभाव एकाकी है क्योंकि मूलबिम्ब सदा एक ही हुआ करता है। इस मूलबिम्बरूप उक्थलक्षण अव्ययात्मा से निकलने वाले रश्मिरूप अर्क अनन्त हैं, क्योंकि एक मूलबिम्ब से निकलनें वालीं रश्मियाँ अनन्त ही हुआ करतीं हैं। रश्मिरूप अर्कलक्षण अक्षरात्मा से परिगृहीत विश्वरूपा अशीतियाँ भी अनन्त हैं। इन अनन्तरश्मियों का वैज्ञानिकों नें 'सहस्र' (१०००) संख्या पर पर्य्यवसान माना है। सहस्र का पारिभाषिक अर्थ है-'पूर्ण', जैसाकि-'पूर्णं वै सहस्रम्'' (शत० ४।६।१।१५।) इत्यादि निगमवचन से स्पष्ट है। सूर्य्यबिम्ब से निकल कर सौर बृहन्मण्डल में सर्वत्र व्याप्त होनें वालीं रश्मियों को हम इसलिए पूर्ण कह सकते हैं कि, बृहन्मण्डल का कोई प्रदेश इन सौर रश्मियों से वञ्चित नहीं है। वाक्, वेद, लोकसाहस्रियों से सम्बन्ध रखने वाले 'वषट्कार' स्वरूप के समन्वय के लिए वैज्ञानिकों नें इन अनन्त, पूर्ण रश्मियों के सहस्रभाव मान लिए हैं, एवं एकमात्र इसी दृष्टि से सहस्र शब्द पूर्णार्थ का, एवं पूर्णशब्द सहस्रभाव का सूचक बन गया है। वस्तुगत्या सहस्र का अर्थ 'पूर्ण' ही माना जायगा। परन्तु व्यवहारभाषा में विषयसमन्वय की दृष्टि से सहस्र को सहस्रसंख्यापरक लगाया जायगा। इसी संख्या-भाव को प्रधान मानते हुए उस उक्थविश्वात्मा से चारों ओर वितत होनें वालीं अर्करूपा सहस्ररश्मियों का विचार कीजिए।

'अर्चंश्चरति' इस निर्वचन के अनुसार प्राणनापाननव्यापार से ही इन उक्थविनिर्गत रश्मियों को प्राणरूप 'अर्क' कहा गया है। प्राणनापानन दोनों प्राण के स्वाभाविक व्यापार माने गए हैं। आगे बढ़ना 'प्राणन' है, पीछे हटना 'अपानन' है। एवं ये दो व्यापार ही सृष्टिमात्र के सामान्य अविनाभूत अनुबन्ध हैं। कर्म्ममात्र की स्वरूपनिष्पत्ति इन्हीं दोनों व्यापारों के सहयोग पर निर्भर है। सूर्य्यरश्मि को ही लीजिए। प्रत्येक सूर्य्यरश्मि पीछे हटती हुई आगे सर्पण करती है, जिसका कि छाया, और आतप (धूप) की सन्धि में प्रत्यक्ष किया जा सकता है। छायाभाग अपानन है, आतपभाग प्राणन है। इन दोनों का स्वाभाविक व्यापार ही इस ब्रह्म की तपश्चर्य्या है, जैसाकि **'छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति'** (कठोपनिषत् १।३।१।) इत्यादि वचन से स्पष्ट है। श्वास प्राणन है, यही अमृत है, निःश्वास अपानन है, यही मृत्यु है। अमृत इन्द्र है, यही क्रतु है। मृत्यु वरुण है, यही दक्ष है। क्रतुदक्षात्मक, इन्द्रवरुणरूप, श्वासप्रश्वास ही आध्यात्मिक कर्म्म की मूलप्रतिष्ठा माने गए हैं, जैसाकि

अन्यत्र मैत्रावरुणग्रहविज्ञानों में विस्तार से निरूपित है। इसी प्राणनापाननव्यापार की दृष्टि से सूर्य्यरश्मि के लिए कहा जाता है—**'अन्तश्चरति रोचना अस्य प्राणदपानती'** (ऋक्सं० १०।१८९।१)।

प्राणनापाननलक्षण अर्क ही गतितत्त्व है, गति ही क्रिया है, क्रिया ही सृष्टि का मूलबीज है। यह मूल-बीज ज्ञान, एवं अर्थ का सहयोग लेकर ही विश्ववृक्षरूप में परिणत होता है। जैसाकि पूर्व में बतलाया गया है, उक्थआत्मा अव्यय है, अर्क अक्षर है, एवं अशीति क्षर है। अव्ययात्मा सर्वमूलभूत ब्रह्म है। इसके विद्या, कर्म्म, नामक दो धातु हैं। आनन्द, विज्ञान, अन्तर्म्मन की समष्टि विद्याधातु है, यही मुक्तिसाक्षी भाग है। मनः-प्राण-वाक्-समष्टि कर्म्मधातु है, यही सृष्टिसाक्षी है। यह सृष्टिसाक्षी कर्म्मात्मा जहाँ कर्म्माश्वत्थ की मूलप्रतिष्ठा बनता है, वहाँ मुक्तिसाक्षी विद्यात्मा ब्रह्माश्वत्थ का स्वरूपसमर्पक बनता है। ब्रह्माश्वत्थलक्षण विद्याव्यय **'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठति'** के अनुसार जहाँ अचल है, अविचाली है, विचलित सृष्टिमर्य्यादा से बहिर्भूत है। वहाँ कर्म्माश्वत्थलक्षण कर्म्माव्यय चल है, विचाली है, चलसृष्टिमर्य्यादा का साक्षीरूप से सञ्चालक है। चलाचल की समष्टिलक्षण वही ब्रह्म चलाचललक्षण विश्वरूप में परिणत हो रहा है। स्थिति अचलभाव है, यही विद्याव्यय है। गति चलभाव है, यही कर्म्माव्यय है। दोनों के समन्वितरूप का ही नाम वह (आत्मा) है, एवं दोनों के समन्वितरूप का ही नाम यह (विश्व) है। केवल 'चल-चञ्ज' के अनुगमन से (गतिभावानुगमन से) भी काम नहीं चल सकता, एवं केवल 'अचल-अचल' के अनुगमन से (स्थितिभाव के अनुगमन से, भी काम नहीं चल सकता, अपितु लोकप्रसिद्ध **'चलाचल, चलाचल'** वाक्य ही सिद्धि का अन्यतम द्वार है। चलमार्ग कर्म्मनिष्ठा है, योगनिष्ठा है। अचलमार्ग ज्ञाननिष्ठा है, एवं **'एकं साख्यं च योगं च यः-पश्यति स पश्यति'** के अनुसार दोनों के समन्वय से कृतरूप ज्ञानकर्म्मोभयात्मिका बुद्धियोगनिष्ठा ही अव्ययनिष्ठा, किंवा भगवन्निष्ठा है, जिसका कि बुद्धियोगशास्त्र (गीताभाष्य) में विस्तार से उपबृंहण किया जा चुका है।

मनःप्राणवाङ्मय कर्म्मात्मा का मनोभाग ज्ञानमय, प्राणभाग क्रियामय, एवं वाग्भाग अर्थमय है। इन तीनों का क्रमशः अव्यय, अक्षर, क्षर, इन तीन विवर्त्तों में वर्गीकरण हो रहा है। स्वयं अव्यय मनःप्रधान बनता हुआ ज्ञानघन है, अव्यय के प्राणभाग से युक्त अक्षर क्रियामय है, अव्यय के वाग्भाग से अनुगृहीत क्षर अर्थमय है। इन तीनों में क्रियामय अक्षर ही 'अर्क' बतलाया गया है। यह उस ओर से तो अव्यय के ज्ञानघन मन से, इस ओर से क्षर की अर्थमयी वाक् से युक्त होकर मनःप्राणवाङ्मय बन जाता है। मनोऽव-च्छेदेन सर्वज्ञ बना हुआ, प्राणावच्छेदेन सर्वशक्तिमान् बना हुआ, एवं वागवच्छेदेन सर्ववित् (सर्वार्थमय) बना हुआ यह मध्यस्थ, अर्करूप अक्षर ही वेद, यज्ञ, प्रजासृष्टि का मूलप्रवर्त्तक बनता हैं। अर्करूप अक्षर का मनोऽनुगत भाग ज्ञानाधिकरण है, यही वेदविवर्त्त है। प्राणानुगत भाग क्रियाधिकरण है, यही आदानविसर्गात्मक यज्ञविवर्त्त है। एवं वागनुगत भाग अर्थाधिकरण है, यही प्रजाविवर्त्त है। वेद ज्ञानमूर्त्ति है, यज्ञ क्रियामूर्त्ति है, प्रजा अर्थमूर्त्ति है। अक्षर त्रिमूर्त्ति है, त्रिमूर्त्ति अक्षर ही अर्क है, जिसके कि सहस्रभाव मायामय ब्रह्माण्ड में रश्मिरूप से व्याप्त हो रहे हैं।

सर्वमूलभूतः—अव्ययात्मा
अश्वत्थः

(१)—१—आनन्दः
(२)—२—विज्ञानम्
(३)—३—मनः

—विद्याधातुः—विद्यात्मा—अचलः—ब्रह्माश्वत्थो मुक्तिसाक्षी

(३)—१—मनः
(४)—२—प्राणः
(५)—३—वाक्

—कर्म्मधातुः—कर्म्मात्मा—चलः—कर्म्माश्वत्थः सृष्टिसाक्षी

त्रयंस देकमयमात्मा, आत्मा उ एकः सन्नेतत् त्रयम्

१—मनः—अव्ययविकासभूमिः—आतश्चाव्ययो मनोमयः—ज्ञानघनः—उक्थम्

२—प्राणः—अक्षरविकासभूमि—आतश्चाक्षरः प्राणमयः—क्रियामयः—अर्कः

३—वाक्—क्षरविकासभूमिः—आतश्च क्षरो वाङ्मयः—अर्थमयः—अशीतयः

प्राणमयः—अक्षरः—अर्काः—

१—मनसानुगृहीतः—अव्ययानुगृहीतः—मनोमयो ज्ञानमयः—अक्षरः सर्वज्ञः

२—प्राणेनानुगृहीतः—स्वानुगृहीतः—प्राणमयः क्रियामयः—अक्षरः सर्वशक्तिमान्

३—वाचानुगृहीतः—क्षरानुगृहीतः—वाङ्मयोऽर्थमयः—अक्षरः सर्ववित्

सर्वज्ञः—अक्षरः—ज्ञानाधिकरणम्—मनोरूपम् (तत्र मनसि वेदः प्रतिष्ठितः)।

सर्वशक्तियुतः—अक्षरः—क्रियाधिकरणम्—प्राणरूपम् (तत्र प्राणे यज्ञः प्रतिष्ठितः)।

सर्ववित्—अक्षरः—अर्थाधिकरणम्—वाग्रूपम् (तत्र वाचि प्रजा प्रतिष्ठिता)।

१--वेदो ज्ञानमूर्त्तिः---वेदो ज्ञानमयः	"सैषा प्रजापतेरीश्वरस्य सर्वा सृष्टिः"
२---यज्ञः क्रियामूर्त्तिः--यज्ञः क्रियामयः	
३--प्रजा अर्थमूर्त्तिः---प्रजा वाङ्मयी	

अब यह स्पष्ट करने की विशेष आवश्यकता नहीं रह गई कि, अश्वत्थवृक्ष के उक्थ-अर्क-अशीति, स्थानीय अव्यय-अक्षर-क्षर ही क्रमशः विश्वात्मा, विश्वोपादान, एवं विश्व है। विश्वात्मलक्षण अव्यय, एवं विश्वोपादानलक्षण अक्षर दोनों विभाग तो कारणकोटि में निविष्ट हैं, एवं स्वयं विश्व 'कार्य्य' है। कार्य्य के प्रति आलम्बन, निमित्त, उपादान, इन तीन कारणों की कारणता मानी गई है। स्वयं अव्यय (विश्वात्मा) विश्वालम्बन है, आलम्बनकारण है। अक्षर का ज्ञानसहकृत क्रियाभाग निमित्तकारण है, एवं क्षरानुगृहीत, अतएव तन्मय वाग्भाग उपादानकारण है। क्योंकि अक्षर का क्षररूप यह वागुपादान प्राण से अभिन्न है, प्राण मन से अभिन्न है, अतएव इस अक्षरानुगता क्षरवाक् को हम प्राणमयी भी कह सकते हैं, मनोमयी भी कह सकते हैं। मनोऽवच्छेदेन यही वागुपादान वेदमय है, प्राणावच्छेदेन यही वागुपादान यज्ञमय है, एवं स्वावच्छेदेन यही वागुपादान प्रजामय है। इसी दृष्टि से निमित्तकारणभूत अक्षरवेद को हम वाङ्मय मानते हुए इसे (वेद को) 'विश्वोपादान' कह सकते हैं। वाङ्मय, अर्करूप, अक्षरावच्छिन्न यही वेद मौलिक वेद है, जिसके कि अपने महिमामण्डल में सहस्र वितान हैं।

महामायामय महाब्रह्माण्ड के केन्द्र में उक्थरूप से प्रतिष्ठित विद्याधातुगर्भित कर्म्मधातुमूर्त्ति विश्वात्मा से निकलने वालीं, 'अर्चिश्चरति' भाव से युक्त मनः-प्राण-वाङ्मयी रश्मियाँ हीं अर्क है, यही वेद है। मनः-प्राणगर्भिता, वेदमयीं ये रश्मियाँ एक सहस्र हैं। प्रत्येक रश्मि वाङ्मयी है, प्रत्येक रश्मि वेदमयी है, फलतः इस एक ही महामायामण्डल में अनन्त (एकसहस्र) त्रयीवेदों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। त्रयीवेदघना प्रत्येक रश्मि उस ऊर्ध्वमूल, उक्थरूप अश्वत्थवृक्ष की एक एक वल्शा (टहनी, शाखा) है। ऐसी उसमें एक सहस्र वल्शा है, अतएव उस महामायी को ऋग्वेद ने—'**सहस्रवल्शः**' नाम से व्यवहृत किया है, जैसाकि निम्नलिखित मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है—

वनस्पते ! (अश्वत्थ !) शतवल्शो वि रोह सहस्रवल्शा वि वयं रुहेम ।
यं त्वामयं स्वधितिस्तेजमानः प्रणिनाय महते सौभगाय ॥

—ऋक् सं० ३।८।११।

सहस्रवल्शा अक्षर का ही वितान है, अतएव सहस्रार्कभेद से अक्षर भी एक सहस्र हो जाते हैं। यही अर्क वेद है, यही इस अश्वत्थ वृक्ष के पर्ण हैं, अतएव पर्ण भी एक सहस्र हो जाते हैं। वह एक द्रष्टा सहस्रभाव से सहस्रद्रष्टा बन रहा है। इन्हीं विविध साहस्रियों का स्पष्टीकरण करते हुए निम्नलिखित मन्त्र हमारे सामने आते हैं—

१—गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी ।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी "सहस्राक्षरा" परमे व्योमन् ॥
—ऋक्सं० १।१६४।४१।

२—शतब्रध्न इषुस्तव "सहस्रपर्ण" एक इत् यमिन्द्र चकृषे युजम् ।
—ऋक्सं० ८।७७।७।

३—सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद्द्यावापृथिवी तावदित्तत् ।
सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक् ॥
—ऋक्सं० १०।११४।८।

महामायावच्छिन्न एक ब्रह्माण्ड का एक अधिनायक अश्वत्थवृक्षात्मक षोडशी प्रजापति, यही ग्रह, यही इन्द्र, यही प्रतिपत् । एक सहस्र शाखारूप अर्कभाव ही वेद, ये ही उपग्रह, ये ही जनता, ये ही अनुचर । एवं यही उस अनन्त वेद का दूसरा अनन्त इतिवृत्त । परात्पर के गर्भ में प्रतिष्ठित, अपने अपने गर्भ में अनन्त-अनन्त (सहस्र-सहस्र) वेदों को प्रतिष्ठित रखने वाले अनन्त मायामय ब्रह्माण्ड यदि उस अनन्त परात्पर का पहिला अनन्त अविज्ञेय इतिवृत्त माना जायगा, तो केवल एक ही मायागर्भ में प्रतिष्ठित, परात्पराविनाभूत अश्वत्थपुरुष का यह दूसरा अनन्त इतिवृत्त कहा जायगा । एवं वह यदि अविज्ञेय था, तो यह दूसरा इतिवृत्त दुर्विज्ञेय कहलाएगा, जिसकी कि ओर सामान्य मनुष्यों का ध्यान सहसा आकर्षित नहीं होता । अतएव इस दूसरे आनन्त्य को भी छोड़कर किसी ऐसे वेदेतिवृत्त की ओर चलना पड़ेगा, जो न तो अविज्ञेय हो, न दुर्विज्ञेय हो, अपितु सुविज्ञेय, अथवा कम से कम विज्ञेय अवश्य हो । सुविज्ञेय वेद का विचार पीछे कीजिए । पहिले विज्ञेय वेद की ही मीमांसा कीजिए ।

१३—अनन्तवेद का विज्ञेय इतिवृत्त—

महामायामय महाविश्व के साथ हमारा सम्बन्ध तो अवश्य है, परन्तु उस सम्बन्ध की गाथा परामुक्ति से सम्बन्ध रखती है । इधर हमें अभी सृष्टि का विचार करना है । और सृष्टि-विचार के सम्बन्ध से महाविश्व की सहस्र शाखाओं में से केवल एक वेदशाखा ही हमारा सर्वस्व बनी हुई है । अतः ९०९९ वेदशाखाओं को छोड़ते हुए, केवल एक शाखा से सम्बन्ध रखने वाले त्रयीवेद, एवं इस एक त्रयीवेद से सम्बन्ध रखने वाले योगमायावच्छिन्न एक विश्व का ही विचार सामयिक, तथा उपादेय है । वेदवाङ्मयी इस एक शाखा का उस समय क्या नाम था, जबकि सप्तलोकात्मक, महाव्याहृतित्रयात्मक, योगमायावच्छिन्न विश्व का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था ?, इस प्रश्न का समाधान करते हुए भगवान् वेदमहर्षि कहते हैं—

"असद्वा इदमग्र आसीत् । तदाहुः—किं तदसदासीत् ? इति ।
ऋषयो वाव तदग्रेऽसदासीत् । तदाहुः—के ते ऋषयः ? इति ।
प्राणा वा ऋषयः । ते यदस्मात् सर्वस्मादिदमिच्छन्तः श्रमेण
तपसा अरिषन्, तस्माद् ऋषयः" (शत० ब्रा० ६।१।१।१।)।

जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है, योगमायावच्छिन्न विश्वोत्पत्ति से पहिले उस महामायी अश्वत्थ की, एवं अश्वत्थ के अर्करूप सहस्र वाङ्मय वेदों की ही सत्ता है। ये वेद अक्षररूप हैं, अक्षर प्राणमूर्त्ति है। प्राणमूर्त्ति अक्षर, किंवा वेदमूर्त्ति अक्षरप्राण **'सामान्ये सामान्याभावः'** इस नियम के अनुसार (सद्रूप होता हुआ भी) 'असत्' कहलाया है। विश्वोत्पत्ति से पहिले इसी वेदप्राण का, इसी सल्लक्षण असत्प्राण का साम्राज्य था। यही प्राण अपने अव्ययानुगत मन की कामना से, स्वानुगत प्राण के तप से, एवं वागनुगत श्रम से काम, तपः, श्रम के द्वारा आगे जाकर विश्वनिर्म्माता बना। इसने (वेदमूर्त्ति प्राण ने) सृष्टि के लिए गमन किया, प्रवृत्ति की, अतएव यह प्राण ही, वेद ही 'ऋषि' नाम से प्रसिद्ध हो गया, जिस ऋषिप्राण का कि वैज्ञानिक लोग--"ऋषिर्वेदमन्त्रः" इत्यादिरूप से विश्लेषण किया करते हैं। वेदात्मक यह ऋषिप्राण अनन्त जातियों में विभक्त है *। इन असंख्यऋषिप्राणों में से सृष्टि की प्रथम प्रवृत्ति जिस वेदर्षिप्राण से हुई है, वह 'सप्तर्षि' नाम से प्रसिद्ध है। इसे ही ÷**'साकञ्जप्राण'** भी कहा गया है।

***-विरूपास इदृषयस्त इद् गम्भीरवेपसः।**
तेऽङ्गिरसः सूनवस्तेऽग्नेः परि जज्ञिरे॥

—ऋग्वेद १०।६२।५

मन्त्र का अक्षरार्थ यही है कि,--ऋषि (मौलिक प्राणतत्त्व) निश्चयेन विरूप ही है। (विविधरूपासः-विरूपासः-के अनुसार असंख्य प्रकार के हैं)। इनका वेप (मूलरहस्य-मौलिक स्वरूप) सचमुच निश्चय से ही बड़ा गम्भीर है। (अर्थात् इन मौलिक ऋषिप्राणों का स्वरूप वास्तव में बड़ा ही दुर्बोध्य है)। ये सम्पूर्ण (स्वायम्भुव) ऋषिप्राण (क्योंकि पारमेष्ठ्य ऋतधर्म्मा अङ्गिराप्राण के द्वारा व्यक्त होते हैं,) अतएव ये अङ्गिरा के पुत्र मान लिए गए हैं। ये (स्वायम्भुव) ऋषिप्राण भूताग्नि के महिमात्मक प्राणमण्डल में ही प्रतिष्ठित रहते हैं। (अतएव यज्ञात्मक अग्नि के माध्यम से इन ऋषिप्राणों का स्वरूपबोध प्राप्त किया जा सकता है)।

÷-साकञ्जानां सप्तथमाहुरेकजं षडिद्यमा ऋषयो देवजाः।
तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः॥

—ऋक्सं० १।१६४।१५।

मन्त्र का अक्षरार्थ यही है कि,-"एक साथ ही व्यक्त होने के कारण **'साकञ्ज'** (साथ ही उत्पन्न व्यक्त होने वाले) नाम से प्रसिद्ध सात ऋषिप्राणों (आध्यात्मिक 'साकञ्ज' नामक ऋषिप्राणों) में सातवाँ ऋषिप्राण 'एकज' है, अर्थात् एकाकीरूप से व्यक्त होने वाला एकाकीरूप से ही रहता है। शेष ६ ऋषिप्राण तो 'यम' ही हैं। अर्थात् युग्मरूप से साथ रहने वाले हैं। ये आध्यात्मिक प्राणऋषि (अग्नि-वायु-इन्द्र-आदि प्राणदेवताओं के द्वारा व्यक्त होने के कारण) 'देवजाः' (देवदेवताओं से उत्पन्न) कहलाए हैं। इन सातों देवज ऋषिप्राणों (इन्द्रियप्राणों) के इष्ट (विषय) स्व-स्वस्थान से सर्वथा नियत हैं। ये

(शेष पृष्ठ २६ पर देखिए)

इस सप्तर्षिप्राण ने किया क्या ?, यह प्रश्न विस्तारसापेक्ष महासृष्टिविज्ञान से सम्बन्ध रखता है । इसका विशद विवेचन तो शतपथविज्ञानभाष्य के तत्प्रकरण में ही देखना चाहिए । यहाँ प्रकरणसङ्गति के लिए इस सम्बन्ध में केवल यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि, आरम्भ में ये सातों वेदप्राण विशकलित थे, ऋतभावापन्न थे । आगे जाकर सातों मिल जुल कर एक पुरुषरूप में परिणत हो जाते हैं । सप्तपुरुषपुरुषात्मक यही प्राणसप्तक 'चित्यप्रजापति' (पिण्डप्रजापति) कहलाने लगता है । प्राणात्मक त्रयीवेद ही इसकी प्रतिष्ठा है । अर्थात् यह अपने चित्यरूप से पिण्ड बनता है, एवं चितेनिधेयलक्षण महिमारूप से पिण्डप्रतिष्ठा बनता है । यही पिण्डप्रतिष्ठा 'प्रथमजब्रह्म' है, यही मौलिक, प्रतिष्ठालक्षण त्रयीवेद है । इसी त्रयीवेद पर प्रतिष्ठित होकर (स्वमहिमा में प्रतिष्ठित होकर) सप्तपुरुषपुरुषात्मक, सप्तर्षिकृतमूर्त्ति यह चित्य प्रजापति लोकसृष्टि के लिए सन्नद्ध होता है । अपने इस चित्यरूप से पहिले यह असर्वथा अमृतरूप था, ऋतरूप था, अप्रतिष्ठित था, अतएव सहृदया, सशरीरा सत्या विश्वसृष्टि में असमर्थ था । अव्यक्तरूपावच्छिन्न वह ऋषिप्राण, किंवा वेदप्राण सृष्टिकर्म्म में असमर्थ था । अतएव उसे सर्वप्रथम व्यक्तलक्षण चित्यरूप में आना पड़ा, ऋत से सत्यरूप में परिणत होना पड़ा । यही व्यक्तावस्थापन्न, सत्यात्मक, स्वयं प्रादुर्भूत, वेदमय चित्यपुरुष हमारे योगमायावच्छिन्न विश्व का पहिला व्यक्तरूप कहलाया, जिसे कि मन्वादिराजर्षियों नें 'स्वयम्भू' नाम से व्यवहृत किया है । इसी प्रथम वेदावतार का दिग्दर्शन कराते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं—

(२५ वें पृष्ठ की टिप्पणी का शेषांश)

(ऐन्द्रियक) सप्तर्षिप्राण स्थितिभावापन्न, अतएव 'स्थाता' नाम से प्रसिद्ध प्राणी (जीवितप्राणी) के लिए अपनी अपनी विकृतियां (विकाररूप विषयों से समन्वित होते हुए अपने मौलिक प्राकृतिक प्रकृतिभाव से स्वस्वरूपेणापि विकृतिभावापन्न बनते हुए तद्रूप) से स्व स्व रूपविभाजनपूर्वक (रूपशः) गतिभावापन्न (नियतविषयापन्न) बने रहते हैं" । दिक्सोमदेवता से व्यक्त होने वाले सयुक् दो चक्षुःप्राण, आन्तरिक्ष्य वायुदेवता से व्यक्त होने वाले सयुक् दो चक्षुःप्राण, आन्तरिक्ष्य वायुदेवता से व्यक्त होने वाले सयुक् दो नासिकाप्राण, ये ६ ओं सयुक्प्राण, एवं पार्थिय अग्निदेवता से सम्बन्ध रखने वाला वागिन्द्रियात्मक एकज प्राण, इन सातों आध्यात्मिक ऐन्द्रियक प्राणों का ही नाम आध्यात्मिक सप्तर्षिप्राण है, जिनका 'अर्वाग्बिल-श्चमस ऊर्ध्वबुध्नः' इत्यादि मन्त्र के 'तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे' इत्यादि भाग से अन्यत्र स्पष्टीकरण हुआ है । 'अग्निर्वाग्भूत्त्वा मुखं प्राविशत्, वायुः प्राणो भूत्त्वा नासिके प्राविशत्,आदित्यश्चक्षुर्भूत्त्वा ऽक्षिणी प्राविशत्, दिशः श्रोत्रं भूत्त्वा कर्णौ प्राविशत्" (ऐतरेयोपनिषत् २।४।) इत्यादि उपनिषच्छ्रुति भी इसी अर्थ का समर्थन कर रही है । (१)–मुखं, (२)–नासिके, (२)–अक्षिणी, (२)–कर्णौ), रूप से स्पष्ट ही सात आध्यात्मिक देवज (अग्नि–वायु–आदित्य–दिक्सोम से उत्पन्न) सप्तर्षिप्राण संग्रहीत हैं । सायणभाष्य की परम्परा को ही वेदार्थ की तात्त्विक ? परम्परा मान बैठने के आवेश से आविष्ट भाष्यभक्त कृपया उक्त ऋग्वेदीय सायणभाष्य पर दृष्टिपात का अनुग्रह करें, जिसमें सर्वश्री सायण ने द्रविड़प्राणायामद्वारा सात ऋतुओं की कल्पना करते हुए मन्त्रार्थसमन्वय का आपातरमणीय प्रयास किया है ।

(१)–"स योऽयं मध्ये प्राणः, एष एवेन्द्रः (ग्रहः, प्रतिपत्)। तानेष प्राणान् मध्यत इन्द्रियेणैन्द्ध। यदैन्द्ध, तस्मादिन्धः। इन्धो ह वै तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षम्। त इद्धाः सप्त नाना पुरुषानसृज्यन्त। तेऽब्रुवन्–न वाऽइत्थं सन्तः शक्ष्यामः प्रजनयितुम्। इमान् सप्तपुरुषानेकं पुरुषं करवाम इति। तऽएतान्त्सप्त पुरुषानेकं पुरुषमकुर्वन्। यदूर्ध्वं नाभेस्तौ द्वौ समौब्जन्, यदवाङ्नाभेस्तौ द्वौ, पक्षः पुरुषः, पक्षः पुरुषः, प्रतिष्ठैक आसात्"।

(२)–"अथ यैतेषां सप्तानां पुरुषाणां श्रीः, यो रस आसीत्तमूर्ध्वं समुदौहन्। तदस्य शिरोऽभवत्। यत् प्राणा अश्रयन्त, तस्माद्‌ प्राणाः श्रियः। स एष पुरुषः प्रजापतिरभवत्"।

(३)–"सोऽयं पुरुषः प्रजापतिरकामयत–भूयान्त्स्यां, प्रजायेय–इति। सोऽश्राम्यत्, स तपोऽतप्यत। त श्रान्तस्तेपानो "ब्रह्मैव प्रथममसृजत–त्रयीमेव विद्याम्"। सैवास्मै प्रतिष्ठाभवत्। तस्मादाहुः–'ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा' इति। तस्मादनूच्य प्रतितिष्ठति। प्रतिष्ठा ह्येषा यद्‌ब्रह्म"।

—शत० ब्रा० ६।१।१। ब्रा०।

(१) उक्त ब्राह्मणश्रुतिवचनों का अक्षरार्थसमन्वय यही है कि—इन सातों प्राणों में जो केन्द्रस्थ मध्यमें प्राण प्रतिष्ठित है, वही 'इन्द्र' है। मध्यस्थ प्राण इतर प्राणों को अपमें मध्यभावात्मक केन्द्रबल से ही समिद्ध–प्रज्वलित–करता रहता है। क्योंकि यह इतर प्राणों को प्रज्वलित करता है, स्फूर्त्ति प्रदान करता है, अतएव यह अपनें इस इन्धन–प्रज्वलनकर्म्म से 'इन्धः' नाम से प्रसिद्ध है। 'इन्ध' नामक यही प्राण परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में 'इन्द्र' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। परिधिमण्डल में युक्त यच्चयावत् प्राणों को प्रदीप्त करते रहने वाला केन्द्रस्थ मध्यप्राण ही इस समिन्धनकर्म्म से 'इन्ध' बनता हुआ 'इन्द्र' कहलाया है, यही तात्पर्य्य है। प्रत्येक वस्तु का केन्द्रीय प्राण ही 'इन्द्र' है, यही निष्कर्ष है।

मध्यस्थ इन्द्रप्राण से इद्ध–समिद्ध–प्रदीप्त बन जाने वाले इन सातों प्राणोंनें अपने इस प्रचण्ड–उद्दीप्त गतिभाव से सप्त–सप्त–प्राणात्मक सात चित्य प्राणसप्तक व्यक्त कर डाले। इन्हें व्यक्त कर ये कहने लगे कि, अरे! इन सातों सप्तकों को पृथक् पृथक् रखते हुए अपन कदापि संसृष्टिलक्षण–समष्ट्यात्मक–समन्वयात्मक–प्रजनन कर्म्म में सफल नहीं हो सकते। अपने को इन सातों को एकपुरुषरूप में हीं परिणत कर देना चाहिए। संकल्पानुसार तप और श्रम के द्वारा इन्होंने अपने इन सप्त सप्तकों को 'एकपुरुष', समष्ट्यात्मक एक सप्तकरूप में परिणत कर डाला। सातों को एक बनाकर नाभि से ऊपर दो भाग, नाभि से नीचे दो भाग व्यवस्थित कर दिए। एक भाग दक्षिणपक्षरूप से, एक भाग वामपक्षरूप से, एवं एक भाग

पुच्छप्रतिष्ठारूप से व्यवस्थित हो गया। इस प्रकार सर्वाङ्गशरीर में व्याप्त सप्तपुरुषात्मक एकपुरुष मध्य के धड़ में ४ भागों से (चत्त्वारः–आत्मा), वामपादहस्त–दक्षिण पादहस्त रूप से दो भागों से, तथा त्रिकास्थियुत प्रतिष्ठाप्राणरूपेण एक भाग से प्रतिष्ठित हो गया। (और यही आध्यात्मिक सुपर्णचिति कहलाई)।

(२)–इस प्रकार अपनें विशकलित सातों सप्तकों को यों एकपुरुपरूप से समन्वित कर तदनन्तर इसी सप्तपुरुषपुरुषात्मक ऋषिप्राणरूप प्रजापति नें अपनें इन सातों पुरुषों का (सप्त सप्तकों का) जो 'श्री' भाग था, रस (अमृत) भाग था, उसे (मन्थनद्वारा) ऊर्ध्वरूपेण पृथक् निकाल लिया। यही इसका शिरोभाग (रसात्मक मस्तक भाग) बना (जिसमें कि–"**तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्**" के अनुसार अमृतात्मक प्रज्ञारस परिपूर्ण है)। सप्तपुरुषपुरुषात्मक सातों चित्य–मर्त्यप्राण क्योंकि इस ऊर्ध्व चितेनिधेय अमृत रसात्मक प्राण के ही आश्रित हैं। अतएव सातों मर्त्यों से पृथक्भूत अमृतप्राणसप्तक अवश्य ही इस मर्त्याश्रय-प्रदानधर्म्म से 'श्री' कहला सकते हैं। यों अपनें इन मर्त्य–अमृतात्मक सप्तकों से पुरुष 'प्रजापति' रूप में परिणत हो गया (मर्त्यभाग से यही 'प्रजा' बना, एवं अपनें अमृतरूप श्रीभाग से यही 'पति' बन गया, आश्रयभूमि बन गया। एवं दोनों प्रजा–पति–इन भावों की समष्टि ही 'प्रजापति' कहलाने लग पड़ी, यही निष्कर्ष है)।

(३)–अमृतमर्त्यभावापन्न सप्तपुरुषपुरुषात्मक इस प्रजापति नें आगे चलकर यह कामना की कि, मैं बहुत्त्वभाव का (बहुत्त्वलक्षणा 'भूतभौतिकी सृष्टि' का) अनुगामी बनूँ, अपनें इस मूलरूप से, भूतसृष्टिरूप से प्रजननधर्म्म का अनुगामी बनूँ। कामनानुसार प्रजापति ने तप (प्राणव्यापार) किया, श्रम (वाग्–व्यापार–भूतव्यापार) किया। तपसा तेपान, एवं श्रम से श्रान्त **इस प्रजापति ने सर्वप्रथम 'ब्रह्म' रूपा त्रयीविद्या ही उत्पन्न की**। यही ऋक्सामयजुर्लक्षणा ब्रह्मरूपा त्रयीविद्या (वेदत्रयी) प्रजापति के लिए (भूतभौतिक सृष्टिकर्म्म के लिए) मूलप्रतिष्ठा बनी। इसी आधार पर यह सिद्धान्त व्यवस्थित हो पड़ा कि,—"**ब्रह्म (वेद) ही इस सम्पूर्ण भूतभौतिक प्रपञ्च की प्रतिष्ठा है**"। (यही कारण है कि, इस तत्त्वात्मक प्रतिष्ठावेद के स्वरूपविश्लेषक) शब्दात्मक वेदशास्त्र का अनुवचन करने वाला वेदवित् विद्वान् लोक में प्रतिष्ठित बन जाता है। प्रतिष्ठा ही तो यह है, जो कि ब्रह्म (वेद) है। (उसे ही तो वेदवित् ने प्राप्त किया है, फिर क्यों न वह प्रतिष्ठित बने)।

ठीक इसी श्रौत अर्थ का स्पष्टीकरण करते हुए, वेदप्रजापति के अव्यक्त–व्यक्त दोनों स्वरूपों का विश्लेषण करते हुए भगवान् मनु कहते हैं—

(१)–आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥
(२)–ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् ।
महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥
(३)–योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः ।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ ॥

(४)-तदाविशन्ति भूतानि महान्ति सह कर्म्मभिः ।
मनश्चावयवैः सूक्ष्मैः सर्वभूतकृदव्ययम् ॥

(५)-तेषामिदं तु सप्तानां पुरुषाणां महौजसाम् ।
सूक्ष्माभ्यो मूर्त्तिमात्राभ्यः सम्भवत्यव्ययाद् व्ययम् ॥

(६)-सर्वेषां तु स नामानि कर्म्माणि च पृथक् पृथक् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्म्ममे ॥

—मनुः १ अध्याय ।

उक्त मनुवचनों का अक्षरार्थमात्रसमन्वय यही है कि, (१)-प्रत्यक्षरूप से आज दृष्ट-स्पृष्ट-श्रुतोपश्रुत यह सम्पूर्ण चर-अचरप्रपञ्च सृष्टि से पूर्वदशा में सर्वथा अनुपाख्य नामक उस तम से ही अभिभूत था, जो कि अनुपाख्य तम अज्ञात था, अलक्षण था, तर्कसीमा से बहिर्भूत था, अङ्गुलिनिर्देश से पृथक् था, और यों सब कुछ घोरघोरतमा सुषुप्ति (निद्रा) में ही निमग्न था उस विश्वातीता अव्यक्तावस्था में। (२)-इत्थंभूता घोरघोरतमा तमोलक्षणा अव्यक्तावस्था को व्यक्तरूप में परिणत करते हुए वे भगवान् स्वयम्भू प्रजापति ही व्यक्त हुए, जो स्वस्वरूप से की अव्यक्त थे, सम्पूर्ण भूतों के आदिभूत (आकाशात्मा) थे, वृत्तौजा (परिपूर्णशक्तिसमन्वित) थे, एवं अव्यक्तान्धकार का भेदन करने वाले थे ॥ (३)--जो स्वयम्भू अव्यक्त प्रजापति अपने अव्यक्तधर्म्म से इन्द्रियातीत हैं, इन्द्रियों से जिनका ग्रहण सम्भव नहीं है, जो अपने प्राणधर्म्म से सुसूक्ष्म हैं, अतएव अव्यक्त हैं, अतएव च सनातन (नित्यधर्म्मा) हैं, सर्वभूताधारत्वेन आकाशात्मा सर्वभूतमय अचिन्त्य (सीमित मानसिक चिन्तन की सीमा से बहिर्भूत निश्चितभावसमन्वित) ऐसे स्वयम्भू ही स्वयं अपनी ही प्रेरणा से व्यक्त हो पड़े ॥ (४)-महत्प्रकृति के अनुग्रह से महद्भावापन्न बने हुए, अतएव 'महाभूत' नाम से प्रसिद्ध हो पड़ने वाले सम्पूर्ण भूत अपने अपने नियत भूतभौतिक कर्म्मों से इसी आदि महाभूतात्मा आकाशात्मा स्वयम्भू के गर्भ में समाविष्ट हैं। अविनाशी, अतएव 'अव्यय' नाम से प्रसिद्ध इस स्वयम्भू प्रजापति में, जो कि सम्पूर्ण भूतों का मूलप्रवर्त्तक होने से 'सर्वभूतकृत्' नाम से प्रसिद्ध है, जो कि कामनामय होने से 'श्वोवसीयस् मन' नाम से प्रसिद्ध है, अपने प्राणात्मक सूक्ष्म अवयवों से सम्पूर्ण प्रपञ्च का आधार बना हुआ है ॥ (५)-सप्तप्राणकृतमूर्त्ति सप्त-सप्तकात्मक पुरुषों के प्रदीप्ततम ओज से, तदनुगता रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दरूप सुसूक्ष्म पञ्चतन्मात्राओं से इसी स्वयम्भू प्रजापति ने अपने अव्यक्तरूप से व्यक्तात्मक विश्व को अभिव्यक्त किया ॥ (६)-इस प्रकार उस स्वयम्भू प्रजापति ने अपने सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापतिस्वरूप से अपनी प्रतिष्ठारूप वेदब्रह्म की शब्दतन्मात्राओं के माध्यम से ही सम्पूर्ण भूतभौतिक प्रपञ्चों के नाम-रूप-कर्म्म व्यवस्थित किए, एवं भूः-भुव-स्वः-महत्-तपः-जनत्-सत्य-रूप से सप्तलोकसंस्थान व्यवस्थित किए ।

'स्वयम्भू' नाम से प्रसिद्ध वेदमूर्त्ति उस ब्रह्मने किस प्रकार अपनी सृष्टिकामना चरितार्थ की ?, सर्वप्रथम क्या उत्पन्न किया ?, यह भी दो शब्दों में जान लेना चाहिए। और इस से पहिले यह भी स्पष्ट कर लेना चाहिए कि, पूर्व शतपथश्रुति ने जिस त्रयीविद्या को सप्तपुरुषपुरुषात्मक इस ब्रह्म की प्रतिष्ठा बतलाया है, यह वेदत्रयी पुरुषप्रजापति से पूर्व ही अपनी सत्ता रखने के कारण 'अपौरुषेय' है, एवं अक्षरधर्म्मावच्छिन्न होने

से 'ब्रह्मनिःश्वसित' है। इस स्पष्टीकरण की आवश्यकता यही है कि, आगे जाकर एक दूसरे त्रयीवेद का अवतार और होने वाला है, जोकि इस चित्यपुरुष के व्यापार से प्रादुर्भूत होने के कारण 'पौरुषेय' कहलाएगा, एवं विज्ञानभाषा में जिसे 'गायत्रीमात्रिकवेद' कहा जायगा।

जैसाकि पूर्वोक्त (१) प्रथम श्रुति में बतलाया गया है, सप्तपुरुषपुरुषात्मक चित्य प्राजापत्य संस्था के मध्य का सर्वोत्कृष्ट, प्रदीप्त प्राण ही 'यदैन्द्ध' के अनुसार 'इन्द्र' है। इन्द्र ग्रह है, प्रतिपत् है। ग्रह कभी उपग्रहों के बिना अपना स्वरूप सुरक्षित नहीं रख सकता, इन्द्र कभी जनता के बिना सन्तुष्ट नहीं हो सकता, एवं प्रतिपत् कभी अनुचरों के बिना सुशोभित नहीं हो सकती। तीनों ही सापेक्ष हैं। जब तक यह वेदात्मक ऋषिप्राण अपनी अव्यक्तावस्था में था, तब तक तो अमर्य्यादित असीम ऋतभाव के कारण सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र बनता हुआ न तो यह ग्रह ही था, न इन्द्र ही था, न प्रतिपत् ही था। अतएव उस अवस्था में इसे उपग्रह, जनता, अनुचरादि की कोई अपेक्षा न थी। परन्तु जब यह व्यक्तावस्था में आकर वेदत्रयीरूप से एक प्रतिष्ठित, सीमित, सत्यरूप गृहमेधी (गृहस्थ) बन गया, गृह्यसंस्था में प्रविष्ट हो गया, त्रयीवेदचर्य्या समाप्त कर स्नातक बनता हुआ गृहस्थाश्रमोपलक्षित विश्वमर्य्यादा में आ गया, एवं इसी मर्य्यादा के अनुग्रह से जब यह ग्रह, इन्द्र, प्रतिपत् बन गया, तो इसे उसी प्रकारउ पग्रहादि भावों की अपेक्षा हो पड़ी, जैसेकि वेदव्रत समाप्त कर गृह्यधर्म्मों में प्रविष्ट होने वाले गृहस्थी को उपग्रहादिस्थानीय पत्नी-प्रजा-वित्तादि की कामना होने लगती है, एवं अपनी इस कामना के लिए यह गृहमेधी प्राप्त वेदज्ञान के आधार पर सृष्टि-कर्म्म में प्रवृत्त होता है। "एकाकी न रमते, तद्द्वितीयमैच्छत्-पतिश्च पत्नी च" जब यह स्वाभाविक कामना उसी के अंशभूत, कार्य्यरूप अस्मदादि में पाई जाती है, तो क्या कारणभूत अंशीरूप उसमें आरम्भ में इस कामना का उदय न हुआ होगा ?। अवश्य हुआ होगा। उसी कामना से तो दाम्पत्यभावभूता मैथुनी सृष्टि का विकास हुआ है। इसी मैथुनी सृष्टि की कामना से भावसृष्टि (ऋषिप्राणसमष्टिरूपा, विशुद्धप्रजापतिलक्षणा मानसी सृष्टि, अव्ययसृष्टि) मूर्त्ति उस प्रजापति ने एकाकी रमण करने में अपने आप को असमर्थ पाते हुए अपने जैसा ही एक रमणसाधन (अतएव 'रमणी' नाम से लोक में प्रसिद्ध) उत्पन्न करने की कामना की।

आज हमें तो इस साधन में विशेष कष्ट नहीं उठाना पड़ता। प्रजापति के अनुग्रह से आज 'पति-पत्नी' (वृषा-योषा) दोनों भाव सुव्यवस्थित हैं। हम सुगमता से 'तद्द्वितीयमैच्छत, पतिश्च पत्नी च' अपनी यह इच्छा पूरी कर लेते हैं। कल्पना कीजिए, यदि संसार में स्त्रियाँ न हों, और उस काल्पनिक काल में पुरुष जब रमणसाधन की इच्छा करे, तो क्या दशा हो। सम्भव है, प्रजापति की आरम्भ में यही दशा हुई हो। क्योंकि उस समय त्रयीवेदमूर्त्ति प्रजापतिपुरुष के अतिरिक्त, वृषाप्राण के अतिरिक्त सौम्य योषाप्राण का कहीं पता भी न था। सत्यकाम, सत्यसंकल्प, सत्यमूर्त्ति प्रजापति ने उस दशा में भी कोई चिन्ता प्रकट न की। चिन्ता प्रकट क्यों करते, जबकि चिन्तानिवृत्ति के अमोघसाधन कामानुगामी तप, श्रम नाम के दो साधन विद्यमान थे। चिन्ता वे कापुरुष किया करते हैं, संकल्प उन अकर्म्मण्यों के व्यर्थ जाया करते हैं, जो केवल बड़ी बड़ी इच्छाएँ करना तो जानते हैं, काल्पनिक जगत् के सौन्दर्य्य का अभिनय तो करना जानते हैं, किन्तु प्राणव्यापारलक्षण आभ्यन्तरकर्म्म, एवं वाग्व्यापारलक्षण बाह्य (शारीर) कर्म्मों से कोसों दूर भागते हैं। करुणावरुणालय दयार्द्र पिता प्रजापति ने ऐसे कुपूतों पर दया करके ही अपनी ओर से इन रमणसाधनों को उत्पन्न कर दिया है। परन्तु साथ ही प्रजापति परोक्षविधि से इन्हें यह भी चेतावनी दे रहे हैं कि, योषाप्राण-

प्रधान यह रमणसाधन (स्त्रियाँ) मैंने बड़े तपः-श्रम से, अपने ही आधे अङ्ग से उत्पन्न किया है। इस रमणसाधन से मैं पूर्ण बना हूँ, सृष्टिकर्म्म में सफल हो सका हूँ, यदि तुम पूर्ण बनना चाहते हो, कृतकृत्य बनना चाहते हो, तो इस रमणसाधन को अपना ही आधा (समान) अङ्ग समझो, सृष्टिकर्म्म में इसका सहयोग प्राप्त करो, इनकी प्रतिष्ठा करो, समादर करो। परमपुरुषार्थी प्रजापति के वैभव को देखकर आश्चर्य्यान्वित तत्पुत्र देवताओं नें जब जब प्रजापति से यह प्रश्न किया कि, भगवन्! आपने यह वैभव कहाँ से, कैसे प्राप्त कर लिया?, हमें भी कृपा कर वह उपाय बतला दीजिए!, तो उत्तर में तब तब ही प्रजापति ने इनके सामने यही रहस्य रक्खा कि, मैंने भृगु-अङ्गिरा के तप का अनुगमन किया है, श्रम किया है, चिति की है, सदा चिन्मय रहा हूँ-**'भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्, चेतयध्वम्, चितिं वाव इच्छथ'**। आज प्रजापति अपनी सृष्टिकामना को पूरी करने के लिए उसी तपः-श्रम का अनुगमन कर रहे हैं।

जैसा कि कहा गया है, वेदमूर्त्ति प्रजापति से अतिरिक्त और कोई ऐसा दूसरा साधन न था, जिससे प्रजापति अपनी **'एकाकी न रमते'** वाली कामना को पूरी कर लेते। फलतः उनके इस तपः-श्रम से स्वयं वे ही रमणसाधनरूप में परिणत हुए। तात्पर्य्य यह हुआ कि वेदत्रयी के **'ऋक्, यजुः, साम'** नामक तीनों पर्वों में ऋक्-साम ये दो पर्व तो वयोनाध हैं, छन्दोरूप हैं,जैसाकि पाठक आगे बतलाए जाने वाले **'छन्दोवेदनिरूपण'** प्रकरण में देखेंगे। मध्य का यजु **'यत्-जू'** भेद से दो भागों में विभक्त है। 'यत्'-तत्त्व वही सुप्रसिद्ध इन्द्रलक्षण गतिमत् "ऋषिप्राण" है, एवं तदभिन्न 'जू'-तत्त्व वही सुप्रसिद्ध स्थितिमत् अक्षर वाक्तत्त्व है, जिसके कि समन्वय से ऋषिप्राणलक्षण यह वेद वाङ्मय बना हुआ है। प्राण 'वायु' (प्राणात्मक सविता वायु, सावित्राग्नि) है, वाक् 'आकाश (इन्द्रपत्नीलक्षण मर्त्याकाश) है। सृष्टिकामना से प्राजापत्य संस्था में क्षोभ उत्पन्न होता है। क्षोभ से प्राणतत्त्व क्षुब्ध हो पड़ता है। प्राणक्षोभ से वागग्नि क्षुब्ध हो पड़ता है। यही क्षुब्ध वागग्नि क्षोभ की चरम सीमा पर पहुँच कर उसी प्रकार अब्-रूप में परिणत हो जाता है, जैसे कि तपः-श्रम से क्षुब्ध शारीराग्नि स्वेदलक्षण (पसीना) अब्रूप में परिणत हो जाता है। वाक् ही (यजुर्वाक् ही) जो कि प्रजापति का अपना शरीर था, अंशरूप से अब्रूप में परिणत हो गया। वागग्नि का यही शान्त, अब्रूप वैज्ञानिक सम्प्रदाय में चौथा अन्नात्मक 'अथर्ववेद' कहलाया।

शिव! शिव!! सचमुच हम कैसा अनर्थ कर रहे हैं। वायु और आकाश का नाम यजुर्वेद, तो पानी का नाम अथर्ववेद, यह अनर्थ नहीं, तो और क्या है। स्वेद का नाम अथर्ववेद, यह तो विचित्र कल्पना है। परन्तु इस अनर्थ से, इस विचित्र कल्पना से हमें सन्तोष इसलिए हो रहा है कि, स्वयं वेदशास्त्र हमारे इस अनर्थ का, हमारी इस विचित्र कल्पना का अक्षरशः समर्थन कर रहा है। यजुर्वेद का नाम वास्तव में 'यज्जूर्वेद' है, एवं यत् वायु है, जू आकाश है, पहिले इसी कल्पना का समर्थन सुन लीजिए—

१—अयं वाव यजुर्योऽयं पवते। एष हि यन्नेवेदं सर्वं जनयति, एतं यन्तमिदमनु प्रजायते, तस्माद्वायुरेव 'यजुः'। अयमेवाकाशो 'जूः'-यदिदमन्तरिक्षम्। एतं ह्याकाशमनु जवते। तदेतद्यजुर्वायुश्च, अन्तरिक्षं च, यच्च, जूश्च-तस्माद्यजुः। एष एव 'यत्', एष ह्येति (गच्छति)। तदेतद्यजुः-ऋक्सामयोः प्रतिष्ठितं, ऋक्-सामे वहतः"।

—शत० ब्रा० १०कां०।२प्र०।६ ब्रा० १-२ कण्डिका।

यत्लक्षण गतिमत् वायुभाग प्राण है, एवं जूलक्षण स्थितिमत् आकाशभाग वाक् है, इसका समर्थन सुन लीजिए—

१—"वायुर्वै प्राणः" (कौषीतकि ब्रा० ८।४।)।

२—"प्राणो वै वायुः" (शत० ब्रा० ४।४।१।१५)।

३—"यस्स प्राणो, वायुस्सः" (जै०उप० ब्रा० १।२६।१।)।

४—"यो वै प्राणः, स वातः" (शत० ब्रा० ५।२।४।६।)।

५—"प्राण एव सविता" (शत० १०।४।१।८३)।

६—"प्राणो वै सावित्रग्रहः" (कौ० ब्रा० १६।२।)।

१—"वागिति द्यौः" (जै० उप० ब्रा० ४।२२।११।)।

२—"सा या सा वाग् , ब्रह्मैव तत्" (जै० उप० २।१३।२।)।

३—ब्रह्मैव वाचः परमं व्योम" (तै० ब्रा० ३।६।५।५।)।

४—"जुषतामिन्द्रपत्नी" (तै० ब्रा० २।७।८।५।)।

५—"वागित्यन्तरिक्षम्" (जै० उप० ब्रा० ४।२२।११।)।

६—"वाक् सावित्री" (गोपथब्रा० पू० १।३३।)।

ब्रह्म पहिले एकाकी था। उसने यह विचार किया कि, मैं मेरे परिमाण का ही एक दूसरा देव उत्पन्न करूँ, क्योंकि यह एक आश्चर्य्यमयी विभीषिका ही मानी जायगी कि, मैं एकाकी ही बन रहा हूँ। फलतः प्रजापति ने श्रम किया, तप किया। श्रान्त, तेपान, अतएव तप्त प्रजापति के ललाट पर जो पसीने बह निकले, उनसे प्रजापति ने शान्तिलक्षण आनन्द का अनुभव किया। और प्रजापति के मुख से निकल पड़ा कि, यह सचमुच आश्चर्य्य की घटना ही हुई कि, मैंने 'सुवेद' प्राप्त कर लिया। प्रजापति की इस उक्ति से ही यह स्वेद (ललाट का पसीना) 'सुवेद' (अथर्ववेद) नाम से प्रसिद्ध हो गया। वस्तुतः यह 'सुवेद' ही है। और 'सुवेद' का यही सु (सुख–शान्ति) भाव है कि, ब्रह्मलक्षण यजुरग्नि जहाँ आग्नेयस्वभाव से उग्र था, रूक्ष था, वहाँ यह आपोमय बनता हुआ शान्त है, स्निग्ध है। वह अग्निवेद होने से घोभलक्षण बनता हुआ दुर्वेद है, यह सोमवेद बनता हुआ सुवेद है। परोक्षप्रिय देवता इसी सुवेद को 'स्वेद' नाम से व्यवहृत करते हैं। तात्पर्य्य इस कथन का यही है कि, मनुष्य जब भी तपः-श्रम करता है, इस तपः-श्रम से शारीराग्नि से समिद्ध इसका यजुरग्नि (यजुर्वेद) क्षुब्ध हो पड़ता है, और फलस्वरूप सर्वप्रथम इसके ललाट पर पसीने चमकने लगते हैं। इसी अवस्था में आकर यह शान्ति का श्वास लेता है। पसीना बहाकर जो कार्य्य किया जाता है, वही सुकार्य्य तथा सफल कार्य्य कहलाता है। यह पसीना ही स्वेद है, स्वेद नहीं सुवेद है, यजुरग्नि से उत्पन्न होने वाला योषाप्राणात्मक अथर्ववेद है।

ललाट पर पसीने चमके। प्रजापति ने पुनः तपःश्रम किया। इसका परिणाम यह निकला कि, इस तपःश्रम के भूयोऽनुगमन से उसी प्रकार इसके अग्निमय चित्यशरीर से स्वेदधारा बह निकली, जैसे कि अति परिश्रम से हमारा सर्वाङ्गशरीर पसीनों से तर-बतर हो जाता है। इन्हीं स्वेदधाराओं से आगे जाकर सृष्टि-कर्म्मोपयिक आप्ति (व्याप्ति-प्रसार-फैलाव) लक्षण **आपोबल**, धृतिलक्षण **धाराबल**, प्रजननलक्षण **जायाबल**, ये तीन बल और उत्पन्न हो गए। पानी में ये तीनों बल नित्य प्रतिष्ठित रहा करते हैं। शरीर में जब तक अप्-मात्रा रहती है, लोकभाषानुसार शरीर में जब तक पानी रहता है, तभी तक शरीरयष्टि धृत रहती है। यही पानी स्वयोषाप्राण के द्वारा प्रजोत्पत्ति का कारण बनता है। यही अपतत्त्व लोकव्याप्ति का कारण बनता है। जाया, धारा, आपः, तीनों बलों से युक्त यही अपूतत्त्व आगे जाकर भृगु-अङ्गिरा की उत्पत्ति का कारण बनता है, जो कि भृग्वङ्गिरासमष्टि 'अथर्ववेद' नाम से प्रसिद्ध है। भृगु स्नेहतत्त्व है, अङ्गिरा तेज तत्त्व है। इन दो तत्त्वों के विकास का कारण वाङ्मय वही यजुर्वेद है।

यजु का यत् भाग गतिप्रकृतिक, तथा जू भाग स्थितिप्रकृतिक बतलाया गया है। यजु में इन दोनों धर्म्मों का आगमन स्वयं विश्वात्मा से हुआ है। विश्वात्मा (अव्यय) के विद्या, कर्म्म, नाम के दो धातु बतलाए गए हैं। विद्याधातु स्थितिमत् है, इसका अनुग्रह यत् भाग पर होता है, अतएव यत् भाग (ऋषि-प्राण) गतिमत् बन जाता है। कर्म्मधातु गतिमत् है, इस का अनुग्रह जू भाग पर होता है, अतएव यह जू भाग (वाग्भाग) स्थितिमत् बन जाता है। गतिमत् यत् (प्राण) को गर्भ में रखने वाले जू (वाक्) से अपूतत्त्व उत्पन्न हुआ, **'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'** के अनुसार यह यत्-गर्भित जू (त्रयीवेद, किंवा त्रयीवेदमूर्त्ति चित्य प्रजापति) इस आपोमय मण्डल में प्रविष्ट हो गया। इस से पहिले अपूतत्त्व सर्वथा ऋत रहने से अण्ड-मर्य्यादा से बहिष्कृत था। परन्तु जब सत्यलक्षण त्रयीवेदमूर्त्ति-प्रजापति इस के गर्भ में आगए, तो आण्डरूप का विकास हो गया। इसी आण्डभाव का स्पष्टीकरण करती हुई वाजिश्रुति कहती है—

> **''तस्यां (वेद-) प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठितोऽतप्यत। सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्। वागेव सासृज्यत। सेदं सर्वमाप्नोत्, यदिदं किञ्च। यदाप्नोत्, तस्मात्-'आपः'। यदवृणोत्, तस्मात्-'वाः'। सोऽकामयत, आभ्योऽद्भ्योऽधिप्रजायेय-इति। सोऽनया त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत्। तत 'आण्डं' समवर्त्तत''।**
>
> —शत० ब्रा० ६।१।१।६-१०।

इस त्रयीविद्या के प्रवेश से, तथा स्वयं अपूतत्त्व के स्थिति-गतिमल्लक्षण यजुरग्नि से उत्पन्न होने से इसमें भी इन दोनों स्थिति-गतिभावों का आविर्भाव आवश्यक था। यत्-रूप गतिभाव से गतिलक्षण तेजोभाव का, एवं जूरूप स्थितिभाव से स्थितिलक्षण स्नेहभाव का अपूतत्त्व में विकास हो गया। तेजोभाव विशकलनलक्षण अङ्गिरा कहलाया, स्नेहभाव संकोचलक्षण भृगु कहलाया; दोनों की समष्टि 'आपः' कहलाई। आगे जाकर अङ्गिरा की अग्नि, यम, आदित्य, ये तीन घन-तरल-विरलावस्थाएँ, एवं भृगु की आपः, वायु, सोम, ये तीन घन-तरल-विरलावस्थाएँ हो जाती हैं। अङ्गिरात्रयी से देवसृष्टि का विकास होता है, भृगुत्रयी के घन आपोभाव से असुरसृष्टि का, तरल वायुभाग से गन्धर्वसृष्टि का, एवं विरल सोमभाग से पितरसृष्टि का

विकास होता है। इस प्रकार आपोमय, भृग्वङ्गिरोरूप इस अथर्वा से देवता, असुर, गन्धर्व्व, पितर, इन चार जाति के प्राणों का विकास होता है। इन चारों में प्राधान्य सौम्य पितरप्राण का ही माना गया है। इस प्रधानता का कारण यही है कि, स्नेह ही अप्तत्त्व का प्रधान धर्म्म है, उधर आपोमय अथर्व का भार्गव सोम ही आपः, वायु की अपेक्षा अधिक स्निग्ध है। अतएव भगवान् मनु ने ऋषिप्राण के अनन्तर सौम्य पितरप्राण का ही विकास माना है। ऋषिप्राण वही स्वायम्भुव यजुर्मूर्त्ति वेदप्राण है। इन ऋषिप्राणों के याज्ञिकसमन्वय से पितरप्राण का, (असुरप्राण का एवं गन्धर्व्व प्राण का भी) विकास होता है, भृगुमूर्त्ति पितरप्राणों के समन्वय से अङ्गिराद्वारा देवप्राण का विकास होता है। ऋषि, पितर, असुर, गन्धर्व्वप्राणगर्भित वेदप्राण से सूर्य्यद्वारा चर-अचर रोदसी त्रैलोक्य, एवं तत्प्रजा का विकास हुआ है। इसी धारावाहिक प्राणसृष्टिक्रम का दिग्दर्शन कराते हुए राजर्षि कहते हैं—

ऋषिभ्यः पितरो जाताः, पितृभ्यो देवमानवाः।
देवेभ्यश्च जगत् सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः॥

—मनुः ३।२०१।

प्रकृत में इस प्रपञ्च से वक्तव्यांश यही है कि, प्रजापति के यजुर्भाग से, ब्रह्मभाग से, वाग्भाग से जो अप्तत्त्व उत्पन्न हुआ, उसमें जाया, धारा, आपः, नाम के तीन तो मैथुनी सृष्टि के अनुबन्धी बल उत्पन्न हुए। एवं स्नेहलक्षणा भृगुत्रयी, तथा तेजोलक्षणा अग्नित्रयी उत्पन्न हुई। इन ६ रूपों से यह अथर्वब्रह्म, सुवेद, स्वेद, 'षड्ब्रह्म' कहलाने लगा। उधर वह ब्रह्म 'ऋक्-साम-यत्-जू' भेद से चतुष्पर्वा बन गया। चतुर्ब्रह्म, एवं षड्ब्रह्म, दोनों क्रमशः 'ब्रह्म-सुब्रह्म' नाम से प्रसिद्ध हुए। ब्रह्म और सुब्रह्म, दोनों एक ही यजुर्वाक् के विभिन्न दो विवर्त्त हैं। स्वस्वरूप से वही यजुर्वाक् 'ब्रह्म' हैं, अन्नरूप में परिणत होकर वही 'सुब्रह्म' कहलाने लगती है-"वाग्वै ब्रह्म च सुब्रह्म च" (ऐतेरयब्रा० ६।३।)। ब्रह्म के चार पर्व, सुब्रह्म के ६ पर्व, इन १० कलाओं के समन्वय से दशाक्षर विराट्छन्द से छन्दित विराट्-पुत्र (सूर्य्य) का जन्म होने वाला है, जैसा कि पाठक अनुपद में हीं देखेंगे। अभी तो उस प्रमाणवाद की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित कर देना है, जिसके लिए कि हमारा सनातनधर्म्मी जगत् आकुल रहता है। यत्-जू लक्षण प्राण-वाक् को यजुर्वेद कहा जाता है, इस यजुर्वाक् से पानी उत्पन्न होता है, आपोमय मण्डल में त्रयीवेदमूर्त्ति ब्रह्म प्रविष्ट होकर अण्डसृष्टि का प्रवर्त्तक बन जाता है, वेदप्राण को ऋषि कहते हैं, इत्यादि के सम्बन्ध में तो प्रमाण बतला दिए गए। अब उस प्रमाण पर भी दृष्टि डाल लीजिए, जो इस अप्तत्त्व को ब्रह्म का पसीना बतलाता है, इसे भृग्वङ्गिरोमय कहता है, एवं इसे ही अथर्ववेद मानता है।

१-"ब्रह्म वा इदमग्रमासीत्, स्वयन्त्वेकमेव। तदैक्षत-महद्वै यक्षं, तदेकमेवास्मि। हन्ताहं मदेव मन्मात्रं द्वितीयं देवं निर्म्ममे इति। तदभ्यश्राम्यत्, अभ्यतपत्, समतपत्। तस्य श्रान्तस्य, तप्तस्य, सन्तप्तस्य ललाटे स्नेहो, यदार्द्र्यमजायत, तेनानन्दत्। तमब्रवीत्, महद्वै यक्षं 'सुवेद' मविदामह इति। तस्मात् सुवेदोऽभवत्। तं वा एतं सुवेदं सन्तं 'स्वेद' इत्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवाः, प्रत्यक्षद्विषः"।

—गोपथब्रा० १।१।१।

२—"स भूयोऽश्राम्यत्, भूयोऽतप्यत्, भूय आत्मानं समतपत्। तस्य श्रान्तस्य, तप्तस्य, सन्तप्तस्य सर्वेभ्यो रोमगर्त्तेभ्यः पृथक् स्वेदधाराः प्रास्यदन्त। ताभिरनन्दत्। तदब्रवीत्—आभिर्वा अहमिदं सर्वं धारयिष्यामि, जनयिष्यामि, आप्स्यामि, यदिदं किञ्च। तस्माद् 'धारा' अभवन्, जाया अभवन्, आपोऽभवन्। तद्धाराणां धारात्त्वं, यच्चासु ध्रियते। तज्जायानां जायात्त्वं, यच्चासु पुरुषो जायते। तदपामप्त्वम्। आप्नोति ह वै सर्वान् कामान्, यान् कामयते"।

—गो० पू० १।१।२।

३—"इतरा पेयाः, स्वाद्व्यः, शान्ताः (आपः)। तत्रैवाभ्यश्राम्यत्, अभ्यतपत्, समतपत्। ताभ्यः श्रान्ताभ्यस्तप्ताभ्यः सन्तप्ताभ्यो यद्रेत आसीत्, तदभृज्यत। यदभृज्यत, तस्माद् 'भृगुः' समभवत्, तद्भृगोर्भृगुत्त्वम्"।

—गो० पू० १३

४—"तं वरुणं मृत्युमभ्यश्राम्यत्, अभ्यतपत्, समतपत्। तस्य श्रान्तस्य, तप्तस्य, सन्तप्तस्य सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यो रसोऽक्षरत्, सोऽङ्गरसोऽभवत्। तं वा एतमङ्गरसं सन्तं—'अङ्गिरा' इत्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवाः, प्रत्यक्षद्विषः"।

—गो० ब्रा० पू० १।७।

५—"तद्यथेमां पृथिवीमुदीर्णां ज्योतिषा धूमायमानां वर्षं शमयति, एवं ब्रह्मा 'भृग्वङ्गिरोभिर्व्याहृतिभिर्यज्ञस्य विरिष्टं शमयति—"अग्निरादित्ययमा इति"। एते अङ्गिरसः। एते इदं सर्वं समाप्नुवन्ति। वायुरापश्चन्द्रमाः (सोमः), इत्येते भृगवः। एते इदं सर्वं समाप्नुवन्ति। एकमेव शंस्थं भवतीति ब्राह्मणम्॥

—गो० ब्रा० पू० २।८।

६—"अथ अर्वाङेनमेतास्वेवाप्सु—अन्विच्छत इति। तद्यदब्रवीत्—अथ अर्वाङेनमेतास्वेवाप्स्वन्विच्छेति, तत् 'अथर्वाऽ'भवत्। तदथर्वणोऽथर्वत्त्वम्। तस्य ह वा एतस्य भगवतोऽथर्वण ऋषेः, यथैव ब्रह्मणो लोमानि, यथाङ्गानि, यथा प्राणाः, एवमेवास्य सर्व्व आत्मा समभवत्। तमथर्व्वाणं ब्रह्माऽब्रवीत्, प्रजापते! प्रजाः सृष्ट्वा पातलयस्व—इति। तस्मात् प्रजापतिरभवत्। तत् प्रजापतेः प्रजापतित्त्वम्। अथर्व्वा वै प्रजापतिः। प्रजापतिरिव वै सर्वेषु लोकेषु भाति, य एवं वेद"।

—गो० ब्रा० पू० ४।

*(७)--"आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापोभृग्वङ्गिरोमयम् ।
सर्वमापोमयं भूतं सर्वं भृग्वङ्गिरोमयम् ।
अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसोऽनुगाः" ॥

—गो० ब्रा० पू० २।३६।

निष्कर्ष यही हुआ कि, व्यक्तावस्थापन्न स्वयम्भू प्रजापति की सृष्टिकामना से इनके ऋक्-सामावच्छिन्न 'यत्' से अनुगृहीत जूलक्षण वाक् भाग से सर्वप्रथम आपोमय, भृग्वङ्गिरोमय, पड्ब्रह्मलक्षण अथर्वा नामक 'सुब्रह्म' का ही विकास हुआ। क्योंकि मैथुनीसृष्टि के सर्वेसर्वा यही अथर्वा बनते हैं, अतएव मैथुनीसृष्टि की अपेक्षा से इन्हें ही प्रजापति कहा जायगा, जैसाकि उक्त ६ठी श्रुति से स्पष्ट है। वह प्रजापति (त्रयीब्रह्म) 'ब्रह्म' कहलाएगा, एवं यह प्रजापति '**प्रजापति**' कहलाएगा। उसे '**स्वयम्भू**' कहा जायगा, एवं इसे '**परमेष्ठी**' कहा जायगा। स्वायम्भुववेद '**अपौरुषेयब्रह्मनिःश्वसितवेद**' कहलाएगा, एवं पारमेष्ठ्यवेद-'**पौरुषेयब्रह्मस्वेदवेद**' कहलाएगा। ब्रह्मनिःश्वसितवेद '**त्रयीवेद**' कहलाएगा, एवं ब्रह्मस्वेदवेद '**अथर्ववेद**' कहलाएगा। इन दोनों की समष्टि को ही '**मौलिकवेद**' कहा जायगा। यही आगे के यौगिक वेदविवर्त्तों की मूलप्रतिष्ठा बनेगा। गति, स्थिति, स्नेह, तेज, ये चार इस वेद के स्वरूपधर्म्म होंगे। यही उस सहस्रशाख अनन्त अश्वत्थवेद का सादिसान्त तीसरा इतिवृत्त कहलाएगा।

---

* गोपथब्राह्मण से सम्बन्ध रखने वाले इन सम्पूर्ण वचनों की विशद वैज्ञानिक व्याख्या क्योंकि अन्य निबन्ध में कर दी गई है। अतः प्रकृत में केवल वचन ही उद्धृत हैं। देखिए 'भारतीय हिन्दूमानव, और उसकी भावुकता' निबन्ध के प्रथमखण्ड का '**विश्वस्वरूपमीमांसा**' स्तम्भ।

सप्तपुरुषपुरुषात्मकश्चित्यप्रजापतिः—"ब्रह्म"

१—ऋक्	ऋग्वेदः	"ब्रह्मनिःश्वसितवेदः, अपौरुषेयवेदः, ब्रह्मवेदः, अग्निवेदः, त्रयीवेदः, स्वायम्भवः
२—यत् ३—जूः	यजुर्वेदः	
४—सामः	सामवेदः	

५—आपः ६—वायुः ७—सोमः	भृगु—त्रयी	अथर्ववेदः	"ब्रह्मस्वेदवेदः, पौरुषेयवेदः, सुब्रह्मवेदः, सोमवेदः, चतुर्थवेदः पारमेष्ठ्यः
८—आदित्यः ९—यमः १०—अग्निः	अङ्गिरा—त्रयी		

१—यजुःप्राणः—	ऋषयः	(ऋषिवेदविकासभूमिः)
२—आपः—	असुराः	(असुरवेदविकासभूमिः)
३—वायुः—	गन्धर्वाः	(गन्धर्ववेदविकासभूमिः)
४—सोमः—	पितरः	(पितृवेदविकासभूमिः)
५—आदित्यः—	आदित्याः (१२)	(देववेदविकासभूमिः
६—यमः—	रुद्राः (११)	
७—अग्निः—	वसवः (८)	

ब्रह्मनिःश्वसितलक्षण त्रयीवेदमूर्त्ति स्वयम्भू ब्रह्म का प्रथमावतार, ब्रह्मस्वेदवेदलक्षण परमेष्ठीप्रजापति का द्वितीया तार। अनन्तर क्या हुआ ?, इसी प्रश्न का समाधान करते हुए भगवान् मनु कहते हैं—

> सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
> अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्॥
>
> —मनु० १।८।

अपने वाक् भाग से उसने आपोमय परमेष्ठी उत्पन्न किया। यही उसका आधा पत्नी भाग कहलाया। इसी योषात्मिका पत्नी के गर्भाशय में वेदात्मक रेत का सेक हुआ। इसी बीजावाप से सुप्रसिद्ध त्रयीमूर्त्ति भगवान् सूर्य्यनारायण प्रकट हुए। घटना यों घटित हुई। स्वायम्भुव वेदाग्नि आपोमय परमेष्ठी के गर्भ में प्रतिष्ठित था। वहाँ इसी वेदप्राण के स्वाभाविक क्षोभ से कालान्तर में उस आपोमय समुद्र में अङ्गिरा नामक सांयौगिक अग्नि उत्पन्न हो गया। ये आग्नेय परमाणु उस आपोमय समुद्र में अग्निविस्फुलिङ्गरूप से (जो कि अग्निविस्फुलिङ्ग ज्योतिःशास्त्र–परिभाषा में–'धूमकेतु' * नाम से प्रसिद्ध हैं) अतिशय वेग से इतस्ततः परिभ्रमण करने लगे। केन्द्रस्थ त्रयीब्रह्म के केन्द्राकर्षण से आकर्षित ये अग्निपुञ्ज, अग्निशिखाएँ, आग्नेय-परमाणु क्रमशः केन्द्र में सञ्चित होने लगे। जितने आग्नेयपरमाणु केन्द्रबल की सीमा में प्रविष्ट हो गए, वे केन्द्राकर्षण से आकर्षित होकर बाहर निकलने में असमर्थ होते हुए उसी केन्द्रमण्डल में घूमने लगे। ज्यों ज्यों अग्निकण यहाँ आकर चित होने लगे, त्यों त्यों यह केन्द्रावच्छिन्न अग्निसंघ पिण्डभाव में परिणत होने लगा। कालान्तर में परिभ्रममाण यही अग्निपुञ्ज पारमेष्ठ्य दाह्य सोमाहुति का सहयोग प्राप्त कर अतिशय ज्योतिर्भाव में परिणत हो गया। यही प्रदीप्त, प्रकाशित, हिरण्यांशुसमप्रभ ज्योतिर्पिण्ड (भूतज्योतिर्पिण्ड) 'सूर्य्यनारायण' नाम से प्रसिद्ध हुआ। 'नार' लक्षण पानी को (आपोमय परमेष्ठीमण्डल को) अपना आयतन बनाने के कारण ही यह हिरण्मयाण्ड 'नारायण' कहलाया A।

यह तो हुई स्मृतिदृष्टि। अब श्रौतदृष्टि से सूर्य्योत्पत्ति की मीमांसा कोजिए। यह कहा जा चुका है कि, चित्य प्रजापति अपने वाक्भाग से आपोमय परमेष्ठी उत्पन्न कर अपनी त्रयीविद्या के साथ इसी आपोमयमण्डल में

---

* पारमेष्ठ्यसमुद्र में प्रचण्ड वेग से परिक्रममाण, प्रचण्डतमवेग से धोधूयमान अग्निविस्फुल्लिङ्गात्मक इन सहस्र धूमकेतुओं के दिक्परिचय के लिए देखिए–भा० हि० निबन्धान्तर्गत प्रथमखण्ड का 'विश्वस्वरूपमीमांसा' नामक द्वितीय स्तम्भ।

A १—तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्।
तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः॥
—मनुः १।९।

२—आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥
—मनुः १।१०।

प्रविष्ट होकर केन्द्रभाव से प्रतिष्ठित हो गए। वहाँ प्रतिष्ठित होकर इन्होंनें अङ्गिराभाग के अग्नि, वायु, आदित्य इन प्राणों से क्रमशः ऋक्, यजुः, साम ये तीन वेद उत्पन्न किए। यह वेदत्रयी क्योंकि इन तीनों देवताओं से उत्पन्न हुई, अतएव यह **'देववेदत्रयी'** कहलाई। इसी से आगे जाकर यज्ञ का वितान हुआ। इस वेदत्रयी की हमें सौर प्रतिफलित्त गायत्र तेज से उपलब्धि होती है, अतएव हमारे दृष्टिकोण से यह **'गायत्रीमात्रिकवेद'** नाम से प्रसिद्ध हुआ। यही वेदत्रयी भूतज्योतिर्द्वारा पदार्थोपलब्धि का कारण बनती है, अतएव वैज्ञानिकों नें इसे **'उपलब्धिवेद'** नाम से भी व्यवहृत किया। इस वेद की मूलप्रतिष्ठा क्योंकि सूर्य्य है, अतएव यह **'सौरवेद'** भी कहलाया। सूर्य्य की मूलप्रतिष्ठा आङ्गिरस अग्नि है, अतएव यह **'अग्निवेद'** भी कहलाया। यद्यपि स्वायम्भुववेद भी अग्निवेद ही था। परन्तु वह ब्रह्माग्निवेद था, एवं यह देवाग्निवेद है। इस प्रकार स्वयज्ञकर्म्म की सिद्धि के लिए उस अप्समुद्रगर्भित त्रयीमूर्त्ति ब्रह्म से सर्वप्रथम यह दूसरी वेदत्रयी ही प्रकट हुई, जिसे कि **'प्रथमज'** वेद कहा जाता है। स्वयम्भू ब्रह्म प्रथमज नहीं है, वह "स्वयमेव उद्बभौ"। जन्मभाव का मैथुनी सृष्टि से सम्बन्ध है। एवं मैथुनी सृष्टि में सब से पहिले उत्पन्न होने वाला यही देववेद है, अतएव इसे ही 'प्रथमज' वेद कहना अन्वर्थ बनता है। रोदसी ब्रह्माण्ड में सर्वप्रथम (अग्रे-अग्रे) अग्निमूर्त्ति इसी वेद का, तद्रूप इसी हिरण्यगर्भ प्रजापति (सूर्य्य) का प्रादुर्भाव होता है। इसी अग्रभाव के कारण यह सौरसावित्राग्नि **'अग्रि'** कहलाया है। अग्रि ही परोक्षभाषा में **'अग्नि'** कहलाया है। इसी तृतीय वेदावतार, एवं द्वितीय त्रयीवेदावतार का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है—

१—"सोऽकामयत-आभ्योऽद्भ्योऽधि प्रजायेय इति। सोऽनया त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत्। तत आण्डं समवर्त्तत। ततो ब्रह्मैव प्रथममसृज्यत-'त्रय्येव विद्या'। तस्मादाहुर्ब्रह्मास्य सर्वस्य 'प्रथमजं' इति। अपि हि तस्मात् पुरुषात् ब्रह्मैव पूर्वमसृज्यत। तदस्य तन्मुखमेवासृज्यत। मुखं ह्येतदग्नेर्यद्ब्रह्म"।

२—"अथ यो गर्भोऽन्तरासीत्, सोऽग्निरसृज्यत। स यदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत, तस्मादग्रिः। अग्रिर्हवै तमग्निरित्याचक्षते परोक्षम्। परोक्षकामा हि देवाः"

—शत० ब्रा० ६।१।१।१०-११।

**३—"हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम"॥**

--यजुःसं० १३।४।

फिर क्या हुआ ?, इस का उत्तर है सृष्टिका अनन्त विज्ञान, तत्प्रतिपादक अनन्त शास्त्र, जिनकी कि प्रकृत में तालिका भी उद्धृत नहीं की जा सकती। प्रकरणसङ्गति के लिए केवल यही जान कर सन्तोष कर लीजिए कि, गायत्रीमात्रिकवेदावच्छिन्न सूर्य्य से रोदसी त्रैलोक्य का विकास हुआ, शनि-मङ्गल-बृहस्पति-पृथिवी आदि उपग्रह उत्पन्न हुए। पृथिवी के अत्रिभाग से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ। चन्द्रमा में अथर्वसोमवेद का प्रादुर्भाव हुआ। पृथिवी में भूताग्निसम्बन्धी **यज्ञमात्रिकवेद** (त्रयीवेद) का प्रादुर्भाव हुआ। इस वेद से पार्थिव सम्वत्सरयज्ञ उत्पन्न हुआ। यज्ञ से पर्ज्जन्य हुआ, पर्ज्जन्य से वृष्टिद्वारा ओषधि-वनस्पतियाँ उत्पन्न हुईं। इनकी आहुति से प्रजोत्पत्ति हुई। इस प्रकार वही मूलवेद इस क्रमधारा से सर्वस्व बन गया, सर्वस्व बन रहा है, जिसके कि अनन्त विस्तार की सूची उद्धृत करना भी असम्भव है।

अब तक बतलाए गए प्रपञ्च से सारग्राही पाठकों को यह निष्कर्ष निकाल लेना चाहिए कि, सहस्र-वल्शायुक्त अश्वत्थमूर्त्ति महामायी महेश्वर की एक शाखा में स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी, ये पाँच तो प्रधान पुण्डीर (पोर-पर्व) हैं। पाँचों क्रमशः ब्रह्मनिःश्वसित अपौरुषेय ब्रह्माग्निमय मौलिक ब्रह्मवेद, ब्रह्मस्वेद पौरुषेय सोममय यौगिक सुब्रह्मवेद, गायत्रीमात्रिक पौरुषेय देवाग्निमय यौगिक सौरवेद, ब्रह्मस्वेदलक्षण अथर्ववेद, एवं यज्ञमात्रिक नामक पौरुषेय भूताग्निमय यौगिक पार्थिववेद, इन पाँच वेदसंस्थाओं से युक्त हैं। पाँचों में स्वयम्भू, सूर्य्य, पृथिवी, ये तीन पुण्डीर क्रमशः 'ब्रह्माग्नि, देवाग्नि, अन्नादाग्नि' से सम्बद्ध रहते हुए अग्निविवर्त्त हैं, एवं तीनों में क्रमशः ब्रह्मनिःश्वसितवेदत्रयी, गायत्रीमात्रिकवेदत्रयी, यज्ञमात्रिकवेदत्रयी, इन तीन त्रयीवेदों का (अग्निवेदों का) उपभोग हो रहा है। ब्रह्मनिःश्वसितवेदत्रयी ज्ञानज्योतिःप्रधाना है, प्रतिष्ठालक्षणा है, सर्वालम्बनरूपा है। गायत्रीमात्रिकवेदत्रयी भूतज्योतिःप्रधाना है, उपलब्धिलक्षणा है, यज्ञालम्बन है। एवं यज्ञमात्रिकवेदत्रयी नामरूपात्मिका सत्यज्योतिःप्रधाना हैं, प्राप्तिलक्षणा हैं, यज्ञात्मिका है। परमेष्ठी, एवं चन्द्रमा ये दोनों सोमविवर्त्त हैं। दोनों अथर्ववेद हैं। पारमेष्ठ्य सोम 'पवित्रदिक्सोम' है, इसका सौर अग्निहोत्र से सम्बन्ध है। चान्द्रसोम 'भास्वरसोम' है, इसका पार्थिव अग्निहोत्र से सम्बन्ध है। सूर्य्यका अन्न परमेष्ठी है, पृथिवी का अन्न चन्द्रमा है, ये चारों इस स्वायम्भुव ब्रह्माग्नि के अन्न हैं। अतएव वह 'सर्वहुत' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है।

चन्द्रमा भूपिण्ड के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है, भूपिण्ड सूर्य्य के चारों ओर, सूर्य्य परमेष्ठी के चारों ओर, एवं परमेष्ठी स्वयम्भू के चारों ओर परिक्रमा लगा रहे हैं। स्वयं स्वयम्भू अचल हैं, स्थिर हैं। इसीलिए तो औपनिषद ज्ञान के आचार्य्यों नें स्वायम्भुव आत्मा को 'शान्तात्मा' कहा है। जब तक वह है, तब तक सम्पूर्ण विश्व है। जिस दिन वह अपने अव्यक्तभाव में आ जायगा, उस दिन 'नेति होवाच'। शान्तात्म लक्षण इसी सत्यस्वयम्भू का यशोगान करते हुए मनु ने कहा है—

१–एवं सर्वं स सृष्ट्वेदं मां चाचिन्त्यपराक्रमः।
आत्मन्यन्तर्दधे भूयः कालं कालेन पीडयन्॥

—मनुः १।५१।

२–यदा स देवो जागर्त्ति तदेदं चेष्टते जगत्।
यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति॥

—मनुः १।५२।

३–एवं स जाग्रत्स्वप्नाभ्यामिदं सर्वं चराचरम्।
संजीवयति चाजस्रं प्रमापयति चाव्ययः॥

—मनुः १।५७।

प्रसङ्गोपात्त बतलाए गए इन वेदविवर्त्तों का आगे बतलाई जाने वाली वेदनिरुक्ति के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतएव हम पाठकों से अनुरोध करेंगे कि, आगे के विषयसमन्वय की दृष्टि से वे इस प्रासङ्गिक वेद-स्वरूप पर पूरा लक्ष्य रक्खें, एवं अपनी इस लक्ष्यसिद्धि के लिए वे निम्नलिखित तालिकाओं पर पूर्ण अवधान रखने का अनुग्रह करें—

वेद-लोक-देव-विवर्त्तभावाः—

(क) १—स्वयम्भूः—ब्रह्माग्निः——ब्रह्मा (अग्निः) —अग्निः

२—परमेष्ठी— पवित्रदिक्सोमः—विष्णुः (सोमः)

३—सूर्य्यः——देवाग्निः——इन्द्रः (अग्निः) —सोमः

४—चन्द्रमाः—भास्वरसोमः—सोमः (सोमः)

५—पृथिवी——अन्नादाग्निः—अग्निः (अग्निः) अग्निः

(ख) १—ब्रह्माग्निः — स्वायम्भुवः—ब्रह्मनिःश्वसितवेदः, अपौरुषेयः]—मूलवेदः ।

२—दिक्सोमः— पारमेष्ठ्यः— ब्रह्मस्वेदवेदः, पौरुषेयः

३—देवाग्निः — सौरः— गायत्रीमात्रिकवेदः, पौरुषेयः

४—भास्वरसोमः— चान्द्रः— ब्रह्मस्वेदवेदः, पौरुषेयः —तूलवेदाः ।

५—अन्नादाग्निः—पार्थिवः— यज्ञमात्रिकवेदः, पौरुषेयः

(ग) १—ब्रह्मनिःश्वसितवेदत्रयी——ज्ञानज्योतिःप्रधाना— सर्वालम्बनभूता । (अग्निवेदः) ।

३—गायत्रीमात्रिकवेदत्रयी—भूतज्योतिःप्रधाना— यज्ञालम्बनभूता । (अग्निवेदः)

५—यज्ञमात्रिकवेदत्रयी— सत्यज्योतिःप्रधाना— यज्ञात्मिका । (अग्निवेदः)

२—ब्रह्मस्वेदवेदः— सौरयज्ञस्वरूपसमर्पकः पारमेष्ठ्यः (सोमवेदः)

४—ब्रह्मस्वेदवेदः— पार्थिवयज्ञस्वरूपसमर्पकश्चान्द्रः (सोमवेदः)

सावित्राग्नि के स्वरूपलक्षण की प्रतिज्ञा हुई थी, एवं इस सम्बन्ध में यह कहा गया था कि, सावित्राग्नि का स्वरूपपरिज्ञान सविताप्राणपरिज्ञान पर निर्भर है, एवं सविताप्राणपरिज्ञान 'ग्रहोपग्रहविज्ञान' पर निर्भर है ।

ग्रहोपग्रहों का थोड़ा स्वरूपपरिचय कराने के अनन्तर ही अनन्तवेद का प्रसङ्ग उपस्थित हो पड़ा, एवं विवश होकर उसकी गाथा गानी पड़ी। अब पुनः प्रतिज्ञात उसी ग्रहोपग्रहचर्चा की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जा रहा है।

१४—प्रतिपदनुचरभाव—

अनेक उदाहरणों के द्वारा जिन ग्रहोपग्रहभावों का स्पष्टीकरण हुआ था, उनका वेदप्रसङ्ग में प्रतिपादित पूर्व के स्वयम्भू आदि पर्वों के साथ समन्वय कीजिए, एवं इसी समन्वय के द्वारा मूल लक्ष्यात्मक 'सावित्रग्रह' का अन्वेषण कीजिए, जो कि सावित्रग्रह, किंवा सावित्राग्नि भरद्वाज की वेदतुष्टि का कारण बना था। पञ्चपर्वा विश्व को हम त्रैलोक्यविज्ञान के अनुसार तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं, एवं उन तीनों महाविभागों को क्रमशः "भूः, भुवः, स्वः" इन नामों से व्यवहृत कर सकते हैं। 'क्षुद्रविश्व[1]' विश्व का 'भूः' नामक पहिला पर्व है, 'अन्तर्विश्व[2]' विश्व का 'भुवः' नामक दूसरा पर्व है, एवं 'महाविश्व[3]' विश्व का 'स्वः' नामक तीसरा पर्व है। महाविश्व विश्वप्रजापति (पञ्चपुण्डीराप्राजापत्यब्रह्मशात्मक ब्रह्मेश्वर-प्रजापति) का मस्तकोपलक्षित 'ऊर्ध्वप्रदेश' है, अन्तर्विश्व विश्वप्रजापति का हृदयोपलक्षित 'मध्यप्रदेश' है, एवं क्षुद्रविश्व विश्वप्रजापति का पादोपलक्षित 'अधःप्रदेश' है। ऊर्ध्वप्रदेशोपलक्षित महाविश्व विश्वप्रजापति का 'परमधाम' है, मध्यप्रदेशोपलक्षित अन्तर्विश्व विश्वप्रजापति का 'मध्यमधाम' है, एवं अधःप्रदेशोपलक्षित क्षुद्रविश्व विश्वप्रजापति का 'अवमधाम' है। त्रिधामात्मक, त्रिविश्वात्मक, त्रिमहाव्याहृत्यात्मक, त्रिप्रदेशात्मक विश्व ही उसका शरीर है। परमधाम उसका 'संयतीलोक' है, यही 'स्वर्लोक' है। मध्यमधाम उसका 'क्रन्दसीलोक' है, यही भुवर्लोक है। एवं अवमधाम उसका 'रोदसीलोक' है, यही 'भूलोक' है। लोकत्रयात्मक इन्हीं तीनों धामों का स्पष्टीकरण करती हुई मन्त्रश्रुति कहती है—

१—य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत् पिता नः।
स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ आविवेश॥

—यजुः सं० १७।१७।

२—विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः॥

—यजुः सं० १७।१९।

३—या ते धामानि परमाणि यावमा या मध्यमा विश्वकर्म्मन्नुतेमा।
शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधा वः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः॥

—यजुः सं० १७।२१।

पञ्चपुण्डीरात्मक, योगमायावच्छिन्न महाविश्व के महा, अन्तः, क्षुद्र भेद से तीन अवान्तर भेद हो जाते हैं। इन तीनों अवान्तर विश्वों के क्रमशः "ब्रह्मा, विष्णु, शिव" ये तीन देवता अध्यक्ष हैं। ब्रह्मा संयतीलोक के सर्वस्व हैं, विष्णु क्रन्दसीलोक के सर्वस्व हैं, एवं शिव रोदसीलोक के सर्वस्व हैं। ब्रह्मा का संयती

नामक लोक **'परमाकाश'** (परमव्योम) नाम से, विष्णु का क्रन्दसीलोक **'महासमुद्र'** नाम से, एवं शिव का रोदसीलोक **'सम्वत्सर'** नाम से प्रसिद्ध है। विज्ञानभाषा में इन्हीं को **'वैश्वरूप्य'** कहा गया है। इन विश्वरूपों के ये तीनों अध्यक्ष क्रमशः उत्पादन, पालन, संहारकर्म्मों के सञ्चालक बन रहे हैं।

'ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, सोम' इन पाँच देवताओं के समन्वयतारतम्य से ही उक्त देवत्रयी का विकास हुआ है। स्वयं स्वायम्भुव ब्रह्मा तो एकाकी बनते हुए अपनी महिमा से सर्वाध्यक्ष, अतएव सर्वमूर्त्ति (पञ्चमूर्त्ति, किंवा चतुर्मूर्त्ति, अतएव चतुर्म्मुख) बन रहे हैं। स्वायम्भुव ब्रह्मा, पारमेष्ठ्य विष्णु, सौर इन्द्र, इन तीनों की समष्टि ही **'विष्णु'** है। सूर्य्य में इन्द्र का प्राधान्य तो है ही। इसके अतिरिक्त इनमें पारमेष्ठ्य विष्णु भी सुब्रह्मरूप से प्रतिष्ठित हैं। अतएव सूर्य्यसंस्था को हम 'विष्णुसंस्था' कह सकते हैं। इन्द्र, अग्नि, सोम (चन्द्र), इन तीनों ज्योतियों की समष्टि ही **'शिव'** है। पृथिवी में अग्नि तो प्रधानरूप से प्रतिष्ठित है ही। इसके अतिरिक्त इसमें चान्द्रसोम अन्नरूप से, सौर इन्द्र महिमारूप से प्रतिष्ठित है। अतएव पार्थिवसंस्था को हम **'शिवसंस्था'** कह सकते हैं। इस प्रकार आरम्भ में बतलाए गए तीन विश्वों का क्रमशः—'स्वयम्भू, सूर्य्य, पृथिवी' इन तीन लोकों के साथ समन्वय हो जाता है। स्वयम्भूमण्डल ब्रह्मसंस्था है, सूर्य्यमण्डल विष्णुसंस्था है, एवं पृथिवी-मण्डल शिवसंस्था है। ब्रह्मसंस्था में प्रतिष्ठित ब्रह्मा ज्ञानज्योतिःप्रधान ब्रह्मनिःश्वसितवेद से युक्त रहते हुए ज्ञानप्रवर्तक हैं, ज्ञानाध्यक्ष हैं, चित्पति हैं। विष्णुसंस्था में प्रतिष्ठित विष्णु भूतज्योतिः प्रधान गायत्रीमात्रिक-वेद से युक्त रहते हुए क्रियाप्रवर्त्तक हैं, क्रियाध्यक्ष हैं, कर्म्मपति हैं। एवं शिवसंस्था में प्रतिष्ठित शिव सत्यज्योतिः-प्रधान यज्ञमात्रिक वेद से युक्त रहते हुए सत्यात्मक (नामरूपात्मक) अर्थों के प्रवर्तक हैं, अर्थाध्यक्ष हैं, अर्थपति हैं, भूतपति हैं, भूतेश हैं। **"नमस्त्रिमूर्त्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टेः केवलात्मने।"**

१—ब्रह्मा (स्वायम्भुवः)—ब्रह्मा
२—विष्णुः (पारमेष्ठ्यः)—विष्णुः
३—इन्द्रः (सौरः)—विष्णुः
४—अग्निः (पार्थिवः—शिवः
५—सोमः (चान्द्रः)—शिवः

—ब्रह्मा (१)
—विष्णुः (२)
—शिवः (३)

१—ब्रह्मा-प्राणमुखः]—प्रथममुखः
२—विष्णुः-अन्नमुखः]—द्वितीयमुखः
३—इन्द्रः-वाङ्मुखः]—तृतीयमुखः
४—अग्निः-अन्नादमुखः }
५—सोम.-अन्नमुखः } चतुर्थमुखः

—सोऽयं स्वायम्भुवो ब्रह्मा-चतुर्मुखः
"पञ्चमूर्त्तिश्चतुर्मूर्त्तिर्वा"
(आदिदेवः)
—संयतीलोकाधिष्ठाता—

२ (१) २—विष्णुः–अन्नमुखः—पारमेष्ठ्यः
(२) ३—इन्द्रः–वाङ्मुखः—सौरः

—सोऽयं सौरो विष्णुर्द्विमुखः'
"द्विमूर्तिर्द्विमुखो वा"
(देवः)
–क्रन्दसीलोकाधिष्ठाता–

——————————*

३ (१) ३—इन्द्रः–वाङ्मुखः–सौरः
(२) ४—अग्निः–अन्नादमुखः–पार्थिवः
(३) ५—सोमः–अन्नमुखः–चान्द्रः

—सोयं पार्थिवः शिवस्त्रिमुखः
"त्रिमूर्त्तिस्त्रिनेत्रो वा"
(महोदेवः–मर्त्यां आविवेश)
–रोदसीलोकाधिष्ठाता–

——————————*

ब्रह्मसंस्था	विष्णुसंस्था	शिवसंस्था
१—महाविश्वम्	२—अन्तर्विश्वम्	३—क्षुद्रविश्वम्
१—ऊर्ध्वप्रदेशः	२—मध्यप्रदेशः	३—अधःप्रदेशः
१—मस्तकम्	२—हृदयम्	३—पादिभूतिः
१—परमधाम	२—मध्यमधाम	३—अवमधाम
१—संयती	२—क्रन्दसी	३—रोदसी
परमाकाशः	महासमुद्रः	सम्वत्सरः
स्वायम्भुवः	सौरः	पार्थिवः
ब्रह्मा	विष्णुः	शिवः
(चतुर्मुखः)	(द्विमुखः)	(त्रिमुखः)

'समुदाये दृष्टाः शब्दाः, अवयवेष्वपि वर्त्तन्ते' इस न्याय के अनुसार सहस्रशाखासमष्टिलक्षण महामायावच्छिन्न, अवयवी महाविश्वेश्वर का वाचक अश्वत्थ शब्द एकशाखात्मक, योगमायावच्छिन्न, अवयवरूप वल्शेश्वर का भी वाचक माना जा सकता है। तात्पर्य्यं महामायी को जैसे अश्वत्थ कहा जाता है, एवमेव तदवयवभूत एकशाखात्मक, त्रिसंस्थात्मक, त्रिव्याहृत्यात्मक, त्रिप्रदेशात्मक, त्रिधामात्मक, त्रिलोकात्मक, त्रिविश्वरूपात्मक,

त्रिदेवात्मक योगमायी वल्शेश्वर को भी 'अश्वत्थ' कहा जा सकता है, जिसके कि महाकेन्द्रलक्षण ऊर्ध्वभाग में (ब्रह्मसंस्था में) ब्रह्मा प्रतिष्ठित हैं, मध्यकेन्द्रलक्षण मध्यभाग में (विष्णुसंस्था में) विष्णु प्रतिष्ठित हैं, एवं अन्त की शिवसंस्था में शिव प्रतिष्ठित हैं। इसी अवयवात्मक अश्वत्थस्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए आप्त पुरुषों ने कहा है—

मूलतो ब्रह्मरूपाय, मध्यतो विष्णुरूपिणे।
अग्रतः शिवरूपाय, अश्वत्थाय नमो नमः॥

स्वर्लक्षणा संयती, भुवर्लक्षणा क्रन्दसी, भूलक्षणा रोदसी, तीनों लोक त्रिवृद्भाव के कारण भूः-भुवः-स्वः, इन तीन तीन व्याहृतियों से युक्त हैं, जैसाकि ईशोपनिषद्भाष्यादि के सप्तलोकविज्ञान में विस्तार से निरूपित है। रोदसीलोक का भूः पृथिवी है, भुवः अन्तरिक्ष है, स्वः सूर्य्य है, तीनों की समष्टि रोदसीत्रिलोकी है, यही शिवात्मक 'भूलोक' है। क्रन्दसी लोक का भूः समहिम सूर्य्य है, अन्तरिक्ष भुवः है, परमेष्ठी स्वः है, तीनों की समष्टि क्रन्दसीत्रिलोकी है, यही विष्ण्वात्मक भुवर्लोक है। समहिम परमेष्ठी भूः है, अन्तरिक्ष भुवः है, स्वयम्भू स्वः है, समष्टि संयतीत्रिलोकी है, यही ब्रह्मात्मक स्वर्लोक है। रोदसी का स्वर्लक्षण सूर्य्य क्रन्दसी का भूलोक है, क्रन्दसी का स्वर्लक्षण परमेष्ठी संयती का भूलोक है। अतएव ९ के ७ ही लोक रह जाते हैं। इन सातों में चार सत्यलोक हैं, तीन अन्तरिक्षलोक हैं। तीनों में क्रमशः रुद्रवायु, शिववायु, सूत्रवायु, ये तीन वायु प्रतिष्ठित हैं, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है—

१—स्वयम्भूः (सत्यलोकः)........................ द्यौः
२—अन्तरिक्षम् (तपोलोकः)........................ अन्तरिक्षम्
३—परमेष्ठी (जनल्लोकः)............ द्यौः
४—अन्तरिक्षम् (महर्लोकः)............ अन्तरिक्षम्
५—सूर्य्यः (स्वर्लोकः)... द्यौः
६—अन्तरिक्षम् (भुवर्लोकः)—अन्तरिक्षम्
७—पृथिवी (भूलोकः)—पृथिवी

(५–७) रोदसी त्रिलोकी — भूः पृथिवी
(३–६) क्रन्दसी त्रिलोकी — भुवः पृथिवी
(१–६) संयती त्रिलोकी — स्वः

सप्तवितस्तिकायात्मक* इस वल्शेश्वर में प्रधानरूप से स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, ये तीन प्रतिपत् हैं। पृथिव्यादि सूर्य्यप्रतिपत् के अनुचर हैं, सूर्य्यादि परमेष्ठीप्रतिपत् के अनुचर हैं, एवं परमेष्ठ्यादि स्वयम्भू-

* क्वाहं तमो महदहं खचराग्निवार्भूः संवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः।
क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्य्या वाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम्॥
—श्रीमद्भागवत १०।१४।११।

प्रतिपत् के अनुचर हैं । इन प्रतिपत्–अनुचरभावों का पारस्परिक समन्वय ही विश्वयज्ञस्वरूपसम्पादक अन्नान्नादभाव है, जिसे कि हम 'ग्रहोपग्रहभाव' भी कह सकते हैं। आरम्भ से इन ग्रहोपग्रहभावों का समन्वय कीजिए, और पता लगाइए कि, जिस सावित्रग्रह के अन्वेषण के लिए उक्त विस्तारक्रम का आश्रय लिया गया है, वह किस लोक में प्रतिष्ठित है ?

लोष्ठ, पाषाणादि असंज्ञवर्ग, ओषधि–वनस्पत्यादि अन्तःसंज्ञवर्ग, इन दोनों विभागों का संग्राहक, तमोविशाल **१–मूलसर्ग**[१], २–कृमि[१], ३–कीट[२], ४–पक्षी[३], ५–पशु[४], ६–मनुष्य[५], पाँच प्रकार वा रजोविशाल **२–मध्यसर्ग (तिर्य्यक्सर्ग)**, ७–पिशाच[१], ८–राक्षस[२], ९–यक्ष[३], १०–गन्धर्व[४], ११–पितर[५], १२–इन्द्र[६], १३–प्रजापति[७], १४–ब्रह्म[८], आठ प्रकार का सत्त्वविशाल **ऊर्ध्वसर्ग (देवसर्ग)**, इस प्रकार सम्भूय चतुर्दशविध भूतसर्ग, त्रैलोक्यत्रिलोकी से सम्बन्ध रखने वाले तीन त्रैलोक्यलोक, पृथिवी के अदितिभाग से सम्बन्ध रखनें वाले इन्द्रप्रमुख ३३ देवता, दितिभाग से सम्बन्ध रखनें वाले वृत्रप्रमुख ९९ असुर, आपः, फेन, मृत्, सिकता, शर्करा, अश्मा, अय, हिरण्य, सात धातु, सात उपधातु, सात रस, सात उपरस, सात विष, सात उपविष, हविर्यज्ञ, यज्ञमात्रिकवेद, अनुष्टुप्वाक्, मृत्यु, क्षारसमुद्र, आन्दमण्डल, चन्द्रमा, आदि सब अनुचर हैं, एवं स्वयं पृथिवी इन सब अनुचरों की प्रतिपत् है। प्रतिपल्लक्षण पृथिवी ग्रह है, इन्द्र है। अनुचरलक्षण चन्द्रमादि उपग्रह हैं, जनता है। यही ग्रहोपग्रहभाव का पहिला विवर्त्त है।

अपने चन्द्रमादि उपग्रहों से युक्त पृथिवीग्रह, बुध, शुक्र, मङ्गल, देवसेना, बृहस्पति, शनि, ये सात ग्रह, ३३ दिव्यदेवता, उपांशु, अन्तर्य्याम, मैत्रावरुण, आदि ४० सौम्यग्रह, सात देवस्वर्ग, ज्योतिः, गौः, आयुः, सहस्र गौभाव, वैश्वानर, कश्यप, गायत्रीमात्रिकवेद, बृहतीवाक्, मनु, विराट्, अमृत, मृत्यु, अर्णवसमुद्र, सम्वत्सरमण्डल, सावित्री, गायत्री, भर्गतेज, आदि सम्पूर्ण सौरप्रपञ्च अनुचर हैं, इन सब अनुचरों की प्रतिपत् सूर्य्य है। प्रतिपल्लक्षण सूर्य्य ग्रह है, इन्द्र है। अनुचरलक्षण पृथिव्यादि जनता है। यही ग्रहोपग्रहभाव का दूसरा विवर्त्त है।

अपने पृथिव्यादि उपग्रहों से युक्त सूर्य्यग्रह, बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, सविता, वरुण, सरस्वान् समुद्र, सरस्वतीवाक्, आम्भृणीवाक्, ऊर्क्, धिष्ण्य अग्नि (नक्षत्रमण्डलोपलक्षित नाक्षत्रिक अग्नि), ९९ असुर, २७ गन्धर्व, ८४ पितर, भृगु, अङ्गिरा, अत्रि, इट्, ब्रह्मस्वेदवेद, सप्तसमुद्र, गोसवयज्ञ, इत्यादि सम्पूर्ण प्रपञ्च अनुचर हैं, इन सब अनुचरों की प्रतिपत् परमेष्ठी है। प्रतिपल्लक्षण परमेष्ठी ग्रह है, इन्द्र है, अनुचरलक्षण सूर्य्यादि उपग्रह हैं, जनता है। यही ग्रहोपग्रहभाव का तीसरा विवर्त्त है।

अपने सूर्य्यादि उपग्रहों से युक्त परमेष्ठी ग्रह, विश्वकर्म्मा वाचस्पति, वेदात्मा, सूत्रात्मा अन्तर्य्यामी, नभस्वान् समुद्र, सत्यावाक्, ब्रह्माग्नि, ऋषि, ब्रह्मनिःश्वसितवेद, सर्वहुतयज्ञ, इत्यादि सम्पूर्ण प्रपञ्च अनुचर हैं। इन सब अनुचरों की प्रतिपत् स्वयम्भू है। प्रतिपल्लक्षण स्वयम्भू महाग्रह है, महेन्द्र है। अनुचरलक्षण परमेष्ठ्यादि महोपग्रह हैं, महा जनता है। एवं ग्रहोपग्रहभाव का यही चौथा विवर्त्त है।

इन चार विवर्त्तों में स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, ये तीन विवर्त्त ही मुख्य माने गए हैं। इन तीनों के यद्यपि पूर्वगणना के अनुसार अवान्तर, प्रत्यवान्तर भेदों को लेकर असंख्य ग्रहोपग्रह हो जाते हैं। किन्तु विषय-

समन्वय की दृष्टि से हम यहाँ क्रमशः तीनों ग्रहों के १८, १३, ६, इन उपग्रहों को ही प्रधानता देंगे। **बुध**[1], **शुक्र**[2], **चन्द्रमा**[3], ये तीन अन्तर्ग्रह, **पृथिवी**[4] नामक मध्यग्रह, **मङ्गल**[5], **बृहस्पति**[6], **शनि**[7], ये तीन बहिर्ग्रह, **देवसेना**[8] नामक सान्ध्यग्रह, ये आठ ग्रह सूर्य्य के मुख्य उपग्रह हैं। सूर्य्य इन की प्रतिपत् है, इन्द्र है, ग्रह है, यही पहिला ग्रहोपग्रहविवर्त्त है।

बुध[1], **शुक्र**[2], **चन्द्रमा**[3], **पृथिवी**[4], **मङ्गल**[5], **देवसेना**[6], **बृहस्पति**[7], **शनि**[8], ये आठ सूर्य्योपग्रह, **सूर्य्य**[9], **बृहस्पति**[10], **ब्रह्मणस्पति**[11], **सविता**[12], **वरुण**[13], ये तेरह उपग्रह परमेष्ठी के मुख्य उपग्रह हैं। परमेष्ठी ही इन की प्रतिपत् है, इन्द्र है। यही दूसरा ग्रहोपग्रहविवर्त्त है।

बुध[1], शुक्र[2], चन्द्रमा[3], पृथिवी[4], मङ्गल[5], देवसेना[6], बृहस्पति[7], शनि[8], सूर्य[9], बृहस्पति[10], ब्रह्मणस्पति[11], सविता[12], वरुण[13], ये तरह पारमेष्ठय उपग्रह, परमेष्ठी[14], विश्वकर्म्मा वाचस्पति[15], वेदात्मा[16], सूत्रात्मा[17], अन्तर्य्यामी[18], ये अठारह उपग्रह स्वयम्भू के मुख्य उपग्रह हैं। स्वयम्भू इन की प्रतिपत् है, इन्द्र है, ग्रह है। यही तीसरा ग्रहोपग्रहविवर्त्त है।

अठारह उपग्रहों से युक्त एकोनविंश स्वयम्भूब्रह्म ने ऋतसत्यात्मक * सूत्रात्मा नामक उपग्रह के द्वारा ऋतसत्यात्मक सम्पूर्ण विश्व में, विश्वान्तर्गत ऋत्त उपग्रहों, एवं सत्योपग्रहों को, सबको अपने आप में हुत कर रक्खा है, एवं इन्हीं दोनों सूत्रों के द्वारा स्वयं भी सब में हुत हो रहा है। अपने अनन्त सोपाधिरूपों से प्रवर्ग्यरूपों से साक्षात्, एवं परम्परया यही ब्रह्म जहाँ परमेष्ठी आदि उपग्रहरूपों में परिणत हो रहा है, वहाँ अपने ही समष्टयात्मक आभूरूप से यही इन सब उपग्रहों का अन्नादलक्षण महाग्रह भी बन रहा है। उपग्रहावच्छिन्न (विश्वावच्छिन्न) यही महाग्रह सर्वाहुति के द्वारा **'सर्वहुतयज्ञ'** नाम से प्रसिद्ध हो रहा है, जिस प्लव (संसरणशील, परिवर्त्तनशील, अतएव उत्पत्तिविनाशशाली, अतएव च अदृढ) यज्ञ के वैज्ञानिकों ने अठारह पर्व माने हैं।×। सब में अपनी, सब की आप में आहुति देने वाले महामहिम, सर्वहुतयज्ञलक्षण स्वयम्भूब्रह्म के इसी अगम्य चरित्र का दिग्दर्शन कराते हुए वेदभगवान् ने कहा है—

"ब्रह्म वै स्वयम्भु तपोऽतप्यत। तदैक्षत—न वै तपस्यानन्त्यमस्ति। हन्ताहं भूतेष्वात्मानं जुहवानि, भूतानि चात्मनि, इति। तत् सर्वेषु भूतेष्वात्मानं हुत्वा, भूतानि चात्मनि, सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं, स्वाराज्यं, आधिपत्यं पर्य्यैत्"।

—शत० ब्रा० १३।७।१।१।

न मा मर्त्यः कश्चन दातुमर्हति विश्वकर्म्मन् भौवन मन्द आसिथ।
उपमङ्क्ष्यति स्या सलिलस्य मध्ये मृषैष ते सङ्गरः कश्यपाय॥

—शत० ब्रा० १३।७।१।१५।

---

* सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं सत्यस्य सत्यं ऋतसत्यनेत्रम्।
सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः॥

—श्रीमद्भागवत

× प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति॥

—मुण्डकोपनिषत् १।२।७।

ग्रहोपग्रहभावपरिलेखः (अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म्म)—

			* स्वयम्भूः "ब्रह्मा[१]"—परोरजाः, आभूप्रजापतिः, परमः परस्तात्—"ब्रह्मनिःश्वसितवेदमूर्त्तिः[१]"।	
१			अन्तर्य्यामी-नियतिः सत्यम्—ब्रह्मदण्डः शास्ता—"योऽन्तस्तिष्ठन् सन्नियमयति सर्वान्"	
२			सूत्रात्मा—सूत्रं सत्यम्—दण्डप्रसारसाधकः—"ऋतं सत्येऽधायि, सत्यं ऋतेऽधायि"	
३			वेदात्मा-वेदाः सत्यम्—विश्वकार्य्योपादानभूतः—"ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा"	
४			वाचस्पतिः-वेदवाक्प्रवर्त्तकः—विश्वनिमित्तकारणभूतः—"वाचस्पतिं विश्वकर्म्माणमूतये"	
५			* परमेष्ठी "विष्णुः"-रजःप्रवर्त्तकः, प्रतिमा प्रजापतिः, "प्रजापतिः[२]"-"ब्रह्मस्वेदवेदमूर्त्तिः[२]"।	
६	१		वरुणः-असुराधिपतिः, बलप्रदः, संवरणधर्म्मा, पाशप्रवर्त्तको मृत्युः-"अशनाया हि मृत्युः"	
७	२		सविता-प्रेरकः सर्वेषां चराचरभावानां प्रसविता—"सविता वै देवानां प्रसविता"	
८	३		ब्रह्मणस्पतिः-पवित्रतमो गाङ्गेयसोमः पावको विशोधकस्तप्तभावानाम्-"पवित्रं ते विततम्"	
९	४		"बृहस्पतिः[३]"-वाक्पतिर्वाङ्मयो वाजपेयाध्यक्षो ब्रह्मबलप्रतिष्ठाभूमिः-'बृहस्पतिः पूर्वेषामुत्तमो भवति'	
१०	५		* सूर्य्यः "इन्द्र[४]" रजोमूर्त्तिः, प्रतिमाप्रजापतिः, हिरण्यगर्भः-'गायत्रीमात्रिकवेदमूर्त्तिः[३]" (इन्द्र उत्तरेषां प्रथमः)	
११	६	१	शनैश्चरः-आङ्गिरसः, सत्यवाङ्मयः, वाक्शक्तिप्रदः	बहिर्ग्रहाः—आङ्गिरस-वायुप्रधानाः वायुः
१२	७	२	बृहस्पतिः-आङ्गिरसः, सत्यवाङ्मयः, वाक्शक्तिप्रदः	
१३	८	३	देवसेनाग्रहाः-भृग्वङ्गिरोमयाः, सोमाग्निमयाः, असुरप्राणविघातकाः	
१४	९	४	मङ्गलः-आङ्गिरसः, आग्नेयवायुघनो भौमः शोणिताध्यक्षः सेनानी	
१५	१०	५	* पृथिवी 'अग्निः[५]' तमोमूर्त्तिः, प्रतिमाप्रजापतिः, इरागर्भः,"यज्ञमात्रिकवेदमूर्त्तिः[४]"।	
१६	११	६	* चन्द्रमाः-"सोम[६]:" तमोघनः, प्रतिमाप्रजापतिः, भृगर्भः, "अथर्ववेदमूर्त्तिः"[५]।	
१७	१२	७	शुक्रः, भार्गवसौम्यवायुघनः, शुक्राध्यक्षः	अन्तर्ग्रहाः—भार्गववायु-प्रधानाः वायुः
१८	१३	८	बुधः, भार्गवसौम्यवायुमयः कुमारो झञ्झावातप्रवर्त्तकः	

१५—सावित्राग्नि का स्वरूपलक्षण—

पूर्वप्रदर्शित ग्रहोपग्रहपरिलेख से यह स्पष्ट हो रहा है कि 'सविता' नामक ग्रह सूर्य्यसंस्था से ऊपर पारमेष्ठ्य मण्डल में प्रतिष्ठित रहता हुआ 'परमेष्ठी' नामक दूसरे ग्रह का दूसरा उपग्रह है। परमेष्ठी के उपग्रहों में पहिला स्थान वरुण का है, दूसरा स्थान सविता का है, तीसरा स्थान ब्रह्मणस्पति का है, चौथा स्थान बृहस्पति का है। यह बृहस्पति पूर्वभावों का अन्तिम भाव है। तात्पर्य्य यह है कि चन्द्रमा, पृथिवी, सूर्य्य, इन तीनों की समष्टि 'उत्तरविश्व' (मर्त्यविश्व) कहलाता है। एवं अमृतसूर्य्यगर्भित परमेष्ठी, स्वयम्भू, इन दोनों की समष्टि 'पूर्वविश्व' (अमृतविश्व) कहलाता है। पूर्व विश्व की अन्तिम सीमा में (उपसंहार में) वाक्पति 'बृहस्पति' प्रतिष्ठित है, एवं उत्तरविश्व की आदि सीमा में (उपक्रम में) सूर्य्योपलक्षित 'इन्द्र' प्रतिष्ठित है, जैसाकि--"बृहस्पतिः पूर्वेषामुत्तमो भवति, इन्द्र उत्तरेषां प्रथमः" इत्यादि निगमवचन से स्पष्ट है। यह बृहस्पति 'लुब्धकबन्धु' नामक लुब्धक समीपवर्त्ती नाक्षत्रिक बृहस्पति से, एवं शनैश्चर से अधोभाग में रहने वाले 'देवानां पुर एता', देवपुरोधा, सुप्रसिद्ध बृहस्पतिग्रह, दोनों से भिन्न तत्त्व है। लुब्धकबन्धु,तथा बृहस्पतिग्रह, दोनों का जहाँ रोदसीत्रैलोक्य में अन्तर्भाव है, वहाँ इस वाक्पति, पारमेष्ठ्योपग्रहलक्षण बृहस्पति का क्रन्दसी त्रिलोकी से सम्बन्ध है। इस बृहस्पति से ऊपर ब्रह्मणस्पति है, जिसका कि सरस्वतीवाक् से घनिष्ठ सम्बन्ध है, जो कि सरस्वतीवाक् सर्वप्रथम बृहस्पति में अवतीर्ण होती है, जिसके कि समन्वय से बृहस्पति का बृहस्पतित्व चरितार्थ होता है। ब्रह्मणस्पति से ऊपर सुप्रसिद्ध 'सविताग्रह' है। इसी सविता की प्रेरणा से सरस्वती का बृहस्पति में आगमन होता है। न केवल सरस्वती का ही, अपितु त्रैलोक्यत्रिलोकीरूप महाविश्व में रहने वाले यच्चयावत् जड़-चेतनपदार्थों का आदान-विसर्गात्मक, स्थितिस्वरूपसंरक्षक अहरहर्यज्ञ (भैषज्ययज्ञ) इसी सविताप्रेरणा पर निर्भर है। बिना सविता की प्रेरणा के सृष्टि के किसी कार्य्य का सञ्चालन नहीं हो सकता, जैसाकि, निम्नलिखित निगमवचनों से स्पष्ट है--

१—**"सविता वै देवानां प्रसविता"** (शत० १।१।२।१७)।

२—**"सविता वै प्रसवानामीशे"** (ऐत० ब्रा० १।३०।)।

३—**"सविता सर्वस्य प्रसवमगच्छत्"** (ताण्ड्यम० ब्रा० २४।१५।२।)

४—**"तद्धै सुपूतं, यं देवः सविता पुनात्"** (शत० ब्रा० ३।१।३।२२।)।

५—**"सवितृप्रसूतं वा इदमन्नमद्यते"** (कौ० ब्रा० १२।८।)।

रहस्यात्मक वैदिक तत्त्वों का यथावत् परिचय प्राप्त कर लेना परिभाषाज्ञानानतर जहाँ सुगमतम है, वहाँ परिभाषापरिचय के बिना इनका समन्वय कर लेना सर्वथा असम्भव है। प्रकृत प्रकरण का 'सविता' तत्त्व भी इस रहस्य से वञ्चित नहीं है। और जब हम यह देखते हैं कि, अग्नि, वायु, सूर्य्य, चन्द्रमा, वेद, पृथिवी, अहः, पुरुष, प्राण, पशु, आदि अनेक पदार्थ 'सविता' कहलाते हैं, तो यह रहस्यवाद और भी अधिक जटिल बन जाता है। अवश्य ही किसी ऐसी परिभाषा का अन्वेषण करना पड़ेगा, जिसके आधार पर हम सविता का कोई एक निश्चित अर्थ कर सकें, एवं उस निश्चित अर्थ का निम्नलिखित परस्पर-विरोधी सभी अधिकरणों के साथ निर्विरोध समन्वय सम्भव बन सके।

१–मनो वै सविता (शत० ६।३।१।१३।)।

२–वेदा एव सविता (गो० ब्रा० पू० १।३३।)।

३–प्राणो वै सविता (ऐ० ब्रा० १।१६।)।

४–पुरुष एव सविता (जै० उ० ब्रा० ४।२७।१७।)।

५–आदित्य एव सविता (गो० ब्रा० पू० १।३३।)।

६–एष वै सविता, य एष (सूर्य्यः) तपति तै० ब्रा० ३।१०।६।१५।)।

७–प्रजापतिर्वै सविता (ताण्ड्य० ब्रा० १६।५।१७।)।

८–वरुण एव सविता (जै० उ० ब्रा० ४।२७।३।)।

९–अग्निरेव सविता (गो० ब्रा० पू० १।३३।)।

१०–वायुरेव सविता (गो० ब्रा० पू० १।३३।)।

११–चन्द्रमा एव सविता (गो० ब्रा० पू० १।३३।)।

१२–यज्ञ एव सविता (गो० ब्रा० पू० १।३३।)।

१३–इयं वै सविता (शत० १३।१।४।२।)।

१४–विद्युदेव सविता (गो० पू० १।३३)।

१५–अहरेव सविता (गो० पू० १।३३।)।

१६–पशवो वै सविता (शत० ३।२।३।११।)।

१७–उष्णमेव सविता (गो० पू० १।३३।)।

१८–यकृत् सविता (शत० १२।६।१।१५।)।

"यन्मध्यत प्राणानैन्द्ध" यही सविता शब्द की सामान्य परिभाषा मानी जायगी। जो तत्त्व, जो प्राण, मध्य में (गर्भ में) उक्थरूप से प्रतिष्ठित होकर अपने अर्कभाव से वस्तु को कर्म्मविशेष में प्रेरित करता है, किंवा जिस हृदयस्थ तत्त्व की प्रेरणा से हृदयावच्छिन्न वस्तु अहरहर्यज्ञ में प्रवृत्त होती है, प्रेरणा का, कर्म्मप्रसूति का अधिष्ठाता वही हृदयस्थ तत्व 'सविता' कहलाता है। एवं जिसके आधार पर इसकी यह प्रेरणा स्थूलकर्म्म की सञ्चालिका बनती है, वह आधारभूमि, प्रेरणाद्वार सावित्री कहलाती है। जहाँ सविता रहेगा, वहाँ सावित्री अवश्य ही रहेगी। सावित्री से युक्त सविता ही अपक्षपुच्छ 'सावित्राग्नि' कहलाएगा। इस सावित्राग्नि–के सम्बन्ध में सामान्य परिभाषा का विचार करते हुए 'मध्यभाव, प्रेरणाभाव' इन दो सामान्य कर्म्मों का विशेषरूप से अनुगमन करना पड़ेगा। और इन दोनों सामान्य धर्म्मों को लक्ष्य में रख कर ही सावित्राग्नि के पूर्वोक्त विविध विवर्त्तों का समन्वय करना पड़ेगा।

सर्वप्रथम सहस्रवल्शामूर्त्ति, महामायावच्छिन्न अश्वत्थपुरुष को ही अपना लक्ष्य बनाइए। अश्वत्थ-पुरुष अव्ययात्मना महामायापुर के केन्द्र में उक्थरूप से प्रतिष्ठित है। यह अव्यय पुरुष मनोमय है, भारूप है, सत्यसंकल्प है, सत्यकाम है, नित्यकाम है। यही मन 'श्वोवसीयस्' नाम से प्रसिद्ध है। **'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्'**(ऋक्१०।१२६।४) इस ऋग्वर्णन के अनुसार इसी केन्द्रस्थ श्वोवसीयस् पुरुषमन से कामना का उदय होता है। काममयी प्रेरणा, किंवा काममय संकल्प की मूलभूमि यही पुरुषमन है। अतएव इस पुरुषमन को हम अवश्य ही उक्त सामान्य परिभाषा के अनुसार 'सविता' कह सकते हैं। वाक् ही इस प्रेरणा का द्वार बनती है, अतएव वाक् को अवश्य ही सावित्री कहा जा सकता है। अपत्पुच्छलक्षण (अमृतलक्षण) यही सविता-सावित्रीयुग्म सर्वमूलभूत प्रथम सावित्राग्निविवर्त्त है।

इस पुरुष के अव्यय, अक्षर, क्षर, तीन विवर्त्त हैं। तीनों में अक्षर मध्यस्थ है। स्वक्रियाभाव से यही विश्वकर्म्म का सञ्चालक बन रहा है। इसकी इस प्रेरणा का द्वार अर्थमूर्त्ति क्षर बन रहा है। मनोमय अव्यय आलम्बन है, इस पर प्राणमूर्त्ति अक्षर प्रतिष्ठित है, यही सविता है। वाङ्मय अर्थमूर्त्ति क्षर इस अक्षरप्रेरणा का (प्राणव्यापार का) द्वार बनता हुआ सावित्री है, यही सावित्राग्नि का दूसरा विवर्त्त है।

अब तीनों विवर्त्तों में से प्रत्येक का विचार कीजिए। आनन्द, विज्ञान, मनः, प्राण, वाङ्मय अव्यय-पुरुष का मध्य भाग 'मन' है, यही सविता है। ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, सोममय अक्षरपुरुष का मध्य भाग 'इन्द्र' है, यही सविता है। प्राण, आपः, वाक्, अन्नाद, अन्नमय क्षरपुरुष का मध्यभाग 'वाक्' है, यही सविता है। 'मध्यत ऐन्द्ध' के अनुसार मध्यस्थ अव्यय मन, मध्यस्थ अक्षरेन्द्र, मध्यस्था क्षरवाक्, तीनों इन्द्र हैं। अतएव मन को भी इन्द्र कहा जाता है, प्राण भी इन्द्ररूप से उपस्तुत है, एवं वाक् भी इन्द्ररूप से उपवर्णित है। और इस इन्द्रव्यवहार का एकमात्र कारण 'मध्यत ऐन्द्ध' भाव ही है। देखिए !

१—**"हृदयमेवेन्द्रः"** (शत० १२।६।१।१५।)।

२—**"यन्मनः स इन्द्रः"** (गो० पू० ४।११।)।

३—**"वाग्वा इन्द्रः"** (कौ० ब्रा० २।७)।

४—**"अथ य इन्द्रः, सा वाक्"** (जै० उ० ब्रा० १।३३।२।)।

अब एकवल्शेश्वर, योगमायावच्छिन्न विश्व के अधिपति की दृष्टि से उन्हीं सामान्य परिभाषाओं को लक्ष्य में रखते हुए सावित्रग्रह का अन्वेषण कीजिए। पहिले व्यष्टिदृष्टि से देखिए। स्वयम्भू ब्रह्म को वेदमूर्त्ति बतलाया गया है। इस वेदमूर्त्ति स्वयम्भू का वेदभाग 'ऋक्-यजुः-साम' भेद से तीन भागों में विभक्त है। तीनों में मध्यस्थ 'यजु' है, जिसके कि यत्, जू, दो भाग हैं। यत् प्राण है, जू वाक् है। प्राण वायु है, जू आकाश है, दोनों की समष्टि 'मध्यत ऐन्द्ध' के अनुसार इन्द्र है, इन्द्र ही सविता है, यही यजु है, यही सर्वसृष्टि-प्रवर्त्तक है, ऋक्-साम इसके छन्दोरूप अश्व हैं। देखिए !

(इन्द्रः)-प्राणः
१-"प्राण एवेन्द्रः" (शत० १२।६।१।१४)।
२-"स योऽयं मध्ये प्राणः, एष एवेन्द्रः" (शत० ६।१।१।१।२)।

(इन्द्रः)-वाक्
१-"इन्द्रो वागित्युवाऽआहुः" (शत० १।४।५।४)।
२-"वागिन्द्रः" (शत० ८।७।२।६)।

(इन्द्रः)-वायुः
१-"यो वै वायुः, स इन्द्रः, य इन्द्रः, स वायुः" (शत० ४।१।३।१६)।
२-"अयं वा इन्द्रो योऽयं पवते" (शत० ३।६।४।१४)।

(इन्द्रः)-आकाशः
१-"स यस्स आकाशः, इन्द्र एव सः" (जै० उ० ब्रा० १।२८।२)।
२-"स यस्स आकाशः, आदित्य एव सः" (जै० उ० ब्रा० १।२५।२)।

१-"ऋक्सामे वै इन्द्रस्य हरी" (ऐतरेयब्रा० २।२४)।

अब वरुण नामक परमेष्ठी मण्डल का विचार कीजिए। आपोमय परमेष्ठी में वरुण, सविता, ब्रह्मणस्पति, बृहस्पति, ये चार उपग्रह प्रधान माने गए हैं। चारों में वरुण क्योंकि आपोमय पारमेष्ठ्य समुद्र के केन्द्र में प्रतिष्ठित है, अतएव वरुण को 'मध्यत ऐन्द्ध' के अनुसार अवश्य ही इन्द्र कहा जा सकता है। दूसरा सविताग्रह वरुणात्मक इसी इन्द्र का द्वितीयावतार है। प्रथमावस्था वरुण है, द्वितीयावस्था सविता है। मध्य भागस्थ वरुण के इसी इन्द्रत्त्व का स्पष्टीकरण करते हुए ऋषि कहते हैं—

१—इन्द्रो वै वरुणः, स उ वै पयोभाजनः (गो० ब्रा० उ० १।२२)।

कैसा आश्चर्य्य है। इन्द्र और वरुण का सहज वैर माना जाता है। इन्द्र पूर्व दिशा के लोकपाल हैं, तो वरुण पश्चिम दिशा के। इन्द्र ज्योति के अध्यक्ष हैं, तो वरुण तम के। और यहाँ वरुण को इन्द्र कहा गया है। इस कथन का एकमात्र आधार 'मध्यत ऐन्द्ध' ही है। जो मध्यस्थ होगा, फिर वह अग्नि हो, वायु हो, सोम हो, पुरुष हो, पशु हो, अवश्य इन्द्र कहा जायगा, जो कि यह इन्द्रभाव वरुणशत्रु इन्द्रविशेष से सर्वथा पृथक् है।

तीसरा हिरण्यगर्भात्मक सूर्य्यमण्डल है। सौर प्राण साक्षात् इन्द्र है, यही इस मण्डल का सविता है। क्योंकि यह मण्डल हिरण्मय है, अतएव सवितात्मक इस सौर इन्द्र को हिरण्यपाणि कहा जाता है—"तस्मात् (सविता) हिरण्यपाणिरिति स्तुतः" (गो० ब्रा० उ० १।२)। इसी प्रकार पृथिवीगर्भस्थ गायत्राग्नि इसी मध्य मर्य्यादा से इन्द्र कहलाया है, जैसा कि—"तर्हि हैष (अग्निः) भवतीन्द्रः" (शत० २।३।–२।११) इत्यादि वचन से स्पष्ट है। यही स्थिति समष्ट्यात्मक वल्शेश्वर की समझिए। पञ्चपर्वात्मक विश्व के केन्द्र में सूर्य्य प्रतिष्ठित है, अतएव सूर्य्य को भी इन्द्रात्मक सविता मान लिया गया है। यज्ञ भुवन की नाभि

है, इसलिए यज्ञ को सविता कह दिया गया है। प्रजापति प्रत्येक पदार्थ के गर्भ में प्रतिष्ठित है, इसलिए प्रजापति को सविता मान लिया गया है। पार्थिव सम्वत्सर का केन्द्र पृथिवी (भूपिण्ड) है, अतएव इसे सविता मान लिया गया है। गर्भीभूत त्रयीवेद से ही विश्वप्रवृत्ति हुई है, इसलिए वेदों को सविता मान लिया गया है। चान्द्रसम्वत्सर का केन्द्रभूत चन्द्रमा भी सविता माना जा सकता है। यही क्यों, सम्पूर्ण विश्व के सम्पूर्ण पदार्थ व्यष्टि, तथा समष्टि रूप से उभयथा इस सवितृ–मर्य्यादा से आक्रान्त हैं। मध्यस्थ प्राण की अपेक्षा से सभी सविता हैं, इनसे निकलने वालीं प्रेरणात्मिका ऋजुरश्मियाँ सावित्री हैं। एवं सविता तथा सावित्री का समन्वित रूप ही सावित्राग्नि है।

इस सावित्राग्नि का मूल हमारे त्रलोकात्मक विश्व में स्वायम्भव ब्रह्मनिःश्वसित वेद ही माना जायगा। ऋक्–साम–यजुर्म्मय वेद का मध्यस्थ यजुःप्राण ही सर्वप्रेरक बनता हुआ सावित्राग्नि माना जायगा, इसी को हम आत्माग्नि कहेंगे। इसी के परिज्ञान से अनन्तवेद परिज्ञात बनेगा, इसी के अनुगमन से अमृतत्त्व की प्राप्ति होगी। हमारे रोदसी ब्रह्माण्ड में मध्यस्थ सूर्य्य के द्वारा ही आत्मलक्षण इस सावित्राग्नि, किंवा वेदाग्नि की उपासना करते हुए हम अमृतत्त्व के अधिकारी बनेंगे। क्योंकि **"सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च"** इस मन्त्र-वर्णन के अनुसार यही हमारे आध्यात्मिक सावित्राग्नि की प्रतिष्ठा बना हुआ है, जैसा कि,—**"योऽसावादित्ये पुरुषः—सोऽहम्"** इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है। क्योंकि हमारा उपकारक यही सौर सावित्राग्नि बनता है, अतएव आगे जाकर (हमारी अपेक्षा से) सूर्य्य को प्रधानतः सविता मान लिया गया है। इस प्रधानता का एक कारण यह भी है कि, सौरसविता क्योंकि विश्व के मध्य में प्रतिष्ठित है, अतएव यह ऊर्ध्वस्थित अमृत–भाव का भी अनुग्राहक है, एवं अधोऽवस्थित मृत्युभाव का भी संग्राहक है। सूर्य्यलक्षण उद्गीथोपासना से, ओङ्कारोपासना गतार्थ हो जाती है।

पाठकों को स्मरण होगा कि, भरद्वाजाख्यान में सावित्राग्नि के द्वारा ब्रह्म, प्रजापति, बृहस्पति, इन्द्र, वायु, अग्नि, इन ६ ओं देवताओं के साथ सायुज्यप्राप्ति बतलाई गई थी। अब यह स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं रह गई है कि, ये ६ ओं देवता कौन कौन हैं ?, एवं इनका सावित्राग्नि से क्या सम्बन्ध है ?। ब्रह्म स्वयम्भू है, इसका ब्रह्मनिःश्वसित नामक स्वायम्भुववेद के साथ सम्बन्ध है। प्रजापति परमेष्ठी है, इसका ब्रह्मस्वेद नामक पारमेष्ठ्य वेद से सम्बन्ध है। बृहस्पति पूर्वेषामुत्तमः है, यह इन दोनों वेदों का सौर संस्था में समन्वय करते हैं। इन्द्र सूर्य्य है, इसका गायत्रीमात्रिक नामक सौरवेद से सम्बन्ध है। वायु आन्तरिक्ष्य चान्द्र भार्गव तत्त्व है, इसका अथर्व नामक चान्द्रवेद से सम्बन्ध है। एवं अग्नि पृथिवी है, इसका यज्ञमात्रिक नामक पार्थिववेद से सम्बन्ध है। पृथिवी[1], चन्द्रमा[2], सूर्य्य[3], परमेष्ठी[4], स्वयम्भू[5], पाँच पुर हैं, पिण्ड हैं। अग्नि[1], वायु[2], (भार्गव सौम्यवायु), इन्द्र[3], प्रजापति[4], ब्रह्म[5], ये पाँचों क्रमशः पाँचों के पाँच अध्यक्ष हैं, अतिष्ठाता देवता हैं। यज्ञमात्रिक[1], अथर्वा[2], गायत्रीमात्रिक[3], स्वेदवेद[4], ब्रह्मनिःश्वसित[5], ये पाँचों क्रमशः पाँचों के वेद हैं। ६ठे पारमेष्ठ्य बृहस्पति अमृतवेद (ब्रह्मस्वेद०) का मर्त्यवेद (गा० अथ० यज्ञ०) के साथ समन्वय कराने वाले हैं। एवं षट्पर्वा इस महामहिम वेदसंस्था के एकमात्र अनन्त अधिष्ठाता सावित्राग्नि हैं, जिनके कि उत्पत्तिमूलासृष्टि के अनुसार स्वयम्भू मूल माने जायँगे, एवं स्थितिमूलादृष्टि के अनुसार विश्वमध्यस्थ आदित्यदेवता मूल माने जायँगे। इस अमृतलक्षण, मध्यस्थ, सावित्राग्नि के परिज्ञान से सम्पूर्ण वेदसंस्था गतार्थ हो जाती है। यह अग्नि क्योंकि प्राणाग्नि है, अमृतरूप है, अतएव इसे 'अपक्षपुच्छविधः'

कहना ही अन्वर्थ बनता है। इसी आत्मविध सावित्राग्नि को सामने रखते हुए इन्द्र ने भरद्वाज की वेदतृष्णा शान्त की थी। इसी सावित्राग्नि की सर्वव्याप्ति के परिज्ञान-द्वारा भरद्वाज ने अग्निवाय्विन्द्रबृहस्पतिप्रजापतिब्रह्म नामक ६ देवताओं के साथ, एवं पञ्चधा विभक्त वेदों के साथ भरद्वाज ने सायुज्यभाव प्राप्त किया था। और सावित्राग्नि को लक्ष्य में रख कर भरद्वाजाख्यान के उपक्रम में हमने कहा था कि, इस आख्यान से मौलिकवेद का बुद्धिग्राह्य स्वरूप भलीभाँति स्पष्ट हो रहा है, अतएव भरद्वाजाख्यान उद्धृत किया जाता है। लक्ष्य पूरा हुआ, अब इस सम्बन्ध में केवल एक बात जान लेना और शेष रहा है।

कठोपनिषत् में सुप्रसिद्ध **'नचिकेता-यमोपाख्यान'** आता है। वहाँ नचिकेता यमराज से अमृत-प्राप्तिलक्षण स्वर्ग्य अग्नि की जिज्ञासा करता है। एवं यमराज **'यावतीर्वा यथा वा'** (कठोपनिषत् १।१।१५।) कहते हुए इष्टकाओं से सम्बन्ध रखने वाले चयनयज्ञ का स्वरूप बतलाते हुए स्वर्ग्याग्नि का परोक्षभाषा में स्पष्टीकरण करते हैं। वहाँ का स्वर्ग्याग्नि, एवं यहाँ का सावित्राग्नि, दोनों एक वस्तु है। वहाँ नचिकेता, यम के व्याज से ऋषि ने (कठ ने) **'त्रिणाचिकेताग्नि'** नाम से इसका स्पष्टीकरण किया है, एवं यहाँ 'भरद्वाज, तथा इन्द्र के व्याज से ऋषि ने (तित्तिरि ने) **'सावित्राग्नि'** नाम से इसका स्वरूप स्पष्ट किया है।

उद्देश्य दोनों हीं आख्यानों का यही है कि, त्रयीविद्या, एवं त्रयीविद्या से सम्बन्ध रखने वाला कर्म्म-काण्ड यदि केवल प्रवृत्ति-प्रधान है, तो यह विद्यासापेक्ष बनता हुआ भी विद्यानिरपेक्ष बन जाता है, एवं उस दशा में इसका फल अशाश्वत हो जाता है। यदि प्रवृत्तिभाव हटा लिया जाता है, तो यही कर्म्म अभ्युदय निःश्रेयस्, दोनों सम्पत्तियों की प्राप्ति का कारण बन जाता है। आत्मदृष्टि से कर्त्तव्यबुद्धि से किया हुआ कर्म्म आत्मार्थ बनता हुआ यज्ञार्थ है, परार्थ है. एवं **'यज्ञार्थात् कर्म्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म्मबन्धनः'** के अनुसार यह कर्म्म सर्वथा अबन्धन है। इस अबन्धनकर्म्म की प्रतिष्ठा आत्मा है, आत्मा की प्रतिष्ठा सावित्राग्नि है, सावित्राग्नि की प्रतिष्ठा सौरवेद है, सौरवेद का मूल स्वायम्भुव ब्रह्मनिःश्वसितलक्षण, ज्ञानज्योतिर्घन मध्यस्थ यजुर्वेद है, और यही मुख्य सावित्राग्नि है, जिसके कि स्पष्टीकरण के लिए हमें ग्रहोपग्रहविज्ञान का आश्रय लेना पड़ा। जो इस सावित्राग्निमूर्त्ति आत्मा को, वेदाग्नि को नहीं जानता, वह अग्निमुग्ध है, धूमान्त है। वह अपने स्वरूपज्ञान से वञ्चित होता हुआ आत्मलक्षण अमृतलोक से वञ्चित है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर महर्षि ने कहा है—

कश्चिद्ध वा अस्माल्लोकात् प्रेत्य, आत्मानं वेद—अयमहमस्मि' इति। कश्चित् स्वं लोकं न प्रतिप्रजानाति। अग्निमुग्धो हैव धूमतान्तः स्वं लोकं न प्रतिप्रजानाति। अथ यो हैवैतमग्निं सावित्रं वेद, स एवास्माल्लोकात् प्रेत्य—आत्मानं वेद—'अयमहमस्मि' इति। स स्वं लोकं प्रतिप्रजानाति। एष उ चैवैनं तत् सावित्रः स्वर्गं लोकमभिवहति। अथ यो हैवैतमग्निं सावित्रं वेद, तस्य हैवाहोरात्राणि—अमुष्मिँल्लोके शेवधिं न धयन्ति। अधीतं हैव स शेवधिमनु परैति॥

—तैत्तिरीयब्राह्मण ३ का०।१०प्र०।११ अ०।१,२,३, कं०।

१६—व्यष्टिलक्षण प्राजापत्यवेद—

अनन्त, अनादि वेद से सम्बन्ध रखने वाले, अनन्त ब्रह्माण्डों को अपने गर्भ में रखने वाले सर्व-प्रवर्त्तक, सर्वापेक्षया तटस्थ, सर्वबलविशिष्टरसमूर्त्ति अनन्त-अनादि परात्पर के अनन्त चरित्र का, सहस्रलक्षण अनन्तवेद से सम्बन्ध रखने वाले सहस्र ब्रह्माण्डात्मक, महामायावच्छिन्न मायी महेश्वर के अनन्त चरित्र का, मायी महेश्वर की पञ्चपुण्डीराप्राजापत्यवल्शा से सम्बन्ध रखने वाले पञ्चपर्वात्मक वल्शेश्वर का, एवं वल्शेश्वर-स्वरूपसम्पादक ब्रह्मनिःश्वसित त्रयीवेद का, ब्रह्मस्वेदवेद का, गायत्रीमात्रिक वेद का, अथर्ववेद का, तथा यज्ञमात्रिक वेद का संक्षिप्त निरूपण करते हुए भरद्वाज के प्रति उपदिष्ट सावित्राग्निमयी त्रयीविद्या का, इस त्रयीविद्या से से सम्बन्ध रखने वाले वल्शेश्वर के ब्रह्म, प्रजापति, बृहस्पति, इन्द्र, वायु, अग्नि, इन ६ पर्वों का दिग्दर्शन कराया गया। और इसके द्वारा विज्ञ पाठकों का ध्यान इस लक्ष्य की ओर आकर्षित करने की चेष्टा की गई कि, 'वेद' एक वैसा मौलिक तत्त्व है, जो अपने तत्त्वात्मक **ऋक्-साम-यजुः-अथर्व**-पर्वों से विश्व का मूल बना हुआ है। विश्व कैसे, किससे बना ?, कहाँ प्रतिष्ठित है ?, कब तक प्रतिष्ठित रहेगा ?, कहाँ विलीन हो जायगा ?, इन सब विश्वविद्याओं का एकमात्र मूलाधार यही तात्त्विक वेद है, यहीं अनादिवेद है, यही अपौरुषेयवेद है, जिसके कि स्वरूप-परिचय के लिए शब्दात्मक 'वेदशास्त्र' का आविर्भाव हुआ है, जो कि वेदशास्त्र पौरुषेय है। शब्दात्मक वेदशास्त्र पौरुषेय है, अथवा अपौरुषेय ?, इस प्रश्न की मीमांसा तो आगे जाकर होगी। अभी तो हमें उस वेदतत्त्व के स्वरूप का ही बुद्धिगम्य विचार करना है, जिसका कि इस शब्दात्मक (मन्त्रात्मक) वेदशास्त्र में स्पष्टीकरण हुआ है। तत्त्वात्मक वेद कैसा जटिल पदार्थ है ?, इसका अनुमान केवल इसी से लगाया जा सकता है कि, तत्त्वात्मक वेद के '**ऋक्-यजुः-साम-अथर्व**' इन चार पर्वों के निरूपण के लिए ही २१ ऋग्वेदग्रन्थ, १०१ यजुर्वेदग्रन्थ, १००० सामवेदग्रन्थ, एवं ९ अथर्ववेदग्रन्थ, सम्भूय ११३१ वेदग्रन्थ आर्षप्रजा के सम्मुख उपस्थित हुए हैं।

अब तक वेद के तात्त्विक स्वरूप का जो विश्लेषण हुआ है, उससे हमारा पूरा पूरा सन्तोष नहीं हो सकता। यही नहीं, प्रतिपादित स्वरूप हमारे लिए एक जटिल समस्या और बन जाता है। अतएव किसी वैसी सुगम पद्धति का अनुगमन अपेक्षित है, जिसके द्वारा हम अञ्जसा इस वेदतत्त्व के स्वरूपज्ञान के सत्पात्र बन सकें। इसी सत्पात्रता की सिद्धि के लिए सर्वप्रथम वेद, और प्रजापति के पारस्परिक सम्बन्ध का ही स्पष्टीकरण किया जा रहा है।

"**प्रजापति ही वेद है** १" यह एक पक्ष है। इस पक्ष में प्रजापति, और वेद, दोनों का 'तादात्म्य' सम्बन्ध है। "**वेद प्रजापति के निःश्वास हैं**२" यह दूसरा पक्ष है। इस पक्ष में दोनों का 'अङ्गाङ्गिभाव' सम्बन्ध है। "**प्रजापति से वेद उत्पन्न हुए हैं**३" यह तीसरा पक्ष है। इस पक्ष में दोनों का जन्य-जनकभाव-सम्बन्ध है। तीनों ही सम्बन्ध दृष्टिकोणभेद से गतार्थ हैं, विरोधशून्य हैं। प्रथम पक्ष का यज्ञमात्रिकवेद से सम्बन्ध है, पार्थिववेद से सम्बन्ध है। पार्थिव प्रजापति यज्ञात्मक त्रयीवेद से ही स्वरूपनिर्म्माण में समर्थ हुए हैं। यदि पार्थिवप्रजापति (अग्नि) में से यज्ञमात्रिक वेद पृथक् कर दिया जाता है, तो प्रजापति का कोई स्वरूप ही शेष नहीं रहता। दूसरे पक्ष का स्वायम्भुव 'ब्रह्मनिःश्वसितवेद' से सम्बन्ध है। सप्तपुरुषपुरुषात्मक चित्य प्रजापति स्वयम्भू हैं, अङ्गी हैं। स्थिति-गतिलक्षण ज्ञानमूर्त्ति यजुर्भाग इनकी प्रतिष्ठा बनता हुआ उसी प्रकार इनका अङ्ग है, जैसे कि शरीर आत्मा की प्रतिष्ठा बनता हुआ आत्मा का अङ्ग बना रहता है।

तीसरे पक्ष का गायत्रीमात्रिक सौर वेद से सम्बन्ध है। इसकी उत्पत्ति आपोमय परमेष्ठी के गर्भ में प्रतिष्ठित ब्रह्म से हुई है, जैसा कि पूर्व में विस्तार से बतलाया जा चुका है। क्योंकि यह प्रजापति से उत्पन्न है, अतएव इसे अवश्य ही जन्य-जनकभावानुबन्धी माना जा सकता है।

इस प्रकार स्वयम्भू, सूर्य्य, पृथिवी, इन तीन संस्थाओं के भेद से तीनों पक्षों का यथावत् समन्वय हो रहा है। इसके साथ ही यह भी स्पष्टीकरण कर लेना चाहिए कि, अग्नितत्त्व का ही नाम वेदत्रयी है, अग्नितत्व का ही नाम प्रजापति है। हाँ, अग्निस्वरूप में अवश्य ही अन्तर है। स्वायम्भुव अग्नि ब्रह्माग्नि है, सौर अग्नि देवाग्नि है, पार्थिव अग्नि भूताग्नि, किंवा अन्नादाग्नि है। अन्नादाग्नित्रयीविद्या ही यज्ञमात्रिकत्रयीविद्या है, देवाग्नित्रयीविद्या ही गायत्रीमात्रिकत्रयीविद्या है, एवं ब्रह्माग्नित्रयीविद्या ही ब्रह्मनिःश्वसितत्रयीविद्या है, एवं पारमेष्ठ्या सोमविद्या तथा चान्द्रसोमविद्या ही चौथी अथर्वविद्या है।

(क) १—प्रजापतेर्निःश्वासभूता वेदाः—अङ्गाङ्गिभावसम्बन्धः (ब्रह्मनिःश्वसितवेदत्रयी-स्वायम्भुववेदत्रयी)।

२—प्रजापतेर्वेदा उत्पद्यन्ते—जन्यजनकभावसम्बन्धः (गायत्रीमात्रिकवेदत्रयी-सौरवेदत्रयी)।

३—प्रजापतिरेव वेदाः—तादात्म्यसम्बन्धः (यज्ञमात्रिकवेदत्रयी-पार्थिववेदत्रयी)।

————————*

(ख) १—ब्रह्माग्निः——स्वायम्भुवः-अग्निविद्या—ब्रह्मनिःश्वसितवेदत्रयी।

*—सुब्रह्मसोमः——पारमेष्ठ्यः-सोमविद्या——अथर्ववेदः।

२—देवाग्निः——सौरः——अग्निविद्या——गायत्रीमात्रिकवेदत्रयी।

*—सुब्रह्मसोमः——चान्द्रः——सोमविद्या——अथर्ववेदः।

३—भूताग्निः——पार्थिवः——अग्निविद्या——यज्ञमात्रिकवेदत्रयी।

————————*

(ग) १—ज्योतिर्वेदः——ज्ञानाग्निर्ज्ञानज्योतिः——मनोमयम्——मनोवेदः (ब्रह्मनिःश्वसितवेदः)।

——प्रतिष्ठावेदः————————

२—ज्योतिर्वेदः—भूताग्निर्भूतज्योतिः—प्राणमयम्—प्राणवेदः (गायत्रीमात्रिकवेदः).

—प्रतिष्ठवेदः————————

३—ज्योतिर्वेदः——सत्याग्निः सत्यज्योतिः—वाङ्मयम्——वाग्वेदः (यज्ञमात्रिकवेदः)।

————————*

तीन प्रजापति, तीनों के तीन वेद, एवं तीनों से क्रमशः वेद, यज्ञ, प्रजाभावों का विकास, यही दूसरी दृष्टि है, जिसका कि पूर्व में दिग्दर्शन कराया जा चुका है। अब व्यष्टिरूप से प्रजापति के स्वरूप का विचार करते हुए व्यष्ट्यात्मक वेदतत्व की मीमांसा कीजिए। **"यद्वै किञ्च प्राणि, स प्रजापतिः"** (शत०ब्रा०११।१।६।१७) इस लक्षण के अनुसार प्राणात्मक पदार्थ ही प्रजापति है। चराचर विश्व में ऐसा कोई पदार्थ नहीं, जो प्राणात्मक न हो, जिसमें प्राण न हो। अतएव यच्चयावत् व्यक्तियों को हम एक एक स्वतन्त्र प्रजापति मानने के लिए तैयार हैं। प्रत्येक पदार्थ की अभिव्यक्ति हो रही है। यह अभिव्यक्तित्व ही तत्तत् पदार्थों का व्यक्तित्त्व है, व्यक्तित्त्व ही 'व्यक्ति' है, व्यक्ति ही पदार्थ है। क्योंकि प्रत्येक पदार्थ अभिव्यक्तिलक्षण व्यक्तित्त्व से युक्त है, अतएव प्रत्येक पदार्थ को 'व्यक्ति' कहा जाता है। व्यक्तिरूप से ही पदार्थ की अभिव्यक्ति हो रही है। किंवा अभिव्यक्ति ही व्यक्तिभाव की परिचायिका बन रही है। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति प्राणात्मिका है, अतएव पूर्वोक्त लक्षणानुसार—**'इयमेकैका व्यक्तिः प्रजापतिः'** यह कहा जा सकता है। इसी आधार पर प्रजापति के **'प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं यदिदं किञ्च'** (शत०ब्रा० १३।३।२।६।)—**'सर्वमु ह्येवेदं प्रजापतिः"** (शत०ब्रा० ५।१।१।४।) ये भी लक्षण किए जाते हैं। स्वयं मन्त्रश्रुति ने भी निम्नलिखित रूप से इन्हीं लक्षणों का समर्थन करते हुए विश्वान्तर्गत पदार्थमात्र को प्रजापतिस्वरूप ही माना है—

प्रजापते ! न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥

—यजुः सं २३।६५।

व्यक्तियों का आनन्त्य सर्वसम्मत है। अनन्त अभिव्यक्तियाँ, अनन्त व्यक्तियाँ, प्रत्येक व्यक्ति प्रजापति, प्रत्येक प्रजापति वेदमूर्त्ति, अतएव—'अनन्त प्रजापति', और **"अनन्ता वै वेदाः"**। इस व्यक्तिलक्षण, वेदात्मक, प्रजापति के स्वरूपज्ञान के लिए हमें थोड़ी देर के लिए देवयुगकाल से भी पूर्वयुग में अपनी सत्ता रखने वाले साध्ययुग की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना पड़ेगा। साध्ययुग में सृष्टिविद्या के सम्बन्ध में * सदसद्वाद, रजोवाद, व्योमवाद, अहोरात्रवाद, आवरणवाद, देववाद, आदि १२ वाद प्रचलित थे। इन १२ वादों में से सुप्रसिद्ध आवरणवाद ही व्यक्तित्त्वानुगत प्रजापति के स्वरूप का स्पष्टीकरण कर रहा है।

आवरणवाद के अनुसार—**'सर्वमिदं वयुनम्'** ही मुख्य सिद्धान्त है। चेतन, जड़, पशु, पक्षी, देवता, पितर, सूर्य्य, चन्द्रमा, प्रत्येक पदार्थ **'वयुन'** है। वयुन का ही नाम व्यक्ति है। इस वयुनलक्षण व्यक्ति की ही अभिव्यक्ति होती है। अभिव्यक्ति के आलम्बनभूत इस वयुन में **'वय-वयोनाध'** भेद से दो पर्व रहते हैं, जिनका कि वयुनात्मक प्रत्येक पदार्थ में प्रत्यक्ष किया जा सकता है। किसी भी वस्तुपिण्ड को आप अपनी दृष्टि के सामने रख लीजिए। वस्तुपिण्ड में आपको वस्तु का **'आकार'** और आकारविशेष से आकारित **'वस्तु'**, ये दो पर्व उपलब्ध होंगे। अवश्य ही प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई बाह्य आकार हुआ करता है, जिसके आधार पर वस्तुस्वरूप का हमें परिज्ञान हुआ करता है। इसी बाह्य आकार को **'वयोनाध'** कहा जाता है।

---

* इन १२ वादों का वैज्ञानिक विवेचन 'गीताविज्ञानभाष्यभूमिका' तृतीयखण्ड के **'ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा'** प्रकरण में देखना चाहिए।

इस वयोनाधरूप परिच्छेद (सीमाभाव, आकार) से परिच्छिन्न (सीमित, आकारित) जो वस्तुपिण्ड है, वही 'वय' है। जिस प्रकार उदर में अन्न प्रतिष्ठित रहता है, एवमेव यह वस्तुपिण्ड वयोनाध के गर्भ में अन्नवत् प्रतिष्ठित रहता है, अतएव इसे वय (अन्न) कह दिया गया है। यह स्मरण रखना चाहिए कि, वय और अन्नशब्द पर्य्याय नहीं है। आप अन्न को कभी वय नहीं कह सकते। केवल भुक्तिसादृश्य को लेकर ही वय को अन्न मान लिया गया है। इस वय को चारों ओर से सीमित बनाए रखना, चारों ओर से बद्ध रखना बाह्य आकारलक्षण उसी परिच्छेद का काम है, अतएव उसे 'वयोनाध' (वय को बांधने वाला) कहना अन्वर्थ बनता है।

'वयोनाध' से परिच्छिन्न वय (वस्तुपिण्ड) में 'भूत,प्राण' भेद से दो वस्तुतत्त्वों का समावेश रहता है। प्रत्येक भौतिक पिण्ड वय है, प्रत्येक वय में भूत, प्राण, दोनों प्रतिष्ठित हैं। प्राण ही भूतभाग की प्रतिष्ठा बना हुआ है, जो कि प्राणभाग 'शक्ति' नाम से व्यवहृत हुआ है। शक्तिलक्षण प्राण **'रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शून्योऽधामच्छदः-कश्चन तत्त्वविशेषः प्राणः'** लक्षण के अनुसार यद्यपि चर्म्मचक्षु का विषय नहीं बनता, तथापि इसकी सत्ता अवश्य ही स्वीकार करनी पड़ती है। भूतपिण्ड अनेक परमाणुओं (क्षरपरमाणुओं) का संघ है। इस क्षरकूट को एकसूत्र में बद्ध कर पिण्डरूप में परिणत रखने वाला कूटस्थ अक्षरप्राण ही है, जोकि अपने इसी विधरणधर्म्म से **'विधर्त्ता'** नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार दृश्य भूतपिण्ड के अतिरिक्त वयरूप वस्तुपिण्ड में प्राण की सत्ता और मान लेनी पड़ती है। जिस दिन भूतपिण्ड इस प्राण से पृथक् हो जाता है, उस दिन इसके स्वरूप का ही उच्छेद हो जाता है। प्राण ही आदान-विसर्गात्मिका क्रिया के रूप से भूतपिण्ड की रक्षा का कारण बना हुआ है।

प्राण क्रियामय है, क्रिया विना कामना के असम्भव है, कामना विना ज्ञान के असम्भव है, ज्ञान का उक्थ 'मन' है। फलतः प्राण के साथ साथ एक तीसरे मनस्तत्त्व की (ज्ञानमूर्त्ति, श्वोवसीयस् नामक अव्यय-मन की, जो कि जड़-चेतन सब में प्रतिष्ठित है) सत्ता और स्वीकार कर लेनी पड़ती है। मन सर्वालम्बन है, यही आत्मा है, यही उक्थ है, यही अव्यय है। इस पर प्राण **'हित'** है, यही प्राण है, यही अर्क है, यही अक्षर है। इस पर भूतपिण्ड **'उपहित'** है, यही वाक् है, यही अशीति (अन्न) है, यही क्षर है। अशीतिलक्षण वाक्भाग भूतपिण्ड है, यह प्राण का अन्न बना हुआ है, अतएव इसे 'वय' कहना अन्वर्थ बनता है। यही प्राण का अन्न बनता हुआ 'पशुभाग' है। **'यदपश्यत्, तस्मात् पशुः'** (शत०ब्रा० ६।१।१।२।) के अनुसार क्योंकि अन्नरूप यही भूतभाग हमारी दृष्टि का विषय बनता है, अतएव इसे 'पशु' कहना भी अन्वर्थ बनता है। यह पशुरूप वाङ्मय (क्षरमय) भूतपिण्ड प्राणरूप अर्क से बद्ध है, अतएव प्राण को 'पाश' कहना भी अन्वर्थ बनता है। पाशलक्षण प्राण के द्वारा केन्द्रस्थ उक्थलक्षण मन इस पशुलक्षण भूतभाग का भोक्ता बन रहा है, अतएव इसे 'पशुपति' कहना भी अन्वर्थ बनता है। इस प्रकार वयोनाध से सीमित भूत-पिण्डरूप वय में वाङ्मय भूत, प्राण, मन, तीनों भावों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। इसी आधार पर अत्र हम व्यक्तिलक्षण प्रजापति के—**"आत्म-प्राण-पशुसमष्टिः प्रजापतिः"-"मनः-प्राण-वाक्समष्टिः प्रजापतिः"-"उक्थार्काशीतिसमष्टिः प्रजापतिः"**-इत्यादि लक्षण कर सकते हैं। निष्कर्ष यही निकला कि, प्रत्येक पदार्थ में **'पदार्थ'**, और उसका **'आकार'** ये दो पर्व हैं। आकार वयोनाध है, पदार्थ वय है, इस वयोरूप पदार्थ के 'भूत-प्राण-मन' ये तीन पर्व हैं। चारों की समष्टि ही प्रत्येक पदार्थ का व्यक्तित्त्व है, प्रत्येक व्यक्ति एक एक स्वतन्त्र प्रजापति है।

यह स्पष्ट करने की कोई आवश्यकता नहीं है कि, वयोनाध, और वय, दोनों में से 'वय' ही हमारे उपयोग में आया करता है। आकारमात्र से हमारा तबतक कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता, जबतक कि उस आकाराकारित वस्तु के साथ हम अपना सम्बन्ध नहीं जोड़ लेते। **'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति'** के अनुसार वयोनाधसीमित वयोरस की प्राप्ति से ही तृप्तिलक्षण आनन्द का उदय होता है। भावप्राप्ति ही रसप्राप्ति है, रसप्राप्ति ही तृप्ति है, तृप्ति ही शान्ति है, शान्ति ही आत्मलक्षण आनन्द है। तात्पर्य्य कहने का यही हुआ कि, वय-वयोनाध की समष्टि ही 'वस्तु' है। इसी वस्तु को 'वयुन' कहा गया है। **'सर्वमिदं वयुनम्'** के अनुसार प्रत्येक वस्तु वयुनलक्षण है। प्रत्येक वयुन में एक एक वयोनाध है, तीन तीन वय, किंवा त्रिपर्वा एक एक वय है, चारों की समष्टि ही **'सर्वम्'** है--**'चतुष्टयं वा इदं 'सर्वम्'** (शाङ्खायनब्रा० १।२।५) इस अनुगमन का यहाँ भी समन्वय किया जा सकता है।

वय को थोड़ी देर के लिए छोड़ कर वयोनाध पर दृष्टि डालिए। याज्ञिक परिभाषा के अनुसार यही 'छन्द' नाम से व्यवहृत हुआ है। वयोनाध से वस्तुस्वरूप आवृत रहता है, छन्दित रहता है, अतएव इसे 'छन्द' कहना अन्वर्थ बनता है। भूतपिण्ड को वाङ्मय बतलाया गया है। इस वाक् को (वाङ्मय भूतपिण्ड को) एक विशेष परिमाण से युक्त कर देने वाला, वाक् को एक विशेष ढङ्ग से युक्त कर देने वाला वाक् का परिमाण ही छन्द है। अतएव वैज्ञानिकों नें छन्द का-**'वाक्परिमाणं छन्दः'** यह अर्थ किया है। यह वाक्तत्त्व अर्थ, एवं शब्द भेद से दो भागों में विभक्त है। अतएव छन्द भी अर्थछन्द, शब्दछन्द भेद से दो ही भागों में विभक्त हो जाते हैं। गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती, विराट्, पङ्क्ति, अनुष्टुप्, बृहती, उष्णिक्, ककुप्, मा, प्रमा, प्रतिमा, आदि जितने भी वैदिक छन्द हैं, प्रत्येक दो दो भागों में विभक्त है। अर्थात्मक छन्द अर्थरूपा वाक् से सम्बद्ध है, शब्दात्मक छन्द शब्दरूपा मन्त्रवाक् से सम्बद्ध है। दोनों समान धारा से प्रवाहित हैं। यही कारण है कि यथानुरूप शब्दछन्द के प्रयोग से शब्दवाक् पकड़ में आ जाती है, इसके द्वारा अर्थछन्द गृहीत हो जाता है, अर्थछन्द के द्वारा छन्दित प्राणदेवता गृहीत हो जाता है। मन्त्र से कैसे प्राणदेवता आत्मसात् हो जाते हैं ?, जपात् कैसे सिद्धि मिल जाती है ?, इन प्रश्नों का यही मौलिक समाधान है। शब्दछन्द का विचार आगे किया जायगा, पहिले अर्थछन्द का ही समन्वय कीजिए।

मनःप्राणवाङ्मय एक ही प्रजापति अनन्त जातिरूपों में, प्रत्येक 'जाति' अनन्त-व्यक्तिरूपों में, प्रत्येक 'व्यक्ति' अनन्त अवयवरूपों में, प्रत्येक 'अवयव' अनन्त परमाणुरूपों में कैसे परिणत हो गए ?, इसका उत्तर यही छन्द है, यही छन्दोभेद है। पानी पानीरूप से समान था, परन्तु समुद्र, नद, नदी, वापी, कूप, कलश, आदि छन्दोंभेद से एक ही पानी भिन्न भिन्न नाम-रूप-कर्म्मों में परिणत हो रहा है। समुद्रछन्द से छन्दित पानी का रूप भिन्न है, नाम भिन्न है, गुण भिन्न है, कर्म्म भिन्न है। मिट्टी मिट्टी रूप से समान थी, परन्तु पृथिवी, शरीर, घट, उदशराव आदि छन्दों के भेद से इसके अनेक रूप हो गए हैं। ब्रह्मेश्वरप्रजापति एक था, किन्तु स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्र, पृथिवी, नक्षत्र, आदि छन्दों के भेद से उस एक ही के अनन्त रूप हो गए। वही अस्थिमाँसादि। किन्तु आकारलक्षण मनुष्य, पशु-पक्षी भेद से इस एक ही के अनेक रूप बन गए हैं। वही सुवर्ण, किन्तु कटक, कुण्डल, आदि भेद से इस एक ही के अनेक रूप हो गए हैं। वही शरीर, किन्तु हाथ, पैर, उदर, मस्तक, ग्रीवा, स्तन, श्रोत्र, चक्षु, आदि छन्दों के भेद से एक ही के अनेक अवयव हो गए हैं। निदर्शनमात्र है। विश्व में, विश्वपदार्थों में, विश्वव्यक्तियों में जो नाम-रूप-कर्म्म का पार्थक्य उपलब्ध होता है,

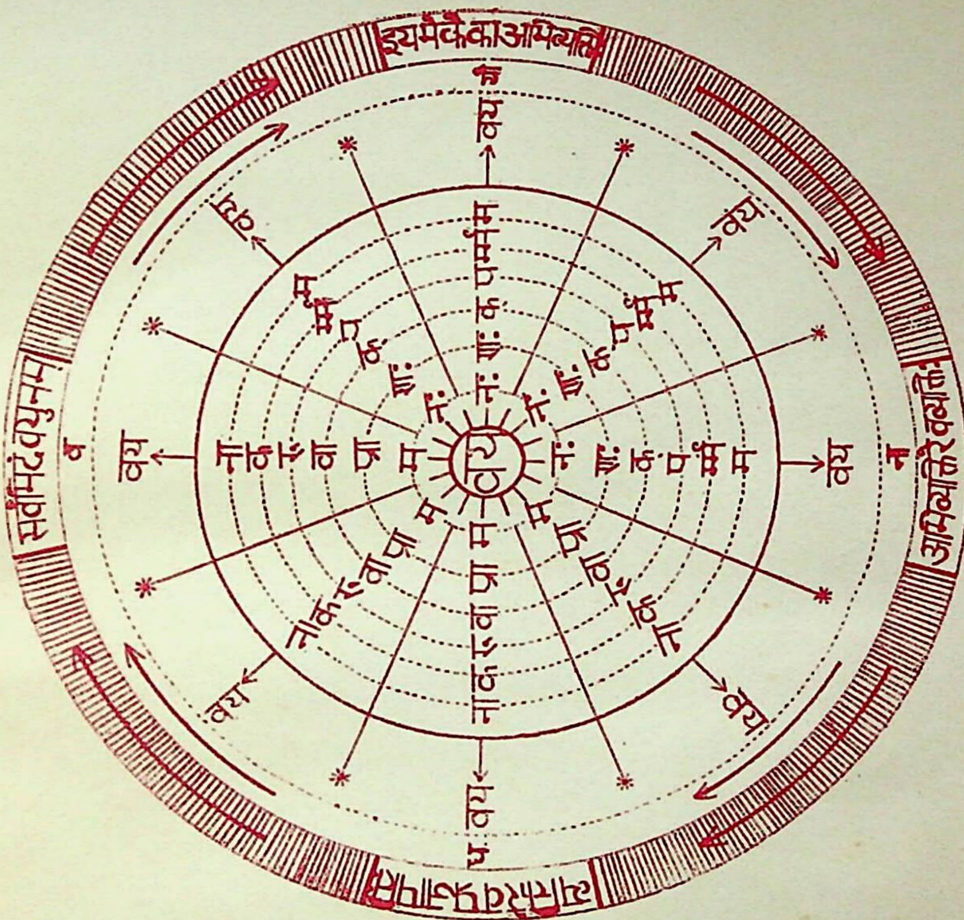
परस्पर भेदप्रतीति हो रही है, उसका एकमात्र कारण छन्दोभेद ही है। सबका अपना अपना निराला छन्द (ढँग) है, अपना अपना निराला आकार है। अपना अपना निराला परिमाण है। और यही परिमाणभाव, साध्य-भाषानुसार आवरणभाव अनन्त सृष्टि के आनन्त्य का मूल है, जिसके कि आधार पर उनका 'आवरणवाद' प्रतिष्ठित हुआ है। जब तक छन्द हैं, तभी तक सृष्टि है, चाहे वह छन्द स्व-छन्द हो, अथवा परछन्द। छन्दः-स्वरूप की आत्यन्तिक निवृत्ति में छन्दित वस्तु अछन्दस्क बनती हुई असीम के गर्भ में विलीन हो जाती है, नाम रूप का परित्याग हो जाता है, और—परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति"। छन्द से छन्दित वस्तु को हमने 'वय' कहा है, एवं इस वय के वाङ्मय दृश्य भूतपिण्ड, प्राण, मन, ये तीन पर्व बतलाए हैं। इन तीनों पर्वों से क्रमशः मन से वस्तुपिण्ड के रूप का (आकाररूप का, एवं कृष्ण-शुक्ल-रक्त-नील-पीत-हरितादि वर्णरूप का) प्राण से कर्म्म का, वाक् से नाम का विकास हुआ है। मनः-प्राण-वाक् की समष्टि 'अस्ति' है, रूप-कर्म्म-नाम की समष्टि अस्तियुक्त दृश्य पिण्ड है। दृश्यपिण्ड मर्त्य है, अस्तिभाव अमृत है। अमृत-मर्त्य की समष्टि ही षट्पर्वा- वस्तुपिण्ड है, एवं इसका स्वरूपरक्षक वही 'छन्द' है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट हो रहा है।

प्रत्येक व्यक्ति 'वयुन', प्रत्येक वयुन में वयोनाध-वय, ये दो पर्व, प्रत्येक वय में मनः-प्राण-वाक्-रूप-कर्म्म-नाम भेद से ६-६ पर्व, षट्पर्वा वय ही वास्तव में रसात्मक पदार्थ, यह वयोनाधरूप छन्द से छन्दित, एवं दोनों की (रस और छन्द की) समष्टि ही प्रजापति, यह पूर्व में स्पष्ट किया गया। इसी सम्बन्ध में इतना और स्पष्ट कर लीजिए कि, नाम-रूप-कर्म्म-तीनों तो मर्त्य हैं, एवं मनः-प्राण वाक्, इन तीनों अमृतरूपों में से तीसरा वाक्तत्त्व अमृत-मर्त्य भेद से दो भागों में विभक्त है। अमृतावाक् चितेनिधेय है, मर्त्यावाक् चित्य है। चित्य, मर्त्य, भूतप्रधाना वाक् से तो स्पृश्य वस्तुपिण्ड का स्वरूपनिर्म्माण होता है, एवं चितेनिधेय, अमृत, प्राणप्रधाना वाक् से दृश्य वस्तुमहिमा का वितान होता है। प्रत्येक वस्तुपिण्ड के केन्द्र से इसके अमृत-वाङ्मय वषट्कारमण्डल के आधार पर उस मनोगर्भित प्राण का बड़ी दूर तक वितान होता है। वही वितान-मण्डल वस्तु का बाह्य रूप कहलाता है। हम इसी का प्रत्यक्ष करते हैं। वस्तुपिण्ड केवल स्पृश्य है, इसे हम छू भर सकते हैं, देख नहीं सकते। वस्तुमहिमामण्डल दृश्य है, इसे हम देख भर सकते हैं, छू नहीं सकते। जिसे छू सकते हैं, उसे देख नहीं सकते, जिसे देख सकते हैं, उसे छू नहीं सकते, जैसा कि पाठक आगे की वेदनिरुक्तियों में देखेंगे। अभी इस सम्बन्ध में केवल यही ज्ञातव्य है कि, वयोनाधलक्षण छन्द से छन्दित वय के ही 'पिण्ड, प्राण' भेद से दो विवर्त्त हो जाते हैं। चित्यवाङ्मय स्पृश्यपिण्ड भूतप्रधान प्राणगर्भित वय है, चितेनिधेय वाङ्मय दृश्य महिमा प्राणप्रधान भूतगर्भित वय है।

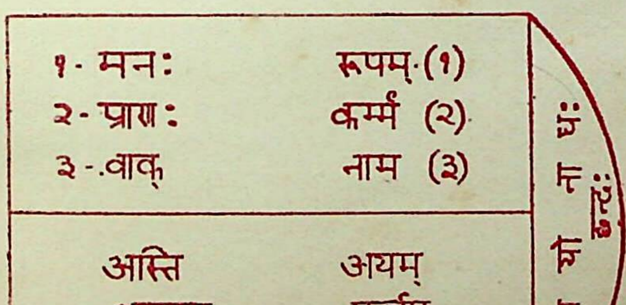
रसरूप वय के चित्य (पिण्ड), चितेनिधेय (महिमा) भेद से तदभिन्न वयोनाधलक्षण छन्द भी दो भागों में विभक्त हो जाता है। पिण्डछन्द 'छन्द' कहलाया है, महिमाछन्द 'वितान' कहलाया है। वितान-रूप-छन्द से वय का महिमाभाग छन्दित रहता है, छन्दोरूप छन्द से वय का पिण्ड भाग छन्दित रहता है। बाह्य आकार को छन्द कहा गया है। यह आकार केवल भातिसिद्ध पदार्थ है। भावात्मक पदार्थ को चारों ओर से सीमित बना देने वाला भातिसिद्ध, अतएव अभावात्मक तत्त्व ही छन्द है। दिक्-देश-काल, ये तीनों भातिसिद्ध पदार्थ हैं। इनसे अवच्छिन्न पदार्थ ही छन्दोयुक्त पदार्थ है। पिण्डलक्षण वय भूतात्मा है, प्राणलक्षण वय प्राणात्मा है, वितानात्मा है। छन्दोलक्षण छन्द पिण्डलक्षण वय का 'पद'

(६०, तथा ६१ के मध्य में)

(१)—अभिव्यक्तिस्वाधारभूत—'वयुन' परिलेखः—



इयमेकैका व्यक्तिरभिव्यक्तिः—प्रजापतिः—वयुनम्



श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, दुर्गापुरा (जयपुर)

है, वितानलक्षण छन्द महिमालक्षण वय का 'पुनःपद' है। छन्दोलक्षण छन्द प्रथम छन्दन है, वितानलक्षण छन्द द्वितीय छन्दन है। छन्दोलक्षण छन्दःसीमा में प्राणमय अन्न (प्राणगर्भित चित्य वाक्पिण्ड) प्रतिष्ठित है, वितानलक्षण छन्दःसीमा में अन्नमय प्राण (चित्यवाक्गर्भित अमृतप्राण) प्रतिष्ठित है।

इस प्रकार वयोनाध, वय भेद से आरम्भ में द्विपर्वा बना हुआ वयुन वयोनाधलक्षण छन्द के छन्द, वितान, रस, भेद से त्रिपर्वा बन जाता है। रसात्मक वय एक पर्व है, छन्दोरूप छन्द एक पर्व है, एवं वितानरूप छन्द एक पर्व है। छन्दोरूप छन्द **'छन्द'** है, वितानरूप छन्द **'वितान'** है, उभयविध छन्दों से छन्दित मर्त्य-अमृतरस-मूर्त्ति वय (वस्तु) 'रस' है। 'छन्द, वितान, रस' तीनों की समष्टि 'वयुन' है। प्रत्येक व्यक्ति एक एक वयुन है, प्रत्येक वयुन एक एक स्वतन्त्र प्रजापति है—**"प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं यदिदं किञ्च"**। वस्तु का क्या स्वरूप है ?, उसमें कितने पर्व हैं ?, यह उक्त व्यक्तिस्वरूपविवेचन से भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है। प्रत्येक वस्तु में अवश्य ही छन्द (पिण्डसीमा), वितान (बहिर्मण्डलसीमा), रस (पिण्ड-मण्डलमध्यवर्त्ती वस्तुतत्त्व), तीन भावों की सत्ता मान लेनी पड़ेगी। तीनों की समष्टि को वयुन कहना पड़ेगा, एवं यही वयुन **'त्रयीवेद'** माना जायगा। व्यक्ति का छन्दोभाग **'ऋग्वेद'** है, वितानभाग **'सामवेद'** है, एवं रसभाग **'यजुर्वेद'** है। वैज्ञानिक परिभाषा में छन्दोमय ऋग्वेद को **'उक्थ'** कहा जाता है, वितानलक्षण सामवेद को **'आर्चिक'** कहा जाता है, एवं रसात्मक यजुर्वेद को **'ब्रह्म'** कहा जाता है। वस्तुगत छन्द ही उक्थलक्षण **'ऋक्'** है, वस्तुसम्बन्धी वितान ही आर्चिकलक्षण, किंवा सामलक्षण **'साम'** है, एवं वस्तुगत रस ही ब्रह्मलक्षण 'यजुः' है, जिनका कि मौलिक रहस्य आगे जाकर स्पष्ट होने वाला है। त्रयीवेदसमष्टि ही वयुन है, वयुन ही व्यक्ति है। व्यक्ति अनन्त, अतएव वेद भी अनन्त। अनन्त की इस अनन्त वेदमहिमा के स्वरूपज्ञान के लिए अब हमें अन्य दृष्टिकोण से विचार करना चाहिए।

छन्दः—{ ऋक्—{ **उक्थम्** }
वितानम्—{ साम—{ **आर्चिकम्** } —{ **वयोनाधौ** }
रसः—{ यजुः—{ **ब्रह्म** } —{ **वयः** } —{ **सर्वमिदं वयुनम्**

—*—

१७–आत्ममहिमालक्षण द्विविध वेद—

व्यष्टिलक्षण प्राजापत्यवेद का स्पष्टीकरण करते हुए यह बतलाया गया है कि, वयोनाधलक्षण छन्द से छन्दित पिण्डात्मक वय छन्द का 'पद' है, एवं महिमात्मक वय छन्द का पुनःपद है। अब एक दूसरी दृष्टि से पद-पुनःपद-भावों का विचार कीजिए। ज्योतिर्मय पदार्थ का यह स्वभाव है कि, वह सदा अपनी महिमा के केन्द्र में ही प्रतिष्ठित रहता है। उदाहरण के लिए ज्योतिर्मय सूर्य्य-चन्द्रमा को ही लीजिए। सूर्य्य स्वज्योतिर्म्मय वस्तुपिण्ड है, चन्द्रमा परज्योतिर्म्मय वस्तुपिण्ड है। सूर्य्य की ज्योति अपनी प्रातिस्विक ज्योति है, एवं चन्द्रमा की ज्योति सूर्य्यज्योति है। **'इत्था चन्द्रमसो गृहे'** (ऋक्सं० १।८४।१५।) के अनुसार सौररश्मियों ने ही

चन्द्रपिण्ड को ज्योतिर्म्मय बना रक्खा है। सूर्य्यपिण्ड के केन्द्र से निकल कर रश्मियाँ बडी दूर तक व्याप्त हैं, इसी प्रकार चन्द्रपिण्ड भी चन्द्रिका से नित्य युक्त है। सौरज्योतिर्म्मण्डल सूर्य्य का महिमामण्डल है, इसके केन्द्र में सूर्य्य प्रतिष्ठित है। चान्द्रज्योतिर्म्मण्डल चन्द्रमा का महिमामण्डल है, इसके केन्द्र में चन्द्रमा प्रतिष्ठित है। यही महिमामण्डल **'पुनःपद' 'विश्वरूप' 'बहिःपृष्ठ' 'बहिर्म्मण्डल'** इत्यादि अनेक नामों से व्यवहृत हुआ है। स्वयं सूर्य्य-चन्द्रपिण्ड 'पद' है, यही **'अन्तःपृष्ठ' 'आभ्यन्तरमण्डल'** इत्यादि नामों से व्यवहृत हुआ है, यही आत्मा की अन्तर्म्महिमा है। सूर्य्य-चन्द्र के केन्द्र में रहने वाला उक्थलक्षण हृद्य प्रजापति ही आत्मा है। इस आत्मा की प्रतिष्ठाभूमि (सञ्चारभूमि, व्याप्तिभूमि, विकासभूमि) ही 'महिमा' है। यहीं आत्मा प्रपन्न रहता है, अतएव इसे 'पद' कहना अन्वर्थ बनता है। आत्मा ज्ञानज्योतिर्घन है, ज्ञानज्योति ही 'ज्योतिषां ज्योतिः' है। क्योंकि सर्वत्र सब में इस ज्योतिर्घन आत्मा की व्याप्ति है, अतएव (आत्मदृष्टि से) सभी पदार्थ ज्योतिर्म्मय हैं। ज्योतिर्भाव के कारण सभी **'आत्मा, आत्ममहिमा'** भेद से दो दो भागों में विभक्त हैं। आत्मा एकाकी है, यही मूलस्तम्भ है। आत्ममहिमा आत्मा की अशीति है, शरीर है। और महिमालक्षण यह शरीर अन्तःशरीर (पिण्ड) बहिःशरीर भेद से दो भागों में विभक्त है। अन्तःशरीर इसी हृद्य आत्मा का 'पद' है, बहिःशरीर इसी हृद्य आत्मा का 'पुनःपद' है। 'आत्मा, पद, पुनःपद' तीनों की समष्टि ही प्रत्येक पदार्थ का स्वरूपलक्षण है।

१—आत्मा—हृद्यभावः प्रजापतिः]--आत्मा

२--पदम्---अन्तःशरीरम } **--आत्ममहिमानौ**
३--पुनःपदम्-बहिःशरीरम् }

मनःप्राणगर्भिता सत्या स्वायम्भुवी वाक् के विवर्त्त भावों का ही नाम वेद है, जैसाकि—**"अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा"** इत्यादि स्मृति से स्पष्ट है। वाग्विवर्त्तलक्षण ये ही वेद आत्मा की महिमा हैं। क्योंकि आत्मा त्रितन्त्र है, अतएव तन्महिमारूप आत्मवेद भी त्रिसंस्थ बन जाता है। हृदयस्थ प्रजापति आत्मा है, और यह मनः, प्राण, वाङ्मय बतलाया गया है। मन ज्ञानतन्त्र है, प्राण क्रियातन्त्र है, वाक् अर्थतन्त्र है। ज्ञानतन्त्रावच्छिन्न वही आत्मा विद्यात्मा है, ज्ञानात्मा है। क्रियातन्त्रावच्छिन्न वही आत्मा कर्म्मात्मा है। एवं अर्थतन्त्रावच्छिन्न वही आत्मा भूतात्मा है। ज्ञानात्मा मनोमय है, इस के आनन्द, विज्ञान, अन्तर्म्मन, ये तीन पर्व हैं। कर्म्मात्मा प्राणमय है, इसके बहिर्म्मन, प्राण, वाक्, ये तीन पर्व हैं। एवं भूतात्मा वाङ्मय है, इसके वाक्, आपः, अग्निः, ये तीन पर्व हैं। आनन्द-विज्ञान-अन्तर्म्मनोमय ज्ञानात्मा **'अमृतम्'** है, बहिर्म्मन-प्राण-वाङ्मय कर्म्मात्मा-**'ब्रह्म'** है, एवं वाक्-आपः-अग्निमय भूतात्मा **'शुक्रम्'** है। तदेव **'अमृतं'** है, तदेव **'ब्रह्म'** है, तदेव **'शुक्रं'** है। 'अमृतं' अव्ययप्रधान आत्मा है, यही गूढोऽत्मा है। 'ब्रह्म' अक्षरप्रधान आत्मा है, यही कूटस्थ है, 'क्षर' क्षरप्रधान आत्मा है, यही 'कूट' है। गूढोत्मा, कूटस्थ, कूट-समष्टिलक्षण, मनः-प्राण-वाङ्मय आत्मा ही प्रजापति है। मनः प्राणवाङ्मय इत्थंभूत प्रजापति का वाक् भाग ही वेद-विवर्त्त है।

क्योंकि महिमालक्षण वेद प्राजापत्य है, प्रजापति त्रितन्त्र है, अतएव वेद भी त्रिसंस्थ ही बन जाता है। ज्ञानतन्त्रमय अमृतात्मा का वेदविवर्त्त मनोमय बनता हुआ ज्ञानप्रधान है। क्रियातन्त्रमय ब्रह्मात्मा का वेदविवर्त्त

प्राणमय बनता हुआ क्रियाप्रधान है। एवं अर्थतन्त्रमय शुक्रात्मा का वेदविवर्त्त वाङ्मय बनता हुआ अर्थप्रधान है। मनोमय ज्ञानप्रधान अमृतवेद अमृतात्मा के मानसभावों के द्वारा **'विज्ञानविकास'** का कारण बनता है, प्राणमय क्रियाप्रधान ब्रह्मवेद ब्रह्मात्मा के प्राणभावों से **'यज्ञप्रवृत्ति'** का कारण बनता है, एवं वाङ्मय अर्थ-प्रधान शुक्रवेद शुक्रात्मा के वाक्-मण्डल के आधार पर वाङ्मय सम्पूर्ण आकाश में व्याप्त होता हुआ वाक्द्वारा **'प्रजासृष्टि'** का कारण बनता है।

प्रत्येक वस्तु में **'विज्ञान-यज्ञ-प्रजा'** तीनों भाव प्रतिष्ठित हैं। स्थूल पिण्डभाग ही प्रजा है, आदानविसर्गात्मिका क्रिया ही यज्ञ है। यज्ञाधारभूत चिदात्मा ही विज्ञान है। जब तक चिदात्मा है, तब तक यज्ञ है, जब तक यज्ञ है, तब तक प्रजा है। जब तक वेदमहिमा है, तभी तक चिदात्मलक्षण ज्ञान, यज्ञ, प्रजा का सञ्चार है। वेद ही तीनों की प्रतिष्ठा है। महिमा ही वस्तुस्वरूपरक्षा का कारण है। और यह वेद ही आत्ममहिमा बनता हुआ आत्म-स्वरूपरक्षा का कारण बन रहा है। निम्नलिखित परिलेख इसी महिमावेद का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

(क)
- १—आनन्दः, २—विज्ञानम्, ३—अन्तर्म्मनः } —मनः—ज्ञानतन्त्रम्—मनोमयो ज्ञानात्मा
- १—बहिर्म्मनः, २—प्राणः, ३—वाक् } —प्राणः—क्रियातन्त्रम्—प्राणमयः कर्म्मात्मा
- १—वाक्, २—आपः, ३—अग्निः } —वाक्—अर्थतन्त्रम्—वाङ्मयो भूतात्मा

} स एष मनः प्राणवाङ्मयखिततः प्रजापतिः— "आत्मा"

(ख)
- १—आनन्दः, २—विज्ञानम्, ३—अन्तर्म्मनः } —मनस्तन्त्रम्—अमृतम् (अमृतत्रयी)—गूढोऽत्मा—अव्ययः (ज्ञानात्मा)।
- १—बहिर्म्मनः, २—प्राणः, ३—वाक् } —प्राणतन्त्रम्—ब्रह्म (ब्रह्मत्रयी)—कूटस्थोऽक्षरः (कर्म्मात्मा)
- १—वाक्, २—आपः, ३—अग्निः } —वाक्तन्त्रम्—शुक्रम् (शुक्रत्रयी)—कूटात्मकः क्षरः (भूतात्मा)

(ग)—१—ज्ञानात्मा-मनोमयो वेदः, ज्ञानप्रधानः—आत्ममहिमा
२—कर्म्मात्मा—प्राणमयो वेदः, क्रियाप्रधानः—आत्ममहिमा
३—भूतात्मा—वाङ्मयो वेदः, अर्थप्रधानः—आत्ममहिमा
—स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितोऽयं प्रजापतिरात्मा त्रितन्त्रः

*

(घ)- १—अमृतमहिमालक्षणो ज्ञानवेदः (अमृतवेदः)—मनसा ज्ञानं जनयति ।
२—ब्रह्ममहिमालक्षणः कर्म्मवेदः (ब्रह्मवेदः)—प्राणेन यज्ञं प्रवर्त्तयति ।
३—शुक्रमहिमालक्षणो भूतवेदः (शुक्रवेदः)—वाचा प्रजोत्पादनकर्म्म विधत्ते ।
“सर्व-वेदान” प्रसिद्धगाहिः

पृथिव्यादि पञ्चमहाभूतों की समष्टि ही 'अर्थ' प्रपञ्च है । अर्थ की मूलप्रतिष्ठा शुक्रमहिमालक्षण, वाङ्मय वह भूतवेद है, जिसकी कि पूर्व में आकाश में व्याप्ति बतलाई गई है । वेद आकाश में व्याप्त है, यह अमृताकाश की दृष्टि से कहा जा सकता है । एवं वेद ही आकाश है, यह मर्त्याकाश की दृष्टि से कहा जा सकता है । मर्त्याकाश ही शुक्रवाक् है, यही वाङ्मय भूतवेद है । यही वागाकाशरूप वेद पाँचों भूतों की योनि है । वेदवाक् का ही पहिला रूप **शब्दतन्मात्रा** है, तदवच्छिन्न मण्डल ही मर्त्याकाश नामक 'आकाश' भूत है । दूसरा रूप **स्पर्शतन्मात्रा** है, यही भूतवायु की प्रतिष्ठा है । तीसरा रूप **रूपतन्मात्रा** है, यही भूताग्नि (तेज) का प्रवर्त्तक है । चौथा रूप **रसतन्मात्रा** है, यही भूतजल की योनि है । पाँचवा रूप गन्धतन्मात्रा है, यही भूतपृथिवी की जननी है । इस प्रकार शब्दतन्मात्रालक्षण, आकाशात्मक, वाङ्मय शुक्रवेद ही पञ्चतन्मात्राओं के द्वारा पञ्चपर्वा विश्व का उत्पादक बन रहा है, जैसा कि निम्नलिखित स्मृतिवचन से स्पष्ट है—

शब्दः, स्पर्शश्च, रूपं च, रसो, गन्धश्च पञ्चमः ।
वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूति-गुणकर्म्मतः ॥

—मनुः १२।९८ ।

१—शब्दतन्मात्रा—ततः-आकाशः (आकाशात्मा स्वयम्भूः)
२—स्पर्शतन्मात्रा—ततः-वायुः (वाय्वात्मा परमेष्ठी)
३—रूपतन्मात्रा—ततः-तेजः (तेजोमयः सूर्य्यः)
४—रसतन्मात्रा—ततः-जलम् (जलात्मा चन्द्रमाः)
५—गन्धतन्मात्रा-ततः-पृथिवी (मृण्मयी पृथिवी)
—सोऽयं शुक्रवेदविकासः

*

अर्थयोनिर्लक्षण वाग्रूप आकाश के वैज्ञानिकों की दृष्टि में तीन प्रधान पर्व हैं। वे तीनों पर्व क्रमशः **'परमाकाश, पुराणाकाश, भूताकाश'** नामों से प्रसिद्ध हैं। **'परमे व्योमन्'** नाम से प्रसिद्ध, चर-अचर का एकमात्र आवपनरूप, अतएव **'खं ब्रह्म'** नाम से व्यवहृत, असीम, अनन्ताकाश ही पहिला **'परमाकाश'** है। अनन्तवेद के अविज्ञेय इतिवृत्त का दिग्दर्शन कराते हुए अनन्तमायाबलयुक्त जिस अनन्त परात्पर परमेश्वर की स्तुति की गई थी, वह इसी परमाकाश से सम्बन्ध रखता है। अनन्त परमेश्वर ही परमाकाश-स्वरूप है, जो कि अपने असीमलक्षण आनन्त्य से परात्पर की भाँति सर्वथा अविज्ञेय ही है। **'नेति, नेति'** ही इसकी उपनिषत् है। **अनन्त परात्पर, अनन्तवेद, अनन्त परमाकाश,** तीनों एक ही वस्तुतत्त्व हैं। तीनों हीं अविज्ञेय हैं।

दूसरा पुराणाकाश दुर्विज्ञेय मायी महेश्वर से सम्बन्ध रखता है। जिस मायी महेश्वर का दुर्विज्ञेय वेदेतिवृत्तप्रकरण में सहस्रवल्शात्मक अश्वत्थवृक्ष रूप से यशोगान हुआ है, उस मायी महेश्वर का स्वरूप इसी पुराणाकाश पर प्रतिष्ठित है। पुराणाकाश के अनुग्रह से ही वह आकाशात्मा **'पुराणपुरुष'** कहलाया है। मायी महेश्वर में प्रतिष्ठित, मायामण्डल में परितः व्याप्त, मायादृष्ट्या सर्वव्यापक, किन्तु मायोपाधिक त्रयीवेद-सम्बन्धी यजुःप्राणलक्षण इन्द्रात्मक वेदमूर्त्ति यही सीमित आकाश पुराणाकाश है। इन्द्रसम्बन्ध से ही इसे **'इन्द्राकाश'** भी कहा जा सकता है। इन्द्रात्मक यही पुराणाकाश, दूसरे शब्दों में पुराणाकाशात्मक यही सर्वव्यापक इन्द्र ऋग्वेद में-**'शुन'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जैसाकि-**'शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रम्'** (ऋक्सं० ३।३०।२२।) इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। **"नेन्द्राद्ऋते पवते धाम किञ्चन"** (ऋक्सं० ६।६६।६) के अनुसार इस शुन, आकाशात्मक इन्द्र से कोई स्थान वञ्चित नहीं है। अपनी इन्द्रशचि (इन्द्रशक्ति) के द्वारा यह प्राणप्रद (बलप्रद, ओजप्रद, स्फूर्त्तिप्रद) इन्द्रदेवता सर्वत्र एकरूप से व्याप्त है। इसी शुन इन्द्र की व्याप्ति से महामहिम यह अन्तरिक्ष **'शून्य'** कहलाया है। शून्य का अर्थ रिक्त स्थान (खाली जगँह) समझना विज्ञान दृष्टि से नितान्त अशुद्ध है। रिक्त स्थान सर्वथा खपुष्प है। 'शून्यं' का तात्पर्य्य है, जहाँ और कोई पदार्थ नहीं रहता, वहाँ भी शुन नामक व्यापक इन्द्र अवश्य रहता है। **'शुने-इन्द्राय-हितम्'** ही शून्य शब्द का निर्वचन है। प्रकृत में वक्तव्य यही है कि सहस्रवल्शेश्वर महामायावच्छिन्न दुर्विज्ञेय महेश्वर, उसका सहस्र-पर्णात्मक दुर्विज्ञेय वेदतत्त्व, एवं सहस्रोपाधियुक्त यजुरिन्द्रात्मक इन्द्राकाश, तीनों एक ही वस्तुतत्त्व हैं, एवं तीनों हीं दुर्विज्ञेय हैं।

तीसरा भूताकाश विज्ञेय योगमायी ईश्वर से सम्बन्ध रखता है। पञ्चपुण्डीरा प्राजापत्यवल्शा का एकाकी अध्यक्ष, वल्शेश्वर प्रजापति ही ईश्वर है। इसका वाङ्मय (मर्त्याकाशमय) वेद शब्दतन्मात्रा के द्वारा पृथक्-पृथक् संस्थाविभागों का कारण बनता है, जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। शब्दतन्मात्रा के सम्बन्ध से ही इस वेद को **'शब्दवेद'** भी कहा गया है। पुराणाकाशलक्षण महेश्वरवेद, एवं परमाकाशलक्षण परमे-श्वरवेद, दोनों संस्थाविभाग मर्य्यादा से बहिर्भूत हैं। संस्थाविभाग तो इस भूताकाशलक्षण, शब्दगुणक, ईश्वरवेद से ही हुआ है, जैसाकि राजर्षि कहते हैं--

सर्वेषां तु स नामानि कर्म्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्म्ममे ॥

—मनुः १।२१।

परमाकाशलक्षण परमेश्वर के गर्भ में पुराणाकाशलक्षण महेश्वर प्रतिष्ठित है, पुराणकाशलक्षण महेश्वर के गर्भ में भूताकाशलक्षण ईश्वर प्रतिष्ठित है। ईश्वर के गर्भ में प्रजावर्ग प्रतिष्ठित है। चारों का परस्पर दहरोत्तरलक्षण, वसुधानकोशात्मक, अन्तरान्तरीभाव सम्बन्ध है। हमारी अध्यात्मसंस्था में भी तीनों आकाश ज्यों के त्यों प्रतिष्ठित हैं। भूतात्मा शरीराकाश से परिच्छिन्न है, अन्तरात्मा हृदयाकाश से परिच्छिन्न है, परात्मा दहराकाश (दभ्राकाश) से परिच्छिन्न है। परमाकाश ही दहराकाश है, पुराणाकाश ही हृदयाकाश है, भूताकाश ही शरीराकाश है। कहने को शरीराकाश के भीतर हृदयाकाश है, सर्वान्तरतम दहराकाश है। परन्तु यह 'भीतर' भाव केवल 'सूक्ष्मभाव' का ही ज्ञापक है। शरीराकाश स्थूल, इससे सूक्ष्म किन्तु विशाल हृदयाकाश, सर्वसूक्ष्म, सर्वविशाल दहराकाश।

परमाकाश का ज्ञानात्मा से सम्बन्ध माना जा सकता है, पुराणाकाश का कर्म्मात्मा से सम्बन्ध माना जा सकता है, एवं भूताकाश का भूतात्मा से सम्बन्ध माना जा सकता है। ज्ञानात्मा परमेश्वर है, कर्मात्मा महेश्वर है, भूतात्मा ईश्वर है, यही उपनिषदों में **'सर्वभूतान्तरात्मा'** नाम से व्यवहृत हुआ है। परमाकाशलक्षण ज्ञानवेद परमेश्वरलक्षण ज्ञानात्मा का **'विज्ञानवेद'** है। पुराणाकाशलक्षण कर्म्मवेद महेश्वरलक्षण कर्म्मात्मा का **'यज्ञवेद'** है। एवं भूताकाशलक्षण अर्थवेद ईश्वरलक्षण सर्वभूतान्तरात्मा का 'प्रजावेद' है! यही आकाश-लक्षण वेद का पूर्वोक्त आत्मविवर्त्तों के साथ दूसरा दृष्टि–समन्वय है।

१–आनन्दः २–विज्ञानम् ३–मनः	परमाकाशात्मा–परमेश्वरः–ज्ञानात्मा मनोमयः, अनन्तवेदाधिष्ठाता।
१–मनः २–प्राणः ३–वाक्	पुराणाकाशात्मा–महेश्वरः–कर्म्मात्मा प्राणमयः, दिव्यवेदाधिष्ठाता।
१–वाक् २–आपः ३–अग्निः	भूताकाशात्मा–ईश्वरः–भूतात्मा वाङ्मयः, गायत्रीमात्रिकवेदाधिष्ठाता।

१–परमाकाशः (दहराकाशः)–तन्मयोऽनन्तवेदः–पारमेश्वरः।
२–पुराणाकाशः (हृदयाकाशः)–तन्मयो दिव्यवेदः–माहेश्वरः।
३–भूताकाशः (शरीराकाशः)–तन्मयो भूतवेदः–ऐश्वरः।

१–प्राणवाग्गर्भितो मनोमयवेदः—अनन्तवेदो ज्ञानात्ममहिमा (मनःप्राणवाङ्मयः)।

२–मनोवाग्गर्भितः प्राणमयवेदः—दिव्यवेदः कर्म्मात्ममहिमा (मनःप्राणवाङ्मयः)।

३–मनःप्राणगर्भितो वाङ्मयवेदः—भूतवेदो भूतात्ममहिमा (मनःप्राणवाङ्मयः)।

परब्रह्मविवर्त्त से सम्बन्ध रखने वाले, परब्रह्म की महिमारूप इन तीनों वेदविवर्त्तों के दो विभाग बतलाना ही प्रकृत परिच्छेद का मुख्य उद्देश्य है। एवं वे दोनों विभाग क्रमशः *'परब्रह्मवेद, शब्दब्रह्मवेद' नामों से प्रसिद्ध है। जिन तीन वेदविवर्त्तों का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, विज्ञान–यज्ञ–प्रजात्मक उन तीनों वेदों की समष्टि ही महिमालक्षण 'परब्रह्मवेद' है। इस परब्रह्मवेद का, जोकि आत्मरूप है, ईश्वररूप है, प्रतिपादन करने वाला शब्दराशिरूप शब्दग्रन्थ ही 'शब्दब्रह्मवेद' है। परब्रह्मवेद उसी आत्मा की अन्तर्महिमा है, शब्दब्रह्मवेद (वेदशास्त्र) उसी आत्मा की बहिर्म्महिमा है, जैसा कि–**'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'** इत्यादि कठश्रुति से प्रमाणित है।

परमाकाश का यद्यपि परात्पर से सम्बन्ध है, परात्पर असीम है, विश्वातीत है। इधर पूर्व में आत्मा के जिन तीन तन्त्रों का दिग्दर्शन कराया गया है, वे तीनों हीं महामाया, योगमाया–सीमा से सम्बन्ध रखते हुए विश्वचर हैं। ऐसी परिस्थिति में आनन्द–विज्ञान–मनोमय ज्ञानात्मा के साथ परमाकाशलक्षण अनन्तवेद का सम्बन्ध बतलाना यद्यपि समीचीन प्रतीत नहीं होता। तथापि मनस्तन्त्रात्मक यह ज्ञानात्मा (अव्ययात्मा), और तन्त्रातीत वह परमेश्वर, दोनों अभिन्न हैं, अतएव **'परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम'** इत्यादि श्रुतियाँ इस अव्यय–लक्षण ज्ञानात्मा की (सच्चिदानन्दघन ब्रह्म की) उस विश्वातीत परात्पर के साथ अभिन्नता बतला रही है। एकमात्र इसी आधार पर हमने ज्ञानात्मा को परमाकाशलक्षण मानते हुए परमाकाशलक्षण ज्ञानवेद का इसके साथ सम्बन्ध मान लिया है।

जैसा कि पूर्व में कहा गया है, वाक् और आकाश, दोनों तादात्म्यभावापन्न हैं, अविनाभूत हैं। वाङ्मयवेद, वाङ्मय आकाश, वस्तुगत्या दोनों एक वस्तुतत्त्व है। क्योंकि आकाश तीन हैं, अतएव तद्रूप वाङ्मयवेद के भी तीन ही विवर्त्त हो जाते हैं। परमाकाशलक्षण 'परमेश्वर' नामक ज्ञानात्मा की महिमा परमाकाशलक्षण ज्ञानवेद है, और यह 'अनन्त' है, अतएव इसे हम **'अनन्तवेद'** नाम से व्यवहृत करेंगे। पुराणाकाशलक्षण 'महेश्वर' नामक कर्म्मात्मा की महिमा इन्द्राकाशलक्षण कर्म्मवेद है, एवं यह सहस्र-पर्णात्मक 'दिव्यवेद' है। यह अमृतधर्म्म से, देवभावविकास का मूलप्रवर्त्तक होने से 'अपौरुषेय है, इसे ही 'ब्रह्मनिःश्वसित' कहा जाता है। सूर्य्य से ऊपर इस वेद की प्रधानता है। भूताकाशलक्षण 'ईश्वर' नामक सर्वभूतान्तरात्मा की महिमा भूताकाशलक्षण अर्थवेद है, एकवल्शात्मक यही पौरुषेय **'गायत्रीमात्रिक'** वेद है। इस प्रकार अनन्त, दिव्य, गायत्रीमात्रिकरूप, परमाकाश–पुराणकाश–भूताकाशलक्षण, मनोमय–प्राणमय–

*** द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।**
शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

वाङ्मय, विज्ञानात्मक–यज्ञप्रवर्त्तक–प्रजाप्रवर्त्तक, इन तीनों वेदों को हम अवश्य ही आत्मा की महिमा कह सकते हैं। इन्हीं तीनों महिमावेदों का पूर्व के–अनन्तवेद का अविज्ञेय इतिवृत्त, अनन्तवेद का दुर्विज्ञेय इतिवृत्त, अनन्तवेद का विज्ञेय इतिवृत्त, इन तीन परिच्छेदों में क्रमशः निरूपण हुआ है। प्रकृत में इस उक्त की पुनरुक्ति का केवल यही तात्पर्य्य है कि, मनःप्राणवाङ्मय आत्मा की महिमालक्षण ये तीनों वेद भी मनःप्राणवाङ्मय ही हैं। अनन्तवेद प्राणवाग्गर्भित मनोमय है, दिव्यवेद मनोवाग्गर्भित प्राणमय है, एवं गायत्रीमात्रिकवेद मनःप्राणगर्भित वाङ्मय है। इसी तीसरे वेदविवर्त्त को लक्ष्य में रखकर कहा गया है–'वाग्विवृताश्च वेदाः'।

'शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति' का रहस्य यही है कि–परब्रह्मवेद, शब्दब्रह्मवेद, दोनों एक ही आत्मवाक् के विभिन्न दो विवर्त्त हैं। मनःप्राणवाङ्मय परब्रह्म का तीसरा वाक् भाग अर्थ, शब्द–भेद से दो भागों में विभक्त है। **'तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्'** (शत० १०।५।१।१) इस रहस्य–श्रुति के अनुसार यह आत्मवाक् अग्नि (ब्रह्माग्नि) रूप है। इस अग्निलक्षणा वाक् से ही तो परब्रह्मलक्षण–अर्थवेद का विकास हुआ है, एवं इसी से शब्दब्रह्मलक्षण शब्दवेद का विकास होता है। अग्नि के ही 'अग्नि, शब्द' ये दो रूप हैं। आग्नेय वाग्विवर्त्त विज्ञानवेद है, यही परब्रह्मवेद है, यही वैज्ञानिक नित्यवेद है, यही नित्य कूटस्थ अपौरुषेयवेद है। शाब्दिक वाग्विवर्त्त शब्दवेद है, यही शब्दब्रह्मवेद है, यही वेदशास्त्र है। आग्नेय वेद अपौरुषेय है, वेदशास्त्र पौरुषेय है। इस प्रकार अर्थ–शब्द भेद से उस आत्मा की वाक्–महिमा दो भागों में विभक्त होकर द्विविधवेद की अधिष्ठात्री बन रही है।

स्वयं आत्मा आत्मा है, विज्ञानवेद, शास्त्रवेद, दोनों आत्ममहिमा हैं। आत्ममहिमालक्षणा यह वेद–द्वयी आत्मा का शरीर है। विज्ञानवेद इसी आत्मा का सूक्ष्म–शरीर है, सूक्ष्ममहिमा है, अन्तर्महिमा है। शास्त्र-वेद इसी आत्मा का स्थूलशरीर है, स्थूलमहिमा है, बहिर्म्महिमा है। स्थूलशरीरवत् तत्सम शास्त्रवेद अनित्य है, कृतक है, पौरुषेय है, युग–युग के अन्त में उत्पन्न होने वाला है। सूक्ष्मशरीरवत् तत्सम विज्ञानवेद नित्य है, अकृतक है, अपौरुषेय है। अपौरुषेयवेद ही पौरुषेयवेद की प्रतिष्ठा है। परब्रह्म ही शब्दब्रह्म का आलम्बन है। यही कारण है कि जो पर्वविभाग विज्ञानात्मक उस अपौरुषेयवेद के हैं, ठीक वे ही, उतने ही शाखाविभाग शब्दात्मक इस पौरुषेयवेद के हैं, जैसाकि आगे के प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। अब इस सम्बन्ध में यही कहते हुए हमें प्रकृत परिच्छेद का उपसंहार कर देना है कि, मनःप्राण-वाङ्मय आत्मा की वाक्–महिमा के अर्थ–शब्द भेद से वेद भी अर्थ–शब्द भेद से दो भागों में विभक्त हो रहा है। यही आत्ममहिमा–लक्षण द्विविधवेद का संक्षिप्त निदर्शन है।

१८–वेदविद्या के संस्थाविभाग—

वेदविद्या परब्रह्मलक्षण नित्य विज्ञानवेद, एवं शब्दब्रह्मलक्षण शब्दवेद, भेद से दो भागों में विभक्त है, यह पूर्वपरिच्छेद में स्पष्ट किया जा चुका है। इसी विद्या–भेद से वेदमन्त्र भी दो ही भागों में विभक्त मानने पड़ेंगे। विज्ञानात्मक मन्त्रों का एक विभाग है, तत्प्रतिपादक शब्दात्मक मन्त्रों का एक विभाग है। विज्ञानात्मक मन्त्र तत्त्वात्मक हैं, एवं शब्दात्मक मन्त्र तत्त्वात्मक मन्त्रों के रहस्यप्रतिपादक हैं। **'ऋषिर्वेदमन्त्रः'** के अनुसार मनोवाग्गर्भित स्वयं प्राणात्मक ऋषि ही तत्त्वरूप वेदमन्त्र है। अग्नितत्त्व

ही वेदतत्त्व है। अग्नितत्त्व क्योंकि अवस्थात्रयी से अग्नि, वायु, इन्द्र, भेद से तीन भागों में विभक्त है। अतएव तत्त्वात्मक ये मन्त्र भी ऋक्-यजुः-साम भेद से तीन भागों में विभक्त हैं। इन तीनों तत्त्वात्मक मन्त्रों का प्रतिपादन करने वालीं जिन मन्त्रसंहिताओं में जो ऋक्-यजुः-साम-मन्त्र पठित हैं, वे शब्दात्मक मन्त्र हैं। शब्दात्मक मन्त्र सर्वसाधारण में प्रसिद्ध हैं, तत्प्रतिपादित तत्त्वात्मक मन्त्रों का दिग्दर्शन निम्नलिखित शब्दात्मक मन्त्र कर रहा है—

"रूपं रूपं मघवा बोभवीति मायाः कृण्वानस्तंन्वं परि स्वाम्।
त्रिर्यद्दिवः परिमुहूर्त्तमागात् स्वैर्म्मन्त्रैरनृतुपा ऋतावा"।

—ऋक्सं० ३।५३।८।

आधिदैविक जगत् में इन्द्रतत्त्व क्या काम करता है?, आध्यात्मिक जगत् में क्या विशेषता उत्पन्न करता है?, आधिभौतिक जगत् में क्या अतिशय उत्पन्न करता है?, एवं वैधयज्ञ में इसका क्या उपयोग है?, प्रकृत ऋङ्-मन्त्र इन चारों प्रश्नों का समाधान करता हुआ इन्द्रस्वरूप का ही स्पष्टीकरण कर रहा है। अपनी आस्तिक-निष्ठा को सुरक्षित रखने के लिए पहिले पाठकों को सर्वश्री सायणसम्मत अर्थ पर ही दृष्टि डाल लेनी चाहिए।

"मघवा धनवानिन्द्रः रूपं रूपं यद्यद्रूपं कामयते तत्तद्रूपं बोभवीति तत्तद्रूपात्मको भवति तत्र कारणमुच्यते—मायाः अनेकरूपग्रहणसामर्थ्योपेताः कृण्वानः कुर्वाणः स्वां तन्वं स्वकीयां तनूं परि पश्चम्यर्थे स्वस्माच्छरीरान्नानाविधानि शरीराणि निर्मिमीते यद्वा स्वां तनूं नानाविधरूपोपेतां करोति तथा च मन्त्रवर्णः—'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' इति। यद्यस्मात् स्वैर्म्मन्त्रैः स्वकीयैः स्तुतिलक्षणैर्वाक्यैराहूतः अनृतुपाः न केवलं ऋतुष्वेव पिबति किन्तु अनृतुष्वपि बहुशः सोमं पिबन्नित्यर्थः ऋतावा सत्यवान् तादृश इन्द्रः दिवः स्वर्गलोकात् परिमुहूर्त्तमेकस्मिन्नेव मुहूर्त्ते नानादेशवर्त्तिषु यज्ञेषु तत्रापि त्रिः त्रिसवनेषु आगात् आगच्छति। बोभवीति भवतेर्यङ्लुकि तिपि यङोवेतीडागमः निघातः। अगात् इणो लुङि रूपं यद्वृत्तयोगादनिघातः"

—३।५३।८। सा० भा०।

अविकलरूप से उद्धृत उक्त सायणीय मन्त्रभाष्य का तात्पर्य यही है कि, "धनसम्पत्ति से युक्त होने के कारण ही इन्द्र 'मघवा' कहलाए हैं। ये मघवा इन्द्र अपने यथेच्छरूप बना सकते हैं। जब जिस रूप (आकार) की इच्छा करते हैं, तत्काल तद्रूप में परिणत हो जाते हैं। कारण यही है कि, अनेक रूपग्रहण में समर्थ मायाओं के इन्द्र ही सञ्चालक हैं। इसी माया से इन्द्र अपने अनेक शरीर बना लिया करते हैं। यज्ञकर्त्ता के स्तुतिलक्षण मन्त्रों की पुकार पर इन्द्रदेवता तत्काल बिना ऋतु के भी सोमपान करने यज्ञ में चले आते हैं। ये इन्द्र सत्यवान् हैं। ऐसे ये इन्द्र स्वर्गलोक से एक ही क्षण में भिन्न भिन्न प्रदेशों में होने वाले यज्ञ में, प्रत्येक यज्ञ के तीन तीन सवनों में आया करते हैं"।

इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि, इन्द्रतत्त्व से सम्बन्ध रखने वाले चेतनविध अभिमानी इन्द्रदेवता यज्ञ-कर्म्मों में अपने विभिन्नरूपों से स्तुतिमन्त्रों से आहूत होकर सोमपान करने के लिए आया करते हैं, एवं अभीष्ट यज्ञफल प्रदान किया करते हैं। और इस यज्ञकर्म्म की दृष्टि से सर्वश्री सायण ने मन्त्र की जो यज्ञपरक व्याख्या की है, वह सर्वथा आदरणीय भी है। परन्तु यज्ञकर्म्म के व्याज से विश्वविज्ञान का स्पष्टीकरण करने वाले इन मन्त्रों का केवल यज्ञव्याख्या पर ही विश्राम नहीं माना जा सकता। अवश्य ही प्रत्येक वेदमन्त्र यज्ञकर्म्म के साथ साथ आधिभौतिक, आध्यात्मिक, आधिदैविक विवर्त्तों के गुप्त रहस्यों का भी स्पष्टीकरण कर रहा है। पहिले आधिदैविक इन्द्र के स्वरूप का ही विचार कीजिए।

संसार में रूपतत्त्व वर्णरूप, तथा आकाररूप, भेद से दो भागों में विभक्त है। इन में चतुष्कोण, षट्कोण, समकोण, विषमकोण, वर्तुल, दीर्घ, आदि आकाररूपों को ही 'वयोनाध' कहा जाता है, यही पूर्व परिच्छेदों में 'छन्द' नाम से व्यवहृत हुआ है। छन्दोमय इस आकाररूप का अधिष्ठाता 'त्वष्टा' नामक प्राण-विशेष है, जैसाकि **'त्वष्टा रूपाणि पिंशतु'** (ऋक्० १०।१८४।१) इत्यादि वचन से स्पष्ट हैं। दूसरा वर्णरूप है। इसके शुक्ल, कृष्ण, ये दो प्रधान विवर्त्त हैं। अवान्तर सात सामान्य विवर्त्त हैं, सातों के सम्मिश्रणतारतम्य से उत्पन्न अनन्त विवर्त्त हैं। इन सब वर्णरूपों का विकास सूर्य्यमण्डलस्थ (सूर्य्यरश्मिस्थ) मघवा नामक इन्द्रप्राण से ही हुआ है। प्रत्येक वर्णरूप इन्द्रप्राण से सम्बद्ध है। इन्द्रप्राण ही रश्मिसहयोग के द्वारा वर्ण-ग्राहक पदार्थों की योग्यता के तारतम्य से तत्तद्वर्णों का विकासक बनता है। इन्द्र के इसी स्वाभाविक कर्म्म को लक्ष्य में रखकर **'रूपं रूपं मघवा बोभवीति'** कहा गया है।

इसके अतिरिक्त योगमायाओं का विस्तार भी इसी इन्द्र का काम है। पूर्व परिच्छेद में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, शुन नामक इन्द्र ही पुराणाकाश है, यही दिव्यवेद है, यही सहस्रवल्शेश्वर मायी महेश्वर की महाविभूति है। मायोपाधिक यही शुन इन्द्र अपने महामायामय पुर में योगमायाओं के द्वारा खण्ड-खण्डरूप में परिणत होता हुआ आरम्भ में सहस्र रूप धारण करता है, आगे जाकर 'सहस्रधा महिमानः सहस्रम्' के अनुसार प्रत्येक रूप के रश्मिवितानलक्षण (प्राणवितानलक्षण) सहस्र सहस्र रूप हो जाते हैं। व्यक्षर-विद्या के अनुसार 'द' अक्षर का इन्द्र से सम्बन्ध माना गया है। खण्डनार्थक 'दो' धातु की ओर संकेत कराने वाला दकाराक्षर ही खण्डनधर्म्मा इन्द्रतत्त्व का वाचक है। एक के अनेक रूप हो जाना ही खण्डन है, यही एक की अनेक रूप से व्याकृति है, व्याकृति ही व्याकरण है, इन्द्रतत्त्व ही इस व्याकरण के प्रथम प्रवर्त्तक हैं। ध्वनिरूपा वाक् को योगमायाओं के द्वारा क-च-ट-त-पादिरूप से खण्ड खण्ड रूपमें परिणत करना इसी प्रज्ञा-लक्षण इन्द्र का काम है। पश्वादि में यह उन्मुग्ध रहता है, अतएव उनमें वर्णवाक् का विकास न होकर केवल ध्वनिवाक् ही प्रतिष्ठित रहती है। अदितिमण्डल के गर्भ में प्रतिष्ठित एक ही मरुत्वान् वायु को ४९ खण्डों में परिणत कर देना इसी इन्द्रतत्त्व का काम है। पूर्व पूर्व मायासीमाओं का विध्वंस, उत्तर उत्तर माया-सीमाओं का आविर्भाव, यह सब इसी इन्द्र के कर्म्म हैं। इन मायोपाधियों से यह स्वयं ही अनेक खण्डों में विभक्त होता है। इन्द्र के इसी दूसरे स्वाभाविक धर्म्म को लक्ष्य में रख कर—**'मायाः कृण्वानस्तन्वं परि स्वाम्'** यह कहा गया है।

अब आध्यात्मिक दृष्टि से विचार कीजिए। इन्द्र ही विज्ञानात्मरूप से अध्यात्मसंस्था का आयुः-स्वरूपरक्षक बन रहा है। सूर्य्यकेन्द्र और ब्रह्मरन्ध्र, दोनों का स्पर्श करता हुआ प्राणरश्मिमय एक महापथ

वितत है। इस महापथ के द्वारा सूर्य्य से ब्रह्मरन्ध्र पर्य्यन्त, ब्रह्मरन्ध्र से सूर्य्यकेन्द्र पर्य्यन्त यह आयुःस्वरूपरक्षक इन्द्रप्राण एक मुहूर्त्त में तीन बार आता-जाता है। यही इस इन्द्र का अहरहर्यज्ञ है। इसी से हमारी स्वरूपरक्षा है। उस महापथ में वेदमन्त्र प्रतिष्ठित हैं, एवं इन्हीं मन्त्रों के द्वारा इन्द्र का अध्यात्मसंस्था से सम्बन्ध होता है। यही ऐसी जटिल समस्या है, जिसे स्पष्ट करना कठिन है। पृथिवी और सूर्य्य, दोनों के पदार्थ दोनों में आते-जाते रहते हैं। इस आदान-विसर्ग कर्म्म का धरातल यही तत्त्वात्मक वेदमन्त्रधरातल है। तत्त्वात्मक पार्थिववेद के साममन्त्रों का, एवं तत्त्वात्मक सौरवेद के साममन्त्रों का परस्पर अतिमान होता है। पृथिवी के रथन्तर साम के साथ सूर्य्य के बृहत्साम का, पृथिवी के वैरूपसाम के साथ सूर्य्य के वैराजसाम का, एवं पृथिवी के शाक्वरसाम के साथ सूर्य्य के रैवतसाम का अतिमान होता है। इस अतिमान से दोनों के साम-मण्डल परस्पर ओतप्रोत हो जाते हैं। दोनों के महिमामण्डल एक दूसरे में भुक्त हो जाते हैं। महिमा में पिण्डगत प्राण वितानरूप से प्रतिष्ठित रहते हैं। इन मण्डलों की भुक्ति से तत्तन्मण्डलगत तत्तत्प्राण परस्पर सम्बद्ध हो जाते हैं। वितानात्मक सामवेद ही प्रकृत में 'मन्त्रैः' से गृहीत हैं। क्योंकि ऋङ् मन्त्र छन्दोरूप से स्व-स्थान में प्रतिष्ठित रहते हैं, यजुर्म्मन्त्र रसरूप से महिमामय साम-मन्त्रों के अनुगत रहते हैं। इन्हीं के द्वारा इन्द्र का यहाँ, अग्नि का वहाँ, उसका हमारे साथ, हमारा उसके साथ सम्बन्ध होता है। इसी तत्त्वात्मक मन्त्ररहस्य को लक्ष्य में रख कर **'त्रिर्यद्दिवः परिमुहूर्त्तमागात् स्वैर्मन्त्रैः'** यह कहा गया है।

हृदयभाव से सम्बन्ध रखने वाला, अतएव सत्यधर्म्मा इन्द्र 'अनृतु है। ऋत अग्नि, एवं ऋतसोम की समष्टि ही 'ऋतु' है। क्योंकि इन्द्र सत्य है, अतएव ऋतलक्षण ऋतुमर्य्यादा से पृथक् रहता हुआ यह 'अनृतु' है। यह अनृतु (सत्यमूर्त्ति) इन्द्र ऋतसोम का पान करने से 'अनृतुपा' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। प्रत्येक भौतिक पिण्ड **'सहृदयं सशरीरं सत्यम्'** के अनुसार सत्यात्मक है। यह सत्यमर्य्यादा वेदमूर्त्ति इन्द्र सत्य पर ही अवलम्बित है। अपनी इस सत्यमर्य्यादा को सुरक्षित रखने के लिए प्रत्येक सत्यपिण्ड को (सत्यपिण्डस्थ सत्य इन्द्र को) ऋत का अनुगमन करना पड़ता है। पिण्ड के चारों ओर का प्रदेश ऋत है, इसमें प्रतिष्ठित आप्य-वायव्य-सौम्य प्राण ऋत है। इनके समन्वय से ही अनृतुपा इन्द्र भौतिकसृष्टि की प्रतिष्ठा बन रहा है। इसी आधिभौतिक कर्म्म को लक्ष्य में रखकर **"अनृतुपा ऋतावा"** यह कहा गया है।

तात्पर्य्य कहने का यही है कि, तत्त्वात्मक वेदमन्त्र अपौरुषेय वेदमन्त्र हैं, एवं इन तत्त्वात्मक अपौरुषेय वेदमन्त्रों का रहस्य बतलाने वाले शब्दात्मक वेदमन्त्र पौरुषेय वेदमन्त्र हैं। तत्त्वमन्त्ररहस्यगर्भित शब्दमन्त्र-समष्टि ही वेदविद्या है। इस वेदविद्या की ग्राहकव्यक्ति की योग्यता के तारतम्य से पाँच संस्था हो जातीं हैं।

शब्दात्मक वेदमन्त्रों को केवल पारायण की वस्तु मानते हुए, कौत्स के शब्दों में **'अनर्थका हि म त्राः'** यह भावना रखते हुए जो महानुभाव केवल वेदपारायण में ही वेदविद्या की कृतकृत्यता समझ बैठते हैं, उनका तो किसी संस्था से सम्बन्ध नहीं है। यही नहीं, तत्त्वार्थशून्यवादी इन पारायणभक्तों की तो स्वयं श्रुति ने यह कहते हुए निन्दा ही की है कि, जो वेदमन्त्रों का अर्थ नहीं जानता, वह केवल शुष्क स्थाणु है, वृथा भार-वाही है। जो अर्थज्ञ है, वही तदनुरूप वर्त्तन से सकलभद्र का भोक्ता बनता हुआ परलोक में सद्गति प्राप्त करता है---

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम् ।
योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥

पारायणलक्षणा मन्त्रभक्ति को, एवं तद्भक्तपरम्परा को प्रणाम कर वेदविद्या से सम्बन्ध रखने वाली पाँच संस्थाओं की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है । इन पाँचों विद्यासंस्थाओं को क्रमशः **"मन्त्रविद्या, अक्षरविद्या, दृष्टिविद्या, यज्ञविद्या, सिद्धविद्या"** इन नामों से व्यवहृत किया जायगा । शब्दात्मक वेदमन्त्रों में तत्त्वात्मक जिस विद्या का निरूपण हुआ है, वही मन्त्रविद्या है । इस मन्त्रविद्या को जानने वाला, मन्त्रगत तात्त्विक अर्थों का सम्यक् परिज्ञान रखने वाला व्यक्ति ही 'मन्त्रवित्' कहलाएगा । दूसरे शब्दों में यों समझिए कि, सार्थवेद का स्वाध्याय करने वाला 'मन्त्रवित्' कहलाएगा, एवं इसका यह अर्थज्ञान ही 'मन्त्रविद्या' कहलाएगी । और इस मन्त्रविद्या (मन्त्रार्थ) वित् को 'ब्राह्मण' कहा जायगा । तत्त्वात्मक मन्त्र का ही नाम 'ब्रह्म' है, इस ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्मवित् ही मन्त्रवित् है, यही ब्रह्म (मन्त्र) वेत्ता ब्राह्मण है । यही वेदविद्या की पहिली संस्था है । निम्न लिखित उपनिषच्छ्रुति इसी मन्त्रविद्या की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रही है—

"ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि, यजुर्वेदं, सामवेदं, आथर्वणं चतुर्थं, इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं, पित्र्यं राशिं, दैवं निधिं, वाकोवाक्यमेकायनं, देवविद्यां, भूतविद्यां, क्षत्रविद्यां, नक्षत्रविद्यां, सर्प-देवयजनविद्यां, एतद्भगवोऽध्येमि । सोऽहं "मन्त्रवित्" एवास्मि, नात्मवित्, इति । तरति शोकमात्मवित्-इति सोऽहं भगवः शोचामि । तं मां भगवान् शोकस्य पारं तारयतु" इति । (छान्दोग्य उप० ७।१।२।३) ।

शब्दात्मक मन्त्रों के द्वारा अर्थात्मक (तत्त्वात्मक) मन्त्रों का परिज्ञान ही कर्मप्रवृत्ति का श्रेयः-कारण बनता है । यद्यपि बिना अर्थज्ञान के भी केवल मन्त्रोच्चारण से इतिकर्त्तव्यता का यथानुरूप अनुगमन करता हुआ ब्राह्मण वेदविद्यासापेक्ष यज्ञादिकर्म्मों को सफल बना लेता है । तथापि जो विद्वान् ब्राह्मण इन मन्त्रों के, ब्राह्मण-सूत्रग्रन्थप्रदर्शित इतिकर्त्तव्यतासम्पादक पुरुषार्थ, क्रत्वर्थ कर्म्मों के तात्त्विक अर्थ को जानकर, विद्या-श्रद्धा-उपनिषत्पूर्वक कर्म्मों का अनुगमन करता है, उस विद्यायुक्त ब्राह्मण का विद्यात्मक यह कर्म्म कहीं अधिक वीर्य्यवत्तर होता है, जैसाकि-**'यदेव विद्यया करोति, श्रद्धयोपनिषदा, तदेव वीर्य्यवत्तरं भवति"** (छान्दोग्योपनिषत् १।१।१०।) इत्यादि उपनिषच्छ्रुति से स्पष्ट है । अतएव शब्दवित् की अपेक्षा मन्त्रवित् (विद्यावित् उपनिषद्वित्, रहस्यवित्) ब्राह्मण, और मन्त्रवित् ब्राह्मण का विद्यासापेक्ष कर्म्म, दोनों विशेष महत्त्व की वस्तु मानी जायँगी ।

मन्त्रसापेक्ष (विद्यासापेक्ष) यह कर्म्म प्रवृत्ति-निवृत्ति भेद से दो भागों में विभक्त है । केवल वेदविद्या में आसक्त होते हुए, वेदवादरत बनते हुए, वेदालम्बनभूत आत्मा की उपेक्षा करते हुए, वेदमूलक विश्व-सम्पत्तियों में आसक्ति रखते हुए जो कर्म्म किया जायगा, वह 'प्रवृत्तिकर्म्म' कहलाएगा । एवं आत्मा को आलम्बन बनाते हुए, परमार्थ-भावना से निष्कामबुद्धया कृत कर्म्म 'निवृत्तिकर्म्म' माना जायगा । प्रवृत्तिकर्म्म

मन्त्रविद्या (वेदविद्या) को प्रधान आलम्बन मानता हुआ **'मन्त्रकर्म्म'** कहलाएगा, एवं निवृत्तिकर्म्म आत्मविद्या (अक्षरविद्या) को मूल बनाता हुआ **'आत्मकर्म्म'**, किंवा **'अक्षरकर्म्म'** माना जायगा।

आत्मवञ्चिता वेदविद्या वेदविद्या का एक विभाग है, इसी का प्रवृत्तिकर्म्म से सम्बन्ध है। एवं आत्मानुगता वेदविद्या वेदविद्या का एक विभाग है, इसी का निवृत्तिकर्म्म से सम्बन्ध है। प्रवृत्तिकर्म्मानुबन्धिनी वेदविद्या **अपराविद्या** है, निवृत्तिकर्म्मानुबन्धिनी अक्षरानुगता वही वेदविद्या **पराविद्या** है। वस्तुतः वेदविद्या आत्ममहिमा होने से पराविद्या ही है। केवल प्रवृत्तिभाव के समावेश से जब इसकी आत्मधर्म्मों से (अक्षरधर्म्मों से) वियुक्ति, एवं क्षरधर्म्मों में नियुक्ति हो जाती है, तो अपर–क्षरधर्म्म की प्रधानता से यही परा अपराविद्या बन जाती है। इस प्रकार मन्त्रविद्या के ही परा–अपरा भेद से दो विभाग हो जाते हैं। परालक्षणा वेदविद्या अक्षरविद्या कहलाती है, अपरालक्षणा वेदविद्या मन्त्रविद्या कहलाती है।

मन्त्रविद्यानुगामी ब्राह्मण क्षरासक्ति के अनुग्रह से न तो ऐसे वेदतत्त्व–परिशीलन से ही शान्ति प्राप्त कर सकता, एवं न तदनुबन्धी काम्यकर्म्मों से ही इसका शोक निवृत्त हो सकता। शोकनिवृत्ति, और शान्तिलाभ इसी मन्त्रविद्या से तब सम्भव है, जबकि आत्मदृष्टि को लक्ष्य मे रखते हुए इस मन्त्रविद्या का अनुगमन (तत्त्वपरिशीलन) किया जाय, ज्ञान को मूल बना कर विज्ञानपथ का अनुगमन किया जाय, एवं ज्ञानसहकृता मन्त्रविद्या से ही कर्म्मानुगमन किया जाय।

निष्कर्ष यह निकलता कि, आत्ममहिमालक्षणा मन्त्रविद्या के ही 'परा–अपरा' दो भेद हैं। अपरा वेदविद्या मन्त्रविद्या है, परा वेदविद्या अक्षरविद्या, किंवा आत्मविद्या है। इस विद्या का अनुगामी आत्मवित् है, अक्षरवित् है। यही शोकात्यन्तनिवृत्ति में समर्थ बनता है। ऐसे अक्षरवित् को **'रेभ'** कहा जाता है। मन्त्रवित् जहाँ 'ब्राह्मण' कहलाएगा, वहाँ आत्मवित् 'विप्र' कहलाएगा, जिसके लिए कि श्रुति में 'रेभ' शब्द प्रयुक्त हुआ है। इसी अक्षरविद्या का विश्लेषण करते हुए महर्षि अङ्गिरा कहते हैं—

"द्वे विद्ये वेदितव्ये, परा चैवापरा च। तत्र अपरा–ऋग्वेदो, यजुर्वेदः, सामवेदो, ऽथर्ववेदः, शिक्षा, कल्पो, व्याकरणं, निरुक्तं, छन्दो, ज्योतिषमिति। अथ परा, यया तदक्षरमधिगम्यते। यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णचक्षुःश्रोत्रं, तदपाणिपादं, नित्यं, विभुं, सर्वगं, सुसूक्ष्मम्। तदव्ययं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्॥

—मुण्डकोपनिषत् १।१।४६।

मन्त्रविद्या का अनुगामी ब्राह्मण तत्त्ववित् है, अक्षरविद्या का अनुगामी विप्र आत्मवित् है। तात्पर्य्य यही है कि, अपनी विज्ञानदृष्टि से तत्त्वपरिशीलन करने वाला, तदनुसार प्रवृत्तिकर्म्म में प्रवृत्त रहने वाला ब्राह्मण मन्त्रवित् है। विज्ञानदृष्टि से तत्त्वपरिशीलनपूर्वक आत्मभावना रखते हुए परार्थभावना से निष्कामबुद्धया कर्म्म

में प्रवृत्त रहने वाला विप्र अक्षरवित् है। दोनों ही एक प्रकार से सामान्यकोटि में प्रविष्ट हैं। अत्र एक तीसरा विभाग ऐसा है, जिसका 'योगदृष्टि' से सम्बन्ध है, जोकि दृष्टि 'आर्षदृष्टि'–'अतीन्द्रियदृष्टि'–'दिव्यदृष्टि' आदि नामों से प्रसिद्ध है। शब्दात्मक मन्त्र से तत्त्वात्मक मन्त्र का अनुमानतः स्वरूप जान लेना, इन्द्र ऐसा है, वायु यह है, अग्नि यह है, इस प्रकार शब्दाधार पर तत्त्वों का सामान्य परिज्ञान प्राप्त कर लेना एक विभाग है। इन तत्त्वों का अपनी आर्षदृष्टि से प्रत्यक्ष कर लेना स्वतन्त्र विषय है। मन्त्रों में जिन तत्त्वों का निरूपण हुआ है, उन तत्त्वों का अपनी योगदृष्टि से प्रत्यक्ष करने वाले महापुरुष ही 'साक्षात्कृतधर्म्मा–ऋषि' कहलाए हैं। इनकी यह दृष्टि ही तीसरी दृष्टिविद्या कहलाई है। परोक्षार्थों को अपनी आर्षदृष्टि से देखने वाले इन्हीं महर्षियों नें तत्त्वात्मक मन्त्रवेद का सर्वप्रथम साक्षात्कार किया है। उन्होंनें ही उस तत्त्वामक वेदमन्त्र का शब्दमन्त्रों के द्वारा गुम्फन किया है, जैसा कि निम्नलिखित वचनों से स्पष्ट हो रहा है—

१—"युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा॥

२—अनागतमतीतञ्च वर्त्तमानमतीन्द्रियम्।
विप्रकृष्टं व्यवहितं सम्यक् पश्यन्ति योगिनः॥

३—आविर्भूतप्रकाशानामनुपप्लुतचेतसाम्।
अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते॥

४—अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा।
ये भावा वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते॥"

५—"साक्षात्कृतधर्म्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्म्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं, च वेदाङ्गानि च" (यास्कः)।

६—"ऋषिर्दर्शनात्"।

स्वयं वेदतत्त्व का ही नाम 'ऋषि' है। इसका जिसने प्रत्यक्ष किया है, वह द्रष्टा ऋषि है, वही अपने दृष्ट ऋषि (तत्त्व) के सम्बन्ध में अन्यतम प्रमाण है। वेदपदार्थ के स्वरूपज्ञान के सम्बन्ध में 'ऋषि' शब्द भी एक जटिल समस्या है। कहीं ऋषि को वेद कहा जाता है, कहीं ऋषि को वेदवित् कहा जाता है, कहीं ऋषि को मन्त्रपति कहा जाता है। इन सब जटिलताओं के निराकरण के लिए आगे का 'वेद का ऋषि पदार्थ' नामक परिच्छेद पाठकों के सम्मुख उपस्थित होने वाला है। अभी इस सम्बन्ध में केवल यही वक्तव्य है कि, तत्त्वात्मक वेदमन्त्र का आर्षदृष्टि से प्रत्यक्ष कर उससे यथाकाम व्यवहार करने वाले ही 'ऋषि' कहलाए हैं। यही वेदविद्यासम्बन्धिनी तीसरी दृष्टिविद्या है।

आर्षेयदृष्टि से सम्पन्न, अतीन्द्रिय अर्थों के प्रत्यक्षवत् द्रष्टा जिन महापुरुषों नें—यज्ञप्रक्रियाविशेष से तत्तत् प्राणदेवता का अपने मानुष आत्मा में आधान किया था, इस देवाधान से जिन भौम स्वर्गवासियों नें सूर्य्य, इन्द्र, अग्नि, वायु, वरुण, आदि उपाधियाँ प्राप्त कीं थीं, वे ही पुरुषपुङ्गव **'देवता'** (भौम मनुष्य देवता) कहलाए थे। प्राकृतिक प्राणदेवताओं में जो शक्तियाँ, जो सामर्थ्य, जो धर्म्म हैं, वे सब इनमें विद्यमान थे। अतएव इन्हें उन उन प्राणदेवताओं के ही नाम से व्यवहृत किया गया। सर्वसाधारण में रहने वाले मानुषात्मा ९ अतिरिक्त यज्ञातिशयलक्षण दैव आत्मा इनमें विशेष था, जिसका कि—**"दैवो वा अस्य स आत्मा, मानुषोऽयम्"** इत्यादिरूप से स्पष्टीकरण हुआ है। यही वेदविद्या का यज्ञविद्यात्मक चौथा संस्था-विभाग है।

यच्चयावत् यज्ञों के द्वारा यच्चयावत् प्राणदेवताओं को आत्मसात् करने वाले, अतएव सर्वमूर्त्ति, सर्वमूर्द्धन्य पुरुषपुङ्गव ही **'ब्रह्मा'** नाम से प्रसिद्ध थे, जिस पद को कि सर्वप्रथम आदि मनु स्वयम्भू-ब्रह्मा ने सुशोभित किया था। सर्वसिद्धिलक्षणा, अतएव 'सिद्धविद्या' नाम से प्रसिद्ध यही वेदविद्या का पाँचवा संस्था-विभाग माना जायगा।

इस प्रकार मन्त्रार्थपरिज्ञान, मन्त्रार्थपरिज्ञानपूर्वक अक्षरज्ञान, तत्त्वसाक्षात्कार, तत्त्वाधान, सर्वतत्त्वाधान, भेद से एक ही वेदविद्या की मन्त्रविद्या, अक्षरविद्या, दृष्टिविद्या, यज्ञविद्या, सिद्धविद्या, भेद से पाँच संस्थाएँ हो जातीं हैं। इन पाँचों के अनुयायी क्रमशः **'ब्राह्मण, रेभ, ऋषि, देवता, ब्रह्मा'** इन नामों से प्रसिद्ध हुए हैं।

१—मन्त्रविद्या (५)-**शब्दार्थमयी-तन्मया ब्राह्मणाः।**

२—अक्षरविद्या (४)-**आत्मानुगता—तन्मया रेभाः (विप्रा वा)।**

३—दृष्टिविद्या (३)-**तत्त्वसाक्षात्काररूपा-तन्मया ऋषयः।**

४—यज्ञविद्या (२)-**तत्त्वाधानलक्षणा—तन्मया भौमदेवाः।**

५—सिद्धविद्या (१)-**सर्वतत्त्वाधानलक्षणा-तन्मया भौमब्रह्माणः।**

१९-वेद का 'ऋषि' पदार्थ—

ऋषि, पितर, देव, असुर, गन्धर्व, पशु आदि सभी वैदिक पदार्थ वर्त्तमान युग में इसलिए एक पहेली बन रहें हैं कि, इनका तात्त्विक, प्राणात्मक स्वरूप वेदस्वाध्यायपरम्परा की विलुप्ति से विलुप्त हो चुका है। इन तत्त्वात्मक ऋषि–पितर–देवादि प्राणविशेषों के स्वरूपज्ञानाभाव से ही तत्त्वात्मक वेदशास्त्र केवल पुण्यपाठ की सामग्री रह गया है, परलोक का प्रमाणपत्रप्रदाता बना दिया गया है। यही कारण है कि, आज के इस तत्त्वान्वेषण-युग में जब हम संसार के सामने वेदशास्त्र की चर्चा उठाते हैं, तो शिक्षित समाज का अन्तर्जगत् क्षुब्ध-सा हो पड़ता है। उसकी दृष्टि में वेदशास्त्र, तदनुगत स्मृतिशास्त्र, पुराणशास्त्र, आदि की समष्टिरूप भारतीय शास्त्र तत्त्ववादशून्य केवल पारलौकिक सुखानुगत स्वाप्नजगत् है, जिसका कि ऐहलौकिक कर्म्मकलाप में न तो कोई उपयोग

ही है, एवं न कोई लाभ ही। सुसूक्ष्म प्राणजगत् का प्रथम आविष्कारक भारतवर्ष इस प्रकार स्थूल जगत् का उपासक बन जायगा, प्राणविद्या का स्थान प्राणी-विद्या ग्रहण कर लेगी, तत्त्ववाद का आसन रूढ़िमूलक कल्पनावाद छीन लेगा, और इन्हीं विडम्बनाओं से हम सचमुच अपने मौलिक, तात्त्विक साहित्य से वञ्चित हो जायँगे, यह दोष किसे दिया जाय ?। हम अपना दोष दूसरों के व्याज से कैसे छिपाएँ ? अवश्य ही हमें नतमस्तक होकर यह स्वीकार कर ही लेना चाहिए कि, एकमात्र हमारे प्रज्ञापराध से ही ये सारी विडम्बनाएँ उपस्थित हुईं हैं, जिसके परिशोध का एकमात्र उपाय है—'तात्त्विक दृष्टि से सम्बन्ध रखने वाली विलुप्तप्राय वेदस्वाध्यायपरम्परा (आर्षपरम्परा) का पुनरुज्जीवन, जिसके कि मूल में ऋषितत्त्व प्रतिष्ठित है। एवं ऋषि-तत्त्वप्रतिष्ठा से ही जो परम्परा 'आर्षपरम्परा' कहलाई है। आर्षपरम्परा के सर्वस्वभूत इस ऋषितत्त्व का संक्षेप से परिचय कराना ही प्रकृत परिच्छेद का मुख्य उद्देश्य है।

शास्त्रों में प्रतिपादित 'ऋषि' तत्त्व जिन ऋषियों के द्वारा आर्षदृष्टि का विषय बना है, जिस ऋषितत्त्व के साक्षात्कार से शास्त्रकार स्वयं भी 'ऋषि' उपाधि के अधिकारी बने हैं, तत्त्वात्मक ऋषियों के जो प्राकृतिक कर्म्म इन मनुष्य-ऋषियों के साथ अभेदबुद्धया (पुराणों में) प्रतिपादित हैं, वे ही तत्त्व ऋषि यद्यपि प्रकृत परिच्छेद के मुख्य उद्देश्य हैं, तथापि प्रसङ्गतः मनुष्य-ऋषियों का भी विचार कर लेना अप्रासङ्गिक न होगा। ऋषि शब्द की अनेक स्थानों में व्याप्ति देखते हुए हमें इसे चार भागों में विभक्त मानना पड़ रहा है। एवं इन चारों ऋषियों को क्रमशः १—असल्लक्षण ऋषि, २—रोचनालक्षण ऋषि, ३—द्रष्टृलक्षण ऋषि, ४—वक्तृलक्षण ऋषि, इन नामों से व्यवहृत करना पड़ रहा है।

१-असल्लक्षण ऋषि—

(१)—पूर्व के सृष्टिप्रकरण में सावित्राग्नि का स्वरूप बतलाते हुए ब्रह्मनिश्वसितवेद के यजुर्भाग के जिस 'यत्' नामक प्राणतत्त्व का विश्लेषण हुआ है, उसी मौलिक वेदप्राण का (यजुःप्राण का) नाम असल्लक्षण ऋषि है। यही तत्त्वात्मक प्रथम ऋषि है। इस ऋषिप्राण को, किंवा प्राणात्मक ऋषि को 'वेद'-'असत्' इत्यादि नामों से व्यवहृत किया गया है। जिस प्राण से सृष्टि का उपक्रम होता है, जिन प्राणों के रासायनिक साम्मिश्रण से मैथुनी सृष्टि का आरम्भ होता है, सर्वमूलभूत, सद्रूप, अतएव 'असत्' नाम से प्रसिद्ध उन्हीं प्राणों का नाम 'तत्त्व-ऋषि' है। 'विरूपास इदृषयस्त इद्गम्भीरवेपसः' (ऋक्सं०१०।६२।५।) इस मन्त्रवर्णन के अनुसार इन ऋषिप्राणों के अनेक विभाग हैं। इस प्राणानन्त्य से ही तद्रूप वेद अनन्त मानें गए हैं। इसी प्राणानन्त्य से विश्व-पदार्थों में वैचित्र्य उपलब्ध हो रहा है। प्राणात्मिका इस ऋषिविद्या का नाम ही वेदविद्या है, जिसका कि शब्दात्मक वेदशास्त्र में विश्लेषण हुआ है। इसी सम्बन्ध में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि, एक एक प्राण जहाँ 'ऋषि' शब्द से व्यवहृत होता है वहाँ अनेक प्राणों की समष्टि को 'पुरुष' नाम से व्यवहृत किया जायगा, जैसा कि 'सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति' का स्वरूप बत-लाते हुए पूर्वपरिच्छेदों में स्पष्ट किया जा चुका है।

इन्हीं सृष्टिप्रवर्त्तक तत्त्वात्मक ऋषियों को 'दिव्यर्षि'-'वेदर्षि'-'देवर्षि'-'पुराणर्षि' इत्यादि विविध नामों से व्यवहृत किया गया है। प्राणात्मक ऋषि के आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक भेद से तीन विवर्त्त हो जाते हैं। आधिदैविक मण्डलोपलक्षित हिरण्यगर्भमण्डल में ये ऋषिप्राण 'मनु' तत्त्व को

केन्द्र बना कर इतस्ततः रश्मिरूप से व्याप्त रहते हैं। हिरण्यगर्भमण्डल से सम्बन्ध रखने वाले ये मानव-प्राण दस भागों में विभक्त होने से विराट्पुरुष के स्वरूप-सम्पादक बनते हैं। इसी प्रकार अध्यात्मजगत् में ये ही प्राण मन को आधार बनाकर सर्वाङ्ग-शरीर में व्याप्त रहते हैं। एवमेव आधिभौतिक पदार्थों में भूताग्नि से उपलक्षित अङ्गिरोऽग्नि को आधार बना कर ये ऋषिप्राण वितत रहते हैं। आधिभौतिक पदार्थों से सम्बन्ध रखने वाले, अङ्गिरा नामक प्राणाग्नि को आधार बनाकर रश्मिवत् इस के चारों ओर वितत रहने वाले इन्हीं प्राणों को लक्ष्य में रख कर कहा जाता है-'**तेऽङ्गिरसः सूनवः, तेऽग्नेः परि जज्ञिरे** (ऋक्सं० १०।६२।५।)

इन तीनों विवर्त्तों से सम्बन्ध रखनें वाले अनन्त ऋषिप्राणों का न तो प्रकृत परिच्छेद में परिचय ही कराया जा सकता, एवं न वेदप्रकरण में इस ऋषिगाथा का कोई विशेष प्रसङ्ग ही। इस विषय की विशेष जिज्ञासा रखनें वालों को तो '**वैदिक प्राणविद्या**' नामक स्वतन्त्र निबन्ध ही देखना चाहिए। प्रकृत में इस सम्बन्ध में केवल यही वक्तव्य है कि, 'ऋषि' शब्द की मुख्य व्याप्ति असल्लक्षण उस मौलिक प्राण से सम्बन्ध रखती है, जो कि मौलिक प्राण पञ्चतन्मात्राओं के उत्पादक बनते हैं। भौतिक धातुवर्ग उत्पन्न होता है, तेजोमात्राओं का विकास होता है, सर्वविध बलों का विकास होता है, यच्चयावत् संज्ञाकर्म्म, तथा चेष्टाकर्म्मों का सञ्चालन होता है, प्रज्ञामात्रा का उदय होता है, ज्ञानकर्म्मेन्द्रियों का उद्गम होता है, इन्द्रियों के कर्म्मों का उदय होता है, पितर-देवता-असुर, कहाँ तक गिनावें, 'अस्ति' नाम से व्यवहृत करने योग्य विश्व में जो कुछ है, सब की मूलप्रतिष्ठा, सब का प्रभव-प्रतिष्ठा-परायण यही ऋषिप्राण है। प्राण से ही सृष्टि का विकास हुआ है, प्राणाधार पर ही विश्व प्रतिष्ठित है, प्राण ही सब की लयभूमि है। यह प्राण वही आपका ऋक्-सामावच्छिन्न यजुः-प्राण है, जो कि उपाधिभेद से अनन्तरूपों में परिणत होता हुआ वैचित्र्योपलक्षित आनन्त्य का आधार बन रहा है। '**भृगु-वसिष्ठ-कश्यप-जमदग्नि-अत्रि-मरीचि-पुलस्त्य-पुलह-क्रतु-दक्ष-अङ्गिरा-बृहस्पति-अगस्त्य-विश्वामित्र**' आदि जो ऋषिनाम हम सुनते आए हैं, वे सब मुख्यरूप से प्राणात्मक ऋषितत्त्व से ही सम्बन्ध रखते हैं। इन प्राणों के सन्निवेशतारतम्य से ही आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक विवर्त्तों में स्वरूप-परिवर्त्तन होता रहता है। यदि आप इन प्राणों को पहिचान लेते हैं, पहिचान सकते हैं, तो आप भी सृष्टिकर्म्म के सञ्चालक बन सकते हैं। जड़पदार्थों को चेतन बना डालना, मूर्ख को विद्वान् बना देना, विद्वान् को मूर्ख बना देना, अश्व को मनुष्य बना देना, मनुष्य को पशु बना देना, घन पदार्थ को तरल, तरल को बाष्पावस्था में परिणत कर देना, ये सब कुछ असम्भव कल्पनाएँ इस प्राणविज्ञानात्मिका '**ब्रह्मविद्या**' से सर्वथा सम्भव हैं, जिस सम्भावना का कि—'**ब्रह्मविद्यया हि सर्वं भविष्यन्तो मन्यन्ते मनुष्याः**' (शतपथ ब्रा०) इत्यादि श्रुति बड़े आवेश के साथ समर्थन कर रही है।

आधिदैविक-आध्यात्मिक-आधिभौतिक संस्थाओं से सम्बन्ध रखने वाले भृग्वङ्गिरा-आदि प्राणों के कुछ-एक उदाहरण यहाँ भी उद्धृत कर दिए जाते हैं। स्थालीपुलाकन्याय के आधार पर पाठकों को यह स्वीकार कर लेना पड़ेगा कि, अवश्य ही ऋषिशब्द की व्याप्ति प्राणतत्त्व से ही सम्बन्ध रखती है। सर्वप्रथम क्रमप्राप्त आधिदैविक-ऋषिप्राण का ही निदर्शन सामने रखिए। '**मत्स्य, वसिष्ठ, अगस्त्य**', इन तीन प्राणों का एक स्वतन्त्र विभाग माना गया है, एवं '**भृगु, अङ्गिरा, अत्रि**' इन तीनों प्राणों का एक स्वतन्त्र विभाग माना गया है। मत्स्यादि प्रथम प्राणत्रयी का विकास क्योंकि '**द्रोणकलश**' से हुआ है, अतएव इन्हें '**कुम्भोद्भव**' (घट-सोमकलश-से उत्पन्न होने वाले) कहा जाता है। कुम्भ एक प्रकार का 'मान' (परिमाण) है, इसी

आधार पर इन्हें 'मान्य' कहा जाता है। कुम्भ के जिस प्रदेश को मूल मान कर इन तीनों प्राणों का विकास हुआ है, वहीं मित्रा–वरुण नाम के प्राण प्रतिष्ठित हैं, अतएव इन्हें 'मैत्रावरुण' कहा जाता है। इसी कुम्भ-प्रदेश में आपोमय सौम्य अप्सराप्राण प्रतिष्ठित हैं, इसी आधार पर इन्हें 'अप्सरापुत्र' माना गया है। इस प्रकार 'कुम्भोद्भव–मान्य–मैत्रावरुण–'अप्सरापुत्र' इन चार नामों से प्रसिद्ध यह प्राणत्रयी भिन्न भिन्न कर्म्मों की अधिष्ठात्री बन रही है।

इसी प्राणत्रयी के उद्‌गम के सम्बन्ध में पुराणों में इस आशय का एक आख्यान आता है कि,— "एक बार प्रजापति सोमयज्ञ कर रहे थे। यज्ञ आरम्भ हो चुका था, यज्ञाहुतिसाधक सोमरस द्रोणकलश में सम्पन्न था। इस यज्ञ को देखने के लिए उर्वशी अप्सरा भी आई थी। संयोगवश मित्र और वरुण देवता भी यज्ञ देखने उपस्थित हुए। उर्वशी को देख कर इनका रेतः–स्खलन हो गया। मित्रावरुण का स्खलित रेत द्रोणकलश में बाहिर–भीतर जा गिरा। जो रेतोभाग कलश के भीतर गिरा, उससे तो 'मत्स्यऋषि' उत्पन्न हुए। जो भाग कलश के उत्तरभाग में गिरा, उससे 'वसिष्ठऋषि' उत्पन्न हुए। एवं जो भाग कलश के दक्षिणभाग में गिरा, उससे 'अगस्त्यऋषि' उत्पन्न हुए। इस प्रकार उर्वशी वेश्या के निमित्त से स्खलित मित्रावरुण के रेत से सोमकलश में तीन ऋषि उत्पन्न हो गए"।

प्राण के उक्त आख्यान का नैदानिक रहस्य न जानने के कारण यदि कोई पश्चिमी विद्वान् आख्यान के सम्बन्ध में अपनी भ्रान्त कल्पना कर बैठता है, तो हमें विशेष आश्चर्य्य नहीं होता। आश्चर्य्य तो उस समय होता है, उनके सम्बन्ध में होता है, जबकि वैदिकसाहित्य की अनन्यनिष्ठा का अनुगमन वाले भारतीय भी इन पौराणिक रहस्यात्मक आख्यानों को 'गपोड़ा' मानने की भूल करने लगते हैं। सम्भवतः इन महाशयों को यह विदित नहीं है कि, प्राणत्रयी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पुराण ने जो कुछ कहा है, वे आख्यान ठीक उन्हीं शब्दों में सूत्ररूप से स्वयं वेदसंहिता में उपवर्णित हैं। यदि पुराण का आख्यान असत्–कल्पना है, तो उनका वेद भी ऐसी कल्पनाओं से शून्य नहीं है। देखिए—

१—विद्युतो ज्योतिः परि सञ्जिहानं मित्रावरुणा यदपश्यतां त्वा।
तत्ते जन्मोतैकं वसिष्ठागस्त्यो यत्त्वा विश आजभार॥

२—उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन् मनसोऽधिजातः।
द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वेदेवाः पुष्करे त्वाददन्त॥

३—स प्रकेत उभयस्य प्रविद्वान्त्सहस्रदान उत वा सदानः।
यमेन ततं परिधिं वयिष्यन्नप्सरसः परिजज्ञे वसिष्ठः॥

४—सत्रे ह जातात्विषिता नमोभिः कुम्भे रेतः सिषिचतुः समानम्।
ततो ह मान उदियाय मध्यात् ततो जातमृषिमाहुर्वसिष्ठम्॥

—ऋकसं० ७ मं०। ३३ सू०। १०–११–१२–१३ मन्त्र।

मन्त्रों का सामान्य तात्पर्य्य पूर्व की आख्यानभाषा से गतार्थ है। विशेष (वैज्ञानिक) तात्पर्य्य वैदिक प्राणविद्या के उस प्रकरण में द्रष्टव्य है। यहाँ इस समतुलन से हमें कहना यही है कि, बिना सोचे–समझे, तात्त्विक, पारिभाषिक ज्ञान प्राप्त किए बिना सहसा पौराणिक आख्यानों पर टीका-टिप्पणी करने लग जाना सर्वथैव अनुचित है। प्रकृत आख्यान की मीमांसा कीजिए। सौर सम्वत्सरयज्ञ ही सम्वत्सरप्रजापति का महायज्ञ है। सम्वत्सरयज्ञमण्डलावच्छिन्न खगोल ही द्रोणकलश (सोमकलश) है। "त्वमा ततन्थोर्वन्तरिक्षम्" (ऋक्सं० १६।१।२२।) इत्यादि मन्त्र में उपवर्णित, विशाल खगोल (अन्तरिक्ष) में व्याप्त दिक्-सोम से यह कलश परिपूर्ण है। अहोरात्रि के भेद से इस खगोल के पूर्वकपाल, पश्चिमकपाल भेद से दो विभाग हो रहे हैं, जिनका कि विभाजक याम्योत्तरवृत्त है। उभयकपालावच्छिन्न साम्वत्सरिक सौरप्राण की अहः, तथा रात्रिभेद से 'मित्र–वरुण' नाम की दो अवस्था हो जातीं हैं। अहःकालावच्छिन्न वही सौरप्राण पार्थिवप्रजा से युक्त रहता हुआ 'मित्र' कहलाने लगता है, एवं रात्रिकालावच्छिन्न वही सौरप्राण पार्थिवप्रजा से वियुक्त रहता हुआ 'वरुण' कहलाने लगता है। ये अहोरात्र सूर्य्योदयास्त से सम्बन्ध न रख कर याम्योत्तरवृत्त से ही सम्बन्ध रखते हैं।

याम्योत्तरवृत्त को ही 'ध्रुवप्रोतवृत्त' कहा जाता है। क्योंकि दक्षिण–उत्तर ध्रुव से ही इन भातिसिद्ध वृत्तों की कल्पना हुई है। संख्या में ये वृत्त ३६० माने गए हैं। इन वृत्तों की प्रतिष्ठा आन्तरिक्ष्य आपोमय समुद्र है। आपोमय समुद्र में सञ्चार करने से ही इन वृत्तों को 'अप्सरा' (अप्सु सरन्ति) कहा जाता है। इन्हीं अप्सरावृत्तों से दिक् का विभाजन होता है, अतएव दिशाओं को भी अप्सरा मान लिया गया है। भगवान् माहित्थि के मतानुसार दिशा–उपदिशाएँ हीं अप्सरा हैं, जैसा कि निम्नलिखित 'पञ्चचूडब्राह्मण' वचन से स्पष्ट है—

"पुञ्जिकस्थला च, क्रतुस्थला चाप्सरसौ–इति दिक्-चोपदिशा चेति स्माह माहित्थिः"॥

—शत०ब्रा० ८।६।१।१६।

याम्योत्तरवृत्तात्मक इन आप्य अप्सराओं का द्रोणकलशात्मक उरु अन्तरिक्ष से घनिष्ठ सम्बन्ध है। पूर्वकथनानुसार उर्वान्तरिक्ष में दिक्सोम व्याप्त है, जो कि दिक्सोम अपने आहुतिधर्म्म से यज्ञात्मक विष्णु की स्वरूपरक्षा करता हुआ 'वैष्णव' नाम से प्रसिद्ध है। वैष्णवसोम यदि राजा है, तो ये अप्सराएँ इसकी प्रजा हैं *। इसी आहुतिधर्म्म के सम्बन्ध से भगवान् याज्ञवल्क्य ने अप्सराओं को भी 'आहुति' शब्द से व्यवहृत कर दिया है। पञ्चचूड़ोपधान में ऋतुरूप से भी इन अप्सराओं का ग्रहण हुआ है। उस प्रकरण में वसन्त–ग्रीष्म–वर्षा–शरत्–हेमन्त, इन पाँच ऋतुओं में दो दो अप्सराओं का भोग माना है, जो कि दस अप्सराएँ क्रमशः– "१—पुञ्जिकस्थला, २—क्रतुस्थला, १—मेनका, २—सहजन्या, १—प्रम्लोचन्ती, २—अनुम्लोचन्ती, १ - विश्वाची, २—घृताची, १—उर्वशी, २—पूर्वचित्ति", इन नामों से प्रसिद्ध हैं (देखिए-शत० ब्रा० ८।६।१।)।

---

*—"सोमो वैष्णवो राजेत्याह। तस्याप्सरसो विशः। ता इमा आसत इति— युवतयः शोभना उपसमेता भवन्ति" (शत० ब्रा० १३।४।३।८।)।

इनमें 'उर्वशी' वह अप्सरा -(याम्योतरवृत) है, जिसने कि अद्यतन-अनद्यतन का विभाग कर रक्खा है। रात्रि के बारह बजे से दिन के बारह बजे पर्य्यन्त अद्यतन काल है, एवं दिन के १२ बजे से रात्रि के १२ बजे पर्य्यन्त अनद्यतन काल माना गया है। उदयास्त से अहोरात्र का विभाग करना एक प्रकार है, एवं अद्यतन-अनद्यतन से अहोरात्र का विभाग करना एक प्रकार है। मध्यरात्रि के पीछे से सौरप्राण पार्थिव प्रजा के साथ युक्त होने लगता है। यही अहःकाल का आरम्भ है। यहाँ से आरम्भ कर मध्याह्न के बारह बजे पर्य्यन्त यह प्राण निरन्तर हमारे साथ योग करता है। अनन्तर सौरप्राण हम से वियुक्त होने लगता है, एवं इसकी यह वियुक्ति मध्यरात्रि पर्य्यन्त प्रक्रान्त रहती है। सौरप्राणसत्ता अहःकाल की, तथा सौरप्राणवियुक्ति रात्रिकाल की स्वरूपसमर्पिका है। अहोरात्र की इस सामान्य परिभाषा के अनुसार मध्यरात्रि से मध्याह्न पर्य्यन्त का १२ घन्टे का काल अहःकाल कहलाएगा, एवं मध्याह्न के १२ बजे से मध्यरात्रि पर्य्यन्त का काल रात्रिकाल कहलाएगा। दोनों में प्रतिष्ठित सौरप्राण 'मित्र-वरुण' कहलाएँगे। मित्रप्राणावच्छिन्न अहःकाल पूर्वकपाल कहलाएगा, वरुणप्राणावच्छिन्न रात्रिकाल पश्चिमकपाल कहलाएगा। इन दोनों कपालों का विभाजक मध्याह्नवृत्त ही उर्वशी अप्सरा कहलाएगा। इसी मध्याह्नवृत्त से मित्रावरुणात्मक पूर्व-पश्चिम कपालोपलक्षित अहोरात्र का विभाजन हो रहा है। स्वयं उर्वशी अप्सरा के साथ मित्र-वरुण, दोनों प्राणों का समन्वय हो रहा है। जहाँ दोनों कपाल मिलते हैं, वहीं उर्वशी है। फलतः उर्वशी के साथ दोनों का समन्वय सिद्ध हो जाता है।

अहःकाल में व्याप्त मित्रप्राण आङ्गिरस होने से **'आग्नेय'** है, एवं रात्रिकाल में व्याप्त वरुणप्राण भार्गव होने से **'आप्य'** है। सम्वत्सरात्मक प्राजापत्य यज्ञमण्डल में पूर्व-पश्चिम कपाल की सन्धि में ये दोनों आग्नेय-आप्य प्राण प्रतिष्ठित हैं। कपालद्वयावच्छिन्न खगोल (सम्वत्सरमण्डल) ही पूर्वकथनानुसार सोमपरिपूर्ण कलश है। मध्याह्नवृत्त उर्वशी है। इसको निमित्त बनाकर इसी कलश में मित्र के आग्नेय वीर्य्य की, तथा वरुण के आप्यवीर्य्य की आहुति होती है। आहुत प्राणद्वयी से इस कुम्भ में शीतवीर्य्य, उष्णवीर्य्य, अनुष्णाशीतवीर्य्य, भेद से तीन नवीन प्राण उत्पन्न होते हैं। शीतवीर्य्यप्राण सोमप्रधान है, कुम्भ के उत्तरभाग में इनका प्रतिष्ठा है। ये ही प्राण **'वसिष्ठ'** नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके लिए **'आपवाः'-'अप्सवाः'-'वसिष्ठाः'** तीनों शब्द प्रयुक्त हुए हैं। वृष्टि करना, पानी और मिट्टी के रासायनिक सम्मिश्रण को दृढमूल बनाते हुए, पानी को घनावस्था में परिणत करते हुए पानी को कालान्तर में मिट्टी बना डालना इसी वसिष्ठप्राण की महिमा है। क्योंकि इसकी प्रधानता उत्तर में है। अतएव उत्तर प्रदेशों में क्रमशः भूभाग की वृद्धि होती जा रही है।

उष्णवीर्य्य अग्निप्रधान हैं, एवं कुम्भ के दक्षिण भाग में इनकी प्रधानता है। ये ही उग्र आग्नेय प्राण **'अगस्त्य'** नाम से प्रसिद्ध हैं। पानी का शोषण करना अगस्त्यप्राण का मुख्य कार्य्य है, जिसके कि सम्बन्ध में पुराण का अगस्त्यसम्बन्धी 'समुद्रशोषण' आख्यान सर्वप्रसिद्ध है। अनुष्णाशीतवीर्य्यप्राण कुम्भ के मध्य में (मध्याकाश में) अपनी प्रधानता रखते हैं। इन्हीं को **'मत्स्य'** कहा जाता है। इन्हीं को **'याम्यमत्स्य'** भी कहा गया है। मिट्टी को स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रखना ही इनका मुख्य कर्म्म है।

वसिष्ठ मिट्टी के प्रवर्त्तक हैं, मत्स्य मिट्टी के रक्षक हैं, अगस्त्य मिट्टी को संहत बनाकर इसे घन (पाषाण) रूप प्रदान वाले हैं। क्योंकि अगस्त्य की प्रधान सत्ता दक्षिण में है, अतएव दक्षिण भाग में पर्वत विशेषरूप से घनावयव बने रहते हैं। रसशोषण से इनका वर्ण भी आत्यान्तिक रूप से कृष्ण रहता है,

गुरुत्वाकर्षण भी अतिशयरूप से प्रतिष्ठित रहता है। निष्कर्ष यही हुआ कि मित्रावरुण के आग्नेय-आप्यवीर्य्यों के समन्वय से आधिदैविक मण्डलोपलक्षित सम्वत्सरजगत् में वसिष्ठ, अगस्त्य, मत्स्य, नामक तीन प्राण आविर्भूत हो जाते हैं।

अब आधिभौतिक असत्-प्राण के उदाहरण पर दृष्टि डाल लीजिए। 'भृगु-अङ्गिरा-अत्रि' इन तीनों का आधिदैविक स्वरूप जहाँ स्नेहतेज-धामच्छदभावों का प्रवर्त्तक बना हुआ है, वहाँ इनके आधिभौतिक रूप से अर्चि-अङ्गार-पारदर्शकताप्रतिबन्धकत्त्व, इन तीन भावों की स्वरूप रक्षा हो रही है। एक प्रज्वलित काष्ठ को लीजिये। इसका जितना 'ज्वाला' भाग है, वह भृगुप्राणमय है। भृगुप्राण (स्नेहात्मक सौम्यप्राण) के सहयोग से ही ज्वाला का स्वरूप सुरक्षित है। दहकता हुआ अङ्गार अङ्गिराप्राणमय है। एवं ज्वाला, तथा अङ्गार की प्रतिष्ठारूप स्वयं काष्ठपिण्ड अत्रिप्राणमय है। एक चमत्कार और देखिये। प्रथम बार जब आप काष्ठ जलायेंगे, उस समय प्राथमिक अङ्गार का प्राण अङ्गिरा कहलाएगा। यदि आप उस अङ्गार को बुझा-कर पुनः दुबारा प्रदीप्त करेंगे, तो वह प्राण द्वितीयावस्था में आता हुआ 'बृहस्पति' कहलाने लगेगा। इस प्रकार थोड़े से तारतम्य से प्राणविपर्य्यय हो जायगा। अङ्गिरा, तथा भृगु की इसी आधिभौतिक व्याप्ति को लक्ष्य में रख कर ऋषि कहते हैं—

"अर्चिषि भृगुः सम्बभूव, अङ्गारेष्वङ्गिराः सम्बभूव। अथ यदङ्गारा अवशान्ताः पुनरुददीदप्यन्त, अथ बृहस्पतिरभवत्" (ऐतरेयब्राह्मण ३।३४।)

अब क्रमप्राप्त आध्यात्मिक असत् प्राणों का भी उदाहरणविधि से प्रत्यक्ष कर लीजिए। केवल शिरः-प्रदेश में सप्तर्षिप्राण व्याप्त रहता है। इन सात ऋषिप्राणों में ६ ऋषिप्राण तो यमज (जोड़ले) हैं, एवं एक प्राण एकाकी है। दो श्रोत्रप्राण, दो नासाप्राण, दो चक्षुः प्राण, ये ६ तो यमज हैं, सातवाँ वाङ्मय प्राण एकाकी है। शिरःकपाल एक ऐसा चमस (कटोरा-बाटकी) है, जिसका पैंदा तो ऊपर है, बिल नीचे की ओर है। इस चमस के तीरभाग में (प्रान्तों में) उक्त सात ऋषि प्रतिष्ठित हैं। निम्नलिखित मन्त्र-श्रुतियाँ इसी प्राण-सप्तक का स्पष्टीकरण कर रहीं हैं।

१—साकञ्जानां सप्तथमाहुरेकजं षडिद्यमा ऋषयो देवजाः।
तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः" ॥
—ऋक्सं० १।१६४।१५।

२—अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्।
तस्यासतऽऋषयः सप्ततीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना ॥
—शत० १४।५।२।४।

३—"इमावेव गोतम-भरद्वाजौ। अयमेव गोतमः, अयं भरद्वाजः। इमावेव-विश्वा-मित्रजमदग्नी। अयमेव विश्वामित्रः, अयं जमदग्निः। इमावेव वसिष्ठ-

कश्यपौ। अयमेव वसिष्ठः, अयं कश्यपः। वागेवात्रिः। वाचा ह्यन्नमद्यते। 'अत्ति' ह वै नामैतद्यदत्रिरिति। सर्वस्यात्ता भवति, सर्वमस्यान्नं भवति, य एवं वेद'' (शत० १४।५।२।६।)।

इसके अतिरिक्त आध्यात्मिक जगत् में प्रतिष्ठित विविध वृत्तियों का सञ्चालन भी इन्हीं असत्प्राणों के आधार पर प्रतिष्ठित है। अङ्गिराप्राण से 'कर्म्मप्रवणता' उत्पन्न होती है। जिसका अङ्गिराप्राण मूर्च्छित रहता है, वह सर्वथा अकर्म्मण्य, आलसी बना रहता है। वसिष्ठप्राण से 'ओजस्विता' का उदय होता है। जिसका वसिष्ठप्राण मूर्च्छित रहता है, उसका मुख कान्तिहीन, उदासीन रहता है। अत्रिप्राण से 'अनसूया' वृत्ति का उदय होता है। जिसमें अत्रिप्राण मूर्च्छित रहता है, वह सदा दूसरों की निन्दा किया करता है, परदोषदर्शन का अनुगामी बना रहता है। पुलस्त्यप्राण से 'घातक' वृत्ति का साम्राज्य रहता है। क्रतुप्राण से 'अध्यवसाय' वृत्ति जागृत रहती है। दक्षप्राण 'व्यवसायबुद्धि' का प्रवर्त्तक बनता है। कश्यपप्राण 'पुरन्ध्रिता'–तथा 'प्रजावात्सल्य' का प्रवर्त्तक है। जिसका कश्यपप्राण मूर्च्छित रहता है, न तो वह प्रजासन्तति का ही पात्र बनता, न उसकी वृत्ति में वात्सल्य का ही उदय होता। विश्वामित्रप्राण से 'आयुःस्वरूपरक्षा', तथा–'दृढ़ता' का उदय होता है। भृगुप्राण से 'विद्याप्रवणता' का आविर्भाव होता है। अगस्त्यप्राण से 'परापकारवृत्ति' जागृत रहती है। मरीचिप्राण से 'स्वेदोत्पत्ति', तथा 'स्वभावमार्द्दव' का उदय होता है। निदर्शनमात्र है। हमारी आध्यात्मिक संस्था मे जितनें भी उच्चावच भाव प्रतिष्ठित हैं, सबकी मूलप्रतिष्ठा ये ही असत्–प्राण हैं। प्राणों के तारतम्य से, विशेषता से ही प्राणियों की वृत्ति में तारतम्य, विशेषता उत्पन्न होती है। एवं असल्लक्षण–ऋषिप्राण का यही संक्षिप्त निदर्शन है।

(२)—रोचनालक्षण ऋषि—

(२)—सुप्रसिद्ध नाक्षत्रिक ऋषि ही रोचनालक्षण ऋषि हैं। खगोल में जितनें भी नक्षत्र हैं, वे सब भिन्न भिन्न प्राणों की प्रतिकृतियाँ हैं। भूतपिण्डात्मक जिस नक्षत्र में जिस प्राण की प्रधानता है, वह नक्षत्र उसी प्राण के नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। सृष्टिप्रवर्त्तकत्वेन इनका यदि असल्लक्षण प्राणों में अन्तर्भाव कर लिया जाता है, तो दोनों के दो स्वतन्त्र विभाग न होकर एक ही विभाग रह जाता है। असल्लक्षण प्राण जिस प्रकार विविध सृष्टियों के प्रवर्त्तक बनते हैं, एवमेव ये नाक्षत्रिक प्राण भी सृष्टिकर्म्म में प्रधान सहायक बनते हैं। 'निदानविद्या' की मूलप्रतिष्ठा ये ही नाक्षत्रिक ऋषि बनते हैं। 'भचक्र' में प्रतिष्ठित तत्तन्नक्षत्रों के तत्तत् प्राणधर्म्मों के आधार पर कल्पित आख्यान बनाए गए हैं, जो कि नाक्षत्रिक–आख्यान पुराणोक्त अष्टविध आख्यानों में से 'असदाख्यान' (कल्पित कथाएँ) नाम से प्रसिद्ध हैं।

जो महानुभाव पौराणिक आख्यानों को एकान्ततः काल्पनिक समझते हैं,वे भ्रान्ति में हैं। उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि, आध्यात्मिक[१], आधिदैविक[२], आधिभौतिक[३], आध्यात्मिकाधिदैविक[४], आध्यात्मिकाधिभौतिक[५], आधिदैविकाधिभौतिक[६], आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिक[७], ये सात आख्यान तो सर्वथा सदाख्यान हैं। केवल एक विभाग अवश्य ही ऐसा है, जिसके पात्र, चरित्र, आदि सब कल्पित हैं। स्वयं पुराणाचार्य्यों नें इन कल्पित कथाओं के सम्बन्ध में यह स्पष्ट कर दिया है कि, इनके पात्रादि कल्पित

हैं। जिसे आज का युग 'माइथालॉजी' कहता है, वही हमारा असदाख्यान विभाग (मिथ्याकथाएँ–माइथालॉजी–मिथ्याज्ञान–कल्पित ज्ञान) है। देवप्रतिमाएँ, उपासना के विविध प्रकार, वैदिक निदानविद्या, इत्यादि का इसी विभाग के साथ सम्बन्ध है, जैसा कि 'पुराणरहस्य', तथा 'गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत 'भक्तिपरीक्षा' नामक प्रकरण में विस्तार से प्रतिपादित है।

काल्पनिक कथाएँ काल्पनिक अवश्य हैं, परन्तु इनके द्वारा जिस सत्य तात्त्विक रहस्य का बोध कराया जाता है, वह एक अलौकिक वस्तु है। 'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते' शिक्षण-पद्धति के इस सर्वोच्च सिद्धान्त के प्रथम आविष्कारक महर्षियों नें बालबुद्धियों की प्ररोचना करते हुए अञ्जसा तत्त्वबोध शिक्षणार्थ ही इन कथाओं की सृष्टि की है। प्ररोचना (मन-बहलाव) के साथ साथ नाक्षत्रिक विद्यापरिज्ञान, लोक-राजनीतियों का स्पष्टीकरण, आदि अनेक प्रयोजन इन कथाओं के गर्भ में और प्रतिष्ठित हैं। उदाहरण के लिए एक आख्यान पाठकों के सामने रक्खा जाता है। इसी से उन्हें विदित हो जायगा कि, अवश्य ही ये नाक्षत्रिक आख्यान बड़ी सरलता से गहनतम तत्त्वों का स्पष्टीकरण कर रहे हैं।

"* एक बार प्रजापति अपनी लड़की के पीछे दौड़े। हरिणी बन कर दौड़ती हुई लड़की का प्रजापति ने हरिण बनकर पीछा किया। देवताओं नें यह दृश्य देखा, और निश्चय किया कि, प्रजापति अनुचित कर्म्म कर रहे हैं। देवताओं नें अपनी मण्डली में ऐसे व्यक्ति की खोज की, जो प्रजापति को दण्ड दे सके। परन्तु उन्हें अपने में एक भी व्यक्ति इस योग्य प्रतीत न हुआ। अन्ततोगत्त्वा देवताओं नें अपने घोरतमभाग को (क्रोधाग्नि का) एक स्थान पर सञ्चित किया। वही सञ्चित तेजोभाग 'नीलकण्ठ' नामक रुद्रदेवता कहलाया। यही 'भूतवत्' (भूतपति) नाम से भी प्रसिद्ध हुआ। (अपने सञ्चित क्रोध से उत्पन्न क्रोधमूर्त्ति) इस देवता को देवताओं नें यह कहा कि, प्रजापति अनुचित कर्म्म कर रहे हैं, आप इन्हें अपने शर से बींध डालिए। "यदि मैं यह

---

*–"प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायत्–दिवमित्यन्ये आहुः, उषसमित्यन्ये। तामृश्यो भूत्वा रोहितं भूतामभ्यैत्। तं देवा अपश्यन्–अकृतं वै प्रजापतिः करोति, इति। ते तमैच्छन्–य एनमारिष्यति। एतमन्योऽन्यस्मिन्नाविन्दन्। तेषां या एव घोरतमास्तन्व आसन्, ता एकधा समभरन्। ताः सम्भृता एष देवोऽभवत्, तदस्यैतद् भूतवन्नाम। तं देवा अब्रुवन्–अयं वै प्रजापतिरकृतमकः, इमं विध्येति। स तथेत्यब्रवीत्। स वै वो वरं वृणा इति। वृणीष्वेति। स एतमेव वरमवृणीत–पशूनामाधिपत्यम्। तदस्यैतत् पशुमन्नाम। तमभ्यायत्याविध्यत्। स विद्ध ऊर्ध्वउदप्रपतत्। तमेतं मृग इत्याचक्षते। य उ एव मृगव्याधः, स उ एव सः। या रोहित्, सा रोहिणी। या उ एवेषुस्त्रिकाण्डा, सा उ एवेषुस्त्रिकाण्डा" इति। (ऐतरेयब्रा० १३ अ० १० ख०)।

कर्म्म करूँगा, तो मैं पशुपति माना जाऊँगा" यह सन्धा ठहराते हुए रुद्र ने शर चला कर प्रजापति को वींध डाला। प्रजापति का मस्तक कट कर पृथक् जा गिरा। वही 'मृग' (मृगशिरा) नाम से प्रसिद्ध है। स्वयं रुद्रदेवता 'मृगव्याध' (मृग को मारने वाले शिकारी) नाम से प्रसिद्ध है। रोहिणी ही प्रजापति की दुहिता है। त्रिकाण्ड नक्षत्र ही रुद्र के हाथ से निकला हुआ शर (तीर) है"।

नक्षत्रसंस्था को पहिचानने वाले पाठकों को यह विदित होगा कि, द्यु प्रदेश में 'कृत्ति' के आकार का (नापित के छुरे का आकार का) सुप्रसिद्ध आग्नेय 'कृत्तिका नक्षत्र' है। इस कृतिका नक्षत्र से पूर्व 'लुब्धक' नाम से प्रसिद्ध नीलकण्ठ महादेव से पश्चिम, शशलाञ्छनलक्षण 'चन्द्रमानक्षत्र', तथा श्याव-शबल नामक श्वाननक्षत्र से उत्तर, 'पुनवसु' नामक दो नक्षत्रों से उत्तर, इतने द्यु प्रदेश में जितने अवान्तर नक्षत्र हैं, उन सबको आधार बना कर ही पूर्वाख्यान की सृष्टि हुई है। द्यु प्रदेश से उपलक्षित सुप्रसिद्ध रोहिणी नक्षत्र को लेकर भी इस कथा का समन्वय किया जा सकता है। एवं उषःकालोपलक्षित 'औपसी' को लेकर भी समन्वय किया जा सकता है। इसी आधार पर श्रुति ने कहा है—'दिवमित्यन्ये आहुः, उपसमित्यन्ये'।

कृत्तिका नक्षत्र से (कुछ ही) पूर्वदिशा में शकटाकार (इंग्लिश के A अक्षर जैसा) रक्तवर्णात्मक, पञ्चतारात्मक एक नक्षत्र है। रोहित (लोहित) वर्ण होने से ही इसे 'रोहिणी' कहा जाता है। तन्त्रशास्त्र के मतानुसार यही दशमहाविद्याप्रकरण की 'कमला' (लक्ष्मी) है। इसके दर्शन से भाग्यवृद्धि मानी गई है। अभ्युत्थानलक्षण आरोहणधर्म्म से भी इसे 'रोहिणी' कहना अन्वर्थ बनता है। इस रोहिणी नक्षत्र से ठीक पड्भान्तर पर (१८० अंश पर) समसम्मुख दक्षिणाकाश में वृश्चिक राशि से सम्बन्ध रखने वाला एक ज्योतिर्म्मय नक्षत्र और है, जो कि 'ज्येष्ठा' नाम से प्रसिद्ध है। तन्त्रशास्त्र ने इसी को 'धूमावती' (अलक्ष्मी) माना है। यही अवरोहिणीलक्षण निर्ऋतिदेवता है, दरिद्रा है। इसका दर्शन अशुभ माना गया है। जो इस नक्षत्र में उत्पन्न होता है, वह भाग्यहीन माना गया है।

रोहिणी नक्षत्र से ईशानकोण की ओर 'ब्रह्महृदय' नामक जो नक्षत्र है, वह प्रजापति का भग्नशरीर है। रोहिणी नक्षत्र से पूर्वस्थ मृगपशुमस्तकाकृतिरूप मृगशिरा नक्षत्र प्रजापति का भग्न मस्तक है। इस मस्तक-रूप मृगशिरा नक्षत्र में तीन तेजस्वी तारों का सम्बन्ध हो रहा है। वही रुद्र के हाथ से निकला हुआ शर है। रोहिणी नक्षत्र से पूर्व अग्निकोण की ओर महातेजस्वी, नीलवर्ण का जो एक चमत्कारपूर्ण नक्षत्र है वही 'लुब्धक' नाम से प्रसिद्ध है। यही नीलकण्ठ महादेव हैं। सूर्य्यताप जिस वस्तु को २४ घण्टे में द्रुत करता है, लुब्धकताप उसे क्षणमात्र में भस्मसात् करने की शक्ति रखता है। दुर्भाग्य से यदि सूर्य्य कहीं लुब्धक के सन्निकट पहुँच जाय, तो सूर्य्य क्षणमात्र में वाष्परूप बन कर उत्क्रान्त हो जाय। जिस प्रकार उदुम्बरफल (गूलर) में सम्पूर्ण ओषधियों का तत्त्व संग्रहीत है, एवमेव लुब्धक नक्षत्र में भचक्रस्थ सम्पूर्ण नक्षत्रों का तत्त्व संग्रहीत है। अतएव इसे 'पशुपति' कहना अन्वर्थ बनता है।

इस प्रकार द्यु प्रदेशोपलक्षित रोहिणी नक्षत्र के आधार पर प्रतिष्ठित यह नाक्षत्रिक आख्यान आदर्श शिक्षा के साथ साक्षात् नक्षत्रविद्या का भलीभाँति स्पष्टीकरण कर रहा है, जिसका कि विशद तात्त्विक विवेचन अन्यत्र

द्रष्टव्य है। प्रकृत में वक्तव्यांश यही है कि, नक्षत्रों में रहने वाले प्राण भी सृष्टिप्रवर्त्तक ऋषि ही माने गए हैं। इन नाक्षत्रिक ऋषिप्राणों में से सुप्रसिद्ध 'सप्तर्षिमण्डल' तो प्रसिद्ध ही है, जो कि ध्रुव के चारों ओर अहोरात्र में एक परिक्रमा लगा लेता है। इन्हीं सप्तर्षियों को (भालू की आकृति से युक्त रहने के कारण) 'ऋक्ष' (रींछ-भालू) नाम से भी व्यवहृत किया गया है। जिस समय आग्नेय कृत्तिका नक्षत्र पर अयन-सम्पात था, उस समय इन कृत्तिकानक्षत्रों को (जो कि संख्या में सात हैं) सप्तर्षिगण की पत्नी माना जाता था, जैसा कि निम्नलिखित ब्राह्मण-श्रुति से प्रमाणित है—

"एकं, द्वे, त्रीणि, चत्वारीति वाऽन्यानि नक्षत्राणि। अथैता एव-भूयिष्ठाः, यत् कृत्तिकाः। एता ह वै प्राच्यै दिशो न च्यवन्ते। सर्वाणि ह वाऽन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यै दिशश्च्यवन्ते। ऋक्षाणां ह वाऽएता अग्रे पत्न्य आसुः। सप्तर्षीन् उ ह स्म वै पुरर्क्षा इत्याचक्षते। अमी ह्युत्तरा हि सप्तर्षय उद्यन्ति, पुर एताः"।

—शत० ब्रा० २।२।१।३।

इस सप्तर्षिमण्डल के अतिरिक्त एक दूसरा छोटा सप्तर्षिमण्डल और है, जिसका कि ध्रुवसप्तक से सम्बन्ध है। यह सप्तर्षिगण 'सप्तमाता' नाम से प्रसिद्ध है, एवं यही ध्रुव की पहिचान है। इन सातों में ६ नक्षत्र तो घूमते रहते हैं, एक नक्षत्र घूमता प्रतीत नहीं होता। अतएव इसे 'ध्रुव' कह दिया जाता है। वस्तुतः ध्रुव किसी नक्षत्र का नाम नहीं है। अपितु ध्रुव तो एक निराकार वह विद्युत्प्राण है, जिसके आकर्षण से आकर्षित भूपिण्ड स्वाक्षपरिभ्रमण के द्वारा दैनंदिनगति का प्रवर्त्तक बन रहा है। यह विद्युत्प्राण पार्थिव विष्वद्-वृत्त की आधारभूमि बनता हुआ नाकस्थ विष्णु के चारों ओर परिक्रमा लगाया करता है। एवं इसकी यह एक परिक्रमा २५ हजार वर्ष में समाप्त होती है। जिस समय जिस स्थान पर यह ध्रुव विद्युत्प्राण प्रतिष्ठित रहता है, वहाँ के स्थूल नक्षत्र को (परिचय के लिए) ध्रुव नाम दे दिया जाता है। इसी सामान्य परिभाषा के अनुसार आज हमने ध्रुवनक्षत्र नाम से एक नक्षत्र की कल्पना कर रक्खी है। वस्तुतः ध्रुवनक्षत्र इन सातों से भिन्न, सातवें नक्षत्र से उपलक्षित ध्रुवप्राण है, जिसकी कि उपासना का द्वार सातवाँ स्थूलनक्षत्र बना हुआ है। यदि नियमपूर्वक ध्रुव की उपासना की जाती है, तो हमारी मेधा, श्री, सम्पत् सब की अभिवृद्धि हो जाती है। नियमशः ध्रुवदर्शन करना ही ध्रुवोपासना है, जिसका कि निम्नलिखित मन्त्रवर्णन से स्पष्टीकरण हो रहा है—

जज्ञानः सप्त मातृभिर्मेधामाशासत श्रिये।
अयं ध्रुवो रयीणां चिकेतदा॥

—सामसंहिता पू० २।१।

इनके अतिरिक्त जमदग्नि, अपांवत्स, नारद, तुम्बुरु, याम्यमत्स्य, भृगु, अङ्गिरा, आदित्य, अग्नि, वरुण, यम, निर्ऋति, बृहस्पति, सविता, आदि नाक्षत्रिक अनन्त ऋषिप्राण और हैं, जिनका भिन्न भिन्न सृष्टिकर्मों में व्यवस्थित रूप से उपयोग हो रहा है। यही रोचनालक्षण-ऋषि का दूसरा विभाग है। एवं ऋषिशब्द की यही दूसरी व्याप्ति है।

(३)—द्रष्टृलक्षण ऋषि—

(३)—नित्यसिद्ध वेदतत्त्व के द्रष्टा ऋषि ही सुप्रसिद्ध द्रष्टा ऋषि हैं। भूमिका-प्रथमखण्डोक्त 'वेद-विद्या:-ब्रह्मसङ्कृतवेदनिरुक्ति' प्रकरण * में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि सर्वज्ञ-सर्ववित्- सर्वशक्ति, अव्ययाक्षरानुगृहीत अक्षरप्रजापति विषय, संस्कार, शब्दोपाधि के भेद से ब्रह्म-विद्या-वेद, भावों में परिणत हो रहा है। प्राण, देवता, भूत, भौतिकादि पदार्थों का नियत कार्य्य-कारणभाव ही 'विद्या' है। नियतिःसत्य का यथार्थ स्वरूपपरिज्ञान ही विद्या है। गृहीत पूर्वाहित संस्कार से अभिनय में आने वाला (व्यक्त होने वाला) वही नियतिःसत्य विद्या है, गृह्यमाण धर्म्म (विषय) से व्यक्त होने वाला वही नियतिःसत्य 'ब्रह्म' है, एवं वाक् से व्यक्त होने वाला वही नियतिःसत्य वेद है। संस्कारावच्छिन्न वही सत्यज्ञान विद्या है, विषयावच्छिन्न वही सत्यज्ञान ब्रह्म है, एवं शब्दावच्छिन्न वही सत्यज्ञान वेद है, जैसाकि प्रथमखण्ड में विस्तार से बतलाया जा चुका है। अक्षरप्रजापति के इन तीनों विवर्त्तों में से प्रकृत में शब्दावच्छिन्न वेदविवर्त्त की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है।

यद्यपि सर्वसाधारण की दृष्टि में वेद, और मन्त्र शब्द परस्पर पर्य्याय बने हुए हैं। इसी साधारण दृष्टि के आधार पर मन्त्रसमष्टिलक्षण संहिताग्रन्थ को 'वेद' माना जा रहा है। परन्तु वस्तुतः वेदशब्द संज्ञी है, एवं मन्त्रशब्द संज्ञा है। वेद मन्त्र नहीं है, अपितु वेद का नाम मन्त्र है। जिन मन्त्रों में जो देवता-विज्ञान प्रतिपादित है, वह नित्यसिद्ध विज्ञानतत्त्व वेद है। एवं इस देवताविज्ञान का स्पष्टीकरण करने वाली शब्दराशि मन्त्र है। शब्दात्मक मन्त्र वाचक है, तत्त्वात्मक वेद वाच्य है। इस प्रकार संज्ञा-संज्ञी भेद से यद्यपि मन्त्र, तथा वेद शब्द भिन्न भिन्न अर्थों में व्यवस्थित हैं, तथापि दोनों के (शब्दार्थ के) तादात्म्य-सम्बन्ध को लक्ष्य में रखकर मन्त्र को वेद कह दिया जाता है, वेद को मन्त्र शब्द से व्यवहृत कर दिया जाता है, जैसाकि निम्नलिखित वचन से स्पष्ट है—

> प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुद्ध्यते ।
> एतं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता ॥

प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, भेद से प्रमाज्ञान के तीन साधक माने गए हैं। जहाँ प्रत्यक्ष, तथा अनुमान-प्रमाण की गति अवरुद्ध हो जाती है, ऐसे अतीन्द्रिय तत्त्वों के सम्बन्ध में तीसरे शब्दप्रमाण (आप्तप्रमाण) का ही आश्रय लिया जाता है। उक्त वचन 'एतं विदन्ति वेदेन' से इस शब्दप्रमाण का ही दिग्दर्शन करा रहा है। इस प्रकार यहाँ का वेदशब्द शब्दरूप मन्त्रप्रमाण के अभिप्राय से ही प्रयुक्त है। यह सब-कुछ ठीक होने पर भी यह सिद्धान्त-पक्ष है कि, शब्दोपपादित देवताविज्ञान 'वेद' है, एवं देवताविज्ञानोपपादक शब्द मन्त्र है। इसी भेददृष्टि को लक्ष्य में रखकर द्रष्टृलक्षण-ऋषि का विचार प्रस्तुत है।

जिस प्रकार वेदशब्द मन्त्राभिप्राय से प्रयुक्त होता है, एवमेव मन्त्रशब्द वेदाभिप्राय से भी प्रयुक्त हुआ है, जैसा कि "ऋषिर्वेदमन्त्रः' इत्यादि व्यवहारों से प्रमाणित है। "ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः"—"साक्षात्-

* देखिए उप० वि० प्र० ख० वैज्ञानिक वेदनिरुक्ति

कृतधर्म्माण ऋषयो बभूवुः" इत्यादि में पठित 'मन्त्र' शब्द वेदात्मक विज्ञानतत्त्व का संग्राहक बन रहा है। ऋषियों ने वेदतत्त्व को देखा है, वेदतत्त्व का साक्षात् करने से ही वे 'आप्त-ऋषि' कहलाए हैं। इस प्रकार वेदविद्या, तथा शब्दात्मक मन्त्र, दोनों में (शब्दार्थ के तादात्म्य से) सङ्करव्यवहार प्रचलित है। अथवा स्वयं 'मन्त्र' शब्द को ही शब्द और अर्थ, दोनों का वाचक समझते हुए एक दूसरी दृष्टि से विचार कीजिए। वर्णानुपूर्व्वीलक्षण शब्द, तथा शब्दप्रतिपाद्य तात्त्विक देवताविज्ञानात्मक अर्थ, दोनों के लिए मन्त्रशब्द नियत है। तत्त्व को भी मन्त्र कहा जा सकता है, तत्त्वप्रतिपादक शब्द को भी मन्त्र कहा जा सकता है। शब्दात्मक मन्त्र मन्त्रसंहितारूप से प्रसिद्ध हैं। एवं तत्त्वात्मक मन्त्र का पूर्व के **'वेदविद्या के संस्थाविभाग'** प्रकरण में दिग्दर्शन कराया जा चुका है। तत्त्व और शब्द दोनों में 'व्यासज्यवृत्ति' से प्रतिष्ठित रहने वाला मन्त्रशब्द **'समुदाये दृष्टाः शब्दा अवयवेष्वपि वर्त्तन्ते'** इस न्याय के अनुसार तत्त्ववेद का भी वाचक बन सकता है, एवं शब्दवेद का भी वाचक बन सकता है। दूसरे शब्दों में शब्दोपदिष्ट विज्ञान में निरूढ़ मन्त्रशब्द शब्दराशि के लिए भी प्रयुक्त हो सकता है. एवं शब्दराशि-प्रतिपादित विज्ञान के लिए भी प्रयुक्त हो सकता है। **'ब्रह्म वै मन्त्रः'** (शत० ७।१।१।५) के अनुसार मन्त्रसमानार्थक ही **'ब्रह्म'** शब्द है। एव यह ब्रह्मशब्द व्यासज्यवृत्त्या परलक्षण अर्थप्रपञ्च, तथा अपरलक्षण शब्दप्रपञ्च, दोनों से युक्त रहता हुआ प्रत्येक के लिये भी प्रयुक्त होता देखा गया है, जैसा कि निम्नलिखित वचन से स्पष्ट है--

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।
शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति॥

निष्कर्ष यही हुआ कि वाक्यसंग्रह को भी मन्त्र कहा जा सकता है, एवं तत्प्रतिपाद्य विद्यातत्व को भी मन्त्र कहा जा सकता है। विद्यात्मक (तत्त्वात्मक) मन्त्रों का ऋषियों ने अपनी आर्षदृष्टि से साक्षात्कार किया, इसी अभिप्राय से ये **'मन्त्रद्रष्टा'** कहलाए। एवं अपने दृष्ट अर्थ के आधार पर दृष्ट अर्थ के स्पष्टीकरण के लिए उन्होंने बुद्धिपूर्वक वाक्यरचना की। इन वाक्यरचनात्मक मन्त्रों के अभिप्राय से इन्हें **'मन्त्रकृत्'** माना गया। जो ऋषि मन्त्रद्रष्टा (तत्त्वद्रष्टा) हुए, वे ही मन्त्रकृत् कहलाए, जिन्होंने मन्त्रों का (शब्दात्मक मन्त्रों का) तात्पर्य्य भली भाँति समझ लिया, वे **'मन्त्रवित्'** कहलाए। एवं जिस मन्त्र में जिस ऋषिप्राण का निरूपण हुआ, यह प्राणात्मक ऋषि **'मन्त्रपति'** कहलाया। इस प्रकार दर्शन, निर्म्माण, वेदन, आधिपत्यादि भावों के भेद से प्राणविध, तथा प्राणी-विध ऋषियों के 'मन्त्रद्रष्टा'-मन्त्रकृत्'-'मन्त्रपति'-मन्त्रवित्' आदि अनेक भेद हो गए, जिनका कि निम्नलिखित वेदमन्त्र स्पष्टीकरण कर रहे हैं--

१—यामृषयो मन्त्रकृतो मनीषिण अन्वैच्छन् देवास्तपसा श्रमेण।
तां देवीं वाचं हविषा यजामहे सा नो दधातु सुकृतस्य लोके॥

२—नमो ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यः।
मा मा ऋषयो मन्त्रकृतो मन्त्रविदः प्राहुर्दैवीं वाचम्॥

३—ऋषे मन्त्रकृतां स्तोमैः कश्यपोद्वर्धयन् गिरः।
सोमं नमस्य राजानं यो जज्ञे वीरुधां पतिः ॥

—ऋक् सं० ६।११४।२

यदि मनुष्य-ऋषि ही वेदमन्त्रों के कर्त्ता हैं, तो 'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा' इत्यादि स्मृतियों का समन्वय कैसे होगा ?, इस प्रश्न की विशद-मीमांसा आगे के प्रकरणों में यथास्थान होने वाली है। प्रकृत में केवल यही वक्तव्य है कि, जिन मनुष्यविध, आप्त, महर्षियों ने तत्त्वात्मक वेद का साक्षात्कार किया, अथवा जो नित्यवेद स्वयं जगदीश्वर की प्रेरणा से इन तपःपूत महर्षियों के पवित्र अन्तःकरणों में प्रस्फुटित हुआ, वही वेदतत्त्व ऋषि-दृष्ट वेद कहलाया, एवं इसी अभिप्राय से इन्हें 'मन्त्रद्रष्टा' कहा गया। निम्नलिखित श्रुति-स्मृतिवचन इसी द्रष्टृलक्षण ऋषि का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

१—तद्वा ऋषयः प्रतिबुबुधिरे, य उ तर्हि ऋषय आसुः।

२—ये समुद्रान्निरखनन् देवास्तीक्ष्णाभिरभ्रिभिः।
सुदेवो अद्य तद्विद्याद् यत्र निर्वपणं दधुः॥

३—अजान् ह वै पृश्नीन् तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भू अभ्यानर्षत्।
तद् ऋषीणां ऋषित्वम्।

४—यज्ञेन वाचः पदवीमायंस्तामन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम्।

५—युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा॥

जो जिस विषय का साक्षात्कार कर लेता है, वह उस विषय का 'द्रष्टा' मान लिया जाता है। इसी को 'आप्त' (विषयप्राप्त, पहुँचवान) कहा जाता है। विषयविभाग स्वयं दृष्ट-अदृष्ट भेद से दो भागों में विभक्त है। जिन विषयों को हम अपनी इन्द्रियों से देख सकते हैं, वे सब लौकिक विषय 'दृष्ट-अर्थ' हैं। एवं आत्मा, परमात्मा, स्वर्ग, ऋषि, पितर, देवता, आदि जिन विषयों का (भूतमर्य्यादा से अतीत होने के कारण) हम अपनी इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं कर सकते, वे सब अतीन्द्रिय विषय अलौकिक, किंवा पारलौकिक बनते हुए 'अदृष्ट-अर्थ' हैं। क्योंकि पदार्थ दो जातियों में विभक्त हैं, अतएव द्रष्टा भी दो भागों में ही विभक्त मानने पड़ते हैं। लौकिक विषयों के द्रष्टा जहाँ 'लौकिक' कहलाते हैं, वहाँ अलौकिक विषयों के द्रष्टा 'ऋषि' नाम से व्यवहृत हुए हैं।

द्रष्टा के दृश्य प्रपञ्च को 'भौतिक, दैविक, अतीन्द्रिय' भेद से तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। जो मनुष्य इन्द्रियों के द्वारा भौतिक पदार्थों के द्रष्टा बनते हैं, भौतिक विज्ञान के अन्वेषक बनते हैं, उन्हें 'आप्त' अवश्य कहा जा सकता है, परन्तु ऋषि नहीं माना जा सकता। वे ही आप्त द्रष्टा ऋषि कहलाएँगे, जो आर्यदृष्टि से दैविक, तथा अतीन्द्रियभावों का प्रत्यक्ष करते हैं। यही आर्षदृष्टि 'ऋषिदृष्टि'

कहलाती है, जो कि सर्वसाधारण में नहीं हुआ करती। पूर्वजन्म के तपोऽनुष्ठान से, अथवा ऐहिक तपोऽनुष्ठान से यह ऋषिदृष्टि स्वतः प्रादुर्भूत होती है। इसी को अलौकिकदृष्टि कहा जाता है। मनुष्येतर प्राणियों में (तत्तद्विशेष प्राणियों में) भी यह अलौकिकदृष्टि देखी-सुनी जाती है। ऐन्द्रियकज्ञान का अभिमान करने वाला मनुष्य जिन कतिपय अतीन्द्रियभावों का अनुभव करने में असमर्थ है, साधारण प्राणी ईश्वर-प्रदत्त दृष्टि से उनका अनुभव, तथा प्रदर्शन करते देखे गए हैं। केवल सुसूक्ष्म गन्धादि के आधार पर चौर को ढूँढ निकालना, विषसंयुक्तान्न को पहिचान लेना श्वान का गुण देखा गया है। नकुल (न्यौला) विषनाशक औषधियों का परिज्ञाता है। होने वाली वृष्टि का मण्डूकों को परिज्ञान हो जाता है। श्वान-शृगाल-काक-पिङ्गलादि भावी अर्थ के परिज्ञाता, तथा सूचक माने गए हैं। आरण्यपशु अपने अपने रोगों की औषधियाँ पहिचानने में स्वयं समर्थ हैं। जिस प्रकार इन प्राणियों में ये विचित्र गुण स्वभावतः पाए जाते हैं, एवमेव अपूर्व सर्वथा अतीन्द्रि-यार्थजनक धर्म्म कितने एक विशेष मनुष्यों में भी देखा गया है। ऐसे अतीन्द्रियार्थ--द्रष्टाओं के लिए भूत-भविष्यदर्थ वर्त्तमानवत् बने रहते हैं। ऐसे अतीन्द्रियार्थद्रष्टा अलौकिक आप्त पुरुषों को ही द्रष्टा-ऋषि कहा जाता है, एव यही ऋषिशब्द की दृष्टृलक्षणा तीसरी प्रवृत्ति है। क्योंकि ये द्रष्टा ऋषि ही वेदशास्त्र के प्रवर्त्तक हैं, अतएव इन्हें **'वेदप्रवर्त्तक'** भी कहा जा सकता है।

> **आविर्भूतप्रकाशानामनभिप्लुतचेतसाम्।**
> **अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते ॥१॥**
>
> **अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा।**
> **ये भावा वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते ॥२॥**

(४)—वक्तृलक्षण ऋषि—

(४)-मान्त्रवर्णिक ऋषि को ही **'वक्तृलक्षण ऋषि'** कहा जाता है। शब्दात्मक मन्त्र जिसका वाक्य है, वह उस मन्त्र का ऋषि है एवं मन्त्र में जिस देवता (तत्त्व) का प्रतिपादन होता है, वह उस मन्त्र का देवता है। जिन ऋषियों ने तात्त्विक अर्थ को आर्षदृष्टि से देख कर वाक्यरूप से शब्दात्मक मन्त्र का उपदेश दिया है, वे ही उन वाक्यात्मक मन्त्रों के प्रवक्ता माने गए हैं। क्योंकि ऋषियों ने ही इन मन्त्रों का उपदेश दिया है, अतः वे ही इन मन्त्रों के वक्ता ऋषि माने गए हैं।

कहीं कहीं अनृषियों को भी ऋषि मान लिया गया है। और इसका कारण है विवक्षा। किसी ने मन्त्र कहा नहीं है, परन्तु यह मान लिया गया है कि, अमुक अमुक मन्त्र का वक्ता है। इस विवक्षामात्र से अनृषि भी ऋषि नाम से सुने गए हैं। 'बृहद्देवता' के अनुसार मन्त्रवर्ग **'देवस्तव-संवाद-आत्मस्तव-भाववृत्त'** भेद से चार भागों में विभक्त हैं। यदि भाववृत्त-वर्ग का देवस्तववर्ग में अन्तर्भाव मान लिया जाता है, तो तीन ही वर्ग रह जाते हैं।

असल्लक्षण, अतएव सदात्मक * प्राणरूप ऋषितत्त्व ही मौलिकवेद का स्वरूपलक्षण है। दूसरे शब्दों में प्राणरूप 'ऋषि' तत्त्व ही मौलिकवेद है, जिसके अविज्ञेय-दुर्विज्ञेय-विज्ञेय-एवं सुविज्ञेय-चिरन्तन इतिहासों का पूर्व-परिच्छेदों में क्रमशः दिग्दर्शन कराने की चेष्टा हुई है। मायातीत, अतएव विश्वातीत परात्पर परमेश्वर से अभिन्न अनन्तभावापन्न वही मौलिक वेद अविज्ञेय वेद है। मायामय, अतएव सहस्रवल्शेश्वरात्मक अश्वत्थब्रह्मलक्षण महेश्वर से अभिन्न सहस्रभावापन्न वही मौलिकवेद दुर्विज्ञेयवेद है। योगमायावच्छिन्न, अतएव एकवल्शेश्वरात्मक अश्वत्थ-शाखात्मक उपेश्वर से अभिन्न वही मौलिकवेद विज्ञेयवेद है। एवं भूतमायावच्छिन्न, अतएव वल्शाग्रभागात्मक अश्वत्थशाखानुगत सुपर्णानुगत ईश्वर से अभिन्न वही मौलिकवेद सुविज्ञेयवेद है। इन चारों वेदस्थानों में से अन्तिम चतुर्थ विज्ञेयवेद का मौलिक स्वरूप ही भरद्वाजमहर्षिद्वारा दृष्ट वह 'सावित्राग्नि' है, जिसके परिज्ञान से, उपासना से वेदस्वरूप गतार्थ बन जाया करता है। यही चतुर्धा विभक्त मौलिक वेद का संक्षिप्त चिरन्तन इतिवृत्त है, जिसकी मौलिकता उस 'ऋषि' पदार्थ पर ही प्रतिष्ठित है, जो कि वेदात्मक ऋषि-पदार्थ असत्-रोचना-द्रष्टृ-वक्तृ-भेद से चार संस्थानों से परिगृहीत है।

१—मायातीतः—परमेश्वरः—सर्वातीतः सर्वगः—तदभिन्नः—'अविज्ञेयवेदः'।

२—मायामयः—महेश्वरः—सहस्रवल्शेश्वरः—तदभिन्नः—'दुर्विज्ञेयवेदः'।

३—योगमायी—उपेश्वरः—एकवल्शेश्वरः—तदभिन्नः—'विज्ञेयवेदः'।

४—भूतमायी—ईश्वरः—वल्शाप्रतिष्ठितः—तदभिन्नः—'सुविज्ञेयवेदः'।

——*——

१—असल्लक्षण-ऋषिः—वेदतत्त्वस्वरूपः—तत्त्वर्षिः

२—रोचनालक्षण-ऋषिः—वेदतत्त्वस्वरूपः—तत्त्वर्षिः

३—द्रष्टृलक्षण-ऋषिः—वेदतत्त्वद्रष्टा—मानवऋषिः (तत्त्वर्षिनाम्ना प्रसिद्धः)

४—वक्तृलक्षण-ऋषिः—वेदतत्त्ववक्ता—मानवऋषिः (तत्त्वर्षिनाम्ना प्रसिद्धः)

——*——

सनातन आर्षनिष्ठा से अनुप्राणित अपौरुषेय वेद से सम्बन्ध रखने वाले मौलिक वेद का इतिवृत्त वेदप्रेमियों के सम्मुख उपस्थित किया गया। यद्यपि स्वयं वेद का मौलिक इतिवृत्त ही वेदतत्त्व की अपौरुषेयता

---

* असद्वाऽइदमग्रऽआसीत्। तदाहुः—'किं तदसदासीत्' इति ?, 'ऋषयो' वाव तेऽग्रेऽसदासीत्। तदाहुः—'के तऽऋषयः' इति ?, प्राणा वाऽऋषयः। ते यत् पुरास्मात् सर्वस्मादिदमिच्छन्तः श्रमेण तपसा 'अरिषन्', तस्मात्—'ऋषयः'।

—शत०ब्रा० ६।१।१।१।

में स्वतःप्रमाण प्रमाणित हो रहा है। जिस तत्त्वात्मक अपौरुषेयवेदप्रमाण्य से सब-कुछ प्रमाणित है, उसे प्रमाणित करने के लिए यद्यपि किसी अन्य प्रमाण की यत्किञ्चित् भी अपेक्षा नहीं है। तथापि लक्षणैकचक्षुष्क आस्तिक भारतीय मानव की 'शब्दप्रमाणका वयम्। यदस्माकं शब्द आह, तदस्माकं प्रमाणम्' इस आप्तोपदेशशब्दात्मिका सहज प्रमाणनिष्ठा के अनुरोध से मौलिकवेद से सम्बन्ध रखने वाले आप्तप्रमाणों का भी अनुगमन अनिवार्य्यकोटि में हीं समाविष्ट हो रहा है। इसी अनिवार्य्यता की पूर्त्ति के लिए 'तात्त्विकवेदानुगत प्रमाणवाद' रूप से द्वितीयस्तम्भ पाठकों के सम्मुख उपस्थित हो रहा है।

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-द्वितीयखण्डान्तर्गत-
'वेद का मौलिकस्वरूप' नामक
प्रथमस्तम्भ-उपरत

— १ —

श्रीः

'उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-द्वितीयखण्डान्तर्गत

'वेद का मौलिकस्वरूप' नामक

प्रथमस्तम्भ—उपरत

१

श्रीः

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-द्वितीयखण्डान्तर्गत-

"तात्त्विक वेद, और प्रमाणवाद" नामक

द्वितीयस्तम्भ

२

श्रीः

२—तात्त्विकवेद, और प्रमाणवाद

१—प्रचलित-श्रद्धा विश्वास और प्रमाणवाद—

सनातनधर्म्मावलम्बी आस्तिक जन के परितोष के लिए वेद के वैज्ञानिकेतिवृत्त-प्रतिपादन से पहिले स्वयं सनातनधर्म्मावलम्बी होने के नाते हमारा आवश्यक कर्त्तव्य हो जाता है कि सर्वसाधारण में प्रचलित श्रद्धा-विश्वास के सर्वथा विपरीत जाने वाले वेद के तात्त्विक स्वरूप के समर्थन के लिए प्रमाणवाद का आश्रय लिया जाय। पूर्वप्रकरण से यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि, वेदग्रन्थ भिन्न वस्तु है, एवं वेदतत्त्व भिन्न वस्तु है। वेदतत्त्व नित्य है, कूटस्थ है, अपौरुषेय है, अकृतक, किंवा ईश्वरकृत है। वेदग्रन्थ अनित्य है, पौरुषेय है, कृतक है, किंवा ऋषिकृत है। आस्तिक समाज वेद के सम्बन्ध में वेदतत्त्व, तथा वेदग्रन्थ का पार्थक्य स्वीकार करने के लिए सन्नद्ध नहीं है। उसकी दृष्टि में शब्दात्मक वेदग्रन्थ ही अपौरुषेय है। ऋषियों के अन्तःकरण में ईश्वरीय-प्रेरणा से शब्दात्मक वेदमन्त्र आनुपूर्व्वी से स्वतः प्रकट हुए हैं। ऋषिगण शब्द-वेद के कर्त्ता (रचयिता) नहीं हैं, अपितु द्रष्टा-मात्र हैं। इस प्रचलित श्रद्धा-विश्वास के सर्वथा विपरीत जब हम यह कहने का साहस करते हैं कि, वेदग्रन्थ, किंवा शब्दात्मक वेदमन्त्र तो ऋषियों की बुद्धिपूर्वा वाक्य-कृति (वाक्यरचना) है, एवं तत्त्वात्मक वेदमन्त्र ऋषियों की दृष्टि है। दूसरे शब्दों में तत्त्वात्मक वेदमन्त्र (वेदात्मक नित्य विज्ञान) तो ऋषियों के अन्तःकरणों में स्वतः प्रादुर्भूत है, एवं शब्दात्मक वेदमन्त्र (वेदग्रन्थ) ऋषियों की रचना है, तो आस्तिक समाज क्षुब्ध हो पड़ता है। इस क्षोभ-शान्ति के लिए हमारे प्रज्ञाकोष में एक-मात्र यही उपाय बच रहता है कि, "शब्दप्रमाणका वयं, यदस्माकं शब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्"-"तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ"-लक्षणैकचक्षुष्का वयम्" का निनाद करने वालों के सामने कुछ एक वैसे प्रमाण उपस्थित कर दिए जायँ, जो स्पष्टरूप से वेद के तात्त्विक रूप का समर्थन करते हुए यह सिद्ध कर सकें कि, शब्दात्मक वेदमन्त्रों के द्वारा प्रतिपादित नित्यसिद्ध, कूटस्थ, देवताविज्ञानात्मक तत्त्व ही वेदपदार्थ है। इसी दृष्टिकोण के स्पष्टीकरण के लिए प्रकृत प्रमाणवाद वेदभक्तों के सम्मुख उपस्थित हो रहा है। हमें विश्वास है कि, तात्त्विक वेदस्वरूपसमर्थन के लिए यहाँ जो प्रमाण उद्धृत हुए हैं, उनके सम्यगवलोकन से आस्तिक समाज का दृष्टिकोण अवश्य ही परिवर्त्तित होगा।

२—ऋक्तत्त्व, और अग्नि—

(अग्निवेदः) १—यमग्निं मेध्यातिथिः कण्व ईध ऋतादधि।
तस्य प्रेषो दीदियुस्तमिमा ऋचस्तमग्निं वर्धयामसि॥

—ऋक्सं० १।३६।११।

"मेध्यातिथि नामक कण्व ऋषि ने ऋत से जिस अग्नि को प्रदीप्त किया, उस अग्नि से चारों ओर रश्मियाँ निकल पड़ीं। इस प्रदीप्त अग्नि को ऋचाओं ने प्रवृद्ध कर दिया। ऐसे इस प्रवृद्ध अग्नि को आज

हम अपने यज्ञ में प्रवृद्ध करते हैं"। इस मन्त्र में आधिदैविक, तथा आधिभौतिक अग्नि के स्वरूप का स्पष्टीकरण हुआ है। सौर सावित्राग्नि आधिदैविक अग्नि है, जिसका कि पूर्वप्रकरणान्तर्गत सावित्राग्नि–स्वरूप-निरुक्तिपरिच्छेद में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। सौर सावित्राग्नि यद्यपि स्वस्वरूप से घोर कृष्ण है, ज्योति का आत्यन्तिक अभाव है। तथापि सूर्य्यसंस्था से ऊर्ध्व भाग में अवस्थित्त पारमेष्ठ्य ऋतधर्म्मा, दाह्य. सोम की आहुति से यह दाहक सावित्राग्नि प्रदीप्त हो पड़ता है। सावित्राग्नि में जलते हुए ऋत सोम का ही नाम प्रकाश है, जैसाकि–"अजनयत् सूर्य्ये ज्योतिरिन्दुः" (ऋक्सं०९।७।४१।)–"त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ" (ऋक्सं० १।९१।२२।) इत्यादि अन्य मन्त्रवर्णनों से स्पष्ट है। इसी ऋतसोमाहुति से सूर्य्य 'अग्निहोत्र' कहलाया है, जैसा कि–"सूर्य्यो ह वाऽअग्निहोत्रम्" (शत० २।३।१।१।) इत्यादि ब्राह्मणश्रुति से स्पष्ट है।

जब दाहक सावित्राग्नि में ऋत सोम की आहुति होती है, तो यह सौर अग्नि प्रज्वलित होता हुआ सहस्ररश्मियों से युक्त हो जाता है। सूर्य्य की सहस्र रश्मियाँ इसी सोमाहुति से उद्भूत हैं। रश्मियुक्त इस सावित्राग्नि की वृद्धि का एकमात्र कारण है ऋचाएँ। मूर्त्ति का ही नाम 'ऋक्' है, यही प्रस्ताव है, यहीं से मूर्त्तिधारात्मिका रश्मियों का विनिर्गम होता है, जैसा कि आगे के परिच्छेदों में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। प्रत्येक रश्मि सूर्य्य–पिण्डों की धारावाहिक–क्रमिक, उत्तरोत्तर ह्रस्वीभूत प्रतिमाएँ हैं। मूलपिण्ड महदुक्थ–रूप ऋक्समुद्र है। मूलपिण्ड के केन्द्र को आधार बनाकर चारों ओर व्याप्त रहने वाली रश्मियाँ अनेक उक्थों (तूलपिण्डों) की समष्टि है, जो कि ऋग्रूप तूलपिण्ड 'उक्थामद' नाम मे प्रसिद्ध है। उक्थामदरूप इन्हीं ऋचाओं (तूलपिण्डों) के वितान से सूर्य्यबिम्बावच्छिन्न सावित्राग्नि लोकालोकपर्य्यन्त व्याप्त हो जाता है। इस ऋङ्मय, साममय रश्मिरूप आधिदैवक सौर अग्नि का महर्षि कण्व ने मन्थनप्रक्रिया के द्वारा समुद्-भूत अपने आधिभौतिक (याज्ञिक) आहवनीय अग्नि में ऋक्तत्व की प्रतिकृतिभूत ऋङ्मन्त्रों से आधान किया था।

केवल कर्म्मकाण्ड का समन्वय करने वाले सर्वश्री सायणाचार्य ने प्रकृत मन्त्र के "तमिमा ऋचः" वाक्य का—तमग्निमिमा अस्माभिः प्रयुज्यमाना ऋचो वर्धयन्तीति शेषः (इस यज्ञाग्नि को हमारे–ऋत्विजों के–मुख से निकली हुई ऋचाएँ प्रवृद्ध करतीं हैं) यह अर्थ माना है। आधिभौतिक प्रपञ्च से सम्बन्ध रखने वाले कर्म्मकाण्ड के सम्बन्ध में सायणाचार्य का यह समन्वय सर्वथा आदरणीय है। किन्तु केवल कर्म्मेतिकर्त्तव्यता पर ही मन्त्र–तात्पर्य्य का विश्राम नहीं है। मन्त्रों का प्रधान लक्ष्य तो आधिदैविक वैज्ञा-निक तत्त्व ही है। एवं इस पद्य में 'ऋचः' का अर्थ तत्त्वात्मक, उक्थामदलक्षण उक्थ ही होता है। प्रदीप्त अग्नि से रश्मियाँ निकल पड़तीं हैं, एवं रश्मियाँ मूलोक्थ के तूलरूप ही हैं, जैसा कि–"अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते" इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है।

२—अग्नितत्त्व, और ऋक्साम—

(अग्निवेद) २—अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते—

अग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति।

अग्निर्जागार तमयं सोम आह--
तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ॥

--ऋक् सं० ५।४४।१५।

"अग्नि जग पड़ा, ऋचाएँ इस की कामना करने लगीं। साम इसके अनुगत होने लगे। अग्नि जग-पड़ा, उसी समय सोम ने इस अग्नि से कहा कि, हे अग्ने! मैं तुम्हारा नीची श्रेणि का मित्र हूँ"। तात्त्विक अर्थ का विचार पीछे कीजिए। पहिले सायणभाष्यसम्मत अर्थ की मीमांसा कर लीजिए। प्रकृत मन्त्र का भाष्यकार ने कोई अर्थ नहीं किया है। इस मन्त्र से पहिले प्रश्नगर्भित एक मन्त्र और पठित है। उसी के अर्थ से श्रीसायण ने द्वितीय मन्त्र को गतार्थ मान लिया है। देखिए—

यो जागार तमृचः कामयन्ते यो जागार तमु सामानि यन्ति।
यो जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ॥

—ऋक्० ५।४४।१४।

"यो देवो जागार सर्वदा विनिद्रो जागरूको गृहे दर्त्तो, तमृचः सर्वशास्त्रात्मिकाः कामयन्ते। यश्च जागार तमु तमेव सामानि स्तोत्ररूपाणि यन्ति प्राप्नुवन्ति। यो जागार तमयमभिषुतः सोम आह वक्ति, मां स्वीकुरु-इति। हे अग्ने! तव सख्ये समानख्याने हितकरणे न्योका नियतस्थानोऽहं अस्मि भवामि" (सायणभाष्य)—"अग्निर्जागारेति पञ्चदशी पूर्वमेव निगदितव्याख्या, य इत्यस्य स्थाने अग्निरिति विशेषः"।

भाष्यप्रेमियों की श्रद्धा को अणुमात्र भी विचलित न करते हुए जब हम सायणभाष्य का समन्वय करने आगे बढ़ते हैं, तो सहसा गत्यवरोध हो जाता है। भाष्यकार का अभिप्राय यह है कि,—'यो जागार०' इत्यादि मन्त्र घर में सदा जाग्रत रहने वाले गृहपति अग्नि का अनिरुक्त रूप से निरूपण कर रहा है, एवं 'अग्निर्जागार०' इत्यादि मन्त्र निरुक्तरूप से इसी अग्नि का स्पष्टीकरण कर रहा है। ऋचः का अर्थ सर्व-शास्त्रात्मक ऋङ्मन्त्र है, सामानि का अर्थ उद्गाता नामक ऋत्विक् के द्वारा होने वाला स्तोत्रपाठ (सामगान) है, एव सोम का अर्थ आहुति के लिए सोमलताओं से निकाला हुआ ४० ग्रहपात्रों में विभक्त मर्यादा से प्रतिष्ठित रहता हुआ सोमरस है। फलतः मन्त्र का अर्थ होता है—"जो देवता (घर में प्रतिष्ठित अग्नि) सर्वदा जागता हुआ घर में प्रतिष्ठित रहता है, (सायंप्रातः अग्निहोत्र के समय) ऋङ्मन्त्र इस (गृहपति) अग्नि की कामना किया करते हैं। स्तोत्ररूप साम (स्तुतियाँ) इसी अग्नि को प्राप्त होतीं हैं। इसी जाग्रत अग्नि से अभिषुत (सोमवल्ली को कूट कर निकाला हुआ) सोम कहता है कि, आप (आहुतिरूप से) मुझे स्वीकार कीजिए। हे अग्ने! आपकी छत्रच्छाया में मैं प्रतिष्ठायुक्त बन रहा हूँ, नियत स्थान वाला बन रहा हूँ"।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि, अग्निहोत्रसाधक अग्नि याज्ञिकों के घरों में गृहपतिरूप से अहोरात्र प्रतिष्ठित रहता हुआ जागरूक है। यह भी निर्विवाद है कि, यह अग्नि ही गृहस्थी की प्रतिष्ठाभूमि है। किन्तु प्रकृत के दोनों मन्त्रों को इस गृहपति अग्नि का निरूपक मानना किसी भी दृष्टि से उचित प्रतीत नहीं होता। गृहपति अग्नि के लिए न तो सोम का अभिषव ही होता, एवं न सोमरस की इस गृह्याग्नि में आहुति ही होती। ऐसी दशा में-"तमयमभिषुन सोम आह" कहना कथमपि सङ्गत नहीं बनता। इसके अतिरिक्त 'तमयं सोम आह' वाक्य को एक स्वतन्त्र वाक्य मानना, 'मां स्वीकुरु' का अध्याहार करना, 'तवाहमस्म सख्ये न्योकाः' को स्वतन्त्र वाक्य मानते हुए अग्नि का अध्याहार करना, ये सभी बातें शब्दमर्य्यादा की दृष्टि से, प्रसङ्ग, हेतुता, अवसर, उपोद्घात, निर्वाहकैक्यवाक्यता आदि की दृष्टि से कथमपि समन्वित नहीं हो सकती। 'यो जागार तमयं सोम आह, तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः' यह समानार्थक एक प्रकरण है। स्वयं सोम ही अग्नि से कह रहा है कि, मैं आपका मित्र हूँ। अग्नि-सोम का सख्यभाव इन्द्रा-विष्णु की भाँति सुप्रसिद्ध है। जिस प्रकार दो मित्रों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है, एवमेव अन्नादलक्षण अग्नि, एवं अन्नलक्षण सोम का घनिष्ठ सम्बन्ध है। अग्नि-सोम की मैत्री का क्या परिणाम होता है ?, प्रकृतमन्त्र यही बतला रहे हैं।

सौर सावित्राग्नि को ही उदाहरण बनाइए। पारमेष्ठ्य सोम की आहुति से पहिले यह सावित्राग्नि सर्वथा सुप्त था, जैसाकि-'प्रसुप्तमिव सर्वतः' इत्यादि मानवीय-सिद्धान्त से स्पष्ट है। पारमेष्ठ्य-सोमाहुति से पहिले की स्थिति का अनुमान लगाते हुए हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ेगा कि, उस समय न तो सावित्राग्नि महदुक्थभाव (सूर्य्यपिण्डभाव) से ही युक्त था, न अर्चिर्लक्षण रश्मियों का ही प्रसार था। अपितु ऋतरूप से सावित्राग्निपरमाणु आपोमय पारमेष्ठ्य समुद्र में इत ततः ही दोलायमान थे। प्रजाकामुक स्वयम्भू प्रजापति की कामना से इस दाहक अग्नि में दाह्य सोम की आहुति हुई, आहुति से अग्नि में बलाधान हुआ, बलाहित आग्नेयपरमाणु समुचित होकर महदुक्थलक्षण सूर्य्यपिण्डरूप में परिणत हो गए। चारों ओर रश्मियों का प्रसार हो गया। इसी प्रकार सोमाहुति की कृपा से सुप्त (ऋतभावापन्न) अग्नि जाग्रत (सत्यभावापन्न) बनकर 'अग्नि, पिण्ड, रश्मिमण्डल', इन तीन संस्थाओं में परिणत हो गया। स्वयं अग्निपुरुष यजुर्वेद कहलाया, महदुक्थलक्षण सूर्य्यपिण्ड ऋङ्मण्डल कहलाया, एवं महाव्रतलक्षण अर्चिर्मण्डल (सहस्ररश्मिरूप प्रभामण्डल) सामवेद कहलाया। इस प्रकार सोमाहुति से जाग्रत यजुर्मूर्त्ति अग्नि ऋचाओं से, तथा सामों से युक्त हो गया। एक मित्र के सहयोग से अग्नि त्रयीमूर्त्ति बन गया। मित्र कैसा ?, 'न्योकाः'। 'ओक' शब्द स्थान का वाचक है, एवं 'नि' निम्नश्रेणि का सूचक है। अन्नादअग्नि भोक्ता है, अन्नसोम भोग्य है। दोनों के समतुलन में भोग्यलक्षण, अन्नात्मक सोम की श्रेणि अवर ही मानी जायगी। भोग्यसोम भोक्ता अग्नि में आत्मसमर्पण कर अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व उसी प्रकार खो देता है, जैसे कि दुग्ध-अन्नादि शरीराग्नि में आहुत होकर अपनी स्वतन्त्र सत्ता खो देते हैं। अग्नि में आहुत सोम अग्निरूप में परिणत हो जाता है। अग्निमित्र की जागृति के लिए, विकास के लिए सोम का आत्मबलिदान कर देना मैत्री का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। इसी सोमधर्म्म का स्पष्टीकरण करते हुए ऋषि ने कहा है-"अग्निर्जागार तमयं सोम आह, तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः"।

४—यज्ञप्रजापति, और त्रयीवेद—

(सर्वहुतवेदः) ३—तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥
—ऋक्सं० १०।९०।९।

यह मन्त्र 'पुरुषसूक्त' का नवाँ मन्त्र है। सृष्टिकामुक प्रजापति से काम-तप-श्रम से जिन सर्गों का उद्भव हुआ है, पुरुषसूक्त में उन्हीं सर्गों का निरूपण हुआ है। प्रधानतः यह सूक्त 'वैश्वानरपुरुष' लक्षण विराट्-पुरुष से सम्बन्ध रखने वाले सर्गों का ही निरूपण करता है। सोमाहुति से अग्नीषोमात्मक 'यज्ञप्रजापति' का आविर्भाव हुआ, जो कि विराट्पुरुष सम्वत्सररूप में परिणत होता हुआ रोदसीत्रैलोक्य, तथा त्रैलोक्य में रहने वाली प्रजासृष्टि का प्रवर्त्तक बनता है। अग्नि-सोमात्मक सौरसम्वत्सर ही पार्थिवप्रजा का 'सर्वहुत' यज्ञ है। सम्पूर्ण पार्थिवप्रपञ्च उसमें आहुत हो रहा है, वह हम में आहुत हो रहा है। '※नूनं जनाः सूर्य्येण प्रसूताः'—'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्य्यः'—'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' इत्यादि श्रुतियाँ इसी सौरयज्ञ का स्पष्टीकरण कर रही हैं। इसी यज्ञ से सर्वप्रथम उक्थामदलक्षण ऋचाओं का, महाव्रतलक्षण सामों का, गायत्र्यादि छन्दों का, एव यजु का विकास हुआ है। इस यज्ञेश्वर से प्रादुर्भूत होने वाली यह वेदत्रयी ही अपने वितानभाव से प्रजासृष्टि की प्रतिष्ठा बनती है। एवं प्रकृत श्रुति इसी तत्त्वात्मिका वेदत्रयी का इतिवृत्त बतला रही है।

५—पाञ्चजन्य अग्नि, और त्रयीवेद—

(चयनवेदः) (४)—ऋचो नामास्मि यजूंषि नामास्मि सामानि नामास्मि।
ये अग्नयः पाञ्चजन्या अस्यां पृथिव्यामधि।
तेषामसि त्वमुत्तमः प्र नो जीवातवे सुव॥
—यजुःसं० १८।६१।

यज्ञकर्त्ता यजमान चयनयज्ञ के द्वारा पञ्चचितिक अग्नि का अपने आत्माग्नि में आधान करता हुआ आध्यात्मिक वेदत्रयी का भी आधान करता है। वैधयज्ञद्वारा दिव्यत्रयी का आधान ही चयन का सर्वोत्कृष्ट फल है। प्रकृत मन्त्र इसी आध्यात्मिक वेदत्रयी का स्पष्टीकरण करता हुआ कह रहा है कि—"ऋचाएँ मेरा नाम है, यजु मेरा नाम है, साम मेरा नाम है"। अर्थात् यज्ञ से संस्कृत बना हुआ मेरा मनःप्राणवाङ्मय भूतात्मा आज ऋक्-यजुः-साममय बन गया है। पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, २ सन्धियाँ, इस प्रकार पाँच भागों में विभक्त, अतएव 'पाञ्चजन्य' नाम से प्रसिद्ध जो चित्याग्नि स्तोम्यत्रिलोकीरूपा महापृथिवी पर प्रतिष्ठित हैं, इन पाँचों की अपेक्षा अमृतलक्षण चितेनिधेयाग्नि (प्राणाग्नि) सर्वश्रेष्ठ है। उसी से प्रार्थना की जाती है कि, "आप सबमें श्रेष्ठ हैं, जीवनसत्ता की अन्यतम प्रतिष्ठा हैं, अतएव आप मुझे दीर्घकाल पर्य्यन्त जीवित रखिए"। मन्त्रार्थ के सम्बन्ध में प्रश्न उपस्थित होता है कि, आत्मा की तीन कलाओं में से कौन कौन ऋक्-यजुः-साम हैं ?। इसी प्रश्न का समाधान करता हुआ एक दूसरा मन्त्र उपस्थित होता है।

६—मनःप्राणवाङ्मय आत्मा, और त्रयीवेद—

(आत्मवेदः) (५)—ऋचं वाचं प्रपद्ये, मनो यजुः प्रपद्ये, साम प्राणं प्रपद्ये।
—यजुःसं० ३६।१।

※ आदित्यमूलमखिलं त्रिलोकं नात्र संशयः
भवत्यस्य जगत् कृत्स्नं-सदेवासुरमानुषम्"
—वायुपु० ५३ अ०। ३४ श्लो०।

"मैं ऋग्रूप वाक् का आश्रय लेता हूँ, यजुरूप मन का आश्रय लेता हूँ, प्राणरूप साम का आश्रय लेता हूँ" इस महीधरभाष्य का तात्पर्य्य यही है कि, आत्मा का वाग् भाग उक्थ बनता हुआ ऋक्समुद्र है, मनोभाग ब्रह्म बनता हुआ यजुःसमुद्र है, एवं प्राणभाग पृष्ठ बनता हुआ साममसुद्र है। इस प्रकार प्रकृत श्रुति विस्पष्ट शब्दों में अध्यात्मसंस्था को त्रयीविद्यामयी बतलाती हुई यह सिद्ध कर रही है कि, त्रयीविद्या तत्त्वात्मिका है। जिन की दृष्टि में वेदग्रन्थ ही वेद हैं, वे कैसे इस श्रुति का समन्वय करेंगे ?, यह उन्हीं वेदग्रन्थ-भक्तों से प्रष्टव्य है।

७—सर्वेन्द्रियमन, और त्रयीवेद—

(प्रज्ञानवेदः) (६)—यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

—यजुः सं० ३४।५।

"जिस प्रकार रथनाभि में आरे प्रतिष्ठित रहते हैं, एवमेव जिस (प्रज्ञान) मन में ऋचाएँ, साम, तथा यजु प्रतिष्ठित हैं, जिस (सर्वेन्द्रियलक्षण अतीन्द्रिय) मन में प्राणियों के (महत्-रूप) चित्त संलग्न हैं, वह मन शुभ संकल्पवाला बने"। मनःप्राणवाङ्मय आत्मा में मन ही आत्मा का प्रधान स्वरूप माना गया है। इस मन की अन्तर्म्मन, बहिर्म्मन, भेद से दो अवस्था हो जातीं हैं। अन्तर्म्मन 'श्व वसीयस्' नाम से प्रसिद्ध है, एवं इसका 'आनन्द-विज्ञान-मनो' रूप से विकास होता है। यही मुक्तिसाक्षी आत्मा है। बहिर्म्मन 'प्रज्ञानमन' नाम से प्रसिद्ध है, एवं इसका रस-बलचिति के तारतम्य से 'मनः-प्राण-वाग्' रूप से विकास होता है। यही सृष्टिसाक्षी आत्मा है। यजुर्वेदीय 'मनःसूक्त' में इसी बहिर्म्मन का प्रतिपादन हुआ है, जो कि बहिर्म्मन सब इन्द्रियों का संचालक बन रहा है*। मनःप्राणवाङ्मय आत्मा का मन भी मनोमय है, प्राण भी मनोमय है, एवं वाक् भी मनोमयी है। मनोमय मन यजुःसमुद्र है, मनोमय प्राण सामसमुद्र है, एवं मनोमयी वाक् ऋक्समुद्र है। तीनों वेद समष्टिलक्षण इसी प्रज्ञानमन में अर्पित हैं।

८—मनोमय गन्धर्व, और ऋक्सामरूपा अप्सरा—

(मनोवेद) (७)—प्रजापतिर्विश्वकर्म्मा मनो गन्धर्वस्तस्य ऋक्सामान्यप्सरस एष्टयो नाम।

—यजुः सं० १८।४३।

---

* यत् प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥१॥

—यजुः ३४।३।

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीषुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥२॥

—यजुः ३४।६।

"मनःप्राणवाङ्मय, यजुर्म्मूर्त्ति, मनःप्रधान प्रजापति ही विश्वकर्म्मा (सर्वकर्म्मप्रवर्त्तक) है । यह यजुरूप प्राजापत्य मन गन्धर्व है, एवं वाङ्मयी ऋक्, तथा प्राणमय साम इस गन्धर्व को अभीष्ट फल देने से 'एष्टयः' नाम से प्रसिद्ध अप्सरा हैं"। ऋक्-सामलक्षण वाक्-प्राण के आधार पर ही यजुर्म्मूर्त्ति मन विश्वकर्म्म में समर्थ बनता है। स्वस्वरूप से कामना करता है, प्राणद्वारा तपःकर्म्म का प्रवर्त्तक बनता है, एवं वाग्द्वारा श्रम का अधिष्ठाता बनता है। यदि ऋक्-साममय वाक्-प्राण न हों तो मन की कोई कामना सिद्ध न हो। यजुर्म्मन अपनी कामनासिद्धि के लिए ऋक्-साममय वाक्-प्राण से ही सतत यह कामना करता रहता है कि, मेरा यह काम पूरा हो, वह काम पूरा हो। ब्राह्मणश्रुति ने इसी अर्थ का यों स्पष्टीकरण किया है—

"मनो ह गन्धर्व ऋक्सामैरप्सरोभिर्मिथुनेन सहोच्चक्राम, एष्टयो नाम। ऋक्-सामानि वा एष्टयः। ऋक्-सामैर्ह्याशासते-इति नोऽस्तु, इत्थं नोऽस्तु"

—शत० ब्रा० ६।४।१।१२।

६—गरुत्मान् सुपर्ण, और त्रयीवेद—

(गायत्रवेदः) (८)–सुपर्णोऽसि गरुत्मान्, त्रिवृत्ते शिरः, गायत्रं चक्षुः, बृहद्रथन्तरे पक्षौ।
स्तोम आत्मा, छन्दांस्यङ्गानि, यजूंषि नाम, साम ते तनूः।
वामदेव्यं यज्ञायज्ञियं पुच्छं, धिष्ण्याः शफाः।
सुपर्णोऽसि गरुत्मान् दिवं गच्छ, स्वः पत॥

—यजुः सं० १२।४।

भूकेन्द्र से निकल कर पार्थिव एकविंश स्तोमपर्य्यन्त व्याप्त रहने वाला पार्थिव गायत्राग्नि ही पारमेष्ठ्यसोम का अपहरण करने वाला सुपर्ण है, जिसका कि ब्राह्मणग्रन्थोक्त सुपर्णाख्यानों में विस्तार से निरूपण हुआ है। भूपृष्ठ से आरम्भ कर २१ वें अहर्गण पर्य्यन्त व्याप्त रहने वाले इसी सुपर्ण का तात्त्विक स्वरूप बतलाती हुई श्रुति कहती है कि, हे गायत्राग्ने ! आप गरुड़ पक्षी के समान आकार वाले हैं। वासवान्यवच्छिन्न त्रिवृत्स्तोम आपका मस्तक है, गायत्रतेज आप का चक्षु है, एकविंशस्तोमावच्छिन्न रथन्तरसाम, तथा आप के राथन्तरमण्डल में (अतिमानसम्बन्ध से) प्रविष्ट सौर बृहत्साम आप के दोनों पक्ष हैं। मध्यस्थानीय पञ्चदशस्तोम आपका आत्मा (मध्याङ्ग–धड़) है। गायत्र्यादि सात छन्द (सात पूर्वापरवृत्त आपके शरीरावयव हैं, रसात्मक यजुरूप से क्योंकि आपका नमन होता है, गमन होता है, अतएव आप (अग्नि) यजुर्नाम से प्रसिद्ध हैं। वयोनाधात्मक (बाह्य आकारात्मक) साम ही आप का शरीर (बाह्यपृष्ठ) है। वामदेव्य, और यज्ञायज्ञिय, नाम के दो विशेष साम आपकी पुच्छ है। अन्तरिक्ष में रहनें वाले आठ नाक्षत्रिक सर्पों से आठ भागों में विभक्त, मार्जालीय, अच्छावाकादि नामों से प्रसिद्ध धिष्ण्याग्नियाँ (नाक्षत्रिकाग्नयाँ) आपके शफ (खुर) हैं। इस प्रकार आप इन पक्षि–सम अवयवविशेषों से सचमुच गरुत्मान् सुपर्ण बन रहे हैं। आप अपने इसी रूप से उधर तो पार्थिवमहिमा की अन्तिम परिधिरूप द्युलोक पर्य्यन्त व्याप्त हैं, एवं इधर भूपिण्ड के केन्द्ररूप स्वर्लोक पर्य्यन्त व्याप्त हैं"।

प्रकृत श्रुति के—"यजूंषि नाम, साम ते तनूः" वाक्य की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है। त्रैलोक्यव्यापक गायत्राग्नि का नाम तो यजुः है, एवं शरीर साम है। अवश्य ही ये यजुः-साम तत्त्वात्मक हैं। शब्दात्मक यजुः, तथा साममन्त्रों के द्वारा कथमपि मन्त्रार्थ का समन्वय नही किया जा सकता।

१० – नवाहयज्ञ, और त्रयीवेद—

(नवाहयज्ञवेदः)-(९)—यत्र ऋषयः प्रथमजा ऋचः साम यजुर्मही ।
एकर्षिर्यस्मिन्नर्पितः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥
—अथर्व सं० १०।७।१४।

"जिसमें प्रथमज ऋषि अर्पित हैं, ऋक्-साम-यजु अर्पित हैं, मही (महापृथिवी) अर्पित है, एकर्षि (सूर्य्य) अर्पित है, उस स्कम्भ का स्वरूप बतलाओ कि वह कैसा है ?, इस अथर्व मन्त्र के साथ वेदत्रयी का सम्बन्ध बतलाया गया है। पृथिवी के १७ वें अहर्गण से आरम्भ कर २५वें अहर्गण पर्य्यन्त ([१]१७-[२]१८-[३]१९-[४]२०-[५]२१-[६]२२-[७]२३-[८]२४-[९]२५) 'नवाहयज्ञ' प्रतिष्ठित है। इस नवाहयज्ञ का सत्रहवाँ अहर्गण 'ब्रह्म-विष्टप्' है, इक्कीसवाँ अहर्गण 'विष्णुविष्टुप्' है, एवं पच्चीसवाँ अहर्गण 'इन्द्रविष्टप्' है। विष्णुविष्टपात्मक एकविंश अहर्गण पर सूर्य्य प्रतिष्ठित है। १७ से २५ पर्य्यन्त सौर-तेज प्रवररूप से व्याप्त है। नवाहयज्ञात्मक यही तेजोमण्डल 'स्कम्भ' (स्तम्भ-खम्भा) है, जिसका कि अथर्ववेद की 'स्कम्भविद्या' में विस्तार से निरूपण हुआ है। साकञ्ज सप्तर्षिप्राण, महोक्थरूप ऋचाएँ, महाव्रतरूप साम, पुरुषलक्षण यजुः, पारावतघ्नात्मिका मही पृथिवी, सूर्य्यात्मक एकर्षिप्राण, सब-कुछ इसी स्कम्भ के आधार पर प्रतिष्ठित हैं। इस स्कम्भ से सम्बन्ध रखने वाली वेदत्रयी आपके वेदग्रन्थ नहीं है, यह मान लेने में सम्भवतः आपको कोई विप्रतिपत्ति न होगी।

११ — दिव्यस्कम्भ, और त्रयीवेद —

(स्कम्भवेदः)-(१०)-यस्मादृचो अपातक्षन्, यजुर्यस्मादपाकषन् ।
सामानि यस्य लोमानि, अथर्वाङ्गिरसो मुखम् ।
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥
—अथर्वसं० १०।७।२०।

"अपने सुप्रसिद्ध 'शस्त्र'-कर्म्म से जिससे ऋचाओं का विनिर्गम हुआ, जिससे यजुः निकले, साम जिसके लोम बनें, अथर्वाङ्गिरोलक्षण अथर्ववेद जिसका मुख बना, उस स्कम्भ का स्वरूप बतलाइए कि, वह कैसा है ?" इस मन्त्र में प्रतिपादित, स्कम्भ से सम्बन्ध रखने वाली वेदचतुष्टयी का भी विशुद्ध तात्त्विक वेद से ही सम्बन्ध मानना पड़ेगा।

१२—अध्यात्मसंस्था, और त्रयीवेद—

(सांस्कारिकवेदः)-(११)-विद्याश्च वा अविद्याश्च यच्चान्यदुपदेश्यम् ।
शरीरं ब्रह्म प्राविशत्-ऋचः सामाथो यजुः ॥
—अथर्वसं० ११।८।२३।

आध्यात्मिक संस्था का निर्म्माण कैसे हुआ ?, इसमें किन किन तत्वों का समावेश हुआ ?, इत्यादि प्रश्नों का समाधान करने वाले अथर्ववेदीय प्रकरण में उक्त मन्त्र पठित है। तात्पर्य्य इसका यही है कि "अध्यात्मसंस्था में विद्या, अविद्या का प्रवेश हुआ, ऋक्-साम-यजुः का प्रवेश हुआ"। शब्दात्मक वेद-भक्तों से इस सम्बन्ध में क्या यह नही पूँछा जा सकता कि, क्या आध्यात्मिक संस्था के स्वरूप निर्म्माण में शब्दात्मक मन्त्र प्रविष्ट हुए ?। विवश होकर उन्हें तत्त्वात्मक वेदत्रयी का ही आश्रय लेना पड़ेगा।

१३—उदूढत्रिलोकी, और त्रयीवेद—

(उदूढवेदः)-(१२)-सामाहमस्मि ऋक्त्वं, द्यौरहं पृथिवी त्वम्।
ताविह सम्भवाव प्रजामा जनयावहै॥

—अथर्वसं० १४।२।७१।

"मैं साम हूं, तू ऋक् है। मैं द्यौ हूँ, तू पृथिवी है। अपन दोनों दाम्पत्यभाव को प्राप्त हों। प्रजा उत्पन्न करें" यहाँ भी स्पष्ट ही ऋक्साम की तत्त्वरूपता का ही विश्लेषण हुआ है। स्त्री पृथिवी का रूप माना गया है, पुरुष द्यु का रूप माना गया है। उधर पृथिवी ऋगात्मिका है, द्युलोक साममय है। दोनों के दाम्पत्यभाव से ही प्रजोत्पत्ति सम्भव है। प्रकृत मन्त्र ने इसी 'तन्तुर्वितानविद्या' का स्पष्टीकरण किया है।

१४—सम्वत्सरप्रजापति, और त्रयीवेद—

(ब्रह्मनिःश्वसितवेदः)–(१३)–

(क)–सम्वत्सरो वै प्रजापतिरग्निः + + +। अथ स सर्वाणि भूतानि पर्य्यैक्षत्। स त्रय्यामेव विद्यायां सर्वाणि भूतान्यपश्यत्। अत्र हि सर्वेषां छन्दसामात्मा, सर्वेषां स्तोमानां, सर्वेषां प्राणानां, सर्वेषां देवानाम्। एतद्वा अस्ति, एतद्धि अमृतम्। यद्धि अमृतं, तद्धि अस्ति। एतदु तद्यन्मर्त्यम्। स ऐक्षत प्रजापतिः–त्रय्यां वाव विद्यायां सर्वाणि भूतानि, हन्त त्रयीमेव विद्यामात्मानमभिसंस्करवा इति।

(ख)–स ऋचो व्यौहत्–द्वादश बृहतीसहस्राणि। एतावत्यो हऽर्चो याः प्रजापतिसृष्टाः। तास्त्रिंशत्तमे व्यूहे पंक्तिष्वतिष्ठन्त। ता यत् त्रिंशत्तमे व्यूहेऽतिष्ठन्त, तस्मात् त्रिंशन्मासस्य रात्रयः। अथ यत् पंक्तिषु, तस्मात् पांक्तः प्रजापतिः। ता अष्टाशतं शतानि पंक्तयोऽभवन्।

(ग)–अथैतरौ वेदौ व्यौहत्–द्वादशैव बृहती सहस्राण्यष्टौ यजुषां, चत्वारि साम्नाम्। एतावद्धैतयोर्वेदयोर्यत् प्रजापतिसृष्टम्। तौ त्रिंशत्तमे व्यूहे पंक्तिष्वतिष्ठेताम्। तौ यत्

त्रिंशत्तमे व्यूहेऽतिष्ठेतां, तस्मात् त्रिंशन्मासस्य रात्रयः। अथ यत् पंक्तिषु, तस्मात् पांक्तः प्रजापतिः। ता अष्टाशतमेव शतानि पंक्तयाऽभवन्।

(घ)–ते सर्वे त्रयो वेदा दश च सहस्राण्यष्टौ च शतान्यशीतीनामभवन्। स मुहूर्त्तेन मुहूर्त्तेनाशीतीन् प्राप्नोत्, मुहूर्त्तेन मुहूर्त्तेनाशीतिः समपद्यत। स एषु त्रिषु लोकेषू-खायां योनौ रेतोभूतमात्मानमासिञ्चत्–छन्दोमयं, स्तोममयं, प्राणमयं, देवतामयम्। तस्याधमासे प्रथम आत्मा समस्क्रियत, दवीयसि परः, दवीयसि परः। सम्वत्सरऽएव सर्वः कृत्स्नः समस्क्रियत।

—शत० ब्रा० १०।४।२।२१-२२-२३-२४-२५-२६।

(क)—"अग्नि ही सम्वत्सर प्रजापति था। उस सम्वत्सर प्रजापति ने सम्पूर्ण भूतों को चारों ओर से देखा। उसने तीनों वेदों के गर्भ में हीं सम्पूर्ण भूतों को देखा। इसी त्रयीवेद के गर्भ में प्रजापति ने सम्पूर्ण छन्दों का आत्मा देखा, सम्पूर्ण स्तोमों का आत्मा देखा, सम्पूर्ण प्राणों का आत्मा देखा, सम्पूर्ण देवताओं का आत्मा देखा। यह त्रयीवेद 'अस्ति' लक्षण है, यही अमृत है। जो अमृत है, वही अस्ति (सत्ता) है। यही वह है, जो कि मर्त्य है। प्रजापति ने इस प्रकार त्रयीविद्या के गर्भ में छन्द-स्तोमादि का आत्मा प्रतिष्ठित देख कर संकल्प किया कि, "मैं इस त्रयीविद्या से ही अपने आत्माका संस्कार करूँ"।

(ख)—(अपने संकल्प को कार्य्यरूप में परिणत करने के लिए) प्रजापति ने बारह बृहतीसहस्र संख्या से ऋचाओं का व्यूहन किया। प्रजापति से उत्पन्न ऋचाओं की इतनी ही संख्या है। प्रजापति के द्वारा व्यूढ ये ऋचाएँ तीसवें व्यूह में पंक्तियों में प्रतिष्ठित हो गईं। क्योंकि ये ऋचाएँ तीसवें व्यूह में प्रतिष्ठित हुईं, अतएव एक महीने की तीस रात्रियाँ हुईं। साथ ही ऋचाएँ पंक्तियों में प्रतिष्ठित हुईं, अतएव प्रजापति पांक्त (पञ्चावयव) बन गए। ये पंक्तियाँ आठ सौ संख्या में सम्पन्न हुईं।

(ग)—(ऋग्व्यूहन के अनन्तर प्रजापति ने) क्रमशः आठ बृहतीसहस्र संख्या में यजुः का, एवं चार बृहतीसहस्र संख्या में साम का व्यूहन किया। दोनों वेद तीसवें व्यूह में प्रतिष्ठित हुए। क्योंकि दोनों तीसवें व्यूह में प्रतिष्ठित हुए, अतएव एक मास की तीस रात्रियाँ होतीं हैं। यजुः-साम पंक्तियों में प्रतिष्ठित हुए, अतएव प्रजापति पांक्त बन गए। ये पंक्तियाँ संख्या में आठ सौ हुईं।

(घ)— इस प्रकार ऋक्-यजुः-साम, तीनों वेदों को मिलकर चौबीस बृहतीसहस्र संख्या हुई। प्रजापति एक एक मुहूर्त से एक एक अशीति को प्राप्त हो गए, एक एक मुहूर्त्त से एक एक अशीति का स्वरूप सम्पन्न हुआ। (इस प्रकार त्रयीविद्या से अपने आत्मा का संस्कार कर) प्रजापति ने इन तीनों लोकों में व्याप्त त्रैलोक्यात्मिका उखा योनि में रेतोरूप अपने उस आत्मवीर्य्य की आहुति दी, जो कि आत्मवीर्य्य छन्दोमय, स्तोममय, प्राणमय, एवं देवतामय था। इस सिक्त रेत का पक्ष पक्ष में संस्कार किया, आगे जाकर मास-ऋतु-अयन, इस क्रम से उत्तरोत्तर प्रवृद्ध परिमाण से संस्कार करते करते प्रजापति ने सम्पूर्ण सम्वत्सर का संस्कार कर डाला।"

उक्त श्रुतियों का तात्त्विक अर्थ तो पाठक आगे के परिच्छेदों में देखेंगे। अभी अक्षरार्थ के आधार पर केवल यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि, श्रुति ने अग्निमूर्त्ति सम्वत्सरप्रजापति का सम्बन्ध जिस त्रयीविद्या से बतलाया है, एवं त्रयीविद्या का जो संस्था-विभाग बतलाया है, उसका एकमात्र तात्पर्य्य तात्त्विक वेदत्रयी से ही सम्बन्ध रखता है। आधिदैविक, नित्य वेद का, एवं नित्य वेद के वितान का ही श्रुति ने स्पष्टीकरण किया है, जिसका कि शब्दात्मक वेद के आधार पर प्रयत्न-सहस्रों से भी समन्वय नहीं किया जा सकता।

१५—स्वायम्भुवी वाक्, और त्रयीवेद—

(गायत्रीमात्रिकवेदः)-(१४)-सा वा एषा वाक त्रेधा विहिता-ऋचो, यजूंषि, सामानि। मण्डलमृर्चः, अर्चिः सामानि, पुरुषो यजूंषि। अथैतदमृतं, यदेतदर्चिर्दीप्यते। इदं तत् पुष्करपर्णम्।

—शत० ब्रा० १०।५।१।५।

"वह यह वाक् ऋक्-यजुः-साम भेद से तीन भागों में विभक्त है। मण्डलात्मिका वाक् ऋचाएँ हैं, अर्चिरूपा वाक् साम हैं, पुरुषात्मिका वाक् यजुः हैं। यह जो ज्योतिर्म्मण्डल (रश्मिमण्डल) प्रदीप्त हो रहा है, वही अमृत है। इसी को (यज्ञपरिभाषा में) पुष्करपर्ण कहा गया है"। श्रुति ने जिस वाङ्मयी वेदत्रयी का दिग्दर्शन कराया है, वह आदित्याग्निरूपा ही है। 'प्राण-आप-वाक्-अन्न-अन्नाद' भेद से पाँच भागों में विभक्त प्रकृति का क्रमशः 'स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य चन्द्रमा-पृथिवी' इन पाँच विश्वपुरों के साथ सम्बन्ध है। तीसरी 'वाक्' प्रकृति हो सूर्य्य की प्रतिष्ठाभूमि है। यह वाक्तत्व वही सुप्रसिद्ध सौर-सावित्राग्नि है, जिसका कि पूर्व प्रकरण में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। सौरसावित्राग्नि ही इस वेदमयी वाक् की उपनिषत् है। वायु निषद्रूपा इसी वाक् का ऋक्-साम-यजुः-रूप से चयन होता है। यही नित्या वाक् इस चितिभाव के कारण आगे जाकर त्रयीवेदरूप में परिणत होती है, जैसा कि उक्त ब्राह्मण के निम्नलिखित वचनों से स्पष्ट है—

१—"तस्य वाऽएतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्। वाचा हि चीयते-ऋचा-यजुषा-साम्ना। इति नु दैवम्"। (शत० १०।५।१।१)।

२—"सा वा एषा वाक् त्रेधा विहिता-ऋचो,यजूंषि, सामानि। तेनाग्निस्त्रेधा विहितः। एतेन हि त्रयेण चीयते"। (१०।५।१।२)।

३—"सा या सा वाक्-असौ स आदित्यः। स एष मृत्युः। तद्यत् किञ्चार्वाचीनमादित्यात्, सर्वं तन्मृत्युनाऽऽप्तम्"। (१०।५।१।४)।

वागग्निरूप आदित्य को, किंवा आदित्याग्निरूपा वाक् को त्रयीवेदमयी बतलाती हुईं उक्त श्रुतियाँ यह सिद्ध करने के लिए पर्य्याप्त प्रमाण है कि, ऋक्-साम-यजुः, नामक वेदत्रयी विशुद्ध तत्त्वात्मिका है,

जिसका कि आधिदैविक संज्ञक प्रकृतिमण्डल से सम्बन्ध है। 'वाक् अग्नि है, अग्नि वेदमय है', इस श्रौत सिद्धान्त का शब्दात्मिका वेदभक्ति के आधार पर कथमपि समन्वय नहीं किया जा सकता।

१६—सूर्य्यसंस्था, और त्रयीवेद—

(गायत्रीमात्रिकवेदः)-(१५)-यदेतन्मण्डलं तपति-तन्महदुक्थं, ता ऋचः, स ऋचां लोकः। अथ यदेतदर्चिर्दीप्यते-तन्महाव्रतं, तानि सामानि, स साम्नां लोकः। अथ य एव एतस्मिन् मण्डले पुरुषः-सोऽग्निः, तानि यजूंषि, स यजुषां लोकः। सैषा त्रय्येव विद्या तपति। तद्धैतदप्यविद्वांस आहुः-त्रयी वाऽएषा विद्या तपतीति। वाग्घैव तत् पश्यन्ती वदति।

—शत० १०।५।२।१—२—।

"यह जो मण्डल(सूर्य्यबिम्ब) तप रहा है,वह महदुक्थ है, वे ऋचाएँ हैं,वह ऋचाओं का लोक है। यह जो रश्मिमण्डल प्रदीप्त हो रहा है, वह महाव्रत है वे साम हैं, वह सामों का लोक है। इस मण्डल में जो पुरुष (अग्निरूप वस्तुतत्त्व) है, वह अग्नि है, वे यजु हैं, वह यजुओं का लोक है। वह यह त्रयीविद्या ही तप रही है"। उस (वैदिक युग में) सामान्य मनुष्य भी यह कहा करते थे कि, "देखो सूर्य्य क्या तप रहा है, त्रयीविद्या तप रही है"। प्रकृत श्रुति का "तद्धैतदप्यविद्वांस आहुः" वाक्य बड़ा ही चमत्कारपूर्ण है। वर्त्तमान शताब्दी के विद्वान् भी जहाँ सूर्य्यपिण्ड का ऋग्वेदत्त्व, सौररश्मिमण्डल का सामवेदत्त्व, एवं सौरसावित्राग्नि का यजुर्वेदत्त्व स्वीकार करने में विचिकित्सा रखते हैं, वहाँ अतीत भारत के उस वैज्ञानिक युग में सर्वसाधारण भी पारस्परिक व्यवहारों में सूर्य्य के त्रयीविद्याभाव का यशोगान किया करते थे। सूर्य्य त्रयीविद्याघन कैसे है ?, इसके लिए प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। 'पश्यन्ता' नाम से प्रसिद्ध स्वयं सौरी वाक् ही अपने वेदस्वरूप का प्रत्यक्षवत् अभिनय कर रही है। प्रत्यक्षदृष्ट इसी वेदवाक् को देख कर सर्व साधारण ने सूर्य्यवेद का साक्षात्कार कर रक्खा है, यही तात्पर्य्य व्यक्त करने के लिए "वाग्घैव तत् पश्यन्ती वदति" यह कहा गया है।

१७—कृष्णमृग (काला हरिण), और त्रयीवेद—

(यज्ञमात्रिकवेदः)-(१६)-"यज्ञो ह वै देवेभ्योऽपचक्राम। स कृष्णो भूत्वा चचार। तस्य देवा अनुविद्य त्वचमेवावच्छायाजहुः। तस्य यानि शुक्लानि च कृष्णानि च लोमानि, तान्यृचां च साम्ना च रूपम्। यानि शुक्लानि, तानि साम्नां रूपम्। यानि कृष्णानि, तानि-ऋचाम्। यदि वेतरथा-यान्येव कृष्णानि, तानि साम्नां रूपम्। यानि शुक्लानि, तान्यृचाम्। यान्येव

बभ्रूणीव हरीणि, तानि यजुषां रूपम् । सैषा त्रयीविद्या यज्ञः । तस्या एतच्छिल्पमेष वर्णः । तद्यत् कृष्णाजिनं भवति, यज्ञस्यैव सर्वत्वाय । तस्मात् कृष्णाजिनमधिदीक्षन्ते, यज्ञस्यैव सर्वत्वाय । तस्मादध्यवहननमधिपेषणं भवति, अस्कन्नं हविरसदिति । तद्यदेवात्र तण्डुलो वा, पिष्टं वा स्कन्दात्, तद्यज्ञे यज्ञः प्रतिष्ठात् । तस्मादध्यवहननमधिपेषणं भवति" ।

—शत० ब्रा० १।१।४।१-२-३ कं० । * ।

"एक समय यज्ञपुरुष देवताओं से निकल गया । वह काला हरिण बन कर विचरने लगा । देवताओं नें उस का पता लगा कर उसके चर्म्म को उपेड़ कर अपने यज्ञ में उसका समावेश कर लिया । इस कृष्णमृगचर्म्म के शुक्ल-कृष्ण लोम ऋचाओं, एवं सामों के रूप थे । जो शुक्लवर्ण के लोम थे, वे सामों के रूप थे, एवं जो कृष्णवर्ण के लोम थे, वे ऋचाओं के रूप थे । अथवा उलटा समझिए । जो ही कृष्णवर्ण के लोम थे, वे सामों के रूप थे, एवं जो ही शुक्लवर्ण के लोम थे, वे ऋचाओं के रूप थे । जो मटमैले हरितवर्ण के लोम थे, वे यजुओं के रूप थे । कृष्णमृगचर्म्ममयी, वर्णत्रयात्मिका यह वेदत्रयी ही यज्ञ है । इस वेदत्रयी का ही यह शिल्प (कारीगरी) है, जो कि यह वर्ण हैं । यज्ञ की सर्वता के लिए ही कृष्णाजिन का ग्रहण होता है । इसी यज्ञ की सर्वता के लिए कृष्णाजिन पर बैठ कर दीक्षा लेते हैं । यज्ञिय हवि यज्ञसीमा के बाहिर न गिर जाय, इसी अभिप्राय से कृष्णाजिन पर ही हवि कूटा जाता है, एवं इसी पर हवि पीसा जाता है । कुट्टन, तथा पेषण कर्म्म में हवि का जो भाग उछटे, वह यज्ञात्मक तण्डुल, तथा पिष्ट भाग यज्ञ में ही प्रतिष्ठित रहे, इसी प्रयोजन के लिए यज्ञात्मक कृष्णाजिन पर ही हवि का कुट्टन-पेषण होता है" ।

काले हरिण का चमड़ा, और उसके शुक्ल-कृष्ण-हरितरूप क्रमशः साम, ऋक्, यजुर्म्मय, कृष्णमृगचर्म्म साक्षात् वेदत्रयी की प्रतिमा, कैसा आश्चर्य्य है । वेदशब्द से शब्दात्मक वेदों का ही अभिनिवेश रखने वाले महानुभाव कृष्णाजिन को कैसे वेदत्रयी मानेंगे, यह एक जटिल समस्या है । फिर भी क्योंकि श्रुति स्पष्ट शब्दों में यह जटिलता उनके सामने रख रही है, अतः विवश होकर इसे मान लेने में ही शास्त्रनिष्ठा सुरक्षित रह सकेगी । अत्र संक्षेपसे यह भी विचार कर लीजिए कि, श्रुति के अक्षरों का रहस्यार्थ क्या है ? ।

सौर-सम्वत्सरमण्डल देवप्राणघन है, क्योंकि सौर प्राण को ही देवता (देव) माना गया है, जैसा कि, 'चित्रं देवानामुदगात्' (यजुःसं० १३।४६) इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है । सौरसम्वत्सरावच्छिन्न सावित्र अग्नि, किंवा साम्वत्सरिक अग्नि ही पारमेष्ठ्य-सोमाहुति के सम्बन्ध से 'यज्ञ' है । सावित्राग्नि एवं पारमेष्ठ्य सोम की सम्मिलितावस्थारूप यही साम्वत्सरिक यज्ञ सौर-प्राणदेवताओं की प्रतिष्ठा है । ज्योतिर्म्मय सौर प्राण ही देवलक्षण देवता हैं । एवं जब तक सावित्राग्नि में सोमाहुति होती रहती है, तभी तक "स्वं

---

* इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन शतपथहिन्दीविज्ञानभाष्यान्तर्गत 'कृष्णाजिनब्राह्मण' में देखना चाहिए ।

ज्योतिषा वितमो ववर्थ"-'अदधात्सूर्य्ये ज्योतिरिन्दुः'इत्यादि ऋग्वर्णन के अनुसार सावित्राग्नि ज्योतिर्म्मय बना रहता है। अतएव हम अवश्य ही इस साम्वत्सरिक यज्ञ को देवताओं की प्रतिष्ठा कह सकते हैं। इसी आधार पर यज्ञ को—"यज्ञो वो (देवानां) अन्नम्" (शत० २।४।२।१।) इत्यादिरूप से देवताओं का अन्न (जीवन-हेतु) माना गया है। इसी यज्ञाग्नि का समर्थन करते हुए निम्नलिखित निगमवचन पाठकों के सम्मुख उपस्थित हो रहे हैं—

१—"सम्वत्सर एवाग्निः"। (शत० ब्रा० १०।४।५।२।)।

२—"सा या सा (सौरी) वाक्-आसीत्, सोऽग्निरभवत्" (जै० उ० ब्रा० २।२।१।)।

३—"अग्निर्वै ज्योती रक्षोहा" (शत० ब्रा० ७।१।३४।)।

४—"एष उ वै यज्ञो, यदग्निः" (शत० २।१।४।१६।)।

५—"सम्वत्सरो यज्ञः" (शत० ११।२।७।१।)।

६—"एष वाव सावित्रः, य एष तपति" (तै० ब्रा० ३।१०।६।१५।)।

७—"यज्ञो वै स्वरहर्देवाः सूर्य्यः" (शत० १।१।२।२१।)।

८—"सूर्य्योऽग्नेर्योनिरायतनम्" (तै० ३।६।१२।२,३।)।

विज्ञानवेत्ताओं को यह विदित है कि, पृथीवी इसी यज्ञात्मक सूर्य्य का उपग्रह है, जैसा कि प्रथम प्रकरण के 'ग्रहोपग्रहभाव' परिच्छेद में विस्तार से बतलाया जा चुका है। १५ वीं श्रुति में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि, यह ज्योतिर्म्मय सौर-सावित्राग्नि महोक्थ-महाव्रत-पुरुष (विम्ब-रश्मि-अग्नि) रूपमे ऋक्-साम-यजुर्म्मय है। वेदत्रयीरूप यह यज्ञाग्नि (सौर-साम्वत्सरिक अग्नि) आगे जाकर 'ब्रह्मौदन', तथा 'प्रवर्ग्य' भेद से दो भागों में विभक्त होता हुआ क्रमशः शुक्ल-कृष्णरूपों में परिणत हो जाता है। जो सौर-सम्वत्सराग्नि अन्तर्य्याम (ग्रन्थिबन्धन-चिति-) सम्बन्ध मे सूर्य्यसंस्था का स्वरूपरक्षक बनता हुआ ज्योतिरूप से प्रकाशित हो रहा है, हम सब पार्थिव प्राणियों की दृष्टि का विषय बन रहा है, प्रत्यक्षदृष्ट यही ज्योतिर्म्मय यज्ञाग्नि सूर्य्यब्रह्म का (स्वरूपरक्षक) ओदन (अन्न) बनता हुआ 'ब्रह्मौदन' है। एवं सूर्य्यसंस्था से पृथक् होकर जो सौर-यज्ञाग्नि भूत-मर्त्यभाव में परिणत होकर पृथिवीरूप में परिणत हो गया है, वही पृथग्-भाग प्रवर्ग्य', किंवा उच्छिष्ट है। प्रवर्ग्यभावापन्न यज्ञाग्नि का क्योंकि पारमेष्ठ्य-सोम की अजस्र धारा से सम्बन्ध टूट जाता है, अतएव यह प्रवर्ग्याग्निलक्षणा पृथिवी सोमाहुति से उत्पन्न होने वाली ज्योति से वञ्चित होती हुई कृष्ण बनी रहती है। पृथिवी में, पार्थिव ओषधि-वनस्पतियों में प्रतिष्ठित प्रवर्ग्य यज्ञाग्नि ही 'गायत्र' नाम से प्रसिद्ध है। यह गायत्राग्नि ही पार्थिव विवर्त्त की मूल प्रतिष्ठा है। गायत्राग्नि के सम्बन्ध से ही यह पृथिवी 'या वै सा गायत्री आसीदियं वै सा पृथिवी' (शत० ६।४।१।३५।) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार 'गायत्री' कहलाती है। सौर ज्योतिर्म्मय अग्नि 'आदित्य' नाम से प्रसिद्ध है, एवं पार्थिव कृष्ण अग्नि 'अङ्गिरा' नाम से प्रसिद्ध है। सौर-आदित्याग्नि सूर्य्य से निरन्तर ('नौधस'-साम के आधार पर) पृथिवी की ओर आया करता है, एवं पार्थिव अग्नि पृथिवी से निरन्तर ('श्यैत'-साम के आधार पर) द्युलोकोपलक्षित सूर्य्य

की ओर जाया करता है, जिसका कि विशद विज्ञान–'आदित्यानामयन'–तथा 'अङ्गिरसामयन' नामक यज्ञ–विद्याओं में प्रतिपादित है।

सूर्य्य से चल कर पृथिवी पर आने वाला प्राणात्मक आदित्याग्नि पृथिवी से टकरा कर प्रतिफलन–प्रक्रिया से वापस द्युलोक की ओर जा रहा है। इस जाते हुए * आदित्याग्नि से ही उस सुप्रसिद्ध 'अर्काश्वमेध' का स्वरूप सम्पन्न होता है, जिसका कि—'उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः' इत्यादि उपनिषच्छ्रुतियों में विस्तार से निरूपण हुआ है। इस से यह निष्कर्ष निकला कि, ब्रह्मौदनलक्षण सौर आदित्याग्नि भी पृथिवी से द्युलोक की ओर जा रहा है, एवं सौर आदित्याग्नि का प्रवर्ग्य अग्नि भी पृथिवी का प्रातस्विक (ब्रह्मौदन) अग्नि बनता हुआ, अङ्गिरा नाम धारण करता हुआ द्युलोक की ओर जा रहा है। दोनों गन्ताओं में 'वयं पूर्वं एष्यामः–वयं पूर्वं' लक्षणा प्रतिस्पर्द्धा हो रही है। और इस प्रतिस्पर्द्धा में विजयश्री मिलती है सौर–आदित्य को। कारण यही है कि, प्रतिफलित सौर आदित्याग्नि प्राणप्रधान बनता हुआ अपेक्षाकृत सबल रहता है! उधर केवल पृथिवीकेन्द्र से ऊपर की ओर जाने वाला सुपर्णरूप अङ्गिरा भूतप्रधान बनता हुआ अपेक्षाकृत निर्बल रहता है। निम्नलिखित श्रुतियाँ आदित्य, तथा अङ्गिरा की इसी प्रतिस्पर्द्धा का स्पष्टीकरण कर रहीं हैं—

१–इत एत उदारुहन् दिवः पृष्ठान्यारुहन्।
प्र भूर्जयो यथापथा द्यामङ्गिरसो ययुः॥

—सामसं० पू० १।१०।२।

२—+आदित्याश्च ह वा अङ्गिरसश्च स्वर्गे लोकेऽस्पर्द्धन्त–वयं पूर्वं एष्यामो वयमिति।
ते हाऽऽदित्याः पूर्वे स्वर्गं लोकं जग्मुः, पश्चेवाङ्गिरसः, षष्ट्यां वा वर्षेषु"।

—ऐत० ब्रा० १८।३।१७।

---

* असौ वा आदित्य एषोऽश्वः" (शत० ६।३।१।२६।)।

+ आदित्याश्चाङ्गिरसश्च सुवर्गे लोकेऽस्पर्द्धन्त, वयं पूर्वे सुवर्गं लोकमियामः, वयं पूर्व इति। त आदित्या एतं पञ्चहोतारमपश्यन्। तं पुरा प्रातरनुवाकादाग्नीध्रेऽजुहवुः। ततो वै ते पूर्वे सुवर्गं लोकमायन्। यः सुवर्गकामः स्यात्, स पञ्चहोतारं पुरा प्रातरनुवाकादाग्नीध्रे जुहुयात्। सम्वत्सरो वै पञ्चहोता, सम्वत्सरः, सुवर्गो लोकः"।

(तै० ब्रा० २।२।३।५–६।)

A श्रीसायणाचार्य्य के मतानुसार "आदित्य देवता हैं, अङ्गिरा ऋषि हैं। दोनों पृथिवीलोक में रहने वाले मनुष्य हैं। दोनों स्वर्ग की ओर गमन करते हैं। दोनों में से आदित्य तो तत्क्षण स्वर्ग पहुँच जाते हैं। अङ्गिराऋषियों में शक्ति-अनुसार कोई तो ६० वर्ष में स्वर्ग में पहुँचता है, कोई ६० वर्ष से पहिले"। उधर वैज्ञानिकों की दृष्टि में श्रुति के आदित्य, तथा अङ्गिरा क्रमशः सौर-पार्थिव अग्नि है। आदित्याग्नि प्राण-प्रधान बनता हुआ पार्थिव आकर्षण से मुक्त हैं, अङ्गिरोऽग्नि भूतप्रधान बनता हुआ पार्थिव आकर्षण से बद्ध है। पार्थिव अङ्गिरोऽग्नि जब तक पृथिवी का ब्रह्मौदन बना रहता है, तब तक यह प्रवर्ग्य नहीं बन सकता। जब तक यह प्रवर्ग्य नहीं बन जाता, तब तक यह आदित्याग्नि (दिव्याग्नि) रूप में परिणत नहीं हो सकता। आदित्याग्निरूप में परिणत हुए बिना यह द्युलोक का ब्रह्मौदन नहीं बन सकता। एवं पार्थिव अङ्गिरोऽग्नि के प्रवर्ग्यरूप में परिणत होने के लिए पञ्चयुगात्मक एक महायुग अपेक्षित है।

द्वादश (१२) द्वादश वर्ष का एक एक युग माना गया है, जो कि युग इद्वत्सर, अनुवत्सर, परिवत्सरादि नामों से प्रसिद्ध हैं। इन द्वादशवर्षात्मक पाँच युगों का एक महापार्थिव युग होता है। इन्हीं पाँच अवान्तर युगों के सम्बन्ध से सम्वत्सर को 'पञ्चहोता' (तै० ब्रा० २।२।३।५,६) माना गया है। षष्टिवर्षात्मक (६०) इस एक महासम्वत्सर में ही (पृथिवी की पाँच परिक्रमाओं के अनन्तर) पार्थिव आङ्गिरोऽग्नि पृथिवी से पृथक् होकर आदित्यरूप में परिणत होता हुआ द्युलोक में गमन करता है। आदित्याग्नि ही स्वर्ग का अन्यतम अधिकारी माना गया है, जैसा कि--"तं (सावित्राग्निविधमादित्याग्नि) स (भरद्वाजः) विदित्वा अमृतो भूत्त्वा स्वर्गं लोकमियाय, आदित्यस्य सायुज्यम्" (तै० ब्रा० ३।१०।११।५।) इत्यादि ब्राह्मण-श्रुति से स्पष्ट है।

भूतप्रधान अङ्गिरोऽग्नि को आदित्यरूप में परिणत होकर आदित्यलोक के साथ (सौरसम्वत्सर के साथ) सायुज्यभाव प्राप्त करने में जहाँ ६० वर्ष लगते हैं, वहाँ प्राणप्रधान आदित्याग्नि एक मुहूर्त्त में तीन बार सम्पूर्ण पृथिवी की परिक्रमा कर लौट जाता है, जैसा कि निम्नलिखित ब्राह्मणश्रुति से स्पष्ट है--

१--"त्रिर्ह वा एष (मघवा-इन्द्रः-आदित्यः-सौरप्राणः) एतस्या मुहूर्त्तस्येमां पृथिवीं समन्तः पर्य्येति" (जै० ब्रा० उ० १।४४।६।)।

२--रूपंरूपं मघवा बोभवीति मायाः कृण्वानस्तन्वं परि स्वाम्।
त्रिर्यद्दिवः परिमुहूर्त्तमागात् स्वैर्मन्त्रैरनृतुपा ऋतावा॥

--ऋक् सं० ३।५३।८।

A--इदानीमादित्यशब्देनाभिधेया देवाः, अङ्गिरःशब्देनाभिधेया ये चर्षयस्ते-द्विविधा अपिहैवाऽऽसन् भूमावेव। पूर्वं सृष्टौ मनुष्यरूपेणावस्थिताः।

--ऐ० ब्रा० ३।५।१६। सा० भा०।

प्रसङ्गोपात्त यह भी स्मरण रखना चाहिए कि, जिस प्रकार पार्थिव अङ्गिरोऽग्नि को आदित्यरूप में परिणत होने के लिए पाँच सम्वत्सर अपेक्षित हैं, एवमेव सौर आदित्याग्नि को सूर्य्यमण्डल से प्रवृक्त होकर पृथिवी की प्रातिस्विक वस्तु (ब्रह्मौदनलक्षण पार्थिव अङ्गिरोऽग्नि) बनने में केवल एक वर्ष लगता है। सम्वत्सरानन्तर प्रवृक्त आदित्याग्नि प्रथम 'कुमाराग्नि' रूप में परिणत होता है, कुमाराग्नि के अवान्तर आठ विवर्त हो जाते हैं, अष्टविध इसी कुमाराग्नि को चयनवित् 'चित्राग्नि' नाम से व्यवहृत करते हैं। यही चित्राग्नि पार्थिव अङ्गिरोऽग्नि है, जिससे कि पार्थिव-भूतमात्रा के सम्बन्ध-तारतम्य से आगे जाकर 'पुरुष-अश्व-गो-अवि-अज' भेदभिन्न पञ्चविध, भूतप्रधान 'पाशुकाग्नि' उत्पन्न होता है। सर्वसाधारण जिसे अग्नि कहते हैं, वह पाशुक अग्नि है। इसका पिता अङ्गिरोऽग्नि है,जो कि अङ्गिरोऽग्नि सौर-मण्डल से पृथक् होकर अपने ज्योतिर्म्मय शुक्लभाव को खोता हुआ तमोमय कृष्णभाव में परिणत हो रहा है। देवमण्डल में प्रतिष्ठित रहने वाले, कालान्तर में वहाँ से प्रवृक्त होकर पार्थिवरूप में परिणत होने वाले, ज्योतिरूप से तमोरूप में आने वाले इसी पार्थिव-यज्ञाग्नि को लक्ष्य में रख कर श्रुति ने कहा है--"यज्ञो वै देवेभ्योऽपचक्राम, स कृष्णो भूत्वा चचार"।

जैसे सौरसावित्राग्नि प्रत्यक्ष में तपता हुआ दृष्टि का विषय बन रहा है, वैसे पार्थिव गायत्राग्नि को हम तब तक नहीं देख सकते, जब तक कि इसे साधनविशेषों से प्रज्वलित नहीं कर लिया जाता। काष्ठ में अग्नि सुप्त है, काष्ठको प्रज्वलित किया, अग्नि (भूताग्नि-अङ्गिरोऽग्नि) प्रकट हो गया। तत्क्षण उसने स्वर्लोक (द्युलोक) की ओर गमन आरम्भ कर दिया। क्योंकि पार्थिव अग्नि *सुप्त है, अतएव इसे अवश्य ही 'कृष्ण' कहा जा सकता है। याज्ञिक लोग मन्थनप्रक्रिया के द्वारा इसे खोजते हैं, अतएव यह मृग्यमाण (ढूँढा जाने वाला) अग्नि अवश्य ही 'मृग' कहला सकता है। हरिण का नाम मृग नहीं है, अपितु पार्थिव कृष्ण अग्नि का नाम (मृग्यमाण होने से) मृग है। मृगशब्द का मुख्य वाच्य वह पार्थिव अग्नि ही माना गया है, जो कि मृग्याग्नि वेदात्मक, किंवा यज्ञात्मक सौर आदित्याग्नि का प्रवर्ग्य भाग होने से स्वयं भी वेदात्मक, तथा यज्ञात्मक है। ब्रह्माग्नि (वेदाग्नि)-मयी पृथिवी मृग है, इसका ब्रह्मपृष्ठ मृगचर्म्म है, जिसके आधार पर पार्थिव भूतयज्ञ प्रतिष्ठित है। कृष्णाजिन के इसी तात्त्विक स्वरूप को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है—

१—"ब्रह्म वै कृष्णाजिनम्" (कौषीतकि ब्रा० ४।११।)।

२—"ब्रह्मणो वा एतद्रूपं, यत् कृष्णाजिनम्" (तै० ब्रा० २।७।१।४।)।

३—"ब्रह्मणो वा एतद् ऋक्सामयोरूपं, यत् कृष्णाजिनम्" (तै० २।७।३।२)।

---

*१-शेषे वनेषु मात्रोः सन्त्वा मर्त्तास इन्धते।
अतन्द्रो हव्या वहसि हविष्कृत आदिद्देवेषु राजसि ॥ (ऋक्सं० ८।६०।१५।)

२-यत् कृष्णो रूपं कृत्वा प्राविशस्त्वं वनस्पतीन्।
ततस्त्वामेकविंशतिधा सम्भरामि सुसंभृता ॥
(तै० ब्रा० १।२।१।४।)।

४—"तस्य (अग्नेः) एष स्वो लोको, यत् कृष्णाजिनम्" (शत० ६।४।२।६।)।

५—"इयं (पृथिवी) वै कृष्णाजिनम्" (शत० ६।४।१।६।)।

६—"यज्ञो वै कृष्णाजिनम्" (शत० ६।४।१।६।)।

७—"यज्ञो हि कृष्णः (मृगः), स यः स यज्ञस्तत् कृष्णाजिनम्"
(शत० १।१।४।२८।)।

यों तो पृथिवीपृष्ठ पर उत्पन्न होने वाले सभी प्राणियों का मूल उपादान मृग्यमाण यही पार्थिव कृष्ण-मृग (पार्थिव अग्नि) बन रहा है। परन्तु कितने एक प्राणियों में इसकी विशेषमात्रा रहती है। जिन प्राणियों में इसकी प्रधानता है, वे अग्नि की प्रातिस्विक प्रतिमा माने जायँगे, एवं पृथिवी के जिस प्रदेश में, जिस भूखण्ड में स्वभावतः इन अग्निप्रधान प्राणियों का विकास रहेगा, वह पार्थिव खण्ड (अग्निप्रधान होने से) यज्ञिय प्रदेश माना जायगा। आखु, (मूषक), अश्वत्थ (पिप्पल), रक्तअश्व (लालघोड़ा), कृष्णमृग (काला हरिण). ये पदार्थ अग्निप्रधान माने गए हैं। सौर-देवमण्डल से प्रवर्ग्यरूप से पलायित होने वाले पार्थिव अग्नि की, अग्निरूप यज्ञ की इनमें प्रधानता मानी गई है। आखु, अश्वत्थ, अश्व, मृग, ये चारों ही यज्ञाग्नि के नाम हैं। जिन पदार्थों में, जिन प्राणियों में इस यज्ञाग्नि की प्रधानता है, वे भी आगे जाकर इन्हीं नामों से प्रसिद्ध हो गए हैं। निम्नलिखित श्रुतियाँ अग्नि के इन्हीं प्रातिस्विक प्रवर्ग्यरूपों का समर्थन कर रहा हैं—

१—"अग्निर्देवेभ्यो निलायत, आखूरूपं कृत्वा। स पृथिवीं प्राविशत्"।
—(तै० ब्रा० १।१।३।३।)।

२—"अग्निर्देवेभ्यो निलायत, अश्वोरूपं कृत्वा। सोऽश्वत्थे सम्वत्सरमतिष्ठत्"।
—(तै० ब्रा० १।१।३।६।)।

३—"रोहितो ह्यग्नेरश्वः"
—(शत० ६।६।३।४।)।

अग्नि के उक्त चारों प्रवर्ग्य-रूपों में मृगपशु को ही अग्नि की नेदिष्ठ प्रतिमा माना जायगा। कारण इसका यही है कि, अग्नि स्वयं त्रयीमूर्त्ति है, ब्रह्म (वेद) रूप है। उधर आखु, अश्वत्थ, रक्ताश्व, कृष्णमृग, इन चारों में से मृगपशु में अग्नि के साथ साथ शुक्ल-कृष्ण-बभ्रु-रूप से वेदत्रयी के वर्णों का भी विकास है। यही कारण है कि, पूर्व में जिन सात श्रुतियों का उल्लेख हुआ है, उन में सर्वत्र 'कृष्णाजिन' शब्द ही प्रयुक्त हुआ है, एवं उसे ब्रह्म-यज्ञ रूप बतलाया गया है। जिस भूप्रदेश में वेदत्रयी की प्रतिमारूप यह कृष्णमृग स्वच्छन्द विचरण करेगा, वही भूप्रदेश प्रकृत्या यज्ञिय प्रदेश कहलाएगा, वही वेदप्रदेश माना जायगा. वहीं वेदधर्म्म का उद्गम होगा, जो कि वेदधर्म्म 'सनातनधर्म्म' नाम से प्रसिद्ध है, जिसके कि प्रचार-प्रसार का श्रेय एकमात्र भारतवर्ष को ही है। भारतवर्ष की इसी वैदिकता का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् मनु ने कहा है—

* कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः ।
स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः ॥

—मनुः२।२३।

कृष्णमृग-चर्म्म अग्नि की प्रतिमा है, पूर्व निरूपण से यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है । अब यह देखना है कि, यह कैसे तो त्रयीमूर्त्ति है ?, एवं किस आधार पर इसे यज्ञस्वरूप माना गया है ? । सौरवेद को 'गायत्रीमात्रिक वेद कहा जाता है, जिसका कि १४-१५ श्रुतियों में दिग्दर्शन कराया जा चुका है । सूर्य्यबिम्ब महोक्थ बनता हुआ ऋक् है, सौरज्योतिर्म्मण्डल (रश्मिमण्डल) महाव्रत बनता हुआ साम है, एवं इन दोनों वयोनाधों से सीमित सन्धिगत सौर अग्नि (सावित्राग्नि) यजुः है । ऋग्रूप सूर्य्यबिम्ब स्वस्वरूप से कृष्णवर्ण है, सामरूप सूर्य्यमण्डल स्वस्वरूप से शुक्लवर्ण है, सान्ध्य अग्निरूप यजुः बभ्ररूप है । इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि, ऋचाएँ कृष्णवर्णमयी हैं. साम शुक्लवर्णमय हैं, एवं यजु 'बभ्रुणीव हरीणि' हैं । यह तो है प्राकृतिक स्थिति । अब दृश्य-स्थिति के अनुसार वेदवर्णों की मीमांसा कीजिए । स्थिति के अनुसार जहाँ ऋक् कृष्ण, तथा साम शुक्ल माना जायगा, वहाँ दृष्टि के अनुसार ऋक् शुक्ल, एवं साम कृष्ण माना जायगा । ज्योतिर्म्मण्डललक्षण, अतएव शुक्लवर्णोपेत साम हमारी दृष्टि का विषय नहीं बनता । दृष्टिका विषय बनता है साममण्डलगर्भ में प्रतिष्ठित सूर्य्यबिम्ब । ऋग्रूप सूर्य्यबिम्ब हमारी दृष्टि का विषय बनता हुआ (दृष्टि की अपेक्षा से) जहाँ शुक्ल माना जायगा, वहाँ सामरूप सूर्य्यमण्डल दृष्टि से अतीत रहता हुआ (दृष्टि की अपेक्षा से) कृष्ण ही कहा जायगा । इसी आधार पर स्थितिभाव को प्रधान मान कर जहाँ श्रुति ने—"यानि शुक्लानि, तानि साम्नां रूपं, यानि कृष्णानि, तानि-ऋचाम्" यह कहा है, वहाँ दृष्टिभाव को प्रधानता देते हुए—"यदि वेतरथा । यान्येव कृष्णानि, तानि साम्नां रूपं, यान्येव शुक्लानि तान्यृचाम्" यह कहने में भी कोई आपत्ति नहीं समझी है । कृष्णमृगचर्म्म में इन तीनों वेदवर्णों का प्राजापत्य शिल्परूप से यथावत् सन्निवेश हुआ है । सृष्टिकर्त्ता प्रजापति ने इस के चर्म्म में बड़े शिल्प के साथ तीनों वेदवर्णों का समन्वय किया है । एवं इसी वर्णत्रयी के आधार पर इस कृष्णमृग-चर्म्म को अवश्य ही वेदत्रयी की प्रतिमा माना जा सकता है ।

ऋक्-अग्निमय है, यही गार्हपत्याग्नि (पार्थिव अग्नि) की प्रतिष्ठा है । यजुः वायुमय है. यही धिष्ण्याग्नि (आन्तरिक्ष्याग्नि) की प्रतिष्ठा है । साम आदित्यमय है, एवं यही आहवनीयाग्नि (दिव्याग्नि) की प्रतिष्ठा है । इन तीनों अग्नियों की समष्टि ही 'वितानयज्ञ' है । वेदत्रयी के आधार पर इस यज्ञाग्नि का वितान (व्याप्ति) होता है । अतएव हम अवश्य ही वेदत्रयी को यज्ञात्मिका कह सकते हैं । क्योंकि कृष्णमृग वेदत्रयीरूप है, अतएव इसे भी सादृश्यभाव की अपेक्षा से अवश्य ही यज्ञात्मक माना जा सकता है । आहुति के लिए तण्डुलों को कूट-पीस कर जो पुरोडाश बनाया जाता है, वह भी यज्ञसाधक होने से यज्ञरूप ही माना गया है । याज्ञिक विद्वानों का यह सिद्धान्त है कि, यदि यज्ञ का कोई भी यज्ञिय पदार्थ यज्ञभूमि से, यज्ञ-

---

* इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन 'गीताविज्ञानभाष्यभूमिका' द्वितीयखण्ड 'ख' विभाग के 'कर्म्मयोगपरीक्षा' न्तर्गत 'वर्णव्यवस्थाविज्ञान' नामक प्रकरण में देखना चाहिए ।

सीमा से इतर अयज्ञिय स्थान में जा गिरेगा, तो वह सपत्नों का भाग बनता हुआ यज्ञकर्त्ता यजमान के शत्रुओं की वृद्धि का कारण बनेगा। इसी विप्रतपत्ति के निराकरण के लिए इस दर्शेष्टि में कृष्णाजिन गृहीत हुआ है। यह क्योंकि स्वयं यज्ञरूप है। अतएव कूटते-पीसते समय जो भाग उछट कर इस पर गिरेगा, वह यज्ञ-प्रतिष्ठा में हीं प्रतिष्ठित माना जायगा।

उक्त 'कृष्णाजिनश्रुतिसमन्वय' से प्रकृत में हमें केवल यही बतलाना है कि, कृष्णाजिन के वर्णों को वेदात्मक, एवं यज्ञात्मक बतलाना तभी सुसङ्गत बन सकता है, जबकि शब्दात्मक वेद की भक्ति के साथ साथ तत्त्वात्मक वेद को भी अपना उपास्य बना लिया जाता है। क्योंकि बिना तत्त्वात्मिका वेदसत्ता स्वीकार किए कथमपि प्रकृत श्रुति का समन्वय नहीं किया जा सकता।

१८-आत्मसमुद्र, और वेदत्रयी—

(आध्यात्मिकवेदः)-(१७)—"त्रयो ह वै समुद्राः। अग्निर्यजुषां, महाव्रतं साम्नां, महदुक्थमृचाम्। स य एतानि परस्मै करोति, एतान् ह स समुद्राञ्छोषयते, ताञ्छुष्यतोऽन्वस्य छन्दांसि शुष्यन्ति, छन्दांस्यनु लोकः, लोकमन्वात्मा, आत्मानमनु प्रजाः पशवः। स ह श्वः श्व एव पापीयान् भवति, य एतानि परस्मै करोति"।

—शत० ब्रा० ६।४।३।१२।

"(तीनों वेदों के) तीन समुद्र मानें गए हैं। अग्नि यजुओं का समुद्र है, महाव्रत सामों का समुद्र है, महदुक्थ ऋचाओं का समुद्र है। जो मनुष्य इन अपने तीनों (आध्यात्मिक वेदसमुद्रों) को दूसरे के लिए प्रकट कर देता है, वह अपने इन तीनों समुद्रों का शोषण कर लेता है। वेदसमुद्रों के सूख जाने से इस के छन्द सूख जाते हैं, छन्दों के सूख जाने से लोक, लोक के शोषण से आत्मा, आत्मशुष्कता से प्रजा और पशुसम्पत्ति शुष्क हो जाती है। ऐसा व्यक्ति दिन दिन अवनति की ओर अग्रेसर होता जाता है, जो कि अपने वेदसमुद्रों का दूसरों के प्रति अवदान कर देता है"।

अग्नि-महाव्रत-महदुक्थों को क्रमशः यजुः-साम-ऋचाओं का समुद्र किस आधार पर बतलाया गया ?, इनका आध्यात्मिक स्वरूप क्या है ?, इन का शोषण कैसे हो जाता है ?, इत्यादि प्रश्नों का विशद-वैज्ञानिक समाधान तो आगे के परिच्छेदों में यथावसर किया जायगा। प्रकृत में वक्तव्यांश यही है कि, आध्यात्मिक अग्नि, महाव्रत, महदुक्थ को यजुः-साम-ऋचाओं का समुद्र बतलाना एकमात्र तत्त्वात्मिका वेदत्रयी से ही सम्बन्ध रखता है। बिना तत्त्ववेद को अपनाए इन त्रयीसमुद्रों का समन्वय सर्वथा असम्भव है। समुद्रशब्द अनन्तता का ही सूचक है। शब्दात्मक वेदग्रन्थ जहाँ सादि-सान्त हैं, वहाँ तत्त्वात्मक वेद समुद्रात्मक बनते हुए अनन्त हैं, जिनका कि महर्षियों नें सुतीक्ष्ण अभ्रि-स्थानीय बुद्धियों से अन्वेषण किया है—"ये समुद्रान्निरखनन् देवास्तीक्ष्णाभिरभ्रिभिः"।

१९-'सा'-'अम' और सामवेद—

(दाम्पत्यवेदः)-(१८)-"ऋक् च वा इदमग्रे साम चाऽऽस्ताम् । सैव नाम ऋगासीत्, अमो नाम साम । सा वा ऋक् सामोपावदत्—'मिथुन सम्भवाव प्रजात्या' इति । नेत्यब्रवीत् साम । ज्यायान् वा अतो मम महिमा इति । ते द्वे भूत्वोपावदताम् । तेन प्रतिवचनं समवदत । तास्तिस्रो भूत्वोपावदन् । तास्तिसृभिः समभवत् । यत् तिसृभिः समभवत्, तस्मात् तिसृभिः स्तुवन्ति, तिसृभिरुद्गायन्ति । तिसृभिर्हि साम सम्मितम् । तस्मादेकस्य बह्व्यो जाया भवन्ति, नैकस्यै बहवः सह पतयः । यद्वै तत् सा चामश्च समभवत्, तत् सामाभवत्, तत् साम्नः सामत्वम्" ।

—ऐतरेय ब्रा० १२।१२।२३। ।

"(किसी समय) ऋक् और साम दोनों पृथक् पृथक् थे । 'साम' शब्द का 'सा' अक्षर ऋक् था, 'अम' यह नाम रखने वाला तत्त्व साम था । 'सा' रूपा ऋक् ने साम से कहा कि, अपन दोनों प्रजोत्पत्ति के लिए 'दाम्पत्यभाव' में परिणत हो जाएँ । सामने उत्तर दिया कि, नहीं, यह कभी सम्भव नहीं है । तुम्हारी (ऋक् की) अपेक्षा मेरा महत्त्व बहुत बड़ा है । (सामका यह उत्तर सुन कर) दो ऋचाओं नें साम से दाम्पत्यभाव की प्रार्थना की । सामने तदपि ऋचाओं की प्रार्थना अस्वीकृत कर दी । अन्त में तीन ऋचाओं नें साम से दाम्पत्यभाव की प्रार्थना की । साम तीनों ऋचाओं से दाम्पत्यभाव को प्राप्त हो गया । क्योंकि साम तीन ऋचाओं से दाम्पत्यभाव को प्राप्त हुआ, यही कारण है कि, (वैधयज्ञकर्म्म में) तीन ऋचाओं से ही (उद्गाता लोग) स्तोत्रिया करते हैं, तीन से ही सामगान करते हैं । एक साम तीन ऋचाओं जितना है । यही कारण है कि, एक पुरुष के एक-साथ बहुत-सी स्त्रियाँ अवश्य रह सकती हैं, किन्तु एक स्त्री के अनेक पति नहीं हो सकते । जो कि 'सा' और 'अमो' लक्षण ऋक्-साम मिल गए, इसी सम्मेलन से साम का स्वरूप निष्पन्न हुआ । यही साम का सामत्व है"

"एकं साम तृचे क्रियते स्तोत्रियम्" इस श्रौतसिद्धान्त के अनुसार तीन ऋचाओं का एक साम-मन्त्र माना गया है । बात यथार्थ में यह है कि, पद्यात्मक मन्त्र 'ऋक्' कहलाता है, एवं गानात्मक मन्त्र साम कहलाता है । इस सम्बन्ध में यह प्रश्न किया जा सकता है कि. यज्ञकर्म्म में होने वाला स्तोत्रकर्म्म, एवं उद्गान (सामगान) कर्म्म तीन तीन ऋचाओं से क्यों किया जाता है ? । प्रकृत ऐतरेयश्रुति तत्त्वात्मक ऋक्-साम के तात्त्विक स्वरूप के आधार पर इसी प्रश्न का समाधान कर रही है ।

पृथिवी माता है, द्युलोकोपलक्षित, आदित्यप्राणात्मक कश्यप प्रजापति पिता है । माता पृथिवी 'इयं' है, पिता कश्यप 'असौ' है । 'इयं' शब्द स्त्रीभाव का द्योतक है, 'असौ' शब्द पुम्भाव का द्योतक है । पृथिवी ऋक् है, द्यु साम है । क्योंकि ऋग्रूपा पृथिवी स्त्री है, पत्नी है, अतएव इसे स्त्रीभावद्योतक 'इयं'-'सा'

'एषा' इत्यादि शब्दों मे व्यवहृत किया जा सकता है। द्युलोकोपलक्षित सामात्मक कश्यप, किंवा आदित्य पुरुष है. पति है, अतएव इसे पुम्भावद्योतक 'असौ-असः' 'एषः' इत्यादि नामों मे व्यवहृत किया जा सकता है। इन दोनों के (द्यावापृथिवी के) दाम्पत्यभाव से ही त्रैलोक्यप्रजा की उत्पत्ति हुई है। स्वयं प्रजापति एक है, स्त्रीस्थानीया माता पृथिवी के अदिति, दिति, दनु, काला, आदि १३ अवान्तर भेद हो जाते हैं।

स्तौम्यत्रिलोकीविज्ञान के अनुसार 'पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ' ये तीनों स्तौम्यलोक एक ही पृथिवी के तीन रूप हैं। अतएव ऋग्रूपा पृथिवी के तीन विवर्त्त मानें गए हैं, जैसा कि-"तिस्रो वा इमाः पृथिव्यः। इयमहैका, द्वे अस्या परे" (शत० ५।१।५।२१) इत्यादि से प्रमाणित है। पृथिव्यन्तरिक्षद्युरूपा इस महापृथिवी की अन्तिम-सीमारूप. द्युलोकात्मक परिमण्डल का ही नाम रथन्तरसाम है। इस सामपुरुष का स्वरूप पृथिवीरूपा तीन ऋचाओं से ही सम्पन्न हुआ है।

ऋक् ही साम बनता है। पिण्डावच्छिन्न विष्कम्भ (व्यास) ऋक् है, पिण्डावच्छिन्न परिणाह साम है। त्रिगुणित विष्कम्भ ही एक परिणाह है। क्योंकि ऋक् ही साम बनता है, इसी रहस्य को सूचित करने के लिए श्रुति ने 'साम' शब्द के 'सा-अम' ये दो विभाग किए हैं। एवं 'सा' को ऋक् माना है, तथा 'अम' को साम माना है। साथ ही तीन ऋचाओं (विष्कम्भों) से क्योंकि एक साम (परिणाह) का स्वरूप निष्पन्न हुआ है, अतएव यज्ञकर्म्म में प्रयुक्त होने वाले शब्दात्मक साममन्त्र को तीन ऋचाओं से युक्त माना गया है। इन विष्कम्भादि भावों का आगे विस्तार से निरूपण होने वाला है। प्रकृत में हमें केवल यही कहना है कि, श्रुति ने जिस ऋक्-साम का दाम्पत्यभाव बतलाया है, वह दाम्पत्यभाव, तथा तदनुबन्धी ऋक्-साम शब्दात्मक वेद नहीं है, अपितु तत्त्वात्मक वेद है। बिना इसकी सत्ता स्वीकार किए शब्दभक्तिपरायण महानुभाव कथमपि 'ऋच्यध्यूढं-साम गीयते'-'तृचं साम' इत्यादि वचनों का समन्वय नहीं कर सकते।

२०-देवात्मा, और वेदत्रयी—

(घर्म्मवेदः)—(१६)—"तदेतद्देवमिथुनं, यद्घर्म्मः। स यो घर्मस्तच्छिश्नं, यौ शफौ तौ शफौ, योपयमनी ते श्रोणि-कपाले। यत् पयस्तद्रेतः। तदिदमग्नौ देवयोन्यां प्रजनने रेतः सिच्यते। अग्निर्वै देवयोनिः। सोऽग्नेर्देवयोन्या आहुतिभिः सम्भवति। ऋङ्मयो, यजुर्म्मयः, साममयो, वेदमयो, ब्रह्ममयोऽमृतमयः सम्भूय देवता अप्येति, य एवं वेद, यश्चैवं विद्वानेतेन यज्ञक्रतुना यजते"।

—ऐ० ब्रा० ४।६।२२।

"वह यह देवताओं का मिथुनभाव है, जो कि घर्म्म (प्रवर्ग्ययज्ञ से उत्पन्न होने वाला, यज्ञकर्त्ता यजमान के मानुषात्मा में संस्काररूप से प्रतिष्ठित प्रवर्ग्ययज्ञातिशयरूप धर्म्म) है। सो जो यह घर्म्म है, वह (देवात्मोत्पादक) शिश्नेन्द्रियस्थानीय है, (उदुम्बर काष्ठ से निर्म्मित दो शफ) इसके दो शफ (अण्डकोश) हैं, (उदुम्बर काष्ठ से निर्म्मित, शफाधारभूत) 'उपयमनी' नाम की दर्वी श्रोणिद्वय के मध्य

में रहने वाले कपालद्वय है। देवयोनिरूप अग्नि में डाली जाने वाली आहुति ही रेत (शुक्र) है। इस प्रकार यज्ञकर्त्ता यजमान इस देवयोनिरूप अग्नि में आहुति डालता हुआ आहुतियों से दैवात्मारूप से जन्म लेता है-(जो कि दैवात्माकर्षण इसके मानुषात्मा को यावत्संस्कारस्थितिपर्य्यन्त स्वर्ग में प्रतिष्ठित रखता है)। (इस घर्म्मयाग से यह यज्ञकर्ता यजमान) ऋङ्मय, यजुर्मय, साममय, वेदमय (अथर्वमय) ब्रह्ममय (क्षरमय) अमृतमय (अक्षरमय) बनता हुआ देवस्थान को प्राप्त हो जाता है। जो ऐसा जानता है, उसे भी देवगति प्राप्त होती है।

सूर्य्य के प्रवर्ग्यांश से पृथिवी बनी। पृथिवी के प्रवर्ग्यांश से हमारा स्वरूपनिर्म्माण हुआ। इस प्रकार परपम्परया हम उसी दिव्यविभूति के प्रवर्ग्यांश मानें जायँगे। परन्तु पार्थिवभूतमात्रा की प्रधानता से हमारी अध्यात्मसंस्था का यह दिव्यभाव आवृत हो रहा है। अतएव हम दिव्यलोकों से वञ्चित रह जाते हैं। हमें वह दिव्य प्रवर्ग्यांश प्राप्त हो, दूसरे शब्दों में जन्म से ही प्राप्त वह दिव्य प्रवर्ग्यांश भूताकर्षण से विमुक्त होकर, अपने दिव्याकर्षण से आकर्षित होकर हमें (शरीरपरित्यागानन्तर) दिव्यलोकों का भोक्ता बनावे, इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए वैज्ञानिकों नें घर्म्मयाग का आविष्कार किया है, जो कि घर्म्मयाग-'छिन्नशीर्षयाग' 'प्रवर्ग्ययाग' 'महावीरोपासना' इत्यादि नामों से प्रसिद्ध ह।

प्रवर्ग्य दिव्याग्नि गायत्राग्नि है, जिसे कि पूर्व में हमने अङ्गिरसोऽग्नि कहा है। 'एति च प्रेति चान्वाह' के अनुसार यह गायत्राग्नि दिव्यलोकों से सम्बन्ध करता रहता है यह प्रवर्ग्याग्नि स्वयं विकृतिरूप है, जिसके कि ऋक्-साम-यजुः-अथर्व, ये चार विवर्त्त हैं। इन चारों विकृतिभावों की प्रतिष्ठा ब्रह्मात्मक क्षर है क्षर की प्रतिष्ठा अमृतमय अक्षर है। प्रवर्ग्याग्निसंस्कार से यज्ञकर्त्ता का मानुषात्मा विकृतिरूपा वेदचतुष्टयी के संस्कारों से, तदभिन्न क्षरब्रह्म से, एवं तदभिन्न अमृताक्षर से युक्त होता हुआ दिव्यलोकानुगामी बन जाता है।

यह एक रहस्यपूर्ण विषय है कि, श्रुति के द्वारा अथर्वतत्त्व ही वेदशब्द से सम्बोधित हुआ है। कारण इसका यही है कि, अग्निवेद का नाम जहाँ वेदत्रयी-(ऋक्-यजुः-सामवेद) है, वहाँ सोमवेद का नाम अथर्ववेद है। साथ ही अग्नि में जब तक अथर्वलक्षण सोमवेद की आहुति नहीं होती, तब तक अग्निवेद का विकास ही असम्भव है। मण्डल-अर्चि-अग्निभाव सोमाहुति पर ही प्रतिष्ठित है। इसी रहस्य को सूचित करने के लिए श्रुति ने जहाँ तीनों अग्निवेदों को ऋक्-यजुः-साम शब्दों से व्यवहृत किया है, वहाँ वेदत्रयी के प्रतिष्ठारूप अथर्ववेद को 'वेदमय' माना है। श्रुतिद्वारा प्रकृत में बतलाना यही है कि, संस्कारात्मिका यह वेदचतुष्टयी विशुद्धरूप से तत्त्वात्मिका वेदचतुष्टयी से ही सम्बन्ध रखती है।

२१-ब्रह्म-क्षत्र-और ऋक्साम-

(ब्रह्मक्षत्रवेदः)--(२०)--"भूर्भुवः स्वरोममोऽहमस्मि स त्वं, स त्वमसि। अमोऽहम्। द्यौरहं, पृथिवी त्वं। सामाहं, ऋक्त्वम् तावेव संवहावहै, पुराण्यस्मान्महाभयात्। तनूरसि, तन्वं मे पाहि"।

—ऐ० ब्रा० ४०।५।२७।

"भूः-भुवः-स्वः, नाम से प्रसिद्ध व्यष्ट्यात्मक तीनों लोक, ओङ्कारात्मिका समष्टिरूपा त्रिलोकी, एवं इन के अभिमानी पुरोधा अग्नि-वायु-आदित्य-प्रजापति नामक देवता ही ब्रह्मक्षत्रत्रज की प्रतिष्ठा हैं। इसी प्रतिष्ठातत्त्व का स्मरण करता हुआ, अपने ब्रह्म पुरोहित का वरण करता हुआ राजा कहता है कि, हे पुरोहित! मैं 'अम' हूं, तुम 'स' हो। मैं द्यौ हूं, तुम पृथिवी हो। मैं साम हूँ, तुम ऋक् हो। ऐसे ऋक्-सामरूप तुम-हम (ब्रह्म-क्षत्र) मिल जावें, मिलकर महाभय से इन पुरों की रक्षा करें। हे पुरोहित! आप मेरे राष्ट्र के शरीरस्थानीय हैं। आप इस राष्ट्रशरीर की रक्षा करें। प्रकृत श्रुति ने मूलप्रभव लक्षण उक्थात्मक ब्राह्मण को ऋग्वेद माना है, एवं अर्कलक्षण विभूतिमण्डलात्मक क्षत्रिय को साम माना है। ब्रह्म-क्षत्र के ये ऋक्-सामभाव तत्त्ववेद का ही समर्थन कर रहे हैं।

२२-इन्द्र, और ऋक्-साम—

(इन्द्रवेदः)--(२१)—"हरिवाँ इन्द्रो धाना अत्तु, पूषण्वान् करम्भं, सरस्वतीवान्-
भारतीवान् परिवाप इन्द्रस्यापूप इति हविष्पङ्क्त्या यजति।
ऋक्-सामे वै इन्द्रस्य हरी"

—ऐ० ब्रा० ८।६।२४।।

"हरि नामक दो अश्वों (घोड़ों) पर आरूढ़ होने से 'हरिवान्' नाम से प्रसिद्ध इन्द्र धान खाय। पूषा देवता से युक्त, अतएव 'पूषण्वान्' नाम से प्रसिद्ध इन्द्र करम्भ खाय। सरस्वती, तथा भारती से युक्त, अतएव 'सरस्वतीवान्, तथा भारतीवान्' नाम से प्रसिद्ध इन्द्र परिवाप खाय। चौथी आहुति अपूप है। पाँचवी आहुति पयस्या है। इन पाँचों की समष्टिरूप 'हविष्पङ्क्ति' से इन्द्र का यजन करता है। ऋक्-साम ही इन्द्र के हरि (अश्व) हैं"।

ऋक्-साम का प्रत्यक्ष विकास सूर्य्यमण्डल है। सौर इन्द्रप्राण इन्हीं ज्योतिर्म्मय, वयोनाधलक्षण ऋक्-सामों के आधार पर प्रतिष्ठित रहता है। अतएव सौर मघवा इन्द्र को 'हरिवान्' कहा जायगा। पार्थिव-प्राण 'पूषा' नाम से प्रसिद्ध है। तद्युक्त पार्थिव इन्द्र 'वासव' नाम से प्रसिद्ध है। इसे ही 'पूषण्वान्' कहा जायगा। पारमेष्ठ्य आपोमय मण्डल से वाक्तत्त्व के आधार पर अर्थ, तथा शब्द नाम की दो स्वतन्त्र धारा निकलती हैं। शब्दधारापेक्षया वही वाक्तत्त्व 'भारती' है, एवं अर्थधारापेक्षया वही वाक्तत्त्व सरस्वती है, जिसका कि ऋग्वेद के 'आम्भृणीसूक्त' में 'आम्भृणी' नाम से निरूपण हुआ है। वाङ्मय इन्द्र इन दोनों वाग्धाराओं से युक्त रहता हुआ सरस्वतीवान् भी है, एवं भारतीवान् भी है। प्रकृत में कहना केवल यही है कि, श्रुति ने ऋक्-साम को इन्द्र का हरि बतलाया है। ये ऋक्-साम तत्त्वात्मक ही हो सकते हैं। यजुः प्राण-भाग है, यही वयोलक्षण इन्द्र है, जिसका कि प्रथम प्रकरण में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। यजुर्म्मूर्त्ति, प्राणात्मक, वयोलक्षण इन्द्र ऋक्-सामलक्षण वयोनाधरूप छन्दों के आधार पर ही स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहता है। छन्द को ही अश्व कहा जाता है। इसी अभिप्राय से—"ऋक्सामे वै इन्द्रस्य हरी" यह कहा गया है।

२३–दिक्–काल–देश–वर्ण, और वेदत्रयी—

(दिग्वेदः) –(२२) —ऋचां प्राची महती दिगुच्यते—

दक्षिणामाहुर्यजुषामपराम् ।

अथर्व्वणामङ्गिरसां प्रतीची—

साम्नामुदीची महती दिगुच्यते ॥ १ ॥

(कालवेदः)–(२३) —ऋग्भिः पूर्वान्हे दिवि देव ईयते—

यजुर्वेदे तिष्ठति मध्येऽन्हः ।

सामवेदेनास्तमये महीयते—

वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्य्यः ॥ २ ॥

(देशवेदः)–(२४)—ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्त्तिमाहुः—

सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत् ।

सर्वं तेजः सामरूप्यं ह शश्वत्—

सर्वं हेदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम् ॥ ३ ॥

(वर्णवेदः)–(२५)—ऋग्भ्यो जातं वैश्यवर्णमाहुः—

यजुर्वेदं क्षत्रियस्याऽऽहुर्योनिम् ।

सामवेदो ब्राह्मणानां प्रसूतिः—

पूर्वे पूर्वेभ्यो वच एतदूचुः ॥ ४ ॥

—तै० ब्रा० ३।१२।६।

भूमिका प्रथमखण्ड के–'दिग्वेदनिरुक्ति–कालवेदनिरुक्ति–देशवेदनिरुक्ति–वर्णवेदनिरुक्ति' नामक प्रकरणों में उक्त चारों मन्त्रों का विशद निरूपण किया जा चुका है। "पूर्वादि दिशाएँ, पूर्वाह्णादिकाल, मूर्त्यादि-प्रदेश, एवं वैश्यादिवर्ण वेदात्मक हैं, वेदरूप हैं" मन्त्रों का यही संक्षिप्त तात्पर्य्य है। एवं यही तात्पर्य्य यह सिद्ध करने के लिए पर्य्याप्त प्रमाण है कि, तत्त्वात्मक वेद सर्वथा भिन्न वस्तु हैं, एवं इस तत्त्वात्मक वेद का प्रतिपादन करने वाला शब्दात्मक वेद सर्वथा विभिन्न पदार्थ है।

२४–द्यावापृथिवी, और ऋक्साम—

(लोकवेदः)–(२६) —"साम वा असौ लोकः, ऋगयं (लोकः)। यदितः साम्ना यन्ति, स्वर्गं लोकमारभ्य यन्ति। यदचा पुनरायन्ति, अस्मिन् लोके प्रति-

तिष्ठन्ति । यत् सामावसृजेयुः, अथ स्वर्गाल्लोकात् पद्येरन् ।
यदृचमनुसृजेयुः, नश्येयुरस्माल्लोकात्" ।

—ताण्ड्य० म० ब्रा० ४।३।५,६।

प्रकृत सामश्रुति 'अभीवर्त्त' नामक 'ब्रह्मसाम' को लेकर प्रवृत्त हुई है । इस सामप्रयोग में (सामगान में) साम से आरम्भ होता है, ऋचा पर सामगान का पर्य्यवसान होता है । इस विपर्य्यय का क्या कारण ?, प्रकृत श्रुति ऋक्-सामों के तात्त्विक स्वरूप द्वारा इसी प्रश्न का समाधान करती हुई कहती है कि-"साम द्युलोक है, ऋक् पृथिवीलोक है । सो जो कि (उद्गाता लोग) सामगान से आरम्भ करते हैं, वे स्वर्गलोग से ही चलना आरम्भ करते हैं । साम से आरम्भ कर जो ऋक् से पुनः नीचे की ओर आते हैं, इस कर्म्म से वे पृथिवीलोक में ही प्रतिष्ठित होते हैं । यदि ऐसा न कर ये साम से अवसान कर दें, तो स्वर्गलोक से गिर जायँ । यदि ऋक् से उपक्रम कर डालें, तो इस लोक से इनकी सत्ता उखड़ जाय" ।

सर्वश्री सायणाचार्य ने श्रुति की व्याख्या करते हुए यह बतलाया है कि, "ऋक्-यजुः- साम, तीनों में प्रथम-द्वितीय-तृतीय, यह क्रम है । उधर पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ, इन तीनों लोकों में प्रथम-द्वितीय-तृतीय, यह क्रम है । ऋङ्मन्त्रों का पहिला स्थान है, साममन्त्रों का तीसरा स्थान है । इधर पृथिवी का पहिला स्थान है, द्युलोक का तीसरा स्थान है । केवल इसी साम्य को लेकर श्रुति ने पृथिवी-को ऋक्, तथा द्यौ को साम कह दिया है" * । कहना न होगा कि, सायणाचार्य की यह सङ्गति सर्वथा महत्त्वशून्य है । श्रेणि-समता का प्रयास करना इसलिए सर्वथा व्यर्थ है कि, पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ, तीनों लोक स्वयं अपने रूपों से ही क्रमशः ऋक् यजुः-साममय हैं । ऋङ्मय पार्थिव अग्नि की प्रतिकृति ऋङ्मन्त्र हैं, एव साममय दिव्य आदित्य की प्रतिकृति साममन्त्र हैं । जैसा संस्थानक्रम तत्त्ववेद का है, ठीक वैसा ही संस्थानक्रम शब्दवेद का है । यदि यहाँ विपर्य्यय हो जाता है, तो वहाँ भी विपर्य्यय निश्चित है । यहाँ सामावसान से स्वर्गप्रतिष्ठा से विच्युति हो जाती है, ऋगुपक्रम से पृथिवीप्रतिष्ठा की च्युति निश्चित है । इस प्रकार प्रकृत श्रुति लोकात्मकवेद के साथ शब्दात्मक वेद का साम्य बतलाती हुई-'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या' की ओर ही यज्ञकर्त्ताओं का ध्यान आकर्षित कर रही है ।

२५-लोकचतुष्टयी, और वेदचतुष्टयी—

(सौम्यवेदः)—(२७)—"ऋचामग्निर्दैवतं पृथिवीस्थानम् । यजुषां वायुर्दैवतं अन्तरिक्ष-स्थानम् । साम्नामादित्यदैवतं द्यौःस्थानम् । अथर्वणां चन्द्रमा-दैवतमापः स्थानम्" । (गो० ब्रा०)

---

* "यदिदं साम, तदसौ स्वर्लोकः । ऋग्यजुरपेक्षया साम तृतीयं भवति, स्वर्लोकश्च पृथिव्यन्तरिक्षापेक्षया तृतीयः । अनयोः स्थानसाम्यादिभेदेन व्यपदेशः"

—तां० म० सायणभाष्य, ४।३।५।

चित्य भूपिण्ड से सम्बद्ध चितेनिधेया महापृथिवी के 'त्रिवृन, पञ्चदश, एकविंश त्रयस्त्रिंश', स्तोम-भेद से चार प्रधान लोक मानें गए हैं। ये चारों स्तोम-लोक क्रमशः 'पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, आपः", नामों से प्रसिद्ध हैं। इन चारों लोकों के क्रमशः 'अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा' ये चारों देवता अधिष्ठाता मानें गए हैं। इन्हीं चारों के साथ क्रमशः 'ऋक्, यजुः, साम, अथर्व' नामक चारों वेदों का सम्बन्ध है। चारों में 'ऋक्-साम-यजुर्वेद' अग्निवेद हैं, चौथा अथर्ववेद सोमवेद है। पृथिवी के त्रिवृत् (९) स्तोमपर्य्यन्त अग्निदेवतामय ऋग्वेद प्रतिष्ठित है, पञ्चदश (१५) स्तोमपर्य्यन्त वायुदेवतामय यजुर्वेद प्रतिष्ठित है, एकविंश (२१) स्तोमपर्य्यन्त आदित्यदेवतामय सामवेद प्रतिष्ठित है। एवं त्रयस्त्रिंश (३३) स्तोमपर्य्यन्त सोमदेवतामय अथर्ववेद प्रतिष्ठित है। इसी पार्थिव-वेदचतुष्टयी को विज्ञानभाषा में 'यज्ञमात्रिकवेद' कहा जाता है। प्रकृत गोपथश्रुति तत्त्वात्मिका इसी वेदचतुष्टयी का विस्पष्ट शब्दों से स्पष्टीकरण कर रही है, जिसका कि शब्दात्मक वेद से कोई सम्बन्ध नहीं है।

१	त्रिवृत्स्तोमः (९)	पृथिवी	अग्निः	ऋग्वेदः
२	पञ्चदशस्तोमः (१५)	अन्तरिक्षम्	वायुः	यजुर्वेदः
३	एकविंशस्तोमः (२१)	द्यौः	आदित्यः	सामवेदः
४	त्रयस्त्रिंशस्तोमः (३३)	आपः	चन्द्रमाः	अथर्ववेदः
	। स्तोमचतुष्टयी	। लोकचतुष्टयी	। देवचतुष्टयी	। वेदचतुष्टयी

२६-भृग्वङ्गिरा, और वेदत्रयी—

(भृग्वङ्गिरोवेदः)—(२८)— आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम्।
सर्वमापोमयं भूतं सर्वं भृग्वङ्गिरोमयम्।
अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसोऽनुगाः॥
—गो० ब्रा० पू० २।३९।

"पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व (अपने स्नेहगुण से) भृगुरूप है, एवं (तेजोगुण से) अङ्गिरोमय है। ये आप भृग्वङ्गिरोमय हैं। सम्पूर्ण भूतप्रपञ्च क्योंकि आपोमय है, अतएव सब भृग्वङ्गिरोमय है। इस भृग्वङ्गिरोमय आपःसमुद्र (पारमेष्ठ्य समुद्र) के गर्भ में तीनों वेद (अग्निमय ऋक्, वायुमय यजुः, तथा आदित्यमय सामवेद) प्रतिष्ठित हैं। एवं ये तीनों वेद भृगूवङ्गिरा के ही अनुयायी बनें रहते हैं"।

सूर्य्यवेद ही भृग्वङ्गिरोवेद है। त्रयीवेदघन सूर्य भृग्वङ्गिरोमय पारमेष्ठ्य अप्समुद्र के गर्भ में ही प्रतिष्ठित रहता है, जैसाकि—"अपां गम्भन् सीद" (यजुःसं० १३।३०)—"कंस्विद्गर्भं प्रथमं दध्र आपः" (ऋक्सं० १०।८२।५।) इत्यादि श्रुतियों से स्पष्ट है। आपोमय भृग्वङ्गिरोवेद ही अथर्ववेद है। तद्गर्भीभूत ऋगादि ही त्रयीवेद है। एवं इस वेदचतुष्टयी का विशुद्ध तात्त्विकवेद से ही सम्बन्ध है, जिसका कि केवल शब्दवेद के आधार पर प्रयत्नसहस्रों से भी समन्वय नहीं किया जा सकता।

२७-प्राजापत्यसृष्टि, और वेदत्रयी—

(प्राजापत्यवेदः)-(२६)--"प्रजापतिस्तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा प्राणादेवेमं लोकं प्रावृहत्, अपानादन्तरिक्षलोकं, व्यानादमुं लोकम्। स एतांस्त्रीँल्लोकानभ्यतप्यत। सोऽग्निमेवास्माल्लोकादसृजत, वायुमन्तरिक्षलोकात्, आदित्यं दिवः। स एतानि त्रीणि ज्योतींष्यभ्यतप्यत। सोऽग्निरेवर्चोऽसृजत, वायोर्यजूंषि, आदित्यात् सामानि"। (कौ० ब्रा० ६।१०।)

"प्रजापति ने तप किया। तपश्चर्य्या के द्वारा अपने प्राणभाग से पृथिवीलोक, अपानभाग से अन्तरिक्षलोक, एवं व्यानभाग से द्युलोक उत्पन्न किया। 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इस सिद्धान्त के अनुसार इन तीनों लोकों में प्रविष्ट होकर प्रजापति ने तीनों लोकों को अपने तपोबल से युक्त किया। (इस द्वितीय तप-कर्म्म से) प्रजापति ने पृथिवीलोक से अग्नि, अन्तरिक्षलोक से वायु, एवं द्युलोक से आदित्य को उत्पन्न किया। आगे जाकर इन तीनों ज्योतियों को आधार बना कर तपः का अनुगमन किया। (इस तृतीय तपःकर्म्म से) प्रजापति ने अग्नि से ऋचाएँ उत्पन्न कीं, वायु से यजुः उत्पन्न किए, एवं आदित्य से साम उत्पन्न किए"। प्राण, पृथिवी, अग्नि, ऋक्, चारों समानधर्म्मा हैं। अपान, अन्तरिक्ष, वायु, यजुः, चारों समानधर्म्मा हैं। एवं व्यान, द्यौ, आदित्य, साम, ये चारों समानधर्म्मा हैं। यही प्राजापत्यसृष्टि का संक्षिप्त इतिवृत्त है, जिसका कि विशुद्ध तत्त्ववाद पर ही पर्य्यवसान है।

२८-त्रैलोक्यरस, और वेदत्रयी—

(उपलब्धिवेदः)-३०—"प्रजापतिर्वा इदं त्रयेण वेदेनाजयत्, यदस्येऽदं जितं तत्। स ऐक्षत, इत्थं चेद्वा अन्ये देवा अनेन वेदेन यक्ष्यन्ते, इमामेव ते जितिं जेष्यन्ति, येऽयम्मम। हन्त त्रयस्य वेदस्य रसमाददा इति। स भूरित्येवर्ग्वेदस्य रसमादत्त, सेऽयं पृथिव्यभवत्। तस्य यो रसः प्राणेदत्, सोऽग्निरभवद्रसस्य रसः। भुव इत्येव यजुर्वेदस्य रसमादत्त, तदिदमन्तरिक्षमभवत्।

तस्य यो रसः प्राणेदत्, स वायुरभवद्रसस्य रसः । स्वरित्येव सामवेदस्य रसमादत्त, सोऽद्यौरभवत् । तस्य यो रसः प्राणेदत्, स आदित्योऽभवद्रसस्य रसः"

—जै० उ० ब्रा० १।१।१-५।

"प्रजापति ने तीनों वेदों से वह सब कुछ जीत लिया (प्राप्त कर लिया), प्रजापति का जो जित भाग आज विश्वरूप से प्रत्यक्ष दिखाई पड़ रहा है । (तीनों वेदों के आधार पर यज्ञवितान कर तद्द्वारा प्रजापति ने सब कुछ अपने अधिकार में कर) विचार किया कि, यदि इसी प्रकार अन्य देवता भी इस वेदत्रयी से यजन करेंगे, तो वे भी इसी जिति को (विश्ववैभव को) प्राप्त कर लेंगे, जो कि मेरी जिति है । क्यों नहीं मैं इन तीनों वेदों के रस (तत्त्वभाग) का ग्रहण कर लूँ । (यह विचार कर) प्रजापति ने 'भू' रूप से ऋग्वेद का रस ग्रहण कर लिया, वहीं भू पृथिवी बनी । ऋग्वेद का जो रस पृथिवी में प्रतिष्ठित हुआ, वह अग्नि कहलाया, जो कि इसका (ऋग्वेद का) भी रस है । 'भुवः' रूप से यजुर्वेद का रस ले लिया, वही भुवः अन्तरिक्षलोक बना । यजुर्वेद का जो रस अन्तरिक्ष में प्रतिष्ठित हुआ, वह वायु कहलाया, जो कि रस का (यजुर्वेद का) भी रस है । 'स्व' रूप से सामवेद का रस लिया, वही स्वः द्युलोक बना । सामवेद का जो रस द्युलोक में प्रतिष्ठित हुआ, वह आदित्य कहलाया, जो कि इसका (सामवेद का) भी रस है" ।

व्याहृतित्रयी, लोकत्रयी, देवत्रयी, एवं वेदत्रयी का वैज्ञानिक इतिवृत्त बतलाने वाली प्रकृत श्रुति के द्वारा स्पष्ट ही वेद का तत्त्वात्मकत्त्व प्रमाणित हो रही है । भूः-भुवः-स्वः, तथा पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ का जन्य-जनक-भाव देखकर पाठकों को कोई आश्चर्य्य नहीं करना चाहिए । क्योंकि वास्तव में इन दोनों त्रिकों का संस्थान भिन्न-भिन्न है । भूः-भुवः-स्वः, ये तीनों रसात्मक हैं, अमृतात्मक हैं, एवं पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ ये तीनों भूतात्मक हैं, मर्त्यात्मक हैं । रसात्मक स्वः **'प्रतिष्ठारस'** है, रसात्मक भुवः **'गतिरस'** है, एवं रसात्मक भू 'आगतिरस' है । आगतिरस प्रजापति के विष्णुपर्व से, गतिरस प्रजापति के इन्द्रपर्व से, एवं प्रतिष्ठारस प्रजापति के ब्रह्मपर्व से सम्बद्ध है । इन तीनों हृद्य देवताओं की समष्टि ही 'प्रजापति' है, जो कि ब्रह्मेन्द्रविष्णुकृतमूर्त्ति-अक्षरप्रजापति- **'प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तरजायमानः'** (यजुःसं० ३१।१९।) इत्यादि मन्त्रवर्णन के अनुसार प्रत्येक भूतपिण्ड के केन्द्र में प्रतिष्ठित रहता हुआ, प्रतिष्ठा, विसर्ग, आदानभावों का प्रवर्त्तक बनता हुआ 'अन्तर्य्यामी' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है । भूरस विष्ण्वात्मक है, भुवः रस इन्द्रात्मक है, स्वः रस ब्रह्मात्मक है । मूलकेन्द्र में स्वरसात्मक, ब्रह्ममय सामरस प्रतिष्ठित है । इसके चारों ओर भुवः रसात्मक, इन्द्रमय यजुरस की व्याप्ति है । इसके चारों ओर भूः रसात्मक, विष्णुमय ऋगूरस व्याप्त है । इस प्रकार भूः-भुवः-स्वरात्मक त्रयीरस से युक्त प्रजापति भूपिण्ड में प्रतिष्ठित हो रहे हैं, जिनके कि इन तीनों वेदरसों के संस्थान का क्रमशः **'स्वः-भुवः-भूः'** यह स्वरूप है ।

अमृतमृत्युलक्षण इस प्रजापति के मर्त्यभाग का अमृताधार पर वितान होता है । ऋग्रूप भूरस वितत होकर पृथिवी कहलाया है, यजुरूप भुवः रस वितत होकर अन्तरिक्ष कहलाया है, एवं सामरूप स्वः रस वितत होकर द्युलोक कहलाया है । इन तीनों लोकों को 'महिमालोक' कहा जाता है । तीनों में क्रमशः अग्नि-वायु-

आदित्य नाम के तीन देवता प्रतिष्ठित हैं। इनमें अग्निदेवता भूरसरूप ऋग्वेद का रस है, वायुदेवता भुवः रसरूप यजुर्वेद का रस है, एवं आदित्यदेवता स्वः रूप सामवेद का रस है। इस प्रकार प्रजापति के गर्भ में प्रविष्ट तीनों रसवेदों का तीनों देवताओं में उपभोग हो रहा है। केन्द्रस्थ स्वः, तथा परिधि के अन्त में प्रतिष्ठित द्यु लोक, दोनों में जन्य-जनक भाव हैं, दोनों समान है। स्वः का उत्तरवर्त्ती भुवः, तथा द्यु लोक से अधोवर्त्ती अन्तरिक्ष, दोनों समान हैं। भुवः का उत्तरवर्त्ती भूः, तथा अन्तरिक्ष से अधोवर्त्ती पृथिवीलोक समान हैं। द्व ओं का 'स्वः-भुवः-भूः-पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौः' इस रूप से अवस्थान है, जैसा कि पाठक आगे आने वाले 'रसवेदप्रकरण' में विस्तार से देखेंगे।

२९—माता-पिता, और ऋक्-साम—

(मातृपितृवेदः)—३१—"ऋग्वै माता, साम पिता, प्रजापतिः स्वरः। तद्यान्यृक्त आख्यायन्ते, मातृतस्तान्याख्यायन्ते। अथ यानि सामत आख्यायन्ते, पितृतस्तान्याख्यायन्ते। अथ यानि स्वरत आख्यायन्ते, प्रजापतितस्तान्याख्यायन्ते"।

—दै० ब्रा० २। २३, २४,।

"ऋक् माता है, साम पिता है, स्वर प्रजापति है। जो ऋक् से कहे जाते हैं, वे मातृभाव को मान कर कहे जाते हैं। जो साम से कहे जाते हैं, वे पितृभाव को प्रधान मान कर कहे जाते हैं। जो स्वर से कहे जाते हैं, वे प्राजापत्यभाव को प्रधान मान कर कहे जाते हैं"। प्रकृत श्रुति 'सामप्रकरण' से सम्बन्ध रखती है। "यथान्तरतमानि सर्वाणि ब्राह्मणि सामानीति सर्वान्तरतमानि, अथोपनिषत्" (दै०ब्रा०२।२१,२२,।) इत्यादि रूप से सामतत्त्व का अनादित्व प्रतिपादन करने के अनन्तर प्रकृत श्रुति सामभेद से देवताभेद का प्रतिपादन कर रही है। यज्ञायज्ञीय, वारवन्तीय, आदि सामों में ऋक् की प्रधानता रहती है, अतएव इन सामतत्त्वों को पार्थिवसाम माना जायगा। क्योंकि ऋक् पृथिवी-स्थानीया है, पृथिवी ही माता है। यौधाजय प्रभृति सामतत्त्वों में साम की प्रधानता रहती है, अतएव इन्हें दिव्यसाम माना जायगा। क्योंकि साम द्यु स्थानीय है, द्यु लोक ही पिता है। वामदेव्यादि सामों में स्वर की प्रधानता रहती है, अतएव इन्हें प्राजापत्य (आन्तरिक्ष्य) साम माना जायगा। कहना न होगा कि सामतत्त्व से सम्बन्ध रखने वाले ये ऋक्-साम-स्वरभाव विशुद्ध तत्त्ववाद के ही समर्थक बन रहे हैं।

३०—यज्ञभैषज्य, और वेदत्रयी—

(भैषज्यसाधकवेदः)—३२—"प्रजापतिर्वा इमाँस्त्रीन् वेदानसृजत। त एनं सृष्टानाधिन्वँ-स्तानभ्यपीडयत्। तेभ्यो भूर्भुवः स्वरित्यक्षरत्। भूरित्यृग्भ्योऽक्षरत्, सोऽयं लोकोऽभवत्। भुवरिति यजुर्भ्योऽक्षरत्, साऽन्तरिक्षलोकोऽभवत्। स्वरिति सामभ्यो-

ऽक्षरत्, सः स्वर्गोलोकोऽभवत्। यदि-ऋक्त उल्वणं क्रियेत, गार्हपत्यं परेत्य भूः स्वाहेति जुहुयात्। अयं वै लोको गार्हपत्यः. अयं लोक ऋग्वेदः। तद्वा इमञ्च लोकं, ऋग्वेदञ्च स्वेन रसेन समर्द्धयति। अथ यदि यजुष्ट उल्वणं क्रियेत, अन्वाहार्य्यपचनं परेत्य भुवः स्वाहेति जुहुयात्। अन्तरिक्षलोको वा अन्वाहार्य्यपचनः, अन्तरिक्षलोको यजुर्वेदः। तद्वा अन्तरिक्षलोकञ्च यजुर्वेदञ्च स्वेन रसेन समर्द्धयति। अथ यदि सामत उल्वणं क्रियेत, आहवनीयं परेत्य स्वः स्वाहेति जुहुयात्। स्वर्गो वै लोक आहवनीयः, स्वर्गो लोकः सामवेदः। तद्वै स्वर्गञ्च लोकं, सामवेदञ्च स्वेन रसेन समर्द्धयति। तद्वा आत्मानञ्च, यजमानञ्च स्वेन रसेन समर्द्धयति"।

—षड्विंश० ब्रा० १।५।

"प्रजापति ने (यज्ञसिद्धि के लिए) ऋक्-यजुः-साम नाम के तीन वेद उत्पन्न किए। प्रजापति से उत्पन्न होने वाले इन वेदों ने प्रजापति को तृप्त न किया। (यह देखकर तृप्तिकामुक) प्रजापति ने इन तीनों को पीड़ित किया। (प्रजापति के ताप से संतप्त) इन वेदों से भूः-भुवः-स्वः नामक रस बह निकला। भूरस ऋग्वेद से निकला, यही भूरस पृथिवीलोक बना। भुवःरस यजुर्वेद से निकला, यही भुवःरस अन्तरिक्षलोक का जनक बना। स्वःरस सामवेद से निकला, यही स्वःरस द्युलोक का जनक बना। यदि ऋक्कर्म में न्यूनाधिक हो जाय, तो गार्हपत्य, में 'भूः स्वाहा' बोलते हुए आहुति देनी चाहिए। पृथिवीलोक गार्हपत्य है, पृथिवीलोक ऋग्वेद है। (गार्हपत्य में आहुति देता हुआ) पृथिवीलोक, तथा ऋग्वेद को ही इनके अपने रस से पूर्ण बनाता है। यदि यजुःकर्म्म में न्यूनाधिक हो जाय तो दक्षिणाग्नि में 'भुवः स्वाहा' बोलते हुए आहुति दे। अन्तरिक्षलोक दक्षिणाग्नि है, अन्तरिक्षलोक यजुर्वेद है। (दक्षिणाग्नि में आहुति देता हुआ) अन्तरिक्षलोक, तथा यजुर्वेद को ही इनके अपने रस से समृद्ध बनाता है। यदि सामकर्म्म में न्यूनाधिक हो जाय, तो आहवनीयाग्नि में 'स्वः स्वहा' बोलते हुए आहुति देनी चाहिए। द्युलोक आहवनीय है, द्युलोक सामवेद है। (आहवनीयाग्नि में आहुति देता हुआ) द्युलोक, तथा सामवेद को ही इनके अपने रस से समृद्ध करता है। इस समृद्धिकर्म्म से यह ऋत्विक् अपने आत्मा को, एवं यज्ञकर्त्ता यजमान को स्वरस से समृद्ध करता है"।

पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, ये तीनों लोक आधिदैविक प्राकृतिक नित्य यज्ञ के क्रमशः गार्हपत्य-अन्वाहार्य्यपचन-आहवनीय कुण्ड हैं। इनमें प्रतिष्ठित गायत्राग्नि-धिष्ण्याग्नि-सावित्राग्नि, क्रमशः गार्हपत्याग्नि-अन्वाहार्य्यपचनाग्नि-आहवनीयाग्नि है। तीनों लोकों के अधिष्ठाता अग्नि-वायु-आदित्य, ये तीन आग्नेय देवता

क्रमशः इस नित्य यज्ञके होता, अध्वर्यु, उद्गाता, नामक ऋत्विक् हैं। पार्थिव ऋग्वेदानुबन्धी हौत्रकर्म, आन्तरिक्ष्य यजुर्वेदानुबन्धी आध्वर्यवकर्म्म, दिव्य सामवेदानुबन्धी औद्गात्रकर्म इस यज्ञकर्म्म के स्वरूपसम्पादक हैं। भूकेन्द्र से द्युलोक पर्य्यन्त समष्टिरूप से व्याप्त मनःप्राणगर्भित, ब्रह्मेन्द्रविष्णुकृतमूर्त्ति, वाङ्मय प्रजापति ही इस यज्ञ के यजमान हैं।

ठीक इसी आधिदैविक यज्ञ की प्रतिकृति पर (नकल पर) द्विजातिवर्ग के द्वारा वितत होने वाले वैध-वितानयज्ञ का स्वरूप व्यवस्थित हुआ है। यहाँ के गार्हपत्य-अन्वाहार्यपचन-आहवनीय कुण्ड क्रमशः वहाँ के पृ०-अ०-द्यौ० की प्रतिकृति हैं। यहाँ के तीनों अग्नि क्रमशः वहाँ के गा०-धि०-सा० की प्रतिकृति हैं। यहाँ के होता-अध्वर्यु-उद्गाता क्रमशः वहाँ के अ०-वा०-आ० की प्रतिकृति हैं। यहाँ के ऋग्वेदी होता का हौत्रकर्म्म, यजुर्वेदी अध्वर्यु का आध्वर्यवकर्म्म, सामवेदी उद्गाता का औद्गात्रकर्म वहाँ के अग्नि-वायु-आदित्य द्वारा होने वाले हौत्रानुबन्धी शस्त्रकर्म,आध्वर्यवानुबन्धी ग्रहकर्म्म, औद्गात्रानुबन्धी स्तोत्रकर्म्म की प्रतिकृति हैं। यहाँ के ऋङ्मन्त्र, यजुर्म्मन्त्र साममन्त्र वहाँ के पार्थिव ऋक्तत्त्व आन्तरिक्ष्य यजुस्तत्त्व दिव्यसामतत्त्व की प्रतिकृति हैं। जैसा वहाँ है, वैसा यहाँ है। प्राणदेवता जैसा कर रहें है, वैसा ही यहाँ किया जाता है। प्रकृति में जैसा हो रहा है, वैसा ही यहाँ हो रहा है। जैसा कि-'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या'-'यद्वै देवा अकुर्वंस्तत् करवाणि'-'देवाननुविधा वै मनुष्याः''-"व्यृद्धं वै तद् यज्ञस्य-यन्मानुषं, नेद् व्यृद्धं यज्ञे करवाणीति" इत्यादि निगम वचनों से प्रमाणित है।

आधिभौतिक अग्नि को साधन (द्वार) बनाकर इसके द्वारा यज्ञकर्त्ता यजमान के आध्यात्मिक अग्नि का आधिदैविक अग्निसंस्कार से ग्रन्थिबन्धन करा देना ही यज्ञकर्म्म का चरम फल है। इस महारम्भ यज्ञकर्म्म की स्वरूपनिष्पत्ति के लिए यज्ञकर्त्ता यजमान को दक्षिणाक्रीत ऋत्विजों का आश्रय लेना पड़ता है। असत्यसंहित मनुष्य से अज्ञात-ज्ञात दोष हो जाना स्वाभाविक है। यह दोष न्यूनता, आधिक्य भेद से दो भागों में विभक्त है। कमी कर जाना न्यूनतादोष है, अधिक होजाना आधिक्य दोष है। न्यूनभाग यज्ञसमृद्धि की पूर्णता का प्रतिबन्धक बन जाता है, आधिक्य दोष-'यद्वै यज्ञस्यातिरिक्तं, तद् भ्रातृव्यम्' के अनुसार यजमान के शत्रु का बलवर्धक बन जाता है। इस दोषचिकित्सा के लिए ही प्रकृत श्रुति ने भैषज्ययज्ञ का विधान किया है। ऋग्वेदी होता, यजुर्वेदी अध्वर्य्यु, तथा सामवेदी उद्गाता के ऋक्-यजुः-साममन्त्रप्रयोगों में यदि कुछ भी न्यून, अथवा अधिक हो जाता है, तो इन ऋत्विजों का वेदत्रयीरूप आध्यात्मिक यज्ञ भी दोषावह बन जाता है। वेदत्रयीरूप यजमान का आत्मा भी यज्ञसमृद्धि से वञ्चित रह जाता है, एवं विषममन्त्रप्रयोग से उस प्राकृतिक वेदात्मक यज्ञ का संस्कार भी यजमानात्मा के साथ नहीं हो पाता। इसी विप्रतिपत्ति को दूर करने के लिए यज्ञकर्म्मद्रष्टा ब्रह्मा को यथावसर गा० अन्वा० आ० में आहुति देते हुए विरिष्टसंधान (त्रुटिपूर्त्ति) लक्षण प्रायश्चित करना पड़ता है। यहाँ के इस प्रायश्चित कर्म्म से वहाँ की समृद्धि पूर्णतया प्राप्त हो जाती है। भैषज्यकर्म्मसंसाधिका यह मन्त्रत्रयी तत्त्वत्रयी की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित कर रही है।

३१—व्याहृतित्रयी, और वेदत्रयी—

(व्याहृतिवेदः)—(३३)—"भूर्भुवः स्वरित्येता वाव व्याहृतय इमे त्रयो वेदाः । भूरित्येव ऋग्वेदः, भुव इति यजुर्वेदः, स्वरिति सामवेदः । तन्नर्चा, न यजुषा, न साम्ना, प्रत्यक्षात् प्रतिपद्यते । नर्चो, न यजुषो, न साम्न एति" ।

—ऐ० आ० १।२।१०। स्पष्टार्थं ।

३२—अजपृश्नि, और ब्रह्मनिःश्वसितवेद—

(ब्रह्मवेदः)—(३४)—"अजान् ह वै पृश्नींस्तपस्यमानान् 'ब्रह्म' स्वयं स्वयम्भ्वभ्यानर्षत् । तदृषयोऽभवन् । तदृषीणां ऋषित्वम् । तां देवतामुपातिष्ठन्त यज्ञकामाः । त एतं ब्रह्मयज्ञमपश्यन्, तमाहरन्, तेनायजन्त" ।

—तै० आ० २।६।

"अजपृश्नि नामक ऋषियों ने तप किया । तप करते हुए इन ऋषियों में स्वयम्भूब्रह्म (ब्रह्मनिःश्वसित-लक्षण ब्रह्मवेद) स्वयं प्रकट हुआ । इस ऋषिप्राणात्मक स्वायम्भुव ब्रह्मवेद के साक्षात्कार से ही ये अजपृश्नि ऋषि कहलाए । यही ऋषियों का ऋषित्व है । आर्षदृष्टि से प्रादुर्भूत इस वेदब्रह्म का यज्ञकामना से इन्होंने आश्रय लिया (अन्वेषण किया) । इसी ब्रह्म के (वेद के) आधार पर इन्होंने ब्रह्मयज्ञ (सर्वहुत नामक स्वायम्भुव यज्ञविद्या) का साक्षात्कार किया । उसे अपने ज्ञानजगत् में प्रतिष्ठित किया, एवं उसके आधार पर वैध सर्वहुत यज्ञ करते हुए तद्द्वारा उसकी पूर्णता प्राप्त की" । स्पष्ट ही अजपृश्नि के द्वारा दृष्ट स्वयम्भूवेद की तत्त्वरूपता प्रकृत श्रुति से प्रमाणित है ।

३३—महाव्रत, और वेदत्रयी—

(आत्मवेदः)—३५—"अथो इन्द्रस्यैष आत्मा, यन्महाव्रतम् । तस्मादेनत् परस्मै न शंसेत् । नेदिन्द्रस्याऽऽत्मानं परस्मिन् दधानीति । अथो यमेवैतमृङ्मयं, यजुर्मयं, साममयं पुरुषं संस्कुर्वन्ति, तस्यैष आत्मा, यन्महाव्रतम्" (शा० आ० १।१।) ।

"यह इन्द्र का आत्मा है, जो कि महाव्रत है । इसलिए इसे दूसरों को नहीं बतलाना चाहिए । 'हम इन्द्र के आत्मा को दूसरों के अधिकार में प्रतिष्ठित न कर दें', इसीलिए महाव्रत का अनधिकारियों के सामने बखान नहीं करना चाहिए । जिस ऋङ्मय, यजुर्मय, साममय, पुरुष का संस्कार करते हैं, वही इन्द्र का आत्मा है, जो कि 'महाव्रत' नाम से प्रसिद्ध है" ।

बृहतीसहस्र से सम्पन्न, आयुर्लक्षण, प्रज्ञा-प्राणात्मक इन्द्र ही हमारा आत्मा है । इस आत्मेन्द्र का प्रतिष्ठारूप अशीति-लक्षण अन्न महाव्रत है । इसी महाव्रतान्न से क्योंकि इन्द्र की स्वरूपरक्षा होती है, अतएव

महाव्रत को इन्द्रात्मा का आत्मा (प्रतिष्ठा) कहा जा सकता है। यह प्राणात्मक इन्द्र स्वयं यजुर्मूर्त्ति है, एवं ऋक्-साम से नित्य युक्त रहता हुआ ऋक्-साममय है। वैध यज्ञद्वारा इसी वेदत्रयमूर्त्ति इन्द्र का संस्कार किया जाता है। 'महाव्रत' नामक 'अग्निवाक्यमहः' में होने वाला कर्म्म इन्द्र के त्रयीभाग को ही पुष्ट करता है। त्रयीभाग इसकी अपनी प्रतिष्ठा है। अतएव इसका उपयोग ऐसे पात्र में नहीं होना चाहिए, जो कि अनधिकारी है। प्रकृत श्रुति का इन्द्रात्मा को वेदमय बतलाना एकमात्र तत्त्ववेद से ही सम्बन्ध रखता है।

३४—चतुष्पाद साम, और वेदचतुष्टयी—

(सूर्य्यवेदः)—३६— "स होवाच प्रजापतिः--अग्निर्वै देवा इदं सर्वं विश्वा भूतानि। प्राणा वा इन्द्रियाणि, पशवोऽन्नं अमृतं सम्राट्—स्वराट्—विराट्। तत्साम्नः प्रथमं पादं जानीयात्। ऋग्-यजुः-सामा-थर्वरूपः सूर्य्योऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषः। तत् साम्नो द्वितीयं पादं जानीयात्। य ओषधीनां प्रभुर्भवति, ताराधिपतिः सोमः, तत् साम्नस्तृतीयं पादं जानीयात्। स ब्रह्मा, स शिवः, स हरिः, सेन्द्रः, सो-ऽक्षरः परमः स्वराट्। तत् साम्नश्चतुर्थं पादं जानीयात्। यो जानीते, सोऽमृतत्वं गच्छति"।

(नृ० पू० १।४)।

"प्रजापति कहने लगे कि—अग्नि ही सम्पूर्ण (३३) देवता है, यही सम्पूर्ण (५) भूत है। प्राण ही इन्द्रियाँ हैं, पशु अन्न हैं, अमृत ही सम्राट्, स्वराट्, विराट् है। इसी को साम का प्रथम पर्व जानना चाहिए। ऋक्-यजुः-साम-अथर्वरूप सूर्य्य, सूर्य्य केन्द्र में प्रतिष्ठित हिरण्मय पुरुष ही साम का द्वितीय पर्व है। जो ओषधियों का पति है, नक्षत्राधिपति है, वही सोम (चन्द्रमा) है। इसी को साम का तृतीय पर्व जानना चाहिए। वही प्रजापति ब्रह्मा, शिव, विष्णु, इन्द्र है। वही अक्षरात्मक परम स्वराट् है। एवं इसी को साम का चौथा पर्व जानना चाहिए। जो साम के इन चारों पर्वों को जानता है, वह अमृतत्व प्राप्त कर लेता है"।

प्रकृत श्रुति ने सप्तवितस्तिकायात्मक विश्वसाम के चारों पादों का ही स्पष्टीकरण किया है। सम्पूर्ण-विश्व को 'प्रजापति, अग्नि, सूर्य्य, चन्द्रमा' इन चार पर्वों में विभक्त किया जा सकता है। स्वयम्भू, तथा परमेष्ठी इन दोनों अव्यक्तों की समष्टि एक अव्यक्त पर्व है, इसी को प्रजापतिपर्व कहा जा सकता है। सूर्य्य एक पर्व है, चन्द्रमा एक पर्व है, एवं अग्निमयी पृथिवी, किंवा पार्थिव अग्नि एक पर्व है। महाविश्वसोमात्मक महासाम के ये ही चार पाद, किंवा चार पर्व हैं। इन चारों पर्वों का दिग्दर्शन कराते हुए श्रुति ने द्वितीय पाद-लक्षण सूर्य्य को जिन चार वेदों से युक्त बतलाया है, वे चारों वेद विशुद्ध तत्त्ववाद से ही सम्बन्ध रखते हैं।

३५—उद्गीथ, और वेदत्रयी—

(उद्गीथवेदः)—३७— "अथ खलूद्गीथाक्षराण्युपासीत 'उद्गीथ' इति । प्राण एव 'उत्' । प्राणेन ह्युत्तिष्ठति । वाक्–'गीः' । वाचो ह गिर-इत्याचक्षते । अन्नं 'थम्' । अन्ने हीदं सर्वं स्थितम् । द्यौरेव-'उत्'–अन्तरिक्षं–गीः'–पृथिवी 'थम्' । आदित्य एव 'उत्'–वायुः-'गी'–अग्निः 'थम्' । सामवेद एव 'उत्'–यजुर्वेदो-'गी.'–ऋग्वेदः 'थम्' । दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं, यो वाचोदोहः । अन्नवानन्नादो भवति, य एतान्येवं विद्वानुद्गीथाक्षराण्युपास्ते-'उद्गीथ' इति" (छान्दोग्योपनिषत् १।३।७।)

"निश्चयेन (तत्त्वोपासक को) उद्गीथ के 'उत्–गी–थम्' इन अक्षरों की उपासना करनी चाहिए। प्राण ही 'उत्' है, क्योंकि प्राण से ही (सम्पूर्ण भूतों का) उत्थान (अभिव्यक्ति) होता है । वाक् 'गीः' है। (इसीलिए तो) वाक् को 'गिर' कहते हैं। अन्न 'थम्' है। अन्नाधार पर ही सम्पूर्ण भूतप्रपञ्च प्रतिष्ठित है। आदित्य ही 'उत्' है, वायु 'गीः' है, अग्नि 'थम्' है। (आदित्य से अभिन्न) सामवेद ही 'उत्' है, (वायु से अभिन्न)यजुर्वेद 'गीः' है, एवं (अग्नि से अभिन्न) ऋग्वेद 'थम्' है। उस (उपासक तत्त्वद्रष्टा–) के लिए वाग्दोह (वाग्रस) का दोहन कर देता है (यह उद्गीथ), जो कि वाक् का दोह (रस) प्रसिद्ध है", यह श्रुति उद्गीथात्मिका जिस त्रयीवेद का सङ्केत कर रही है, वह निश्चयेन तत्त्वात्मक ही है।"

३६—देवमधु, और वेदत्रयी—

(मधुवेदः)—३८—क-असौ वा आदित्यो देवमधु । तस्य ये प्राञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्राच्यो मधुनाड्यः, ऋच एव मधुकृतः, ऋग्वेद एव पुष्पम् । ता अमृता आपस्ता वा एता ऋचः । एतदृग्वेदमभ्य-तपन् । तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यं रसोऽजायत । तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य रोहितं रूपम् ।

ख–अथ येऽस्य दक्षिणा रश्मयस्ता एवास्य दक्षिणा मधुनाड्यः, यजूंष्येव मधुकृतः, यजुर्वेद एव पुष्पम् । ता अमृता आपः । तानि वा एतानि यजूंषि । एतं यजुर्वेदमभ्यतपन् । तस्याभितप्तस्य यश० । तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य शुक्लं रूपम् ।

ग—अथ येऽस्य प्रत्यञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्रतीच्यो मधुनाड्यः, सामान्येव मधुकृतः, सामवेद एव पुष्पम्। ता अमृता आपः, तानि वा एतानि सामानि। एतं सामवेदमभ्यतपन्। तस्याभि०। तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य कृष्णं रूपम्।

—छान्दो० ३।१।

क—"वह आदित्य ही 'देवमधु' (प्राणरूप मधु का कोश) है। उसकी जो पूर्वदिगनुगता रश्मियाँ हैं, वे ही इसकी पूर्वदिग्रूपा मधुनाड़ियाँ हैं। तदनुगता ऋचाएँ हीं मधुकृत (मधुग्राहक भ्रमर) है। (ऋचाओं की समष्टिरूप) ऋग्वेद ही पुष्प (मधुरसपरिपूर्ण कोश) है। वे रस आपः (पारमेष्ठ्य सौम्य आपः) ही है, जो कि अमृत भावापन्न है, ये ही तो ऋचाएँ हैं। इस (मधुरूप) ऋग्वेद को लक्ष्य बनाकर तप किया गया (प्रजापति ने तप किया)। मधुरसरूप ऋचाओं के अभितप्त रूप से यश (प्राण) रूप इन्द्रिय वीर्य्यात्मक अन्नाद (भोग्य) रस उत्पन्न हुआ। वह यही तो है, जो कि आदित्य के हिरण्मयसंकाशात्मक रक्त रूप से प्रत्यक्ष दृष्ट है"।

ख—"उस आदित्य की जो दक्षिण दिगनुगता रश्मियाँ हैं, वे ही इसकी दक्षिणदिग्रूपा मधुनाड़ियाँ है। यजुः ही भ्रमर है, यजुर्वेद ही पुष्प है (शेषपूर्ववत्)। प्रत्यक्षदृष्ट आदित्य का शुक्लरूप (आलोकरूप) यही (यजुर्वेद) है"।

ग—"उस आदित्य की जो पश्चिम दिगनुगता रश्मियाँ हैं, वे ही इसकी पश्चिम दिग्रूप मधुनाड़ियाँ है, साम ही भ्रमर हैं, सामवेद ही पुष्प है (शेष पूर्ववत्)। आदित्य का मौलिक कृष्ण रूप यही (सामवेद) है*"।

उक्त अक्षरार्थ से समन्विता छान्दोग्यश्रुति ने मधु-भ्रमर-मधुनाड़ी-आदि का स्वरूपविश्लेषण करते हुए जिस त्रयीवेद की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है, निश्चयेन वह तत्त्वात्मक वेद ही है, जिसका केवल शब्दात्मक वेद के माध्यम से कथमपि समन्वय नही किया जा सकता।

३७—अमृतरस, और वेदत्रयी—

(रसवेदः)-(३६)—"ते वा एते रसानां रसाः। वेदा हि रसाः। तेषामेते रसाः। तानि वा एतान्यमृतानि, अमृतानाममृतानि। वेदा ह्यमृताः। तेषामेतान्यमृतानि" (छां० उप० ३।५।)।

---

* आ कृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्मयेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्॥

यजुः सं० ३३।४३।

"रोहित-शुक्ल-कृष्ण-वर्णात्मक आदित्य प्राण रसों के भी रस हैं। वेद ही रस हैं। उन के ये प्राण रस हैं। ये आदित्यप्राण अमृतभावापन्न हैं, (अमृतरसात्मक वेदों के रस बनते हुए) अमृतों के भी अमृत हैं। वेद निश्चयेन अमृत हैं। इन के ये प्राण अमृत हैं", इत्यादि श्रुति जिस अमृतवेदत्रयी का स्पष्टीकरण कर रही है, वे तत्त्ववेद के अतिरिक्त और क्या हो सकते हैं ? ।

१८—अधिदैवत, और वेदत्रयी—

(अधिदैवतवेदः)-(४०)—"इयमेव ऋक्, अग्निः साम । तदेतस्यामृचि-अध्यूढं साम । तस्मादृच्यध्यूढं साम गीयते । इयमेव 'सा',-अग्निः-'अमः',-तत् साम (१) । अन्तरिक्षमेव—ऋक्, वायुः साम (२) । द्यौरेव ऋक्, आदित्यः साम (३) । नक्षत्राण्येव-ऋक्, चन्द्रमाः साम (४) । अथ यदेतदादित्यस्य शुक्लं भाः, सैव ऋक् । अथ यन्नीलं परः कृष्णं, तत् साम (५) । इत्यधि-दैवतम्" (छां० उप० १।६।) ।

"यह पृथिवी ही ऋक् है, अग्नि साम है। सो इस पृथिवीरूपा ऋक् में साम अध्यूढ (ऊपरि प्रतिष्ठित) है। इसीलिए (शब्दात्मक-मन्त्रात्मक कर्म्मों में) ऋक् पर अध्यूढ ही साम का गान करते हैं (अर्थात् ऋङ्मन्त्र के आधार पर साममन्त्र का गान होता है। क्योंकि तत्त्वात्मक वेद की तत्त्वात्मिका ऋक् पर ही तत्त्वात्मक साममण्डल का विस्तारात्मक गान हो रहा है)। यह पृथिवी ही 'सा' है, तद्गर्भीभूत अग्नि 'अमः' है, दोनों की समष्टि ही 'साम' है। अन्तरिक्ष ही 'ऋक्' है, वायु 'साम' है। द्यौ ही 'ऋक्' है, आदित्य 'साम' है। नक्षत्रगोलक ही ऋक् है, चन्द्रमा 'साम' है। सो जो कि आदित्य (सूर्य्य) का शुक्ल तेज (प्रकाश) है, वही 'ऋक्' है, एवं प्रकाशमण्डल के चारों ओर व्याप्त परस्थानीय (पारमेष्ठ्य) जो नीलकृष्णमण्डल (आकाशमण्डल) है, वही 'साम' है। और यही अधिदैवतमण्डल का स्वरूपपरिचय है" इत्यादि रूप से छान्दोग्यश्रुति ने जिन ऋक्-सामों का स्वरूपविश्लेषण किया है, वे तत्त्वात्मक ही हो सकते हैं। शब्दात्मक ऋक्-साम के आधार पर कथमपि इस श्रुति का समन्वय नहीं किया जा सकता।

१९—अध्यात्म, और वेदत्रयी—

(अध्यात्मवेदः)-(४१)—"अथाध्यात्मं—वागेव ऋक्, प्राणः साम । तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम । तस्मादृच्यध्यूढं साम गीयते । वागेव 'सा'—प्राणोऽमः, तत् साम (१) । चक्षुरेव ऋक्, आत्मा साम (२) । श्रोत्रमेव ऋक्, मनः साम (३) । अथ यदेतदक्ष्णः शुक्लं भाः सैव ऋक् । अथ यन्नीलं परः कृष्णं, तत् साम ।

अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते, सैव ऋक् ,तत् साम, तदुक्थं, तद्यजुः, तद्ब्रह्म । तस्यैतस्य तदेव रूपं, यदमुष्य रूपम् । यावमुष्य गेष्णौ, तौ गेष्णौ । यन्नाम, तन्नाम ।"

(छां० उप० १।६।) ।

"यह अध्यात्मविवर्त्त है–वाक् ही 'ऋक्' है, प्राण 'साम' है । सो इस वाग्रूपा ऋक् में प्राणरूप 'साम' अध्यूढ है । अतएव ऋङ्मन्त्र में अध्यूढ होकर साममन्त्र गाया जाता हैं । वाक् ही 'सा' है, प्राण 'अमः' है, दोनों की समष्टि 'साम' है । श्रोत्र ही 'ऋक्' है, मन (प्रज्ञानमन) 'साम' है। सो जो कि नेत्रगोलकों का शुक्लपटल है, वही 'ऋक्' है । श्वेतपटल से परस्थ जो कृष्णनीलमण्डल है, वह 'साम' है, वह "यजुः' है, वह ब्रह्म (प्रतिष्ठा) है । इसका वही रूप है, जो कि अधिदैवत का रूप है । जो अधिदैवत के वितानभाव हैं, वे ही इस अध्यात्म के वितानभाव हैं । जो अधिदैवत के नाम है, सो ही इस अध्यात्म के नाम हैं" इत्यादि श्रुति के चातुष्पुरुषात्मक ऋक्–यजुः–साम क्या शब्दात्मक वेद हैं ?, नहीं, कदापि नहीं । केवल शब्दवेद पर ही अपनी वेदनिष्ठा समाप्त कर देने वाले वेदभक्तों को मुकुलितनयन बन कर स्वयं ही इस प्रश्न की मीमांसा करनी चाहिए ।

४०—सर्वोङ्कार, और वेदत्रयी--

(प्रणववेदः)-(४२)—"प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत् । तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयीविद्या सम्प्रास्रवत् । तामभ्यतपत । तस्या अभितप्ताया एतान्यक्षराणि सम्प्रास्रवन्त–भूर्भुवःस्वरिति । तान्यभ्यतपत् । तेभ्योऽभितप्तेभ्य ओङ्कारः सम्प्रास्रवत् । तद्यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि सन्तृणानि, एवमोङ्कारेण सर्वा वाक् सन्तृणा । ओङ्कार एवेदं सर्वम्" (छां० उप० २।२३।१-२।) ।

"प्रजापति ने तीनों लोकों को तपाया । उन अभितप्त–सन्तप्त–तीनों लोकों से त्रयीविद्या प्रस्रुत हो पड़ी (चू पड़ी) । इस त्रयीविद्या को (भी) प्रजापति ने तपाया । इस अभितप्त–सन्तप्त त्रयीविद्या से भूः–भुवः–स्वः–नामक तीन अक्षर प्रस्रुत हो पड़े (चू पड़े) । प्रजापति ने इन तीनों अक्षरों को (भी) तपाया । इन अभितप्त-सन्तप्त तीन अक्षरों से ओङ्कार प्रस्रुत हो पड़ा (चू पड़ा) । सो जैसे कि एक शंकु से सम्पूर्ण पत्रराशि अवारपारीणरूप से विद्ध हो जाती है (विंध जाती है), तथैव पत्रराशिस्थानीया (क्षरभूतकूटस्थानीया) सम्पूर्णावाक् (वाङ्मय सम्पूर्ण भूतप्रपञ्च) ओंकाररूप शंकु से अपारपारीणरूप से विद्ध हो गई है । (इसी लिए तो यह कहा और माना जा सकता है कि), 'ओङ्कार' ही यह सब कुछ है," इत्यादि श्रुति ने जिस प्राजापत्य प्रणवात्मक वेद का दिग्दर्शन कराया है, वह तत्त्वात्मक वेद ही है ।

४१—विस्रस्तप्रजापति, और त्रयीवेद—

(*भैषज्यवेदः)—(४३)—"प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत् । तेषां तप्यमानानां रसान् प्रावृहत्—अग्निं पृथिव्या, वायुमन्तरिक्षात्, आदित्यं दिवः । स एतास्तिस्रो देवता अभ्यतपत् । तासां तप्यमानानां रसान् प्रावृहत्—अग्नेर्ऋचः, वायोर्यजूंषि, सामान्यादित्यात् । स एतां त्रयीं विद्यामभ्यतपत् । तस्यास्तप्यमानाया रसान् प्रावृहत्—भूरिति ऋग्भ्यः, भुवरिति यजुर्भ्यः, स्वरिति सामभ्यः । ×× ××× । एवमेषां लोकानां, आसां देवतानां, अस्यास्त्रय्या विद्यया वीर्येण यज्ञस्य विरिष्टं संदधाति । भेषजकृतो ह वा एष यज्ञो, यत्रैवं विद्वान् ब्रह्मा भवति" ॥

(छां० उप० ४।१७।)।

"प्रजापति ने तीनों लोकों को तपाया । उन तीनों तप्यमान लोकों के तीनों रसों को प्रजापति ने वहाया—अग्निरस को पृथिवी से, वायुरस को अन्तरिक्ष से, एवं आदित्य रस को द्युलोक से । आगे चल कर प्रजापति ने रसात्मक इन तीनों देवों को तपाया । उन तीनों तप्यमान देवरसों के तीनों रसों को प्रजापति ने वहाया—ऋग्रस को अग्नि से, यजुःरस को वायु से, एवं सामरस को आदित्य से । आगे चल कर प्रजापति ने इस रसत्रय रसात्मिका त्रयीविद्या को भी तपाया । उस तप्यमाना त्रयीविद्या के तीन रसों को प्रजापति ने वहाया—ऋग्रस से 'भूः' व्याहृति रस को, यजुः-रस से 'भुवः' व्याहृतिरस को, एवं सामरस से 'स्वः' व्याहृतिरस को । इस प्रकार इन तीनों लोकों के, तीनों देवताओं के यज्ञात्मक स्वरूप के छुरिष्ट को त्रयीविद्यात्मक वीर्य्य से संहित करता है (ब्रह्मा नामक ऋत्विक्) । जहाँ इस रसतत्त्व का परिज्ञाता विद्वान् ब्रह्मा ब्राह्मकर्म्म में नियुक्त रहता है, उस यज्ञकर्म्म में यजमान का यज्ञ भेषजकृत (नीरोग-प्रकृतिस्थ) बना रहता है," इत्यादि श्रुति में प्रतिपादिता रसात्मिका त्रयीविद्या क्या शब्दात्मक वेद है ? । कदापि नहीं । यह तो स्पष्टरूपेण तत्त्ववेद की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित कर रही है ।

४२—वाङ्मय भूतात्मा, और त्रयीवेद—

(वाग्वेदः)—४४—"स एक्षत, यदि वा इममभिमंस्ये, कनीयोऽन्नं करिष्ये, इति । स तया वाचा, तेनात्मना, इदं सर्वमसृजत, यदिदं किञ्च । ऋचो, यजूंषि, सामानि, यज्ञान्, प्रजाः, पशून् । स यद्यदेवासृजत,

* ३२ संख्या की पूर्व श्रुति, एवं ४३ संख्या की प्रकृत श्रुति, दोनों समानार्थ का प्रतिपादन कर रही हैं ।

तत्तदत्तुमध्रियत । सर्व्वं वा अत्तीति-तददितेरदितित्वम् । सर्वस्यै-
तस्यात्ता भवति, सर्व्वमस्यान्नं भवति, य एवमेतददितेरदितित्वं वेद"
(बृ० उप० १।२।५।) ।

"(अमृताक्षरगर्भित मृत्युमय क्षरात्मक) प्रजापति ने (अपने से उत्पन्न शब्दायमान कुमाराग्नि को लक्ष्य बना कर) विचार किया कि, यदि मैं इसे (कुमाराग्नि को) अपना (मृत्यु का) लक्ष्य बना लूँगा, तो मैं अपने लिए बहुत स्वल्प अन्न ही बना सकूँगा । (अपेक्षित है मुझे अपरिमित अन्न, सो अपेक्षा कुमाराग्निमात्र से सम्पन्न हो नहीं सकती । इसीलिए) प्रजापति ने अपनी उस (मनःप्राणगर्भिता) वाक् से, मनःप्राणवाङ्मय सृष्टिसाक्षी आत्मा से (कुमाराग्निमाध्यम द्वारा) यह सब-कुछ उत्पन्न कर डाला, जो कि (उत्पन्न वैभव) ऋक्-यजुः-साम-छन्द-यज्ञ-प्रजा-पशु-नामों से प्रसिद्ध है । इस अन्नाद प्रजापति ने जो-जो उत्पन्न किया, उस उस को ही अपना अन्न बना लिया (महिमामण्डल में प्रतिष्ठित कर लिया) । यह प्रजापति (अमृतगर्भित मृत्युमय सौर सम्वत्सरप्रजापति अपने महिममण्डल-सौर आलोकमण्डल में क्योंकि) ऋगादि पशवन्त सबको अन्नरूप से प्रतिष्ठित रखता है, अतएव यही इस 'अदिति' (आलोकमण्डल) का अदितित्व है । जो अदिति के इस अदितित्व रहस्य को जान लेता है, वह सम्पूर्ण त्रैलोक्य का अत्ता भोक्ता बन जाता है, यह सब-कुछ उसका अन्न बन जाता है" इत्यादि बृहदारण्यकश्रुति ने मृत्युमय जिस प्रजापति से त्रयीवेद की अन्नरूप से उत्पत्ति बतलाई है, वह तत्त्वात्मक वेद नहीं है, तो और क्या है ? ।

४३-महन्मूर्त्तिरव्यय, और त्रयीवेद—

(ब्रह्मवेदः)-(४५)—"यजूदरः सामशिरा असावृङ्मूर्त्तिरव्ययः ।
स ब्रह्मेति स विज्ञेय ऋषिर्ब्रह्ममयो महान् ॥
(कौ० उप० १।७।) ।

"जिसका उदर यजुः है, साम जिसका मस्तक है, ऐसा वह अव्ययमूर्त्ति (चिदात्माधिष्ठाता) महान् अव्यय (अव्ययरूप महान्) ऋङ्मूर्त्ति (ऋक्-शरीरी) है । वही ब्रह्म (प्रतिष्ठा) है (उपादान है), वह विज्ञेय (विषयावच्छिन्न) है, ऋषि (अव्यक्तप्राणमूर्त्ति) है, ब्रह्ममय (क्षरानुगत) है, महान् है (पारमेष्ठ्य तत्त्व है)" इत्यादि कौषीतकिवचन जिस महानात्मब्रह्म को वेदमय बतला रहा है, वह वेदपदार्थ तत्त्वात्मक ही माना जायगा, जिसका कि शब्दात्मक वेद से कोई सम्बन्ध नहीं है ।

४४-अमितौजा पर्य्यङ्क, एवं त्रयीवेद—

(पर्य्यङ्कवेदः)-(४६)—"स आगच्छत्यमितौजसं पर्य्यङ्कम् । स प्राणः । तस्य भूतं च,
भविष्यच्च पूर्वौ पादौ । श्रीश्चेरा चापरौ । बृहद्रथन्तरे अनूच्ये ।
भद्र-यज्ञायज्ञीये शीर्षण्यम् । ऋचश्च सामानि च प्राचीनातानम् ।

यजूंषि तिरश्चीनानि । सोमांशव उपस्तरणम् । उद्गीथ उपश्रीः ।
श्रीरुपबर्हणम् । तस्मिन् ब्रह्मास्ते" ।

(कौ० उप० १।५।) ।

"(क्रमगति का अनुगमन करता हुआ) वह भूतात्मा अत्यन्त तेजस्वी पर्य्यङ्क (पलँग) स्थान पर पहुँचता है । वह पर्य्यङ्क (सौर नवाहयज्ञात्मक चतुर्भुज ज्योतिर्मण्डल) प्राणरूप है । भूत और भविष्यत्, ये दो इस पर्य्यङ्क के पूर्वा दिगनुबन्धी पाद (पाए) हैं । श्री (गायत्रतेज), और इरा (पृथिवी), ये दो पश्चिमा दिगनुबन्धी पाद हैं । बृहत् और रथन्तर नामक (सौर-पार्थिव) साम इस पर्य्यङ्क के अनूच्य (दीर्घ-खट्वाङ्ग-ईस) हैं । भद्र, और यज्ञायज्ञीय नामक (चान्द्र-भौम) साम इस पर्य्यङ्क के शीर्षण्य , ह्रस्व खट्वाङ्ग-सेरू) हैं । ऋक् और साम इस पर्य्यङ्क के पूर्व-पश्चिम दिगनुगत आतान (दावण) हैं । यजुः इस पर्य्यङ्क के दक्षिण-उत्तर-दिगनुगत आतान हैं । चान्द्ररश्मियाँ इसका उपस्तरण (बिछावनी) है । उद्गीथ इसकी उपश्री (चद्दर) है । ऐसे इस पर्य्यङ्क पर ब्रह्मा (हिरण्यगर्भ-प्रजापति-सौरसम्वत्सरप्रजापति) विराजमान (प्रतिष्ठित) हैं", इत्यादि श्रुति ने जिस पर्य्यङ्क में आतानात्मक वेदों का सम्बन्ध बतलाया है, क्या वे वेद शब्दात्मक हैं ?, कदापि नहीं ।

४५–देवमानुषपित्र्यभाव, और वेदत्रयी—

(त्रयोवेदः)-(४७)--ऋग्वेदो देवदैवत्यो यजुर्वेदस्तु मानुषः ।
सामवेदः स्मृतः पित्र्यस्तस्मात्तस्याशुचिर्ध्वनिः ॥

(मनुः--४।१२४।) ।

"(तीनों वेदों में) ऋग्वेद देवदेवतानुबन्धी वेद है, यजुर्वेद मानुषभावापन्न है, एवं सामवेद पितृ-भावपन्न है । अतएव सामवेद की ध्वनि अशुचि मानी गई है" । प्रकृत मनुवचन में देव, मानव, पितर, तीन भावों के साथ क्रमशः ऋक्-यजुः-साम-का सम्बन्ध बतलाया गया है । यह सम्बन्ध तत्त्ववेद से ही अनुप्राणित है । अन्यथा तीनों मन्त्रात्मक शब्दात्मक वेदों का इन तीनों सर्गों से कोई भी सम्बन्ध घटित नहीं होता ।

४६–प्राजापत्य त्रिवृद्भाव, और त्रयीवेद—

(त्रिवृद्वेदः)-(४८)-ऋचो यजूंषि चान्यानि सामानि विविधानि च ।
एष ज्ञेयस्त्रिवृद्वेदो यो वेदैनं स वेदवित् ॥
आद्यं यत्त्र्यक्षरं ब्रह्म त्रयी यस्मिन् प्रतिष्ठिता ।
स गुह्योऽन्यस्त्रिवृद्वेदो यस्तं वेद स वेदवित् ॥ (मनुः—११।२६४,२६५)

'ऋचाएँ, यजुः, एवं बृहत्-रथन्तर-वैरूप-वैराज-शाक्वर-आदि विविध साम, ये तीनों ही (तत्त्वात्मक) वेद (मनःप्राणवाक् के त्रिवृद्भाव से) त्रिवृत् (नवभावापन्न) हैं। जो इस त्रिवृद्भावापन्न वेदरहस्य को जानता है, वही वेदवित् माना गया है। सृष्टिसाक्षी मनः-प्राण-वाक्-भावों के वाचक अकार-उकार-मकार इन तीन आद्य अक्षरों की समष्टि रूप जो अक्षरब्रह्म है. जिसमें कि ऋक्-यजुः-सामरूपा त्रयीविद्या प्रतिष्ठित है, वही यह गुह्य (रहस्यात्मक-तत्त्वात्मक) त्रिवृद्वेद है। जो इसे जानता है, वही वेदवित् है।

४७-सावित्री के तीन पाद, और त्रयीवेद—

(सावित्रवेदः)-(४६)—अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः।
वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुवःस्वरितीति च ॥
त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदूदुहत्।
तदित्यृचोऽस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः ॥

(मनुः—२।७६,७७,)।

"(मनःप्राणवाङ्मय सम्वत्सर प्रजापति से अभिन्न भृग्वङ्गिरोमय परमेष्ठी) प्रजापति ने वेदत्रय से ही अकार-उकार-मकार इन तीन अक्षरों को, तथा भूः-भुवः-स्वः-इन तीन व्याहृतियों को दुहा है। इन ऋक्-यजुः-साम-नामक तीनों वेदों से पाद-पाद रूप से परमेष्ठी प्रजापति ने सावित्री के (सौर तेज के) तीनों पादों का दोहन कर लिया है", इत्यादि मानवीय सिद्धान्त सौर सावित्राग्निमय तत्त्वात्मक साम्वत्सरिक वेद की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित करा रहे हैं।

४८-विश्वसंस्थाविभाग, और वेद—

(संस्थावेदः)-(५०)—सर्वेषां तु स नामानि कर्म्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्म्ममे ॥

(मनुः—१।२१।)।

"त्रैलोक्य में प्रतिष्ठित समष्ट्यात्मक, तथा व्यष्ट्यात्मक यच्चयावत् भूतभौतिक पदार्थों के विभिन्न नाम-रूप-कर्म्मों का प्रजापति ने शब्दतन्मात्रारूप वेदतत्त्व से ही पृथक्-पृथक् संस्थाविभाग व्यवस्थित किया है" इत्यादि मानवीय वचन का 'वेदशब्देभ्यः" "वेदवाग्भ्यः" का ही सूचक है, जैसा कि-'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है। वेदवाक् क्योंकि शब्दतन्मात्रा के द्वारा ही पञ्चतन्मात्रारूप में परिणत होती हुई भूतसर्ग की जननी बनती है। अतएव इत्थंभूत वेदवाङ्मय वेदशब्द का तत्त्ववेद पर ही पर्य्यवसान प्रमाणित हो जाता है।

४९-देवत्रयी, और यज्ञात्मकवेद—

(यज्ञमात्रिकवेदः)-(५१)—अग्नि-वायु-रविभ्यस्तु त्रयंब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्-यजुः-सामलक्षणम् ॥

(मनुः—१।२३।)।

"अग्नि–वायु–आदित्य से ही प्रजापति ने विश्वयज्ञस्वरूपसञ्चालन के लिए ऋक्–यजुः–सामलक्षण–सनातन त्रयीब्रह्म का दोहन किया" इत्यादिरूप से स्पष्ट ही वेदत्रयी की तत्त्वरूपता प्रमाणित हो रही है।

५०–सर्वसूति, और त्रयीवेद—

(सर्ववेदः)–(५२)—चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।

भूतं भवद् भविष्यं च सर्व्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति ॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च रसो गन्धश्च पञ्चमः।

वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिगुणकर्म्मतः ॥

—मनुः– १२।९७,९८,।।

"नित्यसिद्ध ब्रह्म–क्षत्र–विट्–पौष्णरूप सर्वपदार्थव्याप्त चातुर्वर्ण्य, पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौ–नामक तीनों लोक, क्रत्वर्थज्ञानात्मक ब्रह्मचर्य्याश्रम, पुरुषार्थकर्म्मात्मक गृहस्थाश्रम, क्रत्वर्थकर्म्मात्मक वानप्रस्थाश्रम, पुरुषार्थज्ञानात्मक संन्यासाश्रम, ये चारों प्राकृतिक मानवाश्रम, भूत-भवत्-भविष्यत्-सब कुछ वेद से ही संसिद्ध है। शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध-ये पाँच तन्मात्राएँ (विकारक्षरभूत–गुणभूत) प्रकृत्यनुबन्धिनी प्रसूति के गुण–कर्म्म–भेद से वेद से ही उत्पन्न हुए हैं" इत्यादि मनुवचन विस्पष्ट रूप से तत्त्वात्मक वेद का ही समर्थन कर रहे हैं।

५१—सम्वत्सरप्रजापति, और त्रयीवेद—

(गायत्रीमात्रिकवेदः)–५३–१—तस्मादण्डाद्विनिर्भिन्नाद् ब्रह्मणोऽव्यक्तजन्मनः।

ऋचो बभूवुः प्रथमं प्रथमाद्वदनान्मुने ! ॥

२—जवापुष्पनिभाः सद्यस्तेजोरूपा ह्यसंवृताः।

पृथक् पृथग् विभिन्नाश्च रजोरूपा महात्मनः ॥

३—यजूंषि दक्षिणाद् वक्त्रादनिबद्धानि कानिचित्।

यादृग्वर्णे तथा वर्णान्यसंहतिचराणि वै ॥

४—पश्चिमं यद्विभोर्वक्त्रं ब्रह्मणः परमेष्ठिनः।

आविर्भूतानि सामानि ततः छन्दसितान्यथा ॥

५—अथर्व्वाणामशेषेण भृङ्गाञ्जनचयप्रभम् ॥

घोराघोरस्वरूपं तदाभिचारिकशान्तिमत् ॥

६—उत्तरात् प्रकटीभूतं वदनाच्चतु वेधसः।

मुखं सत्त्वतमःप्रायं सौम्यासौम्यस्वरूपवत् ॥

७—ऋचो रजोगुणः, सत्त्वं यजुषाञ्च गुणो मुने !

तमोगुणानि सामानि तमःसत्त्वमथर्व्वसु ॥

८—एतानि ज्वलमानानि तेजसाप्रमितेन वै ।
पृथग् पृथगवस्थानं भाञ्जि पूर्व्वमिवाभवत् ॥
९—ततस्तदाद्यं यत्तेज ओमित्युक्त्वाभिशस्यते ।
तस्यानुभावाद्व्यक्तेजस्तमांस्याव्रुत्य संस्थितम् ॥
१०—यथा यजुर्म्मयं तेजो यच्च साम्नां महामुने !
एकत्त्वमुपयातानि परतेजसि संश्रयात् ॥
११—शान्तिकं पौष्टकश्चैव तथा चैवाभिचारिकम् ।
ऋगादिषु लयं ब्रह्मंस्त्रितयं त्रिष्वथागमत् ॥
१२—ततो विश्वमिदं सद्यस्तमोनाशात् सुनिर्म्मलम् ।
बभावतीव विप्रर्षे ! *तिरश्चोर्ध्वमधस्तथा ॥
१३—ततस्तन्मण्डलीभूतं छान्दसं तेज उत्तमम् ।
परेण तेजसा ब्रह्मन् ! एकत्त्वमुपगम्य तत ॥
१४—आदित्यसंज्ञामगमदादावेव यतोऽभवत् ।
विश्वस्यास्य महाभाग ! कारणश्चाव्ययात्मकम् ॥
१५—प्रातर्म्मध्यन्दिने चैव तथा चैवापराह्णिके ।
A-त्रयो तपति सा काले ऋग्यजुःसामसंज्ञिता ॥
१६ *B*-ऋचस्तपन्ति पूर्वाह्णे मध्याह्ने च यजूंषि वै ।
सामानि चापराह्णे तु तपन्ति मुनिसत्तम ! ॥
१७—शान्तिकं ऋचु पूर्वाह्णे यजुः स्वनृचपौष्टिकम् ।
अपराह्णे स्थितं नित्यं सामस्वेवाभिचारिकम् ॥

---

*तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत् ।
रेतोधा आसन् महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात् ॥
(ऋक्सं० १०।१२९।५। नासदीयसूक्त)

A "सैषा त्रय्येव विद्या तपति (सूर्य्यः)" (शत० १०।५।२।२।)।

B "ऋग्भिः पूर्वाह्णे दिवि देव इयते, यजुर्वेदे तिष्ठतिः मध्येऽह्नः ।
सामवेदेनास्तमये महीयते, वेदैरशेषैस्त्रिभिरेति सूर्य्यः ॥
(तै० ब्रा० ३।१२।९।१)।

१८—सृष्टौ ऋङ्मयो ब्रह्मा, स्थितौ विष्णुर्य्यजुर्म्मयः ।
रुद्रः साममयोऽन्ते च तस्मात्तस्याऽऽशुचिर्ध्वनिः ॥

१९—"तदेवं भगवान् भास्वान् वेदात्मा वेदसंस्थितः ।
वेदविद्यात्मकश्चैव परः पुरुष उच्यते ॥"

२०—स्वर्गस्थित्यन्तहेतुः स रजःसत्त्वादिकैर्गुणैः ।
आश्रित्य ब्रह्मविष्ण्वादिसंज्ञामभ्येति शाश्वतः ॥

२१—वेदैः स वेद्यः स तु वेदमूर्त्ति--
रमूर्त्तिराद्योऽखिलविश्वमूर्त्तिः ।
विश्वाश्रयं ज्योतिरचेयवर्त्मा--
धर्म्मावदातः परमः परेभ्यः ॥

(मार्कण्डेयपुराण, सूर्य्यमाहात्म्यान्तर्गत, सूर्य्योत्पत्ति–अध्याय)

"हे मुने ! उस हिरण्मयाण्डरूप अव्यक्तजन्मा ब्रह्ममुख से सर्वप्रथम ऋचाएँ हीं प्रादुर्भूत हुईं (१) । वे ऋचाएँ जवापुष्प समान कान्तिशालीं थीं, तत्काल प्रकट तेजोमयीं थीं, रजोगुणमयी थी, एक दूसरी का स्वरूप पृथक् पृथक् था (२) ब्रह्म प्रजापति के दक्षिण मुख से परस्पर असम्बद्ध ऋतभावात्मक कितने ही यजुः उत्पन्न हुए । सब यजुः स्व-स्व वर्णस्वरूप से असंहित–असम्बद्ध–ऋतभावापन्न ही उत्पन्न हुए (३) । ब्रह्मपरमेष्ठी प्रजापति का जो पश्चिम मुख था, उससे कुन्दपुष्पसम कान्तियुक्त साम उत्पन्न हुए (४) । ब्रह्मप्रजापति के उत्तरमुख से घोराङ्गिरा, अथर्वाङ्गिरा रूप से द्विधा विभक्त अथर्व उत्पन्न हुए, (जिनका कि अथर्वाङ्गिरारूप जहाँ मणिमन्त्रौषधिरूप शान्तिकर्म्म का आधार बनता है, वहाँ घोराङ्गिरारूप अभिचारप्रयोग में उपयुक्त होता है) । यह उत्तरमुख सत्त्वतमोगुणात्मक ही माना गया है । अथर्वाङ्गिरोमय अथर्व सत्त्व गुणात्मक है, एवं घोराङ्गिरोमय अथर्व तमोगुणात्मक है (५–६) । हे मुने ! ऋचाएँ रजोगुणात्मिका हैं, यजुः–सत्त्वगुणात्मक है, साम तमोगुणात्मक है, एवं अथर्वों में सत्त्वतमोगुण प्रतिष्ठित है (७) ये चारों वेद अपने अप्रतिम तेज से प्रज्वलित रहते हुए पृथक् पृथक् रूप से विभक्त–व्यवस्थित हो रहे हैं (८) ये चारों ही (तत्त्वात्मक) वेद अपने आदिभूत ओंकारात्मक तेज से ही अभिस्तुत हैं, प्रवृत्त हैं। अर्थात् मनःप्राणवाङ्मय ओङ्कारात्मक ब्रह्मप्रजापति ही इनकी प्रवृत्ति का मूलाधार है (९) । हे महामुने ! यजुर्म्मय तेज, सामों का तेज, (एवं ऋक्–अथर्वों का तेज) ओङ्कारात्मक परतेज में ही प्रतिष्ठित है (१०) । शान्तिक–पौष्टिक, तथा आभिचारिक, सम्पूर्ण भाव इन्हीं वेदा में विलीन हैं । अर्थात् सब कुछ इन्हीं वेदों पर अवलम्बित है । तमोलक्षण अन्धकार के विनष्ट हो जाने पर सौर वेदमूर्त्ति आदित्य की रश्मियाँ सहस्रधा महिमानःसहस्ररूप से सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त हो जातीं है, जो कि हिरण्मय वेदमूर्त्ति आदित्यपुरुष सब का अव्ययात्मक कारण बना हुआ है (११–१२–१३–१४–१५) ।

प्रातः–मध्याह्न सायं, तीनों कालों में हिरण्मयाण्डरूप सौर आदित्य प्रजापति के गायत्रीमात्रिक-लक्षण तीनों वेद तप रहे हैं । त्रयीवेदरूप से ही सूर्य्यनारायण तप रहे हैं । पूर्वाह्णकाल में इसकी ऋचाएँ

तपती हैं, मध्याह्न में यजुः तपते हैं, एवं अपराह्न में साम तपते हैं । पूर्वाह्न में ऋचाओं के आधार पर शान्तिकर्म्म होता है, मध्याह्न में यजुओं के आधार पर पौष्टिक कर्म्म होता है, एवं अपराह्न में सामों के आधार पर आभिचारिक कर्म्म होता है । सर्ज्जनकाल में ब्रह्मा ऋङ्मय बन जाते हैं, स्थिति (पालन) काल में विष्णु यजुर्म्मय बन जाते हैं, एवं लयकाल(संहारकाल में रुद्र साममय (अवसानमय) बन जाते हैं । इसप्रकार भगवान् सूर्य्यनारायण वेदात्मा हैं, वेदसंस्थित (वेद में ही प्रतिष्ठित) हैं, वेदविद्यात्मक हैं, परपुरुषात्मक हैं। इत्थंभूत वेदमूर्त्ति भगवान् भास्वान् सत्त्व-रजः-तमोगुणात्मक ब्रह्म-विष्णु-रुद्र-रूप से सम्पूर्ण विश्व के उत्पादक-पालक-संहारक बने हुए हैं । वे भास्वान् वेदों से वेद्य हैं, क्योंकि वे स्वयं वेदमूर्त्ति हैं, विश्व के आश्रय हैं, ज्योतिर्म्मय हैं, स्वप्राणरूप से अविज्ञेय हैं, सम्पूर्ण परभावों से भी पर हैं, धर्म्मस्वरूप हैं (१६ से २१ पर्य्यन्त)"-इत्यादि पुराणवचन भगवान् सूर्य्यनारायण के स्वरूप वर्णन माध्यम से जिस वेद का स्वरूप प्रतिपादन कर रहे हैं, वह वेद विस्पष्ट रूप से अपनी तत्त्वरूपता का ही निनाद कर रहा है । सूर्य्यनारायण वेदात्मक हैं, इसका यह अर्थ कौन करेगा कि, सूर्य्य वेदग्रन्थात्मक है । इसीलिए तो हमें कहना और मानना पड़ा कि, तत्त्वात्मक वेद पृथक् तत्त्व है, एवं तत्प्रतिपादक शब्दात्मक वेद पृथक् तत्त्व है ।

संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, एवं उपनिषल्लक्षण श्रुतिशास्त्र से, तथा स्मृतिशास्त्र और पुराणशास्त्र से सम्बन्ध रखने वाले जो प्रमाण प्रकृत परिच्छेद में उद्धृत हुए हैं, उनके सम्यगवलोकन से पाठकों को इस निश्चय पर अवश्य ही पहुँच जाना पड़ेगा कि, शब्दात्मक वेदों, किंवा वेदग्रन्थों से अतिरिक्त अवश्य ही कोई तत्त्वरूप वेद-पदार्थ भी है, जिससे कि यज्ञद्वारा सम्पूर्ण विश्व, विश्वप्रजा, एवं प्रजासम्पत् का विकास हुआ है । सर्वाधिष्ठाता प्रजापति अपने इसी तत्त्वात्मक, नित्य, अपौरुषेय, प्राजापत्यवेद के आधार पर पहिले यज्ञ का वितान करते हैं । अनन्तर यज्ञद्वारा प्रजोत्पत्ति करते हुए अपने 'प्रजापति' नाम को अन्वर्थ बनाते हैं । वेदमूर्त्ति प्रजापति का क्या स्वरूप है ?, इनके प्राजापत्यवेद का क्या स्वरूप है ?, एवं इस प्राजापत्यवेद के आधार पर वितत होने वाले यज्ञ का क्या स्वरूप है ?, इत्यादि प्रश्नों के समाधान के लिए ही आगे का **'प्राजापत्यवेदमहिमा'** नामक तृतीय स्तम्भ वेदप्रेमियों के सम्मुख उपस्थित हो रहा है ।

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका—द्वितीयखण्डान्तर्गत

"तात्त्विकवेद, और प्रमाणवाद" नामक

द्वितीय स्तम्भ उपरत

२

श्रीः

'उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-द्वितीयखण्डान्तर्गत

"तात्त्विक वेद, और प्रमाणवाद" नामक

द्वितीयस्तम्भ-उपरत

२

श्रीः

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-द्वितीयखण्डान्तर्गत-

"प्राजापत्य-वेदमहिमा"-नामक

तृतीयस्तम्भ

३

श्रीः

"प्राजापत्यवेदमहिमा"

१—चतुष्कलप्रजापति—

"प्राजापत्यवेदमहिमा" के सम्बन्ध में 'प्रजापति'—'वेद'—'महिमा' ये तीन वस्तुतत्त्व ज्ञातव्य हैं। इन में क्रमप्राप्त पहिले 'प्रजापति' के ही संक्षिप्त स्वरूप का विचार अपेक्षित है। प्रजापतिशब्द की असंख्य—व्याप्तियों में से प्रकृत में **'सम्वत्सरप्रजापति'** लक्षणा व्याप्ति ही गृहीत है। सम्वत्सरप्रजापति के **'सौरसम्वत्सर, पार्थिवसम्वत्सर, चान्द्रसम्वत्सर'** भेद से तीन विवर्त्त हैं। तीनों के साथ ही 'अहोरात्र' का सम्बन्ध है। इधर प्राजापत्यवेद के साथ हमें 'अहोरात्र' लक्षण **'लोकम्पृणा'** इष्टकाओं का समतुलन करते हुए वेदमहिमा का दिग्दर्शन कराना है। अतएव प्रकृत प्रकरण में 'सम्वत्सरप्रजापति' से सौर—पार्थिव—चान्द्रसम्वत्सरसमष्टि—लक्षण प्रजापति का ही ग्रहण किया जायगा। एवं इसी आधार पर सम्वत्सरप्रजापति से, किंवा सम्वत्सरप्रजा—पति के अहोरात्र से सम्बन्ध रखने वाले वेद को **'सौरवेद—पार्थिववेद—चान्द्रवेद'** इन तीनों हीं नामों से व्यवहृत किया जा सकेगा। इसी मूलदृष्टि को लक्ष्य में रखते हुए निम्नलिखित प्रजापति—विवर्त्त की मीमांसा में प्रवृत्त होना चाहिए।

'प्रजापति, वेदि, वेद, यज्ञ' भेद से प्राजापत्यसंस्था को चतुष्कल माना जा सकता है, एवं **'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्'** (शाङ्खायनब्रा० ३।२।) इस अनुगमवचन से इसका समर्थन भी सम्भव है। प्रजापति मुख्य आत्मा है, वेदि इस की प्रतिष्ठा है, वेद इसके श्मश्रु हैं, एवं यज्ञ इसकी महिमा है। इन्हीं चारों के सम्बन्ध में दूसरी दृष्टि से यह भी कहा जा सकता है कि, प्रजापति आत्मा है, वेदि इस का शरीर है। जिस प्रकार आत्मा, तथा शरीर, दोनों मिल कर एक 'जीवात्मसंस्था' कहलाते हैं, एवमेव शरीरस्थानीया वेदि, एवं आत्मस्थानीय प्रजापति, दोनों की समष्टि को एक 'प्रजापति' कहा जा सकता है। जिस प्रकार शरीराग्नि से उत्पन्न लोम शरीर के चारों ओर व्याप्त हो जाते हैं, एवमेव प्राजापत्याग्निरूप प्रजापति के शरीर से उत्पन्न होने वाले वेद प्रजापति—शरीर के चारों ओर व्याप्त हो जाते हैं। इसी श्मश्रु—सादृश्य से वेदों को हम प्रजापति के 'श्मश्रु' (लोम) कह सकते हैं, जैसा कि—"प्रजापतेर्वा एतानि श्मश्रूणि यद्वेदः" (तै०ब्रा० ३।३।६।११) इत्यादि वचन से स्पष्ट है। 'यज्ञं कृत्वा इदं सत्यं तनवामहै" (शत० ६।५।१।१८।) के अनुसार यज्ञ के द्वारा ही श्मश्रुरूप सत्यवेद का वितान होता है। इसी वेदवितान से महिमाभाव का उदय होता है, एवं इसी महिमा का प्रातिस्विक रूप* 'विश्वदान' नाम का विश्वयज्ञ है।

---

* वेदेन वेदिं विविदुः पृथिवीं, सा पप्रथे पृथिवी पार्थिवानि।
गर्भं बिभर्त्ति भुवनेष्वन्तः, ततो यज्ञो जायते विश्वदानिः॥

—तैत्तिरीयब्राह्मण ३।३।६।१०।

सौरसम्वत्सराग्नि प्रजापति है। इस प्रजापतिरूप अग्नि का प्रतिष्ठारूप सौर अग्निमण्डल ही महावेदि है, सौरवेदत्रयी ही वेद है। एवं सम्वत्सरमण्डल में प्रतिष्ठित अग्नीषोमात्मक ऋतु-यज्ञ ही 'यज्ञ' है यही महिमा है। अग्नि, तथा सोम के समन्वय से उत्पन्न अग्नीषोमात्मक जो एक सांयोगिक अपूर्व तत्त्व उत्पन्न होता है, वही 'यज्ञ' है। इसप्रकार सम्वत्सराग्नि, अग्निप्रतिष्ठामण्डल, वेदत्रयी, एवं यज्ञ, भेद से सौरसम्वत्सर के 'प्रजापति-वेदि-वेद-यज्ञ' ये चार पर्व हो जाते हैं। पूर्वोक्त आत्म-शरीरपरिभाषा के अनुसार प्रजापति-वेदि, दोनों 'प्रजापति' हैं, वेद वेद है, यज्ञ महिमा है। 'प्रजापति-वेद-महिमा' तीनों पर्वों की समष्टि ही 'प्राजापत्यवेदमहिमा' है, जिसकी कि प्रकृत प्रकरण में मीमांसा करनी है। आत्मा के लिए जहाँ 'प्रजापति' शब्द नियत है, वहाँ 'वेदि' के लिए 'पृथिवी' शब्द नियत है। भूपिण्ड का ही नाम पृथिवी नहीं हैं, अपितु भूतपिण्ड मात्र का नाम पृथिवी है। **'यदप्रथयत्, सा पृथिव्यभवत्'** इस ब्राह्मण-निर्वचन के अनुसार जो आत्मप्रतिष्ठारूप से वितत रहे, वही पृथिवी है। जीवात्मा की पृथिवी पाञ्चभौतिक शरीर है, चन्द्रमा की पृथिवी चान्द्रमण्डल है, सूर्य्य की पृथिवी सौरमण्डल है। प्रत्येक भौतिक पिण्ड के गर्भ में आत्मरूप से प्रतिष्ठित प्रजापतियों की पृथिवियाँ तत्तद्भूत-पिण्ड हैं। मण्डलावच्छिन्न पिण्ड ही पृथिवी है। मण्डलात्मिका पृथिवी को याज्ञिक परिभाषा में **'महावेदि'** कहा जाता है, एवं पिण्डात्मिका पृथिवी को 'वेदि' कहा जाता है। सूर्य्यपिण्ड वेदि है, सौरमण्डल महावेदि है। भूपिण्ड वेदि है, भूमहिमामण्डल महावेदि है। शरीर वेदि है, शरीरमहिमामण्डल महावेदि है। भचक्र में प्रतिष्ठित यच्चयावत् नक्षत्रपिण्ड इसी परिभाषा के अनुसार वेदि-महावेदि से युक्त रहते हुए पृथिवी-रूप हैं। तात्पर्य्य कहने का यही है कि, अणु से अणु, तथा महान् से महान्, किसी भी पदार्थ को ले लीजिए, आप प्रत्येक में केन्द्रस्थप्रजापति, पिण्ड-महिमात्मिका वेदि विष्कम्भ-परिणाह-गर्भात्मक वेद, एवं अग्नि-सोमात्मक यज्ञ, इन चारों पर्वों को प्रतिष्ठित देखेंगे। चारों पर्वों की समष्टि ही पदार्थका अवच्छेदक है, यही पदार्थतत्त्व है। 'अयमस्ति, इदमस्ति इयमस्ति' इत्यादिरूप से (अस्ति-है-रूपसे) हमें जो भी पदार्थ उपलब्ध होते हैं, सर्वत्र इन्हीं चारों पर्वों का समन्वय समझना चाहिए, जिन अस्ति-नास्तिभावों का प्रथमखण्डान्तर्गत 'उपलब्धिवेद-निरुक्ति' प्रकरण (भा० भू० १ खण्ड, वेदनिरुक्ति, पृष्ठ सं० ४१) में 'उपलब्धि-वेद' की दृष्टि से समन्वय किया था, उन्हीं दोनों भावों का अब प्रजापति-विवर्त्त की दृष्टि से समन्वय कीजिए।

२-अमृतमर्त्यप्रजापति—

"अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्" के अनुसार संवत्सराग्निरूप प्रजापति की 'अमृत-मर्त्य' भेद से दो अवस्था हो जातीं हैं। अमृतप्रधान संवत्सराग्नि को **'वागग्नि'** कहा जाता है, एवं मर्त्यप्रधान संवत्सराग्नि **'भूताग्नि'** नाम से प्रसिद्ध है। वागग्नि मूलरूप से पिण्ड के केन्द्र में प्रतिष्ठित रहता हुआ 'प्रजापति' कहलाता है, एवं यही वागग्नि पिण्ड तथा पिण्डमहिमा में तूल रूप से वितत होता हुआ 'देवता' कहलाने लगता है। पिण्ड तथा महिमास्वरूपसम्पादक मर्त्याग्नि ही तीसरा भूताग्नि है। इस प्रकार एक ही सम्वत्सर प्रजापति के आरम्भ में 'वागग्नि-भूताग्नि' दो भेद होते है, वागग्नि के मूल-तूल भेद से 'प्रजापति-देवता' ये दो भेद हो जाते हैं। इनमें देवाग्नि अग्नि-वायु-आदित्य, भेद से तीन भागों में विभक्त है। इन्हीं तीनों देवाग्नियों की प्रतिष्ठा के भेद से भूताग्निरूप महिमालोक के पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ, ये तीन अवान्तर लोक हो जाते हैं। पृथिव्यवच्छिन्न अग्निरूप देवाग्नि से ऋग्वेद का, अन्तरिक्षावच्छिन्न वायुरूप देवाग्नि से यजुर्वेद का, एवं द्युलोकावच्छिन्न आदित्यरूप देवाग्नि से सामवेद का विकास होता है।

तीनों देवाग्नि ही क्रमशः होता-अध्वर्यु-उद्गाता बनते हैं, तीनों स्थानों के प्राणाग्नि ही क्रमशः गार्हपत्याग्नि-धिष्ण्याग्नि-आहवनीयाग्नि बनते हैं। तीनों भूतलोक ही क्रमशः गार्हपत्यकुण्ड-धिष्ण्यकुण्ड-आहवनीयकुण्ड बनते हैं। तीनों देवताओं के ऋक्-यजुः-सामानुबन्धी कर्म्म ही क्रमशः हौत्र-आध्वर्यव, औद्गात्रकर्म्म बनते है। एवं स्वयं वागग्निलक्षण हृद्यप्रजापति ही इस यज्ञ के यजमान बनते हैं। इस यज्ञ का फल विश्व, तथा विश्वप्रजा रूप से हमारे सामने है। त्रयीविद्यामय यज्ञ के गर्भ में प्रजापति सम्पूर्ण भूत-भौतिक सृष्टि का अन्तर्भाव कर लेते हैं, इससे उत्कृष्ट यज्ञ का फल और क्या होगा।

अवधानपूर्वक विचार करने पर हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ेगा कि, 'प्रजापति-वेदि (लोक)-वेद-यज्ञ,' चारों पर्वों का एकमात्र 'प्रजापति' स्वरूप में ही अन्तर्भाव है। प्रजापतिलक्षण सम्वत्सराग्नि ही अमृतरूप से प्रजापति बनता है, मर्त्यरूप से वेदि (लोक) बना है, हृद्यअमृतरूप से प्रजापति ही प्रजापति है, तूल अमृतरूप से प्रजापति ही देवतात्रयी है, देवतात्रयीरूप से प्रजापति ही वेदत्रयी है, वेदत्रयीरूप से प्रजापति ही परम्परया यज्ञमूर्त्ति बन रहा है। जो कुछ उत्पन्न हो चुका है, जो कुछ उत्पन्न हो रहा है, भविष्य में जो कुछ उत्पन्न होगा, वह सब प्रजापति ही प्रजापति है। चतुष्कल, अमृत-मृत्युमूर्त्ति प्रजापति की इसी सर्वात्मकता, तथा सर्वरूपता का स्पष्टीकरण करती हुई यजुःश्रुति कहती है—

१—प्रजापते ! न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परि ता बभूव।
यत् कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥
(यजु० सं० २३।६५।)।

२—"प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं, यदिदं किंच" (शत० ६।४।२।४।)।

३—"यद्ध किञ्च प्राणि, स प्रजापतिः" (शत० ११।१।६।१७।)।

४—"सर्वमु ह्येवेदं प्रजापतिः" (शत० ब्रा० ५।१।१।४।)।

५—"यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी ॥
(यजुःसं० ८।३६।)।

मूलकेन्द्र में रहने वाले अमृतप्रधान प्रजापति को 'वागग्नि' रूप बतलाया गया है। यह वागग्नि, किंवा अग्निरूपा वाक् अपने अभिन्न सहयोगी प्राण, तथा मन से नित्य युक्त रहती है। फलतः हृद्यप्रजापति, अतएव 'आत्मा' नाम से प्रसिद्ध प्रजापति को वाङ्मय के साथ साथ प्राणमय, तथा मनोमय भी माना जायगा। इस प्रकार 'वाङ्मयप्रजापति' वाक्यका 'मनःप्राणगर्भित वाङ्मयप्रजापति'वाक्य पर पर्य्यवसान मानना पड़ेगा। मनःप्रणवाङ्मय यह हृद्यप्रजापति अमृतप्रधान बतलाया गया है। कारण इसका यही है कि, पदार्थों में नाम-रूप-कर्म्म के अतिरिक्त जो एक सामान्य-सत्तारस उपलब्ध होता है, जिसका कि लोकभाषा में 'अस्ति-अस्ति (है-है) रूप से अभिनय होता है, वह सबमें समानरूप से प्रतिष्ठित रहता है। भावात्मक पदार्थ

हों, अथवा अभावात्मक, अस्ति हो, अथवा नास्ति, अस्ति सर्वत्र समरूप से प्रतिष्ठित है। 'घटोऽस्ति' की भाँति 'घटो नास्ति' इस वाक्य में भी 'अस्ति' अव्यभिचार से विद्यमान है। नाम-रूप-कर्म्म बदलते रहते हैं, किन्तु 'अस्ति' नहीं बदलती। न बदलना, सर्वदा एकरस बने रहना ही अमृत का अमृतत्त्व है। क्योंकि हृदयप्रजापति अपने अस्तिरूप से सदा एकरस बना रहता है, अतएव इसे 'अमृत' कहना सर्वथा अन्वर्थ बन जाता है। इसी आधार पर सत्ता का 'मनःप्राणवाचां संघातः सत्ता' यह लक्षण मान लिया गया है। अमृतलक्षण अस्तिरूप इसी प्रजापति के मर्त्यभाग से भूतप्रपञ्च का विकास बतलाया गया है, जो कि भूतप्रपञ्च नाम-रूप-कर्म्म, इन पर्वों की समष्टि है। मर्त्यनाम का अमृतावाक् से, मर्त्यकर्म्म का अमृतप्राण से, एवं मर्त्यरूप का अमृतमन से विकास हुआ है। क्योंकि भूतात्मक मर्त्यप्रपञ्च उसी अमृतप्रजापति के मर्त्यरूप का विकास है, अस्तिगर्भित मर्त्यभाग ही भूतोपादान बना है, अतएव इसके इस मर्त्यरूप को भी 'अस्ति' लक्षणा अमृतसीमा से पृथक् नहीं किया जा सकता। निष्कर्ष यही निकला कि, प्रजापति ने त्रयीविद्या के गर्भ में ही यज्ञ से समुत्पन्न, यज्ञात्मक भूतप्रपञ्च के दर्शन किए। इसी भूतानुग्राहिका प्राजापत्या वेदविद्या का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है कि—

> "अथ सर्वाणि भूतानि पर्य्यैक्षत्। स त्रय्यामेव विद्यायां सर्वाणि भूतान्यपश्यत्। अत्र हि सर्वेषां छन्दसामात्मा, सर्वेषां स्तोमानां, सर्वेषां प्राणानां, सर्वेषां देवानाम्। एतद्वा 'अस्ति'। एतद्धि-'अमृतम्'। यद्धि-'अमृतं',-तद्धि-'अस्ति'। एतदु तत्, यन्मर्त्यम्"।
>
> (शत० १०।४।२।२१।)।

त्रयीवेद के प्रवर्त्तक प्रजापति इस प्रकार अपने अमृत-मर्त्यरूपों के संनिवेश-तारतम्य से 'प्रजापति-वेद-वेदि-यज्ञ' इन चार पर्वों में परिणत होते हुए सर्वरूप बन गए। चतुष्कल प्रजापति के ये चारों पर्व-विभाग तदंशभूत प्रत्येक पदार्थ में ज्यों के त्यों प्रतिष्ठित हैं। केन्द्रस्थ प्रजापति, पिण्ड-महिमालक्षण वेदि, विष्कम्भ-परिणाह-केन्द्र लक्षणा-छन्दोवेदत्रयी, अग्नि-सोमात्मक विश्वदानि-यज्ञ, चारों पर्व प्रत्येक पदार्थ के, परमाणु परमाणु के स्वरूप-सम्पादक बन रहे हैं। प्रजापति के इसी यज्ञविवर्त्त का विश्लेषण करते हुए निम्न-लिखित वचन हमारे सामने आते हैं—

> १—वेदिर्देवेभ्यो निलायत। तां वेदेनान्वविन्दन्-
> वेदेन वेदिं विविदुः पृथिवीं सा पप्रथे पृथिवी पार्थिवानि।
> गर्भं बिभर्त्ति भुवनेष्वन्तस्ततो यज्ञो जायते विश्वदानिः॥
>
> (तै० ब्रा० ३।२।१०।१०)।

> २—त्वया वेदिं विविदुः पृथिवीं त्वया यज्ञो जायते विश्वदानिः।
> अच्छिद्रं यज्ञमन्वेषि विद्वान् त्वया होता सन्तनोत्यर्द्धमासान्॥
>
> (तै० ब्रा० ३।४।७।१२)।

३—अयं वेदः पृथिवीमन्वविन्दद् गुहा सतीं गहने गह्वरेषु ।
स विन्दतु यजमानाय लोकमच्छिद्रं यज्ञं भूरिकर्म्मा करोति ॥
(तै० ब्रा० ३।७।६।१३।) ।

४—अयं यज्ञः समसदद्धविष्मान्नृचा साम्ना यजुषा देवताभिः ।
तेन लोकान्त्सूर्य्यवतो जयेम इन्द्रस्य सख्यममृतत्वमश्याम् ॥
(तै० ब्रा० ३।७।६।१३, १४।) ।

५—इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः ।
अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ॥
(ऋक् सं० १।१६४।३५।) ।

६—वेदेन वै देवा असुराणां वित्तं वेद्यमविन्दत । तद्वेदस्य वेदत्वम् । असुराणां वा इयमग्र आसीत् । (तै० ब्रा० ३।२।६।) । भूमिरेव वेदिः । सा वा इयं सर्वैव वेदिः । एतावतो वै पृथिवी, यावतो वेदिः । यावती वेदिस्तावती पृथिवी ॥ (संग्रहः)

७—यत् पर्य्यपश्यत् सरिरस्य मध्ये उर्व्वीमपश्यज्जगतः प्रतिष्ठाम् ।
तत् पुष्करस्यायतनाद्धि जातं पर्णं पृथिव्याः प्रथनं हरामि ॥
(तै० ब्रा० १।१।१।) ।

८—"प्राजापत्यो वै वेदः । यज्ञो वै प्रजापतिः । प्रजापतिः सर्वा देवताः । यज्ञो वै भुवनम् । अग्निर्वै देवानां यष्टा" । (तै० ब्रा ३।३।७।) ।

३–सम्वत्सराग्नि का मूलरूप—

प्रजापति के उक्त चारों पर्वोंमें से प्रकृत प्रकरण में प्रजापति, और वेद, इन पर्वों का ही निरूपण करना मुख्य लक्ष्य है । वेदि, और यज्ञ, इन दो पर्वों का विचार विशेषरूप से अपेक्षित नहीं है । प्रजापति, तथा वेद, दोनों के विचार से ही वेदि–यज्ञ का स्वरूप गतार्थ बन जाता है । दोनों लक्ष्यों में से 'प्रजापति' का स्वरूप ही प्रथम विचारणीय है । 'सम्वत्सराग्नि' को ही 'प्रजापति' कहा जाता है, जैसा कि पूर्व में बतलाया जा चुका है । इस सम्वत्सराग्नि को हम 'वाम, मध्यम, घृतपृष्ठ' इन तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं ।

सब से पहले हमें यह देखना है कि, जो अग्नितत्त्व सम्वत्सर–रूप में परिणत होता है, जिस सम्वत्सराग्नि के आगे जाकर 'वाम–मध्यादि' तीन अवान्तर भेद हो जाते हैं, उस प्राजापत्य अग्नि का

मूलरूप क्या है ?। अग्नितत्त्व के इस मूलरूप का अन्वेषण करते हुए हमें आपोमय-परमेष्ठीमण्डल का आश्रय लेना पड़ेगा। कल्पना कर लीजिए, अभी विश्व में न तो अग्नितत्त्व का ही विकास हुआ है, एवं न तन्मूलक सम्वत्सर का ही जन्म हुआ है। उस दशा में विश्व का क्या स्वरूप था ?, इस प्रश्न का एकमात्र समाधान है, "**आपोमय पारमेष्ठ्यसमुद्र**"। आपोमय पारमेष्ठ्यसमुद्र की उत्पत्ति किससे हुई ?, इस प्रश्न का उत्तर है, "**अग्निनिःश्वसितवेदावच्छिन्न स्वयम्भूप्रजापति**", जैसा कि प्रथम प्रकरण के "**अनन्तवेद का विज्ञेय इतिवृत्त**" नामक परिच्छेद में विस्तार से बतलाया जा चुका है। ऋषिप्राणकृतमूर्त्ति, सप्तपुरुष-पुरुषात्मक, स्वयम्भूप्रजापति के यजुर्म्मय वाक्-भाग से सर्वप्रथम भृग्वङ्गिरोमय 'अप्तत्त्व' का ही विकास होता है। स्वायम्भुवी, अनादिनिधना, वेदमयी (यजुर्म्मयी) वाक् ही अपने प्रत्यंश से द्रुत होकर अब्-रूप में परिणत होती है। आपोमय परमेष्ठी ही वाक्तत्त्व का प्रथमावतार है। स्वयं वाक्तत्त्व सत्यात्मक था, एवं इससे उत्पन्न होने वाला यह अप्तत्त्व 'ऋतरूप' है। अप्तत्त्व का 'इराभाग' (रसभाग) अपने इसी ऋतभाव के कारण क्योंकि संसरणशील है, स्वप्रतिष्ठाशून्य बनता हुआ परप्रतिष्ठासापेक्ष है, अतएव इस अप्तत्त्व को हम '**सरिर**' कह सकते हैं। यही सरिर-शब्द परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में '**सलिल**' नाम से प्रसिद्ध है।

यद्यपि आज प्रत्यक्ष रूप से दिखलाई देने वाले सम्वत्सर-अग्नि का मूल यही आपोमय पारमेष्ठ्य समुद्र है। किन्तु सूक्ष्म विचार करने पर हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ेगा कि, वस्तुतः इस अग्नि का मूल स्वायम्भुव 'वाक्तत्त्व' ही है, जिसे कि वैज्ञानिक लोग '**वेदाग्नि**'-'**सत्याग्नि**'-'**सार्वयाजुषाग्नि**'-'**ब्रह्माग्नि**' '**स्वायम्भुवाग्नि**'-'**ऋषि**' '**सप्तपुरुषपुरुषात्मकप्रजापति**'-'**पुरुष**' इत्यादि नामों से व्यवहृत किया करते हैं। इसी सत्याग्नि (वागग्नि-यजुरग्नि) का प्रथमावतार ऋतात्मक यह आपोमय समुद्र है, जैसा कि 'सोऽपोऽसृजत, वाच एव लोकात्, वागेव साऽसृज्यत' (शत० ६।१।१।६।) इत्यादि वचन से स्पष्ट है। वागग्नि सत्यलक्षण है, एवं सत्य का प्रथमावतार ऋतात्मक अप्तत्त्व है, इसी प्राथमिक स्थिति का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है---

> **"तद्यत्-तत्सत्यं, आप एव एतत्। आपो हि वै सत्यम्। तस्माद्येनापो-यन्ति, तत्सत्यस्य रूपमित्याहुः। आप एव तस्य (सत्यस्य) सर्वस्याग्र-मकुर्वन्। तस्माद्यदाऽऽपो यन्ति, अथेदं सर्व्वं जायते यदिदं किञ्च"।**
>
> —शत०ब्रा० ७।४।१।६।

आपः को हमने 'सरिरभाव' के कारण ऋत बतलाया है, इधर श्रुति आपः को सत्य बतला रही है। सहृदय-सशरीरभाव सत्य ही है, अहृदय-अशरीरभाव ही ऋत है। अप्तत्त्व अपने प्रातिस्विक हृदयशून्य, स्वाकारभाव के कारण जहाँ ऋत है, वहाँ उस वेदसत्य को अपने गर्भ में रखने के कारण सत्यात्मक भी बना हुआ है। 'स त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत्. तत आण्डं समवर्त्तत' (शत० ६।१।१।७) के अनुसार त्रयीमूर्त्ति सत्यस्वयम्भू प्रजापति अपने सत्यवागग्नि से इस ऋत अप्तत्त्व को उत्पन्न कर स्वयं इसके गर्भ में प्रविष्ट हो जाता है। इसी सत्यप्रवेश से श्रुति ने आपः को सत्य बतला दिया है। इस सत्य-

प्रवेश का फल है 'आण्डसम्पत्ति', और 'नियतिभाव'। पानी की बिन्दु वर्त्तुल होती है। यह वर्त्तुलता ही आण्डसम्पत्ति है, एवं इसका एकमात्र कारण सत्यभाव ही है। इसके अतिरिक्त आपो बिन्दु को जिस प्रदेश में भी डाल दिया जाता है, वर्त्तुलवृत्त बन जाता है। यही वर्त्तुलता सत्यभावात्मक आण्डभाव है। पानी जिस प्रदेश में डाल दिया जायगा, वहाँ से निम्न प्रदेश की ओर उसकी ऐसी सीधी-सच्ची गति होगी, मानों कोई शक्ति पानी के गर्भ में प्रतिष्ठित रह कर पानी को नियत मार्ग से ले जा रही हो। यही नियतिभाव नियतिःसत्य है, जिसका कि एकमात्र उसी अन्तर्य्यामी, गर्भीभूत सत्याग्निरूप प्रजापति की सत्यनियति से ही सम्बन्ध है।

प्रसङ्गोपात्त एक दूसरी विप्रतिपत्ति का निराकरण और कर लीजिए। पूर्वश्रुति ने जहाँ आपः को सत्यरूप बतलाया है, वहाँ श्रुत्यन्तर ने आपः से सत्य की उत्पत्ति मानी है। दोनों विरुद्धार्थों का समन्वय करने के लिए हमें स्वायम्भुव ब्रह्मनिःश्वसितवेद, तथा सौर गायत्रीमात्रिक वेद का आश्रय लेना पड़ेगा। दोनों हीं सत्य वेदात्मक हैं, जैसाकि-"तद्यत् तत्सत्यं, त्रयी सा विद्या" (शत० ६।५।१।१८।) इत्यादि वचन से प्रमाणित है। दोनों हीं सत्य अग्निरूप हैं। दोनों में अन्तर यही है कि, स्वायम्भुव-सत्यवेद, एवं तद्रूप सत्याग्नि प्राणात्मक है, अपौरुषेय है। एवं सौर सत्यवेद, एवं तद्रूप सत्याग्नि देवात्मक है, पौरुषेय है। स्वायम्भुव सत्य पहिली त्रयीविद्या है, एवं सौर सत्य दूसरी त्रयीविद्या है। दूसरे शब्दों में स्वायम्भुव ऋषिप्राण-लक्षण सत्याग्नि पहिला सत्य है, एवं सौर-देवप्राणलक्षण सत्याग्नि दूसरा सत्य है। प्रथम सत्याग्नि से ब्रह्मनिःश्वसित वेदलक्षण 'ब्रह्म' का (वेद का) विकास हुआ है। प्रथम सत्यवेद अप्तत्त्वका जनक बनता हुआ अप्को सत्यरूप प्रदान कर रहा है। द्वितीय सत्यवेद अपतत्त्व में व्याप्त अङ्गिरोऽग्नि के द्वारा आविर्भूत होता हुआ अप् से उत्पन्न माना गया है। प्रथम सत्यवेद अप्का पिता है, द्वितीय सत्यवेद अप् का पुत्र हैं। प्रथम सत्यवेद एवं द्वितीय सत्यवेद, परमार्थतः अभिन्न होते हुए भी सृष्टिधारा-क्रम की दृष्टि से सर्वथा पृथक् पृथक् ही माने जायेंगे। निम्नलिखित श्रुतिवचन इसी पार्थक्य का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

ब्रह्मनिःश्वसितवेदः-स्वायम्भुवः-"सोऽयं पुरुषः प्रजापतिरकामयत, भूयान्त्स्यां, प्रजायेयेति। सोऽश्राम्यत्, स तपोऽतप्यत। स श्रान्तस्तेपानो 'ब्रह्मैव' प्रथममसृजत, त्रयामेव विद्याम्। सैवास्मै प्रतिष्ठाभवत्। तस्मादाहुः-'ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा' इति। तस्मादनूच्य-प्रतितिष्ठति। प्रतिष्ठा ह्येषा, यद्ब्रह्म (ब्रह्मनिःश्वसितवेदः)"

(शत० ६।१।१।८।)।

गायत्रीमात्रिकवेदः-सौरः-"तस्यां प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठितोऽतप्यत। सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्। वागेवास्य सा सृज्यत। सेदं सर्वमाप्नोत्, यदिदं किञ्च। यदाप्नोत्, तस्मादापः। यदवृणोत् तस्मात्-वाः (वारि)। सोऽकामयत, आभ्योऽद्भ्योऽधि प्रजायेयेति। सोऽनया त्रय्या-

विद्यया सहापः प्राविशत् । तत आण्डं समवर्त्तत । ततो ब्रह्मैव प्रथममसृज्यत, त्रय्येव विद्या । तस्मादाहुः--'ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रथमजम्' इति । अपि हि तस्मात् पुरुषात् (ब्रह्मनिःश्वसितवेदगर्भात्म–परमेष्ठिप्रजापतेः) ब्रह्मैव (गायत्रीमात्रिकवेद एव) पूर्वमसृज्यत । तदस्य तन्मुखमेवासृज्यत"।

(शत० ६।१।१।८,१०,।)।

"उस (सप्तपुरुषपुरुषात्मक) पुरुषप्रजापति ने कामना की कि, मैं बहुत बनूँ, प्रजा उत्पन्न करूँ। उसने श्रम किया, तप किया। श्रम से श्रान्त, तप से तप्त उस प्रजापति ने सर्वप्रथम त्रयीविद्यारूप ब्रह्म ही उत्पन्न किया। यही त्रयीविद्या इस प्रजापति की प्रतिष्ठा बनी। यही कारण है कि (लोक में) वेदानुवचन से ही प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। यह प्रतिष्ठा ही है, जोकि ब्रह्म (ब्रह्मनिःश्वसितवेद) है"।

"इस प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित होकर प्रजापति ने (पुनः) तप किया। इस तप से प्रजापति ने अपने (प्रतिष्ठावेद के यजुर्लक्षण) वाक्–लोक से ही पानी उत्पन्न किया। इस प्रजापति की यह वाक् ही (अशात्मना) अन्–रूप मे परिणत हुई। (अपने स्वाभाविक ऋतधर्म्म से) इस अप्तत्त्व ने सब को अपने गर्भ में व्याप्त कर लिया, किंवा स्वयं सर्वत्र व्याप्त हो गया, अतएव (इस आप्तिलक्षण व्याप्तिधर्म्म से ही) यह ऋततत्त्व 'आपः' नाम से प्रसिद्ध हुआ। अपि च, इसने (अपने इसी आप्तिधर्म्म से) सबका संवरण कर लिया, अतएव यह 'वाः' (वारि) नाम से भी प्रसिद्ध हो गया। (इस प्रकार अपने वाक् भाग से अप्–तत्त्व उत्पन्न कर) प्रजापति ने कामना की कि, मैं इन पानियों से (मिलकर) प्रजननकर्म्म (मैथुनी सृष्टि का साधक कर्म्म) करूँ। (अपनी इस इच्छा को कार्य्यरूप में परिणत करने के लिए प्रजापति स्वप्रतिष्ठालक्षण उस (पूर्वोक्त) त्रयीविद्या के साथ इस आपोमय समुद्र के गर्भ में प्रविष्ट हो गए। (परिणाम इसका यह हुआ कि, अब तक सत्यप्रतिष्ठा से वञ्चित जो अप्तत्त्व विशुद्ध ऋतमूर्त्ति बना हुआ इतस्ततः दन्द्रम्यमाण था, वही इस सत्यप्रवेश से) आण्डरूप में परिणत हो गया (जोकि आपोमय अण्ड ब्रह्मप्रवेश से ही आज सर्वसाधारण में 'ब्रह्माण्ड' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है)।

(आण्डगर्भ में प्रतिष्ठित, दूसरे शब्दों में आपोमय समुद्र के गर्भ में प्रतिष्ठित, स्वप्रतिष्ठालक्षण ब्रह्मनिःश्वसित वेद से युक्त) उस प्रजापति ने (आपोमय समुद्र में ऋतरूप से व्याप्त अङ्गिरा–कणों का अपने सत्यधर्म्म से संघात कर, इन के द्वारा) सर्वप्रथम त्रयीविद्यारूप ब्रह्म (गायत्रीमात्रिक वेद) ही उत्पन्न किया। इसी (द्वितीयवेद) को लक्ष्य में रखकर कहा जाता है कि, "ब्रह्म (गा० सौरवेद) ही सबसे पहिले उत्पन्न होने के कारण 'प्रथमज' है। वास्तव में उस गर्भीभूत पुरुषप्रजापति से ब्रह्म ही सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ। यह उस प्रजापति का मुख ही उत्पन्न हुआ"।

उक्त वचनों से यह स्पष्ट हो रहा है कि, 'प्रतिष्ठावेद' पहिली त्रयीविद्या है, इसका प्रादुर्भाव अप्तत्त्व से पहिले हुआ है। एवं 'प्रथमजवेद' दूसरी त्रयीविद्या है, इसका प्रादुर्भाव त्रयीमूर्त्तिप्रजापति की कामना से,

अङ्गिरा के द्वारा अपूगर्भ में हुआ है। यही बीजावस्थापन्न द्वितीय वेद आगे जाकर आत्यन्तिक संघात में परिणत होता हुआ आपोमय समुद्रगर्भ में 'सूर्य्य' रूप से प्रकट होता है, जोकि सूर्य्य हिरण्यगर्भ * नाम से प्रसिद्ध है, जिसे कि प्रकृत प्रकरण में 'सम्वत्सरप्रजापति' कहा जाने वाला है। इस साम्वत्सरिक–सौर– अग्नि का विकास बतलाते हुए प्रक्रान्त शातपथी श्रुति आगे जाकर कहती है—

"अथ यो गर्भोऽन्तरासीत्, सोऽग्निमसृज्यत। स यदस्य सर्वस्य अग्रमसृज्यत, तस्मादग्रिः। अग्रिर्ह वै तमग्निरित्याचक्षते परोक्षम्। परोक्षकामा इव हि देवाः"

—शत० ६।१।१।११।

प्रथम सत्यवेद से उत्पन्न अपूतत्त्व 'सत्याग्नि' है, द्वितीय सत्यवेद की दृष्टि से अपूतत्त्व सत्यजनक है, यही वक्तव्य है। प्रथमदृष्टि को लेकर जहाँ—"तद्यत्, तत्सत्य, आप एव तत्" यह कहा जाता है, वहाँ द्वितीय सत्यवेद को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

"तद्वै तदेतदेव तदास सत्यमेव। स यो हैवमेतन्महद्यक्षं 'प्रथमज' वेद 'सत्यं ब्रह्मेति', जयतीमाँल्लोकान्, जित इन्नु–असौ–असत्, य एवमेतन्महद्यक्षं प्रथमज वेद–'सत्यं ब्रह्मेति। सत्यं ह्येव ब्रह्म" (शत० १४।८।५।१।)–"आप एवेदमग्र आसुः। ता आपः सत्यमसृजत, सत्यं ब्रह्म, ब्रह्म प्रजापतिं, प्रजापतिर्देवान्। ते देवाः सत्यमित्युपासते"

—शत० १४।८।६।१।

"वह प्रजापति वही था, जोकि सत्य है। सो जो इस महद्यक्ष, प्रथमज (गायत्रीमात्रिकवेद) को 'सत्य–ब्रह्म' रूप से जान लेता है, वह इन तीनों (सम्वत्सर के गर्भ में प्रतिष्ठित पृ० अन्त० द्यौ) लोकों को जीत लेता है। उसने इन लोकों को जीत ही लिया, उसके लिए ये लोक जित (स्वायत्त) बन ही गए, जिसने प्रथमज ब्रह्म को सत्यब्रह्म रूप से जान लिया। (इस प्रथमज सत्यविकास के पहिले) 'आपः' ही थे। इन पानियों से सत्य उत्पन्न हुआ, सत्य ने ब्रह्म उत्पन्न किया, ब्रह्म ने प्रजापति उत्पन्न किया, प्रजापति ने देवता उत्पन्न किए, देवता सत्य की ही उपासना किया करते हैं"।

तात्पर्य्य यही हुआ कि, ब्रह्मनिःश्वसित सत्यवेद से उत्पन्न आपोमय समुद्रगर्भ में अपूतत्त्व के अङ्गिराभाग से सूर्य्यात्मक सत्यवेद का प्रादुर्भाव हुआ, जिसे कि वैज्ञानिक लोग 'गायत्रीमात्रिक' नाम से व्यवहृत करते हैं। इस सत्यब्रह्म से एक 'ब्रह्म' (वेद) और उत्पन्न हुआ, जिसका कि मौलिकरूप 'यज्ञ' माना गया है। सत्य–वेदात्मक सौरसत्याग्नि के आगे जाकर 'अग्नि–वायु–आदित्य' ये तीन विभाग हो जाते हैं। इन तीनों पर्वों से

---

* हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

—यजुःसं० १३।४।

(यज्ञस्वरूपसिद्धि के लिए) क्रमशः (भूताग्निप्रधान) 'ऋक्-यजुः-साम' वेदों का आविर्भाव और होता है, जैसाकि 'अग्नि-वायु-रविभ्यस्तु०' इत्यादि मानवसिद्धान्त से प्रमाणित है । इन तीनों वेदों से क्योंकि सम्वत्सरयज्ञ का स्वरूप सम्पन्न होता है, अतएव इस वेदत्रयी को-'यज्ञमात्रिकवेद' कहा जाता है । भूतमात्रा की प्रधानतासे इसे ही 'पार्थिववेद' माना गया है । इस पार्थिववेदलक्षण ब्रह्म से यज्ञप्रजापति का विकास होता है । यज्ञप्रजापति से वसु-रुद्र-आदित्यादि उन ३३ यज्ञिय देवताओं का विकास होता है, जोकि यज्ञियदेवता मूलभूत उस सौर-सत्य-वेद की उपासना किया करते हैं ।

इस सृष्टिधाराक्रम से अब हमें इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ा कि, सर्वमूलभूत स्वायम्भुव वेदाग्नि से आपोमय समुद्र का, आपोमय समुद्रगर्भ में अङ्गिराभाग से सौरवेदाग्नि का, सौरवेदाग्नि से पार्थिव भूताग्नि का विकास हुआ है । ब्रह्माग्नि, स्वायम्भुवाग्नि, प्राणाग्नि, सार्वयाजुषाग्नि, इत्यादि विविध नामों से प्रसिद्ध प्रथम सत्याग्नि ही पहिला 'ब्रह्मनिःश्वसित वेद अपौरुषेय'' है । देवाग्नि, सौराग्नि, अग्नि, इत्यादि विविध नामों से प्रसिद्ध दूसरा सत्याग्नि ही दूसरा 'गायत्रीमात्रिकवेद पौरुषेय[२]' है । एवं भूताग्नि, पार्थिवाग्नि, यज्ञाग्नि, आदि विविध नामों से प्रसिद्ध तीसरा सत्याग्नि ही तीसरा 'यज्ञमात्रिकवेद पौरुषेय[३]' है । पार्थिव सृष्टि का मूल गायत्रीमात्रिकवेद है, एवं सर्वमूल ब्रह्मनिःश्वसितवेद है । ब्रह्माग्नि सत्यप्रधान है, देवाग्नि देवप्रधान है, भूताग्नि भूतप्रधान है । अग्नित्रयी ही वेदत्रयी है, एवं सान्ध्य सोमद्वयी ही अथर्ववेद है, जिसका कि अन्नभाव से अन्नादलक्षण त्रयीवेद में ही अन्तर्भाव मान लिया जाता है ।

४-प्राजापत्यवेद के दर्शन—

उक्त तीनों प्राजापत्य वेदों का हम प्रत्येक पदार्थ में प्रत्यक्ष कर रहे हैं । जैसाकि पूर्व के 'चतुष्कलप्रजापति' नामक परिच्छेद में बतलाया जा चुका है, नाम-रूप-कर्म्मात्मक प्रत्येक पदार्थ में रहने वाला सर्वसाधारणानुभूत जो 'अस्तित्व' है, वही पहिला ब्रह्मनिःश्वसित स्वायम्भुववेद है । प्रतिष्ठा ही इसका प्रातिस्विक स्वरूप है । प्रतिष्ठालक्षण अस्तिभाव के द्वारा इस वेद के हम साक्षात्-दर्शन कर रहे हैं । मनःप्राणवाङ्मय, प्रतिष्ठालक्षण इस अमृतवेद (अमृतप्रजापति) के आधार पर नाम-रूप-कर्म्ममय पदार्थ प्रतिष्ठित हैं । इन तीनों को हम 'नामरूप'-तथा 'कर्म्म' भेद से दो भागों में विभक्त कर सकते हैं । नामरूप से पदार्थ का ग्रहण होता है, ज्ञान होता है, यही भातिलक्षण ज्योतिर्भाग हैं, यही गायत्रीमात्रिक सौरवेद के साक्षात् दर्शन हैं । सौरवेदमूर्त्ति इन्द्र वस्तुगत वर्णरूपों (शुक्ल-कृष्ण-हरितादि रूपों) का अधिष्ठाता है, एवं सौर वेदमूर्त्ति, 'त्वष्टा' नामक आदित्यप्राणविशेष आकाररूपों का अधिष्ठाता है । एवमेव ऐन्द्रीवाक् ही नामप्रपञ्च की अधिष्ठात्री है । इस प्रकार सौर गा० वेद ही नाम-रूपों का प्रवर्त्तक बन रहा है । तीसरा कर्म्मभाग 'आदान-विसर्ग' भेद से दो भावों में विभक्त है । आदान सोम का होता है, विसर्ग अग्नि का होता है । दोनों के समन्वय का ही नाम यज्ञकर्म्म है । एवं यह यज्ञकर्म्म ही तीसरे यज्ञमात्रिक-भौतिकवेद के प्रत्यक्ष दर्शन हैं । इस प्रकार ब्रह्मलक्षण प्रतिष्ठा (अस्तित्व), नामरूपलक्षण ज्योति (भाति), कर्म्मलक्षण अन्न (यज्ञ) रूप से तीनों वेदों का प्रत्येक भौतिक पदार्थ में हम प्रत्यक्ष कर रहे हैं, एवं यही-"त्रय्यां वाव विद्यायां सर्वाणि भूतान्यपश्यत्" की अन्वर्थता है । इस त्रयीवेद, एवं तद्रूप ब्रह्म-नामरूप-अन्न की प्रवृत्ति उसी सर्वज्ञ-सर्वशक्ति-सर्ववित्, अक्षरप्रधान षोडशीप्रजापति से हुई है, जैसाकि निम्नलिखित वचन से स्पष्ट है—

यः सर्व्वज्ञः सर्व्ववित्, यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद् ब्रह्म, नामरूपमन्नं च जायते ॥

—मुण्डकोपनिषत् १।१।

वेदविवर्त्तपरिलेखः—

१–ब्रह्मनिःश्वसितवेदः (१)—अग्निवेदः—ब्रह्माग्निः—ब्रह्म—प्रतिष्ठा

❀-भृग्वङ्गिरोवेदः (२)—सोमवेदः—अम्भःसोमः❀

२–गायत्रीमात्रिकवेदः (३)—अग्निवेदः—देवाग्निः—नामरूपे-ज्योतिः —त्रयीवेदः

❀-अथर्व्ववेदः (४)—सोमवेदः—भास्वरसोमः❀

३–यज्ञमात्रिकवेदः (५)—अग्निवेदः—भूताग्निः—अन्नम्——यज्ञः

ब्रह्माग्नि से 'स्वयम्भू'[१] पर्व का, अम्भः सोम से 'परमेष्ठी'[२] पर्व का, देवाग्नि से 'सूर्य्य'[३] पर्व का, भास्वरसोम से 'चन्द्र'[४] पर्व का, एवं भूताग्नि से 'पृथिवी'[५] पर्व का विकास हुआ है । इन पाँचों पर्वों में 'ब्रह्मा-विष्णु-शिव' इन तीन देवताओं का उपभोग हो रहा है । इन तीनों देवविवर्त्तों का, तथा पूर्वोक्त वेदविवर्त्तों का प्रथमप्रकरणान्तर्गत–' 'अनन्तवेद का विज्ञेय इतिवृत्त' तथा 'प्रतिपदनुचर-भाव' नामक परिच्छेदों में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है । प्रकृत में इस सम्बन्ध में हमें यही कहना है कि, स्वायम्भुव-ब्रह्मनिःश्वसित वेदलक्षण ब्रह्माग्नि 'ब्रह्म' से अनुगृहीत रहता हुआ 'सत्य' नाम से प्रसिद्ध है । सौर-गायत्रीमात्रिकवेदलक्षण 'देवाग्नि' विष्णु से अनुगृहीत रहता हुआ ('नार' नाम से प्रसिद्ध आपोमय परमेष्ठीमण्डल में प्रतिष्ठित होने से) 'नारायण' नाम से प्रसिद्ध है । एवं पार्थिव गायत्री-मात्रिकवेदलक्षण भूताग्नि शिव से अनुगृहीत रहता हुआ अपने रुद्रभाव से वाम (वक्र) बनता हुआ 'वामदेव' नाम से प्रसिद्ध है । स्वायम्भुव ब्रह्मा सत्याग्निमूर्ति है, सौर विष्णु नारायणाग्निमूर्ति है, पार्थिव-शिव वामाग्निमूर्त्ति है । यही वामाग्निमूर्ति पार्थिव शिव हमारे प्रकृत प्रकरण के सम्वत्सर–प्रजापति के स्वरूप-समर्पक बनने वाले हैं, जिनके कि वाम स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिए प्रकरण के मध्य में ही हमें उक्त वामचर्चा का आश्रय लेना पड़ा है ।

प्रासङ्गिक चर्चा समाप्त हुई । अब प्रक्रान्त विषय की ओर चलिए । विषय यह चल रहा था कि, प्राजापत्य अग्नि (सम्वत्साग्नि) का मूल कौन ? । वहीं यह समाधान हुआ था कि, आपोमय पारमेष्ठ्य समुद्र ही इसका मूल है । क्योंकि इस अप्समुद्र का मूल स्वायम्भुव सत्याग्नि था, अतएव प्रसङ्गवश उसका, एवं उस से सम्बन्ध रखने वाले सौर–पार्थिव वेदों का भी दिग्दर्शन कराना पड़ा । अभी न तो सूर्य्य ही उत्पन्न हुआ है, न सौर सम्वत्सरचक्र का ही उदय हुआ है । हाँ, स्वायम्भुव वेदाग्नि से अप्तत्त्व अवश्य उत्पन्न हो गया है । इस अप्तत्त्व के–"आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम्" इस अथर्वब्राह्मण–सिद्धान्त के अनुसार 'भृगु-अङ्गिरा' नामक दो विभाग हैं । दोनों की समन्वित अवस्था ही 'आपः' है ।

इनमें भृगुलक्षण दाह्यसोम (स्नेहतत्त्व) के संसर्ग से अङ्गिरालक्षण दाहक अग्निकण क्रमशः शनैः शनैः समुद्रगर्भ में प्रतिष्ठित प्रजापति की अशनायामूला हृदय-शक्ति (आकर्षण बल) से आकर्षित होते हुए घन बनते जाते हैं। इस घनावस्था से पहिले पहिले तो आपोमय भृगुभाव से नित्य संश्लिष्ट आपोमय अङ्गिराकण ऋत रूप से इतस्ततः उस समुद्र में अव्यवस्थित रूप से ही संचार करते रहते हैं। 'अम्भोवाद' मूला इसी प्राथमिक स्थिति का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् यज्ञवल्क्य ने कहा है—

"आपो वा इदमग्रे सलिलमेवास"

—शत० ११।१।६।१

आगे क्या हुआ ?, इन पानियों नें यह विचार किया कि, अपन कैसे, किस उपाय से प्रजारूप (सृष्टिरूप) में परिणित हों। (अन्ततोगत्वा अपने इस विचार को कार्य्यरूप में परिणत करने के लिए) पानियों नें श्रम किया, तप किया। इस तप से सन्तप्त पानियों में एक सुनहरी अण्डा उत्पन्न होगया। इस समय पर्य्यन्त सम्वत्सर उत्पन्न न हुआ था। अपितु आज सम्वत्सरमण्डल की जो अन्तिम सीमा है, वहाँ तक वह सुनहरी अण्डा घूम रहा था'।

५-सम्वत्सरवेला और हिरण्मयाण्ड—

तात्पर्य्य यह हुआ कि, भार्गव सोम के 'सम्बन्ध से पहिले अङ्गिरोऽग्नि भी सर्वथा कृष्ण था, जैसा कि पूर्वके प्रमाणवाद में 'कृष्णाजिनश्रुतिप्रकरण' में विस्तार से बतलाया जा चुका है। अग्नि को "हिरण्यरेता" बतलाया गया है। हिरण्यभाव तापयुक्त ज्योतिर्भाव है, एवं यह ज्योतिर्भाव, तथा तापधर्म्म भार्गव सोमसम्पर्क पर अवलम्बित है। यद्यपि भार्गवसोम, तथा आङ्गिरस अग्नि दोनों का सम्बन्ध नित्य है। परन्तु जबतक 'मातरिश्वा'* नामक अण्डभावोत्तेजक वायुविशेष की नोदना के द्वारा दोनों का अन्तर्य्याम सम्बन्ध नहीं हो जाता, तब तक अङ्गिरोऽग्नि में न संताप होता, न हिरण्यलक्षण ज्योति का आविर्भाव होता। मातरिश्वा से पहिले पहिले तो आपोरूप भृगु, एवं आपोरूप अङ्गिरा दोनों विशुद्ध अब्रूप में परिणत रहते हुए 'सलिल' ही बने रहते हैं। मातरिश्वा की प्रेरणा से ही सहोबललक्षण, हिरण्योत्पादक बल का आविर्भाव होता है। इसी बल से ऋत अङ्गिराकणों में घनता आती है, एवं हिरण्यभाव का उदय होता है। इसप्रकार सलिलरूप वह आपस्तत्त्व कालान्तर में हिरण्यमयरूप में परिणत हो जाते हैं। परन्तु अभी तक पूरा संघठन नहीं हुआ है। अपितु वे अग्निपुञ्ज उल्कारूप से उस समुद्रमें बड़े वेग से अप्रतिष्ठित-अव्यवस्थितरूप से घूम रहे हैं, जिन उल्काओं को वैज्ञानिक 'धूमकेतु' नाम से व्यवहृत किया

---

*मातरिश्वा वायु क्या काम करता है ?, यह अण्डसृष्टि का प्रवर्त्तक किस आधार पर माना गया ?, इत्यादि प्रश्नों के समाधान के लिए "ईशोपनिषत्-हिन्दी-विज्ञानभाष्य' – प्रथमखण्ड का "तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति" इत्यादि मन्त्रभाष्य देखना चाहिए।

करते हैं, एवं जिनके एकसहस्र भेद माने जा रहे हैं।A इन एक सहस्र अग्निपुञ्जों में से केवल एक ही अग्निपुञ्ज हिरण्मयाण्डरूप में परिणत होता हुआ सूर्य्यरूप में परिणत होता है। सौराग्नि जब लयावस्था में परिणत हो जाता है, तो पुनः अहःकाल में धूमकेतु का वही सृष्टिक्रम आरम्भ हो जाता है। इस प्रकार धूमकेतुलक्षण हिरण्मयाण्ड, हिरण्मयाण्ड से सूर्य्य, सूर्य्य से अन्य उपग्रह, लयभाव, पुनः हिरण्मयाण्ड-विकास, पुनः वही क्रम इत्यादि धारावाहिक रूप से सञ्चर-प्रतिसञ्चर होता रहता है, जिसका 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्, दिवंच पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः' इत्यादि रूपसे अभिनय किया जाताहै। अस्तु, छोडिए सृष्टि के इन विस्तारक्रमों को। यहाँ केवल यही वक्तव्य है कि, आपोमय समुद्रगर्भ में मातरिश्वा की प्रेरणा से भृगु का अङ्गिरा के साथ अन्तर्य्याम सम्बन्ध हुआ, एवं इससे अङ्गिराभाग हिरण्मयाण्ड बन गया। अब तत्त्व से विकसित होने वाली इसी प्रथमसृष्टि का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है-

> "ता अकामयन्त, कथं नु प्रजायेमहीति। ता अश्राम्यन्, तपो-
> ऽतप्यन्त। तासु तप्यमानासु हिरण्मयःाण्डं सम्बभूव।
> अजातो ह तर्हि सम्वत्सर आस। तदिदं हिरण्मयाण्ड याव-
> त्सम्वत्सरस्य वेला, तावत् पर्य्यप्लवत"।
>
> —शत० ११।१।६।१।

आगे क्या हुआ ?, उत्तर स्पष्ट है। अग्निपुञ्जरूप हिरण्मयाग्नि का गर्भ में सघात होने लगा। होते होते जब गर्भस्थ अग्निपुञ्ज आत्यन्तिकरूप से संघातभाव को प्राप्त होगया, तो सहसा वह घन-अग्निपिण्ड प्रज्वलित हो पड़ा। वही प्रज्वलित अग्निपिण्ड "सूर्य्य" नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसे कि पूर्व में हमने

A१-दर्शनमस्तमयो वा न गणितविधिनास्य शक्यते ज्ञातुम्।
दिव्यान्तरिक्षभौमास्त्रिविधाः स्युः केतवो यस्मात् ॥२॥
२-अहुताशेऽनलरूपं यस्मिंस्तत् केतुरूपमेवोक्तम्।
खद्योतपिशाचलयमणिरत्नादीन् परित्यज्य ॥३॥
३-ध्वजशस्त्रभवनतरुतुरगकुञ्जराद्येष्वथान्तरिक्षास्ते।
दिव्या नक्षत्रस्था भौमाः स्युरतोऽन्यथा शिखिनः ॥४॥
४-शतमेकाधिकमेके सहस्रमपरे वदन्ति केतूनाम्।
बहुरूपमेकमेव प्राह मुनिर्नारदः केतुम् ॥५॥
५-शुक्लविपुलैकतारा नव विदिशां केतवः समुत्पन्नाः।
एवं केतुसहस्रं विशेषमेषामतो वक्ष्ये ॥२८॥

—बृहत्संहिता केतुचाराध्याय ११।

"नारायण", किंवा नारायणाग्नि नाम से व्यवहृत किया है। पिण्डभाव का ही नाम 'पुर' है। हिरण्मयाण्ड भी यद्यपि 'पुर' था, किन्तु अभी इस पुर में पिण्डस्वरूपसमर्पिका घनता का पूर्ण विकास न था। अतएव तदवस्थापन्न पिद्यमान हिरण्यमयाग्नि को 'पुरुष' नही कहा जा सकता था। किन्तु जब पिण्डभाव के उदय से पुरभाव का पूर्ण विकास हो जाता है, तो तदवच्छिन्न पिण्डात्मक यही हिरण्याग्नि 'पुरि शेते'—'पुरिशयः' इत्यादि निर्वचनों से 'पुरुष' नाम से प्रसिद्ध हो जाता है। यह पुरुष, और पूर्वश्रुतियों में प्रतिपादित 'प्रथमज' नामक 'त्रयीब्रह्म' दोनों समतुलित हैं। वहाँ श्रुति ने इसे 'त्रयीब्रह्म' नाम से, एवं यहाँ 'पुरुष' नाम से व्यवहृत कर दिया है। उस हिरण्मयाण्ड को इस पुरुषात्मिका पिण्डावस्था में परिणत होने में कितना समय लगा?, इस प्रश्न का उत्तर प्रजापति के पुत्रों से पूछना चाहिए। स्त्री-वड़वा-गौ आदि एक वर्ष में (चान्द्रसम्वत्सर में) गर्भ को गर्भाशय के बाहिर डालती है। इस आध्यात्मिक चरित्र के आधार पर ही उस अधिदैवत पुरुष के सम्बन्ध में भी एक सम्वत्सर की व्यवस्था माननी पड़ेगी। हिरण्मयाण्ड को पिण्डरूप में परिणत होने के लिए एक वर्ष का समय अपेक्षित है, यही तात्पर्य्य है। इसी पुरुषसृष्टि नामकी दूसरी सृष्टिधारा का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है—

> **ततः सम्वत्सरे पुरुषः समभवत्। स प्रजापतिः। तस्मादु सम्वत्सरे एव स्त्री वा, गौर्वा, वड़वा वा विजायते। सम्वत्सरे हि प्रजापतिरजायत"※।**
>
> —शत० ११।१।६।२

६-सम्वत्सर और विकर्षणविज्ञान—

फिर क्या हुआ?, इस प्रश्न को थोड़ी देर के लिए छोड़ कर एक नवीन प्रसङ्ग की ओर चलिए। अग्निचयनकर्म्म 'चिति-संचिति' भेद से दो भागों में विभक्त है। इनमें सञ्चितिकर्म्म ही 'शतरुद्रियहोम' नाम से प्रसिद्ध है, जिसकी इतिकर्त्तव्यता शतपथ नवमकाण्ड में विस्तार से निरूपित है। चित अग्नि को जब सञ्चित बना लिया जाता है, तो वह सञ्चित अग्नि उग्र रूप में आता हुआ 'रुद्र' रूप में परिणत हो जाता है। इस रुद्राग्नि की उग्रता शान्त करने के लिए ही 'विकर्षण' नामक कर्म्मविशेष किया जाता है, जैसा कि निम्नलिखित वाजिश्रुति से स्पष्ट है—

> **"अथैनं विकर्षति मण्डूकेनावकया वेतसशाखया। तद्वाऽएनं देवाः शतरुद्रियेण चाद्भिश्च शमयित्वा शुचमस्य पाप्मानमपहत्य, अथैनमेतद्भूय एवाशमयन्। तथैवैनमयमेतच्छतरुद्रियेण चाद्भिश्च शमयित्वा शुचमस्य पाप्मानमपहत्य,**

※ सौर हिरण्मय पुरुष का स्वरूपसम्पादक सम्वत्सरात्मक (वर्षात्मक) काल दिव्यभाव से ही सम्बद्ध है, जिस एक दिव्य सम्वत्सर के मानुष सम्वत्सर अनेक कोटि (करोड़ों) भावों में परिणत हो जाते हैं।

अथैनमेतद् भूय एव शमयति। सर्वतो विकर्षति । सर्वत एवैनमेतच्छमयति" ।

—शत० ६।१।२।२०

मातरिश्वा वायु की नोदना से होने वाली घृताहुति (भार्गव सोमाहुति) से अतिशयरूप से प्रज्वलित होने वाले उग्र-उग्रतम सौर अग्नि ने उत्पन्न होने के साथ ही विश्व को जला क्यों नहीं डाला ?, अथवा अत्युग्र सौर अग्नि आज विश्व को क्यों नही जला डालता ?, वैज्ञानिकों के सामने जब यह प्रश्न उपस्थित होता है, तो उत्तर में वे **'मण्डूक-अवका-वेतसशाखा'** ये तीन शब्द हमारे सामने रखते हैं। एवं जब हम इन तीनों शब्दों का तात्त्विक अर्थ जान लेते हैं, तो हमारी उक्त जिज्ञासा शान्त हो जाती है। दर्दुर-भेक-वर्षाभूः-आदि नामों से प्रसिद्ध जलीय प्राणिविशेष ही 'मण्डूक' (मेंढक) नाम से लोक में प्रसिद्ध है। अवरुद्ध जलाशयों में उत्पन्न होने वाले हरितवर्णाकृति सूक्ष्म-स्थूल, जलाशयपृष्ठ को आच्छादित रखने वाले शैवाल (सिंवाल) ही **'अवका'** नाम से प्रसिद्ध हैं। एवं इसी जलपृष्ठ पर उत्पन्न होने वाले, गन्धपुष्प वाले, कोमल-मञ्जरी वाले, दीर्घपत्र वाले, 'बगसा' नाम से प्रान्तीय भाषा में प्रसिद्ध होने वाले, लम्ब-लम्बायमान, वन-नम्र-भावापन्न लताविशेष ही **'वेतस'** नाम से प्रसिद्ध हैं। मण्डूक-अवका-वेतस, तीनों जल में ही उत्पन्न होते हैं, आप्यद्रव्य से ही इनका पोषण होता है, अतएव इन तीनों को ही जलीय पदार्थ माना जा सकता है। अप्-तत्त्व ही इनकी मूलप्रतिष्ठा है। यह तो हुआ इनका लौकिक स्वरूप। अब इनके अलौकिक स्वरूप का विचार कीजिए।

अलौकिक भाव का विचार करने पर हमें इस निश्चय पर पहुँचना पड़ता है कि, आपोमय पारमेष्ठ्य समुद्र के गर्भ में सोमाहुति से उत्पन्न सौर-अग्नि से सम्बद्ध जो आग्नेय जलभाग था, वही क्रमशः 'मण्डूक-अवका-वेतस' नाम से प्रसिद्ध हुआ। दूसरे शब्दों में घनाग्नि का प्रवर्ग्यांशभूत आप्य-नारायणाग्नि ही आंशिक तारतम्य से इन तीन स्वरूपों में परिणित हुआ। अग्नि समुद्र के गर्भ में प्रतिष्ठित था, आज भी प्रतिष्ठित है। फलतः चारों ओर व्याप्त रहने वाला पानी इस पर निरन्तर आक्रमण करता रहता है। इसी अत्राक्रमण से उग्र सौर अग्नि शान्ति बना रहता है। इसी शांति से इसकी उग्रता विश्व को दग्ध नहीं कर पाती। जो आप्यभाग अग्निपुञ्ज से सम्बन्ध करता है, वह स्वयं भी आग्नेयधर्म्म से युक्त हो जाता है। आग्नेयधर्म्म से युक्त होकर ही यह पानी वापस लौटता है। गायत्रीमात्रिकवेदमूर्त्ति सौर उग्राग्नि को शान्त करने वाले जो पानी इसके संसर्ग में आकर आग्नेय बनते हुए वापस लौट आते हैं, उन परावर्तित आग्नेय पानियों का ही नाम (जिनमें अग्नि का प्रवर्ग्यभाग प्रतिष्ठित हो जाता है) **'मण्डूक'** है। प्राणिसृष्टि में जिस प्राणी के उपादान-द्रव्य में इस मण्डूक नामक आग्नेय पानी की प्रधानता रहती है, वही प्राणियों में 'मण्डूक' (मेंढक) कहलाया है। यह स्मरण रखने की बात है कि, गर्भीभूत अग्नि से टकरा कर, उछल कर इस ओर गिरा हुआ आग्नेय पानी ही क्योंकि मण्डूक है, एवं इसी से मण्डूक प्राणी की उत्पत्ति हुई है। अतएव प्रभवगुणसमानधर्म्मा इस मण्डूकगति में भी यही प्लुतिभाव प्रतिष्ठित रहता है, जैसा कि वैय्याकरणों के 'मण्डूकप्लुतिन्याय' से प्रसिद्ध है।

प्राकृतिक-पारमेष्ठ्य मण्डूकप्राण से जैसे मण्डूक प्राणी उत्पन्न होता है, एवमेव इसी प्राण से जलीय अश्व (दरियायी घोड़ा) उत्पन्न होता है, एवं इस अश्वपशु की गति में भी मण्डूकवत् ही प्लुति रहती है।

अतएव इस अश्व को भी 'मण्डूक' नाम से ही व्यवहृत किया जाता है। **'अप्सु योनिर्वा अश्वः'-'वारुणो हि देवतया अश्वः'**के अनुसार अश्वप्राण भी आप्य माना गया है, एवं मण्डूकप्राण भी आप्य ही माना गया है। दोनों प्राण उसी पारमेष्ठ्यमण्डल में प्रतिष्ठित हैं। दोनों के स्वरूप में अन्तर यही है कि, मण्डूक नामक मण्डूकप्राण में सौर अग्नि का अग्निभाग प्रधान रहता है, एवं मण्डूक नामक अश्वप्राण में सौर-अग्निगत ज्योतिर्लक्षण इन्द्रप्राण की प्रधानता रहती है। अतएव अश्व को * ऐन्द्रपशु भी मान लिया गया है। मण्डूकप्राणात्मक इसी ऐन्द्र अश्वपशु का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

A "अश्वो विल्हा सुखं रथं हसमानामुपमन्त्रिणः।
शेपो रोमण्वन्तौ भेदौ वारिन् मण्डूक इच्छति।
इति-इन्द्रायेन्द्रो परिस्रव" (यास्कनि० ६।३।२)। (ऋक् सं० ६।११२।४)।

अश्वप्राण की अपेक्षा मण्डूकप्राण के साथ 'वर्षा' का विशेष सम्बन्ध माना गया है। कारण यही है कि, 'अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति'-'आदित्याज्जायते वृष्टिः' इत्यादि श्रुति-स्मृति के अनुसार पर्ज्जन्यवायु-सहचारी आदित्याग्नि (सौराग्नि) ही वृष्टि का जनक बनता है। एवं पूर्वकथनानुसार अश्वप्राण की अपेक्षा मण्डूकप्राण में ही सौरप्रवर्ग्याग्नि की प्रधानता रहती है। प्राकृतिक मण्डूकप्राण के व्यापार से ही पर्जन्य का सञ्चार होता है, वायुगत इन्द्रप्राण अप्-अवरोधक नमुचिप्राण को शिथिल करता है, वृष्टि हो पड़ती है। जिस समय प्राकृतिक मण्डूकप्राण में वृष्ट्यनुबन्धी व्यापार आरम्भ होने लगता है, उसी समय जलाशयों में प्रतिष्ठित तत्समानधर्म्मा मण्डूकप्राणियों में सजातीय प्राणोद्रेक से उल्लासभाव उदित हो जाता है। इसी उल्लास से इनके कण्ठ से ध्वनि निकलने लगती है, एवं उस ध्वनि के आधार पर वैज्ञानिक आर्षप्रजा वृष्टि का अनुमान लगा लिया करती है। महर्षि वसिष्ठ ने वर्षा की कामना से पर्ज्जन्य की स्तुति की, मण्डूकप्राण ने पर्जन्य का उद्बोधन कराया, वृष्टि हो पड़ी। वसिष्ठ प्रसन्न होकर मण्डूकप्राणकृतमूर्त्ति मण्डूकप्राणी की स्तुति के व्याज से उस आधिदैविक, वर्षक मण्डूकप्राण का यशोगान करने लगे। देखिए!

"वसिष्ठो वर्षकामः पर्जन्यं तुष्टाव। तं मण्डूका अन्वमोदन्त।
स मण्डूकाननुमोदमानान् दृष्ट्वा तुष्टाव—
उप प्रवद मण्डूकि! वर्षं मा वद तादुरि।
मध्ये ह्रदस्य प्लवस्व विगृह्य चतुरो पदान्॥"।

---

* इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन गीताविज्ञानभाष्यभूमिका प्रथमखण्डान्तर्गत **'आवश्यक निवेदन'** नामक प्रकरण में देखना चाहिए।

A "तत्र तित्तिरिकल्माषान् मण्डूकाख्यान् हयोत्तमान्"।
(महा० २।२८।६।)।

आग्नेय जीवों में जो स्थान मण्डूक प्राणी का है, वायव्य जीवों में वही स्थान मनुष्य का है। इस समानता का एकमात्र कारण 'आग्नेयभाग' ही है। मण्डूक पशु जहाँ आग्नेय अग्निमय है, वहाँ मनुष्य नामक पुरुषपशु भी आग्नेय अग्निमय ही माना गया है, जैसा कि छान्दोग्य उपनिषत् की—"इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति" (छाँ० उप० ५।१।६।)इत्यादि रूप से उपवर्णित, श्रद्धा-सोम-पर्जन्य-वृष्टि-अन्न-रेतोरूपात्मिका पञ्चाग्निविद्या से प्रमाणित है। इस समानता का परिणाम यह है कि, अस्थि-सन्निवेश, गणना-स्वरूप आदि के सम्बन्ध में मण्डूक-और मनुष्य अधिकांश में समतुलित है। अवश्य ही आज की भाँति हमारे अतीत वैज्ञानिक युग के वैज्ञानिक भी अपनी विज्ञानशालाओं में अस्थिस्वरूपपरिचय के लिए मण्डूकप्राणी का उपयोग करते होंगे। परन्तु हम अपनी उस वर्त्तमान युग की हीनदशा का क्या वर्णन करें, जिसमें तत्त्वप्रतिपादक वेदमन्त्रों के पारायणमात्र से ही कृतकृत्यता मान ली जाती है। प्राकृतिक, आधिदैविक मण्डूकप्राण के क्या क्या धर्म्म हैं ?, क्या क्या कर्म्म हैं ?, एवं इनके अन्वेषण, प्रचार, उपयोग से क्या क्या लाभ उठाए जा सकते हैं ?, नेत्रविस्फारित कर निम्नलिखित वैज्ञानिक वचनों पर दृष्टि डालिए। एवं साथ ही अपने उस अतीत वैज्ञानिक गाम्भीर्य्य की स्मृति के द्वारा उद्बोधन प्राप्त कीजिए !

१—सम्वत्सरं शशयाना *ब्राह्मणा व्रतचारिणः।
वाचं पर्ज्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः ॥१॥
२—दिव्या आपो अभि यदेनमायन् दृतिं न शुष्कं सरसी शयानम्।
गवामह न मायुर्वत्सिनीनां मण्डूकानां वग्नुरत्रा समेति ॥२॥
३—अन्यो अन्यमनु गृभ्णात्येनोरपां प्रसर्गे यदमन्दिषाताम्।
मण्डूको यदभिवृष्टः कनिष्कन्पृश्निः सम्पृङ्क्ते हरितेन वाचम् ॥४॥
४—ब्राह्मणासो अतिरात्रे न सोमे सरो न पूर्णमभितो वदन्तः।
सम्वत्सरस्य तदहः परि ष्ठ यन्मण्डूकाः प्रावृषीणं बभूव ॥७॥
५—गोमायुरदादजमायुरदात् पृश्निरदाद्धरितो नो वसूनि।
गवां मण्डूका ददतः शतानि सहस्रसावे प्र तिरन्त आयुः ॥१०॥
(ऋक् सं० ७।१०३ सू०)।

---

* मण्डूकप्राण अग्निप्रधान है, 'अग्ने ! व्रतपते व्रतं चरिष्यामि' के अनुसार अग्नि ही व्रताध्यक्ष है। इन्हीं अग्निधर्म्मों को लक्ष्य में रख कर मन्त्रश्रुति ने मण्डूकों को व्रतचारी-ब्राह्मण कहा है। अपिच वेदव्रत का अनुष्ठान करने वाले ब्रह्मचारी अपने मुख से वेदवाणी का जो उच्चारण करते हैं, उनका यह उच्चारण भी मण्डूकोच्चारण ही माना गया है। इस समानता से भी मण्डूकों को व्रतानुगामी ब्राह्मण कहना अन्वर्थ बनता है। मण्डूकप्राण स्वयं त्रयीविद्यामूर्त्ति है, जैसा कि पाठक आगे चल कर देखेंगे। मण्डूकध्वनि साक्षात् तत्त्ववेदात्मिका वेदध्वनि है। अतएव ब्रह्मचारियों की वेदध्वनि को मण्डूक-ध्वनि माना जा सकता है।

६—शीतिके शीतिकावति ह्लादिके ह्लादिकावति ।
मण्डूक्यासु संगम इमं स्वग्निं हर्षय ॥ (ऋक् सं० १०।१६।१४।) ।
७—*योगक्षेमं व आदायाहं भूयासमुत्तम आ वो मूर्द्धानमक्रमीम् ।
अधस्पदान्म उद्वदत मण्डूका इवोदकान् मण्डूका उदकादिव ॥
(ऋक्सं० १०।१६६।५।) ।

मण्डूकचर्चा समाप्त हुई, अब 'अवका', तथा 'वेतस' का विचार अपेक्षित है । तीनों हीं यद्यपि आपोमय हैं, एवं तीनों हीं सौरवेदाग्नि के प्रवर्ग्यांश बनते हुए अग्निरूप हैं, अतएव तीनों हीं समानधर्म्मा हैं । तथापि अप्तत्त्व के अवस्थाभेद से तीनों के स्वरूपों में अपेक्षाकृत कुछ अन्तर हो जाता है । आपोमय परमेष्ठी को भृगु, तथा अङ्गिरामय बतालया गया है । इन दोनों अप्तत्त्वों की घन–तरल–विरलावस्था–भेद से आगे जाकर तीन तीन अवस्था हो जातीं हैं । भृगु की वे तीनों अवस्थाएँ क्रमशः 'आपः–वायुः–सोमः'' इन नामों से, एवं अङ्गिरा की तीनों अवस्थाएँ क्रमशः 'अग्निः–वायुः–आदित्यः' इन नामों से व्यवहृत हुईं हैं । अग्नि-वायु (रुद्रवायु–रूक्षवायु)–आदित्य की समष्टि तो स्वयं गर्भीभूत सौर अङ्गिरोऽग्निपिण्ड (सूर्य्य) है । एवं इसके चारों ओर पहिले सोम का, अनन्तर वायु (शिववायु–स्निग्धवायु) का, सर्वान्त में आपः का स्तर है । इस त्रिविध आपः का उस त्रिमूर्त्ति सौर अग्नि पर आक्रमण होता है । आक्रान्त अग्नि परावर्त्तित होता है । परावर्त्तित आप्य अग्नि की भी ये ही तीन अवस्थाएँ हो जातीं हैं ।

सौर अग्नि के प्रवर्ग्य अग्निभाग को प्रधान आलम्बन बनाने वाला, भार्गव अप्तत्त्व के सोमभाग से स्वस्वरूप का निर्म्माण करने वाला 'अग्नि–सोममयप्राण' ही 'वेतस' है । सौर अग्नि के प्रवर्ग्य वायुभाग को प्रधान आलम्बन बनाने वाला, भार्गव अप्तत्त्व के वायुभाग से स्वस्वरूप का निर्म्माण करने वाला

---

*एक बार प्रवास के समय एक सम्मान्य पुरुष ने प्रसङ्ग में एक आश्चर्य्यप्रद घटना सुनाई थी । ''एक पश्चिमी विद्वान् भारत–भ्रमण करने आए । यहाँ किंवदन्ती के आधार पर उन्होंने यह सुना कि, जब मण्डूक बोलने लगते हैं, तो भारतीय लोग वृष्टि का अनुमान लगा लेते हैं । एकमात्र इसी आधार पर उन्होंने मण्डूक की परीक्षा आरम्भ की । परिणामतः वे इस तथ्य पर पहुँचे कि, यदि मरुप्रान्तों में किसी उपाय से मण्डूक-प्राणिकुल प्रतिष्ठित कर दिया जाय, तो समानाकर्षण से वे प्रान्त अवश्य ही जलीय बनाए जा सकते हैं । अपने इसी उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए वे यहाँ से कुछ मण्डूक ले भी गये थे ।'' इस घटना से प्रकृत में हमें यही कहना है कि, जिन भारतीय किंवदन्तियों के आधार पर जिज्ञासु पश्चिमी विद्वान् तत्त्वान्वेषण में प्रवृत्त हो जाते हैं, उन किंवदन्तियों की बातें तो छोड़िए । हमारे भारतीय शिक्षकों की दृष्टि में तो तत्त्ववाद का प्रतिपादक सर्वोत्कृष्ट वेदशास्त्र भी स्वातन्त्र्य का बाधक बन रहा है । अपने आपको नीरक्षीरविवेकी मानने वाले कई सम्मान्य बुद्धिवादियों ने 'वैदिकसाहित्य का इस युग में कोई उपयोग नहीं'' ये उद्गार प्रकट करने का अनुग्रह किया है । इधर हमारा पण्डितसमाज तत्त्वदृष्टि से इतना दूर चला गया है कि, केवल हाथ–हिलाकर पाठ कर देने के अतिरिक्त इसकी दृष्टि में वेद का कोई महत्त्व ही शेष नहीं रह गया है । भगवान् ही जाने, हमारी यह अविद्या कब दूर होगी ।

'वायुमय प्राण' ही 'मण्डूक' है । एवं सौर अग्नि के प्रवर्ग्य आदित्यभाग को प्रधान बनाने वाला, भार्गव अप्-तत्त्व के आपोभाग से स्वस्वरूप का निर्माण करने वाला 'आदित्य-आपोमय प्राण' ही 'अवका' है । वेतस अग्निप्रधान सोममय प्राण है, मण्डूक वायुप्रधान वायुमय प्राण है, एवं अवका आदित्यप्रधान आपोमय प्राण है । *अग्नि वनस्पति है, वेतस प्राण में इसी की प्रधानता है, अतएव श्रुति ने वेतस को 'वनस्पति' कहा है । वायु ही-'वायुर्वै वृष्टया ईशे'-'भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति'-'मरुतः सृष्टान्नयन्ति' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार वृष्टिका अधिष्ठाता है, वायु ही गतिप्रधान है । अतएव तन्मय मण्डूक प्राण, एवं मण्डूक प्राणी में वायव्य-धर्मोंका ही विकास रहता है । अवका आप्यप्रधान है, अतएव कूर्म्मरूप आदित्य की अन्तिम सीमा पर आपोमय इन्हीं अवका आप्य प्राणों का वेष्टन माना गया है । अतएव वैध चयनयज्ञ में कूर्म्मरूप आदित्य की प्रतिकृतिरूप कूर्मपशु (कछुआ) की चिति में भी इसके दोनों ओर प्राकृतिक, आपोमय अवकाप्राण की प्रतिकृतिरूप अवका (शैवाल) ही लगाए जाते हैं, जैसाकि निम्नलिखित श्रुति से प्रमाणित है—

"स यः स कूर्म्मः, असौ स आदित्यः । अमुमेवैतदादित्यमुपदधाति" (शत० ७।४।१।१५।) – "अवका अधस्ताद् भवन्ति, अवका उपरिष्टात् । आपो वा अवकाः । अपामेवैनमेतन्मध्यतो दधाति" (शत० ७।४।१।११। ।

इसप्रकार अवका की आदित्यप्राणात्मकता अब्रूपता उक्त वचन से स्पष्ट ही सिद्ध हो रही है । मण्डूक की वायुप्राणात्मिका वायुरूपता का स्पष्टीकरण पूर्व में किया ही जा चुका है । शेष रहता है अग्नि-प्राणात्मक सोमरूप 'वेतस' । वेतस अग्निप्रधान सौम्यप्राण है, इस सम्बन्ध में निम्नलिखित मन्त्र-श्रुति ही प्रमाण है, और सौभाग्य से स्वयं भाष्यकार ने भी-' हिरण्मयो वेतसः, अप्सम्भवोऽग्निर्वैद्युतः, आसामपाँ मध्ये-वर्त्तते इति शेषः" इत्यादि रूप से अब्गर्भित अग्निप्राण को ही वेतस माना है—

"एता अर्षन्ति हृद्यात् समुद्राच्छतव्रजा रिपुणा नावचक्षे ।
घृतस्य धारा अभि चाकशीमि हिरण्ययो वेतसो मध्ये आसाम्" ॥

(ऋक्सं० ४।५८।५।) ।

वेतस-मण्डूक-अवकास्वरूपपरिलेखः—

१-आग्नेयप्राणः (अन्तः-अग्निः १) २-सौम्यप्राणः (बहिः-सोमः १)	} वेतसप्राणः-अग्निप्रधानः-ततः वेतसभूतोत्पत्तिः

*** 'अग्निर्वै वनस्पतिः' (कौ० ब्रा० १०।६।) ।**

१–रुद्रवायुप्राणः (अन्तः–वायुः २) २–शिववायुप्राणः (बहिः–वायुः २)	मण्डूकप्राणः–वायुप्रधानः–ततः–मण्डूकप्राण्युत्पत्तिः
१–आदित्यप्राणः (अन्तः–आदित्यः३) २–आप्यप्राणः (बहिः–आपः ३)	अवकाप्राणः–आदित्यप्रधानः–ततः शैवालोत्पत्तिः

—:※:※:※—

सौर अग्नि का अग्निभाग ऋङ्मय है, अतएव तद्रूप वेतसाग्नि को ऋङ्मय माना जायगा। सौर अग्नि का वायुभाग यजुर्मय है, अतएव तद्रूप मण्डूकवायु को यजुर्मय कहा जायगा। एवं सौर अग्नि का आदित्यभाग साममय है, अतएव तद्रूप अवका आदित्य को साममय कहना न्यायसङ्गत होगा। त्रयीवेदलक्षण, आपोमय (अप्-वायु-सोममय तथा आदित्य-वायु-अग्निमय) इन अवका–मण्डूक–वेतसरूप शान्तिमय प्राणों से ही वह सौर रुद्राग्नि (जिसकी कि मूलप्रतिष्ठा स्वायम्भुव वेदमूर्ति ऋषिप्राण बतलाया गया है) शान्त बना रहता है। इसी शान्तिभाव के लिए इस वैधयज्ञ में सञ्चित रुद्राग्नि की शान्ति के लिए इसके चारों ओर एक वंश (बाँस) में मण्डूक (मेंढक), अवका (शैवाल), एवं वेतस शाखा, इन तीनों को बाँधकर विकर्षण किया जाता है। इसी उक्त रहस्य को लक्ष्य में रख कर श्रुति ने कहा है—

यद्वे वैनं विकर्षति–एतद्वै यत्रैतं प्राणा ऋषयोऽग्रेऽग्निं समस्कुर्वन्, तमद्भिरेवो–क्षन्। ता आपः समस्कन्दन्, ते मण्डूका अभवन्। ताः प्रजापतिमब्रुवन्-'यद्वै नः कमभूत, अवाक् तदगात्' इति। सोऽब्रवीत्–'एष वै एतस्य वनस्पतिर्वेत्तु' इति। संवेत्तु सोऽइवै तं 'वेतस' इत्याचक्षते परोक्षम्। परोक्षकामा हि देवाः। अथ यदब्रुवन्-'अवाङ् नः कमगात्' इति, ता अवाक्का अभवन्। अवाक्का ह वैता 'अवका' इत्याचक्षते परो–क्षम्। परोक्षकामा हि देवाः। "ता हैतास्त्रय्य आपः, यन्मण्डूकोऽवकावेतसशाखाः। एताभिरेवैनमेतत् त्रयीभिरद्भिः शमयति।" (शत० ९।१।२।२२।)।

७—यज्ञप्रजापति और लोकवितान—

उग्र–उग्रतम सौर–हिरण्मय अग्नि ने विश्व को जला क्यों नहीं डाला ?, इस प्रश्न के प्रसङ्ग में 'शान्तरुद्रिय' लक्षण शतरुद्रिय प्रकरण से सम्बन्ध रखने वाले विकर्षणविज्ञान का दिग्दर्शन कराना पड़ा। अब पुनः प्रकृत की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। आपोमय समुद्रगर्भ में सौर अग्नि का पूर्ण विकास हो चुका है। इससे आगे क्या होने वाला है ?, यही विचार प्रक्रान्त है। इस प्रक्रान्ति के साथ ही आगे के सम्वत्सरस्वरूप–निरूपण से पहिले यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि, समुद्रगर्भस्थित सौर अग्नि (नारायणाग्नि) ही आगे जाकर त्रैलोक्य का जनक बनता हुआ सम्वत्सररूप में परिणत होने वाला है,

जिस सम्वत्सर को 'यज्ञप्रजापति' कहा जाता है, जिसे कि पौराणिक भाषा में 'शिव' नाम से व्यवहृत किया गया है।

"जहाँ तक सम्वत्सर की वेला है, (सम्वत्सरवेलोद्गम से पहले) हिरण्मय पुरुष वहाँ तक व्याप्त था। एक सम्वत्सर में उसके मुख (अग्नि) भाग से 'भूः' यह अक्षर निकला, 'भुवः' निकला, एवं 'स्वः' निकला। इन तीनों व्याहृतियों से क्रमशः 'पृथ्वी-अन्तरिक्ष-द्यौ' नामक तीन लोक (रोदसी त्रैलोक्य) उत्पन्न हो गए। ++++। प्रजापति के मुख से इस प्रकार 'भूः-भुवः-स्वः' की समष्टिरूप पाँच अक्षर निकले। इन पाँच अक्षरों के आधार पर प्रजापति ने पाँच ऋतुएँ उत्पन्न कीं। इस प्रकार इन लोकों के उत्पन्न हो जाने पर प्रजापति उठ खड़े हुए। उन्होंनें अपनी आयु के एकसहस्र वर्ष प्राप्त किए। जिस प्रकार एक व्यक्ति नदी के इस ओर खड़ा हुआ नदी के उस पार की अन्तिम सीमा का बखान किया करता है, एवमेव प्रजापति ने इस ओर (हृदयस्थान में) प्रतिष्ठित होकर नदीस्थानीय आयुके सहस्रवें (हजारवें) वर्ष के उस पार (महिमामण्डल के अन्तिम साम पर) दृष्टि डाली। प्रजाकाम प्रजापति ने (लोकरूपा सृष्टि) को अपने ऊपर ही प्रतिष्ठित कर लिया। उसने अपने आस्य (स्थानीय प्राण) से ही देवताओं को उत्पन्न किया। वे देवता द्युलोक (उपलक्षित प्राण) का आश्रय लेकर ही उत्पन्न हुए। क्योंकि द्यु का आश्रय लेकर उत्पन्न होने से ही देव देव कहलाए, यही देवों का देवत्व है। जिस समय प्रजापति इन्हें उत्पन्न कर रहे थे, उस समय दिन ही था। प्रजापति का अवाङ्प्राण (रूप जो अपानप्राण था उस) से प्रजापति ने असुरों को उत्पन्न किया। ये असुर इस पृथिवी को मूल बना कर ही उत्पन्न हुए। असुरोत्पत्तिकाल में तम का ही साम्राज्य था। ++++ देवसृष्टि-आधारभूत द्युभाग को प्रजापति ने 'अहः'-रूप में परिणत किया, एवं असुरसृष्टि-आधारभूता पृथिवी को 'रात्रि' रूप में परिणत किया। इस प्रकार द्यु, तथा पृथिवी से अहोरात्र की सृष्टि हुई। (इस प्रकार तीन लोक, देवता, असुर, अहः, रात्रि आदि की सृष्टि कर) प्रजापति ने यह देखा कि, मैनें अपनी (अग्निमात्रा) सारी खर्च कर डाली, जो कि इन सृष्टियों का निर्म्माण कर डाला। बस 'सर्वं वाऽअत्सारिषम्' इसी भावना से वे प्रजापति 'सर्वत्सर' बन गए। 'सर्वत्सर' शब्द ही देवताओं की परोक्षभाषा में 'सम्वत्सर' नाम से प्रसिद्ध हुआ। जो वैज्ञानिक सर्वत्सर के इस सर्वत्सरत्त्व को (प्राजापत्यसृष्टिविज्ञानको) जानता है, उस वैज्ञानिक के प्रति यदि कोई दुष्टबुद्धि बुरा विचार रखता है, तो इस सर्वत्सरवेत्ता की कोई हानि नहीं होती। अपितु ठीक इसके विपरीत यह सर्वत्सरवेत्ता विद्वान् जिसके लिए अनिष्टभावना कर लेता है, सचमुच उसका अनिष्ट हो ही (ह) जाता है"।

जिस 'सम्वत्सरप्रजापति' के स्पष्टीकरण के लिए प्रकृत परिच्छेद का आरम्भ हुआ था, उसका नाम पाठकों ने यहाँ आकर सुना है। परन्तु केवल नाम श्रवण से ही तब तक पूरा सन्तोष नहीं हो सकता, जबतक कि, उक्त 'सम्वत्सरगाथा' का तात्त्विक दृष्टि से समन्वय नहीं कर लिया जाता। इस समन्वयदृष्टि के लिए सर्वप्रथम 'अग्निभ्रातरः' की ओर ही विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। एक मातापिता के दाम्पत्यभाव से उत्पन्न कई पुत्र परस्पर में भाई भाई कहलाते हैं। जिन तीन अग्नियों का प्रकृत में दिग्दर्शन कराया जाने वाला है, वे तीनों अग्नि एक ही माता-पिता के सहोदर पुत्र हैं। अतएव इन तीनों अग्नियों को हम 'अग्निभ्रातरः' (अग्नि नामक तीन भाई) कह सकते हैं। इनमें तीनों क्रमशः ज्येष्ठ, मध्यम, कनिष्ठ भ्राता हैं। एवं तीनों क्रमशः 'भूतानांपतिः-भुवनपतिः-भूपतिः' नामों से प्रसिद्ध हैं। एवं

तीनों में महिमारूप से व्याप्त उक्थरूपसे स्वतन्त्र, विभक्त, अविभक्त वही सुप्रसिद्ध नारायणाग्नि प्रजापति है। पारमेष्ठ्य, हिरण्मय नारायणाग्नि पिता है, पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व (सोम) माता है, दोनों के दाम्पत्यभाव से ही ये तीन पुत्र उत्पन्न हुए हैं।

पाठकों को स्मरण होगा कि, पूर्व में हमने पञ्चपर्वा विश्व में 'ब्रह्मा-विष्णु-शिव' नामक तीन देवताओं का भोग बतलाया था. एवं तीनों को क्रमशः ब्रह्मनिःश्वसितवेद, गायत्रीमात्रिकवेद. यज्ञमात्रिकवेद-मूर्ति बतलाते हुए तीनों को क्रमशः "सत्याग्नि, नारायणाग्नि, वामाग्नि", नामों से व्यवहृत किया था। यह वामाग्नि ही शिवस्वरूप का समर्पक है। यज्ञावस्था में वामाग्नि शिवरूप में परिणत रहता हुआ अपने त्रैलोक्य की रक्षा का कारण बनता है, एवं यज्ञध्वंसावस्था में वही विशुद्ध रुद्ररूप में परिणत होता हुआ विश्वसंहार का कारण बन जाता है। इसके इसी वाम (विरुद्ध-कुटिल) धर्म को लक्ष्य में रख कर इसे 'वाम' नाम से व्यवहृत किया गया है। शिवस्वरूप इसी वाम की शिवातनू मानी गई है, जो कि अघोर नाम से भी प्रसिद्ध है। एवं रुद्रस्वरूप इसी वाम की 'घोरातनू' मानी गई है, जैसाकि-**"अग्निर्वा रुद्रः, तस्यैते द्वे तन्वौ घोराऽऽन्या च, शिवाऽऽन्या च"** इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है।

ब्रह्मानुबन्धी ब्रह्मनिःश्वसित वेद 'ऋग्वेद' है, विष्णवनुबन्धी गायत्रीमात्रिक वेद यजुर्वेद है, एवं शिवानुबन्धी यज्ञमात्रिकवेद सामवेद है। मूलप्रभवस्थान को 'उक्थ' कहा जाता है, उक्थ ही प्रस्ताव (उपक्रम-आरम्भ) है। इसी साजात्य को लक्ष्य में रख कर ब्रह्माग्निलक्षण, स्वायम्भुवी, ब्रह्मनिःश्वसितवेदत्रयी को "ऋग्वेद" कहा जा सकता है। उपसंहारलक्षण अवसानभूमि ही निधनभाव है, निधन ही पृष्ठभाव है, पृष्ठभाव ही साम है। इसी समान धर्म्म को लक्ष्य में रखते हुए भूताग्निलक्षणा. पार्थिवी, गायत्रीमात्रिकवेदत्रयी को 'सामवेद' कहना अन्वर्थ बन सकता है। प्रस्ताव स्थानीय उक्थ, तथा निधनस्थानीय पृष्ठ, इन दोनों से युक्त रहने वाला. मध्यस्थ 'उद्गीथ' भाव ही यजनात् 'यजुः' है। इसी समानता के आधार पर उक्थस्थानीय ब्रह्मनिश्वसित वेद, पृष्ठस्थानीय यज्ञमात्रिक वेद, दोनों के मध्य में दोनों से योग करने वाली उद्गीथस्थानीया, देवाग्निलक्षणा, सौरी, गायत्रीमात्रिकवेदत्रयी को अवश्य ही 'यजुर्वेद' कहा जा सकता है*। ऋग्वेदात्मक, ब्रह्माग्निलक्षण, सत्याग्नि **'पितामह'** है। यजुर्वेदात्मक, देवाग्निलक्षण, नारायणाग्नि **'पिता'** है। एवं सामवेदात्मक, भूताग्निलक्षण, वामाग्नि **'पुत्र'** है। तीन वंशों में अग्निवंश समाप्त है। पितामह के यश का विकास तत्पुत्र, पितृस्थानीय नारायणाग्नि ने किया। अपने पिता नारायणाग्नि का यश सम्पूर्ण त्रैलोक्य में इसके वामाग्नि रूप तीनों भाइयों ने व्याप्त कर दिया। साथ ही इतना और स्मरण रखिए कि, ब्रह्माग्नि की मूलप्रतिष्ठा **'स्वयम्भू'** है। देवाग्नि की मूलप्रतिष्ठा **'सूर्य्य'** है। एवं भूताग्नि की प्रतिष्ठा **'पृथिवी'** (भूपिण्ड) है। तीनों पुर त्रिपुरभाव से आक्रान्त हैं। अतएव स्वयम्भूपुर भी एक त्रैलोक्य है, सूर्य्यपुर भी एक त्रैलोक्य है, पृथिवीपुर भी एक त्रैलोक्य है, जो कि तीनों त्रैलोक्य क्रमशः **'संयती, क्रन्दसी, रोदसी'** नामों से प्रसिद्ध हैं, जिनका प्रथम स्तम्भान्तर्गत **'अनन्त वेद का विज्ञेय इतिवृत्त'** नामक परिच्छेद में दिग्दर्शन कराया जा चुका है।

*** सृष्टौ ऋङ्मयो ब्रह्मा, स्थितौ विष्णुर्यजुर्म्मयः।**
रुद्रः साममयोऽन्ते च तस्मात्तस्याऽऽशुचिर्ध्वनिः॥

—मार्कण्डेयपुराण, सूर्य्यमाहात्म्य।

अग्नित्रयीपरिलेखः—

(क)—

स्वयम्भूविवर्त्तम् —१-ब्रह्माग्निः—सत्याग्निः———प्राणाग्निः—ब्रह्ममूर्त्तिः—अधिपतिः———ऋङ्मयः (ब्रह्मनिःश्वसितवेदत्रयी)—पितामहः। (संयती)।

सूर्यविवर्त्तम्———२-देवाग्निः—नारायणाग्निः—वागग्निः—विष्णुमूर्त्तिः-पितृपतिर्देवपतिश्च-यजुर्म्मयः (गायत्रीमात्रिकवेदत्रयी)—पिता। (क्रन्दसी)।

भूविवर्त्तम्———३-भूताग्निः—वामाग्निः———अन्नादाग्निः-शिवमूर्त्तिः—भूतपतिः———साममयः (यज्ञमात्रिकवेदत्रयी)—पुत्रः। (रोदसी)।

(ख)— (प्रकारान्तरेण)—

१—ब्रह्माग्निर्ब्रह्मनिःश्वसितवेदलक्षणः स्वायम्भुवे 'परमाकाशे' महामहिम्नि प्रतिष्ठितः सर्वमूलभूतः।

२—देवाग्निर्गायत्रीमात्रिकवेदलक्षणः—पारमेष्ठ्ये 'समुद्रे' महामहिम्नि प्रतिष्ठितो यज्ञमूलभूतः।

३—भूताग्निर्यज्ञमात्रिकवेदलक्षणः—पार्थिवे 'इलान्दे' महामहिम्नि प्रतिष्ठितः पार्थिवसृष्टिमूलभूतः।

८—त्रैलोक्यत्रिलोकी, और वेदवितान—

सौर अग्नि 'नारायणाग्नि' है, यही हिरण्मयाण्डलक्षण प्रकृत प्रकरण का पुरुषप्रजापति है। इस-प्राजापत्य अग्नि का प्रवर्ग्यभाग ही 'भूः' लोक है, जिसकी उत्पत्ति का दिग्दर्शन प्रमाणवादप्रकरणान्तर्गत 'कृष्णमृगवेद' नामक परिच्छेद में कराया जा चुका है। भूपिण्ड सूर्य्य का ही उपग्रह है, यह सार्वजनीन सत्यय सर्वथा प्रामाणिक है। भूपिण्ड के केन्द्र में प्रवर्ग्यरूप से प्रतिष्ठित रहने वाला सौर सावित्र अग्नि ही 'गायत्राग्नि' रूप में परिणत होता हुआ अन्नादाग्नि, भूताग्नि, पार्थिवाग्नि, पार्थिवप्रजापति, इत्यादि विविध-नामों से व्यवहृत हुआ है। यही पार्थिव प्राजापत्याग्नि इस प्रकरण का 'वामाग्नि' है. यही वामाग्नि इस प्रकरण का 'पलितवाम' है। पुराणाग्नि ही 'पलित' है। यह पार्थिव अग्नि कहने को तो अर्वाचीन है, सूर्य्य से उत्पन्न होने वाला है। परन्तु वस्तुतः सौर नारायणाग्नि का प्रवर्ग्यांश बनता हुआ, अतएव तद्रूप बनता हुआ यह पुराणपुरुष ही माना जायगा। पार्थिव अग्नि की परम्परासिद्ध इस पलितता (वृद्धत्व) के अभिप्राय से ही इसे 'पलितवाम' कहना अन्वर्थ बनता है।

नारायणाग्नि को थोड़ी देर के लिए छोड़ कर अत्र तत्प्रवर्ग्यभूत इस पार्थिव पलितवामाग्नि के विवर्त्तों की ही मीमांसा कीजिए। इस पलित वामाग्नि के 'मूल'–'तूल' भेद से दो विवर्त्त हो जाते हैं। भूपिण्ड के केन्द्र से आरम्भ कर पृथिवी के २१ वें अहर्गण पर्य्यन्त व्याप्त रहने वाला, वषट्कारमण्डलसम्पादक, सहस्र-मण्डलात्मक, पार्थिव अग्नि ही 'मूलाग्नि' है। इसी का नाम 'पार्थिवप्रजापति' है। इस प्रजापति के वाङ्मय वषट्कार मण्डल के आधार पर 'भूः–भुवः–स्वः' नाम की व्याहृतियों से क्रमशः पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ नामक तीन लोक उत्पन्न होते हैं। यही त्रैलोक्य विज्ञानभाषा में 'सौम्यपार्थिवत्रिलोकी' नाम से प्रसिद्ध है।

पृथिवी (भूपिण्ड) के केन्द्र में प्रतिष्ठित प्रजापति (अन्नादाग्नि, पलितवाम) 'ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र–अग्नि–सोम' इन पाँच अक्षरों से नित्ययुक्त है। इन पञ्चाक्षरों के समन्वय से ही इस प्रजापति से भूः–भुवः–स्वः (सुवः)' इन पाँच अक्षरों का विकास हुआ है। पाँचों अक्षरों में प्रतिष्ठालक्षण ब्रह्मा एकाकी है, स्वतन्त्र है। आदानलक्षण विष्णु, तथा विसर्गलक्षण इन्द्र, दोनों अक्षरों की समष्टि एक स्वतन्त्र विभाग है। एवं तेजो-लक्षण अग्नि, तथा स्नेहलक्षण सोम, दोनों अक्षरों की समष्टि एक स्वतन्त्र विभाग है। पारावतपृष्ठात्मिका महापृथिवी में अहर्गणों के भेद से इन पाँचों अक्षरों का भोग हो रहा है। स्वयं भूपिण्ड अग्नि–सोम नामक दो अक्षरों से अनुगृहीत है। भुवर्लोकात्मिका सागराम्बरा पृथिवी इन्द्रा–विष्णु नामक दो अक्षरों से अनुगृहीत है। एवं स्वर्लोकात्मिका 'मही पृथिवी' ब्रह्मा नामक अक्षर से अनुगृहीत है।

भूः–भुवः–स्वः' नाम की प्राजापत्य व्याहृतियों के वितान का चमत्कार देखिए। पृथिवी के २१वें अहर्गण पर्य्यन्त भी इन तीनों का भोग माना जा सकता है, ३३ वें अहर्गण पर्य्यंत भी इन तीनों का भोग माना जा सकता है, एवं पृथिवी के ४८ वें अहर्गण परर्य्यन्त भी इन तीनों का भोग माना जा सकता है। इस भोगत्रयी का एकमात्र रहस्य है–'यदेवेह तदमुत्र, यदमुत्र तदन्विह'–'पूर्णमदः पूर्णमिदम्'–'यथाऽण्डे, तथा-पिण्डे'। पञ्चपर्वात्मक महाविश्व को 'संयती–क्रन्दसी–रोदसी' भेद से त्रैलोक्य त्रिलोकियों में विभक्त बतलाया गया है, एवं वहीं यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि, संयतीत्रैलोक्य ब्राह्मीत्रिलोकी है, क्रन्दसीत्रैलोक्य वैष्णवी–

त्रिलोकी है, रोदसीत्रैलोक्य रौद्रीत्रिलोकी है। विश्व के पाँचों पर्वों में उत्तर-उत्तर के पर्व में पूर्व-पूर्व पर्वका अन्तर्भाव है। भूपिण्ड सबसे अन्त का पर्व है, अतएव इसमें शेष सभी पर्वों का अन्तर्भाव सिद्ध हो जाता है। फलतः जो त्रैलोक्य-त्रिलोकी विभाग उस पञ्चपर्वात्मक महाविश्व में है, उन तीनों त्रिलोकियों की सत्ता एकमात्र भौमविवर्त्त में भी सिद्ध हो जाती है। इसी व्याप्तिभाव को लक्ष्य में रखकर हमनें पार्थिवप्रजापति की भूरादि व्याहृतियों को तीन संस्थाओं में विभक्त किया है।

पहले ब्रह्माक्षरानुबन्धिनी संयती त्रिलोकी का ही उपभोग देखिए। अग्नि-सोमाक्षरानुगृहीत भूपिण्ड भूरूपा पृथिवी है। भूपिण्ड से आरम्भ कर ३३वें अहर्गण पर्य्यन्त इन्द्रा-विष्णु अक्षरानुगृहीत, पार्थिव प्रदेश भुवर्लोकात्मक अन्तरिक्ष है। एवं ३३ से आरम्भ कर ४८ वें अहर्गण पर्य्यन्त ब्रह्माक्षरानुगृहीत पार्थिव प्रदेश स्वर्लोकात्मक द्युलोक है। यही ब्रह्मप्रधाना 'पार्थिव-संयती त्रिलोकी' है, जिसे कि वैज्ञानिक लोग 'मही' नाम से व्यवहृत किया करते हैं। इसी मही पृथिवी के आधार पर 'छन्दोमायज्ञ' का वितान हुआ है, जो कि छन्दोमायज्ञ 'गायत्री-त्रिष्टुप्-जगती' भेद से तीन छन्दोमर्य्यादाओं से युक्त होता हुआ पृथिवी के ४८ वें अहर्गण पर्य्यन्त व्याप्त माना गया है। भूपिण्ड से २४ पर्य्यन्त गायत्री है, भूपिण्ड से ४४ पर्य्यन्त त्रिष्टुप् है, एवं भूपिण्ड से ४८ पर्य्यन्त जगती है। इसी जगती सम्बन्ध से इस अष्टचत्वारिंशदहर्गणात्मका 'मही' नाम की संयती त्रिलोकी को 'जगती' भी कहा जाता है, जिसमें कि सम्पूर्ण पार्थिव जगत् प्रतिष्ठित है।

अब क्रमप्राप्त दूसरी इन्द्रा-विष्णु-अक्षरानुबन्धिनी क्रन्दसी त्रिलोकी के स्वरूप पर दृष्टि डालिए। अग्नि-सोमाक्षरानुगृहीत भूपिण्ड भूरूपा पृथिवी है। भूपिण्ड से आरम्भ कर २१वें अहर्गण पर्य्यन्त इन्द्राक्षरानुगृहीत पार्थिव प्रदेश भुवर्लोकात्मक अन्तरिक्ष लोक है। एवं २१ वें अहर्गण से आरम्भ कर ३३ वें अहर्गण पर्य्यन्त विष्णु-अक्षरानुगृहीत पार्थिव प्रदेश स्वर्लोकात्मक द्युलोक है। यही विष्णुप्रधाना 'पार्थिव क्रन्दसीत्रिलोकी' है, जिसे कि वैज्ञानिक लोग 'सागराम्बरा' नाम से व्यवहृत किया करते हैं। इसी सागराम्बरा पृथिवी के आधार पर 'गोसव' नाम के वैष्णवयज्ञ का वितान हुआ है, जो कि गोसवयज्ञ गोलोकनाथ विष्णुतत्त्व का सर्वव्याप्ति का कारण बन रहा है जिसके कि सम्बन्ध से क्षीरशायी आपोमय विष्णु 'गोलोकनाथ' नाम से पुराणों में उपवर्णित हैं। 'इट्-ऊर्क्-गौ-अन्न-भोग-पशु' आदि विविध पदार्थ इसी गोसवयज्ञ की महिमा हैं।

सबान्त में क्रमप्राप्त अग्नि-सोमाक्षरानुबन्धिनी रोदसी त्रिलोकी के स्वरूप का विचार अपेक्षित है। चित्याग्निसोममय भूपिण्ड भूरूपा भूः, एवं चितेनिधेयाग्निमय त्रिवृत्-स्तोमपर्य्यन्त व्याप्त रहने वाला पार्थिव प्रदेश, दोनों की समष्टि भूलोकात्मिका 'पृथिवी' है। ९ वें अहर्गण से आरम्भ कर १५ वें अहर्गण पर्य्यन्त पार्थिव पशव्याग्नि से अनुगृहीत पार्थिव प्रदेश भुवर्लोकात्मक अन्तरिक्षलोक है। एवं १५ वें अहर्गण से आरम्भ होकर २१ वें अहर्गण पर्य्यन्त पार्थिवादित्याग्नि से अनुगृहीत पार्थिव प्रदेश स्वर्लोकात्मक द्युलोक है। यही सोमगर्भिताग्निप्रधाना 'पार्थिव रोदसी त्रिलोकी' है, जिसे वैज्ञानिक लोक 'उख्यात्रिलोकी'-'सम्वत्सरत्रिलोकी'-'यज्ञिया पृथिवी'-'महावेदि'-'कुरुक्षेत्र'-'देवयजनी' इत्यादि नामों से व्यवहृत किया करते हैं। इसी यज्ञिया पृथिवी के आधार पर 'ज्योतिष्टोम' नामक सम्वत्सरयज्ञ का वितान हुआ है, जो कि ज्योतिष्टोमयज्ञ नाचिकेत स्वर्ग की मूलप्रतिष्ठा बन रहा है। यज्ञिय देवता, असुर, पार्थिव ओषधि-वनस्पतिवर्ग, चतुर्दशविध ब्रह्मादिस्तम्बपर्य्यन्त भूतसर्ग, सब कुछ इसी सम्वत्सरयज्ञ की महिमा है।

'भूः-भुवः-स्वः' की व्याप्ति का दूसरा चमत्कार देखिए। सम्पूर्ण पार्थिव विवर्त्त 'भूः' है, सम्पूर्ण सौर विवर्त्त 'भुवः' है, एवं सम्पूर्ण स्वायम्भुवविवर्त्त 'स्वः' है। स्वायम्भुव स्वः विवर्त्त ब्रह्माक्षरानुगृहीत है, और भुवः विवर्त्त इन्द्राविष्णु-अक्षरानुगृहीत है. पार्थिव भू विवर्त्त अग्नि-सोमाक्षरानुगृहीत है। प्रत्येक महाव्याहृति में तीन-तीन लोकों का उपभोग हो रहा है। फलतः भूः-भुवः-स्वरात्मिका, महाविश्वात्मिका, महाव्याहृतित्रयी के गर्भ में तीन त्रैलोक्य विवर्तों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। दृष्टिक्रमानुसार पहिले भू नाम की महाव्याहृति से सम्बन्ध रखने वाली त्रिलोकी का ही विचार कीजिए। भूपिण्ड अग्नि-सोमाक्षरानुगृहीत पृथिवीलोक है, सूर्य्यपिण्ड ब्रह्माक्षरानुगृहीत द्युलोक है, एवं भूः-सूर्य्य के मध्य का सम्पूर्ण प्रपञ्च इन्द्रा-विष्णू-क्षरानुगृहीत (अन्तः-ईक्षते के अनुसार) अन्तरिक्षलोक है। तीनों की समष्टि एक 'भू' व्याहृति का वितान है। यही पहिली 'रोदसी त्रिलोकी' है।

भूपिण्ड, भू-सूर्य्यमध्यस्थ सर्वप्रपञ्च को गर्भ में रखने वाला सौरमण्डलावच्छिन्न सूर्य्यपिण्ड अग्नि-सोमाक्षरानुगृहीत पृथिवीलोक है। आपोमय परमेष्ठी मण्डल विष्ण्वक्षरानुगृहीत द्युलोक है। सूर्य्यपिण्ड, तथा परमेष्ठी, दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित सर्व प्रपञ्च इन्द्रा-विष्णु अक्षरानुगृहीत अन्तरिक्षलोक है। तीनों की समष्टि एक 'भुवः' व्याहृति का वितान है। यही दूसरी 'क्रन्दसी त्रिलोकी' है।

सूर्य्यपिण्ड, सूर्य्य तथा परमेष्ठी के मध्य में प्रतिष्ठित सम्पूर्ण प्रपञ्च को अपने गर्भ में रखने वाला, पारमेष्ठ्यमण्डलावच्छिन्न परमेष्ठी पिण्ड अग्नि-सोमाक्षरानुगृहीत (भृग्वङ्गिरोऽनुगृहीत) पृथिवी लोक है। प्राणमय स्वयम्भूमण्डल ब्रह्माक्षरानुगृहीत द्युलोक है। परमेष्ठी पिण्ड, तथा स्वयम्भू, दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित सर्व प्रपञ्च इन्द्रा-विष्णू अक्षर से अनुगृहीत अन्तरिक्ष लोक है। तीनों की समष्टि एक 'स्वः' व्याहृति का वितान है। यही संयती त्रिलोकी है।

यद्यपि उक्त त्रैलोक्यवितान पाठकों की अरुचि का कारण बन रहा है। परन्तु बिना इसके यथावत् स्वरूपपरिचय प्राप्त किए परिच्छेदलक्षीभूत 'सम्वत्सरप्रजापति' की ओर दृष्टि नहीं जा सकती। अतएव अगत्या हमें अरुचि-भाव का आश्रय लेना पड़ रहा है। एक प्रजापति की तीन महाव्याहृतियाँ, तीन से नौ का विकास, नौ के आधार पर अनन्त का विकास, यही तो प्रजापति की अनन्त महिमा है। इसीलिए तो प्राजापत्य वेद 'प्राजापत्यवेदमहिमा' नाम का अधिकारी बन रहा है। इसी के स्पष्टीकरण के लिए तो हमें इस लोक-महिमा का यशोगान करना पड़ रहा है। अस्तु, अब विषयसमन्वय की ओर ध्यान आकर्षित कीजिए।

उक्त त्रैलोक्यविज्ञान के आधार पर एक नवीन रहस्य यह निकाला कि, 'वेद' त्रिवृत् हुआ करता है। त्रिवृत् का अर्थ है 'नवसंख्या' (९)। तीन महाव्याहृतियों के तीन वेद, प्रत्येक में तीन तीन वेदों का उपभोग फलतः तीन के ९ वेद हो जाते हैं। इस नववेदसमष्टि को ही 'त्रिवृद्वेद' कहा जायगा, एवं इसे ही 'विश्ववेद' किंवा 'प्राजापत्यवेद, माना जायगा, जैसा कि निम्नलिखित परिलेखों से स्पष्ट है।

त्रिवृद्वेदपरिलेखाः— (त्रैलोक्यत्रिलोकीवितानपरिचयात्मकाः) ।

*

सत्याग्निविवर्त्तम्

१—ब्रह्मनिःश्वसितवेदात्मिका संयती त्रिलोकी–'ब्राह्मी"-(ब्रह्माक्षरानुगृहीता) ।

१—स्वयम्भूः—— { ब्रह्माक्षरानुगृहीतः—द्युलोकः—— { ऋक् (स्वः)
२—मध्यस्थभावाः { इन्द्राविष्णवक्षरानु०–अन्तरिक्षलोकः { यजुः (भुवः)
३—समहिमपरमेष्ठी { अग्नीषोमाक्षरानु०—पृथिवीलोकः— { साम (भूः)

} { 'स्वः"-'ऋक्" (ब्रह्मनिःश्वसितवेदः)

नारायणाग्निविवर्त्तम् २

२—गायत्रीमात्रिकवेदात्मिका क्रन्दसी त्रिलोकी "वैष्णवी"—(इन्द्राविष्णवक्षरानुगृहीता) ।

१—परमेष्ठी—— { ब्रह्माक्षरानुगृहीतः—द्युलोकः { ऋक् (स्वः)
२—मध्यस्थभावाः { इन्द्राविष्णवक्षरा०–अन्त०— { यजुः (भुवः)
३—समहिमसूर्य्यः— { अग्नीषोमाक्षरानु०–पृथिवी० { साम (भूः)

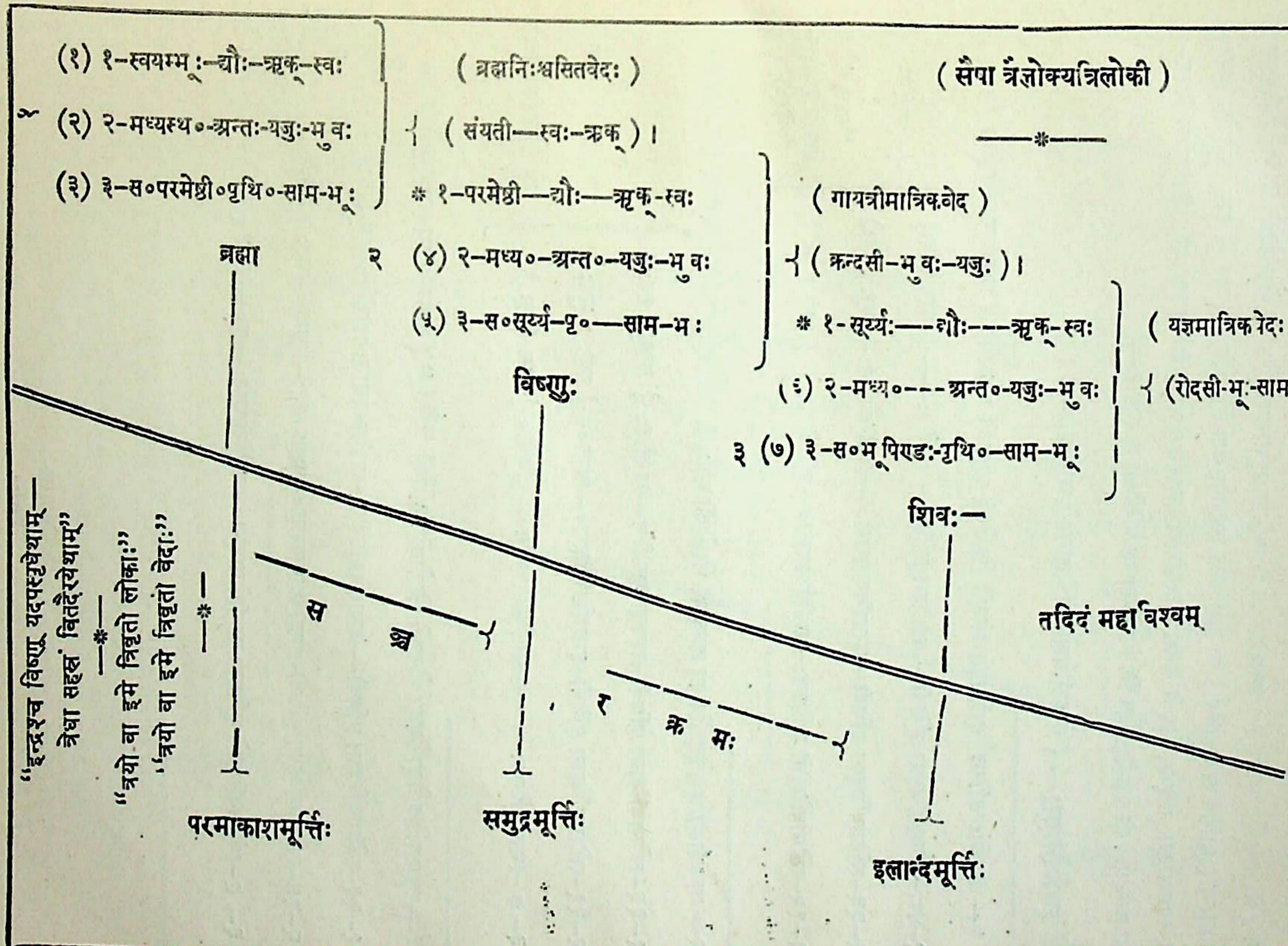
} { "भुवः"–'यजुः" (२, २) (गायत्रीमात्रिकवेदः)

पवित्रवामाग्निविवर्त्तम्

३—यज्ञमात्रिकवेदात्मिका रोदसी त्रिलोकी "शैवी"—(अग्नीषोमाक्षरानुगृहीता)

१—सूर्य्यः—— { ब्रह्माक्षरानुगृहीतः—द्युलोकः { ऋक् (स्वः)
२—मध्यस्थभावाः { इन्द्राविष्णवक्षरा०–अन्त०— { यजुः (भुवः)
३–समहिमभूपिण्डः { अग्नीषोमाक्षरा०—पृथिवी० { साम (भूः)

} { "भूः"—"साम" (३, ३) (यज्ञमात्रिकवेदः)


(१) १-स्वयम्भूः-द्यौः-ऋक्-स्वः
(२) २-मध्यस्थ०-अन्तः-यजुः-भुवः
(३) ३-स०परमेष्ठी०पृथि०-साम-भूः
१
(ब्रह्मनिःश्वसितवेदः)
(संयती—स्वः-ऋक्)।
* १-परमेष्ठी—द्यौः—ऋक्-स्वः
२ (४) २-मध्य०-अन्त०-यजुः-भुवः
(५) ३-स०सूर्य्य-पृ०—साम-भूः
(गायत्रीमात्रिकवेद)
(क्रन्दसी-भुवः-यजुः)।
* १-सूर्य्यः—द्यौः—ऋक्-स्वः
(६) २-मध्य०—अन्त०-यजुः-भुवः
३ (७) ३-स०भूपिण्डः-पृथि०-साम-भूः
(यज्ञमात्रिकवेदः)
(रोदसी-भूः-साम)
(सैषा त्रैलोक्यत्रिलोकी)
—*—
ब्रह्मा
विष्णुः
शिवः—
तदिदं महाविश्वम्
स
त्र
र
क्र
मः
परमाकाशमूर्त्तिः
समुद्रमूर्त्तिः
इलान्दमूर्त्तिः
"इन्द्रश्च विष्णु यदपस्पृधेथाम्—
त्रेधा सहस्रं वितदैरयेथाम्"
—*—
"त्रयो वा इमे त्रिवृतो लोकाः"
"त्रयो वा इमे त्रिवृतो वेदाः"
—*—

उक्त तीनों त्रिलोकियों में से तीसरी सर्वान्त की 'रोदसीत्रिलोकी' की ओर ही पाठकों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करना है। मध्यत्रिलोकी के अधिष्ठाता 'नारायणाग्नि' से रोदसीत्रिलोकी के अधिष्ठाता पलितवामाग्नि (पार्थिव अन्नादाग्नि) का आविर्भाव बतलाया गया है। जैसा कि, पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है, मही, सागराम्बरा, यज्ञिया, भेद से केवल रोदसीत्रिलोकीरूपा इस महापृथिवीविवर्त्त में भी उन सब विश्व-भावों का अन्तर्भाव हो रहा है, जैसा कि निम्नलिखित परिलेखों से स्पष्ट है—

त्रिवृद्वेदपरिलेखाः—(रोदसीत्रैलोक्यवितानपरिचयात्मकाः)।

दिव्यास्त्रिविवर्त्तम्

१—ब्रह्मनिःश्वसितवेदात्मिका संयती त्रिलोकी पार्थिवी "ब्राह्मी" (ब्रह्माक्षरानुगृहीता)।

१-४८-स्तोमावच्छिन्ना पृथिवी—ब्रह्माक्षरानुगृहीतः – द्युलोकः——ऋक् (स्वः)
२-३३-स्तोमावच्छिन्ना पृथिवी—इन्द्राविष्णवक्षरा०—अन्तरिक्षलोकः- यजुः (भुवः)
३-१२-स्तोमावच्छिन्नो भूपिण्डः—अग्नीषोमाक्षरा०—पृथिवीलोकः— साम (भूः)

१ "स्वः"- १ "ऋक्" (ब्रह्मनिःश्वसित-वेदः)

आन्तरिक्ष्यास्त्रिविवर्त्तम्

२—गायत्रीमात्रिकवेदात्मिका क्रन्दसी त्रिलोकी पार्थिवी "वैष्णवी" (इन्द्राविष्णवक्षरानुगृहीता)।

१-३३-स्तोमावच्छिन्ना पृथिवी-ब्रह्माक्षरानुगृहीतः—द्युलोकः- ऋक् (स्वः)
२-२१-स्तोमावच्छिन्ना पृथिवी-इन्द्राविष्णवक्षरा०—अन्त०— यजुः (भुवः)
३- * -चित्यभूपिण्डः———अग्नीषोमाक्षरानु०—पृथिवी०- साम (भूः)

२ "भुवः"-२ "यजुः" (गायत्रीमात्रिकवेदः)

पार्थिवास्त्रिविवर्त्तम्

३—यज्ञमात्रिकवेदात्मिका रोदसी त्रिलोकी पार्थिवी "शैवी" (अग्नीषोमाक्षरानुगृहीता)।

१-२१-स्तोमावच्छिन्ना पृथिवी—ब्रह्माक्षरानुगृहीतः-आदित्यप्रधानः-द्युलोकः-ऋक् (स्वः)
२-१५-स्तोमावच्छिन्ना पृथिवी-इन्द्राविष्णवक्षरानु०-वायुप्रधानः—अन्त०-यजुः (भुवः)
३- ९-स्तोमावच्छिन्नो भूपिण्डः-अग्नीषोमाक्षरा०—अग्निप्रधानः—पृ०—साम (भूः)

३ "भूः" ३ "साम"- (यज्ञमात्रिक वेदः)

(सैषा पार्थिवी त्रिलोकी)

——*——

१
(१) १—अष्टाचत्वारिंशस्तोमः–द्यौः–ऋक्–स्वः
(२) २—त्रयस्त्रिंशत् तोमः–अन्त०–यजुः–भुवः
(३) ३—एकविंशस्तोमः——पृथि०–साम–भूः

} 'मही पृथिवी'

* १–त्रयस्त्रिंशस्तोमः–द्यौः—ऋक्–स्वः
२ (४) २–एकविंशस्तोमः–अन्त०–यजुः–भुवः
(५) ३–भूपिण्डः——पृथि०–साम–भूः

} 'सागराम्बरा पृथिवी'

* १–एकविंशस्तोमः–द्यौः—ऋक्–स्वः
३ (६) २–पञ्चदशस्तोमः–अन्त०–यजुः–भुवः
(७) ३–त्रिवृत्स्तोमः–पृथि०–सामः–भूः

ब्रह्मा — छन्दोमायज्ञमूर्त्तिः

विष्णुः — गोसवयज्ञमूर्त्तिः

रुद्रः
तदिदं पार्थिवं विश्वम् — सम्वत्सरयज्ञमूर्त्तिः

"त्रयो ह वा इमे त्रिवृतो लोकाः, वेदाश्च"
"तिस्रो वा इमाः पृथिव्यः । इयमेका,
द्वे अस्याः परे" (शत० ५।१।३।२१)

——*——

न केवल पृथिवी में ही, अपितु पृथिवीगर्भ, तथा पृथिवीपृष्ठ पर रहने वाले छोटे, बड़े, जड़, चेतन, सब पार्थिव पदार्थों में (प्रत्येक में) ठीक यही त्रैलोक्य–त्रिलोकीरूप संस्था-विभाग प्रतिष्ठित है। यही अदः (उस की), और इदं (इस) की पूर्णता है। जैसा वह है, वैसा सम्पूर्ण विश्व, सम्पूर्ण पदार्थ हैं। व्यापक का अंश–अंश व्यापक धर्म्मों से आक्रान्त है। किसी भी एक पदार्थ का पूरा-पूरा रहस्य जान लीजिए, सब कुछ विज्ञात है। अंशोपासना से अंशी की उपासना गतार्थ है। भौतिक उपासना आधिदैविक उपासना का द्वार है, जैसा कि 'गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत'–'भक्तियोगपरीक्षा' नामक तृतीय खण्ड के 'विराडुपासना' नाम के अवान्तर प्रकरण में विस्तार से निरूपित है। इसी पूर्ण विज्ञान को लक्ष्य में रख कर वेदपुरुष ने कहा है–"एकेन विज्ञातेन सर्वमिदं विज्ञातं भवति, ब्रह्मैवेदं सर्वम्, सर्वं खल्विदं ब्रह्म, प्रजापतिरेवेदं सर्वं यदिदं किञ्च"।

९–अग्निभ्रातरः

इस त्रैलोक्यत्रिलोकीरूपा पार्थिवसंस्था में सर्वान्त की जो पार्थिवसंस्था है, एकमात्र उसी के साथ 'अग्निभ्रातरः' का सम्बन्ध है। पूर्वश्रुति ने जिस प्रजापति से भूरादि पञ्चाक्षरों का, एवं पञ्चाक्षरों के द्वारा पृथिव्यादि तीन लोकों का उद्गम बतलाया है, वह प्रजापति इन तीनों अग्निभ्राताओं का आधारभूत पार्थिव अन्नादाग्नि ही है। इसका भूभागरूप पृथिवीलोक त्रिवृत्स्तोम है, भुवः भागरूप अन्तरिक्षलोक पञ्चदशस्तोम है, एवं स्वर्भागरूप द्युलोक एकविंशस्तोम है। एकविंश-अहर्गणावच्छिन्ना स्तोम्यत्रिलोकी ही इस प्रजापति का व्याप्तस्थान है। इसीमें इस एक के 'अग्नि–वायु–आदित्य' नामक तीन रूप प्रतिष्ठित हैं। अग्निरूप पार्थिव है, वायुरूप आन्तरिक्ष्य है, एवं आदित्यरूप दिव्य है। इन तीनों रूपों में अग्निरूप 'भूपति' नाम का कनिष्ठ भ्राता है। भूपिण्डगर्भावस्थित भूपिण्डयुक्त त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न अग्नि ही भूपति' है। वायुरूप 'भुवनपति' नामक मध्यम भ्राता है। पार्थिव जड़–चेतन–प्रजाशरीरों के गर्भ में व्याप्त रहने वाला आन्तरिक्ष्य अग्नि ही 'भुवनपति' है। आदित्यरूप 'भूतानांपतिः' नामक ज्येष्ठभ्राता है। यही संवत्सर की अन्तिम सीमा है, अतएव–'अथ यो भूतानांपतिः सम्वत्सरः सः," इत्यादि रूप से इसे 'सम्वत्सर' कह दिया जाता है। यह संवत्सरलक्षण दिव्याग्नि वही भूतानांपतिः-है, जिसके प्रवर्ग्य भाग से भूपति के गर्भ में कुमाराग्नि उत्पन्न होता है*।

१०–अग्निवंश की सपिण्डता

प्रसङ्गोपात्त अग्निवंश का भी समन्वय कर लीजिये। सर्वमूलभूत सत्यलक्षण ब्रह्माग्नि, परमेष्ठिगर्भस्थ नारायणलक्षण देवाग्नि, पार्थिव अन्नादाग्नि, इन तीनों को क्रमशः पूर्व में 'पितामह-पिता-पुत्र'

---

* तद्यानि तानि भूतानि, ऋतवस्ते। अथ यः स भूतानां पतिः सम्वत्सरः सः। अथ या सोषाः पत्नी, औषसी सा। तानीमानि भूतानि च, भूतानां च पतिः सम्वत्सरऽउषसि रेतोऽसिञ्चन्, स सम्वत्सरे कुमारोऽजायत"।

—शत० ६।१।३।८।

स्थानीय बतलाया गया था। अब सापिण्ड्य की दृष्टि से समन्वय देखिए। ब्रह्माग्नि सर्वमूलभूत बनता हुआ आगे की सन्तानधारा के लिए वह 'बीजी' है, जिसका सात-धाराओं में वितान होता है। पिता को ही 'बीजी' कहा गया है। अतएव इस स्वायम्भुव सत्यमूर्त्ति ब्रह्माग्नि को अवश्य ही 'पिता' कहा जा सकता है, जैसा कि –"यो नः पिता जनिता' इत्यादि वचन से भी प्रमाणित है। पितृस्थानीय इस ब्रह्माग्नि से आपोमय समुद्र के गर्भ में सौर-नारायणमूर्त्ति देवाग्नि का विकास हुआ है। यही दूसरी 'पुत्र'[2] धारा है। पुत्रस्थानीय इस देवाग्नि से सौर हिरण्मयाण्ड के गर्भ में वामसूर्त्ति अन्नादाग्नि का विकास हुआ है। यही तीसरी 'पौत्र'[3] धारा है। पौत्रस्थानीय अन्नादाग्निधरातल पर भू-भुवन-भूतपतिलक्षण पार्थिव त्रैलोक्यव्यापक 'सम्वत्सराग्नि' का विकास हुआ है। यही चौथी 'प्रपौत्र'[4] धारा है। प्रपौत्रस्थानीय सम्वत्सराग्नि के प्रवर्ग्यभूत आग्नेय रेत की पार्थिव उषायोनि में आहुति होती है। आहुत प्राजापत्य रेत एक सम्वत्सर में 'कुमाराग्नि' रूप में परिणत हो जाता है। यही पाँचवीं "वृद्धप्रपौत्र"[5] धारा हैं। वृद्धप्रपौत्रस्थानीय कुमाराग्नि आगे जाकर अष्टविध 'चित्राग्नि' रूप में परिणत होता है, जो कि अष्टमूर्त्ति चित्राग्नि चितिब्राह्मणों में 'अष्टमूर्त्तिशिव' नाम से प्रसिद्ध है। यही छठी 'अतिवृद्धप्रपौत्र'[6] धारा है। चित्राग्नि से सर्वान्त में 'पुरुष-अश्व-गौ-अवि-अज'-लक्षण "पाशुक अग्नि" का विकास होता है। यहीं आकर प्रजापति कृतकृत्य होते हैं। यही सातवीं 'वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र'[7] धारा है। यहाँ पर अग्निवंश समाप्त है। जिसे सर्वसाधारण 'अग्नि' कहते हैं, वह इन सातों से पृथक् पाशुक अग्नि का विकृत रूप है, जिसका कि ऋग्वेद ने–"अग्निं तं मन्ये अस्तं यं यन्ति धेनवः" (ऋक् सं० ५.६।१।) इत्यादिरूप से स्पष्टीकरण किया है। प्रमाणवादियों के परितोष के लिए सातों अग्निवंशों के समर्थक कुछ-एक वचन प्रकृत में उद्धृत कर देना समाचीन होगा—

१–ब्रह्माग्निः (सत्याग्निः–स्वायम्भुवः)–"पिता"—

१–"यमेवामुं त्रय्यै विद्यायै तेजोरसं प्रावृहत्, तेन ब्रह्म ब्रह्मा भवति"

— कौ० ब्रा० ६।११)।

२–"ब्रह्म ब्रह्माऽभवत् स्वयम्" (तै० ब्रा० ३।१२।६।३।)।

३–"अग्निर्वै ब्रह्मा" (षड्विंशब्रा० १।१।)।

४–"प्रजापतिर्वै ब्रह्मा" (गो० ब्रा० कु० ५।६।)।

५–"अग्निर्ब्रह्मा, अग्निर्यज्ञः" (शत ३।२।२।७।)।

६–"तस्यै वाचः सत्यमेव ब्रह्म" (शत० २।१।४।१०।)।

७–"सत्यं ब्रह्म" (शत० १४।८।५।१।)।

—x:x:x—

२–देवाग्निः (नारायणाग्निः–सौरः)–"पुत्रः"—

१–"स यदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत, तस्मादग्निः । अग्निर्ह वै तमग्निरित्याचक्षते परोक्षम्" (शत० ६।१।१।११।) ।

२–"तद्वाऽएनमेतदग्रे देवानामजनयत, तस्मादग्निः" (शत० २।२।४।२।) ।

३–"स अग्निमब्रवीत्, त्वं वै मे ज्येष्ठः पुत्राणामसि, त्वं प्रथमो वृणीष्व इति" (जै० उ० ब्रा० १।५।१।) ।

४–"पुरुषं ह वै नारायणं प्रजापतिरुवाच"–(गो० पू० ५।१०।) ।

५–"पुरुषो ह नारायणः सर्वाणि भूतानि, इदं सर्वमभवत्" (शत० १३।६।१।१।) ।

६–"योऽयमेतद्यग्निः, स भीषा निलिल्ये । सोऽपः प्राविवेश" । (शत० १।२।३।१।) ।

७–"कंस्विद्गर्भं दध्र आपः" (ऋक्सं०)

—:×:×:×—

३–अन्नादाग्निः (वामाग्निः–पार्थिवः)–"पौत्रः"

१–"प्रजापतेर्या-अन्नादा तनूः–तदग्निः" (ऐ० ब्रा० ५।२५।) ।

२–"अग्निर्वै देवानामन्नादः" (तै० ब्रा० ३।१।४।१।) ।

३–"अन्नादोऽग्निः" (शत० २।१।४।२८।) ।

४–"इयं (पृथिवी) वा अन्नादी" (कौ० ब्रा० २७।५।) ।

५–"अन्नादो वा एषोऽन्नपतिर्यदग्निः" (ऐ० ब्रा० १।८।) ।

६–"अग्निरन्नादोऽन्नपतिः" (तै० ब्रा० २।५।७।३।) ।

७–"अस्य वामस्य पलितस्य होतुः" (ऋक्सं० १६।४।१।) ।

—:×:×:×:—

४–सम्वत्सराग्निः (यज्ञाग्निः–३३देवतामयः, सौम्यत्रैलोक्ये व्याप्तः)–"प्रपौत्रः"–

१–"यः स भूतानांपतिः सम्वत्सरः सः" (शत० ६।१।३।८।) ।

२–"स एष प्रजापतिरेव सम्वत्सरः" (शत० १।६।३।३५।) ।

३–"सम्वत्सरो वै यज्ञः प्रजापतिः" (शत० १।२।५।१२।) ।

४–"अग्निर्वाव सम्वत्सरः" (तै० ब्रा० १।४।१०।१।)।

५–"सम्वत्सरो वै देवानां जन्म" (शत० ८।७।३।२१।)।

६–"सम्वत्सरः खलु वै देवानां पूः" (तै० ब्रा० १।७।७।५।)।

७–"अग्निः (सम्वत्सरः) सर्वा देवताः" (ऐ० ब्रा० १।१।)।

—:x:x:x:x:—

५–कुमाराग्निः (पार्थिवाग्निः–सम्वत्सररेतोरूपः)–"वृद्धप्रपौत्रः"—

१–"तानीमानि भूतानि च, भूतानां च पतिः–सम्वत्सरेऽउपसि रेतोऽ सञ्चत् । सम्वत्सरे-कुमारोऽजायत । सोऽरोदीत् । यदरोदीत्, तस्मात् रुद्रः" (शत० ६।१।३।८-१०।)।

—x:x:x:x—

६–चित्राग्निः (पार्थिवाग्निः–कुमाराग्निविवर्त्तभावाः)–"अतिवृद्धप्रपौत्रः"—

१–"अग्निर्वै रुद्रः (१), आपो वै सर्वः (२), ओषधयो वै पशुपतिः (३), वायुर्वा उग्रः (४), विद्युद्वा अशनिः (५), पर्जन्यो वै भवः (६), प्रजापतिर्वै महानदेवः (७), आदित्यो वा ईशानः (८)। तान्येतान्यष्टावग्निरूपाणि । कुमारो नवमः । सैवाग्नेस्त्रिवृत्ता । एतानि हि रूपाण्यनुप्रानशाऽग्निं कुमारमिव पश्यन्ति । एतान्येवास्य रूपाणि, सोऽयं कुमारो रूपाण्यनुप्राविशत् । तस्य चितस्य नाम करोति । पाप्मानमेवास्य तदपहन्ति । 'चित्र' नामानं करोति, चित्रोऽसीति । सर्वाणि हि चित्राण्यग्निः"

(शत० ६।१।३।)।

—x:x:x:x—

७–पाशुकाग्निः (पार्थिवाग्निः-चित्राग्नेर्यौगिकभावाः पशुविधाः)-"वृद्धातिवृद्धप्रपौत्रः"

१–प्रजापतिः (सम्वत्सरः) अग्निरूपाण्यभ्यध्यायत । स योऽयं कुमारो रूपाण्यनुप्राविष्ट आसीत्,तमन्वैच्छत । सोऽग्निरवेत्-अनु वै मा पिता प्रजापतिरिच्छति । हन्त तद्रूप-मसानि, यन्म एष न वेद, इति । स एतान् पञ्चपशूनपश्यत्–पुरुषं, अश्वं, गां, अविं, अजम् । यदपश्यत्, तस्मादेते पशवः । स एतान् पञ्च पशून् प्राविशत् । स ऐक्षत-इमे वा अग्निः"

(शत० ६।१।४।१–२–३–४–)।

—❀:❀—

पाशुकाग्नि अग्निवंश में सातवाँ है। यदि इसे वृद्धातिवृद्धप्रपौत्रस्थानीय माना जाता है, तब तो पूर्व-कथनानुसार सर्वमूलभूत ब्रह्माग्नि 'पिता' ही रहता है। यदि पाशुकाग्नि को पुत्र (प्रजापति का प्रजासर्ग)-स्थानीय माना जाता है, तो उस दशा में ब्रह्माग्नि 'वृद्धातिवृद्धप्रपितामह' स्थानीय बन जाता है। इन सात वंशों में से सम्वत्सरलक्षण पार्थिव वसु, आन्तरिक्ष्य रुद्र, दिव्य आदित्य मनुष्यप्रेतपितरों के पितामह भी मानें गए हैं *, जिनका कि सुविशद वैज्ञानिक निरूपण 'श्राद्धविज्ञान' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ में देखना चाहिए।

अग्निवंशपरिलेखः— (सापिण्ड्यं साप्तपौरुषम्—सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्त्तते)।

४ पिण्डभाजः

१—ब्रह्माग्निः (स्वायम्भुवः—ऋषिमूर्त्तिः) ❀ बीजी—पिता। (वृद्धातिवृद्धप्रपितामहः)

२—देवाग्निः (पारमेष्ठ्यसमुद्रे प्रतिष्ठितः सौरः) पुत्रः। (अतिवृद्धपितामहः)

३—अन्नादाग्निः (पृथिवी—केन्द्रस्थः सन् पार्थिवसामपर्य्यन्तं व्याप्तः)। पौत्रः। (वृद्धप्रपितामहः)

४—सम्वत्सराग्निः (सौम्यत्रिलोक्यां व्याप्तः, अग्निवाय्वादित्यरूपः)। प्रपौत्रः (प्रपितामहः)

३ लेपभाजः

५—कुमाराग्निः (भूगर्भस्थश्चित्यः) वृद्धप्रपौत्रः (पितामहः)

६—चित्राग्निः (चित्यः, ओषधिवनस्पतयः) अतिवृद्धप्रपौत्रः (पिता)

७—पाशुकाग्निः (पार्थिवप्राणिरूपः) वृद्धातिवृद्धप्रपौत्रः (पुत्रः)

—x:x:x:x—

८—व्याहृति, और पञ्चाक्षर रहस्य—

पाशुकाग्नि के प्रपितामह, एवं ब्रह्माग्नि के प्रपौत्र चौथे सम्वत्सराग्नि की ही गाथा प्रक्रान्त है, एवं इस गाथा का मूल नायक बना हुआ है, पाशुकाग्नि का वृद्धप्रपितामह, एवं ब्रह्माग्नि का पौत्र तीसरा अन्नादाग्नि, जो कि अन्नादाग्नि पाशुकाग्नि के अतिवृद्धप्रपितामह, तथा ब्रह्माग्नि के पुत्रस्थानीय, नारायणमूर्त्ति, हिरण्मयाण्डलक्षण, परमेष्ठी—समुद्रगर्भित देवाग्नि का ही (सौर अग्नि का ही) प्रवर्ग्यभाग है। प्रवर्ग्यात्मक

---

* वसु-रुद्राऽदितिसुता पितरः श्राद्धदेवताः।
प्रीणयन्ति मनुष्याणां पितॄन् श्राद्धेन तर्पिताः ॥१॥
आयुः प्रजां, धनं, विद्यां, स्वर्गं, मोक्षं, सुखानि च।
प्रयच्छन्ति तथा राज्यं प्रीता नृणां पितामहाः ॥२॥
(याज्ञवल्क्यस्मृतिः आचाराध्यायः, २६९,२७०)।

इस अन्नादाग्नि से पाँच अक्षरों के आधार पर पृथिव्यादि तीन लोकों का विकास बतलाया गया है। जैसा कि पूर्व में बतलाया गया है, प्रजापति ने 'भूः–भुवः–स्वः' नामक अक्षरों का उच्चारण करते हुए ही इन तीनों लोकों को उत्पन्न किया है। यद्यपि सृष्टिक्रमानुसार पार्थिव-अन्नादाग्नि-लक्षण प्रजापति में 'अग्नि-सोम' नामक दो अक्षरों की ही प्रधानता है। तथापि त्रिवृद्भाव के कारण इस एक पार्थिव-त्रैलोक्यत्रिलोकी में भी पाँचों अक्षरो का भोग सिद्ध हो जाता है। ब्रह्माक्षर स्वतन्त्र बतलाया गया है। इस एक अक्षर से पार्थिव, एकविंशस्तोमावच्छिन्न, द्युलोक का विकास हुआ है। इन्द्र–विष्णु, दोनों सयुक् हैं। इन दो अक्षरों से पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न अन्तरिक्षलोक का विकास हुआ है। अग्नि-सोम, दोनों सयुक् हैं। इन दो अक्षरों से त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न पृथिवीलोक का विकास हुआ है। इन पाँच अक्षरों के अभिनय के लिए ही श्रुति ने 'भूः–भुवः–स्वः' से तीनों का विकास बतलाया है। शब्दाक्षरद्वारा श्रुति तत्त्वाक्षरों की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित कर रही है। इन तीन व्याहृतियों के स्वरात्मक पाँच अक्षर हो जाते हैं। 'भूः' में–'भ्-उ-उ-:–' ये चार विभाग हैं। 'भुवः में–'भ्-उ-व्-अ-:–' ये पाँच विभाग हैं। एवं 'स्वः' में 'स्-व्-अ-:–' ये चार विभाग हैं। वर्णपरिभाषा के अनुसार सम्भूय वर्ण जहाँ १३ है, वहाँ–"स्वरोऽक्षरं, सहाद्यैर्व्यञ्जनैः" इस प्रातिशाख्योक्त स्वरविज्ञान के अनुसार तीनों व्यहृतियों में स्वरात्मक अक्षर–उ[१]–उ[२]–उ[३]–अ[४]–अ[५] इस क्रम से पाँच हीं मानें जायँगे। क्योंकि ब्रह्माक्षर एकाकी है, स्वतन्त्र है, अतएव तद्वाचक 'स्वः' में एक ही स्वर (अ) है। यही ब्रह्माक्षर द्युलोक की प्रतिष्ठा बनता है। इन्द्र-विष्णु दोनों हैं पृथक्—पृथक् अक्षर। परन्तु दोनों साथ रहते है, दोनों का सहचरसम्बन्ध है। अतएव तद्वाचक 'भुवः' में दो स्वतन्त्र स्वर (उ-अ) रक्खे गये हैं। यही द्व्यक्षरमूर्त्ति इन्द्राविष्णु अन्तरिक्षलोक की प्रतिष्ठा बनते हैं। अग्नि-सोम, दोनों अक्षर भी इन्द्राविष्णु की भाँति सयुक् हैं। परन्तु इनके और उनके सायुज्य में अन्तर है। इन्द्राविष्णु का जहाँ सहचरलक्षण बहिर्य्याम सम्बन्ध है, वहाँ अग्नि-सोम का ग्रन्थिबन्धन (चिति) लक्षण अन्तर्य्याम सम्बन्ध माना गया है। अग्नि से गृहीत सोम अग्निरूप में परिणत होता हुआ अपनी स्वतन्त्र सत्ता खो देता है, जैसाकि–'अत्तैवाख्यायते नाद्यम्" (शत०१०।६।२।१) इत्यादि वचन से स्पष्ट है। इसी अन्तर्य्याम सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिए 'भूः' को अग्नि–सोम का वाचक माना गया है। 'उ-उ' भेद से अक्षर दो हैं, परन्तु दोनों मिलकर 'ऊ' इस एकाक्षररूप में परिणत हो रहे हैं। द्व्यक्षरगर्भित एकाक्षरमूर्त्ति यही अग्नि–सोमाक्षर पृथिवीलोक की प्रतिष्ठा बनता है।

कौन अक्षर किसका संग्राहक, है ?, यह भी विचार कर लीजिए। ब्रह्माक्षर असङ्ग है, निर्लेप है। उधर वर्णसृष्टि में 'अकार' निर्लेप माना गया है। अतएव अकार को ब्रह्मा का संग्राहक माना जायगा। इन्द्र–विष्णु, दोनों में विष्णु सोमवंशी बनता हुआ ससंग है, सलेप है। इन्द्र विकासधर्म्मा बनता हुआ असङ्ग है, निर्लेप है। अन्तरिक्ष में व्याप्त वायु में जितना सोमांश है, वह विष्णुसम्बन्धी है। एवं जितना प्राणांश है, वह इन्द्रानुबन्धी है। प्राण स्वयं असंग है। इसी समानधर्म्म से अकार को इन्द्रका वाचक माना जायगा। वर्णसृष्टि में उकार संकोचलक्षण ससङ्गभाव का द्योतक है। उकारोच्चारण में दोनो ओष्ठपुट संकुचित हो जाते हैं। अतएव उकार विष्णु का वाचक माना जायगा। यद्यपि अग्नि अपने तेजोधर्म्म के कारण स्वस्वरूप से असंग है, परन्तु सोमसाहचर्य्य से यह ससङ्ग बन जाता है। फलतः अग्नि-सोम दोनों संसग बने हुए हैं। ससङ्गभावद्योतक उकार ही इन दोनों का वाचक बना हुआ है।

तीनों व्याहृतियों की वर्णसंख्या का भी समन्वय कर लीजिए। सम्भूय १३ वर्ण हैं। अन्नादाग्निरूप पार्थिवप्रजापति के जगत् की व्याप्ति द्युलोक पर्य्यन्त मानी गई है। पार्थिव अग्नि (अग्नि) गायत्र है, आन्तरिक्ष्य अग्नि (वायु) त्रैष्टुभ है, दिव्य अग्नि (आदित्य) जागत है। तीनों के साथ क्रमशः अष्टाक्षरा गायत्री, एकादशाक्षरा त्रिष्टुप्, द्वादशाक्षरा जगती का समन्वय हो रहा है। सर्वान्त में द्वादशाक्षर जगतीछन्द की प्रतिष्ठा है। जगती छन्द के गर्भ में पार्थिव त्रिलोकीरूप पार्थिव जगत् प्रतिष्ठित है *। जगतीछन्दोलक्षणा पृथिवी का यज्ञियभाग यद्यपि द्वादशाक्षर जगतीछन्द से छन्दित आदित्यमय द्युलोक पर्य्यन्त ही है, परन्तु अभी इसके ऊपर आप्य लक्षण सागराम्बराभाग, प्राणलक्षण महीभाग और हैं। अतः केवल द्वादशाक्षर पर ही इसका अवसान नहीं किया जा सकता। यही आधिक्य सूचित करने के लिए जगती पृथिवी के वाचक वर्णों को १३ विभागों में विभक्त किया है। १२ वर्ण त्रैलोक्यात्मिका द्वादशाक्षरा जगती के सूचक हैं, एक अक्षर आधिक्यभाव का सूचक है। प्रकृत में वक्तव्यांश यही है कि, प्रजापति ने 'भूः-भुवः-स्वः' रूप त्रयोदशवर्णात्मक, पञ्चाक्षरात्मक तत्त्वों से त्रैलोक्य-सृष्टि की। पञ्चाक्षरों से त्रैलोक्यसृष्टि कर पाँच अक्षरों से वसन्तादि पाँच ऋतुओं का विकास किया। पञ्चर्त्तुमूर्त्ति यही प्राजापत्याग्नि 'सम्वत्सरप्रजापति' नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसी सृष्टिविज्ञान को लक्ष्य में रखकर निम्नलिखित वाक्प्रपञ्च पाठकों के सम्मुख उपस्थित हो रहा है--

---

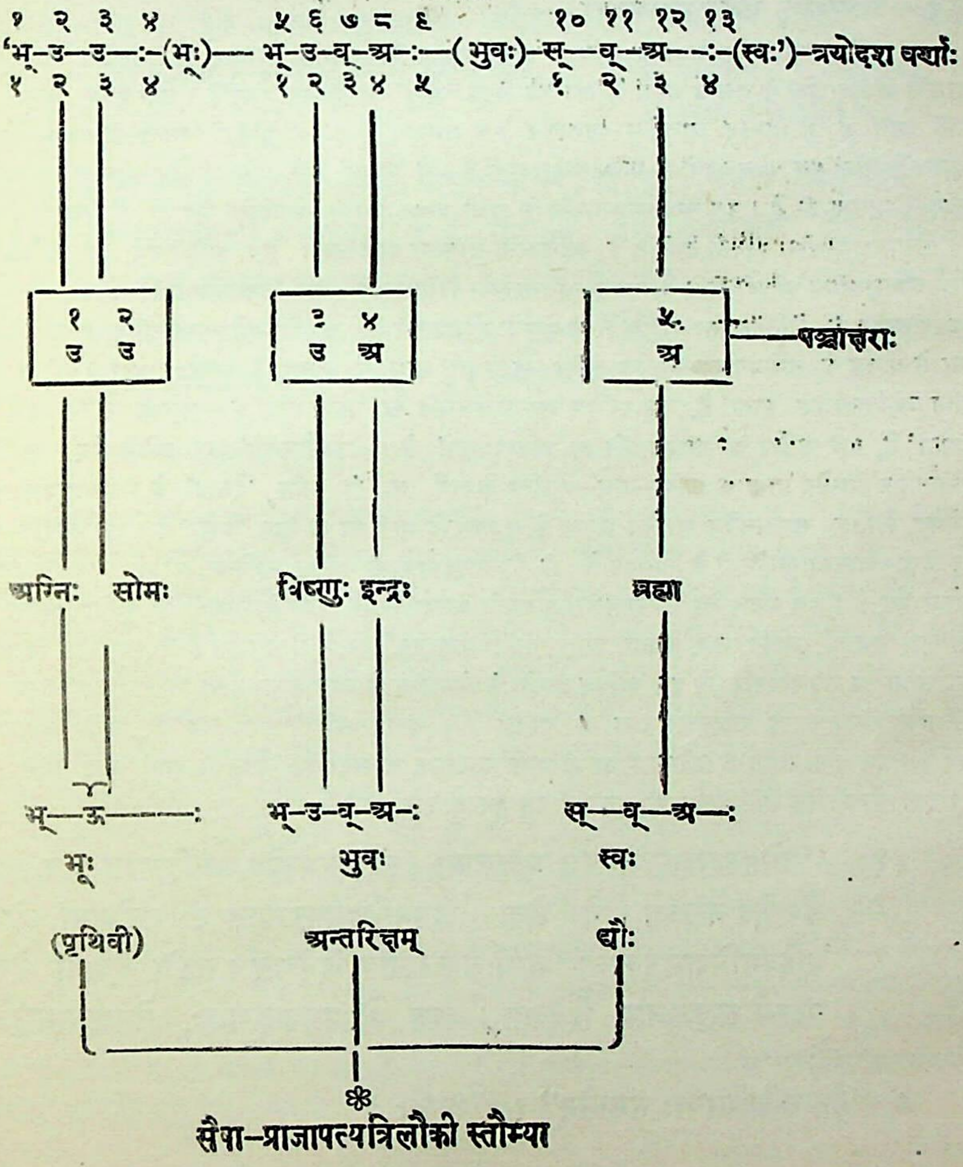
*—"द्वादशाक्षरा वै जगती" (ऐ० ब्रा० ३।१२।)—"मास्नामादित्या देवतं, तदेव ज्योतिः, जागतं छन्दः, द्यौः स्थानम्" (गो० ब्रा० पू० ११२६।)।—"तदिदं सर्वं जगदस्यां, तेनेयं (यज्ञिया पृथिवी) जगत्" (शत० १।८।२।११।)—"इयं वै जगती, अस्यां हीदं सर्वं जगत्" (शत० ६।२।१।२६।)।

१–"स्वः"—स्–व्–अ–ः——'स्वः'—ब्रह्माक्षरः, ततो द्युलोकविकासः।

२–"भुवः"—भ्–उ–व्–अ–ः–'भुवः'–इन्द्राविष्णवक्षरौ, ततः–अन्तरिक्षलोकविकासः।

३–"भूः"—भ्–उ–उ–ः——'भूः'—अग्नीषोमाक्षरौ, ततः–पृथिवी–लोकविकासः।

——xxxx——



सैषा–प्राजापत्यत्रिलोकी स्तौम्या

"स सम्वत्सरे व्याजिहीर्षीत् । स 'भूः' इति व्याहरत्, सेयं 'पृथिवी' अभवत् । 'भुवः' इति, तदिदं-'अन्तरिक्ष'मभवत् । 'स्वः' इति, सासौ 'द्यौः' अभवत् । तानि वा एतानि पञ्चाक्षराणि । तान् पञ्च ऋतूनकुरुत । तऽ इम पञ्चर्त्तवः । स एवमिमान् लोकान् जातान् सम्वत्सरे प्रजापतिरभ्युदतिष्ठत्" । (शत० ब्रा० ११।१।६।४-५-)

१२—सर्वत्सर, और सम्वत्सर—

पार्थिव अन्नादाग्नि के अमृत-लक्षण अक्षरमूर्त्ति अग्नि-सोम के आधार पर प्रतिष्ठित मर्त्य-लक्षण क्षरमूर्त्ति अन्नाद अन्न के प्रवर्ग्य भागों के समन्वय से ही 'ऋतु' का विकास हुआ है । प्रवर्ग्याग्नि, प्रवर्ग्य सोम, दोनों ऋत हैं । दोनों (ऋतसोम-ऋताग्नि) के समन्वय से उत्पन्न ऋतुएँ 'वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा-शरत्-*हेमन्तशिशिर' इन पांच भावों में परिणत हो जातीं हैं । ये ऋतुएँ अग्निसोममयी हैं, तन्मय सम्वत्सर भी अग्नि-सोमात्मक ही है । इस सम्वत्सरप्रजापति के आगे जाकर 'दिति-अदिति' भेद से दो विवर्त्त हो जाते हैं । सौरप्राणानुगृहीता पृथिवी अदिति है, तदनुबन्धी सम्वत्सर अदितिरूप है, अदितिगर्भ में प्रतिष्ठित है । सौरप्राणाननुगृहीता पृथिवी दिति है, तदनुबन्धी सम्वत्सर दितिरूप है । अदितिसम्वत्सर सौर-ज्योति के सम्बन्ध से ज्योतिष्मान् है, दितिसम्वत्सर ज्योति के अभाव से तमःप्रधान है । ज्योतिष्मान् साम्वत्सरिक अग्नि 'देवदूत' नाम से प्रसिद्ध है, तमोमय साम्वत्सरिक अग्नि 'सहरक्षा' नाम से प्रसिद्ध है (शत०१।४।१।३४।) । देवदूत अग्नि ज्योतिर्ल्लक्षण 'प्राण' है, यही पार्थिव अन्नादप्रजापति का 'ऊर्ध्वप्राण' है । सहरक्षा अग्नि तमोलक्षण 'अपान' है, यही पार्थिव अन्नादप्रजापति का 'अवाङ्प्राण' है । ऊर्ध्वप्राणलक्षण ज्योतिर्म्मय, अदितिरूप साम्वत्सरिक आग्नेय प्राण के अग्नि-वायु-आदित्य विवर्त्तों का ही नाम 'देवता' है । अवाङ्प्राणलक्षण, तमोमय, दितिरूप साम्वत्सरिक आग्नेय अपान के वृत्रबलादि भावों का ही नाम 'असुर' है । इन अदिति-दिति-रूप दिव्य-आसुरप्राणाग्नियों के समन्वय से ही दिव्यासुरभावयुक्त पार्थिव जड़चेतन पदार्थ (पार्थिवाग्निमय) उत्पन्न हुए हैं । इस प्रकार वह अन्नादाग्नि प्रजापति क्रमशः अपने अग्निसोम-भावों को मूलद्वार बनाता हुआ त्रैलोक्य, पञ्चर्त्तु, ज्योति, तम, देवता, असुर, पार्थिवप्रजा आदि भावों में परिणत होता हुआ अपनी अग्नि-सोम मात्रा का उपादानरूप से इन पार्थिव प्रपञ्चों के निर्म्माण में व्यय करता हुआ 'सर्वत्सर' बन रहा है । इसी सर्वत्सरभाव से यह 'सम्वत्सर' नाम से प्रसिद्ध है । अहः अग्निप्रधान तत्त्व है, रात्रि सोमप्रधान-तत्त्व है । इन दोनों तत्त्वों के परिवर्त्तों का ही नाम तदात्मक सम्वत्सर है, जैसा कि आगे स्पष्ट होने वाला है । इसी साम्वत्सरिक सृष्टिविज्ञान को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है—

(१)—"सोऽर्चञ्छ्राम्यंश्चचार प्रजाकामः । स आत्मन्येव प्रजातिमधत्त । स आस्येनैव देवानसृजत । ते देवा दिवमभिपद्यासृज्यन्त । तद्देवानां देवत्वं, यद्दिवमभिपद्यासृज्यन्त । तस्मै ससृजानाय दिवेवास । तद्वेव देवानां देवत्वं, यदस्मै ससृजानाय दिवेवास । अथ योऽयमवाङ्प्राणः, तेनासुरानसृजत ।

---

* "हेमन्तशिशिरयोः समासेन" । (श्रुतिः)

तऽइमामेव (दितिं) पृथिवीमभिपद्यासृज्यन्त । तस्मै ससृजानाय तम इवास ।
सोऽत्-पाप्मानं वाऽअसृक्षि, यस्मै मे ससृजानाय तम इवाभून्-इति ।
तांस्तत एव पाप्मनाविध्यत् । तत एव पराभवन्" ।

(शत० ११।१।६।७-८-६) ।

(२)—"स यद् स्मै देवान्त्ससृजानाय दिवेवास, तत्-'अहः' अकुरुत । अथ यदस्माऽअसुरान्त्ससृजानाय तम इवास, तां 'रात्रिं' अकुरुत । तेऽअहोरात्रे" ।

(शत० ११।१।६।११।) ।

(३)—"स ऐक्षत प्रजापतिः—सर्वं वाऽअत्सारिषं, य इमा देवता असृक्षीति, स सर्वत्सरोऽभवत् । सर्वत्सरो ह वै नामैतत्, यत् 'सम्वत्सर' इति । स यो हैवमेतत् सम्वत्सरस्य सर्वत्सरत्वं वेद, यो हैनं पाप्मा मायया त्सरति, न हैनं सोऽभिभवति । अथ यमभिचरति, अभि हैवैन भवति, य एवमेतत् सम्वत्सरस्य सर्वत्सरत्वं वेद" । (११।१।६।१२।) ।

* १-२-३ संख्याओं की श्रुतियों का अक्षरार्थ पृष्ठ सं० १८४ में प्रतिपादित है ।

सम्वत्सर प्रजापति का जो स्वरूप अब तक बतलाया गया है, वह तटस्थ लक्षण से ही प्रधान सम्बन्ध रखता है । अब इसके स्वरूपलक्षण का विचार आरम्भ होता है । सर्वसाधारण का यह प्रत्यय है कि, जिसके दिन-रात-शुक्ल-कृष्ण-पक्ष-द्वादश मास-षट्-ऋतुएँ-उत्तर-दक्षिण-अयन आदि पर्व हैं, वही 'वर्ष' नाम से प्रसिद्ध सम्वत्सर है । सर्वसाधारण की इस मान्यता का विरोध तो इसलिए नहीं किया जा सकता कि, आर्ष-विज्ञान ने चक्रात्मक सम्वत्सररूप से कालरूप (वर्षरूप) सम्वत्सर की भी 'भाति' स्वीकार की है । इसी दृष्टि से सम्वत्सर को हम 'चक्रात्मक-अग्न्यात्मक' अग्नीषोमात्मक) भेद से दो भागों में विभक्त कर सकते हैं । इनमें चक्रात्मक सम्वत्सर विशुद्ध भातिसिद्ध पदार्थ है । जिन्हें हम अपने व्यवहारकाण्ड में दिन-रात-पक्ष-मास-ऋतु-अयन-वर्ष कहते हैं—वे सब केवल भातिसिद्ध हैं, सत्तासिद्ध नहीं । २४ घन्टे का अहोरात्र होता है, १५ दिन का पक्ष, ३० दिन का मास, १२ मास का वर्ष, ये सब विभिन्न प्रतीतियाँ मात्र हैं । दूसरा अग्न्यात्मक सम्वत्सर विशुद्ध सत्तासिद्ध पदार्थ है, जिसका कि पूर्वप्रकरण में निरूपण हुआ है । इस सत्तासिद्ध सम्वत्सर के भी अहोरात्रादि पर्व हैं । परन्तु ये अहोरात्रादि तत्त्वात्मक हैं । अहः अग्नितत्त्व है, रात्रि सोमतत्त्व है । जितने समय में अहोरूप अग्नि का, रात्रिरूप सोम का भोग होता है, वह समय भी गौणविधि से अहः रात्रि नाम से व्यवहृत होने लग गया है । तात्पर्य्य यही हुआ कि, अहः-रात्रि-मास-पक्ष-सम्वत्सर-आदि शब्दों की मुख्य व्याप्ति तत्त्वरूप, सत्तासिद्ध अहोरात्रादि से सम्बन्ध रखती है । ये ही शब्द आगे जाकर व्यवहार-भाषा में गौणरूप से 'काल' वाचक भी बन गये हैं । एवं इसी कालदृष्टि से कालात्मक भातिसिद्ध सम्वत्सर का व्यवहार प्रचलित हो गया है ।

प्रजापति का सामान्य लक्षण है—'आत्मप्राणपशुसमष्टिः प्रजापतिः'। आत्मा पद है, प्राणमण्डल पुनःपद है। प्राण–आत्मगर्भित यथयावत् वस्तुभाव पशु हैं। पद उक्थ है, पुनःपद अर्क है, पशु अशीति है। सूर्य्यबिम्ब पदलक्षण आत्मा है, अर्क (रश्मि) रूप अग्निमण्डल (मण्डलात्मक अग्नि) पुनःपदलक्षण प्राण है, एवं अन्तरालवर्त्ती भाव अशीति (अन्न) लक्षण पशु हैं। भूपिण्ड पदलक्षण आत्मा है, पार्थिव अग्निमण्डल पुनःपदलक्षण प्राण है, मध्यस्थभाव अशीतिलक्षण पशु हैं। सौरसंस्था अग्न्यात्मक सौरसम्वत्सर-प्रजापति है, पार्थिवसंस्था अग्न्यात्मक पार्थिवसम्वत्सरप्रजापति है। मध्यस्था चान्द्रसंस्था सोमात्मक चान्द्रसम्वत्सर प्रजापति है। तीनों का परस्पर अतिमानसम्बन्ध है। इसी आधार पर प्रकरणारम्भ में हमने 'सम्वत्सर' शब्द को इन तीनों प्रजापतियों का संग्राहक मानते हुए ही प्रकृत प्रकरण की 'प्राजापत्यवेदमहिमा' का उपक्रम किया है।

महाकालमष्टिरूप भातिभाव पदलक्षण आत्मा है, भातिलक्षण कालमण्डल पुनःपदलक्षण प्राण है एवं कालावयवरूप अहः–पक्षादि अशीतिलक्षण पशु हैं। इस परिभाषा के अनुसार महाकालरूप चक्रात्मक सम्वत्सर, तथा अग्न्यात्मक सम्वत्सर, दोनों का ही प्रजापतित्व सिद्ध हो जाता है। अग्न्यात्मक सम्वत्सर त्रेधा विभक्त है, अतएव तदनुबन्धी चक्रात्मक सम्वत्सर की भी तीन ही संस्था हो जाती हैं। दोनों सम्वत्सरों को लक्ष्य में रखते हुए ही हमें प्राजापत्य वेदमहिमा का विचार करना है। प्रजापति अमृतमृत्युमय माने गए हैं। इस दृष्टि से अग्न्यात्मक तथा चक्रात्मक, दोनों सम्वत्सरों, के दो दो भेद हो जाते हैं। अवयवशून्य, समष्टिलक्षण अग्न्यात्मक सम्वत्सर अमृतलक्षण अग्न्यात्मक सम्वत्सर है। एवं अवयवयुक्त, खण्ड–खण्ड–लक्षण व्यष्ट्यात्मक अग्निसम्वत्सर मृत्युलक्षण है। अमृतसम्वत्सर अविनाशी है, मर्त्यसम्वत्सर परिवर्त्तनशील है, विपरिणामी है। एवमेव अखण्डकालात्मक, महाकालस्वरूप चक्रसम्वत्सर अमृतप्रधान है, एवं युग–सम्वत्सर–अयन–मासादि खण्डभावरूप, खण्डकालात्मक चक्रसम्वत्सर मृत्युप्रधान है।

अमृतमृत्युमय अग्निसम्वत्सर, एवं अमृतमृत्युमय चक्रसम्वत्सर दोनों समतुलित हैं। जैसा, जो कुछ अवयवविभाग अग्न्यात्मक सम्वत्सर में हैं, ठीक वैसा वही अवयवविभाग चक्रात्मक संवत्सर में है। इस समान मर्य्यादा का परिणाम यह हुआ है कि, समय (काल) और तदवच्छिन्न वस्तुतत्त्व (अग्नि) दोनों के लिए लोक में अभेद व्यवहार प्रचलित हो गया है। 'समय में समय पर वस्तु उत्पन्न होती है', इसके साथ साथ 'समय ही सबका उत्पादक है' यह व्यवहार भी देखा गया है। 'कालः सृजति भूतानि, कालः संहरते प्रजाः' इत्यादि श्रुति भी इसी व्यवहार का समर्थन कर रही है। परन्तु पदार्थक्रिया का विचार करते हुए हमें यह विवेक कर लेना चाहिए कि, पदार्थों का उपादान-द्रव्य सदा अग्न्यात्मक संवत्सर ही बना करता है, जो कि व्यवहारसौकर्य्य के लिए कालात्मक सम्वत्सर के द्वारा अभिनय में आता है।

क्रान्तिवृत्त भूपरिभ्रमणवृत्त है। क्रान्तिवृत्त के मध्य में बृहतीछन्दो नामक विष्वद्वृत्त पर सूर्य्य प्रतिष्ठित है। इस पार्थिव परिभ्रमणमण्डल का ही नाम 'चक्रात्मक' (कालात्मक) संवत्सर है। एवं इस क्रान्तिवृत्तावच्छिन्न मण्डल में व्याप्त अग्नितत्त्व ही अग्न्यात्मक सम्वत्सर है। इस संवत्सराग्नि का भोग कालात्मक संवत्सर में ही होता है। कालात्मक संवत्सरचक्र के १–युग, २–संवत्सर, ३–अयन, ४–मास, ५–पक्ष, ६–अहोरात्र, ७–मुहूर्त्त, ये सात विवर्त्त होते हैं, वहाँ अग्न्यात्मक संवत्सर के भी 'सप्त पुत्रासो अदितेर्य जातास्तन्वस्परि' के अनुसार सात ही विवर्त्त माने गए हैं।

अग्न्यात्मक 'संवत्सर' स्व मात्रा को प्रजामर्गवितान में व्यय करने से 'संवत्सर' कहलाया है, जैसाकि—'सर्वं वा अत्सारिषं, सर्वत्सरं ह वै सम्वत्सरमित्याचक्षते परोक्षेण' इत्यादि रूप से पूर्व में बतलाया जा चुका है। इधर चक्रात्मक संवत्सर किसी अन्य दृष्टि से संवत्सर कहलाया है। भातिसिद्ध इस कालात्मक संवत्सर में—'सर्वं वा अत्सारिषम्' इस निर्वचन का सम्बन्ध नहीं बैठता। अतएव इसका निर्वचन होगा—'सर्वतः त्सरन्-गच्छति-तस्मात् सर्वत्सरम्। सर्वत्सरं ह वै सम्वत्सरमित्याचक्षते परोक्षेण'। जिस चक्रात्मक क्रान्तिवृत्त पर भूपिण्ड परिक्रमा लगाता है, वह क्रान्तिवृत्त वास्तव में सर्वत्सर है। न केवल क्रान्तिवृत्त ही, अपितु संसार के वृत्तमात्र ही सर्वत्सर हैं। बिन्दुमात्र की कुटिलता से ही 'वृत्त' भाव का उदय होता है। किसी वृत्त को सामने रख कर उसकी वर्त्तुलता का विचार कीजिए। आप देखेंगे कि, वृत्त की जितनी भी बिन्दुएँ (प्वाइन्ट) हैं, प्रत्येक ऋजुमार्ग (सीधा मार्ग) का आश्रय न लेकर त्सरगति (छद्मगति-कुटिलगति) का आश्रय लिए हुए हैं। इसी छद्मता से वर्त्तुल के वर्त्तुलभाव का उदय हुआ है। भूपिण्ड एक बिन्दु से चला। जिस बिन्दु से भूपिण्ड चला, उसे उस प्रदेश से सर्वथा ऋजु (एकदम सीधे) मार्ग की ओर जाना चाहिए था। परन्तु ऐसा नहीं होता। मध्यस्थ सौरइन्द्रात्मक * यज्ञाकर्षण से भूपिण्ड को वक्रगति का ही आश्रय लेना पड़ता है। जहाँ से भूपिण्ड वक्र बना, वहाँ से सीधा न जाकर पुनः वक्र हो जाता है। इस प्रकार अथ से इति पर्य्यन्त सम्पूर्ण वृत्त वक्रगति से युक्त हो रहा है। इस सर्वतः त्सर भाव ('त्सर' छद्मगतौ) से ही पार्थिव परिभ्रमणमण्डल वर्त्तुल बन रहा है, जैसाकि मध्यस्थ परिलेखों से स्पष्ट है—

निर्दिष्ट सम्वत्सरत्रयीपरिलेखों में पाठक देखेंगे कि, सौरसम्वत्सर विशुद्ध ज्योतिर्म्मय है। इसमें तमोमय आसुर प्राण का अभाव है। आसुर प्राण का उद्गम केवल पार्थिव सम्वत्सर में ही होता है। जिस पार्थिव प्राण को प्रजापति का अवाङ् प्राण (अपान प्राण) बतलाया है, वही दितिपृथिवी में प्रतिष्ठित रहता हुआ आसुर प्राण का प्रवर्त्तक बनता है, जैसा कि—"योऽयमवाङ् प्राणः, तेनासुरानसृजत. त इमामेव पृथिवीमभिपद्यासृज्यन्त तस्मै ससृजानाय तम इवास" (शत० ११।१।६।८) इत्यादि पूर्व श्रुति में स्पष्ट किया जा चुका है। इस आसुर प्राण का सब से बड़ा पराभव यही है कि, इसे न तो सौर ज्योतिर्म्मय सम्वत्सर मण्डल में ही प्रवेश करने का अधिकार मिलता, एवं न यह अदितिमण्डलात्मक पार्थिव सम्वत्सर में ही प्रवेश पा सकता। यही लक्ष्य में रख कर कहा गया है "तान् प्रजापतिः पाप्मनाविध्यत्। ते तत एव पराभवन्' (शत० ११।१।६।९।)।

श्रुतियों में जहाँ देवासुर की प्रतिस्पर्द्धा का वर्णन आता है, उसका एकमात्र पार्थिव सम्वत्सरमण्डल से ही सम्बन्ध है। पार्थिव सम्वत्सर में ही अहोरात्र विभाग हैं, यहीं अदिति-दितिमूलक ज्योतिस्तमोलक्षण देवासुरों का साम्राज्य है। सौर मघवेन्द्र के साथ तो आसुर प्राण की स्पर्द्धा हो ही नहीं सकती। कारण वहाँ तम का आत्यन्तिक अभाव है। वस्तुतस्तु पार्थिव सम्वत्सर में भी आसुर प्राण का समावेश एक प्रकार से अवरुद्ध ही है। हाँ पृथिवी के घूमने से यहाँ देवासुर में प्रतिस्पर्द्धा अवश्य ही होती रहती है। इसी प्राकृतिक

---

* यया इन्द्रमवर्द्धयत, यद्भूमिं व्यवर्त्तयत्।
चक्राण ओपशं दिवि। (ऋक्सं०८।१४।५।)।

स्थिति को लक्ष्य में रख कर (सौरसम्वत्सरावच्छिन्न मघवा नामक दिव्येन्द्र की अपेक्षा से) श्रुति ने कहा कहा है—

तस्मादेतद् ऋषिणाभ्यनूक्तं—

न त्वं युयुत्से कतमच्चनाहर्न तेऽमित्रो मघवन् कश्चनास्ति ।
मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं न पुरा युयुत्से- इति ॥
(शत० ११।१।६।१०।) ।

पाठकों को स्मरण होगा कि, सम्वत्सरप्रकरण का आरम्भ करते हुए हमनें सम्वत्सराग्नि के 'वाम-मध्यम-घृतपृष्ठ' नामक तीन विवर्त बतलाए थे । इसके अनन्तर अग्नितत्त्व के मूलान्वेषण के प्रसङ्ग में हमें स्वायम्भुवाग्निसम्बन्धी सृष्टिप्रक्रियाओं का दिग्दर्शन कराना पड़ा । स्वायम्भुवाग्नि- सम्बन्ध से तदनुबन्धी वेदविवर्त्तों का स्वरूप बतलाना पड़ा । आगे जाकर प्रसङ्गवश 'मण्डूक-वेतस-अवका' के तात्त्विक स्वरूप का विवेचन करना पड़ा । तत्पश्चात् आरम्भ में प्रतिज्ञात वामादि तीन साम्वत्सरिक अग्नियों का 'अग्निभ्रातरः' रूप से सिंहावलोकन हुआ । 'अग्निभ्रातरः' के स्वरूप-प्रसङ्ग से प्राजापत्य व्याहृतियों का निरूपण करते हुए अन्त में पूर्वोक्त सम्वत्सरप्रजापति पर आकर पुनः उन्हीं 'अग्निभ्राताओं' की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करने की आवश्यकता प्रतीत हुई ।

प्रकृत प्रकरण का मुख्य उद्देश्य है—'प्राजापत्यवेदमहिमा' स्वरूप दिग्दर्शन । इस वेदमहिमा का 'अहोरात्र' से सम्बन्ध रखने वाले बृहतीभावों से सम्बन्ध है । उधर अहोरात्रलक्षण प्रजापति एकमात्र 'पार्थिवसम्वत्सर' प्रजापति ही है । अतएव इस प्रकरण में प्रजापति शब्द से उस सम्वत्सरप्रजापति का ही ग्रहण किया जायगा, जिसकी मूलप्रतिष्ठा भूकेन्द्रस्थ अन्नादाग्नि है, जो कि अन्नादाग्नि नामक सौर अग्नि का प्रवर्ग्यांश है ।

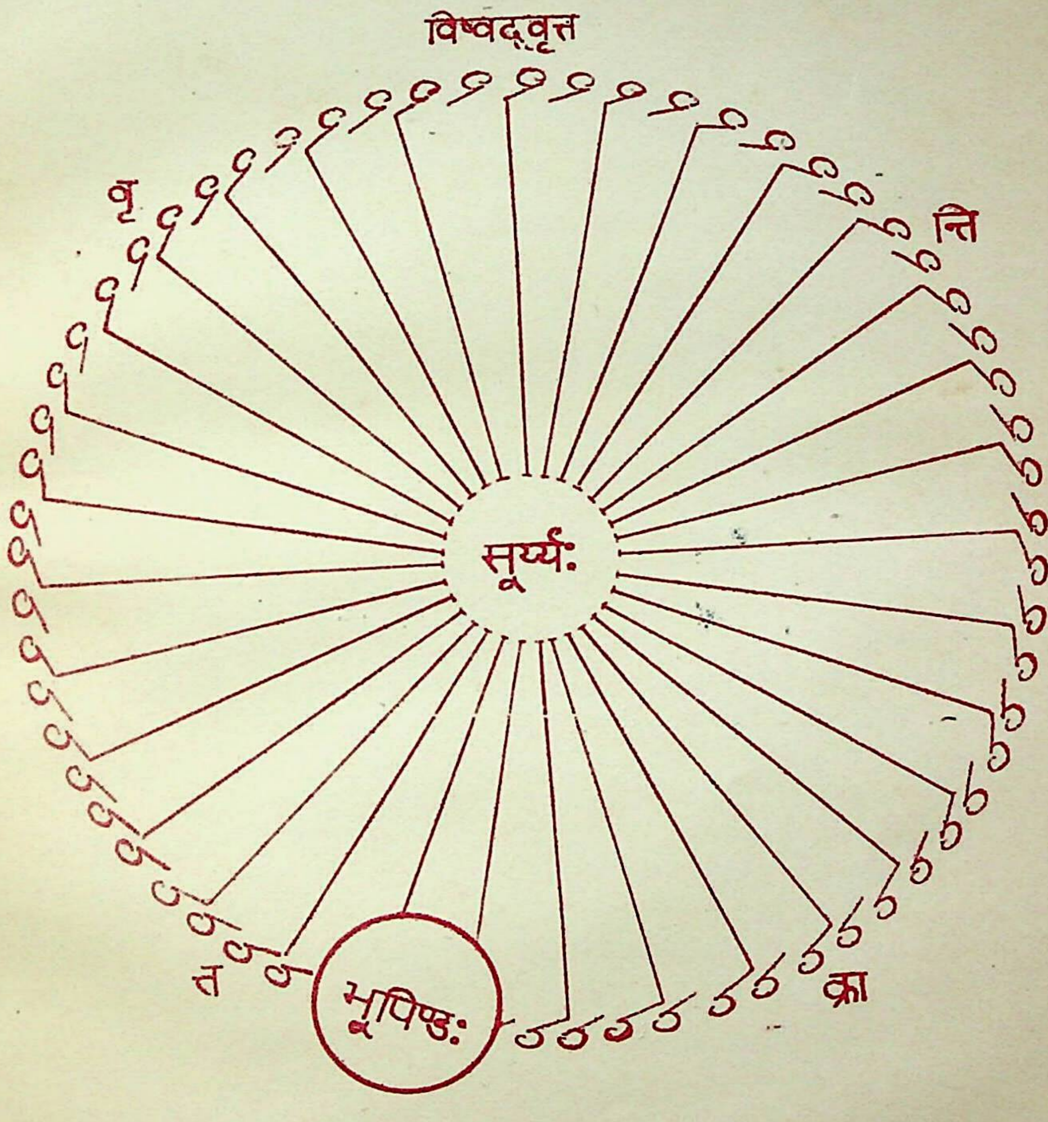
सम्पूर्ण सम्वत्सरप्रजापति के त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंश भेद से तीन पर्व हैं । तीनों पर्वों में क्रमशः अग्नि-वायु-आदित्य प्रतिष्ठित हैं । तीनों से क्रमशः ऋक्-यजुः-साम वेदों का प्रादुर्भाव हुआ है । इनमें ऋग्वेद छन्दोवेद है, यजुर्वेद रसवेद है, सामवेद वितानवेद है । छन्दोवितानरसलक्षणा यह देवतामयी त्रयीविद्या ही स्वकर्म्म के द्वारा पार्थिवयज्ञ की प्रतिष्ठा बनी हुई है । इसी पार्थिव यज्ञ के सम्बन्ध से इस पार्थिव साम्वत्सरिक वेद को 'यज्ञमात्रकवेद' कहना अन्वर्थ बनता है । यही प्राजापत्यवेद है, जिसकी कि महिमा प्रकृत में मीमांस्य है ।

भूपृष्ठ से आरम्भ कर २१ स्तोम पर्य्यन्त एकरसरूप से व्याप्त सम्वत्सराग्नि को पिता मानिए । इस एक धरातल पर प्रतिष्ठित सम्वत्सराग्निको अंशरूप अग्नि-वायु-आदित्य देवताओं को पुत्र मानिए । इन्हीं तीनों लोकाग्नियों को हम 'अग्निभ्रातरः' कहेंगे । इन तीनों भ्राताओं का एकमात्र उसी वामाग्नि पर पर्य्यवसान मानना पड़ेगा, जिसे कि हमने 'अन्नादाग्नि' कहा है, जो कि परम्परया पुरातन बनता हुआ 'पलितवाम' नाम से प्रसिद्ध है । इस पलितवाम को ही हम प्रथम अग्नि कहेंगे, इसे ही रुद्र कहेंगे, जो व्यवहारभाषा मे कनिष्ठ देवता बनता हुआ भी स्ववितान-महिमा से 'महान्-देव' (महादेव) बन रहा है । यही वामाग्नि होता है, यही ऋङ्मय है, यही पार्थिवयज्ञ के हौत्र कर्म्म का संचालक है । इसकी दूसरी अवस्था

(१८४, तथा १८५ के मध्य में)

(२)-सर्वत्सरात्मक-सम्वत्सरमण्डलपरिलेखः—

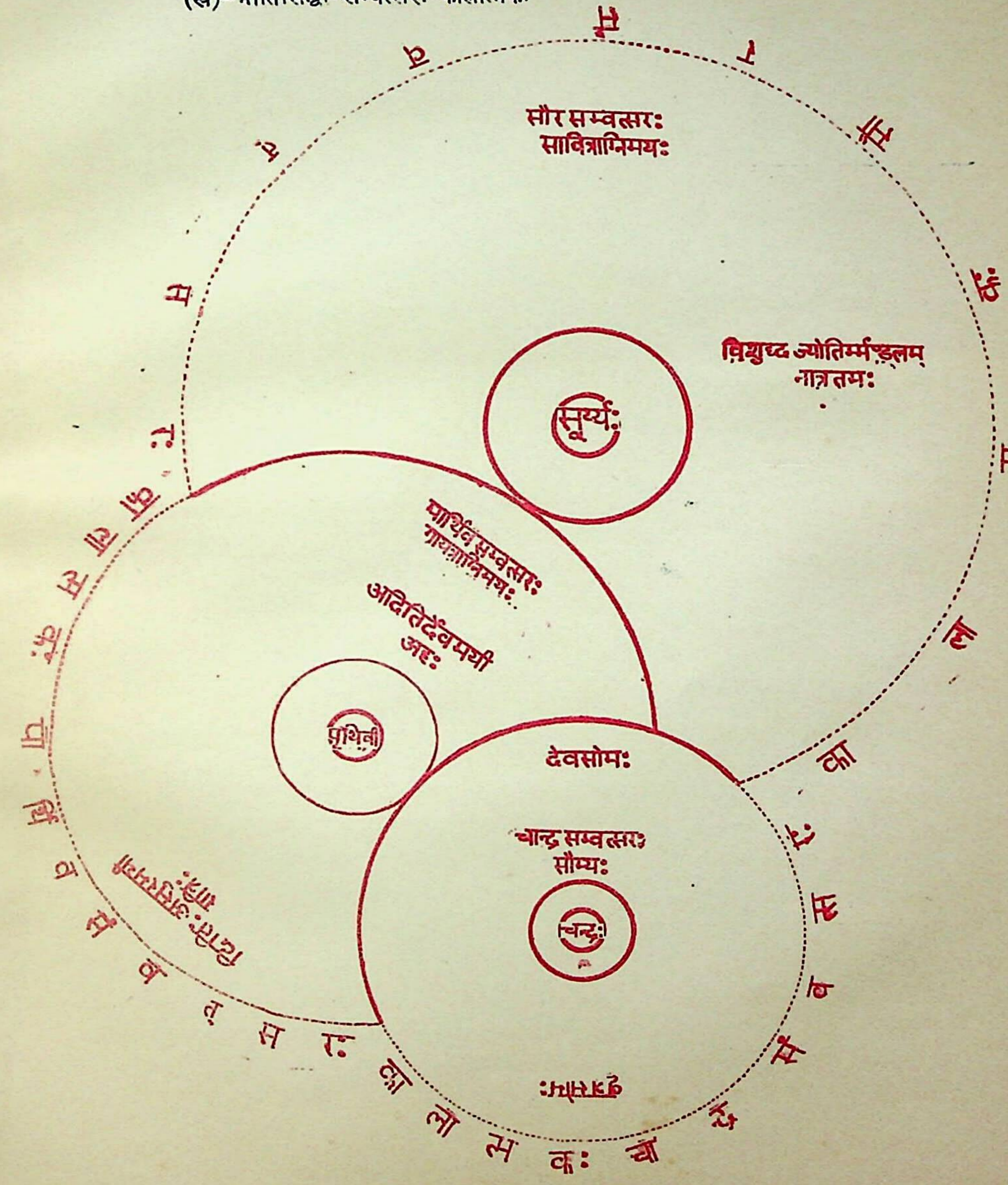
(चक्रसम्वत्सरप्रतिकृतिरियम्)



(३)--अग्न्यात्मक--कालात्मक--सम्वत्सरचक्र--त्रयी--स्वरूपपरिलेखः—

(क)-सत्तासिद्धः-सम्वत्सरः अग्न्यात्मकः

(ख)-भातिसिद्धः-सम्वत्सरः-कालात्मकः



'अश्नः' नामक मध्यम भ्राता है। पञ्चदशस्तोमोपलक्षित अन्तरिक्ष को अपनी प्रधान प्रतिष्ठा बनाकर स्वगति-धर्म्म से त्रैलोक्य में व्याप्त (संचरण) रहने से ही यह आन्तरिक्ष्य वायुमूर्त्ति मध्यम भ्राता 'अश्नः' कहलाया है। यही मध्यम भ्राता यजुर्म्मय है, आध्वर्य्यव कर्म्म का प्रवर्तक है। वामहोता का तीसरा भ्राता 'घृतपृष्ठ' नाम से प्रसिद्ध है। अप्तत्त्व ही घृत है, जैसा कि—'आदिद्घृतेन पृथिवी व्युद्यते' (ऋक् सं० १।१६४।४७) इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। जिस प्रकार सौर अग्नि पारमेष्ठ्य सरस्वान् समुद्र से परितः घिरा हुआ है, एवंमेव यह पार्थिवाग्निसम्वत्सर 'अर्णव' नामक रोदसी समुद्र से परितः आवृत है। क्योंकि अग्नि-वायु-आदित्य तीनों भ्राताओं में आदित्य भ्राता के साथ ही अर्णव समुद्र का सम्पर्क है, अतः इसे ही 'घृतपृष्ठ' (पानी है पृष्ठ में जिसके) कहना अन्वर्थ बनता है। इसी तृतीय भ्राता के आगे जाकर विश्पाते नामक दक्ष-प्रजापति की कन्या अदिति के द्वारा कश्यप से सात पुत्रों का आविर्भाव होता है, जिन्हें कि 'पश्यन्ति सप्तं सर्वे' के अनुसार इस पृथिवी पर बैठे बैठे हम देखा करते हैं। सम्वत्सरत्रिलोकीरूपा महापृथिवी (यज्ञिय पृथिवी) चारों ओर से घृत (पानी-अर्णवसमुद्र) से आवृत है, इस सम्बन्ध में निम्नलिखित वचनों पर दृष्टि डालनी चाहिए—

१—"यत् पर्य्यपश्यत् सरिरस्य मध्ये उर्वीमपश्यज्जगतः प्रतिष्ठाम्।
तत् पुष्करस्यायतनाद्धि जातं पर्णं पृथिव्याः प्रथनं हरामि॥"
(तै० ब्रा० १।२।१।)।

२—आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन्—गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्।
(ऋक्सं० १०।१२१।७।)।

३—अपांपृष्ठमसि योनिरग्नेः समुद्रमभितः पिन्वमानम्।
वर्द्धमानो महाँ आ च पुष्करे दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथस्व"।
(यजुःसं० ११।२६।)।

४—"अयं वै लोको गार्हपत्यः, आपः परिश्रितः। इमं तं लोकमद्भिः परितनोति। समुद्रेण हैनं तत्परितनोति सर्वतः। तस्मादिमं लोकं सर्वतः समुद्रः पर्य्येति" (शत० ७।१।१।१३।)।

घृतपृष्ठ नामक यह तृतीय भ्राता ही आदित्य है। यही साममय बनता हुआ पार्थिव यज्ञ का उद्गाता है, एवं यही औद्गात्रकर्म्म का सञ्चालक है। इस प्रकार पलितवाम, अश्न, घृतपृष्ठ, नामक उपनामों से प्रसिद्ध, *अग्नि-वायु-आदित्य नामक ऋङ्मय, यजुर्म्मय, साममय, होता-अध्वर्यु-उद्गाता-लक्षण,

*अग्नि-वायु-रविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्॥ (मनुः)

हौत्र-आध्वर्य्यव-औद्गात्रकर्म्म के द्वारा पार्थिव सम्वत्सरयज्ञ के स्वरूपसम्पादक ये तीनों 'अग्निभ्राता' हीं पार्थिव-स्तौम्य त्रिलोकी के सर्वेसर्वा बन रहे हैं। सम्वत्सरस्वरूपमूर्त्ति इन्हीं अग्निभ्राताओं का स्वरूप बतलाते हुए निम्नलिखित ऋङ्मन्त्र पाठकों के सम्मुख उपस्थित हो रहे हैं—

१–अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्॥
(ऋक्सं० १।१६४।१)।

२–अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय।
युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुघा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः॥
(ऋक्सं० ५।६०।५)।

३–अग्निं मन्ये पितरमग्निमापिमग्निं भ्रातरं सदमित् सखायम्।
अग्नेरनीकं बृहतः सपर्य्यं दिवि शुक्रं यजतं सूर्य्यस्य॥
(ऋक्सं० १०।७।३)।

४–अग्नेः पूर्वे भ्रातरो अर्थमेतं रथीवाध्वानमन्वावरीवुः।
तस्माद्भिया वरुण दूरमायं गौरो न क्षेप्नोरविजे ज्यायाः॥
(ऋक्सं० १०।५१।६)।

परिच्छेदारम्भ से अब तक के कथन का निष्कर्ष यह निकला कि, महाविश्ववेदात्मिका, संयती–क्रन्दसी–रोदसीत्रिलोकीरूपा मही प्रतिष्ठा के अन्त में प्रतिष्ठित रोदसीत्रिलोकी ही प्राजापत्यवेद की मूलप्रतिष्ठा है। रोदसीत्रिलोकी का पार्थिव विवर्त्त ही अन्नादाग्निविवर्त्त है। अन्नादाग्नि ही प्रजापति है। त्रिवृत्–पञ्चदश–एकविंशस्तोमात्मिका यज्ञिया पृथिवी, अग्नि–वायु–आदित्यात्मक यज्ञिय देवता, छन्दः–रस–वितानात्मक यज्ञियवेद ही इस प्रजापति की महिमा हैं। चक्र (काल) अग्नि (वस्तुतत्त्व) भेद से इस सम्वत्सरप्रजापति के दो विवर्त्त हैं, एवं दोनों विवर्त्त अभेदरूपेण व्यवहार में आए हुए हैं। कालात्मक चक्रसम्वत्सरावच्छिन्न तत्त्वात्मक अग्निसम्वत्सर का यही संक्षिप्त स्वरूप निदर्शन है। अब आगे के परिच्छेदों में इस संवत्सराग्नि की चिति-(चयन)-प्रक्रिया से सम्बन्ध रखने वाली वेदमहिमा का ही संक्षिप्त स्वरूप पाठकों के सम्मुख उपस्थित हो रहा है।

१३–सुत्या एवं–चित्यः–कर्म्म

सचमुच यह एक आश्चर्य्यमयी घटना है कि, जो हिरण्मयाण्ड (सौर अग्नि) भूगर्भ में आकर भूलोकात्मिका (प्रवर्ग्यरूप से) पार्थिव–संस्था का आत्मा बनता हुआ आरम्भ में केवल 'प्रजापति' नाम से व्यवहृत हुआ था, वही आगे जाकर त्रैलोक्य में वितत होता हुआ 'अग्निभ्रातरः' नाम का पात्र बन गया, एवं

सर्वान्त में काल (चक्र) सम्वत्सरावच्छिन्न 'अग्निसम्वत्सर' रूप में परिणत होकर आज पार्थिव प्रजा का सर्वस्व बन रहा है। वह ऐसी कौनसी प्रक्रिया थी, जिसके प्रभाव से गर्भाग्नि 'सम्वत्सराग्नि' बन गया?, वह कौनसा उत्कृष्ट पथ था, जिसके अनुगमन से प्रजापति त्रैलोक्य में व्याप्त हो गए?, वह कौनसा यज्ञविधान था, जिसके अनुष्ठान से प्राजापत्याग्नि सम्वत्सराग्नि (त्रैलोक्याग्नि) रूप में परिणत हो गया? । हम देखते हैं कि, पूर्व प्रतिपादित इन सब आश्चर्यमयी घटनाओं का समाधान पूर्वप्रतिपादित 'सम्वत्सर' स्वरूपपरिचय से गतार्थ नहीं हो रहा। इसलिए यह आवश्यक हुआ कि, सम्वत्सराग्नि के इस आश्चर्य्यमय व्याप्तिरहस्य को व्यक्त करने के लिए उस 'अग्निरहस्य' का आश्रय लिया जाय जिसके परिज्ञान से ब्राह्मण- वर्ण का ब्राह्मणत्व अन्वर्थ बना करता है, एवं जिसके ज्ञाता को आर्यप्रजा 'साग्निः' जैसे सर्वोच्च सम्मान से सम्मानित करती है। इसी अग्निरहस्य के स्पष्टीकरण के लिए संक्षेप से 'अग्निचिति' का स्वरूप पाठकों के सम्मुख रक्खा जाता है। आशा है, वे कृपा कर थोड़े विशेष अवधान से निम्न लिखित प्रकरण पर ध्यान देने का अनुग्रह करेंगे—

प्रजोत्पादक यज्ञकर्म्म को वैज्ञानिकों नें 'सुत्या–चित्या' भेद से दो भागों में विभक्त किया है। सुत्यात्मक यज्ञकर्म्म 'सवन' नाम से प्रसिद्ध है, एवं चित्यात्मक यज्ञकर्म्म 'चयन' नाम से प्रसिद्ध है। तेजः-स्नेहेतत्त्वों के रासायनिक मिश्रण से 'सुत्या' लक्षण 'सवन' का स्वरूप सम्पन्न होता है, एवं तेजोभावों की संचिति (संघात-समष्टि) से चित्यालक्षण 'चयन' की स्वरूपनिष्पत्ति होती है। अन्न-अन्नाद का अन्तर्य्याम योग सवनयज्ञ है, अन्नादभावों की चिति चयनकर्म्म है। सोमाग्नि के समन्वय से 'सवन' होता है, अग्नि-अग्नि के संघात से 'चयन' होता है। अग्नीषोमात्मक मिश्रण सवन है, अग्नियज्ञ चयन है। एवं सवन, तथा चयन की ये ही कुछ एक सामान्य परिभाषाएँ हैं, जिन के आधार पर सुत्या–चित्या–कर्म्म व्यवस्थित हुए हैं।

जब अग्नि में सोम सुत (आहुत) होता है, तो वह (सोम) अपने अन्नधर्म्म से अन्नादलक्षण अग्नि के रूप में ही परिणत हो जाता है। अग्नि में हुत सोम क्योंकि अग्निरूप में परिणत हो जाता है, अतएव उसकी अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती। यही कारण है कि, अग्नीषोमात्मक इस सवनकर्म्म से यज्ञ-प्रजापति के आयतन की वृद्धि नहीं होती। उदाहरण के लिए मनुष्य की उस अवस्था को सामने रखिए, जिसमें चयनकर्म्म समाप्त हो जाता है, एवं केवल जीवनोपयिक सवनकर्म्म प्रक्रान्त रहता है। जब तक चयन कर्म्म प्रक्रान्त रहता है, तब तक तो अस्थि-मांस–मज्जा आदि शारीर धातुओं के आयतन में वृद्धि होती रहती है। युवावस्था की चरमता पर यह वृद्धि रुक जाती है। इसका एकमात्र कारण यही है कि, इस अवस्था में आकर आयतनवर्द्धक अग्निलक्षण चयन कर्म्म बन्द हो जाता है। अग्नि स्वयं अन्नाद है। यह अन्न सोम को तो अवश्य ही आत्मसात् कर सकता है, परन्तु अन्नादाग्नि को आत्मसात् नहीं कर सकता। समानजातीय इष्टकाओं (ईंटों) को जब ऊपर नीचे रक्खा जाता है, तो एक दीवाल खड़ी हो जाती है। ईंटें परस्पर में एक-दूसरी ईंट का निगरण नहीं कर सकतीं। ठीक इसी भाँति जब एक अग्नि के साथ इतर अग्नि का सम्बन्ध होता है, तो प्रथमाग्नि की आयतनवृद्धि हो जाती है। क्योंकि स्वयं अग्नि एक अग्नि को आत्मसात् (हजम) नहीं कर सकता। आरम्भ से २५ वर्ष तक चितिलक्षण इसी अग्निकर्म्म (अग्निचयन) का प्राधान्य रहता है, अतएव यहाँ तक (२५ तक) आयतन वृद्धि होती है। प्रश्न हो सकता है कि, २५ तक ही क्यों अग्निचयन की प्रधानता रहती है?, उत्तर इन्द्राविष्णू की प्रतिस्पर्द्धा है।

अध्यात्मसंस्था के संचालक 'इन्द्र-विष्णु' नामक दो देवता माने गए हैं। इन दोनों की मूलप्रतिष्ठा ब्रह्माक्षर है। स्थितिलक्षण ब्रह्माक्षर पर प्रतिष्ठित गतिलक्षण इन्द्र तथा आगतिलक्षण विष्णु की प्रतिस्पर्द्धा से आध्यात्मिक यज्ञ की उद्ग्राभ-उदगीथ-निग्राभ-पलित, भेद से चार अवस्था हो जातीं हैं। जीवन के १०० वर्षों को २५ के क्रम से चार भागों में विभक्त कर दीजिए। इन चारों में क्रमशः इन चारों अवस्थाओं का भोग हो रहा है। आरम्भ की पञ्चविंशति में आदानलक्षण विष्णु सबल रहते हैं, विसर्गलक्षण इन्द्र निर्बल रहते हैं। अतएव शारीराग्नि को बाहिर निकलने का अवसर बहुत कम मिलता है। अतएव २५ तक अग्नि उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है, यही आयतनवृद्धि का मुख्य कारण है। यही आध्यात्मिक यज्ञ की उद्ग्राभावस्था (चढ़ाव) है। आगे जाकर ५० तक इन्द्राविष्णू दोनों का समान बल रह जाता है। जितनी आमद, उतना खर्च। न बलवृद्धि, न बलह्रास, किन्तु समानभाव। यही उद्गीथावस्था है। ५० से ७५ तक इन्द्र बलवान् बन जाते हैं, विष्णु निर्बल हो जाते हैं। फलतः आय की अपेक्षा व्यय अधिक होने लगता है। फलतः शक्तियाँ क्षीण होने लगतीं हैं। यही निग्राभावस्था (उतार) है! ७५ से आगे विष्णु एकान्ततः प्रतिमूर्च्छित हो जाते हैं। रुद्रात्मक पलितवाम (रुद्राग्नियुक्त इन्द्र) का साम्राज्य हो जाता है। यही चौथी पालितावस्था है।

१४-पांक्तो वै यज्ञः—

तात्पर्य्य कहने का यही है, कि आध्यात्मिक यज्ञ में जब तक सवन के साथ साथ अग्निचयन होता रहता है, तब तक तो आयतनवृद्धि होती रहती है। एवं जब चयनप्रक्रिया उपरत हो जाती है, तो आयतनवृद्धि रुक जाती है। अन्नात्मक जितनी, जो सोमाहुति अन्नादात्मक शारीराग्नि में आहुत होती है, उसका अग्नि में (अग्निस्वरूप की रक्षामात्र में) आत्मसमर्पण हो जाता है। चयनकर्म्म में अग्नि की प्रधानता है, अतएव इस प्रक्रिया को "अग्नियज्ञ" कहा जाता है। सवनकर्म्म में सोमाहुति का प्राधान्य है, अतएव इसे 'सोमयाग' नाम से व्यवहृत किया है, जो कि यज्ञपरिभाषा में 'ज्योतिष्टोम' नाम से भी प्रसिद्ध है। ज्योतिष्टोमयज्ञ अग्नियज्ञ का उपकारक बनता है। सच पूछिए तो ज्योतिष्टोम ही अग्नियज्ञ की प्रतिष्ठाभूमि बनता है। यही कारण है कि, सुप्रसिद्ध वैध चयनयज्ञ में ज्योतिष्टोम का भी अनुगमन करना पड़ता है, जैसा कि ब्राह्मणग्रन्थप्रतिपादित पद्धतियों से स्पष्ट है। स्वयं सम्वत्सरयज्ञ अग्नि की अपेक्षा से अग्नियज्ञ बनता हुआ सोमाहुति की दृष्टि से ज्योतिष्टोम भी बन रहा है। इसलिए सम्वत्सर को 'ज्योतिष्टोम' नाम से भी व्यवहृत कर दिया गया है। ज्योतिष्टोम यज्ञ में 'अग्नि-सोम' दोनों का समन्वय है। अग्नि ज्योति है, सोम तम है। इन दोनों तत्त्वों के समन्वय से सम्वत्सर के गर्भ में अयन-ऋतु-पक्ष-अहोरात्र-भेद से चार अवान्तर यज्ञों का प्रादुर्भाव हो जाता है। अहः अग्निप्रधान है, रात्रि सोमप्रधाना है, दोनों के समन्वय से ही 'अग्निहोत्र' का विकास होता है। पक्षयज्ञ 'दर्श-पूर्णमास' नाम से प्रसिद्ध है। ऋतुयज्ञ 'चातुर्मास्य' नाम से, एवं अयन 'पशुबन्ध' नाम से प्रसिद्ध है। अग्निहोत्रलक्षण अहोरात्रयज्ञ से दर्शपूर्णमासलक्षण पक्षयज्ञ का, पक्षयज्ञ से ऋतुयज्ञ का, ऋतुयज्ञ से अयनयज्ञ का स्वरूप सम्पन्न होता है। इन चारों के समन्वय से अग्नीषोमात्मक सम्वत्सरयज्ञ (ज्योतिष्टोम) की स्वरूपनिष्पत्ति हुई है। क्योंकि बिना उन चारों के सम्वत्सर की स्वरूपनिष्पत्ति असम्भव है, अतएव उन चारों को 'प्राकृसौमिक' कहा जाता है। इन प्राकृसौमिक अग्निहोत्रादि के समन्वय से कृतरूप सम्वत्सरयज्ञ पाङ्क्त

(सम्वत्सर[1]–अयन[2]–ऋतु[3]–पक्ष[4]–अहोरात्र[5]–भेद से) पञ्चावयव बन जाता है । इसी साम्वत्सरिक, अग्नीषोमात्मक, सुत्यालक्षण, सवनयज्ञ के लिए "पाङ्क्तो वै यज्ञः" यह कहा गया है ।

पाङ्क्त सोमयज्ञ के अतिरिक्त विशुद्ध अग्निचिति से सम्बन्ध रखने वाला अग्नियज्ञ भी इसी सम्वत्सरप्रजापति का स्वरूपसमर्पक बन रहा है । सोमयज्ञ में जैसे अग्निहोत्रादि पाँच पर्व हैं, एवमेव इस अग्नियज्ञ में पाँच चितियाँ होतीं हैं, जैसाकि वेदमहिमाप्रकरण में ही स्पष्ट होने वाला है । सोमयज्ञरूप सवनकर्म्म से सम्वत्सर-स्वरूप की रक्षा हो रही है, अग्नियज्ञरूप चयनकर्म्म से सम्वत्सराग्नि की आयतन-वृद्धि हुई है । केन्द्रस्थ प्राजापत्याग्नि कैसे द्युलोक तक फैल गया ?, इस प्रश्न का समाधान इसी चयन कर्म्म पर अवलम्बित है, जोकि चयनकर्म्म सृष्टिविद्या का महामूलस्तम्भ माना गया है ।

जिस चयनकर्म्म से केन्द्रस्थ प्राजापत्य अग्नि एकविंशस्तोम तक व्याप्त हो रहा है, उस चयनकर्म्म का क्रमबद्ध निरूपण न तो यहाँ सम्भव ही, एवं न उपयोग ही । प्रकृत में केवल वही अंश निरूपणीय होगा, जिसका कि वेदमहिमा से विशेष सम्बन्ध रहेगा । भवननिर्म्माणप्रक्रिया का जैसा स्वरूप है, ठीक वही स्वरूप इस चयनयज्ञ का है । इसमें भी प्राकृतिक (आधिदैविक) नित्य चयनयज्ञ के आधार पर वितत होने वाले विकृतिलक्षण वैध (मनुष्यकृत) चयनयज्ञ की भवनप्रक्रिया से सर्वथा समतुलन हो रहा है । भवन-निर्म्माणप्रक्रिया में जो जो उपकरण काम में लिए जाते हैं, वे सब उपकरण यहां ज्यों के त्यों संगृहीत हैं । शिल्पी (कारीगर), ईंटें, गारा (चूना–मिट्टी), करणी (चूना लगाने का साधनभूत औजार), आदि का ठीक ठीक यहाँ भी समन्वय हो रहा है । जिस प्रकार भवनार्थ संगृहीत ईंटों में (ईंटों के परस्पर के ग्रन्थिबन्धन के लिए) विशेष प्रकार के चिन्ह (गड्ढा) अङ्कित रहते हैं, एवमेव चयनयज्ञ में संगृहीत इष्टकाओं में भी विशेष चिह्न अङ्कित रहते हैं । चूना गारे के स्थान में 'पुरीष' काम में लिया जाता है । पुरुष–अश्व–गो–अवि–अज, इन पाँच प्राकृतिक अमृतप्राणों के संग्रह के लिए प्राणप्रधान पाँचों प्राणियों का आलम्भन होता है । इनके मस्तक तो सुरक्षित रख दिए जाते हैं । कबन्धों को जलाप्लुत भूमि में गाड़ दिया जाता है । एक वर्ष की अवधि में कबन्ध और मिट्टी संश्लिष्ट बन जाते हैं । इसी पशव्य मिट्टी से ऋत्विक्लोग ईंटें बनाते हैं । इन ईंटों से सुपर्ण (गरुड़) पक्षी के आकार के चबूतरे बनाए जाते हैं । सर्वप्रथम बृहत्, उस पर पहिले से छोटा फिर छोटा, इस क्रम से पाँच चबूतरे बनते हैं । सर्वान्त की इष्टकाचिति पर उत्तरवेदि बनती है । उसमें आहवनीय अग्नि प्रतिष्ठित होता है । उस प्रदेश में पाँच पशुओं के शिरो भागों की चिति होती है । इसके अतिरिक्त कूर्म्म, रुक्म, आदि भेद से अनेक चितियाँ और होती हैं । इन चितियों में कूर्म्मादि जो जो पदार्थ संगृहीत हैं, उन सब का प्राकृतिक चयनपर्वों के साथ यथानुरूप समतुलन हैं, जैसा कि प्रकरणोपसंहार में स्पष्ट किया जाने वाला है ।

प्रकृत सम्वत्सराग्नि–प्रकरण में इस सम्बन्ध में बतलाना यही है कि, भूपिण्ड से आरम्भ कर एकविंश-स्तोमपर्य्यन्त व्याप्त रहने वाले सम्वत्सरप्रजापति में जितने तत्त्व प्रतिष्ठित हैं, वैध चयनयज्ञ के द्वारा उन सबका संस्कार (आधिभौतिक पदार्थों के माध्यम से) आध्यात्मिक अग्नि में प्रतिष्ठित किया जाता है ! उस संस्कार से उस महासुपर्णरूप सम्वत्सरप्रजापति के साथ इस क्षुद्रसुपर्णरूप जीवात्मा का ग्रन्थिबन्धनसम्बन्ध हो जाता है । फलतः सम्वत्सरवत् यह अमृतभाव को प्राप्त हो जाता है । यह पञ्चचितिक सम्वत्सराग्नि वही अग्नि है, जिसका कठोपनिषत् में "स्वर्ग्याग्नि" नाम से उपबृंहण हुआ है, एवं नचिकेता के सम्बन्ध से जो अग्नि 'त्रिणाचिकेत' नाम से प्रसिद्ध हुआ है । इस वैय्यक्तिक फल के अतिरिक्त चयनपर्व

के सम्यक्-परिज्ञान से त्रैलोक्य की पदार्थविद्या का परिज्ञान हो जाता है। इस विश्वविज्ञान के आधार पर प्रकृति पर विजय हो जाता है। विजयप्राप्ति के द्वारा 'सर्वं भविष्यन्तो मन्यन्ते मनुष्याः' (शत०१०)। परिगणित चयन पर्वों का मौलिक रहस्य तो चयनरहस्यप्रतिपादक ब्राह्मणग्रन्थों में ही देखना चाहिए। यहाँ हमें केवल संवत्सराग्नि का ही वितान बतलाना है। इस वितानभाव के लिए सर्वप्रथम 'प्रजापति' शब्द की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

पूर्व प्रकरणों में प्रजापति का 'आत्मा-प्राण पशुसमष्टि' लक्षण किया गया है। इस लक्षण का हम "प्रकृतिविशिष्टत्वं प्रजापतित्वम्" लक्षण पर पर्य्यवसान मान सकते हैं। प्रकृतिविशिष्ट पुरुष को ही प्रजापति कहा जायगा। प्रजापति के 'प्रकृति' भाग की आगे जाकर "प्रकृति-विकृति' भेद से दो अवस्थाएँ हो जाती हैं। इस प्रकार पुरुष-प्रकृतिपर्वा (द्विपर्वा) प्रजापति 'पुरुष--प्रकृति--विकृति, पर्वा (त्रिपर्वा) बन जाता है। पुरुष पर्व असङ्ग आत्मा है, यही 'अमृत' नाम से प्रसिद्ध है। जिसका जन्म-स्थिति-भङ्गभावों से कोई सम्पर्क नही है, अतएव जो 'अज' नाम से प्रसिद्ध है। प्रकृतिपर्व 'ब्रह्म' नाम से प्रसिद्ध है, यही 'जन्माद्य य यतः' इस व्याससिद्धान्त के अनुसार जन्मादि का कारण बनता है। यही सुप्रसिद्ध 'प्राण' पर्व है। तीसरा विकृतिपर्व 'शुक्र' नाम से प्रसिद्ध है। यही जन्मादिरूप में परिणत होने वाला मर्त्य पर्व है। यही सुप्रसिद्ध 'पशु' पर्व है। इस प्रकार आत्मा-प्राण-पशुलक्षण अमृत-ब्रह्म-शुक्रमूर्त्ति त्रिपर्वा प्रजापति आत्मलक्षण अमृतपर्व से जगदाधार बन रहा है, प्राणलक्षण ब्रह्मपर्व से जगतकर्त्ता बन रहा है, एवं पशुलक्षण शुक्रपर्व से जगत् बन रहा है। उसमें (अमृतपर्व में) जगत् है, वह (ब्रह्मपर्व) जगत्कर्त्ता है, वही (शुक्रपर्व) जगत् है इन सभी विरोधी व्यवहारों का इस प्राजापत्यसंस्था में निर्विरोध समन्वय हो रहा है-'तत्तु समन्वयात्'।

आत्मा	प्राणः	पशुः
पुरुषः	प्रकृतिः	विकृतिः
अमृतम्	ब्रह्म	शुक्रम्
अजः	जन्महेतुः	जन्यम्
जगदाधारः	जगत्कर्त्ता	जगत्
तदेवामृतम्	तद्ब्रह्म	तदेव शुक्रम्
प तिः	प्र	जा

प्रजापतिः

"तत्तु समन्वयात्"

प्रकरणोपसंहार में जिन पाँच चितिपर्वों की परिगणना की जायगी, उनका उक्त प्राजापत्यसंस्था के साथ समन्वय कीजिए। प्रथम चिति के आत्मपर्व से आरम्भ कर सत्यसाम नामक पर्व पर्य्यन्त 'अमृत' नामक प्रथम प्राजापत्यपर्व का भोग है। पुष्करपर्ण नामक पर्व से आरम्भ कर 'चित्रसाम' नामक पर्व पर्य्यन्त 'ब्रह्म' नामक द्वितीय प्राजापत्यपर्व का भोग है। एवं प्रथम चिति के ही 'नर्म' नामक पर्व से आरम्भ कर पाँचवीं चिति के सर्वान्त के 'स्वयमातृण्णा' (द्यौः) नामक अन्तिम पर्व पर्य्यन्त 'शुक्र' नामक तीसरे प्राजापत्य पर्व का उपभोग हो रहा है। भूपिण्डकेन्द्रस्थ आत्मा पञ्चचितिरूप में परिणत होता हुआ अपने इन तीनों पर्वों से युक्त होकर 'चित्यप्रजापति' नाम को सार्थक कर रहा है, जैसा कि निम्न लिखित परिलेख से स्पष्ट है—

अमृतम्-आत्मा	(१) ॐ-आत्मा—अव्ययः साक्षरः क्षरः पुरुषः आत्मा।	
	(२) ॐ-अग्निः—क्षरब्रह्मणि प्राणे वाग्वाकाशरूपो यजुर्ब्रह्माग्निः।	
	(३) १-सत्यं साम—तस्मिन्नग्नौ भृग्वङ्गिरोरूपपड्ब्रह्ममय्य आपः।	
ब्रह्म-प्राणाः	(१) २-पुष्करपर्णम्-बृहत्सामान्ताऽयमपां घनोभावो लोकत्रयरूपप्रदेशः	
	(२) ३-रुक्मः-पुष्करपर्णमण्डलस्य गर्भे दृष्टः सूर्यबिम्बः।	
	(३) ४-पुरुषः-सूर्यबिम्बाच्चतुर्दिक्षु व्याप्नुवन्नग्निः प्राणो रश्मिरूपः।	
	(४) ५-चित्रंसाम-नानाविधवर्णग्राममयी भूतज्योतिर्म्मण्डलरूपा रश्मिसंस्था।	
शुक्रम्-पशवः	(१) ६-सर्पनाम-परितः प्रसर्पद्भिस्त्रिभिर्लोकैः सूर्य्यरश्मिमण्डलस्य देशभेदेन स्पर्शभेदाः।	
	(२) ७-अग्नीन्द्रौ-अधस्तादग्निनाधेया आज्यमयास्तेजोरसाः, उपरिष्टादिन्द्रेणाधेया दधिमया ओजोरसाः।	
	(३) ८-स्वयमातृण्णा-प्रथमा (अग्निः) अनया प्रजापतौ अन्नानि, प्राणा, अग्निश्चात्मा आधीयन्ते, तेन प्राजापत्याग्निस्त्रिलोकीमयः संस्कृतो भवति।	
	(४) ९-व्याहृतिसाम-भूर्व्याहृतिः। एतेन साम्ना भूलोकस्वरूपसंस्थानं कृतं भवति।	
	(५) १०-दूर्वेष्टकातः -प्राणभृत्पर्य्यन्ता प्रथमा चितिः	—पशवोऽग्निः पाशुकः। तैः सहितः पृथिव्यग्निः-त्रिलोकाधिष्ठातासुदैति।
	(६) ११-अश्विनीतः -पशव्या पर्य्यन्ता द्वितीया चितिः	
	(७) १२-स्वयमातृण्णातः -वालखिल्या पर्य्यन्ता तृ०	
	(८) १३-प्राणतः -सृष्टिपर्य्यन्ता चतुर्थी चितिः	
	(९) १४-असपत्नातः -स्वयमातृण्णापर्य्यन्ता पञ्चमी०	

अमृत-ब्रह्म-शुक्रात्मक प्रजापति ही मुख्य प्रजापति है। इस प्रजापतिगर्भ में आगे जाकर जितने भी सामान्य-विशेष प्रजापतियों का आविर्भाव होता है, प्रत्येक के मूल में मुख्य प्रजापति के अमृतादि तीनों पर्व प्रतिष्ठित रहते हैं। प्रकृत में हमें विश्वात्मक महाप्रजापति के गर्भ में (प्राजापत्य त्रैलोक्य के पलितवामाग्निमय स्तौम्य त्रैलोक्य में) प्रतिष्ठित सम्वत्सर प्रजापति का ही विचार करना है। पहिले मुख्य प्रजापति के ही दर्शन कीजिए।

मुख्य प्रजापति का आत्मलक्षण अमृत पर्व आनन्द-विज्ञान-मनोमय बनता हुआ त्रिकल है। यह त्रिकल आत्मा पार्थिव दहराकाश में प्रतिष्ठित है। इसके आधार पर इसी प्रदेश में अधामच्छद रूप से मन-प्राण-वाङ्मय, ब्रह्म-इन्द्र-विष्णववच्छरसहकृत दूसरा प्राणलक्षण ब्रह्म पर्व प्रतिष्ठित है। इसके आधार पर इसी प्रदेश में ब्रह्मानुबन्धी ब्रह्मनिःश्वसितवेद, इन्द्रानुबन्धी गायत्रीमात्रिकवेद, विष्णवनुबन्धी यज्ञमात्रिक वेदयुक्त, वाक्-आपः-अग्निमय, पशुलक्षण तीसरा शुक्रपर्व प्रतिष्ठित है। इन तीनों पर्वों की समष्टि ही 'पार्थिव मुख्य प्रजापति' है। इसी प्रजापति के (प्रजापति के आत्मपर्व के) आधार पर इसी प्रजापति के द्वारा (प्रजापति के प्राणपर्व द्वारा) इसी प्रजापतिरूप उपादान से (प्रजापति के पशुरूप उपादान से) पार्थिव सृष्टि का उद्गम होने वाला है।

तीनों प्राजापत्य पर्वों में मध्यस्थ 'ब्रह्म' नामक पर्व मनः प्राण-वाङ्मय बतलाया गया है। 'एकोऽहं बहु स्याम्, प्रजायेय' इस स्वाभाविक सृष्टिकामना से दहराकाशस्थ यह ब्रह्मप्रजापति (प्रजापति का ब्रह्मपर्व) पार्थिव सृष्टि की 'कामना' करता है। इसी कामना का (चित्यसृष्टिमूला कामना का) वैज्ञानिक लोग-'चेतयध्वम्' शब्द से अभिनय किया करते हैं। कामनानन्तर ब्रह्म के प्राणभाग का व्यापार हो पड़ता है, जो कि 'तप' नाम से प्रसिद्ध है। इसी के लिए 'तप्यध्वम्' शब्द प्रयुक्त हुआ है। तप के अव्यवहितोत्तरकाल में वाग्व्यापार प्रक्रान्त हो पड़ता है, जो कि 'श्रम' नाम से प्रसिद्ध है। 'यजध्वम्' से ही इसका अभिनय हुआ है। इस प्रकार अपने मनोभाग से चितिरूपा कामना का, प्राणभाग से अन्तर्व्यापारलक्षण तप का, तथा वाग्भाग से बहिर्व्यापारलक्षण श्रम का प्रवर्त्तक बनता हुआ मध्यस्थ ब्रह्मप्रजापति पार्थिव सृष्टिकामना को चरितार्थ करने के लिए सर्वप्रथम वाक्-आपः-अग्निमय शुक्र के वाक् भाग को पहिले आपः रूप में, आपः को अग्निरूप में परिणत कर डालता है। वागाधारेण प्रतिष्ठित आपः शुक्र में गर्भीभूत यह अग्नि (शुक्राग्नि) वही पूर्वप्रतिपादित सुप्रसिद्ध 'अन्नादाग्नि' है, जो कि बीजरूप से प्रतिष्ठित होता हुआ उसी प्राजापत्य व्यापारत्रयी (कामना-तप-श्रम) का अनुगमन करता हुआ आगे जाकर तूलरूप में (सम्वत्सररूप में) परिणत होने वाला है। प्रजापति ने जब देवताओं को उत्पन्न किया, तो वैभवप्राप्तिकामुक देवताओं ने पिता प्रजापति से प्रश्न किया कि, हे प्रजापते! आप किस कर्म्म से त्रैलोक्य में व्याप्त हो गए?, आपका वैभव इतना विशाल क्योंकर हो गया?। उत्तर में प्रजापति ने देवताओं के सामने—'चेतयध्वम्'-'तप्यध्वम्'-'यजध्वम्' ये तीन आदेश-वाक्य रक्खे। इन वाक्यों का तात्पर्य्य यही है कि, वैभवकामुक प्रत्येक व्यक्ति को पहिले दृढ मानस-संकल्प करना चाहिए, अनन्तर तदनुरूप अन्तर्व्यापार (प्रयत्न-कोशिश) करना चाहिए, सर्वान्त में तदनुरूप बहिर्व्यापार (क्रिया-हाथ पैर हिलाना) का अनुगमन करना चाहिए। इन तीन साधनों की अनन्य निष्ठा से कुछ भी दुर्लभ नहीं है। 'चेतो, प्रयत्न करो, हाथ-पैर हिलाओ' सब कुछ सिद्ध है।

१–मनसा–चेतयध्वम्– (कामः – मनोव्यापारः)
२–प्राणेन–तप्यध्वम्– (तपः – प्राणव्यापारः)
३–वाचा–यजध्वम्– (श्रमः – वागव्यापारः)
–व्यापारत्रयसंयोगात् सर्वमुत्पद्यते, यदिदं किञ्च

१५–गौजनक अग्निहोत्र—

हाँ तो, हम कह रहे थे कि मुख्य प्रजापति की इस व्यापारत्रयी से 'वाक्-आपः-अग्निमय' पार्थिव शुक्र का व्यक्तीभाव हो गया। इन तीनों में अग्नि नामक अन्त के शुक्र से सर्वप्रथम 'अग्निहोत्र' नाम की प्रक्रिया-विशेष का आविर्भाव हुआ, जो कि प्रक्रिया 'गौतत्त्व' की जन्मदात्री बनने वाली है, जिस गौतत्त्व के सम्बन्ध से पृथिवी 'गोरूपधरा' नाम से प्रसिद्ध होने वाली है। बीजावस्थापन्न इस अन्नादाग्निलक्षण अग्नि-शुक्र का आगे जाकर 'अग्नि–वायु–आदित्य' रूप से विकास होता है। अतएव बीजरूप अग्नि को हम आरम्भ से ही इन तीन विकासों के मूलों (बीजरूप) से युक्त मान सकते हैं। बीजत्रयभावापन्न अग्नि ही अग्नि है। 'अग्निर्वै प्राणानहौषीत्' इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार बीजावस्थापन्ना इस अग्नित्रयी में स्वयं अपने आप की ही आहुति होती है। इस स्वात्माहुति से अग्नि के अग्निलक्षण बीज से 'प्राण' का, अग्नि के वायुलक्षण बीज से 'शरीर' का, एवं अग्नि के आदित्यलक्षण बीज से 'रूप' का विकास होता है। तानूनप्त्र कर्म्म से एकाकार बनी हुई यह देवतात्रयी अपने अग्निहोत्र से सर्वप्रथम 'प्राण-शरीर-रूप' भावत्रयी के विकास का ही कारण बनती है। रूप–प्राण–शरीर के संयोग से उत्पन्न ज्योतिः (रश्मि), प्राण (प्राणदपानत्क्रिया), शरीर (क्रिया-धारभूता प्रतिष्ठा) लक्षण सांयोगिक तत्त्व–विशेष ही विज्ञानभाषा में "गौ" नाम से प्रसिद्ध है। यह गौतत्त्व ही पिण्डभाव की मूलप्रतिष्ठा, मूलप्रभव, मूलप्रवर्त्तक बनता है, जैसा कि–'गावः सर्वेषु भूतेषु–मूर्ध्नि' इत्यादि एतिह्यवचन से भी स्पष्ट है।

१६–शाकायनि का अग्नि—

प्रश्न हमारे सामने यह है कि, जिस अग्निहोत्र से प्राण–शरीर–रूपात्मक गौतत्त्व उत्पन्न होता है, वह 'अग्नि' है क्या पदार्थ ?। प्रश्नसमाधि के लिए श्रुति की ही शरण में जाना चाहिए। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक 'शाकायनि' के मतानुसार 'वायु' ही अग्नि है। अग्नि अपने स्वाभाविक तेजोधर्म्म से विशकलनधर्म्मा है, विकासोन्मुख है। संकोचभाव जहाँ स्थितिभाव का उपोद्बलक है, वहाँ विकासभाव गतिभावानुबन्धी माना गया है। गतितत्त्व ही वायु है, दूसरे शब्दों में गति वायु का ही प्रातिस्विक धर्म्म है। इसी गतिभाव के कारण हम वायु को ही अग्नि कह सकते हैं। अग्नि की अग्नि, आदित्य नाम की जो दो अवस्था और सुनी जाती हैं, उनका भी इस मध्यस्थ वायुभाव में ही अन्तर्भाव है। वायु ही क्रमशः घनता में परिणत होता हुआ पिण्डाग्निरूप में परिणत हो जाता है, जिसे कि 'अग्नि' (वायु की घनावस्था) कहा जाता है। अग्निज्वाला वायु का संघातमात्र है, वायु ही इसका प्रभव है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, अर्चि का अन्तिम परिणाम वायु ही होता है। लयभाव स्वप्रभव से सम्बन्ध रखता है। जिस प्रकार निम्नगामी बनता हुआ वायु अग्निरूप में आता है, एवमेव यही वायु ऊर्ध्वावस्था में जाकर बाष्पावस्था (विरलावस्था-वरुणावस्था) में आकर

आदित्य कहलाने लगता है। अग्नि-वायु-आदित्य तीनों में गतिभाव उपलब्ध होता है। उधर गतिभाव जब एकमात्र वायु का ही धर्म्म है, तो हम कह सकते हैं कि, वायु ही अग्नि है, वायु ही आदित्य है। फलतः 'वायुरेवाग्निः'। इसी शाकायनि-मत का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

(१)—"अथादेशा उपनिषदाम्। 'वायुरग्नि' रिति शाकायनिन उपासते।" अथ हस्माह श्रौमत्यो वा, हालिङ्ग्यो वा वायुरेवाग्निः। तस्माद्यदेवाध्वर्यु रुत्तमं कर्म्म करोति, अथैतमेवाप्येति' इति। (शत० १०।४।५।१)।

१७—हिरण्यगर्भऋषि का अग्नि—

हिरण्मयाण्डलक्षणा हिरण्यगर्भविद्या के प्रथम आविष्कर्त्ता महर्षि 'हिरण्यगर्भ' की सम्प्रदाय के अनुयायी कितने एक विद्वानों का कहना है कि, वस्तुतः 'आदित्य' ही अग्नि है। इनके इस पक्षपात का कारण है—'प्रथमज अग्नि'। पारमेष्ठ्य आपोमय समुद्र में—'सर्वस्याग्रमसृज्यत-तस्यादग्निः, अग्निरेवाग्निः परोक्षेण' के अनुसार सर्वप्रथम हिरण्मयाण्डरूप से विकसित होने वाला नारायणाग्नि ही आदित्याग्नि है। इसी आदित्याग्नि (सौर अग्नि) के प्रवर्ग्य से पार्थिव अन्नादाग्नि का प्रादुर्भाव हुआ है। यही पार्थिव अग्नि त्रैलोक्यस्तोमों में वितत होता हुआ क्रमशः अग्नि-वायु-आदित्यावस्थात्रयी में परिणत हो गया है। अन्नाद, अग्नि, वायु, आदित्यादि यच्चयावत् अग्निविवर्त्त आदित्यलक्षण, अग्रजन्मा, प्रथमज, नारायणाग्नि के ही विवर्त्त हैं। अतः हम इसे ही मुख्य 'अग्नि' कहेंगे। इसी द्वितीय मत का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

(२)—"आदित्योऽग्नि' रित्यु हैक आहुः" (शत० १०।४।५।१)।

१८—शाट्यायनि का अग्नि—

'शाट्यायनि' का इस सम्बन्ध में यह कहना है कि, हमें प्रकृत में सृष्टि के केवल उस विवर्त्त का विचार करना है, जिसका केवल पार्थिव चित्याग्नि से सम्बन्ध है। आदित्याग्नि प्रथमज है, इसमें कोई सन्देह नहीं। परम्परया वही सर्वाग्निविवर्तों का मूल है, यह भी निःसंदिग्ध है। परन्तु उसका सौरब्रह्माण्ड से सम्बन्ध है। अतएव पार्थिव ब्रह्माण्ड में उसकी गणना अनपेक्षित है। नहीं, तो फिर सर्वमूलभूत स्वायम्भुव ब्रह्माग्नि को ही मुख्य अग्नि मानना चाहिए। क्योंकि स्वयं आदित्याग्नि (नारायणाग्नि) का विकास स्वायम्भुव ब्रह्माग्नि से से हुआ है। अतः तत्त्वतः हमें उस अग्नि का विचार करना चाहिए, जो 'चयनयज्ञ' का स्वरूपसमपर्क बन रहा है। जब पार्थिव चयनयज्ञ की दृष्टि से हम 'अग्नि' पदार्थ का अन्वेषण करने लगते हैं, तो उस समय 'सम्वत्सर' ही हमारे सम्मुख उपस्थित होता है। संवत्सराग्नि के गर्भ में 'अग्नि-वायु-आदित्य' नामक तीन खण्डाग्नियाँ प्रतिष्ठित हैं। प्रश्न यह है कि, इन तीनों में मुख्य 'अग्नि' किसे कहा जाय? । इस प्रश्न का एकमात्र समाधान 'संवत्सराग्नि' ही हो सकता है। "वायु अग्नि बन जाता है, वायु आदित्य बन जाता है, इसलिए वायु ही अग्नि है" यह उक्ति पदार्थविद्या की दृष्टि से प्रौढिवादमात्र है। फिर तो उस सर्वव्यापक ब्रह्म को ही अग्नि कहना पड़ेगा, जो कि परम्परया अग्नि-इन्द्र-वरुणादि सब का मूलात्मा बना हुआ है। उस आत्मदृष्टि से

'तमेकं सन्तं विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानम्' इत्यादिरूप से स्वयं श्रुति ने भी उसी को सर्वरूप माना है। परन्तु यहाँ अध्यात्मविद्यानुगत आत्माद्वैतभाव का प्रकरण नहीं है। प्रकरण है खण्डखण्डात्मिका, तत्तत्पदार्थभेदेन सर्वथा विभक्ता पदार्थविद्या का। पदार्थविद्या में 'अग्नि–वायु–आदित्य' तीनों सर्वथा विभिन्न हैं, गुणरूप हैं, अवयवात्मक हैं।

'गुणानां च परार्थत्त्वात्, असम्बन्धः समत्त्वात्' न्यायानुसार गुण सदा परार्थ होते हैं, इनमें परस्पर जन्य–जनकभाव नहीं हुआ करता। वाक्–प्राण–चक्षु आदि इन्द्रियाँ 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिद-मुपासते' (केनोपनिषत्) के अनुसार उस एक प्रज्ञानब्रह्म के लिए अभिन्न हैं, वही वाक् बना है, वही प्राणादि बना है। परन्तु वाक् प्राण बनी हो, अथवा प्राण चक्षु बना हो, यह असम्भव है। वही वाक् है, वही प्राण है, वही चक्षुरादि है। परन्तु 'वाक् ही प्राण है, प्राण ही वाक् है, प्राण ही चक्षु है' इस गुणसम्बन्ध का कौन वैज्ञानिक समादर करेगा। ठीक यही परिस्थिति यहाँ समझिए। 'अग्नि–वायु–आदित्य' रूप अग्निखण्ड प्रजापति के पुत्र माने गए हैं। ये उसके अवयवरूप हैं, सर्वथा विभक्त तत्त्व हैं, इनमें परस्पर जन्य–जनक-भाव अनुपपन्न है। फलतः वायु को अग्नि मान कर इससे अग्नि–वायु–आदित्य का, किंवा आदित्य को अग्नि मान कर इससे अग्नि–वायु का संग्रह करना पदार्थविज्ञानदृष्टि से नितान्त अशुद्ध है।

तीनों में कोई भी मुख्य नहीं है, तीनों समान श्रेणियों में प्रतिष्ठित हैं। वस्तुतः मुख्य अग्नि वह माना जायगा, जो कि इन तीनों का प्रभव बनता हुआ तीनों का अवारपारीण प्रतिष्ठाधरातल बन रहा है। वह है भूगर्भ से आरम्भ कर २१ स्तोमपर्य्यन्त व्याप्त रहने वाला प्रजापतिलक्षण सम्वत्सराग्नि, जिसके अभिन्न वाङ्मय धरातल पर तीन भिन्न–भिन्न अग्नि भिन्न–भिन्न स्तोमप्रदेशों में प्रतिष्ठित हैं। सम्वत्सर अग्नि वह अग्नि है, जिसका वसन्त ऋतु मुख है, ग्रीष्म दक्षिणपक्ष है, वर्षा उत्तरपक्ष है, शरद्ऋतु मध्यभाग है, हेमन्त-शिशिर पुच्छ-प्रतिष्ठा है, त्रिवृदग्नि जिसकी वागिन्द्रिय है, पञ्चदशस्थ वायु जिसकी प्राणेन्द्रिय है, एकविंश आदित्य जिसकी चक्षुरिन्द्रिय है, चन्द्रमा जिसका मन है, दिक्सोम जिसकी श्रोत्रेन्द्रिय है, अप्तत्त्व जिसकी पत्नी है, तपः (संतापलक्षण अग्निव्यापार) जिसकी प्रतिष्ठा (स्वरूप रक्षक) है, द्वादशमास जिसके पर्व (पशु आदि शरीरा-वयव) हैं, २४ पक्ष जिसकी नाड़ियाँ हैं, ७२० अहः, ७२० रात्रियाँ जिसके चाँदी सोने के (अन्नप्रतिष्ठारूप) पात्र हैं, इन पात्रों में प्रतिष्ठित सोमान्न से जो स्वयं भी तृप्त रहता है, एवं अपने पुत्र अग्निप्रमुख यज्ञिय देवताओं को भी जो तृप्त किया करता है। यही सम्वत्सराग्नि मुख्य अग्नि है।

'सम्वत्सर' का अर्थ है–"सम्–वस्–त्सरः"। 'सर्वतोऽत्सारिषम्'–सर्वतः त्सरन् सन् गच्छति'-'सम्-वसन्–त्सरति' तीनों निर्वचनों का क्रमशः अग्न्यात्मक, चक्रात्मक, उभयात्मक सम्वत्सरों से सम्बन्ध है। सम्वत्सराग्नि प्रजानिर्म्माण में सर्वात्मना रिरिचान (रिक्त) हो जाता है. अतएव 'सर्वतोऽत्सारिषम्' निर्वचन को अग्न्यात्मक सम्वत्सर का ही वाचक माना जायगा। चक्रात्मक (कालात्मक) सम्वत्सर की विन्दु-विन्दु कुटिल है, अतएव 'सर्वतः त्सरन्-गच्छति' निर्वचन को इसीका वाचक माना जायगा। प्रकृत प्रकरण का 'सम्-वसन्–त्सरति' निर्वचन दोनों का संग्राहक माना जायगा। स्थितिभाव का घनाग्नि से सम्बन्ध है, गतिभाव का तरलाग्नि (वायु), तथा विरलाग्नि (आदित्य) से सम्बन्ध है। अपने स्थितिधर्म्म से यही संवत्सराग्नि तद्रूप त्रिवृदग्नि का प्रभव बन रहा है, एवं गतिभाव से तद्रूप वायु–आदित्य का प्रवर्त्तक बन रहा है।

'समित्येकीभावे' के अनुसार 'सम्' शब्द एकीभाव का द्योतक है। एक स्थिति में रहना ही 'सम्' है। फलतः 'सम्' शब्द 'स्थितिभाव' का सूचक बन रहा है, जिसकी कि पुष्टि—'वसन्' से हो रही है। 'सम्-एकत्र-वसन्—स्थितो भवन्' अग्नि गतिभाव का भी प्रवर्त्तक बन रहा है, 'त्सरति' इसी गतिधर्म्म को व्यक्त कर रहा है। स्थितिधर्म्म से वही 'मनसोऽपि जवीयः' है। स्थिति—गतिधर्म्मावच्छिन्न केन्द्रस्थ प्रजापति ही 'सम्—वसन्—सन्—त्सरति' के अनुसार 'संवत्सर' है। स्थिति-गति तत्त्वों की समष्टि ही 'संवत्सराग्नि' है।

इस संवत्सरमूर्त्ति प्रजापति अग्नि का पहिला आक्रमण स्वलोकरूप भूपिण्ड पर होता है। भूलोकात्मक चक्र इसी संवत्सराग्नि के आक्रमण से स्वयं भी संवत्सर बन रहा है। भूपिण्ड प्रतिक्षण विचाली है,परन्तु अन्य दृष्टिसे एकक्षण के लिए भी विचाली नही है। क्रान्तिवृत्त नामक स्थिरमार्ग को भूपिण्ड कभी नहीं छोड़ता, यही इसका स्थितिभाव है। साथ ही क्षणमात्र के लिए भी यह एकबिन्दु पर स्थिर नहीं रहता। यही इसका गतिभाव है। क्रान्तिवृत्त को न छोड़ना—'सम्—वसन्' है, एवं 'त्सरति' क्रान्तिवृत्त पर (स्वाक्षपरिभ्रमण करते हुए) परिक्रमा लगाना है। इस प्रकार अग्निवत् संवत्सर शब्द 'अलातचक्र' नाम से प्रसिद्ध कालचक्र का भी वाचक बनता हुआ उभयवाचक बन रहा है। संवत्सरपक्षपाती शाट्यायनि के कथन का निष्कर्ष यही हुआ कि, भूगर्भस्थ अन्नादाग्नि ही संवत्सर है, कालयुक्त संवत्सराग्नि ही मुख्य अग्नि है, यही चित्यप्रजापति है, चयनयज्ञ की मूलप्रतिष्ठारूप अग्नि यही संवत्सराग्नि है। इसी सिद्धान्तपक्ष का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

(३)—"शाट्यायनिरु हस्माह—'सम्वत्सर एवाग्निः'। तस्य वसन्तः शिरः, ग्रीष्मो दक्षिणः पक्षः, वर्षा उत्तरः (पक्षः), शरदृतुर्म्मध्यमात्मा, हेमन्तशिशिरावृतू पुच्छं प्रतिष्ठा, वागग्निः, प्राणो वायुः, चक्षुरादित्यः, मनश्चन्द्रमाः, श्रोत्रं दिशः, आपो मिथुनं, तपः प्रतिष्ठा, मासाः पर्व्वाणि, अर्धमासा नाड्यः, अहोरात्राणि रजत-सुवर्णानि पात्राणि। स एवं देवानप्येति"।

(शत० १०।४।५।१।)।

इसप्रकार शाकायनि, श्रौमत्य, हालिङ्गव, आदि ऋषियों के वायुपक्ष का, हिरण्यगर्भानुयायियों के आदित्यपक्ष का, एवं शाट्यायनि के संवत्सरपक्ष का, तीनों का स्पष्टीकरण कर तीनों के संबन्ध में सिद्धान्तपक्ष स्थापित करते हुए, शाट्यायनि के पक्ष को ही सिद्धान्तपक्ष मानने का आदेश करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"सम्वत्सरोऽग्निः"—इत्यु हैव विद्यात्। एतन्मयो भवतीति त्वेव विद्यात्"।

(शत० १०।४।५।२)।

१६—सम्-वसन् और सम्वत्सर—

"स्थिति—गतिभावात्मक तत्त्वविशेष ही 'सम्—वसन्—त्सरति' निर्वचन से 'संवत्सर' नामक अग्नि है, जिसका आगे जाकर दक्षिणोत्तरादि पक्षरूपों से विकास होने वाला है"। संवत्सराग्नि के इस तात्त्विक स्वरूप के आधार पर पाठकों का ध्यान अवश्य ही वेदतत्त्व की ओर आकर्षित हुआ होगा। त्रयीवेद का दिग्दर्शन कराते हुए हमने कई बार यह स्पष्ट किया है कि, स्थितिलक्षण जू, गतिलक्षण यत् की समष्टि ही 'यज्जूः' है। यज्जुः ही

'यजुः' है, एवं "ऋक्-सामे यजुरपीतः" के अनुसार यजु ऋक्-साम में अपीत है। यत् वायु (प्राण) है, जू आकाश (वाक्) है, दोनों का आलम्बन ब्रह्मप्रजापति का मनोभाग है। मन के आधार पर प्रतिष्ठित स्थितिलक्षण (आकाशलक्षण, आयतनलक्षण) वाग्रूप जू तत्त्व, तथा गतिलक्षण (वायुलक्षण प्राणलक्षण) यत्तत्त्व, दोनों की समष्टि ही यज्ञमात्रिक 'संवत्सराग्नि' है। आगे जाकर इसी अग्नि (वाङ्मय प्राण) का वितान होने वाला है।

२०—रूप-प्राण-शरीर-विवर्त—

जैसा कि पूर्व श्रुति में स्पष्ट किया जा चुका है, 'आपो मिथुनम्' (शत० १०।४।५।२) के अनुसार अप्तत्त्व ही इस सम्वत्सराग्नि का मिथुनभाव है। स्वयं सम्वत्सराग्नि वृषारूप पुरुष है, इसके चारों ओर व्याप्त शुक्रात्मक 'अप्तत्त्व' योषारूप स्त्री है। इन दोनों के दाम्पत्यलक्षण मिथुनभाव से ही भूपिण्ड का स्वरूप निर्म्माण होने वाला है। निष्कर्ष यही हुआ कि, अमृतात्मा के आधार प्रतिष्ठित ब्रह्म प्रजापति के आयतन में अपनी स्वरूपप्रतिष्ठा रखने वाला, ऋक्साम से छन्दित, आपःशुक्र से वेष्टित, स्थितिगतिलक्षण यजुर्मूर्त्ति प्राणमय वाग्लक्षण तत्त्वविशेष ही सम्वत्सराग्नि है, जिसमें बीजरूप से 'अग्नि—वायु—आदित्य—नामक तीनों अमृतरस प्रतिष्ठित हैं।

रसत्रयमूर्त्ति इस आपोमय सम्वत्सराग्नि के प्रथम व्यापार से क्रमशः अग्निभाग से प्राण का, वायुभाग से शरीरभाव (पिण्डभाव) का, एवं आदित्यभाग से रूप का विकास होता है। यही प्रथम व्यापार 'अग्निहोत्र' कहलाया है। इस अग्निहोत्र-व्यापार से उत्पन्न रूप—शरीर—प्राण की सांयोगिक, आपोमयी अवस्था का ही नाम 'गौ' तत्त्व है। यद्यपि 'गौ' तत्त्व में तीनों ही देवताओं का भाग समाविष्ट है, परन्तु यह अग्नि की ही मुख्य सम्पत्ति माना गया है। इसी रहस्य को व्यक्त करने के लिए कहा जाता है कि, जब अग्निहोत्र से गौ उत्पन्न हो गई, तो तीनों 'यह मेरी है, यह मेरी है' कहते हुए प्रजापति के समीप पहुँचे। प्रजापति ने यही निर्णय किया कि,—"गौ की उत्पत्ति अग्निहोत्र से हुई है, अग्नि ने अपने प्राणों की आहुति दी है, अतः गौ अग्नि की ही प्रातिस्विक सम्पत्ति मानी जायगी" देखिए!

> "अग्निर्वै प्राणानहौषीत्। तस्यैतस्य हुतादजनि,
> तस्माद्गौरग्निहोत्रम् *"।

---

* प्राणभागः—अग्नेः, शरीरभागः—वायोः, रूपभागः—आदित्यस्य। तानूनप्त्र—कर्म्मणा तिस्रो देवताः सङ्गता भवन्ति, ततश्च रूप—शरीर—प्राणसंयोगात् पिण्डोत्पत्तिः। प्रतिपिण्डे प्राणः, शरीरं, रूपमिति त्रयो भावा भृशं विद्यन्ते। त्रय एवैते भावा वस्तुस्वरूप-निर्म्मापकाः। रूप—शरीर—प्राणसंयोगादुत्पन्नस्तत्त्वविशेष एव विज्ञानशास्त्रे "गौः" नाम्ना प्रसिद्धः। सैषा गौः सर्वेषां भूतानां मूलजननी। तस्यामस्यां गवि उपर्युक्तास्तिस्रो

(शेष पृष्ठ १६८ पर देखिए।)

१—आदित्यस्यादित्ये—हवनात्—रूपनिष्पत्तिः		
२—वायोर्वायौ—हवनात्—शरीरनिष्पत्तिः	—	"अग्निहोत्रम्"
३—अग्नेरग्नौ—हवनात्—प्राणनिष्पत्तिः		

प्रत्येक पिण्डभाव की स्वरूपनिष्पत्ति 'रूप–शरीर–प्राण' लक्षण गौतत्त्व पर ही अवलम्बित है। केन्द्रस्थ प्रजापति के इन्द्रभाग से होने वाले विक्षेपणव्यापार मे; विष्णु द्वारा होने वाले अशनाया लक्षण–आगतिधर्म्म मे आपोमय–गौरूप–सम्वत्सराग्नि ही पिण्ड, एवं पिण्डमहिमारूप में परिणत होता है, जैसा कि– "इन्द्रश्च विष्णू यदपस्पृधेथां, त्रेधा सहस्रं वितदैरयेथाम्'–'इमे लोकाः, इमे वेदाः, अथो वागिति ब्रूयात्" इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है। स्वय गौतत्त्व एक सहस्र है। ३३३ शुक्ल गौतत्त्व अग्न्यनुबन्धी हैं, ३३३ कृष्णा गौतत्त्व वाय्वनुबन्धी हैं, ३३३ पृश्नि गौतत्त्व आदित्यानुबन्धी हैं। 'कामगवी' (कामधेनु) नाम से प्रसिद्ध सर्वमूलभूत कृष्ण–शुक्ल–पृश्निभावात्मक एक गौतत्त्व प्राजापत्यनुबन्धी है। इन एक सहस्र गौतत्त्वों का अप् भाग के द्वारा ऊर्ध्ववितान होता है। क्योंकि गौतत्त्व एक सहस्र हैं, अतएव तदनुबन्धी वाक्–लोक–वेद भावों को भी क्रमशः वाक्साहस्री, लोकसाहस्री, वेदसाहस्री, रूप से साहस्री-भावों में ही परिणत होना पड़ता है। यह सहस्र गौतत्त्व ही तो पार्थिव प्रजापति की आयु के सहस्र वर्ष हैं, जिनका निम्नलिखित श्रुति से स्पष्टीकरण हो रहा है—

"स सहस्रायुर्जज्ञे। स यथा नद्यै पारं परापश्येत्, एवं स्वस्यायुषः पारं पराचख्यौ" (शत० ११।१ ६।६।)।

सर्वमूलभूता कामगवी–पृश्निशुक्लकृष्णाभावत्रयोपेता गौः—(१)

१—पृश्निगौः—आदित्यप्रधाना—रूपाधिष्ठात्री (३३३)		
२—कृष्णा गौः—वायुप्रधाना—शरीराधिष्ठात्री (३३३)	—	'ततो वस्तुस्वरूपनिष्पत्तिः'
३—शुक्ला गौः—अग्निप्रधाना—प्राणाधिष्ठात्री (३३३)		

९९९

(१९७ की टिप्पणी का शेषांश)

देवताः स्व–स्व दायादस्थापनार्थं प्रतिस्पर्द्धां चक्रुः। तत्र परमप्रजापतिरुवाच–प्राण एव शरीराधिधर्त्ता, प्राण एव रूपप्रतिष्ठा, तस्मात् प्राण एव मुख्यः। प्राणश्चाग्नेयभागः। अतश्च सैषा गौरेवाग्निहोत्रम्। अग्निरेव वायुः, अग्निरेवादित्यः, अग्निः सर्वा देवताः, इति हि वैज्ञानिका आहुः। अतश्च गौरग्नेरेव प्रातिस्विकं धनमिति राद्धान्तपक्षः।

रूप-प्राण-शरीर-भावात्मक एक सहस्र गौतत्त्व के सम्बन्ध मे सहस्रायु बना हुआ, अप्तत्त्व से वेष्टित, अग्नि-वायु-आदित्य की बीजावस्था से युक्त, प्राणमय वागग्नि हो अन्नादाग्नि है. यही चित्य प्रजापति है, यही अग्निचयन की मूलप्रतिष्ठा है, इसी पर आगे जाकर पाँच चितियाँ प्रतिष्ठित होने वाली हैं। सम्वत्सरमण्डल इसी पर सञ्चित होता है, इसी संचिति-संस्कार मे प्रजापति का चितिभाव 'सञ्चिति' नाम से प्रसिद्ध होने वाला है, जो कि सञ्चितिमात्र सञ्चितिब्राह्मणों में 'रुद्र' नाम से प्रसिद्ध है, जिसके लिए कि देवता लोग शान्तरुद्रिय का अनुष्ठान किया करते हैं *।

पूर्व निरूपित अमृत-ब्रह्म-शुक्र-विवर्त्तों में से शुक्रविवर्त्त पर दृष्टि डालिए। शुक्र की व्याख्या करते हुए बतलाया गया है कि. 'वाक्-आपः-अग्निः' का ही नाम शुक्र है। अमृत-मृत्यु की सामान्य व्याप्ति के आधार पर वाक्-आप:-अग्निमय शुक्ररूप इस चित्य प्रजापति (अन्नादाग्निप्रजापति) के भी अमृतशुक्रात्मा, मर्त्यशुक्रात्मा भेद से दो विवर्त्त हो जाते हैं। अमृतशुक्रात्मा 'अमृताग्नि' है, इसे ही चयनपरिभाषा में 'चितेऽग्निर्निधीयते' निर्वचन से 'चितेनिधेय' कहा जाता है। मर्त्यशुक्रात्मा 'मर्त्याग्नि' है, यही चयनयज्ञ का 'चितो भवति, संचितश्च भवति' परिभाषा से 'चित्याग्नि' है। चितेनिधेयाग्निलक्षण अमृत शुक्र के 'वाक्-आपः-अग्निः' इन तीन विवर्त्तों से महिमालक्षणा-अष्टाचत्वारिंश (४८) स्तोमान्ता 'मही' पृथिवी का वितान होता है। एवं चित्याग्निलक्षण मर्त्यशुक्रत्रयी से पिण्डपृथिवी की स्वरूपनिष्पत्ति होती है। इसप्रकार तीन के ६ शुक्र हो जाते हैं, जिनका विशद वैज्ञानिक स्वरूप 'ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य' प्रथमखण्डान्तर्गत 'शुक्रनिरुक्ति' प्रकरण में प्रतिपादित है।

२१-कृष्णाजिन और पुष्करपर्ण-

वाक्[१]-आप[२]-अग्निः-[३]-अग्निः[१]-आपः[२]-वाक्[३]' इस क्रम से इन दोनों शुक्रविवर्त्तों का वितान हुआ है। भूपिण्ड के केन्द्र में वाक्शुक्र प्रतिष्ठित है, इसके आधार पर आपःस्तर प्रतिष्ठित है, इसके आधार पर अग्निस्तर प्रतिष्ठित है। मर्त्य-वाक्-आपः-अग्निः की समष्टि ही भूपिण्ड है। यही भूपिण्ड चयन परिभाषा में 'कृष्णाजिन A' नाम से प्रसिद्ध है, जिसका तात्त्विक विवेचन पूर्व के 'प्रमाणवाद' प्रकरण के

---

* "अथातः शतरुद्रियं जुहोति। अत्रैष सर्वोऽग्निः संस्कृतः। स एषोऽत्र रुद्रो देवता। तस्मिन् देवा एतदमृतं रूपमदधुः। स एषोऽत्र दीप्यमानोऽतिष्ठत्-अन्नमिच्छमानः। तस्माद् देवा अबिभयुः, यद्वै नोऽयं न हिंस्यात्-इति। तेऽब्रुवन्, अन्नमस्मै सम्भराम, तेनैनं शमयामेति। तस्माऽएतदन्नं समभरञ्छान्तदेवत्यम्। तेनैनमशमयन्। तद्यदेतं देवमेतेनाशमयन्, तस्माच्छान्तदेवत्यम्। शान्तदेवत्यं ह वै तच्छतरुद्रियमित्याचक्षते परोक्षम्" (शत० ६।१।१।१-२)।

A "यज्ञो वै कृष्णाजिनम्। इयं वै कृष्णाजिनम्। इयमु वै यज्ञः। अस्यां हि यज्ञस्तायते" (शत० ६।४।२।६।)।

कृष्णाजिनपरिच्छेद में किया जा चुका है। अमृत-अग्नि, आपः-वाक् की समष्टि ही 'महिमापृथिवी' है। यही महिमापृथिवी चयनपरिभाषा में 'पुष्करपर्ण' नाम से व्यवहृत हुई है, जैसा कि निम्नलिखित वाजिश्रुति से प्रमाणित है—

१—"योनिर्वै पुष्करपर्णम्। अपां पृष्ठमसि योनिरग्नेरिति। अपां ह्येतत् पृष्ठं, योनिर्ह्येतदग्नेः। समुद्रो ह्येतदभितः पन्वते। वर्द्धमानो महायस्व पुष्करे। द्यौः पुष्करपर्णम्। आपो वै द्यौः। आपः पुष्करपर्णम्"

(शत० ६।४।२।७-८-९-)।

२—"प्रतिष्ठा वै पुष्करपर्णम्। इयं वै पुष्करपर्णम्। इयमु वै प्रतिष्ठा। या वाऽअस्याम-प्रतिष्ठितोऽपि दूरे सन्, अप्रतिष्ठित एव सः। रश्मिभिर्वाऽएषोऽस्यां प्रतिष्ठितः। अस्यामेवैनमेतत् प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयति"। (शत० ७।४।१।१३।)।

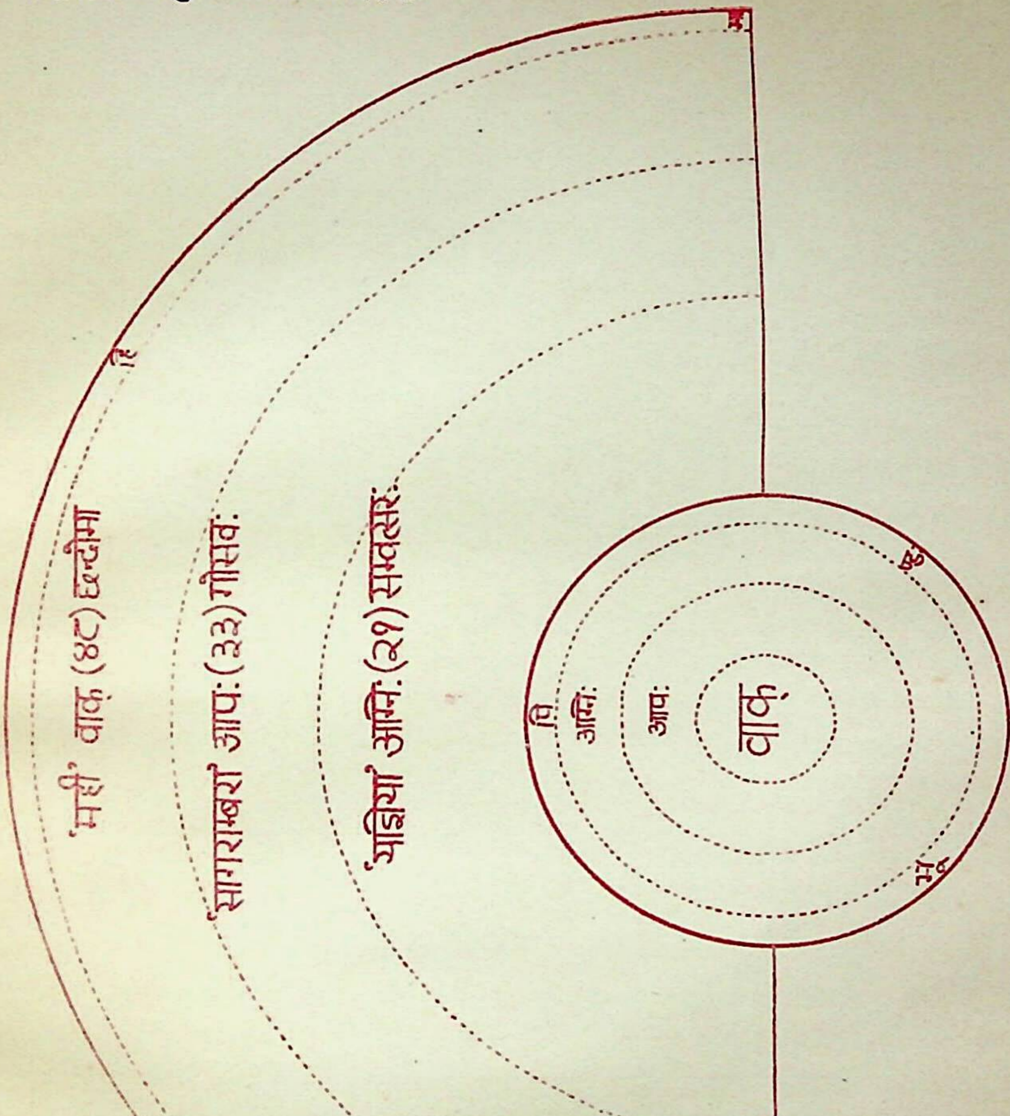
३—"इन्द्रो वृत्रं हत्वा नाऽस्तृषीति मन्यमानोऽपः प्राविशत्। ता अब्रवीत्, बिभेमि वै, पुरं मे कुरुत इति। स योऽपां रस आसीत, तमूर्ध्वं समुदौहन्। तमस्मै पुरमकुर्वन्। तद्यदस्मै पुरमकुर्वन्, तस्मात् पुष्करम्। पुष्करं ह वै तत् पुष्करमित्याचक्षते परोक्षम्। तद्यत पुष्करपर्णे उपदधाति, यमेवास्मैतमापो रसं समुदौहन्, यामस्मै पुरमकुर्वन्, तस्मिन्नेवैनमेतत् प्रतिष्ठापयति"।

(शत० ७।४।१।१३।)।

कृष्णाजिन (भूपिण्ड), पुष्करपर्ण (भूमण्डल) का निर्म्माता सम्वत्सराग्नि अन्नाद नाम से उपश्रुत है। अन्नग्रहण करना इसका प्रातिस्विक धर्म्म है। वही अग्न्यन्न सोम नाम से प्रसिद्ध है। इसप्रकार अन्नादाग्नि के स्वरूप में अन्नसोम का भी अन्तर्भाव सिद्ध हो जाता है। पिण्डनिर्म्माण में अग्निगर्भित सोम का सहयोग है, एवं महिमावितान में सोमगर्भित अग्नि का सहयोग है। सोमसमन्वित गौतत्त्व से भूपिण्ड की, तथा अग्निसमन्वित गौतत्त्व से भूमहिमा की स्वरूपनिष्पत्ति हुई है, यही तात्पर्य्य है। सोम संकोचधर्म्मा है, अतएव तत्प्रधाना पिण्डपृथिवी सकोचलक्षण घनभाव से युक्त है। अग्नि विकासशील है, अतएव तत्प्रधाना महिमापृथिवी विकास (वितान) भाव से युक्त है। आदित्यसमन्वित पृश्नि गौ से वाक्शुक्रद्वारा 'मही' पृथिवी की, वायुसमन्वित कृष्णा गौ से आपः शुक्रद्वारा 'सागराम्बरा' पृथिवी की, एवं अग्निसमन्वित शुक्ला गौ से अग्निःशुक्रद्वारा 'यज्ञिया' पृथिवी की स्वरूपनिष्पत्ति हुई है। इन्हीं तीनों पार्थिव विवर्तों के आधार पर "छन्दोमा, गवामयन, सम्वत्सर" नामक तीन यज्ञों का वितान हुआ है, जैसा कि पूर्व के त्रैलोक्य-त्रिलोकी-स्वरूपपरिचयप्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। भूकेन्द्र से ४८ वें अहर्गण पर्य्यन्त 'वाक्' नाम का शुक्र व्याप्त रहता है, यही 'वाङ्मयी' महापृथिवी है। छन्दोमायज्ञ के सम्बन्ध से यही 'छन्दोमा-मण्डल'

(२०१, तथा २०२ के मध्य में)

(४)--वागापोऽग्निःशुक्रत्रयवितानपरिलेखः—



है. यही 'मही' पृथिवी है। भूकेन्द्र से आरम्भ कर ३३वें अहर्गण पर्यन्त 'आपः' नामक शुक्र व्याप्त रहता है, यही 'आपोमयी' पृथिवी है, गोसवयज्ञ के सम्बन्ध से यही 'गोसवमण्डल' है, जिसका 'व्रजं गच्छ गोष्ठानम्' (यजुः सं० १।२५।) इत्यादि रूप से वर्णन हुआ है, यही 'सागराम्बरा' पृथिवी है। भूकेन्द्र से आरम्भ कर २१वें अहर्गण पर्यन्त अग्निःशुक्र की व्याप्ति है। यही अग्निमयी है, सम्वत्सरयज्ञ के सम्बन्ध से यही 'सम्वत्सरमण्डल' है, यही 'यज्ञिया' पृथिवी है, यही प्रकृत प्रकरण का मुख्य लक्ष्य है। इस-प्रकार मर्त्यशुक्रत्रयी से 'कृष्णाजिन' लक्षण भूपिण्ड की स्वरूपनिष्पत्ति हुई है, एवं अमृतशुक्रत्रयी से पुष्करपर्ण लक्षण महापृथिवी का वितान हुआ है, जैसा कि निम्नलिखित परिलेख से स्पष्ट है—

१–अग्निगर्भितया, सोमसमन्वितया, आदित्यानुगतया, पृश्न्या गवा-रूपविकासः।

२–अग्निगर्भितया, सोमसमन्वितया, वाय्वनुगतया, कृष्णया गवा–शरीरविकासः।

३–अग्निगर्भितया, सोमसमन्वितया, अग्न्यनुगतया, शुक्लया गवा–प्राणविकासः।

१–रूपात्मकेन मर्त्यवाक्-शुक्रेण–भूकेन्द्रोदयः २–शरीरात्मकेन मर्त्यापः–शुक्रेण–भूपृष्ठोदयः ३–प्राणात्मकेन मर्त्याग्नि-शुक्रेण–पिण्डभावोदयः	–भूपिण्डः-तदिदं 'कृष्णाजिनम्'

१–सोमगर्भितया, अग्निसमन्वितया, आदित्यानुगतया. पृश्न्या गवा–रूपविकासः।

२–सोमगर्भितया, अग्निसमन्वितया, वाय्वनुगतया, कृष्णया गवा–शरीरविकासः।

३–सोमगर्भितया, अग्निसमन्वितया, अग्न्यनुगतया, शुक्लया गवा–प्राणविकासः।

१–रूपात्मकेन–अमृतवाक्-शुक्रेण–४८ स्तोममण्डलविकासः २–शरीरात्मकेन–अमृतापःशुक्रेण–३३ स्तोममण्डलविकासः ३–प्राणात्मकेन–अमृताग्निशुक्रेण–२१ स्तोममण्डलविकासः	–भूमा महिमा-तदिदं 'पुष्करपर्णम्'

भूकेन्द्र से ४८ पर्यन्त व्याप्त रहने वाली त्रैलोक्यत्रिलोकीरूपा, मही–सागराम्बरा–यज्ञिया–भेद से त्रिःपृथिव्यात्मिका महापृथिवी का एकविंशस्तोमावच्छिन्न जो अग्निमण्डल है, उसे ही हम इस प्रकरण में

'सम्वत्सर' प्रजापति कहेंगे। इस संवत्सरप्रजापति की चिति उस 'सम्-वसन्' लक्षण, स्थिति-गत्यात्मक पिण्डावच्छिन्न, अन्नादाग्नि पर ही अवलम्बित है। उसी पिण्डाग्नि के आधार पर इस सम्वत्सर का वितान हुआ है, इसी चिति रहस्य को लक्ष्य में रख कर श्रुति ने कहा है—'अग्निरेष पुरस्ताच्चीयते सम्वत्सरे' (शत० १०।१।१।५)।

तात्पर्य श्रुति का यही है कि, अन्नादाग्नि के चयन से मर्त्य-वाक्, आपः, अग्निः, शुक्रद्वारा पहिले पिण्डपृथिवी का जन्म होता है, अनन्तर इसी के आधार पर अमृत अग्नि-आपः-वाक्-शुक्रद्वारा त्रिवृत् (६)-पञ्चदश (१५)-एकविंश (२१) स्तोम भेद से त्रिधा विभक्त अग्नि-वायु-आदित्यात्मक, महापृथिवीलक्षण सम्वत्सर का जन्म होता है। भूपिण्ड में प्रतिष्ठित अग्निरस ही उर्ध्व उत्क्रान्त होकर मण्डलाकार में परिणत होता हुआ त्रिदेवरूप से व्यक्त होता है। मर्त्यशुक्रमय मर्त्याग्नि भूताग्नि है, यही पिण्डपृथिवी का आत्मा बना हुआ है।

२२-आंप-शरः—

जैसा कि पूर्व में बतलाया गया है, अन्नादाग्निलक्षण पुरुष के साथ स्त्री का दाम्पत्यभाव होता है, एवं इसी दाम्पत्यभाव से भूपिण्ड का जन्म हुआ है। इस भूपिण्डोत्पत्ति की आरम्भदशा का यों विश्लेषण किया जा सकता है कि, जब भूपिण्ड उत्पन्न न हुआ था, तो उस समय अमृत-ब्रह्म गर्भित शुक्राग्नि का ही साम्राज्य था। इस स्थिति में इस अन्नादाग्निप्रजापति में आदानलक्षण विष्णु के सहयोग से केवल "एको हं बहु स्याम्-प्रजायेय", यह मृत्युलक्षणा अशनाया (सृष्टिकामनामयी बुभुक्षा-भूख) वृत्ति ही जाग्रत थी। इस वृत्ति के आकर्षण से प्रजापतिलक्षण अन्नादाग्नि में क्षोभ उत्पन्न हुआ, क्षोभ से संघर्ष हुआ, सघर्ष से अग्निताप चरमसीमा पर पहुँचता हुआ 'अप्' (पानी) रूप में परिणत होगया। यही आग्नेय पानी विज्ञानभाषा में 'अर्क' नाम से प्रसिद्ध हुआ।

इस अप्तत्त्व और अग्नितत्त्व को गतिलक्षण एमूष नामक वराहवायु का सहयोग प्राप्त हुआ। इस सहयोग से आग्नेय पानी घनभाव में परिणत हो गया। अप् तत्त्व की यहा घनावस्था विज्ञानभाषा में 'शर' (थर-मलाई) नाम से प्रसिद्ध हुई। इसप्रकार 'अग्नि-अप्-वायु' तीनों के धारावाहिक व्यापार से यह 'अपांशर' क्रमश :—'आपः[१]-फेन[२]-मृत[३]-सिकता[४]-शर्करा[५]-अश्मा[६]-अयः[७]-हिरण्य[८]' इन आठ अवस्थाओं में परिणत होता हुआ कालान्तर में (अष्टव्याहृतिरूप) भूपिण्डरूप में परिणत हो गया*। आज भी पानी से इसी क्रम से मृण्मय भूभाग की अभिवृद्धि का हम साक्षात्कार कर रहे है। पानी में वायुप्रवेश

* (१) सोऽपोऽसृत वाच एव लोकात्। सोऽकामयत-आभ्योऽद्भ्योऽधीमां प्रजायेयमिति, तां संक्लिश्याप्सु प्राविध्यत्। सोऽकामयत-भूय एव स्यात्, प्रजायेयेति। सोऽश्राम्यत्, स तपोऽतप्यत। स श्रान्तस्तेपानः 'फेन' मसृजत-'मृदं'-शुष्कापमूष-'सिकतं'-शर्करा-मश्मान-मयो-हिरण्य-मोषधिवनस्पत्यसृजत। तेनेमां पृथिवीं प्राच्छा-

(शेष पृष्ठ २०३ पर)

करता है, पानी बुद्बुद् स्वरूप में परिणत हो जाता है। वर्त्तुलाकार बुद्बुद् के गर्भ में प्रविष्ट अग्निसहचारी वायु बुद्बुद्मण्डल के त्रुटित होने से पहिले पहिले ही अन्य पानी के आक्रमण से नियत समय में फेन (झाग) रूप में परिणत हो जाता है। अप्-अग्नि-वायु, की मूर्च्छितावस्था ही फेन है। फेन आगे जाकर इसी अग्नि-वायु के व्यापार से क्रमशः मृत् (क्षार मिट्टी)-सिकता (चिकनी मिट्टी)-शर्करा (बालू मिट्टी)-अश्मा (पाषाणविशेष)-अयः (लौह और पाषाण के मध्य का मृत्परमाणुप्रधान कच्चा लौह)-हिरण्य (धातुमात्र) रूप में परिणित होता हुआ भूपिण्डरूप में परिणित हो जाता है। इसप्रकार क्रमिक चिति से चित्य

(२०२ की टिप्पणी का शेषांश)

दयत। ता वा एता नवसृष्टयः। इयमसृज्यत, इयं ह्यग्निः, अस्यै हि सर्वोऽग्निश्चियते। अभूद्वा इयं प्रतिठा। तद्भूमिरभवत्। तामप्रथयत्, सा पृथिव्यभवत्"

—(शत० ६।१।१।)।

(२)-प्रजापतिर्वाऽइदमग्र आसीत्, एक एव। सोऽकामयत-स्यां, प्रजायेय-इति। सोऽश्राम्यत्, स तपोऽतप्यत। तस्माच्छ्रान्तात्तेपानात्-'आपः (१),' असृज्यन्त। तस्मात् पुरुषात् तप्तादापो जायन्ते। आपोऽब्रुवन्-क्व वयं भवामेति। तप्यध्वमित्यब्रवीत्। ता अतप्यन्त, ताः 'फेन (२)' मसृजन्त। तस्मादपां तप्तानां फेनो जायते। फेनोऽब्रवीत्-क्वाहं भवानीति०। स 'मृदमसृजत (३)'। एतद्वै फेनस्तप्यते यदप्स्वावेष्टमानः प्लवते, स यदोपहन्यते, मृदेव भवति। मृदब्रवीत्०। सा 'सिकता (४)' असृजत। एतद्वै मृत् तप्यते, यदेनां विकृषन्ति। तस्माद्यद्यपि सुमार्त्स्नं विकृषन्ति, सकतमिवैव भवति। एतान्नु तत्, यत्-क्वाहं भवानि-इति। सिकताभ्यः 'शर्करा (५)' मसृजत। तस्मात् सिकताः शर्करवान्ततो भवति। शर्कराया 'अश्मानं (६)', तस्माच्छर्कराश्मैवान्तता भवति। अश्मनः-'अयः (७)'। तस्मादश्मनोऽयो धमन्ति। अयसो 'हिरण्यम् (८)'। तद्यदसृज्यत, अक्षरत्तत्। यदक्षरत्-तस्मादक्षरम्। यदष्टौ कृत्वोऽक्षरत्, सैवाष्टाक्षरा गायत्र्यभवत्। अभूद्वा इयं प्रतिष्ठेति, तद्भूमिरभवत्। तामप्रथयत्, सा पृथिव्यभवत्"।

—(शत० ६।१।३।१—७)।

(३)-"तस्यामस्यां प्रतिष्ठायां भूतानि च, भूतानां च पतिः सम्वत्सरायादीक्षत। भूतानां पतिर्गृहपतिरासीत्, उषाः पत्नी। तद्यानि तानि भूतानि, ऋतवस्ते। अथ यः स भूतानां पतिः, सम्वत्सरः सः। अथ या सोषाः पत्नी, औषसी सा। तानीमानी भूतानि च भूताना पतिः सम्वत्सरऽउषसि रेतोऽसिञ्चद्" (शत० ६।१।३।७—८)।

अन्नादाग्नि 'अपांशर' का सहयोग प्राप्त कर पिण्डस्वरूपसम्पादक पार्थिव 'एमूषवराह*' के अनुग्रह से भूपिण्ड का प्रभु बन जाता है।

भूपिण्ड बन गया। पुनः उसी काम-तप-श्रम-लक्षण सृष्ट्यनुबन्धत्रयी का व्यापार आरम्भ हुआ। इस सन्ताप लक्षण संघर्ष से भूगर्भस्थित अमृतलक्षण रसाग्नि का प्राणरूप से वितान हुआ। बाहिर की ओर वितत इसी रसाग्नि के घनादि भेद से अग्नि-वायु-आदित्य नामक तीन विवर्त्त हो गए। तीनों अग्नियों से त्रयीवेद का, वेदाधार से यज्ञ का, यज्ञ के द्वारा पार्थिव प्रजा का विकास हुआ। इस सम्पूर्ण प्रपञ्च को अपने गर्भ में रखने वाला त्रैलोक्य व्यापक यही प्राणाग्नि 'सम्वत्सर' नाम से प्रसिद्ध हो गया। इसप्रकार अन्नादाग्नि का मर्त्यभाग भूपिण्डात्मक चित्य प्रजापति बन गया, एवं इसी का अमृतभाग (रसभाग) भूमहिमात्मक सम्वत्सर प्रजापति बन गया। पार्थिव सृष्टि के इन्हीं दोनों विवर्त्तों का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं-

१-"नेवेह किञ्चनाग्रऽआसीत्। मृत्युनैवेदमावृतमासीदशनायया। अशनाया हि मृत्युः। तन्मनोऽकुरुत-आत्मन्वी स्याम्-इति। सोऽर्चन्नचरत्। तस्यार्चत आपोऽजायन्त। अर्चते वै मे कमभूत्-इति तदेवार्क्यस्यार्कत्वम्। आपो वाऽअर्कः। तद्यदपां 'शर' आसीत्, तत्समहन्यत, सा पृथिव्यभवत्" ॥

२-"तस्यामश्राम्यत्। तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजोरसो निरवर्त्तताग्निः। स त्रेधात्मानं व्यकुरुत-आदित्यं तृतीयं, वायुं तृतीयम्। स एष अप्सु प्रतिष्ठितः।"

३-"सोऽकामयत-द्वितीयो मऽआत्मा जायेतेति। स मनसा वाचं मिथुनं समभवद-शनायाम्। मृत्युस्तद्रेत आसीत्। स सम्वत्सरोऽभवत्। न ह ततः पुरा सम्वत्सर आस। तमेतावन्तं कालमबिभः-यावान्त्सम्वत्सरः। तमेतावतः कालस्य परस्तादसृजत।"

४-"स तया वाचा, तेनात्मना सर्वमसृजत, यदिदं किञ्च-ऋचो, यजुंषि, सामानि, छन्दांसि, यज्ञान्, प्रजां, पशून्। स यद्यदेवासृजत, तत्तदत्तुमध्रियत। सर्वं वा अत्तीति, तददितेरदितित्वम्। सर्वस्यात्ता भवति, सर्वमस्यान्नं भवति, य एवमेत-ददितेरदितित्वं वेद।" (शत० १०।६।६।)।

——xxxx——

* (१)-"अथ वराहविहतम्। 'इयत्यग्रे आसीत्' इति। इयती ह वाऽइयमग्रे पृथिव्यास, प्रादेशमात्री। तामेमूषवराह उज्जघान। सोऽस्याः पतिः प्रजापतिः। तेनैवैनमेतन्मिथुनेन प्रियेण धाम्ना समर्द्धयति" (शत० १४।१।२।११।)।

(२)-"स वै वराहो रूपं कृत्वा उपन्यमज्जत्" (तै० ब्रा० १।३।६।)।

२२–बृहतीछन्द का वितान, और चयनयज्ञरहस्य—

'प्राजापत्य वेदमहिमा' से सम्बन्ध रखने वाले प्रजापति के स्वरूप प्रदर्शन के लिये क्रमशः **सम्वत्सर प्रजापति, सम्वत्सर अग्नि**, इन दो तत्त्वों का आश्रय लिया गया। बिना ऐसा किए प्रजापति की वेदमहिमा का स्पष्टीकरण कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव था। पूर्वप्रतिपादित सम्वत्सर अग्नि को (जिस अग्नि के गर्भ में सोम प्रतिष्ठित है, अतएव जिस प्रजापति को 'अग्नीषोमात्मक' माना जा सकता है) लक्ष्य में रखिए, एवं इस अग्नि के (अग्नि-सोम के) आधार पर वितत प्राजापत्य-वेदमहिमा के दर्शन कीजिए।

जिस **'सम्वत्सरप्रजापति'** की गाथा का अब तक विभिन्न रूप से यशोगान हुआ है, उस सम्वत्सर के अग्न्यात्मक तथा चक्रात्मक, दो भेद हैं। अग्न्यात्मक (अग्नि-सोमात्मक) सम्वत्सर की जैसी स्थिति है, जो अवयवविभाग हैं, कालात्मक चक्रसम्वत्सर की भी ठीक वैसी ही स्थिति है, वे ही अवयवविभाग हैं। प्रकृत में अयनादि जिन पर्वों के आधार पर वेदमहिमा का स्वरूप बतलाया जाने वाला है, उन का मुख्य लक्ष्य अग्न्यात्मक सम्वत्सर ही समझना चाहिए। यह बतलाया ही जाचुका है कि, 'अयन-ऋतु-मास-पक्ष-अहोरात्र-मुहूर्त्त', आदि शब्द प्रधानतः अग्नि-सोम-खण्डों के ही वाचक हैं। आगे जाकर इन शब्दों का कालवाचकता में भी उपयोग होने लग गया है, एवं इस उपयोग का एकमात्र कारण अग्न्यात्मक सम्वत्सर के साथ होने वाली चक्रात्मक सम्वत्सर की समानस्थिति ही है।

अग्न्यात्मक सम्वत्सर वह अग्निमण्डल है, जिसके 'त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंश' स्तोमभेदसे क्रमशः पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ' ये तीन विवर्त्त हैं। इन तीनों में क्रमशः अग्नि-वायु-आदित्य नामक तीन प्राणदेवता प्रतिष्ठित हैं। प्रत्येक पदार्थ में 'ज्ञान-क्रिया-अर्थ' भेद से तीन शक्तियों का समावेश रहता है। दूसरे शब्दों में शक्तित्रयी की समष्टि का नाम ही 'पदार्थ है। पदार्थ का अर्थभाग (भूतभाग-दृश्य पिण्डभाग) त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न अर्थशक्तिघन पार्थिव अग्नि से सम्बन्ध रखता है। पदार्थ का क्रियाभाग (आदानविसर्गात्मक व्यापार) पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न, क्रियाशक्तिप्रधान आन्तरिक्ष्य वायु से सम्बद्ध है। एवं पदार्थगत ज्ञानमात्रा का एकविंशस्तोमावच्छिन्न, ज्ञानशक्तिप्रधान दिव्य आदित्य (इन्द्र) से सम्बन्ध है। इस प्रकार सम्वत्सरप्रजापति के अवयवरूप तीनों देवता अपनी अपनी विभिन्न शक्ति से भौतिक पदार्थों के सर्वस्व बन रहे हैं।

अग्नि-वायु-इन्द्र के सन्निवेश तारतम्य से ही पदार्थवर्ग **'असंज्ञ-अन्तःसंज्ञ-ससंज्ञ'** भेद से तीन भागों में विभक्त हैं। जिन में अर्थशक्तिप्रधान अग्निरूप वैश्वानर का प्राधान्य है, वे सब (जड़पदार्थ-धातुसृष्टि) तमोविशाल'असंज्ञपदार्थ' (असंज्ञजीव) हैं। जिनमें क्रियाशक्तिप्रधान, वायुलक्षण तैजस भाग का प्राधान्य है, वे सब अर्द्धचेतन ओषधि वनस्पतिवर्ग 'तमोविशाल' अन्तःसंज्ञपदार्थ [अन्तःसंज्ञजीव] माने गए हैं। जिनमें ज्ञानशक्तिप्रधान आदित्य [इन्द्र] लक्षण 'प्राज्ञ' भाग की प्रधानता है, वे सब [चेतनजीव-कृमि, कीट, पक्षी, पशु, मनुष्य, भेदभिन्न पञ्चविध रजोविशाल तिर्य्यक् जीव, एवं यक्ष-राक्षस-पिशाच-गन्धर्व-पैत्र्य-ऐन्द्र-प्राजापत्य-ब्राह्म-भेदभिन्न अष्टविध सत्त्वविशाल ऊर्ध्व जीव] ससंज्ञपदार्थ [ससंज्ञजीव] कहलाए हैं। इस प्रकार अपनी स्थिति के तारतम्य से ये तीनों देवता चतुर्दशविध भूतसर्ग के सर्वेसर्वा बने हुए हैं।

अर्थमूर्त्ति अग्नि की विकासावस्था ही **'ऋग्वेद'** है। क्रियामूर्त्ति वायु की विकासावस्था ही **'यजुर्वेद'** है। एवं ज्ञानमूर्त्ति आदित्य की विकासावस्था ही **'सामवेद'** है। **'आस्त वै चतुर्थो देवलोक आपः'**। के अनुसार, एवं

पूर्वप्रतिपादित स्तोमवितानविद्या के अनुसार एकविंशस्थ (२१ वें अहर्गण पर स्थित) आदित्य से ऊपर (परितः) भृग्वङ्गिरोमय अप्तत्त्व प्रतिष्ठित है। यही चौथा आपोलोक है। आपोमय [सोममय] भृग्वङ्गिरा की विकासावस्था ही 'अथर्ववेद' है। इन विकासों का क्या स्वरूप है ?, इस प्रश्न का विशद विवेचन अगले प्रकरणों में होने वाला है। प्रकृत में इस सम्बन्ध में यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि, सम्वत्सराग्नि के तीन अग्निपर्वों से [अग्नि-वायु-आदित्य से] विकसित होने वाली ऋक्-यजुः-सामात्मिका वेदत्रयी अग्नित्रयी है, एवं भृग्वङ्गिरो नामक चौथे [सोम] पर्व से विकसित होने वाला अथर्ववेद सोमवेद है। इस प्रकार अपने अग्नि-सोमपर्वों से चतुर्वेद विकास का कारण बनता हुआ सम्वत्सरप्रजापति वेदसृष्टि का अधिष्ठाता बन रहा है।

पार्थिव अग्नि गार्हपत्याग्नि है, आन्तरिक्ष्याग्नि (वायु) अन्वाहार्य्यपचनाग्नि है, दिव्याग्नि (आदित्य) आहवनीयाग्नि है। स्वयं अग्नि-वायु-आदित्य ही इस यज्ञ के होता-अध्वर्यु-उद्गाता हैं। इन के अर्थ-क्रिया-ज्ञान-प्रसारलक्षण कर्म्म हीं हौत्र-आध्वर्यव-औद्गात्रकर्म्म हैं। ऋक्-यजुः-सामात्मक तत्त्व ही इन ऋत्विजों के कार्य्यसाधक वेदमन्त्र हैं। परिणाम इस यज्ञ का है-सम्वत्सरप्रजापति का पुनः सन्धान, जो कि सम्वत्सरप्रजापति अग्नित्रयी-वेदत्रयी-लोकत्रयी आदि साम्वत्सरिक भावों के निर्म्माण में अपनी मात्रा खर्च कर देने से विस्रस्त बन जाया करता है। विस्रस्त (शिरश्चान) पिता-सम्वत्सर-प्रजापति की क्षतिपूर्त्ति इन देवताओं के द्वारा इसी यज्ञ-प्रक्रिया मे होती है। सचमुच सृष्टिविद्या से सम्बन्ध रखने वाला विधि का यह एक विचित्र विधान है कि, जिस पिता ने 'अग्निभ्रातरः' लक्षण पुत्रों को उत्पन्न कर इनके लालन-पालन में अपने शरीर (अग्निमात्रा) की भी आहुति देते हुए अपने आपको सर्वथा रिरिचान बना लिया, उसी को अन्त में अपने पुत्रों की सहायता की अपेक्षा हुई। वे ही पुत्र आज (उपलब्ध त्रैलोक्य सृष्टि में) पिता का आसन ग्रहण किए हुए हैं। पिता के साम्राज्य का आसन इन पुत्रों नें ग्रहण कर रक्खा है, जिस अग्नि-वायु-इन्द्रसाम्राज्य का केनोपनिषत् में विस्तार से निरूपण हुआ है*। इसी प्राकृतिक चित्य प्रक्रिया का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य ने कहा है—

१—प्रजापतिर्वै विस्रस्तो देवानब्रवीत्—'सं मा धत्त' इति। ते देवा अग्निमब्रुवन्—'त्वयीमं पितरं प्रजापतिं भिषज्याम' इति। स वाऽअहमेतस्मिन्त्सर्वास्मिन्नेव विशानिति, तथेति। तस्मादेतं प्रजापतिं सन्तमग्निरित्याचक्षते।"

२—"तं देवा अग्नावाहुतिभिरभिषज्यन्। ते यां यामाहुतिमजुहवुः, सा सैनं पक्वेष्टका भूत्वाप्यगच्छत। तद्यादिष्टात् समभवन्, तस्मादिष्टकाः। सोऽब्रवीत्—यावद्-यावद्वै जुहुथ, तावत्तावन्मे कं भवतीति। तद्यदस्माऽइष्टे कमभवत्, तस्मादिष्टकाः"।

---

*"ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये। तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त। त ऐक्षन्त—अस्माकमेवायं विजयः, अस्माकमेवायं महिमा, इति॥ (केनोपनिषत् ३।१।)।

३—"स एष पिता-पुत्रः। यदेषो (प्रजापतिः) अग्निमसृजत, तेनैषोऽग्नेः पिता। यदेतमग्निः (पुत्रः) समदधात्, तेनैतस्याग्निः पिता। यदेष देवानसृजत, तेनैष देवानां पिता। यदेतं देवाः समदधुः, तेनैतस्य देवाः पितरः। उभयं हैतद्भवति-पिता च, पुत्रश्च। प्रजापतिश्च, अग्निश्च। अग्निश्च, प्रजापतिश्च। प्रजापतिश्च, देवाश्च। देवाश्च प्रजापतिश्च, य एवं वेद"।

(शत० ६।६।२।२१-२७-)।

चयनयज्ञरहस्यवेत्ता विद्वानों को विदित है कि, चयनयज्ञ का स्वरूप जिन इष्टकाओं से सम्पन्न होता है, वे 'यजुष्मती'-'लोकम्पृणा' भेद से दो भागों में विभक्त हैं। इन दोनों इष्टकाओं के अतिरिक्त इष्टकाओं के सीमा-बन्धन के लिए 'परिश्रित' और विहित हैं। इन इष्टकाओं में यजुष्मती इष्टका प्रधान हैं, लोकम्पृणा इष्टका गौण हैं। इन से छिद्रपूर्त्ति होती है, सम्पूर्ण सम्वत्सरमण्डल (सम्वत्सरलोक) परिपूर्ण हो जाता है, अतएव इन्हें 'लोकम्पृणा' कहना अन्वर्थ बनता है। इष्टकाओं के परस्पर संधान के लिए 'पुरीष' का संग्रह और होता है। जैसा कि चयनप्रकरण का उपक्रम करते हुए बतलाया जा चुका है, प्रासादभवननिर्म्माण-प्रक्रिया में जो जो द्रव्य समाविष्ट हैं, हमारे इस चयनयज्ञ में भी उन सब उपकरणों का संग्रह है। जिन ईंटों से दीवार खड़ी होती है, उनके स्थान में यहाँ यजुष्मतीं इष्टका हैं। जिस गारे से ईंटों को परस्पर संहत (चिपकाया) किया जाता है, उसके स्थान में यहाँ पुरीष' है। ईंटों में जो छिद्र रह जाते हैं, उन्हें बन्द करने के लिए छोटे-छोटे ईंटों के टुकड़े रिक्त स्थानों में भर दिए जाते हैं। इन्हीं के स्थान में लोकम्पृणा इष्टका हैं। जब दीवार बन कर खड़ी हो जाती है, तो इसके चारों ओर पलस्तर कर दिया जाता है। इसी के स्थान में यहाँ 'परिश्रित' हैं। त्रैलोक्य व्यापक साम्वत्सरिक देवता इस चयन-प्रासाद के निर्म्माता चतुर शिल्पी हैं। 'विकर्णी' नामक वायु इन शिल्पियों का वह औजार है, जिससे ये ईंटों को ठोकते हैं, नीचे-ऊपर गारा बिछाते हैं, परिश्रितरूप पलस्तर लगाते हैं। इस प्रकार दोनों प्रक्रियाओं में यथानुरूप समतुलन हो रहा है। अब हमें देखना यह है कि, चयनयज्ञ-स्वरूप-समर्पक परिश्रितादि का क्या स्वरूप है ?, एवं इनका 'वेदमहिमा' से क्या सम्बन्ध है ?।

सम्वत्सरप्रजापति की वेदमहिमा का विचार प्रक्रान्त है। वेदमूर्त्ति इस सम्वत्सर के 'सौर-पार्थिव-चान्द्र' भेद से तीन विवर्त्त हैं, तीनों का परस्पर अतिमानसम्बन्ध है, जैसा कि पूर्व में परिलेख द्वारा स्पष्ट किया जा चुका है। यही कारण है कि, विषयारम्भ में हीं हमने सम्वत्सर शब्द से इन तीनों को ही अपना लक्ष्य बनाया है। जिन इष्टकादि पर्वों का विचार होने वाला है, उनका समन्वय सौर-सम्वत्सर की दृष्टि से ऋजु पड़ता है। अतः प्रकृत की वेदमहिमा में सौरसम्वत्सरमण्डल को मुख्य लक्ष्य बनाते हुए ही मीमांसा की जायगी।

सौर सम्वत्सर भी आग्नेय है, पार्थिव सम्वत्सर भी आग्नेय है। अतएव इन दोनों का तो 'अग्नि' शब्द से ग्रहण किया जा सकता है। तीसरा चान्द्र सम्वत्सर सोमप्रधान बनता हुआ सौम्य है, अतएव

इसका 'सोम' शब्द से ग्रहण किया जा सकता है। द्विविध अग्निसम्वत्सर, सौम्य चान्द्र सम्वत्सर, तीनों की समष्टि को एक 'प्रजापति' मानते हुए तीनों में सौर सम्वत्सर पर विशेष लक्ष्य रखते हुए ही विचार आरम्भ होता है । सुप्रसिद्ध वेदज्ञ "राजस्तम्बायन" नें त्रिमूर्त्ति इसी सम्वत्सर के आधार पर वेद-महिमा का स्वरूप जाना था। स्वयं प्रजापति ने अपनी वेदमहिमा का स्वरूप राजस्तम्बन के सामने-'उत। त्वस्मै तन्वं विसस्रे' न्याय से स्पष्ट कर दिया था। प्रकृतिमण्डल स्वयं हमारा गुरु है। अनन्य-भाव से प्राकृतिक तत्त्वों का अनुशीलन करनेवाले तपस्वियों के अन्तःकरण में प्रकृति का गुप्त रहस्य अपने आप प्रकट हो जाता है। राजस्तम्बन ने भी इसी अनन्ययोग से स्वयं सम्वत्सरप्रजापति के स्वरूपान्वेषण के द्वारा ही वेदमहिमा का ज्ञान प्राप्त किया था। देखिए !

> "सम्वत्सरो वै प्रजापतिरग्निः-सोमो राजा चन्द्रमाः । स ह स्वयमेवात्मानं प्रोचे यज्ञवचसे राजस्तम्बायनाय-"यावन्ति वाव मे ज्योतींषि, तावत्यो मऽइष्टकाः", इति ।" —शत०१०।४।२।१।

२३-प्रतिष्ठा. यज्ञ और काल—

"प्रतिष्ठा-यज्ञ-काल" भेद से प्राजापत्य विवर्त्त को तीन भागों में विभक्त माना जा सकता है। सृष्टि का आधारभूत, अतएव 'ब्रह्म' नाम से प्रसिद्ध ब्रह्माक्षरमूर्त्ति 'प्रतिष्ठापुरुष' ही 'प्रतिष्ठाप्रजापति' है। सृष्टिप्रवर्त्तक, असत् को सद्भाव में परिणत करने वाला, विष्ण्वक्षरमूर्ति, 'अन्न' नाम से प्रसिद्ध 'यज्ञपुरुष' ही 'यज्ञप्रजापति' है। सृष्टिसंहारक, सत्-को असत् भाव में परिणित करने वाला (नामरूपात्मक) 'ज्योति' नाम से प्रसिद्ध, इन्द्राक्षरमूर्त्ति कालपुरुष ही 'कालप्रजापति' है। इन्हीं तीनों विवर्त्तों का पूर्वप्रकरणों में-'प्रतिष्ठा, ज्योति, यज्ञ' रूप से विश्लेषण करते हुए 'ब्रह्म-नामरूप-अन्न'-भावों के द्वारा स्पष्टीकरण हुआ है।

१-प्रतिष्ठाप्रजापतिः-प्रतिष्ठापुरुषः-ब्रह्माक्षरः (ब्रह्मा)-आधारः-ब्रह्म-(प्रतिष्ठा)।

२-यज्ञप्रजापतिः-यज्ञपुरुषः-विष्ण्वक्षरः (विष्णुः)-प्रवर्त्तकः-अन्नम् (यज्ञः)।

३-कालप्रजापतिः-कालपुरुषः-इन्द्राक्षरः (महादेवः) संहारकः-नामरूपे (ज्योतिः)।

इन्हीं तीनों को पूर्व के अग्निप्रकरण में क्रमशः ब्रह्माग्नि (सत्याग्नि), देवाग्नि (नारायणाग्नि), भूताग्नि (पलितवामाग्नि) नामों से व्यक्त किया गया है। इन तीनों में काल, तथा यज्ञ नामक दो प्रजापतियों का ही विचार अपेक्षित है। असीमाग्नि 'कालाग्नि' है, इसकी शक्ति 'महाकाली' है । ससीमाग्नि यज्ञाग्नि है, इसकी शक्ति योगमायावृता महामाया है । कालाग्निलक्षण कालप्रजापति ही महामाया के सम्बन्ध से परिच्छिन्न यज्ञाग्निरूप में परिणित होता हुआ "सम्वत्सरप्रजापति' नाम से प्रसिद्ध होता है । इस सम्वत्सरयज्ञ की स्वरूपनिष्पत्ति के प्रधान द्वार सौर-अग्नि, तथा चान्द्र सोम ही हैं। सूर्य्य और चन्द्रमा के योग से ही सृष्ट्यवच्छिन्न, यज्ञपुरुषात्मक कालपुरुष की स्वरूपनिष्पत्ति हुई है । सौर अग्नि सत्य है, चान्द्र सोम ऋत है। ऋत-सत्य के समन्वय से ही सम्वत्सर, एवं सम्वत्सर के पर्वरूप अहोरात्रों का आविर्भाव हुआ

है, जैसाकि "सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयद्दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः" (ऋक्सं० १०।१६०।३) इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। क्योंकि सम्वत्सर स्वरूपनिर्माण में अग्नि-सोम का सहयोग है। अग्नि का योनिस्थान सूर्य्य है-("सूर्य्योऽग्नेर्योनिरायतनम्" तै० ब्रा० ३।६।२१।७,३।)। सोम का योनिस्थान चन्द्रमा है ("एष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः" शत० १।६।४।५")। अतएव 'सम्वत्सरप्रजापति' के स्वरूप की व्याख्या करते हुए हमें 'सूर्य्य-चन्द्रमा' को ही प्रधानता देनी पड़ेगी। साथ ही प्राजापत्यवेदमहिमा को व्यक्त करने के लिए चन्द्रगर्भिता सौरसंस्था को ही प्रधान आलम्बन मानना पड़ेगा।

सौर-चान्द्रतत्त्वावच्छिन्न सम्वत्सरप्रजापति को अग्नि-सोम-समन्वय की दृष्टि से जहाँ 'यज्ञात्मक अग्निसम्वत्सर' कहा जायगा, वहाँ 'अहः, रात्रिः, पक्षः, मासः' इत्यादि कलाविभागों की दृष्टि से कालात्मक* 'चक्रसम्वत्सर' भी माना जायगा। दोनों के सम्मिलित रूप को लक्ष्य में रखते हुए ही वेदगणना की जायगी। एवं इस गणना के समन्वय के लिए उस 'बृहतीछन्द' की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जायगा, जिसके आधार पर 'बृहतीसहस्र' रूप से ऋक-यजुः-साम-अथर्व-तत्त्वों का प्रजापति के द्वारा व्यूहन होने वाला है।

२४-बृहत्सूर्य्य, और बृहतीछन्द—

"सूर्य्यो बृहतीमध्यूढस्तपति"-'बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः'-'विभ्राड् बृहत् पिबतु सौम्यम्'-'आदित्यो बृहत्" इत्यादि मन्त्र-ब्राह्मणश्रुतियाँ सूर्य्य को बृहतीछन्द पर प्रतिष्ठित बतलाती हुई स्वयं सूर्य्य को बृहत्' मान रहीं हैं। सौर सावित्राग्निमय इन्द्रप्राण ही 'बृहत्' है, जो 'विश्वामित्रप्राण' अवस्था में आकर जड़-चेतन पदार्थों के ३६००० (छत्तीससहस्र) आयुःसूत्रों का प्रवर्त्तक बनता है-(देखिए, ऐतरेय आरण्यक ३।२।२।)। इस बृहत्प्राण के सम्बन्ध से ही सौरमण्डलात्मक साम "बृहत्साम" कहलाया है। इसी बृहत्प्राण के समन्वय से 'बृहती'छन्द 'बृहती' कहलाया है। सौर बृहत्प्राण 'स्वरहरदेवाः सूर्य्यः' इस निगम के अनुसार 'स्वरात्मक' है। स्वर ही अक्षरतत्त्व है। अक्षरमूर्त्ति, स्वरात्मक इस बृहत्प्राण की व्याप्ति नव बिन्दुओं में मानी गई है। मर्त्य वर्ण बिन्दुरूप हैं। ऐसे नौ वर्ण एक स्वर के व्याप्तिस्थान बनते हैं, जैसा कि अन्यत्र शब्दसृष्टिविज्ञानप्रकरण में निरूपित है। नव बिन्दु पर्य्यन्त अपनी व्याप्ति रखने वाला यह सौर बृहत् प्राण अपने प्रतिष्ठारूप बृहतीछन्द को भी नौ अक्षरों में परिणित कर देता है। अतएव बृहतीछन्द 'नवाक्षर' छन्द माना गया है। यही नवाक्षर बृहतीछन्द आगे जाकर बृहत्प्राण के व्यूहन से आरम्भ में ४, पुनः ३६, सर्वान्त में ३६०००, इन तीन वितानभावों में परिणत होता हुआ, साथ ही अपने आग्नेय बृहत्प्राण को भी इन्हीं संस्थाओं में विभक्त करता हुआ वेद-महिमा का जनक बन रहा है। ....

नवाक्षर बृहतीछन्द के आरम्भ में चार विक्रम होते हैं। वे ही चार विक्रम इसके चार चरण हैं। चारों चरणों के सम्मिलित ३६ अक्षर बृहती का प्रक्रम है। प्रत्येक बृहती अक्षर उस प्राण-

* कालात्मकस्तत्त्वः कालः। अहोरात्रादयः कालस्यैव कलाभावाः, अवयवभावाः।

त्मक बृहत् अक्षर के गौरूप सहस्रभाव से महस्रभाव में परिणत होता हुआ सम्मिलितरूप से ३६००० बन जाता है, एवं यही बृहती का अभिक्रम है। इसप्रकार विक्रमरूपा चतुष्टयी, प्रक्रमरूपा षट्त्रिंशत्समष्टि, एवं अभिक्रमरूपा षट्त्रिंशत्महस्रसमष्टि भेद-से बृहतीछन्दोऽवच्छिन्न सौर सावित्राग्निप्राण के तीन संस्थाविभाग हो जाते हैं। इनमें 'बृहतीसहस्र' भाव ही वेदव्यूहन की मूलप्रतिष्ठा बनने वाला है, जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट हो जायगा।

नवाक्षर बृहतीछन्द के अतिरिक्त सौर सम्वत्सरचक्र में क्रान्तिवृत्त के काटते हुए क्रमशः दक्षिण से आरम्भ कर उत्तर पर्य्यन्त षडक्षर गायत्रीछन्द, सप्ताक्षर उष्णिक्छन्द, अष्टाक्षर अनुष्टुप्छन्द, दशाक्षर पंक्तिछन्द, एकादशाक्षर त्रिष्टुप्छन्द, एवं द्वादशाक्षर जगतीछन्द, के भेद से ६ छन्द और हो जाते हैं। इसप्रकार "सप्त वै देवच्छन्दांसि' के अनुसार सम्भूय सात छन्द हो जाते हैं। इन सातों को ही 'पूर्वापरवृत्त' कहा गया है। अहोरात्र-स्वरूप निर्माण के कारण ये ही "अहोरात्र" नाम से भी प्रसिद्ध है। सातों अहोरात्रवृत्तों में मध्यस्थ 'बृहती' नामक वृत्त ही शेष छन्दों की मूलप्रतिष्ठा माना गया है। बृहतीछन्द के वितान से ही ६ ओं का वितान हुआ है। मध्यस्थ बृहत्प्राण उक्थरूप है, सम्वत्सरमण्डलावच्छिन्न बृहतप्राण अर्करूप है। अर्कप्राणात्मक छन्द उक्थप्राणछन्द से अभिन्न ही माने गये हैं। दूसरी दृष्टि से बृहती की सर्वव्याप्ति का विचार कीजिये। जैसा कि आगे की व्यूहनप्रक्रिया में स्पष्ट होने वाला है, बृहतीछन्द के सम्बन्ध से इतर ६ ओं छन्दों में ७२ संख्याओं का उदय होता है। यही ७२ संख्या आगे जाकर व्यूहनद्वारा ७२० संख्याओं में परिणत हो जाती है। स्वयं बृहतीछन्द स्वस्वरूप से ७२० अहोरात्रात्मक है। ३६० बृहतीप्राण परिश्रितात्मक हैं, ३६० बृहतीप्राण यजुरग्निलक्षण यजुष्मती इष्टकारूप है। परिश्रित प्राणों में ३६० रात्रियों का विकास होता है, एवं यजुष्मान् प्राण से ३६० अहों का विकास होता है। फलतः केवल बृहतीप्राण ही ७२० अहोरात्रखण्डों में परिणत होता हुआ सम्पूर्ण सम्वत्सर की प्रतिष्ठा बन जाता है।

२५-सप्तछन्दोवितान —

७२० संख्यात्मक वही बृहतीप्राण ७२० अहोरात्रों का विभाजक बन कर शेष ६ ओं अहोरात्रवृत्तों का स्वरूपसमर्पक बन रहा है। ६ओं में युग्म भेद से ७२० संख्याओं का भोग हो रहा है। बृहती जहाँ स्वयं अपने स्वरूप से ७२० में विभक्त है, वहाँ शेष ६ ओं छन्द दो दो मिल कर ७२-सम्पत्तियों से युक्त होते हुए ७२० भागों के सहयोगी बन रहे हैं। द्वादशाक्षर (१२) जगती, षडक्षर (६) गायत्री दोनों का एक युग्म है। १२+४ गुणन से ४८ जगती के, ६+४ के गुणन* से गायत्री के २४ अक्षर

---

* लोकप्रसिद्ध गणितशब्दों के लिए वैदिकसाहित्य में निम्नलिखित शब्द प्रयुक्त हुए हैं—

१—संकलन—जोड़।

२—व्यवकलन—बाकी।

३—गुणन—गुणा।

४—भागहर—भाग।

हो जाते हैं। ४८–२४ के संकलन मे ७२ हो जाते हैं। यही ७२ सख्या ७२० अहोरात्रसम्पत्ति है । एकादशाक्षरा (११) त्रिष्टुप्, सप्ताक्षरा (७) उष्णिक्, दोनों का एक युग्म है । ११+४ के गुणन से ४४ त्रिष्टुप् के, ७+४ के गुणन से उष्णिक् के २८ अक्षर हो जाते हैं। ४४+२८ के संकलन से ७२ हो जाते हैं। यही दूसरी अहोरात्रसम्पत्ति है । दशाक्षरा (१०) पंक्ति. अष्टाक्षरा (८) अनुष्टुप् दोनों का एक युग्म है। १०+४ के गुण मे ४० पंक्ति के, ८+४ गुणन मे अनुष्टुप् के ३२ अक्षर हो जाते हैं। ४०+३२ के संकलन से ७२ हो जाते हैं। यही तीसरी अहोरात्रसम्पत् है । यह संख्यावितान क्योंकि बृहतीप्राणसम है, तद्रूप है. तत्समतुलित है, अतः सातों को हम बृहतीप्राणप्रधान ही कह सकते हैं । "एको अश्वो वहति सप्तनामा" (ऋक्सं०) इस मन्त्रभाग का भी यही रहस्य है कि, केवल बृहती नामक अश्व (छन्द) का ही इतर ६ छन्दों में नमन हुआ है। क्योंकि सातों अहोरात्रवृत्तों की समष्टि सम्वत्सर है, सातो बृहती–प्राणात्मक हैं, अतएव सम्वत्सर को "बार्हत" (बृहतीछन्द, तथा छन्दश्छन्दित बृहत्प्राणात्मक) मान लिया गया है, जैसा कि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट है–

(१)—"अथैषा बृहत्युत्तमा भवति । बृहतीं वाऽएष संचितोऽभि सम्पद्यते । यादृग् वै योनौ रेतः सिच्यते, तादृग् जायते। यद्यतेमग्र बृहतीं करोति, तस्मादेष संचितो बृहतीमभि-सम्पद्यते" ।

—शत० ६।४।१।८।

(२)—"ताः षट् सम्पद्यन्ते । षड्ऋतवः सम्वत्सरः । सम्वत्सरोऽग्निः । यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावद्भवति । यद्वेव सम्वत्सरमभिपद्यते,- तद् 'बृहती' मभिसम्पद्यते । 'बृहती हि सम्वत्सरः' । द्वादश पौर्णमास्यः, द्वादशाष्टकाः, द्वादशामावास्याः । तत् षट्त्रिंशत् । षट्त्रिंशदक्षरा वै बृहती" ।

—शत० ६।४।२।१०

सप्त वै देवच्छन्दांसि

(१-)-७-जगती-द्वादशाक्षरा (१२+४-४८)-४ अंश
(२-)-६-त्रिष्टुप्-एकादशाक्षरा (११+४-४४ -८ अंश
(३-)-५-पंक्तिः-दशाक्षरा (१०+४-४०)-१२ अंश

उत्तरमण्डलम्

(१)-४-बृहती-नवाक्षरा (९+४-३६)

सर्वप्रतिष्ठा

(३)-३-अनुष्टुप्-अष्टाक्षरा (८+४-३२)-१२ अंश
(२)-२-उष्णिक्-सप्ताक्षरा (७+४-२८)-८ अंश
(१)-१-गायत्री-षडक्षरा (६+४-२४)-४ अंश

दक्षिणमण्डलम्

---

(१) १-जगती (उत्तरा-७)-द्वादशाक्षरा—१२+४-४८
(२) २-गायत्री (दक्षिणा-१)-षडक्षरा—६+४-२४
—४८+२४-७२ (७२० अहोरात्राणि)

(३) १-त्रिष्टुप् (उत्तरा-६)-एकादशाक्षरा—११+४-४४
(४) २-उष्णिक् (दक्षिणा-२)-सप्ताक्षरा—७+४-२८
—४४+२८-७२ (७२०अहोरात्राणि)

(५) १-पंक्तिः (उत्तरा-५)-दशाक्षरा—१०+४-४०
(६) २-अनुष्टुप् (दक्षिणा-३)-अष्टाक्षरा—८+४-३२
—४०+३२-७२ (७२० अहोरात्राणि)

(७) १-बृहती (मध्यस्था-४)-नवाक्षरा—९+४-३६ —३६+३६०-७२० अहोरात्राणि

उक्त दो कारणों के अतिरिक्त मध्यस्थ 'बृहतप्राण' स्वःस्वस्तिक, अधःस्वस्तिक, उदयबिन्दु, अस्तबिन्दु, सप्तअहोरात्र, आदि अन्यान्य भावों की अपेक्षा सम्वत्सरमण्डल का अध्यक्ष बन रहा है। सम्वत्सरमण्डलव्याप्त, सम्वत्सरस्वरूपसम्पादक, अतएव सम्वत्सरात्मक, ३६० यजुष्मती इष्टकाओं, तथा ३६० परिश्रतों से ७२० संख्यात्मक ज्योतिः-पर्वों से युक्त रहता हुआ सौराग्नि, तथा चान्द्रसोम से अपनी स्वरूपनिष्पत्ति करता हुआ बृहती-प्राण ही वह प्रजापति है, जिसे वेदों का व्यूहन करना है। प्रजापति के इन्हीं पर्वों का दिग्दर्शन कराती हुई वाजिश्रुति कहती है।

"तस्य वा एतस्य सम्वत्सरस्य प्रजापतेः सप्त च शतानि विंशतिश्चाहोरात्राणि ज्योतींषि, ता इष्टकाः। षष्टिश्च त्रीणि च शतानि परिश्रितः षष्टिश्च त्रीणि च शतानि यजुष्मत्यः। सोऽयं सम्वत्सरः प्रजापतिः सर्वाणि भूतानि ससृजे, यच्च प्राणि, यच्चाप्राण-मुभयान् देवमनुष्यान्" (शत० १०।४।२।२।)।

२६—चतुर्द्धा व्यूहन—

अग्निविकासलक्षण जिस व्यूहन प्रक्रिया के आधार पर आगे के प्रकरण में तात्त्विक वेद की अवान्तर शाखाओं का विचार करना है, वह व्यूहन प्रक्रिया एक (१), दश (१०), शत (१००), सहस्र (१०००) भाव भेद से चार भागों में विभक्त है। केन्द्रस्थ प्राण आरम्भ में एकाकी रहता है। यह एकत्वभाव इसका पहिला प्रातिस्विक मूलस्वरूप है। इसका प्रथम विकास विराड्रूप से होता है। विराट् दशाक्षरछन्द है, यही दशधा विकास है। आगे जाकर प्रत्येक पर्व का दशधा-दशधा विकास होता है, १०० विकास हो जाते हैं। प्रत्येक प्राण का शतधा-शतधा विकास होता है, सम्भूय यह तीसरा विकास सहस्रधा बन जाता है। यहाँ आकर विकासावस्था का निधन है। मूल-उक्थ-प्राण का उत्तरोत्तर (सूक्ष्म अवस्था में परिणत होते हुए) बृहद्रूप में परिणत हो जाना ही विकास है। यह विकासभाव क्योंकि सहस्र पर समाप्त है, इसी आधार पर 'सहस्र' शब्द को पूर्णार्थक मान लिया गया है, जैसा कि--**"पूर्णं वै सहस्रम्"-"सहस्रं वै पूर्णम्"** इत्यादि निगम-वचनों से स्पष्ट है।

सौरसम्वत्सरमण्डलकेन्द्रस्थ-बृहती छन्दोऽवच्छिन्न बृहत्प्राण मूलात्मना एक है। इसका प्रथम विकास अपने प्रातिस्विकरूप से ३६ भागों में विभक्त है। बृहतीछन्द नवाक्षर बतलाया गया है। ९ अक्षर का एक चरण है। सम्भूय चार चरणों के ३६अक्षर हो जाते हैं। बृहत्प्राणावच्छिन्ना षट्त्रिंशदक्षरा (३६) यही बृहती है, जिसे कि हम प्रथम विकास कहेंगे। आगे जाकर प्रत्येक बृहतीप्राण दश--दश संख्याओं में विकसित होता है, ३६ विभाग ३६० संख्याओं में परिणत हो जाते हैं, यही बृहती का दशधा विकास है। प्रत्येक का पुनः शत शत संख्याओं में विकास होता है, ३६० विभाग ३६०० (छत्तीस सौ) संख्याओं में परिणत हो जाते हैं, यही बृहती का शतधा विकास है। प्रत्येक का पुनः सहस्र-सहस्र संख्याओं में विकास होता है, ३६०० विभाग ३६००० (छत्तीस हजार) संख्याओं में परिणत हो जाते हैं। यही सर्वान्त का सहस्रधा विकास है। यहाँ पर बृहती-प्राण का विकास अवरुद्ध है।

इस प्रकार विकासचतुष्टयी मे बृहती प्राण (३६ अक्षरावच्छिन्न गौर प्राण) *बृहतीसहस्र (बृहती ३६, सहस्र-षट्त्रिंशत्सहस्र) संख्या में परिणत हो जाता है । एतत् संख्यायुक्त यही बृहतीप्राण प्राणि-अप्राणि जगत् का आयुःस्वरूपसमर्पक बना हुआ है। बृहतीप्राण क्योंकि 'बृहतीसहस्र' है, अतएव हमें इतने ही आयुःसूत्र प्राप्त होते हैं । बृहतीसहस्र (३६०००) अहोरात्रियों के शत (१००) वर्ष होते हैं । "शतायुर्वै पुरुषः शतवीर्य्यः" के अनुसार हमारा आयुष्मान बृहतीसहस्र के सम्बन्ध मे शतवर्ष परिमित ही माना जायगा । यह आयुःप्राण कितने संख्याओं में विभक्त होकर हमारी अध्यात्मसंस्था में प्रविष्ट होता है ?, पहिले इसी प्रश्न की मीमांसा कीजिए ।

२७—प्रजापति की सात अभिव्यक्तियां—

मनः-प्राण-वाङ्मय प्रजापति में मनःपर्व सर्वप्रधान है । इस दृष्टि से यह मन 'सत्' है, इसलिए तो इसे 'असत्' नहीं कहा जा सकता । बलदृष्टि से यह 'असत्' है,इसलिए इसे 'सत्' भी नहीं कहा जा सकता । 'अस्ति' मूला इस भावना से जहाँ इसके लिए 'आसीत्' कहा जा सकता है, वहाँ 'नास्ति' मूला बलभावना से इसके लिए 'नेवासीत्' भी कहा जा सकता है । ऐसे सदसदात्मक (अतएव 'उभयात्मकं मनः' नाम से प्रसिद्ध) 'आसीदिव नेवासीत्' वाक्य से अभिनीयमान, सर्वमूलभूत प्राजापत्य मन की अशनाया से ही आगे जाकर क्रमशः 'मन[1], वाक्[2], प्राण[3], चक्षु[4], श्रोत्र[5], कर्म्म[6], अग्नि[7] इन ७ अवान्तर तत्त्वों का विकास होता है । यह प्राजापत्य मन वाक् तथा प्राण से अविनाभूत है । अतएव प्रजापतिलक्षण आत्मा मनः-प्राणवाङ्मय' कहलाया है, जो कि यहाँ मनःकला की प्रधानता से केवल 'मन' नाम से ही व्यवहृत होगा । जिस अन्नादाग्निलक्षण प्रजापति का पूर्व में दिग्दर्शन कराया जा चुका है, वही अंशरूप से हमारा भूतात्मा बन रहा है । मनःप्राणवाङ्मय इसी भूतात्मा के आधार पर उक्त सात पर्वों का विकास हुआ है । 'अनिरुक्तो वै प्रजापतिः' के अनुसार यह भूतात्मा अनिरुक्त है, अमूर्त्त है । इसकी ये सातों अभिव्यक्तियाँ निरुक्ता हैं, मूर्त्तभावापन्ना हैं । स्वयं प्रजापति उस बृहतीप्राणावच्छिन्न सम्वत्सरप्रजापति का अंश रहता हुआ बृहतीसहस्र-सम्पत्ति से युक्त है । बीजरूप से इस सम्पत्ति को अपनी महिमा में प्रतिष्ठित रखने वाले इस मनोमय प्रजापति (अनिरुक्त मनःप्राणवाङ्मय प्रजापति) से ही क्योंकि उक्त सात निरुक्त भावों का विकास हुआ है । इन सातों मूर्त्त-निरुक्त पर्वों की अपेक्षा से यही अंशी है, अंश अंशी के धर्म्मों से युक्त रहता है । अतएव जो बृहतीसहस्रसम्पत्ति उसमें है, इन सातों में प्रत्येक में भी उस सम्पत् का यथानुरूप क्रमशः विकास होता है । सप्तधा विभक्त निरुक्तसृष्टि के मूलाधिष्ठाता सदसन्मूर्त्ति (रस-बलमूर्त्ति, ज्ञानक्रियामय, विद्याकर्म्ममय) इसी मनोमय (मनःप्रधान मनःप्राणवाङ्मय) प्रजापति का स्वरूप व्यक्त करती हुई श्रुति कहती है—

---

*'बृहती' क्योंकि षट्त्रिंशदक्षरा (३६) है, अतएव आगे जाकर बृहती शब्द ३६ संख्या का वाचक बन गया है । इसी आधार पर 'षट्त्रिंशत्सहस्र' (छत्तीस हजार) संख्या का अभिनय 'बृहतीसहस्र' शब्द से होने लगा है । जहाँ वेद को छत्तीस हजार संख्या का अभिनय करना होगा, वहाँ वह 'षट्त्रिंशत्सहस्र' न कह कर 'बृहतीसहस्र' कहेगा ।

अनिरुक्तप्रजापतेः— "नेव वा इदमग्रेऽसदासीत् , नेव सदासीत । आसीदिव वा इदमग्रे, नेवासीत् । तद्ध तन्मन एवास । तस्मादेतद् ऋषिणाभ्यनूक्तं—'नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्' इति । नेव हि सन्मनो, नेवासत्" (शत० १०।५।३।१,२,) ।

इस प्राजापत्य अनिरुक्त मन में सृष्टिकामनारूप अशनाया—धर्म्म का उदय हुआ । अशनाया मृत्यु था, मृत्यु निरुक्त था । अतएव इसके उदय से वह अनिरुक्त मन संकल्प विकल्प लक्षण मृत्युभाव से युक्त होता हुआ निरुक्त बन गया, मूर्त्त बन गया । यही उस अनिरुक्त का पहिला निरुक्तावतार हुआ । इस निरुक्त मन ने जब अपने आत्मा (मूलरूप निरुक्त प्रजापति) को ढूँढा, तो इसे विदित हुआ कि, उसमें बृहतीसहस्र-सम्पत्ति प्रतिष्ठित है । फलतः स्वविकास के लिए इसने उस सम्पत्ति को अपना लिया, जो कि उसमें थी । एवं ऐसा करने से यह भी बृहतीसहस्र बन गया । इसी प्रकार मन से वाक् का, वाक् से प्राण का, प्राण से चक्षु का, चक्षु से श्रोत्र का, श्रोत्र से कर्म्म का, कर्म्म से अग्नि का विकास हुआ । सब में पूर्व पूर्व की बृहती सहस्रसम्पत् अनुस्यूत होती गई । इन सात चितियों से आध्यात्मिक पुरुष 'विद्याचित' नाम से प्रसिद्ध हो गया । इन्हीं सातों चितियों का क्रमिक निरूपण करते हुए निम्नलिखित वचन हमारे सामने आते हैं—

मन :—(१)—"तदिदं मनः सृष्टमाविरबुभूषत् निरुक्ततरं मूर्त्ततरम् । तदात्मानमन्वैच्छत् । तत्तपोऽतप्यत, तत् प्रामूर्च्छत् । तत् षट्त्रिंशं शतं सहस्राण्यपश्यत्, आत्मनोऽर्कान् मनोमयान्, मनश्चितः । ते मनसैवाधीयन्त, मनसा चीयन्त । तद्यत् किंचेमानि भूतानि मनसा संकल्पयन्ति, तेषामेव सा कृतिः । एतावती वै मनसो विभूतिः । एतावती सृष्टिः । एतावन्मनः—षट्त्रिंशत्-सहस्राण्यग्नयोऽर्काः । तेषामेकैक एव तावान् , यावानसौ पूर्वः" । (शत० १०।५।३।३) ।

प्राणः—(२)—"तन्मनो वाचमसृजत । सेयं वाक्० । सा तपो० । सा षट्त्रिंशतं० । तद्यत् किञ्चेमानि भूतानि वाचा वदन्ति, तेषामेव सा कृतिः । एतावती वै वाचो विभूतिः । एतावती विसृष्टिः । एतावती वाक्-षट्त्रिंशत्० । तेषामेकैक एव०" (शत० १०।५।३।४) ।

वाक् (३)—सा वाक् प्राणमसृजत । सोऽयं प्राणः० । स तपो० । स षट्त्रिंशतं० । तद्यत् किञ्चेमानि भूतानि प्राणेन प्राणन्ति तेषामेव सा कृतिः । एतावती वै प्राणस्य विभूतिः, एतावती विसृष्टिः । एतावान् प्राणः—षट्त्रिंशत्० । तेषामेकैक एव०" (१०।५।३।५) ।

चक्षुः (४)—"स प्राणश्चक्षुरसृजत। तदिदं चक्षुः०। तत्तपो०। तत्षट्त्रिंशतं०। तद्यत् किञ्चेमानि भूतानि चक्षुषा पश्यन्ति, तेषामेव सा कृतिः, एतावती वै चक्षुषो विभूतिः, एतावती विसृष्टिः एतावच्चक्षुः-षट्त्रिंशत्० तेषामेकैक एव०"।

(१०।५।३।६।)।

श्रोत्रम् (५)—"तच्चक्षुः श्रोत्रमसृजत। तदिदं श्रोत्रं०। तत्तपो०। तत्षट्त्रिंशतं०। तद्यत् किञ्चेमानि भूतानि श्रोत्रेण शृण्वन्ति, तेषामेव सा कृतिः, एतावती वै श्रोत्रस्य विभूतिः, एतावती विसृष्टिः। एतावच्छ्रोत्र-षट्त्रिंशतं०"।

(१०।५।३।७।)।

कर्म्म (६)—"तच्छ्रोत्रं कर्म्मासृजत। तदिदं कर्म्म०। तत्तपो० तत षट्त्रिंशतं०। तद्यत् किञ्चेमानि भूतानि कर्म्म कुर्वते, तेषामेव सा कृतिः, एतावती वै कर्म्मणो विभूतिः, एतावती विसृष्टिः। एतावद्वत् कर्म्म षट्त्रिंशत०"।

(१०।५।३।८।)।

अग्निः (७)—"तत कर्म्माग्निमसृजत। सोऽयमग्नि०। स तपो०। स षट्त्रिंशतं०। तद्यत् किञ्चेमानि भूतानि, अग्निमिन्धते, तेषामेव सा कृतिः। एतावती वा अग्नेर्विभूतिः, एतावती विसृष्टिः। एतावानग्निः-षट्त्रिंशतं०"।

(१०।५।३।११।)।

सर्वप्रजापतिः—❀ "ते हैते विद्याचित एव। तान् हैतानेवंविदे सर्वाणि भूतानि चिन्वन्ति—अपि स्वपते। विद्यया हैवैतऽएवं विपश्चिता भवन्ति।"

(१०।५।४।२)।

उक्त वचनों का समन्वय प्राजापत्यविज्ञान पर निर्भर है। प्रजापति के अनिरुक्त, सर्वभेद से दो रूप माने गए हैं। महामहिमामय विश्वकेन्द्र में (सम्वत्सरात्मक विश्वकेन्द्र में) प्रतिष्ठित मनः-प्राण-वाङ्मय अमूर्त्त सम्वत्सरप्रजापति 'अनिरुक्तप्रजापति' है। दृष्टिपथ में आने वाला सम्वत्सराग्निमय भौतिक त्रैलोक्य उसी का निरुक्त रूप है, यही 'निरुक्तप्रजापति' है। अनिरुक्त सम्वत्सर आत्मा है, निरुक्त सम्वत्सर (विश्व) इस आत्मा का शरीर है, विशिष्टभाव एक आधिदैविक-प्राजापत्यसंस्था है। इस संस्थाके निरुक्तरूपों का पूर्वप्रतिपादित अग्निस्वरूपप्रकरण में (शाट्यायनिमतानुसार) दिग्दर्शन कराया जा चुका है। त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न 'अग्नि'[१], पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न 'वायु'[२], एकविंशस्तोमावच्छिन्न 'आदित्य'[३], सम्वत्सरमण्डलमध्यवर्त्ती 'चान्द्र' नामक 'भास्वरसोम'[४], सम्वत्सरमण्डलव्याप्त 'दिशः' नामक 'दिक्सोम'[५],

समष्टिलक्षण 'सम्वत्सराग्नि[६]', प्रतिष्ठालक्षण 'तप[७]' ही उस आधिदैविक निरुक्तप्रजापति के क्रमशः 'वाक्[१]'–'प्राण[२]'–'चक्षु[३]'–'मन[४]'–'श्रोत्र[५]'–'अग्नि[६]' 'कर्म्म[७]' ये सात निरुक्त पर्व हैं।

२८ आध्यात्मिक प्रजापति —

इसी प्रकार अध्यात्मसंख्या में समन्वय कीजिए। हृद्य भूतात्मा उस हृद्य भूतात्मा का अंशरूप अग्निरुक्त प्रजापति है। पाञ्चभौतिक शरीर, पाँच इन्द्रियाँ, शारीरिक कर्म्म, इनकी समष्टि ही उसका अंशभूत प्रजापति है. दोनोंकी समष्टि ही आध्यात्मिक प्राजापत्यसंस्था है। पूर्वोक्त वचनोंके द्वारा इसी के सात पर्वोंका स्पष्टीकरण हुआ है। मनोमय प्रजापति भूतात्मा है, यही अनिरुक्तप्रजापति है। मनः–प्राण–वाक्–चक्षु–श्रोत्र–इन पांचों प्राणों को पञ्चेन्द्रियवर्ग माना गया है। इनके कर्म्म हीं कर्म्म नाम की छठी विभूति है। चित्याग्निमय भौतिक शरीर ही 'अग्नि' नाम का सातवाँ पर्व है। सातों की समष्टि ही 'विद्याचित' नामक सर्वप्रजापति है।

मूल आत्मा बृहतीप्राणमय है, अतएव इसके सातों मूलरूपों में बृहतीप्राण का साहस्रीभाव प्रतिष्ठित रहता है। इस क्रम से यद्यपि बृहतीसहस्र की आठ संस्था हो जाती हैं। परन्तु क्योंकि इन आठों में उत्तर उत्तर का बृहतीसहस्र पूर्व पूर्व के बृहतीसहस्र पर चित हैं, अतएव अन्ततोगत्वा केवल एक बृहतीसहस्र पर ही आठों का पर्य्यवसान हो जाता है, एव यही हमारा वेदोक्त * आयुर्भोगकाल है। एक आत्मकला[१], एक मनःकला[२], एक प्राणकला[३], एक वाक्कला[४], एक चक्षुःकला[५], एक श्रोत्रकला[६], एक कर्म्म कला[७], एक अग्नि कला[८], इन आठ कलाओं की समष्टि रूप, अहोरात्रलक्षण एक बृहतीप्राण का हम एक अहोरात्र में (दिन रात में) भोग कर लेते हैं। ३६००० दिन में बृहतीसहस्र का भोग समाप्त हो जाता है। यही हमारा 'आयुर्विज्ञान' है, जिसका बृहतीसहस्रके सम्बन्ध से, साथ ही उस आधिदैविक सम्वत्सर से इस आध्यात्मिक सम्वत्सर की तुलना करने के लिए दिग्दर्शन कराना पड़ा।

---

* मनःप्राणवाङ्मय भूतात्मा नाम के प्राकृतात्मा (सप्तदशराशियुक्त कर्म्मभोक्ता जीवात्मा देहाभिमानी भोक्तात्मा) के आयुःसूत्र सौरसम्वत्सर–प्रजापति के उस कोश से ही सम्बद्ध है, जिस कोश का आयुः–प्रदाता मनःप्राणवाङ्मय बार्हतप्राण बृहतीसहस्र (३६०००) संख्या में विभक्त है। इसी आधार पर मानव का आयुःकाल 'शतायुः' माना गया है, जैसा कि,––"वेदोक्तमायुर्म्मर्त्यानामाहुर्वर्षशतानि वै" इत्यादि से प्रमाणित है।

१–आधिदैविकप्रजापतिपरिलेखः—

* (य एवानिरुक्तः, स एव सर्वः)।

अनिरुक्तः	❀ सम्वत्सरकेन्द्रस्थो	मनोमयोऽनिरुक्तप्रजापतिः,	सर्वेषां प्रतिष्ठा–बृहतीसहस्रात्मकः	(३ ६ ० ० ०)	—❀
	१–त्रिवृत्स्तोमस्थः,	अन्नाहुतिरूपः,	अथर्ववेदमयः,—चान्द्रसोमः—निरुक्तः	(३ ६ ० ० ०)	—१
	२–त्रिवृत्स्तोमस्थः,	गार्हपत्यलक्षणः,	ऋग्वेदमयः,—पार्थिवाग्निः—निरुक्तः	(३ ६ ० ० ०)	—२
	३–पञ्चदशस्तोमस्थः,	अन्वाहार्य्यलक्षणः,	यजुर्वेदमयः,—आन्तरिक्ष्यवायुः-निरुक्तः	(३ ६ ० ० ०)	—३
उद्गीथः	४–एकविंशस्तोमस्थः,	आहवनीयलक्षणः,	सामवेदमयः—दिव्य-आदित्यः-निरुक्तः	(३ ६ ० ० ०)	—४
	५–त्रयस्त्रिंशस्तोमस्थः,	परिश्रितलक्षणः,	सर्वमयः,——दिक्सोमः, निरुक्तः	(३ ६ ० ० ०)	—५
	६–प्रतिष्ठालक्षणं,	श्रमगर्भितं,	काममयं——तपः, निरुक्तम्	(३ ६ ० ० ०)	—६
	७–सम्वत्सरलक्षणः,	त्रैलोक्यव्यापकः,	चित्यः——त्रैलोक्याग्निः, निरुक्तः	(३ ६ ० ० ०)	—७
सर्वः	❀–समष्टिलक्षणः,	अष्टपर्वोपेतः,	गायत्रब्रह्ममयः—सर्वप्रजापतिः——	(३ ६ ० ० ०)	—❀

* (य एव सर्वः, स एव अनिरुक्तः)।

२–आध्यात्मिकप्रजापतिपरिलेखः—

* (य एवानिरुक्तः, स एव सर्वः)।

अनिरुक्तः—	*–शरीरकेन्द्रस्थो मनोमयोऽनिरुक्तप्रजापतिर्भूतात्मा—बृहतीसहस्रः कः—	(३६००१)	—*
	१–ब्रह्मरन्ध्रे संप्रतिष्ठितं संकल्पविकल्पात्मकमैन्द्रियकं चान्द्रं मनः—निरुक्तम्—	(३६०००)	—१
	२–जिह्वास्थानीया, शब्दप्रपञ्चप्रवर्त्तिका रसग्राहिका च आग्नेयी वाक्—निरुक्ता—	(३६०००)	—२
	३–नासारन्ध्रस्थानीयः, श्वासप्रश्वासप्रवर्त्तकः, गन्धग्राहकश्च वायव्यः प्राणः—निरुक्तः—	(३६०००)	—३
उद्गीथः—	४–चक्षुर्गोलस्थं, रूपग्राहकं, आदित्यात्मकं चक्षुः—निरुक्तम्	(३६०००)	—४
	५–श्रोत्रगोलस्थं, शब्दग्राहकं, दिक्सोममयं श्रोत्रम्—निरुक्तम्	(३६०००)	—५
	६–पञ्चेन्द्रियव्यापारलक्षणं, बलाधायकं शारीरं—कर्म्म—निरुक्तम्	(३६०००)	—६
	७–आलोमभ्य आनखाग्रेभ्यो व्याप्तो वैश्वानरलक्षणः—अग्निः—निरुक्तः	(३६०००)	—७
सर्वः—	*–समष्टिलक्षणः, अष्टपर्वोपेतः, गायत्रब्रह्ममयः—सर्वप्रजापतिः	(३६०००)	—*

* (य एव सर्वः, स एवानिरुक्तः)।

बृहतीसहस्रात्मक सम्वत्सर का, और हमारा पितापुत्रात्मक सम्बन्ध है। एवं 'पिता वै जायते पुत्रः' के अनुसार पिता ही अंशात्मना पुत्ररूप में परिणत होता है। ऐसी दशा में हमें मान लेना पड़ेगा कि, पितुःस्थानीय आधिदैविक सम्वत्सरप्रजापति का जो स्वरूप है, उसमें जो पर्व-विभाग हैं, पुत्रस्थानीय आध्यात्मिक सम्वत्सरप्रजापति का भी वही स्वरूप है, एवं इसमें भी वही पर्व-विभाग है। बृहतीसहस्र-पर्वों का पूर्व में समतुलन किया गया। अब छन्दोमय सात पर्वों की दृष्टि से समतुलन कीजिए। पूर्व में बतलाया जा चुका है कि, सौर सम्वत्सर में गायत्र्यादि सात छन्दों का भोग हो रहा है। जिज्ञासु प्रश्न कर-सकता है कि, पुरुषशरीर में सातों छन्द कहाँ, कैसे प्रतिष्ठित हैं ?, एवं इनका क्या स्वरूप हैं ? इसी जिज्ञासा की शान्ति के लिए पुरुषानुबन्धी छन्दों का संक्षिप्त विवरण उपस्थित हो रहा है।

'वाक्[१]-प्राण[२]-चक्षु[३]-श्रोत्र[४]-मन[५]' पूर्वोक्त इन पाँच इन्द्रियप्राणों को लक्ष्य में रखिए। इन पाँच प्राणों के अतिरिक्त एक **'प्रजननप्राण[६]'** (उपस्थप्राण) है, एक मूलाधारस्थ, ब्रह्मग्रन्थिलक्षण **'अपानप्राण[७]'** है। इस दृष्टि से पुरुषसंस्था में सात प्राण हो जाते हैं। ये सात प्राण ही आध्यात्मिक सात छन्द हैं। छन्दः क्रमानुसार इन सातों प्राणों का—"प्राण[१], चक्षु[२], वाक्[३], मन[४], श्रोत्र[५], प्रजननप्राण[६], अपानप्राण[७]" यह क्रम रक्खा जायगा, एवं इन्हीं को क्रमशः "गायत्री[१], उष्णिक्[२], अनुष्टुप्[३], बृहती[४], पंक्ति[५], त्रिष्टुप्[६], जगती[७]" माना जायगा। सातों प्राण 'सहस्र' सम्पत्ति से युक्त हैं। सब में 'पद-पुनःपद' भेद से दो दो विभाग हैं। उक्थरूप पद है, मण्डलरूप पुनःपद है। यही मण्डलरूपा 'साहस्री' है। प्रत्येक प्राण उक्थ-अर्क (बिम्ब, रश्मि) भेद से प्रतिष्ठित होता हुआ अवश्य ही सहस्र सम्पत्ति से युक्त है, जो कि सहस्रसम्पत्ति पूर्वोक्त बृहती के सम्बन्ध से बृहतीसहस्ररूप में परिणित हो रही है। उसके साथ इसका छन्दोरूप यही समतुलन है, जिसका विशद वैज्ञानिक विवेचन 'शतपथविज्ञानभाष्य' में द्रष्टव्य है निम्नलिखित वचन इसी समतुलन का समर्थन कर रहे हैं —

> १—"प्राणो गायत्री, चक्षुरुष्णिक्, वागनुष्टुप्, मनो बृहती, श्रोत्रं पंक्तिः, य एवायं प्रजननः प्राणः एष एव त्रिष्टुप्, योऽयमवाङ् प्राणः-एष एव जगती। तानि वा एतानि सप्त छन्दांसि चतुरुत्तराण्यग्नौ क्रियन्त"। (शत० ९।३।१।१)।
>
> २—"तानि वा एतानि सप्त छन्दांसि चतुरुत्तराण्यन्योऽन्यस्मिन् प्रतिष्ठितानि। सप्तेमे पुरुषे प्राणा अन्योऽन्यस्मिन् प्रतिष्ठिताः। तद्यावन्तमेव विच्छन्दसां गणमन्वाह छन्दसः, छन्दसो हैवास्य सोऽनूक्तो भवति, स्तुतो वा, शस्तो वा, उपहितो वा"। (शत० १०।३।१।६।)

जब समतुलन का ही विचार करने लगे, तो सम्वत्सर-सम्बन्धी अयन-पक्ष-मास-अहोरात्रादि की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। अवश्य ही इन अहोरात्रादि पर्वों का समतुलन भी आवश्यक रूप से अपेक्षित बन जाता है। इस तृतीय समतुलन को थोड़ी देर के लिए छोड़कर पहिले सौरचान्द्र-रसमूर्त्ति प्रजापति के उस व्यूहनकर्म्म का विचार कर लीजिए, जिससे वह स्वयं अहोरात्रादिरूप में परिणित हो रहा है। "३६० यजुष्मती इष्टका, तथा ३६० परिश्रित, सम्भूय ७२० ज्योतियों के द्वारा सम्वत्सरप्रजापति ने अपने प्रातिस्विक बृहतीसहस्र रूप से देवभूतादि सर्वविध प्रजावर्ग का निर्म्माण किया, अपनी सम्वत्सरमात्रा इस निर्म्माण प्रक्रिया में हुत कर दी" यह पूर्व में कहा जा चुका है।

अपनी मात्रा से भूत-भौतिक सृष्टि का निर्म्माण कर प्रजापति ने अपने आपको रिक्त सा माना। प्रजापति ने यह अनुभव किया कि, मैं रिक्त-सा हो गया हूँ। पूर्णता अमृतभाव है, रिक्तता मृत्युभाव है। इस मृत्युलक्षण रिक्तभाव से पूर्णलक्षण प्रजापति में भय का संचार होना स्वाभाविक ही था। दौर्बल्य-लक्षण इस मृत्युभय से त्राण पाने के लिए प्रजापति ने यह विचार किया कि, यदि मैं इन सम्पूर्ण भूतों को पुनः अपने आप में आहित करलूँ, इन सब का आत्मा बन जाऊँ, तो मेरी रिक्तता पुनः पूर्णभाव में परिणत हो सकती है। इस उपाय के साथ ही प्रजापति के सामने 'कथं' का प्रश्न भी उपस्थित हुआ। तत्काल प्रजापति की दृष्टि व्यूहन-प्रक्रिया की ओर गई। उसी प्रक्रिया के आश्रय से प्रजापति पुनः पूर्णभाव में परिणित हो गए।

२६-अहरहर्यज्ञ--

तात्पर्य्य कहने का यही है कि, सम्वत्सराग्नि का जो भाग प्रजानिर्म्माण में उपयुक्त हो जाता है, वह व्यूहनप्रक्रिया के द्वारा इसी प्रकार पुनः प्रजापति में सञ्चित होता रहता है, जैसे राष्ट्र का धन राष्ट्रपति के कोश में परम्परया पहुँचकर राष्ट्रपति को पूर्ण (सबल) बनाए रखता है। प्रथम-उत्तम-मध्यमादि श्रेणि वर्गों के द्वारा परम्परया आदान होता है। इस आदान परम्पराके क्रमिक प्रत्यर्पणका अवसान राष्ट्रपति पर होता है। उदाहरण के लिए कृषक को ही लीजिए। कृषक से वहीं के सामान्य अनुचर (पटेल-पटवारी) वसूल करते हैं। यहाँ से तहसील में जाता है, तहसील से बड़े राज्य में आता है। ठीक यही प्रत्यर्पण कर्म्म यहाँ समझिये। भौतिक सम्वत्सरमण्डल में सबसे छोटा विभाग मुहूर्त्तों का माना गया है। इन मुहूर्त्तों में व्याप्त भूतमात्राओं किंवा मुहूर्त्तलक्षण भूतमात्राओं का प्रत्यर्पण अहोरात्र पर्वों में, इन का पक्षपर्वों में, इनका मासपर्वों में, इन का ऋतुपर्वों में, इनका अयनपर्वोंमें प्रत्यर्पण होते होते अनन्तोगत्वा सम्वत्सर में सबका आत्मसमर्पण हो जाता है। इसी प्रक्रिया को 'व्यूहनकर्म्म' कहा जाता है। महा सम्वत्सर से आरम्भ कर मुहूर्त्त पर्य्यन्त एक गमनागमनद्वार है। वहाँ से मात्रा आ आ कर मुहूर्त्त पर्य्यन्ता सृष्टि का पोषण रक्षण करती है, यही उसका रिरिचानभाव है, अपूर्णता है, दौर्बल्य है। परन्तु व्यूहनकर्म्म के द्वारा मुहूर्त्त से आरम्भ कर पारम्परिक प्रत्यर्पण से उन आगत मात्राओं का पुनः उस रिरिचान प्रजापति में चयन होता रहता है। यही उस असंहित का पुनःसन्धान है, रिक्त की पुनः पूर्णता है। आरम्भ में वह हमारे स्वरूप निर्म्माण के लिए अन्न बना था, उसके अंश-प्रत्यंशों को लेकर हमने अपनी स्वरूपसत्ता प्रतिष्ठित की थी। परन्तु आज वही हमें अन्न बना रहा है। हम यदि अपनी रक्षा के लिए प्राकृतिक मण्डलात्मक सम्वत्सर

प्रजापति के पर्वों का उपभोग करते हैं, तो निश्चयेन हमारे सम्पूर्ण पर्व-(भूतमात्रा) अहरहः उसमें भी उपभुक्त हो रहे हैं। दोनों में अन्नादानविसर्गलक्षण अहरहर्यज्ञ हो रहा है *।

३०-अहोरात्रव्यूहनप्रक्रिया—

विशोत्तरसप्तशतकलमूर्ति सम्वत्सरप्राजापति ने मुहूर्त्तपर्य्यन्त व्याप्त होने के लिए अपने आप को कितनें व्यूहन कर्म्मों में विभक्त किया ?, इस स्थिति का क्रमशः समन्वय कीजिए। सर्वप्रथम उसने अपने स्वरूप को (७२० संख्यात्मक एक समष्टि रूप को) '३६०-३६०' भेद से दो भागों में विभक्त किया। यही इसका प्रथम व्यूहनकर्म्म हुआ। इस से काम न चला, तो अपने स्वरूप को (७२० को) तीन-तीन-तीन अशीतियों (८०) में विभक्त करते हुए-'२४०-२४०-२४०' भेद से तीन भागों में विभक्त कर दिया। इससे भी काम न चला, तो अपने स्वरूप को (७२० को) अशीतिशत (१८०) रूप से चार भागों में विभक्त किया। इस से भी काम न चला, तो अपने आत्मा को (७२० को) चतुश्चत्वारिंश (१४४) रूप से पाँच भागों में विभक्त कर दिया। इस से भी काम न चला, तो अपने आपको (७२० को) विंशतिशत (१२०) रूप से ६ भागों में विभक्त किया। प्रजापति ने यहाँ पर्य्यन्त एक क्रम रक्खा, न तो उसने अपने स्वरूप के सात विभाग किए, न सप्त रूप से व्याप्त हुआ।

अनन्तर इसने अपने आपको (७२० को) नवती (९०) रूप से आठ भागों में विभक्त किया। इससे भी काम न चला, तो अपने आप को (७२० को) अशीति (८०) रूप से नौ भागों में विभक्त किया। इस से भी काम न चला, तो अपने आप को (७२० को) द्वासप्तति (७२) रूप से दश भागों में विभक्त किया। यहाँ आकर प्रजातपति का दूसरा विक्रम समाप्त हुआ। आगे न तो इसने अपने आपको ग्यारह भागों में विभक्त किया, एव न इन में व्याप्त ही हुआ। अनन्तर इस ने अपने आप को (७२० को) अष्टाचत्त्वारिंशत् (४८) रूपसे पन्द्रह भागों में विभक्त किया। इस से भी काम न चला, तो पञ्चचत्त्वारिंशत् (४५) रूप से सोलह भागों में विभक्त किया। यहाँ आकर चौथा विक्रम समाप्त हुआ। आगे न तो इसने अपने आप को सत्रह भागों में विभक्त किया, न इन में व्याप्त हुआ। अनन्तर चत्वारिंशत् (४०) रूप से अपने आप को (७२० को) अठारह भागों में विभक्त किया। यहाँ इस का पाँचवाँ व्यूहन समाप्त हुआ। आगे न तो इसने उन्नीस व्यूहन ही किया, एवं न इन में व्याप्त ही हुआ। आगे जाकर इसने अपने आप को षट्त्रिंशत् (३६) रूप से बीस भागों में विभक्त किया। यहाँ इस का ६ठा व्यूहन समाप्त हुआ।

आगे न तो इक्कीस-बाईस-तेईस विभाग हुए, न इन में व्याप्त हुआ। अनन्तर इसने अपने आप को (७२० को) त्रिंशत् (३०) रूप से चौबीस भागों में विभक्त किया। यहाँ आकर यह (पूर्वोक्त) 'पञ्चदश' व्यूह में प्रतिष्ठित हो गया। अर्थात् इस चतुर्विंशत् व्यूह का पञ्चदश व्यूह के साथ ग्रन्थिबन्धन हो गया। परिणाम

---

* अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य नाम।
यो मा ददाति स इदेव मावत्-अहमन्नमन्नमदन्तमद्मि ॥
—सामसं० पू० ६।३।

इस ग्रन्थि-बन्धन का यह हुआ कि, कृष्णपक्ष के भी पञ्चदश (१५) पर्व (अहोरात्र) हो गए, एवं शुक्ल-पक्ष के भी पञ्चदश पर्व हो गए। चतुर्विंशत्-व्यूहन का फल यह हुआ कि. इन के सम्बन्ध से इस का पूरा स्वरूप (सम्वत्सर) चौबीस भागों से (२४ पक्षों से) युक्त हो गया। परन्तु इस चतुर्विंशति (२४ पक्षों) से, एवं त्रिंशत् (३०) इष्टकाओं से अभी पूरा पूरा कार्य्यनिर्वाह न हुआ।

इस कमी की पूर्त्ति के लिए इसने एक अहः के उन पन्द्रह रूपों को देखा, जो कि इसके आत्मा के 'लोकम्पृणा' नामक (पन्द्रह) मुहूर्त्त थे। इसी प्रकार पन्द्रहरूप ही रात्रिके देखे। ये (अहोरात्र के) ३० मुहूर्त्त ही इस प्रजापति का मुहुर्मुहुः त्राण करते रहते हैं, अतएव 'मुहुस्त्रायन्ते' इस निर्वचन से ये अहोरात्र पर्व 'मुहूर्त्त' नाम से प्रसिद्ध हुए। सम्वत्सर के आर ओर पर्वों की अपेक्षा स्वरूप में छोटे होते हुए भी ये मुहूर्त्त पर्व त्रैलोक्यरूप सम्वत्सर की छिद्रपूर्णता का कारण बनते हैं, अतएव इन्हें-'लोकान् पूरयन्ति' इस निर्वचन से लोकम्पृणा नाम से व्यवहृत किया गया। इस प्रकार १/२–२/३–३/४–४/५–५/६–६/८–७/९–८/१०–९/१२–१०/१५–११/१६–१२/१८–१३/२०–१४/२४– इन चौदह व्यूहनों में परिणत होकर अहोरात्र के ३० मुहूर्त्तों से प्रजापति ने अपने रिक्त-भाव को पूर्ण बना लिया। स्वयं सम्वत्सरप्रजापति मूलाग्नि है। पहिले इससे सम्पूर्ण भूतों का परिपाक होता है। इसी लिए वैश्वानर 'पक्म्यपक्ता' नाम से प्रसिद्ध है *।

इन व्यूहनों का वैज्ञानिक रहस्य क्या है ?, एवं प्रजापति ने '७-११-१३-१४-१६-२१-२२-२३' संख्याओं से व्यूहन क्यों नहीं किया ?, इत्यादि प्रश्नों के समाधान के लिए शतपथविज्ञानभाष्य ही देखना चाहिए। प्रकृत में इस व्यूहन प्रदर्शन से हमें केवल यही बतलाना है कि, स्वयं सम्वत्सरप्रजापति (सम्वत्सराग्निमय बृहतीप्राण) अपने इस व्यूहन से उक्त संख्याओं में विभक्त हो कर सर्वान्त में 'मुहूर्त्त' रूप में परिणत हो जाते हैं। परिगणित (१०८०० दसहजार आठसौ) मुहूर्त्त एक सम्वत्सर की अग्निकला हैं। इन ३०-३० कलाओं से एक एक अहोरात्र की, १५-अहोरात्रों से मास की, १२ मासों से सम्वत्सर की पूर्त्ति होती है। उसके सृष्टिक्रम में सम्वत्सर से आरम्भ कर मुहूर्त्तस्वरूप पर पर्य्यवसान है। भौतिक सृष्टिक्रम में मुहूर्त्त से आरम्भ कर सम्वत्सर पर पर्य्यवसान है। पूर्वक्रम में सम्वत्सर रिरिचान है, भौतिक प्रपञ्च पूर्ण है। उत्तरक्रम में भौतिक प्रपञ्च रिरिचान है, सम्वत्सर पूर्ण है। वहाँ से यहाँ सम्वत्सर के द्वारा आदान होता रहता है, यहाँ से वहाँ मुहूर्त्तों के द्वारा आदान होता रहता है। हम सम्वत्सर से लेते हैं, सम्वत्सर मुहूर्त्तों से लेता है। परस्परादान-विसर्गलक्षण यही विश्वयज्ञ-प्रक्रिया उक्त व्यूहनकर्म्म से प्रतिपादित है। इसी प्रक्रिया का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

१-"स सर्वाणि भूतानि सृष्ट्वा रिरिचान इव मेने। स मृत्योर्बिभयाञ्चकार। स हेक्षां चक्रे-कथं न्वहमिमानि सर्वाणि भूतानि पुनरात्मन्नावपेय, पुनरात्मन् दधीय, कथं

*** अस्मिन महामोहमये कटाहे सूर्य्याग्निना रात्रिदिवेन्धनेन।**
मासर्त्तुदर्वीपरिघट्टनेन भूतानि कालः पचतीति वार्त्ता॥

— महाभारत-यक्ष, धर्म्मराजसंवाद।

न्वहमेवैषां सर्वेषां भूतानां पुनरात्मा स्यामिति । स द्वेधात्मानं व्यौहत् । षष्टिश्च त्रीणि च शतान्यन्यतरस्येष्टका अभवन्, एवमन्यतरस्य । स न व्याप्नोत्" ।

—(शत० १०।४।२-३-४) ।

२—"त्रीनात्मनोऽकुरुत—तिस्रस्तिस्रोऽशीतय एकैकस्येष्टका अभवन् । चतुर आत्मानोऽकुरुत—अशीतिशतेष्टकान् । पञ्चात्मनोऽकुरुत—चतुश्चत्वारिंशं शतमेकैकस्येष्टका अभवन । षडात्मनोऽकुरुत—विंशतिशतेष्टकान् । न सप्तधा व्यभवत् । अष्टावात्मनोऽकुरुत—नवतीष्टकान । नवात्मनोऽकुरुत—अशीतीष्टकान् । दशात्मनोऽकुरुत—द्वासप्ततीष्टकान् । नैकादशधा व्यभवत् । द्वादशात्मनोऽकुरुत—षष्टीष्टकान् । न त्रयादशधा व्यभवत्, न चतुर्दशधा । पञ्चदशात्मनोऽकुरुत—अष्टचत्वारिंशदिष्टकान् । न सप्तदशधा व्यभवत् । अष्टादशात्मनोऽकुरुत—चत्वारिंशदिष्टकान । नैकान्नविंशतिधा व्यभवत् । विंशतिमात्मनोऽकुरुत—षट्त्रिंशदिष्टकान् । नैकविंशतिधा व्यभवत्, न द्वाविंशतिधा, न त्रयोविंशतिधा । चतुर्विंशतिमात्मनोऽकुरुत—त्रिंशदिष्टकान्" ।

३—"सोऽत्रातिष्ठत पञ्चदशे व्यूहे । यद्यत् पञ्चदशे व्यूहेऽतिष्ठत, तस्मात् पञ्चदशापूर्यमाणस्य रूपाणि, पञ्चदशापक्षीयमाणस्य । अथ यच्चतुर्विंशतिमात्मनोऽकुरुत, तस्माच्चतुर्विंशत्यर्धमासः सम्वत्सरः" ।

४—"स एतैश्चतुर्विंशत्या, त्रिंशदिष्टकैरात्मभिर्न व्यभवत् । स पञ्चदशाह्नो रूपाण्यपश्यदात्मनस्तन्वो मुहूर्त्तान्, + लोकम्पृणाः । पञ्चदशव रात्रेः । यद्यत्—मुहु त्रायन्ते, तस्मान्मुहूर्ताः । अथ यत् क्षुद्राः सन्त इमाँल्लोकानापूरयन्त, तस्माल्लोकम्पृणाः" ।

५—"एष वाऽइदं सर्वं पचति—अहोरात्रै, रर्धमासै, र्मासै, ऋतुभिः, सम्वत्सरेण । तदमुना (सम्वत्सराग्निना) पक्वं (भूतविवर्त्तं) अयं (वैश्वानरः) पचति । 'पक्वस्य पक्ता' इति ह स्माह भारद्वाजोऽग्निं (वैश्वानरम्) । अमुना हि पक्वमयं पचति" ।

६—"तानि सम्वत्सरे दश च सहस्राण्यष्टौ च शतानि समपद्यन्त । सोऽत्रातिष्ठत, दशसु च सहस्रेष्वष्टासु च शतेषु" ।

—(शत० १०।४।२।५-२०) ।

* (७२०—ज्योतिर्म्मयः, समष्टिलक्षणः प्रजापतिः—सम्वत्सरः)
तस्यैते व्यूहनभावा मूहूर्त्तपर्य्यन्ताः)

१—द्वेधात्मानं व्याहौत्
(१) ३६०
(२) ३६०
} ७२०

२—त्रीनात्मनोऽकुरुत
(१)—२४०
(२)—२४०
(३)—२४०
} ७२०

३—चतुर आत्मनोऽकुरुत
(१)—१८०
(२)—१८०
(३)—१८०

६ अष्टावात्मनेऽकुरुत
(१)—९०
(२)—९०
(३)—९०
(४)—९०
(५)—९०
(६)—९०
(७)—९०
(८)—९०
}—७२०

७—नवात्मनोऽकुरुत
(१)—८०
(२)—८०

९—द्वादशात्मनोऽकुरुत
(१)—६०
(२)—६०
(३)—६०
(४)—६०
(५)—६०
(६)—६०
(७)—६०
(८)—६०
(९)—६०
(१०)—६०
(११)—६०
} ७२०

(१५)—३०
(१६)—३०
(१७)—३०
(१८)—३०
(१९)—३०
(२०)—३०
(२१)—३०
(२२)—३०
(२३)—३०
(२४)—३०

(१२)—४०
(१३)—४०
(१४)—४०
(१५)—४०
(१६)—४०
(१७)—४०
(१८)—४०

१—अहोरूप [illegible]
२—रात्रिरूप [illegible]
समवत्स [illegible]

११–षोडशात्मनोऽकुरुत

(१)–४५
(२)–४५
(३)–४५
(४)–४५
(५)–४५
(६)–४५
(७)–४५
(८)–४५
(९)–४५
(१०)–४५
(११)–४५
(१२)–४५
(१३)–४५
(१४)–४५
(१५)–४५
(१६)–४५ } —७२०

१२–अष्टादशात्मनोऽकुरुत

(१)–४०
(२)–४०
(३)–४०
(४)–४०
(५)–४०
(६)–४०
(७)–४०
(८)–४०
(९)–४०
(१०)–४० —७२०
(११)–४०

१३–विंशतिमात्मनोऽकुरुत

(१)–३६
(२)–३६
(३)–३६
(४)–३६
(५)–३६
(६)–३६
(७)–३६
(८)–३६
(९)–३६
(१०)–३६
(११)–३६
(१२)–३६
(१३)–३६
(१४)–३६
(१५)–३६
(१६)–३६
(१७)–३६
(१८)–३६
(१९)–३६
(२०)–३६ } —७२०

१४–चतुर्विंशतिमात्मनोऽकुरुत

(१)–३०
(२)–३०
(३)–३०
(४)–३०
(५)–३०
(६)–३०
(७)–३०
(८)–३०
(९)–३०
(१०)–३०
(११)–३०
(१२)–३०
(१३)–३० —७२०
(१४)–३०

णि पञ्चदश–१५ } त्रिंशन्मुहूर्ताः–एकस्मिन्नहोरात्रे ।
णि पञ्चदश–१५ }

रस्य ७२० अहोरात्रेषु–त्रिंशत्–भेदेन सम्भूय–१०८०० मुहूर्ताः, सम्वत्सराग्निकलाविभागाः ।

[दश च सहस्राण्यष्टौ च शतानि समपद्यन्त] ।

विशेष निवेदन—

(संशोधक (हमारी) की असावधानी से चार पृष्ठ प्रकाशित होने से रह गए थे, जिन का विषय पृष्ठ संख्या २२६ से आगे से आरम्भ कर २२७ वें पृष्ठ के **'एक सम्वत्सर में ३६० रात्रियाँ हैं०"** इत्यादि आरम्भ के मध्यभाग से सम्बद्ध है। पृ० सं० २२६ से आगे, तथा पृष्ठसंख्या २२७ से पूर्व मध्य में इन पृष्ठसं० २२६ (क), २२६ (ख), २२६ (ग) २२६ (घ) चार पृष्ठों का सम्बन्ध मानना चाहिए)।

पूर्वप्रतिपादित 'मुहूर्त्त' कला ही पुराणपरिभाषा में **'मन्वन्तर'** नाम से प्रसिद्ध हुई है। मन्वन्तर ही मुहूर्त्त है। ब्रह्मा के एक अहोरात्र में ऐसे ३० मन्वन्तर (मुहूर्त्त) हैं। एक मन्वन्तर का प्रातःसन्ध्या में, एवं एक मन्वन्तर का सायंसन्ध्या में उपभोग होता है। १४ मन्वन्तरों का सृष्टिरूप अहःकाल (पुण्याह) है, १४ मन्वन्तरों का प्रलयकालोपलक्षित रात्रिकाल है। हमारा एक वर्ष देवताओं का एक अहोरात्र है। देवताओं के ऐसे तीस अहोरात्रों का एक देवमास है। ऐसे १२ मासों का एक दिव्यवर्ष है। ऐसे सौ वर्ष देवताओं का आयुःकाल है। देवताओं के सौ वर्ष ब्रह्मा का एक अहोरात्र है। ऐसे ३० अहोरात्रों का एक ब्रह्ममास है। ऐसे १२ मासों का एक ब्रह्मवर्ष है। ऐसे १०० ब्रह्मवर्ष ब्रह्मा का आयुर्भोगकाल है। ब्रह्मा के सौ वर्ष महामायावच्छिन्न षोडशी ईश्वर का एक अहोरात्र है। ऐसे ३० अहोरात्रों का ईश्वरानुबन्धी एक मास है। ऐसे १२ महीनों का एक वर्ष है। ऐसे सौ वर्ष ईश्वर का आयुर्भोगकाल है। महाप्रलय का महामायावच्छिन्न ईश्वर से सम्बन्ध है, प्रलय का योगमायावच्छिन्न स्वायम्भुव ब्रह्मा से सम्बन्ध है, एवं खण्डप्रलय का सौर सम्वत्सरमूर्ति देवघन सूर्य्यनारायण से सम्बन्ध है। मनुष्यादि प्राणी, देवता, ब्रह्मा, ईश्वर, सभी शतायु हैं। सभी के साथ हमारे बृहतीसहस्र का समन्वय हो रहा है, जैसा कि 'पुराणरहस्यादि' अन्य ग्रन्थों में विस्तार से प्रतिपादित है।

३१—सम्वत्सर, और पुरुष का समतुलन—

जैसा कि पूर्व में (पृष्ठ संख्या २१७) में कहा गया था, मुहूर्त्तादि कलादृष्टि से भी हमारा (पुरुष का) उस के (सम्वत्सर के) साथ समतुलन हो रहा है। इसी तृतीय समतुलन के समन्वय के के लिए प्रसङ्गात् प्रजापति के अन्तिम पर्वरूप मुहूर्त्तों का दिग्दर्शन कराना पड़ा। अब एक ओर सपर्वा सम्वत्सर को रख लीजिए, दूसरी ओर सपर्वा पुरुष को, फिर दोनों के स्वरूप का समन्वय कीजिए,—'यदमुत्र तदन्विह' श्रुति सर्वात्मना चरितार्थ हो जायगी।

पुरुष (मनुष्य) साक्षात् सम्वत्सर (की प्रतिमा) है। क्योंकि जैसा, जो अवयवसंस्थानक्रम, यज्ञक्रम सम्वत्सरसंस्था का है, वैसा वही क्रम इस पुरुषसंस्था का है। अनेक पर्वों की समष्टिरूप 'सम्वत्सर' समष्ट्यपेक्षया एक है, तो अनेक पर्वों की समष्टिरूप 'पुरुष' भी समष्ट्यपेक्षया एक ही है। इसप्रकार समष्टिरूप से दोनों 'सम' हैं। एक सम्वत्सर में षण्मासात्मक, उत्तरायणकालोपलक्षित एक अहः (देवताओं का दिन) है, षण्मासात्मिका दक्षिणायनकालोपलक्षिता एक रात्रि (देवताओं की एक रात) है। इसप्रकार अयनलक्षण अहोरात्र के भेद से एक सम्वत्सर के दो पर्व हैं। ठीक इसी प्रकार इस पुरुष में भी दिव्यप्राणलक्षण प्राण अहःस्थानीय प्रथम पर्व है, एवं पार्थिवप्राणलक्षण अपान रात्रिस्थानीय द्वितीय पर्व है। अहःकाल मैत्र माना

माना गया है, रात्रि वारुणी मानी गई है। आध्यात्मिक प्राण मैत्र होने से अहःकाल है, अपान वारुण बनता हुआ रात्रिकाल है, जैसा कि-'प्राणापानौ मित्रावरुणौ' (ताण्ड्य० म० ६।१०।५।) इत्यादि श्रुत्यन्तर से प्रमाणित है। यही दोनों का दूसरा समतुलन है। सम्वत्सर में 'ग्रीष्म[1]§-वर्षा[2]-शीत[3]' भेद से तीन मुख्य ऋतुपर्व हैं। इधर पुरुष में भी 'प्राण‡-व्यान-अपान' भेद से ऋतुस्थानीय तीन मुख्य पर्व हैं, एवं इस दृष्टि से भी दोनों समतुलित हैं। ब्रह्मा[1]-विष्णु[2]-इन्द्र[3], तीन अक्षरों की समष्टिरूप हृद्य सम्वत्सर है, नभ्य आत्मा है। सोमगर्भित अग्निअक्षर[4] इस व्यक्षरमूर्त्ति आत्मा का शरीर है। चारों अक्षरों की समष्टि एक 'सम्वत्सर' है। इसप्रकार सम्वत्सर चतुरक्षर (चार अक्षर वाला) बन रहा है। तत्त्वात्मिका अक्षर-चतुष्टयी के अतिरिक्त 'सम्[1]-वत्[2]-स-[3]रः[4]' इस शब्दब्रह्म की दृष्टि से भी सम्वत्सर चतुरक्षर बन रहा है। ठीक इसी प्रकार व्यक्षरमूर्त्ति हृद्य, अन्तर्य्यामी आत्मा, सोमगर्भित अग्न्यक्षरमूर्त्ति शरीर भेद से तत्त्वापेक्षया भी उस सम्वत्सर के साथ यजन (मेल) करने वाला, अतएव 'यजमान' नाम से प्रसिद्ध पुरुष चतुरक्षर ही है। एवं 'य[1]-ज[2]-मा[3]-नः[4]' इस शब्दब्रह्म की दृष्टि से यह भी चतुरक्षर ही बन रहा है, यही इसका चौथा समत्व है।

पांक्त यज्ञ की दृष्टि से एक सम्वत्सर में 'वसन्त[1]-ग्रीष्म[2]-वर्षा[3]-शरत्[4]-हेमन्तशिशिर[5]' भेद से पाँच ऋतुएँ प्रतिष्ठित हैं। एवमेव पुरुष में 'प्राण¶-उदान-व्यान-समान-अपान' भेद से ऋतुस्थानीय पाँच पर्व प्रतिष्ठित हैं, यही पाँचवाँ समत्व है। साधारणकालभेददृष्टि से एक सम्वत्सर में 'वसन्त[1]-ग्रीष्म[2]-वर्षा[3]-शरत्[4]-हेमन्त[5]-शिशिर' इन ६ ऋतुओं का भोग हो रहा है। इधर पुरुष में भी* 'चक्षु[1]-चक्षु[2], नासिका[3]-नासिका[4], श्रोत्र[5]-श्रोत्र[6]' इस दृष्टि से चक्षुःस्थानीय दो आश्विनी-प्राण, नासास्थानीय दो सारस्वतप्राण, श्रोत्रस्थानीय दो ऐन्द्रप्राण भेद से ऋतुरूप ६ शीर्षप्राण प्रतिष्ठित हैं। यही छठा समत्व है।

सम्वत्सराग्नि ही मुख्य ऋतु है, एवं "सप्तचितिकोऽग्निः" के अनुसार सम्वत्सराग्नि सात चितियों में विभक्त हो रहा है A। अग्नि की इन सात चितियों की अपेक्षा से श्रुति ने अग्निरूप ऋतु के सात पर्व

---

§"विंशतिशतं वा (१२०) ऋतोरहानि" (कौ० ब्रा० ११७)

‡"स वा अयं त्रेधा विहितः प्राणः-प्राणः, अपानः, व्यानः" इति (कौ०ब्रा० ४।३।६)।

¶"पञ्चधा विहितो वाऽअयं शीर्षन् प्राणः-मनो, वाक्, प्राण,श्चक्षुः, श्रोत्रम्" (शत.६।२।२।५) इस श्रुत्यन्तर के अनुसार पञ्च इन्द्रियप्राणों के साथ भी सम्वत्सर की पाँच ऋतुओं का समतुलन किया जासकता है।

*"षड्ग्रहा भवति। षड्वाऽइमे शीर्षन् प्राणाः। चक्षुषीऽएवाश्विनाभ्यां, नासिके सारस्वताभ्यां, श्रोत्रे ऐन्द्राभ्यां यथारूपमेव यथादेवतमात्मानं मृत्यो स्पृत्वामृतं कुरुते"। (शत० १२।८।१।६)।

A "सप्तचितिकोऽग्निः, सप्तर्त्तवः, सप्त दिशः, सप्त देवलोकाः, सप्त स्तोमाः, सप्त पृष्ठानि, सप्त छन्दांसि, सप्त ग्राम्याः पशवः, सप्तारण्याः, सप्त शीर्षन्प्राणाः। यत् किञ्च सप्तविधमधिदैवतमध्यात्मं, तदेनेन सर्वमाप्नोति" (शत० ६।५।२।८।)।

मानते हुए एक सम्वत्सर की सात ऋतुएँ भी मान लीं हैं। "साकञ्जानां सप्तथमाहुरेकजम०" इत्यादि मन्त्रवर्णन से सिद्ध अर्वाग्बिल, ऊर्ध्वबुध्न चमस (शिरः-कपाल) के तीर में (प्रान्तभागों में) प्रतिष्ठित रहने वाले दक्षिणश्रोत्रस्थ गोतमप्राण[1], वामश्रोत्रस्थ भरद्वाजप्राण[2], दक्षिणचक्षुस्थ विश्वामित्रप्राण[3], वामचक्षुस्थ जमदग्निप्राण[4], दक्षिणनासाछिद्रस्थ वसिष्ठप्राण[5], वामनासाछिद्रस्थ कश्यपप्राण[6], मुखस्थ (वागिन्द्रियस्थ) अत्रिप्राण[7], ये सात आध्यात्मिक ऋषिप्राण ही आध्यात्मिक पुरुष की सात ऋतुएँ हैं *। यही सातवाँ समत्त्व है।

मधु-माधवादि (चैत्र-वैशाखादि) भेद से एक सम्वत्सर में मासात्मक बारह पर्व हैं। इधर पुरुष में भी मासोपलक्षित बारह प्राण प्रतिष्ठित हैं। सात पूर्वोक्त शीर्षण्य प्राण, पाँच पूर्वोक्त प्राण-उदानादि वायव्य-प्राण, इसप्रकार बारह प्राण अध्यात्मसंस्था में व्याप्त हैं। यही आठवाँ समत्त्व है। 'मलिम्लुच' (लौंद के महिने को) मास को लेकर सम्वत्सर के तेरह मास हैं, यहाँ भी 'नाभिस्त्रयोदशी' के सम्बन्ध से तेरह प्राण हो जाते हैं। यही नवाँ समत्त्व है। एक सम्वत्सर में २४ अर्द्धमास (पक्ष) प्रतिष्ठित हैं। पुरुष भी दोनों हाथों पैरों की २० अंगुलियाँ, शिर, उर, उदर, पायु, भेद से चार अङ्ग, इस क्रम से चतुर्विंशत्-पर्वसम्पत्ति से युक्त हो रहा है। यही दसवाँ समत्त्व है। मलिम्लुचमास के दो अर्द्धमासों के समन्वय से एक सम्वत्सर के २६ अर्द्धमास हो जाते हैं। यहाँ भी (पुरुष में भी) २० अंगुलियाँ, चार अङ्ग, दो प्रतिष्ठा (पाद) भेद से २६ पर्वों का भोग हो रहा है। यही ग्यारहवाँ समतुलन है।

'यज्ञो वै पुरुषः-'पुरुषो वै यज्ञः' इत्यादि श्रुतियाँ यज्ञात्मक सम्वत्सर, तथा पुरुष (मानव) के समसमत्त्व का ही समर्थन कर रहीं हैं। सचमुच जैसा स्वरूप क्रान्तिवृत्तावच्छिन्न सम्वत्सरयज्ञ का है, ठीक वैसा ही स्वरूप इस पुरुष का है। तभी तो इसे उसके नेदिष्ठ (समीपतम) माना गया है, जैसा कि-'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्' इत्यादि से प्रमाणित है। सम्वत्सरमण्डलस्थ क्रान्तिवृत्त के २४ अंश ही इस पुरुष के २४ पर्शु (फँसलियाँ) हैं। दक्षिणोत्तरक्रान्तियों के सम्पातबिन्दुओं के अनुपात से अंशात्मक पर्शु भी वक्रित बने हुए हैं। मण्डलमध्यस्थ बृहतीछन्दोरूप विष्वद्वृत्त ही पुरुष का मेरुदण्ड (रीड की हड्डी) है। अर्द्धसम्वत्सरात्मक अर्द्ध सौरयज्ञ से मानव का, तथा अर्द्ध चान्द्रयज्ञ से मानवी का स्वरूप सम्पन्न हुआ है। दोनों मिल कर एक पूर्णभाव है। स्वयं मानव अर्द्धबृगल (अर्द्धसम्वत्सर) है, जिसके इस शेष अर्द्धाकाश की पूर्त्ति मानवी से ही होती है, जैसा कि 'सोऽयमाकाशः पत्न्याऽऽपूर्य्यते' इत्यादि से स्पष्ट है। समसम्मुखावस्थित मानव-मानवी के युग्म से पूर्ण बृहतीछन्द संगृहीत है। यही अध्यात्मयज्ञ की परिपूर्णता है। अतएव अपत्नीक अर्द्धमानव पूर्णयज्ञ में अनधिकृत माना गया है। प्राकृतिक सम्वत्सरयज्ञ का प्रतिपर्व इस आध्यात्मिक यज्ञपुरुष के साथ समतुलित

---

* "अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः-इदं तच्छिरः। तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे। इमावेव गोतम-भरद्वाजौ। अयमेव गोतमः, अयं भरद्वाजः। इमावेव विश्वामित्र-जमदग्नी। अयमेव विश्वामित्रः, अयं जमदग्निः। इमावेव वसिष्ठ-कश्यपौ। अयमेव वसिष्ठः, अयं कश्यपः। वागेवात्रिः" (शत० १४।५।२।४-६)।

है। उस यज्ञ के स्वरूप का अतिक्रमण कर देने से ही इस यज्ञस्वरूप में विकृतिभाव उत्पन्न हो जाया करते हैं। अधिकाङ्ग–हीनाङ्ग–श्लथाङ्ग–आदि दोष एकमात्र प्राकृतिक सम्वत्सरयज्ञ के नियमों के अतिक्रमण के ही दुष्परिणाम मानें गए हैं। प्रकृत्यनुगता प्रजासम्पत्ति के प्राकृतिक तन्तुवितान का सम्पूर्ण श्रेय प्रकृतिसिद्ध सम्वत्सरयज्ञ की आचारात्मिका उपासना पर ही अवलम्बित है। इसी आधार पर वेदोक्ता यज्ञविद्याओं में यत्रतत्र बड़े आटोप के साथ 'यज्ञसम्पत्' रूप से इस उपासना पथ का स्वरूपविश्लेषण हुआ है। प्रदर्शित संख्या–साम्य केवल कल्पना नहीं है। अपितु प्राकृतिक सम–साम्य ही इन संख्यासाम्यों के द्वारा प्रतिपादित है। यह ठीक है कि आचारपद्धतियों के विलुप्तप्राय हो जाने से आज भारतीय वैदिक विज्ञान का प्रकृतिसिद्ध व्यवस्थित स्वरूप हमारी प्रज्ञा से तिरोहित है। किन्तु एतावता ही उसकी शाश्वत उपयोगिता के सम्बन्ध में कोई आशङ्का नहीं की जा सकती। आज भी हम उस नित्यविज्ञान के परिज्ञान के द्वारा वैदिक तत्त्ववाद के आधार पर उस शाश्वत सत्य का अनुगमन कर सकते हैं, जो मानव की सर्वोत्कृष्ट जीवनपद्धति का एकमात्र मूलाधार माना गया है। इसी तथ्य की ओर भारतीय प्रज्ञा का ध्यान आकर्षित करने के लिए यह संख्यासम्पत् समुपस्थित है, जिसके शेष २–३ साम्यों का दिग्दर्शन कराता हुआ प्रस्तुत परिच्छेद उपरत हो रहा है। निम्न लिखत श्रौत वचन इसी प्राकृतिक साम्य का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

(१)–यावानेवोर्ध्वस्तावांस्तिर्य्यक्। पुरुषसम्मित इत्यु हैक आहुः। (शत० ३।१।३।३)।

(२)–पुरुषो वै यज्ञः। पुरुषस्तेन यज्ञः–यदेनं पुरुषस्तनुते। एष वै तायमानो यावानेव पुरुषस्तावान् विधीयते। तस्मात् पुरुषो यज्ञः। (शत० १।३।२।१।)।

(३)–पुरुषो वै यज्ञः। शिर एवास्य हविर्धानं, मुखमेवास्य–आहवनीयः। उदरमेवास्य सदः। (शत० ३।५।३।१।)।

(४)–तद्यत् पञ्चकृत्व आनक्ति–सम्वत्सरसम्मितो वै यज्ञः। पञ्च वा ऋतवः सम्वत्सरस्य। तं पञ्चभिराप्नोति। (शत० ३।१।३।१७।)।

(इस से आगे २२७ वें पृष्ठ का आरम्भ समझना चाहिए)

एक सम्वत्सर में ३६० रात्रियाँ हैं, इधर पुरुष में ३६० अस्थियाँ (हड्डियाँ) हैं, यही बारहवाँ समतुलन है। एक सम्वत्सर में ३६० अहः (दिन) हैं, इधर पुरुष में ३६० मज्जा हैं, यही तेरहवाँ समतुलन है। एक सम्वत्सर में ७२० अहोरात्र हैं, इधर पुरुष में ७२० अस्थि-मज्जा हैं। एक सम्वत्सर के १०८०० (दस हजार आठसौ) मुहूर्त्त हैं। इस पर्वके सम्बन्ध में कुछ विशेष वक्तव्य है।

सामान्य परिभाषा में 'मुहूर्त्तो घटिकाद्वयम्' के अनुसार एक मुहूर्त्त दो घडी का माना गया है। यदि मुहूर्त्तों के अवान्तर सूक्ष्म विभागों का विचार किया जाता है, तो इनका पर्य्यवसान 'स्वेदायन' पर होता है। रोमकूपों से भी सुसूक्ष्म वे छिद्र, जिन से सतत स्वेद निकला करता है, 'स्वेदायन' कहलाए हैं। इन १५ स्वेदायनों की समष्टि एक 'लोमगर्त्त' है। पन्द्रह लोमगर्त्त मिलकर एक 'निमेष' है। पन्द्रह निमेष मिलकर एक 'अनः' (प्राणकी मूलावस्था) है। पन्द्रह अन मिलकर एक 'प्राण' है। पन्द्रह प्राण मिलकर एक 'इदम्' है। पन्द्रह इदं मिलकर एक 'इदानि' है। पन्द्रह इदानि मिलकर एक 'एतर्हि' है। पन्द्रह एतर्हि मिलकर एक 'एतर्हीणि' है। पन्द्रह 'एतर्हीणि' मिलकर एक 'क्षिप्र' है। पन्द्रह क्षिप्र मिलकर एक 'मुहूर्त्त' है। ऐसे ३० मुहूर्त्तों से एक अहोरात्र का स्वरूप सम्पन्न हुआ है।

पुरुषसंस्था में प्राणनरूप से इन साम्वत्सरिक १०८०० मुहूर्त्तों का ज्यों का त्यों भोग हो रहा है। सम्वत्सरप्रजापति सदा १०८०० इन कलाओं से युक्त रहता है। इसी प्रकार पुरुष भी सदा (प्रत्येक अहोरात्र में) इन कलाओं से युक्त रहता है। यही नहीं, अपाननरूप से तो इस में प्रत्येक अहोरात्र में द्विगुणित मुहूर्त्तोंका उपभोग मानना पड़ता है। पुरुषका श्वासात्मक वायव्याग्नि मुहूर्त्त की प्रतिकृति है। इसका प्रतिद्वन्द्वी प्रश्वास है। इस प्रकार प्राणात्मक मुहूर्त्त प्राणन-अपानन (श्वास-प्रश्वास) भेद से द्विगुणित बनते हुए २१६०० (इक्कीस हजार ६ सौ) कलाओं में परिणत हो रहे हैं। यही हमारी दैनिक श्वासप्रश्वाससंख्या है *। एवं यही इसका उसके साथ चौदहवाँ समतुलन है। इसी समतुलन-प्रक्रिया का क्रमिक निरूपण कर सर्वान्त में उपसंहार करती हुई श्रुति कहती है—

१—"दश च वै सहस्राण्यष्टौ च शतानि सम्वत्सरस्य मुहूर्त्ताः। यावन्तो मुहूर्त्तास्तावन्ति पञ्चदशकृत्वः क्षिप्राणि । यावन्ति क्षिप्राणि, तावन्ति पञ्चदशकृत्व एतर्हीणि। यावन्त्येतर्हीणि, तावन्ति पञ्चदशकृत्व इदानीनि। यावन्तीदानीनि, तावन्तः पञ्चदशकृत्वः प्राणाः । यावन्तः प्राणाः, तावन्तोऽनाः । यावन्तोऽनाः, तावन्तो निमेषाः। यावन्तो निमेषाः, तावन्तो लोमगर्त्ताः। यावन्तो लोमगर्त्ताः,

* आगे बतलाए जाने वाले वेदव्यूहन के अनुसार साम्वत्सरिक त्रयीवेदके ८६४००० विभाग हो जाते हैं। ४० अक्षरात्मक पंक्तिछन्द इन विभागों मे २१६०० होते हैं। अतएव श्वासप्रश्वास इतने ही भागोंमें विभक्त रहते हैं।

तावन्ति स्वेदायनानि *। तावन्त एव स्तोका वर्षन्ति। एतद्ध स्म वै तद् विद्वानाह-बार्कलिः-सार्वभौमं मेघं वर्षन्तं, 'वेदाहमस्य वर्षस्य स्तोकान्' इति"

२-"तदेष श्लोकोऽभ्युक्तः—(प्रश्नश्रुतिः)—

अमादन्यत्र परिवर्त्तमानस्तिष्ठन्नासीनो यदि वा स्वपन्नपि।
अहोरात्राभ्यां पुरुषः समेन कति कृत्वः प्राणिति चाप चानिति"

इति १।

तदेष श्लोकः प्रत्युक्तः (उत्तरश्रुतिः)—

शतं शतानि (१००००) पुरुषः समेनाष्टौ शता (८००) यन्मितं तद्वदन्ति।
अहोरात्राभ्यां पुरुषः समेन तावत्कृत्वः प्राणिति चाप चानिति"

इति।

—(शत० १२।३।२।५-८)।

३२-विराडग्नि—

तत्त्वात्मक सम्वत्सरप्रजापति के पर्वरूप अयन, ऋतु, मास, पक्ष, अहोरात्र, मुहूर्त, आदि तत्त्वात्मक (अग्न्यात्मक) पर्वों का स्वरूप बतलाते हुए प्रसङ्गात् इसके साथ पुरुषप्रजापति का समतुलन किया गया। अत्र पुनः इसी सम्वत्सर की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। जिस पर्वाग्नि के समन्वय से रिरिचान-सम्वत्सर का पुनः सन्धान होता है, उसे 'विराडग्नि' कहा गया है। पार्थिव विराडग्नि ही सम्वत्सर में चित होकर सम्वत्सर को (सौर सम्वत्सर को) पूर्ण बनाता है। इसे विराट् इसलिए कहा जाता है कि, इसमें दशाक्षर विराट्छन्द की १० विभूतियाँ प्रतिष्ठित हैं। चित होने वाला पार्थिव अग्नि अग्नि-वायु-आदित्य-भेद से तीन सौम्य-लोकों में व्याप्त बताया गया है। इन में पार्थिव अग्नि 'गार्हपत्याग्नि' है, यह एकविध है। आन्तरिक्ष्य अग्नि (वायु) 'धिष्ण्याग्नि' है। अष्टविध नाक्षत्रिक अग्नि के भेदसे यह अष्टविध बना हुआ है। दिव्याग्नि (आदित्य) 'आहवनीयाग्नि' है, यह एकविध है। इस प्रकार सम्वत्सर में चित होने वाला पार्थिव अग्नि आरम्भ में अग्नि-वायु-आदित्यरूप से गार्ह० धिष्ण्य० आह० रूप में परिणत हो रहा है। इनमें मध्यस्थ अग्नि (वायुलक्षण धिष्ण्याग्नि) अष्टविध है। सम्भूय एक ही पार्थिव अग्नि के दश पर्व हो जाते हैं। यही दशाक्षरा विराट्सम्पत् है, यही इस अग्नि का वैराजभाव है। दूसरी दृष्टि से विराट्-सम्पत्ति का

---

* 'बार्कलि' नामक वेदज्ञ विद्वान् अपनी व्यावहारिक भाषा में यह कहा करते थे कि, "चारों ओर के क्षितिज से मिले हुए मेघों से जो जलबिन्दु गिरते हैं, मैं उनकी संख्या जानता हूँ"। में इसी सम्बन्ध याज्ञवल्क्य कहते हैं कि, बार्कलि इस मुहूर्त-विज्ञान के आधार पर ही सार्वभौम-वर्षण के (स्वेदायन-संख्याओं के आधार पर) बिन्दुओं का अभिनय कर दिया करते थे।

महापृथिवी–स्वरूपपरिलेखः—

भूपिण्डः—
पोषणः:

पोषणाण्डानुगतः—

युग्मस्तोमात्मिका महापृथिवी १	१	संयतीत्रैलोक्य जगती	अष्टाचत्वारिंशः	४८	१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ अग्नि-सोम-इन्द्र-विष्णुरक्षरगर्भितः-ब्रह्माक्षरप्रधानः-जगतीछन्दश्छन्दितः-छन्दोमास्तोमः--युग्मस्तोमः--(संयतीलोकात्मिका पृथिवी-जगती) (४८)
	२	क्रन्दसीत्रैलोक्य त्रिष्टुप्	चतुश्चत्वारिंशः	४४	१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ अग्निसोमेन्द्रगर्भितः-विष्ण्वक्षरप्रधानः-त्रिष्टुप्छन्दितः-छन्दोमास्तोमः-युग्मस्तोमः (क्रन्दसीलोकात्मिका पृथिवी-त्रिष्टुप् -(४४)
	३	रोदसीत्रैलोक्य गायत्री	चतुर्विंशः	२४	१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ अग्निसोमगर्भितः-इन्द्राक्षरप्रधानः-गायत्रीछन्दितः-स्तोमः(रोदसीपृथिवीगायत्री)-(२४)
वाक्-षट्क्-स्वरूपा	१	सागराम्बरा	चतुस्त्रिंशः	३४	१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ अग्निवाय्वादित्यभास्वरसोमदिक्सोमगर्भितः- आपोमयः प्रजापतिः पार्थिवः चतुस्त्रिंशः (३४) अयुग्मस्तोम-३४-रूपा – सैषा सागराम्बरा महापृथिवी आपोमयी।
	२	मही	त्रयस्त्रिंशः	३३	१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ अग्निवाय्वादित्यभास्वरसोमगर्भिता-दिक्सोममयी पृथिवी सागराम्बरा त्रयस्त्रिंशः-३३-अयुग्मस्तोमः
वषट्कारात्मिका २	३	सौम्या	त्रिणवः	२७	१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ अग्निवाय्वादित्यगर्भिता भास्वरसोममयी पृथिवी सौम्या मेदिनी-त्रिणवः
	४	आदित्या	एकविंशः	२१	१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ अग्निवायुगर्भिता आदित्यमयी पृथिवी यशोरूपा-एकविंशः
षट्स्तोमात्मिका पृथिवी	५	वायव्या	पञ्चदशः	१५	१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ अग्निगर्भिता वायुमयी पृथिवी-पञ्चदशः
	६	आग्नेयी	त्रिवृतः	९	१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ अग्निमयी पृथिव्री-त्रिवृतः

यशोऽण्डः—त्रिवृत-पञ्चदश—एकविंशस्तोमावच्छिन्नः पार्थिवः

रेतोऽण्डः—त्रिणवस्तोमावच्छिन्नः—पार्थिवः

हिरण्मयाण्डः—त्रयस्त्रिंशस्तोमावच्छिन्नः—पार्थिवः

अस्तण्डः—अष्टाचत्वारिंशस्तोमावच्छिन्नः पार्थिवः

तदित्थं भूपिण्ड–पिण्डमहिमालक्षणपृथिवीमण्डले–अष्टाचत्वारिंशस्तोमात्मके–
पर्व–४८–३३–२७–२१–भूपिण्डरूपेषु —
अस्तण्ड–हिरण्मयाण्ड–रेतोण्ड–यशोऽण्ड–पोषणाण्डनामसुपभोगः
"यथा ब्रह्माण्डे–तथा पृथिवीलक्षणे–भूपिण्डे"
एवं खल्विदं ब्रह्म त्वाङ्गनामकाः

समन्वय कीजिए। त्रिधा विभक्त यही पार्थिव अग्नि व्यष्टिरूप से ९ भागों में विभक्त है, एवं समष्टिरूप से एकविध है। मुहूर्त्ताग्नि एक पर्व है, अहोरात्राग्नि दूसरा पर्व है, पक्षाग्नि तीसरा पर्व है, मासाग्नि चौथा पर्व है, ग्रीष्माग्नि पाँचवाँ पर्व है, वर्षाग्नि ६ ठा पर्व है, शीताग्नि (ठँढ़ी आग–सौम्याग्नि) ७ वाँ पर्व है, अयनाग्नि ८ वाँ पर्व है। एवं ऋताग्नि ९ वाँ पर्व है। १० वाँ पर्व समष्टिलक्षण स्वयं सम्वत्सराग्नि है। इसी उभयावध विराट्–सम्पत्ति का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"दश वा एतानग्नीश्चिनुते। अष्टौ धिष्ण्यान्, आहवनीयं च. गार्हपत्यं च। तस्मादाहुर्विराडग्निरिति। दशाक्षरा हि विराट्। तान्नु सर्वानेकमिवैवाचक्षते–'अग्नि' रिति। एतस्य ह्येवैतानि सर्वाणि रूपाणि, यथा सम्वत्सरस्य–अहोरात्राण्यर्धमासा, ऋतवः। एवमस्यैतानि सर्वाणि रूपाणि"।

—(शता० १०।४।४।२१।)।

(क) ३–आहवनीयाग्निः—दिव्यः (आदित्यविधः)—एकलः १
२–धिष्ण्याग्निः—आन्तरीक्ष्यः(वायुविधः)—अष्टकलः ८
१–गार्हपत्याग्निः—पार्थिवः (अग्निविधः)—एकलः १
} –'विराडग्निश्चित्यो दशकलः'

—×:×:×:×—

(ख)— सम्वत्सराग्निः समष्टिरूपः (१०)

९–ऋताग्निः—ऋतुभावसमर्पकः
८–अयनाग्निः
७–शीताग्निः (३)
६–वर्षाग्निः (२)
५–ग्रीष्माग्निः (१)
} चातुर्मास्याग्निः

४–मासाग्निः
३–अर्द्धमासाग्निः
२–अहोरात्राग्निः
१–मुहूर्त्ताग्निः

} –'विराडग्निश्चित्यो दशकलः'

—:×:×:×:×:—

३३–अर्काग्नि का वितान

अब उस 'अर्काग्नि' का विचार करना चाहिए, जो महान् बनता हुआ 'महान्ति' भावका स्वरूप-समर्पक बनकर वेदमहिमा की अभिव्यक्ति कर रहा है। अर्काग्नि के स्वरूप समन्वय के लिए हमें पाठकों के सम्मुख–'अर्क–महान्–उक्थम्' ये तीन शब्द रखने पड़ेंगे। एक ही तत्त्व का विकास इन तीन भावों में

परिणत हो रहा है। वही अर्क है, वही महान् है, वही उक्थ है। क्योंकि अग्नि ही अग्नि है, अग्नि ही वायु है, अग्नि ही आदित्य है। ऋक् ही अग्नि है, यजु ही वायु है, साम ही आदित्य है। ऋङ्मय अग्नि ही उक्थ है, वायुमय यजु ही अर्क है, आदित्यमय साम ही महान् है।

दूसरी दृष्टि से यों देखिए कि, अग्नि की अग्निलक्षण जो मात्रा ऋक् में प्रतिष्ठित रहेगी, उस ऋङ्मय अग्नि को 'उक्थ' कहा जायगा। अग्नि की वायुलक्षण जो मात्रा यजु में प्रतिष्ठित रहेगी, उस यजुर्म्मय वायु को 'अर्क' कहा जायगा। एवं अग्नि को आदित्यलक्षण जो मात्रा साम में प्रतिष्ठित रहेगी, उस साममय आदित्य को 'महान्' कहा जायगा।

अथवा विभिन्न दृष्टि से विचार कीजिए। अग्नि त्रिवृत् माना गया है। त्रिवृत् का अर्थ यही है कि, अग्निलक्षण अग्नि, वायुलक्षण अग्नि, आदित्यलक्षण अग्नि, तीनों में (अग्नि-वायु-आदित्य में-प्रत्येक में) अग्नि-वायु-आदित्य, तीनों का भोग हो रहा है। इसप्रकार तीन के ९ विवर्त हो जाते हैं। यही अग्नि का त्रिवृद्भाव है। वाय्वादित्यगर्भित त्रिमूर्त्ति अग्नि 'अग्नि' है। अग्न्यादित्यगर्भित त्रिमूर्त्ति वायु वायु' है। अग्नि-वायुगर्भित त्रिमूर्त्ति आदित्य 'आदित्य' है। अग्नि-वायु-आदित्य का क्रमशः ऋक्-यजुः-साम से सम्बन्ध है। उधर तीनों विवर्त्तों में अग्न्यादि तीनों का गौण-प्रधानरूप से भोग हो रहा है। अतः ऋगनुबन्धी उक्थ, यजुरनुबन्धी अर्क, एवं सामानुबन्धी महान्, तीनों का तीनों में समन्वय सिद्ध हो जाता है। तीनों में जितना ऋगनुबन्धी अग्न्यंश है, वह उक्थ है। यजुरनुबन्धी वाय्वंश अर्क है, सामानुबन्धी आदित्यांश महान् है। तात्पर्य्य यह निकला कि, ऋक्सम्बन्ध से अग्नि-वायु-आदित्य तीनों ही उक्थ हैं, यजुःसम्बन्ध से तीनों हीं अर्क हैं, एवं सामसम्बन्ध से तीनों हीं महान् हैं।

१–ऋक्सम्बन्धेन–		१–यजुःसम्बन्धेन–		३–सामसम्बन्धेन–	
१–अग्निः	उक्थाः	अग्निः	अर्काः	अग्निः	महान्तः
२–वायुः		वायुः		वायुः	
३–आदित्यः		आदित्यः		आदित्यः	
अग्निः		वायुः		आदित्यः	
उक्थः		अर्कः		महान्	

केन्द्रस्थ, नभ्य अन्नादाग्नि के ही अग्नि-वायु-आदित्य, ये तीन पर्व हैं। अतएव तीनों में हीं अन्नादभाव का प्रतिष्ठित रहना स्वाभाविक बन जाता है। तीनों के 'अन्न-अदन-भक्षण-लक्षण'-अन्नादभाव की रक्षा के लिए अन्नाहुति अपेक्षित है। इस अन्नविचार के साथ ही इतना और ध्यान में रखना चाहिए कि, पिण्डस्थ अन्नादाग्नि के सहयोग से चार अन्नाद हो जाते है। पिण्डस्थ अन्नाद 'पुरुष' 'पुरि-पिण्डे-शयः' निर्वचन से पुरुष कहलाता है। महिमामण्डलस्थ तीनों अन्नाद अग्न्यादि नामों से प्रसिद्ध हैं। इस

प्रकार हमारे इस अर्काग्निप्रकरण में चार अन्नाद हो जाते हैं। चारों की स्वरूपरक्षा के लिए चतुर्विध अन्न नियत हैं।

सामसम्बन्ध से 'अग्नि-वायु-आदित्य-पुरुष' चारों हीं महान् हैं, यह पूर्व में कहा जाचुका है। पहिले अग्नि-महान् के अन्न का ही विचार कीजिए। ओषधियाँ, एवं वनस्पतियाँ हीं इस महान् अग्नि के 'महान्ति' अन्न हैं। उद्भिज्जपदार्थसमष्टि ही इस अग्नि का अन्न है। इस अन्नाहुति से ही महान् अग्नि का सामलक्षण महत्त्व सुरक्षित है। अत एव इन ओषधि-वनस्पत्यन्नों को सामापेक्षया 'महतो महान्ति' कह सकते हैं। यजुः सम्बन्ध से इसी अग्नि को 'अर्क' कहा जायगा, एवं अर्कापेक्षया ओष० अन्न को 'अर्कस्य अर्काः' माना जायगा। ऋक् सम्बन्ध से यही अग्नि 'उक्थ' है। उक्थापेक्षया यही ओ० अन्न 'उक्थस्य उक्थानि' कहा जायगा। महान्, अर्क, उक्थलक्षण अग्नि अन्नाद होगा। महान्ति, अर्काः, उक्थानि लक्षण ओ० वन० अन्न की अन्नाद अग्नि में आहुती होगी। अन्न-अन्नाद की समष्टि 'महाव्रत-पुरुष-महदुक्थ' नाम से व्यवहृत होगी।

दूसरा वायु महान् है। अप्तत्त्व ही इसका महान् अन्न है। पानी से ही वायु की स्वरूपरक्षा है, जैसा कि ऋग्वेदीय आपोनप्त्रीयसूक्त में विस्तार से निरूपित है। वायु भी त्रिदेवमूर्ति बनता हुआ उक्थ-अर्क-महान् है। अतः यहाँ भी अबन्न के पूर्वोक्त विवर्त्त बन जाते हैं।

तीसरा आदित्य महान् है। चन्द्रमा (चान्द्रसोम) इसका महान् अन्न है। सोम से ही आदित्य-प्राण की (ज्योतर्भाग की) स्वरूपरक्षा है। आदित्य भी त्रिदेवमूर्त्ति बनता हुआ उक्थ-अर्क-महान् है। अतः यहाँ भी चान्द्र अन्न के पूर्वोक्त तीन विवर्त्त हो जाते हैं।

पुरुष (पिण्डाग्नि) चौथा अन्नाद महान् है। पशु (मृत्भाग) इस महान् का अन्न है। इस अन्नाद की भी बीजरूप से तीन अवस्थाएँ हो जातीं हैं। बीजगर्भिता भावत्रयी ही तो तूलरूप में आकर अग्न्यादि देवत्रयीरूप में विकसित हुई है। इस बीजत्रयीरूपा देवत्रयी के सम्बन्ध से अन्नाद (पुरुष) भी उक्थ-अर्क-महान् रूप में परिणत हो रहा है। फलतः तदन्नभूत पशु के भी पूर्ववत् तीन विवर्त्त हो जाते हैं। इसप्रकार वेदत्रयीरूपा देवत्रयी के भेद से चारों अग्निसंस्थाओं में पर्वत्रयी की सत्ता सिद्ध हो जाती है, जैसा कि निम्न लिखित परिलेखों से स्पष्ट है—

१-अग्निसंस्था-वाय्वादित्यगर्भितस्त्रिवृनोऽग्निः पार्थिवः (अग्निरुक्थो ऋक्तः)

१-अग्निमयोऽग्निर्मुख्यः— उक्थः— ऋक्— ओषधिवनस्पतयोऽन्नानि-उक्थस्योक्थानि।

२-अग्निमयो वायुर्गौणः— अर्कः— यजुः— ,, अर्कस्यार्काः।

३-अग्निमय आदित्यो गौणः-महान्- सामतः ,, महतो महान्ति।

२-वायुसंस्था-अग्न्यादित्यगर्भितस्त्रिवृनो वायुरान्तरीक्ष्यः (वायुरर्को यजुष्टः)

१-वायुमयो वायुर्मुख्यः— अर्कः— यजुष्टः— आपोऽन्नानि – अर्कस्यार्काः।

२-वायुमयोऽग्निर्गौणः— उक्थः ऋक्तः— ,, उक्थस्योक्थानि।

३-वायुमय आदित्यो गौणः-महान् —सामतः— ,, महतो महान्ति।

३-आदित्यसंस्था-अग्निवायुगर्भितत्रिवृत आदित्योदिव्यः (आदित्यो महान्सामतः)

१—आदित्यमय आदित्यो मुख्यः—महान्—सामतः—चान्द्रसोमोऽन्नानि—महतो महान्ति ।

२—आदित्यमयोऽग्निर्गौणः— उक्थः—ऋक्ः— ,, उक्थस्योक्थानि ।

३—आदित्यमयो वायुर्गौणः— अर्कः—यजुष्टः— ,, अर्कस्यार्काः ।

४-पुरुषसंस्था-अग्नि-वायु-आदित्यगर्भितस्त्रिमूर्त्तिर्भौमोऽन्नादाग्निः (अग्निरुक्थोऋक्तः)

१—अन्नादाग्निमयोऽग्निर्वीजरूपो मुख्यः-उक्थः—ऋक्तः—मृण्ययाः पशवोऽन्नानि-उक्थस्योक्थानि ।

२—अन्नादाग्निमयो वायुर्वीजरूपो गौणः--अर्कः--यजुष्टः- ,, अर्कस्यार्काः ।

३—अन्नादाग्निमय आदित्यो वीजरूपो गौणः-महान्-सामतः- ,, महतो महान्ति ।

इसी सम्बन्ध में यह और स्पष्ट कर लेना चाहिए कि, अग्न्यादि चारों जहाँ उक्थ-अर्क-महान् हैं, वहाँ इसके अन्नरूप ओषधिवनस्पति-अप्-सोम-पशु चारों उक्थ्य-अर्क्य-महत् हैं । चार अग्नि 'महान्' हैं, ये ही चार 'व्रत' हैं, ये ही चार 'क्य' हैं, ये ही चार अर्क हैं । इन चारों के अन्न 'महतो महान्ति' हैं, 'व्रतानां व्रतानि' है, 'क्यानां क्यानि' हैं, 'अर्काणां अर्काः' हैं । इन चारों की समष्टिरूप अधिदैवत सम्वत्सर ही 'अर्काग्नि' है । तत्प्रतिकृतिरूप पुरुष भी अर्काग्नि ही है । इस पुरुष के कान अर्कपर्ण हैं, आखें अर्कपुष्प हैं, नासाछिद्र अर्ककोश्य हैं, ओष्ठ अर्कसमुद्ग हैं, दाँत अर्कधाना हैं, जिह्वा अर्काष्ठीला है, चतुर्विध अन्न अर्कमूल है । इन सब पर्वों की चितिरूप पुरुष ही अर्काग्नि है । यही पार्थिव-सौर रूप से अध्यात्मसंस्था में चित है । निम्न लिखित श्रुतियाँ इसी 'अर्काग्नि' का स्पष्टीकरण कर रहीं हैं—

१—"अग्निर्महान्, तस्य महतो महदोषधयश्च वनस्पतयश्च । तद्ध्यस्यान्नम् । वायुर्महान्, तस्य महतो महदापः तद्ध्यास्यान्नम् । आदित्यो महान् । तस्य महतो महच्चन्द्रमाः । तद्ध्यस्यान्नम् । पुरुषो महान् । तस्य महतो महत् पशवः । तद्ध्यस्यान्नम्" ।

२—"एतान्येव चत्त्वारि महान्ति, एतानि चत्त्वारि 'महतां महान्ति' । एतान्येव चत्त्वारि व्रतानि, एतानि चत्त्वारि 'व्रतानां व्रतानि' । एतान्येव चत्त्वारि क्यानि, एतानि चत्त्वारि 'क्यानां क्यानि' । एतऽएव चत्त्वारोऽर्काः, एते चत्त्वारोऽर्काणामर्काः' ।" ।

३—"अथ ह वै यत्तदुवाच—वेत्थार्कमिति, पुरुषं हैव तदुवाच०+++। स एषोऽग्निरर्को-यत् पुरुषः । स यो हैतमेवमग्निमर्कं पुरुषमुपास्ते, 'अयमहमग्निरर्कोऽस्मि' इति, विद्यया हैवास्य आत्मन्नग्निरर्कश्चितो भवति"

—(शत० १०।३।४। अर्काग्निब्राह्मण) ।

समष्टिपरिलेखः—		ऋचि प्रतिष्ठिनाः—प्रतिष्ठितानि		साम्नि प्रतिष्ठिताः-प्रतिष्ठितानि		यजुषि प्रतिष्ठिताः—प्रतिष्ठितानि	
२१	(३) आदित्यः	उक्थः	उक्थ्यम्	महान्	महत्	अर्कः	अर्क्यम
१५	(२) वायुः	उक्थः	उक्थ्यम्	महान्	महत्	अर्कः	अर्क्यम्
६	(१) अग्निः	उक्थः	उक्थ्यम्	महान्	महत्	अर्कः	अर्क्यम्
*	*) अन्नादपुरुषः	उक्थः	उक्थ्यम्	महान्	महत्	अर्कः	अर्क्यम्
	अन्नान्नादलक्षणोऽर्काग्नि-श्चित्यः	अन्नादाः	अन्नानि	अन्नादाः	अन्नानि	अन्नादाः	अन्नानि

उक्थ-अर्क-महान्-लक्षण, उक्थ्य-अर्क्य-महल्लक्षण उक्त प्रजापति का 'अधिभूत-अधिदैवत-अध्यात्म' इन तीन संस्थाओं से सम्बन्ध है। सौरपार्थिवसम्वत्सरसंस्था अधिदैवतसंस्था है। वैधयज्ञरूप चयनकर्म्म अधिभूतसंस्था है। एवं पुरुषसंस्था अध्यात्मसंस्था है। अर्कब्राह्मणमें इनका सामान्य निरूपण हुआ है, एवं आगे चलकर 'प्रजापतिसन्धानब्राह्मण' में तीनों संस्थाओंका विशेषरूप से स्पष्टीकरण हुआ है। इन सब तत्त्वों का वैज्ञानिक विवेचन तो मूलभाष्य में हीं देखना चाहिए। यहाँ केवल यह सूचित करने के लिए कि, चित्याग्नि का वेदद्वारा ही त्रिसंस्था में वितान होता है, इस शब्दप्रपञ्च का आश्रय लेना पड़ा है, जिस का केवल शब्दात्मिका वेदभक्ति के आधार पर प्रयत्नसहस्रों से भी समन्वय नहीं किया जा सकता। निम्न-लिखित वचनों पर दृष्टि डालिए, एवं तदाधारेण अग्नि-सम्बन्धी वेदमहिमा का समन्वय कीजिए—

१-अधिभूतम्—"स एष एवार्कः, योऽयमग्निश्चतः। तस्यैतदन्नं 'क्यम्'। एष सौम्योऽध्वरः। तदर्क्यं यजुष्ट एव। एष एव महान्। तस्यैतदन्नं 'व्रतम्'। तन्महाव्रतं सामत एव। एष उ एव 'उक्', तस्यैतदन्नं 'थम्'। तदुक्थं-ऋक्तः। तदेतदेकं स त्रेधा ख्यायते-इत्यधिभूतम्"।

२-अधिदैवतम्—"स एष एवार्कः, य एष तपति। तस्यैतदन्नं क्यम्। एष चन्द्रमाः। तदर्क्यं, यजुष्ट एव। एष एव महान्। तस्यैतदन्नं व्रतम्। तन्महाव्रतं सामत एव। एष उ एव-उक्। तस्यैतदन्नं 'थम्'। तदुक्थमृक्तः। तदकं स त्रेधा ख्यायते-इत्यधिदैवतम्"।

३–अध्यात्मम्—"अथाध्यात्मम्। प्राणो वा अर्कः। तस्यान्नमेव कयम्। तदर्क्यं यजुष्टः। प्राण एव महान्। तस्यान्नमेव व्रतम्। तन्महाव्रतं सामवः। प्राण उ एव-'उक्' । तस्यैतदन्नं 'थम्' । तदुक्थमृक्तः। तदेकं स त्रेधा व्यायते-इत्यध्यात्मम्।

—(शत० १०।५।१।२१,२२,२३,।)।

अर्काग्नि के सम्बन्ध में बतलाए गए पूर्वोक्तवृत्त का निष्कर्ष यही हुआ कि, 'अग्नि–वायु–आदित्य' तीनों एक ही अर्काग्नि के तीन साम्वत्सरिक पर्व हैं। अर्चंश्चरति' ही अर्क शब्द का निर्वचन है। प्राणत्–अपानत्–व्यापार ही 'अर्चंश्चरति' है। यद्यपि उक्त तीनों ही पर्व (अग्नि–वायु–आदित्य) इस 'अर्चंश्चरति' लक्षण प्राणापानव्यापार से 'अर्क' हैं। अतएव इस साम्वत्सरिक अग्नित्रयी को 'अर्काग्नि' नाम से व्यवहृत करना अन्वर्थ भी बनता है। तथापि तीनों में मध्यस्थ वायु ही 'अर्क' सम्पत्ति से प्रधान सम्बन्ध रखता है। कारण इसका यही है कि, अर्थशक्तिप्रधान अग्नि में भी प्रातिस्वकरूप से स्थितिभाव का ही विकास है, एवं ज्ञानशक्तिप्रधान आदित्य भी स्थितिधर्म्म से ही युक्त है। क्रियाशक्तिप्रधान मध्यस्थ वायु ही प्रधानतः गतिभावापन्न है। दूसरे शब्दों में वायव्य प्राण ही प्राणदपानल्लक्षण गतिभावात्मक है। अतः एतद्रूपा अर्कसम्पत्ति का वायु के साथ ही प्रधान सम्बन्ध मान लिया है। एकमात्र इसी गतिप्राधान्य से हम 'वायु' लक्षण मध्यस्थ अग्नि को 'अर्क' कह सकते हैं। अग्नि से ही वायु, तथा आदित्य–भावों का उत्थान होता है। यही सबका उक्थलक्षण प्रभव है, अतएव अग्नि को 'उक्थ' कहा जा सकता है। आदित्य तेजोमण्डलात्मक बनता हुआ, महिमामय बनता हुआ अवश्य ही 'महान्' कहला सकता है। इन तीनों के साथ क्रमशः यजुः–ऋक्–साम–तत्त्वों का सम्बन्ध है। 'अयमेव यजुर्योऽयं पवते' के अनुसार गतिलक्षण वायु ही यजु है, यही अर्क है। प्रभवलक्षण अग्नि ही ऋक् है, यही उक्थ है। महिमालक्षण आदित्य ही साम है, यही महान् है।

यजुर्मूर्त्ति–वायुविध अर्काग्नि, ऋङ्मूर्त्ति–अग्निविध उक्थाग्नि, साममूर्त्ति–आदित्यविध महान् अग्नि, तीनों अग्नि अन्नाद हैं, तीनों को स्वस्वरूप के लिए अन्न अपेक्षित है। तीनों के रक्षक वे ही अन्न क्रमशः 'आपः, ओषधिवनस्पतयः, सोमः' नाम से व्यवहृत हुए हैं। इन तीन साम्वत्सरिक अग्नियों से पृथक् चौथा पिण्डावच्छिन्न, सर्वोक्थलक्षण, अतएव ऋग्रूप अन्नादाग्नि और है, जिसे पूर्व में 'पुरुष' कहा गया है। इसका अन्न 'पशु' (मृद्भाव) नाम से व्यवहृत हुआ है, जैसा कि पूर्व में विस्तार से बतलाया जा चुका है। क्योंकि यह चौथा भौम अग्नि (मूलाग्नि) महिमा–त्रिलोकी के त्रिवृत्स्थानीय ऋङ्मय पार्थिव उक्थाग्नि से समतुलित है। दूसरे शब्दों में दोनों हीं उक्थरूप हैं, दोनों हीं अग्निरूप हैं, दोनो हीं ऋङ्मय हैं। ओषधि-वनस्पति भी मृद्भाग ही है। अतएव भौम अग्नि का मृदन्न, एवं त्रिवृदग्नि का ओषधि–वनस्पत्यन्न दोनों समान हैं। इसीलिए इन चार विवर्त्तों को तीन हीं विवर्त्त मान लिए जाते हैं, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—

४–एकविंशस्थानीयो स्थितिलक्षणः–आदित्यः–साममयः–महान्–{ सोमः } —महान् ३

पृथिवी— | ३–पञ्चदशस्थानीयो गतिलक्षणः—वायुः—यजुर्मयः–अर्कः–{ आपः } —अर्कः २

२–त्रिवृत्स्थानीयो स्थितिलक्षणः—अग्निः–ऋङ्मयः–उक्थः–{ ओ०व० } —उक्थः १

भूमिः– | १–भौमाग्निश्चित्यः—— ——अग्निः–ऋङ्मयः–उक्थः–{ मृत् }

इन तीनों अन्नादों के अन्न जब अन्नादगर्भ में प्रविष्ट हो जाते हैं, तो उन अन्नों की स्वतन्त्र सत्ता का उच्छेद हो जाता है, एवं 'अत्त्वैवाख्यायते' के अनुसार केवल अन्नाद का ही व्यवहार शेष रह जाता है। इसी रहस्य को सूचित करने के लिए इन तीनों को 'उक्थ–अर्क्य–महाव्रत' नामों से व्यवहृत किया गया है। 'उक्थम्' में 'उक्' ऋगग्नि का वाचक है, 'थम्' पशुलक्षण अन्न का सूचक है। अन्नादाग्निरूप 'उक्', तथा पशुलक्षण अन्नरूप 'थम्' की समष्टि ही 'उक्थम्' है। 'अर्क्यम्' में 'अर्क्' यजुर्वायु का वाचक है, 'क्यम्' आपोलक्षण अन्न का सूचक है। अन्नादवायुरूप 'अर्क्', तथा आपोलक्षण अन्नरूप 'क्यम्', की समष्टि ही 'अर्क्यम्' है। 'महाव्रतम्' में 'महा' सामादित्य का वाचक है, 'व्रतम्' सोमलक्षण अन्न का सूचक है। अन्नादादित्यरूप 'महा', तथा सोमलक्षण 'व्रतम्' की समष्टि 'महाव्रतम्' है। तीनों का समुच्चय एक प्रजापति है, यही वेदमहिमा से (यजुष्टः–ऋक्तः–सामतः) अन्नान्नादमूर्त्ति बन रहा है। त्रैलोक्यगर्भ में उत्पन्न होने वाले पदार्थमात्र उक्थ–अर्क–व्रतरूप हैं, अग्नि–वायु–आदित्यमय हैं, अर्थ–क्रिया–ज्ञानयुत हैं, ऋक्–यजुः–साममय हैं, मूर्त्ति–गति–मण्डलात्मक हैं। उक्थ–अर्क–व्रतरूप इन यच्चयावत् पदार्थों का मूल उक्थ–अर्क्य–महाव्रतलक्षण यही सम्वत्सरप्रजापति है। वह इन सब उक्थों का अग्निकला से—महदुक्थरूप उक्थ है। अतएव उसे 'उक्थानामुक्थानि' कहा जायगा। वह इन सब अर्कों का वायुकला से अर्क है, अतएव उसे 'अर्काणां अर्क्याणि' माना जायगा। वह इन सब व्रतों का आदित्यकला से व्रत है, अतएव उसे 'व्रतानां व्रतानि' कहा जायगा। वह इन महानों का 'महान्' है, अतएव उसे **'महतां महान्त'** कहा जायगा। पूर्व श्रुतियों नें अर्कदृष्टि से इसी सम्वत्सर की महिमा का दिग्दर्शन कराते हुए वेदमहिमा का दिग्दर्शन कराया है।

२१
व्रतम्—अन्नम् (सोमः) * * * *
महा—अन्नादः (आदित्यः)—साममयः
} महाव्रतम्—सामतः (आत्मैव)

१५
कयम्—अन्नम् (आपः) * * * *
अर्क्—अन्नादः (वायुः)—यजुर्मयः
} अर्क्यम्—यजुष्टः (आत्मैव)

९
थम्—अन्नम् (ओष०) * * *
उक्—अन्नादः (अग्निः)—ऋङ्मयः
} उक्थम्—ऋक्तः (आत्मैव)

"तदेकं सत् त्रेधा व्याख्यायते"
(अग्निः—सम्वत्सरः)

३४-ब्रह्म-क्षत्र-मूर्त्ति अग्नि—

प्रसङ्गवश सम्वत्सराग्नि के 'अर्क' रूप का दिग्दर्शन कराना पड़ा। अब एक दूसरे प्रसङ्ग से सम्वत्सराग्नि के 'ब्रह्म-क्षत्र' रूपों की ओर विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। पूर्व में बृहतीछन्द, तथा छन्दित बृहत्प्राण का स्वरूप बतलाते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि, सौर इन्द्रप्राण ही बृहत्प्राण है, यही सम्वत्सरप्रजापति है। अब प्रक्रान्त अर्काग्निप्रकरण में 'अग्नि' को 'सम्वत्सर' बताया जारहा है। इसप्रकार कहीं अग्नि, कहीं इन्द्र, कहीं अग्नि-वायु-आदित्य की समष्टि, तो कहीं भौम अन्नादाग्नि, इस विसम्वाद से हम थोड़ी देर के लिए सन्देह में पड़ जाते हैं। एवं सम्वत्सरस्वरूप के सम्बन्ध में-'ए एवेदमिति ब्रुवत्' (इदमित्थमेव) इस प्रतिज्ञा से वञ्चित हो जाते हैं। इसी विप्रतिपत्ति के निराकरण के लिए सम्वत्सरप्रजापति के 'ब्रह्म-क्षत्र' रूपों का दिग्दर्शन कराने की आवश्यकता हुई है।

"यथाग्निगर्भा पृथिवी, तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी" के अनुसार द्युलोकस्वरूप सौरसम्वत्सर इन्द्रप्रधान है, एवं पार्थिवसंस्थाध्यक्ष पार्थिव सम्वत्सर अग्निप्रधान है। सौर-सम्वत्सरस्थ सावित्राग्नि गौण है, ज्योतिर्लक्षण मघवेन्द्र प्रधान है। पार्थिव-सम्वत्सरस्थ गायत्राग्नि प्रधान है, वासवेन्द्र गौण है। अग्नि ब्रह्म है, इन्द्र क्षत्र है। सौरसम्वत्सर भी ऐन्द्राग्न बनता हुआ क्षत्रब्रह्ममूर्त्ति है। पार्थिव सम्वत्सर भी आग्नैन्द्र बनता हुआ ब्रह्मक्षत्रमूर्त्ति है। इन्द्रप्रधान सौरसम्वत्सर क्षत्रप्रधान बनता हुआ 'क्षत्र' है, अग्निप्रधान पार्थिवसम्वत्सर ब्रह्मप्रधान बनता हुआ 'ब्रह्म' है। जब तक इन दोनों सम्वत्सरों का परस्पर अतिमान सम्बन्ध नहीं हुआ था, उस समय क्या परिस्थिति थी?, यह विचार कीजिए। उख्याग्नि (पार्थिव त्रिलोकी

में व्याप्त, अग्नि–वायु–आदित्यात्मक पार्थिव--सम्वत्सराग्निब्रह्म), एवं सौर इन्द्र (सौर त्रिलोकी में व्याप्त, बृहतीसहस्रात्मक मघवेन्द्रक्षत्र,) जब तक दोनों का सम्बन्ध न हुआ, तब तक दोनों हीं सृष्टिकर्म्म में असमर्थ रहे। ब्रह्म भी सृष्टि में असमर्थ है, क्षत्र भी असमर्थ है। दोनों के समन्वय से ही सृष्टि का विकास सम्भव है। दोनों नें अपने नानाभाव (पार्थक्य) लक्षण इस मृत्यु को देखा। दोनों नें सृष्टिकर्म्म में अपने आपको असमर्थ पाया। इस मृत्युभाव से बचने के लिए दोनों को मिलना पड़ा। दोनों के समन्वय से (पार्थिव-सौररस से) प्रजा-सर्ग वितत हो गया। साथ ही दोनों हीं सम्वत्सरप्रजापति दोनों वीर्य्यों से युक्त हो गए। सूर्य्यपिण्ड यदि अग्निब्रह्म बना, तो सौर ज्योतिर्म्मण्डल इन्द्रक्षत्र बन गया। भूपिण्ड यदि अग्निब्रह्म बना, तो उभयत्रिलोकीरूप देवाग्नि इन्द्रक्षत्रप्रधान बन गया। इसप्रकार ब्रह्म–अग्नि, तथा क्षत्र–इन्द्र, दोनों की चिति मे पार्थिव–सौररस एकरूप में परिणत होते हुए सृष्टिकर्म्म में समर्थ बन गए। इसी आधार पर सम्वत्सरप्रजापति को इन्द्रात्मक भी कहा जा सकता है, अग्न्यात्मक भी माना जा सकता है। एवं अग्नि–वायु–आदित्यात्मक मानने में भी कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। इसी रहस्य को लक्ष्य–में रख कर श्रुति कहती है—

१— 'अथेन्द्राग्नी वा ऽ असृज्येतां ब्रह्म च, क्षत्रं च। अग्निरेव ब्रह्म, इन्द्रः क्षत्रम्। तौ सृष्टौ नानैवास्ताम्। तावब्रूतां–न वा इत्थं सन्तौ शक्ष्यावः प्रजाः प्रजनयितुम्। एक रूपमुभावसावेति। तावेकं--रूपमुभावभवताम्''।

२–''तौ यौ ताविन्द्राग्नी–एतौ तौ रुक्मश्च पुरुषश्च। रुक्म एवेन्द्रः, पुरुषोऽग्निः। तौ हिरण्मयौ भवतः। ज्योतिर्वै हिरण्यम्, ज्योतिरिन्द्राग्नी। अमृतं हिरण्यं, अमृतमिन्द्राग्नी''।

—(शत० १० ५।१।५,३,)।

३५–नवाहयज्ञ का वितान—

अग्निब्रह्मप्रधान पार्थिव सम्वत्सर, तथा इन्द्रक्षत्रप्रधान सौरसम्वत्सर, दोनों के इस समन्वय का फल क्या हुआ ?, इस प्रश्न का एक समाधान तो है–'प्रजोत्पत्ति'। एवं दूसरा समाधान है–पार्थिवसम्वत्सरयज्ञ की पञ्चधा व्याप्ति, पाङ्क्तता, पञ्चावयवता। इसी समन्वय से पार्थिवयज्ञ 'पाङ्क्तो वै यज्ञः' इस उपाधि का पात्र बना है। स्वयं भूपिण्ड से सम्बन्ध रखने वाले 'हविर्यज्ञ' को छोड़ दीजिए। भूमहिमा से सम्बन्ध रखने वाला साम्वत्सरिक वितानयज्ञ तो सौर–सम्वत्सर के अतिमान का ही फल है। सौर सम्वत्सर के आधार पर ही पार्थिवयज्ञ '१महाव्रत'–'२सावित्री'–'३ज्योतिष्टोम'–'४वैश्वकर्म्म'–'५सौम्यअध्वर' (सोमयाग) इन पांच संस्थाओं में विभक्त हो रहा है। ये पाँचों पार्थिव यज्ञ पृथिवी के उन '१७–१८–१९–२०–२१–२२–२३–२४–२५' नौ अहर्गणों में प्रतिष्ठित हैं, जो कि नवों अहर्गण सौरसम्वत्सरमण्डल में भुक्त हैं। पञ्च यज्ञात्मक इसी महायज्ञ को नवाहर्गण के सम्बन्ध से 'नवाहयज्ञ' कहा गया है।

सत्रहवाँ अहर्गण इस नवाहयज्ञ की अर्वाग्बिन्दु है, यहीं सौम्य अध्वर नामक सोमयाग प्रतिष्ठित है। इस यज्ञाग्नि के अनुष्ठान से (वैध सोमयाग से) जो सोमयागाग्निसंस्कार प्रतिष्ठित होता है, उसके आकर्षण

से यजमान का भूतात्मा (मानुषात्मा) सप्तदशस्तोमस्थानीय 'त्रिणाचिकेतस्वर्ग' में प्रतिष्ठित हो जाता है। १८-१९-२०, इन तीन अहर्गणों की समष्टि में 'वैश्वकर्म' नामक दूसरा यज्ञ प्रतिष्ठित है। इसके संस्कार से विश्वेदेवों के तदहर्गणात्मक लोक प्राप्त होते हैं। २१ वाँ अहर्गण इस नवाहयज्ञ की मध्य (केन्द्र) बिन्दु है। 'एकविंशो वा इत आदित्यः' के अनुसार यहीं सूर्य प्रतिष्ठित है। यहीं ज्योतिष्टोम' नामक तीसरा यज्ञपर्व प्रतिष्ठित है। इसके संस्कार से एकविंशस्तोमात्मक, वह 'नाकस्वर्ग' मिलता है, जिसकी-*'यन्न दुःखेन सम्भिन्नम्०' इत्यादि रूप से महत्ता बतलाई जाती है। २२-२३-२४, इन तीन अहर्गणों की समष्टि में 'सावित्र' नामक चौथा ग्रहपर्व प्रतिष्ठित है। इसके संस्कार से तदहर्गणात्मक सावित्रलोक प्राप्त होते हैं। २५ वाँ अहर्गण 'अविवाक्यमहः' नाम से प्रसिद्ध है।

'अविवाक्यमहः' नामक यही अहर्गण इस नवाहयज्ञ की परागबिन्दु है। पञ्चविंशस्तोमात्मक यही स्वर्ग 'ब्रध्नस्यविष्टप्' नाम से प्रसिद्ध है। यही नवाहयज्ञ का पाँचवाँ 'महाव्रत' नामक ग्रह प्रतिष्ठित है। इस यज्ञसंस्कार से 'अपुनर्मार'-'कामप्र'-'अशोकमहिम' इत्यादि विविध नामों से प्रसिद्ध महाव्रतलोककी प्राप्ति होती है। नौ अहर्गणों में १७[१]-२१[२]-२५[३], ये तीन स्थान तो क्रमशः 'त्रिणाचिकेत-नाक-ब्रध्नस्य-विष्टप्' नामक त्रिविष्टप्स्वर्ग हैं। त्रिणाचिकेत ब्रह्मविष्टप् है, नाकस्वर्ग + विष्णुविष्टप् है, एवं ब्रध्नस्यविष्टप् 'इन्द्रविष्टप्' है। शेष '१८[१]-१९[२]-२०[३]-२१[४]-२२[५]-२३[६]-२४[७]' ये सात अहर्गण क्रमशः अग्निदेवताप्रधान 'अपोदक'[१],-वायुदेवताप्रधान 'ऋतधामा'[२],-मरुत्वानिन्द्रप्रधान-'अपराजित'[३],-मघवेन्द्रप्रधान 'अन्तर्नाक'[४], वरुणदेवताप्रधान 'अधिद्यौ'[५],-मृत्युदेवताप्रधान-'प्रद्यौः'[६],-ब्रह्मप्रधान 'रोचन'[७] नामक सात देवस्वर्ग हैं, जिनके लिए-'सप्त वै देवस्वर्गाः'-'आपश्च सप्त' इत्यादि श्रौत-स्मार्त्त वचन सुने जाते हैं।

तात्पर्य कहने का यही है कि, सौर-पार्थिव सम्वत्सरों के अतिमान से जैसे पार्थिव रथन्तर-वैरूप-शाक्वरसाम तथा सौर बृहत्-वैराज रैवतसाम, इन छओं सामों का पार्थिव रथन्तर, सौर बृहत्-(रथन्तर-बृहत्), पार्थिव वैरूप, सौरवैराज (वैरूप-वैराज) एवं पार्थिव शाक्वर, सौर रैवत (शाक्वर रैवत), इस रूप से परस्पर ओतप्रोतभाव रहता है। एवमेव इसी अतिमान से पार्थिव नवाहयज्ञ के महाव्रतादि पाँचों यज्ञपर्व सौर सम्वत्सर में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। सुप्रसिद्ध चयनयज्ञ से पाँचों यज्ञसंस्कार यज्ञकर्त्ता यजमान के मानुषात्मा में प्रतिष्ठित होते हैं, जिनका-'उद्गाता महाव्रतेन रसं दधाति' (शत० १०।४।१।१२ कण्डिका से २३

---

* यन्न दुःखेन सम्भिन्नं यच्च ग्रस्तमनन्तरम् ।
अभिलाषोपनीतं च तत्पदं स्वः पदास्पदम् ॥

+ २१ वाँ अहर्गण रुक्म, तथा पुरुष भेद से दो भागों में विभक्त है। रुक्मात्मक वही एकविंशस्थान विष्णुविष्टप् है। एवं पुरुषात्मक २१ स्थान मघवेन्द्रप्रधान अन्तर्नाक है। इस प्रकार २१ के दो भेद हो जाते हैं। अतएव इसकी विष्णुविष्टप् रूप से त्रिविष्टप् स्वर्ग में भी गणना हुई है, एवं अन्तर्नाक रूप से सप्तस्वर्ग-समष्टि में भी इसका समावेश हुआ है।

वीं कण्डिकापर्य्यन्त) इत्यादिरूप से विस्तार से निरूपण हुआ है । इसीलिए चयनयज्ञ सर्वोत्कृष्ट यज्ञ माना गया है । सोमयागादि इतर यज्ञ जहाँ केवल अशाश्वत फल के प्रवर्त्तक हैं, वहाँ यह अग्नियज्ञ उभयफल का प्रवर्त्तक बन रहा है—"नामृतत्त्वस्य तु-आशास्ति, ऋते चयनात्"

३६—भूतद्रव्यात्मक प्रजापति—

अग्नि सोममूर्त्ति-(अन्नाद-अन्नमूर्त्ति) सम्वत्सरप्रजापति का स्वरूप पूर्व में विस्तार से बतलाया जा चुका है । साथ ही सम्वत्सराग्नि की मुहूर्त्तलक्षण १०८०० कलाओं का, कलाओं के ही प्रसङ्ग में बृहतीसहस्र का भी स्पष्टीकरण किया जा चुका है । इस आधिदैविक सम्वत्सर का आध्यात्मिक पुरुष के साथ क्या सम्बन्ध है ?, यह भी संक्षेप से स्पष्ट कर दिया गया है । अब उस 'वेदमहिमा' का संक्षिप्त विवरण वेदप्रेमियों के समक्ष उपस्थित किया जारहा है, जो महिमा सम्वत्सरप्रजापति से सम्बन्ध रखती है । जो सम्वत्सरप्रजापति अपने रिरिचान-भाव के पुनः सन्धान के लिए १०८०० कलाओं में विभक्त हो रहा है, जो प्रजापति बृहतीसहस्र (३६०००) प्राण से युक्त होकर सात अहोरात्रवृत्तों का अधिष्ठाता बन रहा है, जिस प्रजापति का प्रत्येक अहोरात्रवृत्त बृहतीसहस्र के नमन से बृहतीसहस्रात्मक बन रहा है, जो प्रजापति अपने बृहतीसहस्र से आत्मा के बृहतीसहस्रात्मक आयुःसूत्रों की प्रतिष्ठा बना रहा है, उस प्रजापति को अपने लक्ष्य में रखिए, एवं उसकी वेदमहिमा के संख्याविस्तार की मीमांसा आरम्भ कीजिए । सम्वत्सरप्रजापति के मुहूर्त्तात्मक स्वरूप का स्पष्टीकरण करने के अनन्तर ही निम्न लिखित श्रुति हमारे सामने आती है—

*—"तानि सम्वत्सरे दश च सहस्राण्यष्टौ च शतानि (१०८००)—समपद्यन्त । सोऽशीतिषु-दशसु च सहस्रेष्वेकासु च शतेषु" (शत० १०।४।२।१८-१९ सं० २२४ में उद्धृत-पूर्वसम्बन्ध सूचन) ।

१—"अथ सर्वाणि भूतानि पर्य्यैक्षत । स त्रय्यामेव विद्यायां सर्वाणि भूतानि-अपश्यत् । अत्र हि सर्वेषां छन्दसामात्मा, सर्वेषां स्तोमानां, सर्वेषां प्राणानां, सर्वेषां देवानाम् । एतद्वा अस्ति, एतद्धि-अमृतम् । यद्धि-अमृतं, तद्धि-अस्ति । एतदु तत्, यन्मर्त्यम् ।" शत० १०।४।२।२१) ।

इस श्रुति का, एवं इस सम्बन्ध में बतलाई जाने वाली वेदव्यूहनात्मिका आगे की श्रुतियों का अक्षरार्थ प्रमाणवाद में बतलाया जा चुका है । यहाँ इनके रहस्यार्थ का ही संक्षिप्त स्पष्टीकरण होगा । सम्वत्सराग्नि के त्रिवृत् स्थानीय पार्थिव अग्नि, पञ्चदश स्थानीय आन्तरिक्ष्य वायु, एकविंश स्थानीय दिव्य आदित्य, नामक जिन तीन पर्वों का पूर्वप्रकरणों में यत्र-तत्र स्पष्टीकरण हुआ है, वे ही तीनों पर्व अपने पारस्परिक तानूनप्त्रभाव (शपथपूर्विका पारस्परिक मैत्री) से एक दूसरे में मिलते हुए क्रमशः 'विराट्'-'हिरण्यगर्भ'-'सर्वज्ञ' नामों से प्रसिद्ध हो रहे हैं । पार्थिव त्रिवृत् अग्नि 'योनि' (अग्नि) बना, आन्तरिक्ष्य वायु, दिव्य आदित्य, दोनों रेत (सोम) बने, दोनों ने अग्नि में आत्मसमर्पण कर डाला । इस अग्निप्रधान, वाय्वादित्यगर्भित, त्रिमूर्त्ति, त्रैलोक्यव्यापक सम्वत्सराग्नि का ही नाम 'विराट्' हुआ, जो कि विराडग्नि

अपनी अर्थशक्ति की प्रधानता से अर्थमूर्त्ति बनता हुआ प्रजासृष्टि के अर्थप्रपञ्च का अध्यक्ष बन प्रजाओं के **'वैश्वानर'** पर्व की प्रतिष्ठा बन रहा है, जो कि इसी वैश्वानरभागद्वारा 'असंज्ञ' जीवों का आत्मा बना हुआ है। आन्तरिक्ष्य पञ्चदशवायु योनि बना, अग्नि-आदित्य रेत बने, दोनोंनें वायु मे आत्मसमर्पण कर डाला, इस से वायुप्रधान, अग्न्यादित्यगर्भित, त्रिमूर्त्ति, त्रैलोक्यव्यापक सम्वत्सराग्नि का ही नाम **'हिरण्यगर्भ'** हुआ, जो कि हिरण्यगर्भवायु अपनी क्रियाशक्ति की प्रधानता से क्रियामूर्त्ति बनता हुआ प्रजासृष्टि के क्रियाप्रपञ्च का अध्यक्ष बन, प्रजाओं के **'तैजस'** पर्व की प्रतिष्ठा बन रहा है, जो कि इसी तैजस भागद्वारा **'अन्तःसंज्ञ'** जीवों का आत्मा बना हुआ है। दिव्य, एकविंश आदित्य योनि बना, अग्नि-वायु रेत बने, दोनों नें आदित्य में आत्मसमर्पण कर डाला, इस से आदित्यप्रधान, अग्निवायुगर्भित, त्रिमूर्त्ति त्रैलोक्यव्यापक उसी सम्वत्सराग्नि का नाम **'सर्वज्ञ'** हुआ, जो कि सर्वज्ञ आदित्य अपनी ज्ञानशक्ति की प्रधानता से ज्ञानमूर्त्ति बनता हुआ प्रजासृष्टि के ज्ञानप्रपञ्च का अध्यक्ष बन, प्रजाओं के **'प्राज्ञ'** पर्व की प्रतिष्ठा बन रहा है, जो कि इसी प्राज्ञभागद्वारा **'ससंज्ञ'** जीवों का आत्मा बना हुआ है। इसप्रकार त्रिः-त्रिः-त्रिः-मूर्त्ति, अग्नि-वायु-आदित्यप्रधान, विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञकृतरूप, त्रैलोक्यव्यापक ऐसा सम्वत्सराग्नि ही उक्त श्रुति का 'प्रजापति' है, जो कि १०८०० कलाओं में प्रतिष्ठित हो रहा है।

सम्वत्सरप्रजापतिः प्रजनयिता—

*-आदित्यः (दिवि)—योनिः (अग्निः)
२१-द्यौः — २-वायुः (अन्तरिक्षे), ३-अग्निः (पृथिव्याम्) —रेतः (सोमः)
—आदित्यप्रधानस्त्रिमूर्त्तिः—"सर्वज्ञः" (सहस्रशीर्षा) (प्राज्ञः)

*-वायुः (अन्तरिक्षे)—योनिः (अग्निः)
१५-अन्तरिक्षम् — २-आदित्यः (दिवि), १-अग्निः (पृथिव्याम्) —रेतः (सोमः)
—वायुप्रधानस्त्रिमूर्त्तिः—"हिरण्यगर्भः" (सहस्राक्षः) (तैजसः)

*-अग्निः (पृथिव्याम्)-योनिः (अग्निः)
९-पृथिवी — २-वायुः (अन्तरिक्षे), ३-आदित्यः (दिवि) —रेतः (सोमः)
—अग्निप्रधानस्त्रिमूर्त्तिः—"विराट्" (सहस्रपात्) (वैश्वानरः)

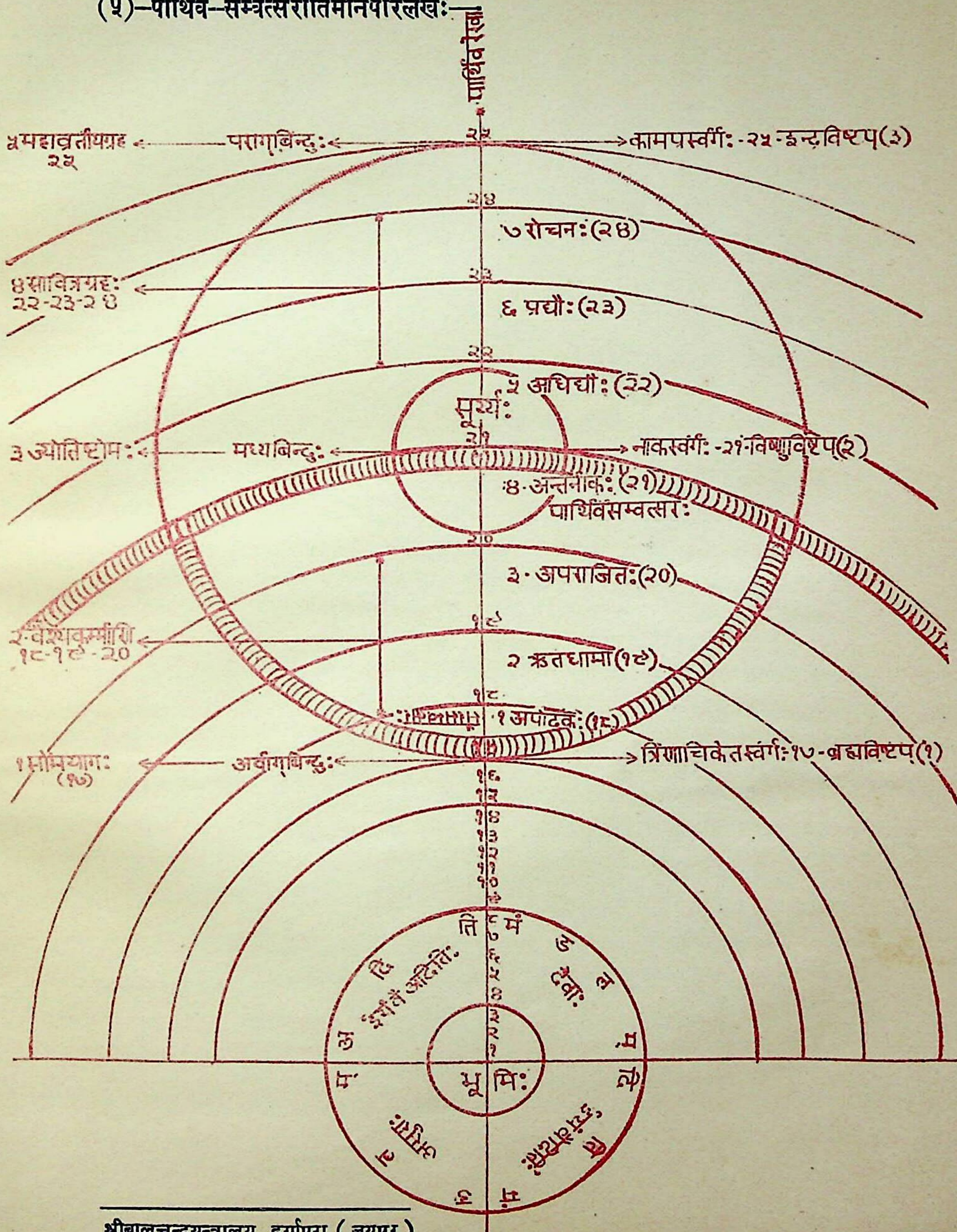
सहस्रशीर्षः — सहस्राक्षः — सहस्रपात्

*——भूमिः

"सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्"

(२४०, तथा २४१ के मध्य में)

(५)—पार्थिव—सम्वत्सरातिमानपरिलेखः—



३७-प्रजापति की प्रजाचतुष्टयी—

दशसहस्र-अष्टौ-शत कलाओं में प्रतिष्ठित, विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञात्मक, सम्वत्सरलक्षण इस ईश्वरप्रजापति ने सम्पूर्ण भूतों के साथ योग किया-(पर्य्यैत्क्षत्). एवं त्रयीविद्या में हीं इन्हें प्रतिष्ठित देखा-(अपश्यत्)। प्रजापति से उद्भूत प्रजा को भी 'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' इस अनुगम के अनुसार चार ही श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। चतुष्कल प्रजापति की प्रजा के भी चार ही विभाग होंनें चाहिएँ। ज्ञानप्रधाना सर्वज्ञकला, क्रियाप्रधाना हिरण्यगर्भकला, अर्थप्रधाना विराट्कला, एवं मृत्-प्रधाना भूकला, इन चार कलाओं से प्रजापति चतुष्कल बन रहे हैं। इन चार कलाओं के तारतारम्य से (गौण-प्रधानभाव से) क्रमशः ज्ञानमयी सर्वज्ञकला से-ज्ञानप्रधाना 'ब्रह्म'[१] प्रजा का, क्रियामयी हिरण्यगर्भ कला से क्रियाप्रधाना 'देव'[२] प्रजा का, अर्थमयी विराट्कला से अर्थप्रधाना 'भूत'[३] प्रजा का, एवं मृण्मयी भूकला से मृत्प्रधाना (प्रवर्ग्यप्रधाना) 'पशु'[४] प्रजा का विकास हुआ है।

ब्रह्मप्रजा पांच भागों में, देवप्रजा ३३ भागों में, भूतप्रजा पांच भागों में, एवं पशुप्रजा अनन्त भागों में विभक्त हैं। प्राण, आप, वाक्, अन्न, अन्नाद, नाम से प्रसिद्ध पाँच प्रकृतियाँ हीं 'पञ्चब्रह्म' हैं, यही ब्रह्मप्रजा है। अग्निप्रमुख आठ वसु, वायुप्रमुख ग्यारह-रुद्र, आदित्यप्रमुख बारह रुद्र, नासत्य-दस्र-नामक दो अश्विनीकुमार, इन तैतीस-प्राणदेवताओं की समष्टि ही 'देवप्रजा' है। पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश (मर्त्याकाश) की समष्टि ही भूतप्रजा है। इन भूतों से सम्पन्न धातु-उपधातु-रस-उपरस-विष-उपविष-ओषधि-वनस्पतियाँ, आदि अनन्तविध, अनात्मीय, मूर्च्छित, प्रवर्ग्य भौतिक पदार्थ हीं 'पशुप्रजा' है। इन चारों प्रजाओं में पशुप्रजा का आधार भूतप्रजा है, भूतप्रजा का आधार देवप्रजा है, देवप्रजा का आधार ब्रह्मप्रजा है, सर्वाधार वही त्रिमूर्त्ति-सम्वत्सरप्रजापति है। ब्रह्मप्रजा मुख्या है, प्रधाना है, उत्तमस्थानीया है। देवप्रजा-गौणमुख्या है, प्रधानाप्रधाना है, मध्यमस्थानीया है। भूतप्रजा गौणा है, अप्रधाना है, अधमस्थानीया है। पशुप्रजा सर्वस्थान-शून्या स्थानविच्युता है, मूर्च्छिता है। दूसरी दृष्टि से हम ब्रह्मप्रजा को उत्तम, देवभूतप्रजा को मध्यम, एवं पशुप्रजा को अधम मान सकते हैं। केवल पशुप्रजा का उपासक मनुष्य मूढ है, तम से आक्रान्त है। देव-भूत (पारलौकिक स्वर्गादिसुख, ऐहलौकिक वैषयिक सुखरूप) प्रजा का उपासक क्लेश का अनुगामी है। एवं ब्रह्मप्रजा का (प्रकृति का) उपासक प्रकृतिस्थ बनता हुआ सर्वतोभावेन सुखी है *।

उक्त चारों प्रजाओं में से ब्रह्मप्रजा प्रकृतित्त्वेन पुरुषप्रजापतिवत् त्रैलोक्य में व्याप्त है, ज्ञानप्रधानत्वेन असङ्ग है। अतएव यह कहने भरके लिए प्रजा होती हुई भी 'अप्रजा' है। इसी प्रकार चौथी पशुप्रजा भी

---

*—कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्म्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्य्यगतिं प्रति ॥ (गी० २।४।३)।

१—यश्च बुद्धेः परंगतः]——ब्रह्मोपासकाः
२—क्लिश्यत्यन्तारितो जनः]——देवभूतोपासकाः
३—यश्च मूढतमो लोके]——पश्वनुयायिनः

अनत्मीयत्त्वेन, देव–भूताश्रित्वेन मूर्च्छितलक्षणा अप्रजा ही मानी जायगी। प्रजाधर्म्मों का विकास तो देव, तथा भूतप्रजा में ही होता है। अतएव—"देवतानि च भूतानि" के अनुसार इन मध्य प्रजाओं के लिए ही 'प्रजा' शब्द व्यवहृत हुआ है। इन में देवप्रजा का अपना लोक "द्यौः" है, सूर्य्य है—"चित्रं देवाना-मुदगात्"। एवं भूतप्रजा का अपना लोक 'पृथिवी' है,—'पृथिवी वै सर्वेषां भूतानां रसः"।

प्रजाचतुष्टयी-परिलेखः—

१–सर्वज्ञानुगता——ज्ञानप्रधाना—"ब्रह्मप्रजा" (प्राणाब्वागन्नान्नाद् विधा)-अप्रजालक्षणा प्रजा।

२–हिरण्यगर्भानुगता–क्रियाप्रधाना—"देवप्रजा" (वसुरुद्रादित्याश्विनविधा)--प्रजालक्षणा प्रजा।

३–विराडनुगता——अर्थप्रधाना—"भूतप्रजा"(पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशविधा)-प्रजालक्षणा प्रजा।

४–चित्यभूम्यनुगता—मृतप्रधाना—"पशुप्रजा" (धातूपधातवः) ।———अप्रजालक्षणा प्रजा।

३८-त्रयीविद्या, और भूतदृष्टि—

सौरी देवप्रजा, पार्थिवी भूतप्रजा, इन दो प्रजावर्गों का वेद, एवं लोक के द्वारा परस्पर सम्बन्ध होता है। इस सम्बन्ध से प्रजापति वेदत्रयी में (वेदत्रयीरूप देवप्रजात्रयी के गर्भ में) भूतप्रजा को देखने में समर्थ होते है। देवप्रजा की प्रतिष्ठा वेद है। अग्निमय वसुदेवता ऋग्वेद में, वायुमय रुद्रदेवता यजुर्वेद में, एवं आदित्यमय आदित्यदेवता सामवेद में प्रतिष्ठित हैं। इसी प्रकार भूतप्रजा की प्रतिष्ठा लोक है। वेदसृष्टि ब्रह्म के प्राणमुख से हुई है, अतएव वेद प्राणमय हैं। लोकसृष्टि ब्रह्म के आपोमुख से हुई है, अतएव लोक आपोमय हैं*—। प्राण वही सुप्रसिद्ध प्राणाग्नि है, जिसका पूर्व में 'ब्रह्माग्नि–त्याग्नि' रूप से बड़े विस्तार के साथ यशोगान हुआ है। प्राण और प्राणाग्नि अभिन्न है, प्राणाग्नि और वेद अभिन्न है, वेद और देवता अभिन्न है, यही पहिला वेदविवर्त्तरूप देवविवर्त्त है। यही अग्निविवर्त्त, किंवा अग्नित्रयी-विवर्त्त है। आपः वही सुप्रसिद्ध भार्गव सोमतत्त्व है, जिसका पूर्व–में भृग्वङ्गिरोरूप से विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। आपः–और सोम अभिन्न हैं, सोम और अथर्व अभिन्न है, अथर्व और लोक अभिन्न हैं, लोक और भूत अभिन्न हैं। यही दूसरा लोकरूप भूतविवर्त्त है, यही सोमविवर्त्त है। दोनों की समष्टि ही –'अग्नीषोमात्मकं जगत्" है।

वेदात्मक देवता लोकात्मक भूतों के गर्भ में प्रतिष्ठित हैं, लोकात्मक भूत वेदात्मक देवताओं के गर्भ में प्रतिष्ठित हैं। सौरमण्डल में बाहिर की ओर देवता हैं, भीतर भूत हैं। पार्थिवजगत् में बाहिर की ओर भूत हैं, भीतर की ओर देवता हैं। सौरजगत् की दृष्टि से प्रत्यक्षप्रिय बनते हुए वे ही प्राणदेवता पार्थिवजगत् की दृष्टि से परोक्षप्रिय बन रहे हैं,–जैसा कि—"परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः" इत्यादि–निगम से स्पष्ट है। इस देवभूत–संस्थानभेद से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, सौरसंस्था में त्रयीवेद बाहिर

---

* अप्सु तां मुञ्च भद्रं ते लोकाह्यप्सु प्रतिष्ठिताः।
आपोमयाः सर्वरसाः सर्व्वमापोमयं जगत्॥ (महाभारत)।

है, इसके गर्भ में भूत प्रतिष्ठित हैं। एवं पार्थिवसंस्था में त्रयीवेद गर्भीभूत है, इसके बाहिर भूत प्रतिष्ठित हैं। सौरसम्वत्सरप्रजापति त्रयीवेदमूर्त्ति देवतात्रयी के गर्भ में भूतों को देख रहे हैं। इस नियम के अनुसार यद्यपि पार्थिव सम्वत्सरप्रजापति को लोकमूर्त्ति भूतों के गर्भ में वेदत्रयीरूप देवत्रयी के दर्शन करने चाहिए थे। एवं उस अवस्था में सौरसम्वत्सर की दृष्टि से तो श्रुति को—"त्रय्यां वाव विद्यायां सर्वाणि भूतान्यपश्यन्", यह कहना चाहिए था। एवं पार्थिव सम्वत्सर की दृष्टि से—"भूतेषु वाव त्रयीविद्यामपश्यत्" यह कहना चाहिए था। परन्तु ऐसा न कह कर श्रुति ने जो सामान्यतः—"त्रय्यां वाव०" इत्यादि कह दिया, इसका कुछ विशेष प्रयोजन मानना पड़ेगा।

इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि, तत्त्वतः पार्थिव सृष्टि में भूतों के गर्भ में ही त्रयीविद्या, किंवा त्रयीवेदमूर्त्ति देवता प्रतिष्ठित हैं। परन्तु पार्थिव सम्वत्सर का जब सौर सम्वत्सर में अतिमान हो जाता है, दूसरे शब्दों में पार्थिव सम्वत्सर जब सौर सम्वत्सर में प्रविष्ट हो जाता है, तो इसमें सौरसम्वत्सर के 'त्रय्यां वाव विद्यायां भूतानि' धर्म्म का समावेश हो जाता है। स्वयं भूपिण्ड अवश्य ही भूतप्रधान है, अवश्य ही इसके गर्भ में देवत्रयी प्रतिष्ठित है। परन्तु भूमहिमालक्षण भौतिक पार्थिव सम्वत्सर तो सौर सम्वत्सर का सहयोग प्राप्त कर देवप्रधान बनता हुआ त्रयीविद्याप्रधान ही बन रहा है। इसी दृष्टि से श्रुति ने दोनों हीं सम्वत्सरों के लिए सामान्यतः—"त्रय्यां वाव विद्यायां सर्वाणि भूतान्यपश्यत्" कह दिया है।

क्या भूपिण्ड की दृष्टि से—"भूतेषु त्रयीविद्यामपश्यत्" यह कहा जा सकता है?, नेति होवाच। कारण स्पष्ट है। प्रश्न दृष्टि का है, देखने का है। एवं जहाँ जहाँ दृष्टि का सम्बन्ध है, वहाँ वहाँ सर्वत्र 'त्रय्यां वाव विद्यायां भूतानि' नियम प्रतिष्ठित है। 'यच्च किञ्चदार्ष्टिं वषयकमग्निकर्म्मैव तत्' इस नैगमिक सिद्धान्त के अनुसार दृष्टिकर्म्म अग्निप्रधान है। इधर वेदत्रयी अग्नित्रयीरूपा है। हम भूपिण्ड को देखें, अथवा भूपिण्ड-प्रतिष्ठित किसी भी पार्थिव पदार्थ को देखें, देखने में सौर सम्वत्सराग्नि का सहयोग आवश्यकरूप से अपेक्षित है। चन्द्रप्रकाश, अग्निप्रकाश, दीपप्रकाश, आदि सभी ज्योतियाँ परम्परया चन्द्रेन्द्रसहकृत सौर ब्रह्माग्नि के ही रूपान्तर हैं। यह भी सिद्ध विषय है कि, बिना इस सौर ज्योति (कोई से भी प्रकाश) के सहयोग के हम वस्तु को देख नहीं सकते। सौरप्रकाश ही वस्तुपिण्ड के साथ संयुक्त होकर तदाकाराकारित बनकर जब हमारे चक्षुपटल पर आता है, तभी हम "अयं घटः–अयं पटः–एषा भूमिः–एष मनुष्यः" इत्यादि रूप से वस्तुपिण्ड के दर्शन करने में समर्थ होते हैं। हमें सदा सौरज्योतिर्म्मयी त्रयीविद्या के गर्भ में ही भूतों की (पदार्थों की) उपलब्धि होती है। अतः अवश्य ही "त्रय्यां वाव (निश्चयेन) सर्वाणि भूतानि" कहना ही अन्वर्थ बनता है।

यह तो आपके और हमारे देखने की बात हुई। परन्तु अभी भूपिण्डस्थ (केन्द्रस्थ) पार्थिव अन्नादाग्निरूप प्रजापति की दृष्टि शेष है। ये केन्द्रस्थ प्रजापति जब त्रयीविद्यामय हैं, इनके चारों ओर जब भौतिक स्तर है, जब ये इस भौतिक स्तर के गर्भ में प्रतिष्ठित हैं, जब दृष्टि का सम्बन्ध—"पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्" के अनुसार बाहिर की ओर ही माना गया है, तो कम से कम इस केन्द्रस्थ प्रजापति के सम्बन्ध में तो 'भूतेषु त्रयीविद्यामपश्यत्' कहना ठीक बन सकता है। नेति होवाच। कारण स्पष्ट है।

भौतिक पिण्ड के साथ 'छन्द-वितान-रस' भेद से तीन भावों का सम्बन्ध रहता है। इनमें छन्द को हम देखते हैं, वितान को हम देखते हैं, एवं रस को हम देखते हैं। कैसे ?, इस प्रश्न का विशद विवेचन अगले प्रकरण में किया जाने वाला है। प्रकृत में वक्तव्यांश यही है कि, छन्दोभाग ही छन्दोवेदलक्षण 'ऋक्' है, यही वस्तुपिण्डहै। वितानभाग ही वितानवेदलक्षण 'साम' है, यही वस्तुमहिमा (बहिर्मण्डल) है। रसभाग ही रसवेदलक्षण 'यजु' है, यही वस्तुतत्त्व है। इन तीनों में महिमालक्षण वितानवेद. तथा रसलक्षण रसवेद की दृष्टि से तो भूतपिण्ड वेद के गर्भ में प्रतिष्ठित है ही। स्वयं भूतपिण्ड भी छन्दोवेद के गर्भ में ही प्रतिष्ठित है। मूर्ति वस्तुपिण्ड है, यही भौतिक पिण्ड है। मूर्त्तिलक्षण इस भूतपिण्ड में विष्कम्भ (व्यास), परिणाह (घेरा), विष्कम्भ- परिणाह की प्रतिष्ठारूप हृद्य-बिन्दु, ये तीन पर्व हैं। ये ही तीनों पर्व क्रमशः ऋक्साम-यजुर्वेद है। इन्ही तीनों पिण्डवेदों की समष्टि ऋग्वेदलक्षण छन्दोवेद है। इस छन्दोवेद की दृष्टि से स्वयं भूतपिण्ड भी त्रयीविद्या (छन्दोवेदलक्षण, ऋङ्मयी त्रयीविद्या) के गर्भ में ही प्रतिष्ठित हो रहा है। इसप्रकार-त्रय्यां वाव विद्यायां सर्वाणि भूतान्यपश्यत्' यह सिद्धान्त सर्वत्र समानरूप से चरितार्थ हो रहा है।

त्रय्यां वाव विद्यायां सर्वाणि भूतान्यपश्यत्"—

❀

१-देवानां-स्वो लोकः-"द्यौः"-सूर्य्यः-"चित्रं देवानामुदगात्"।

१

२-भूतानां-स्वो लोकः-"भूमिः"-"पृथिवी वै सर्वेषां भूतानां रसः"।

❀

१-देवाः-वेदेषु प्रतिष्ठिताः - वेदेषु प्रतिष्ठिता देवा लोकेष्वागच्छन्ति।

२

२-भूतानि-लोकेषु प्रतिष्ठितानि-लोकेषु प्रतिष्ठितानि भूतानि वेदेष्वागच्छन्ति।

❀

१-वेदाः-प्राणमयाः-अग्निमयाः-प्राणात-वेद सृष्टिः

३ "अग्नीषोमात्मकं जगत्"

२-लोकाः-आपोमयाः-अद्भिः-लोकसृष्टिः

❀

१-सौरसम्वत्सरमण्डलान्तर्भुक्तानि भूतानि त्रय्यां वाव विद्यायां प्रतिष्ठितानि।

२-पार्थिवसम्वत्सरमण्डलान्तर्भुक्तानि त्रय्यां वाव विद्यायां प्रतिष्ठितानि।

४

३-पिण्डात्मकाः सर्वे भूतभावास्त्रय्यां वाव विद्यायां प्रतिष्ठितानि।

४-अन्नादाग्निमयो भूपिण्डश्छन्दोवेदमय्य्यां त्रय्यां वाव विद्यायां प्रतिष्ठितः"।

❀-आतश्च-"त्रय्यां वाव विद्यायां सर्वाणि भूतान्यपश्यत्" इत्याहुराचार्य्याः

❀

दूसरी दृष्टि से समन्वय कीजिए। वस्तुतत्त्व को 'आत्मा, भूत' भेद से दो भागों में भी विभक्त माना जा सकता है। इन दोनों में आत्मा स्वस्वरूप से सदा परोक्ष रहता है। वह कभी दृष्टि का विषय नहीं बनता। दूसरे शब्दों में यों समझ लीजिए कि, आत्मा दृश्य नहीं बनता, अपितु द्रष्टा बना रहता है। भूतभाग इस परोक्ष, हृद्य आत्मा का शरीर है। इस भूतमय शरीर (वस्तुपिण्ड) के 'भूत-देवता' भेद से दो पर्व हैं। उक्थरूप मूलप्राण देवता हैं, अर्करूप देवप्राण देवभक्तियाँ हैं। इन में मूलप्राणरूप देवता आत्मसम्पत्ति है, तूलप्राणरूपा देवभक्तियाँ भूतसम्पत्ति (शरीरसम्पत्ति) है। ये देवभक्तियाँ–१–देवता, २–प्राण, ३–स्तोम, ४–छन्दो' भेद से चार भागों में विभक्त हैं। ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, ४९ मरुत्, १३ विश्वेदेव, १२ साध्यदेव, इन सब प्राणों की समष्टि 'देवता' नाम की पहिली देवभक्ति है। प्राण, उदान, व्यान, समान, अपान, नामक पञ्चप्राणों की समष्टि 'प्राण' नाम की दूसरी देवभक्ति है। त्रिवृत् (९), पञ्चदश (१५), सप्तदश (१७), एकविंश (२१), त्रिणव (२७), त्रयस्त्रिंश (३३) भेदभिन्न स्तोमसमष्टि 'स्तोम' नाम की तीसरी देवभक्ति है। गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप्, जगती, नामक सात छन्दों की समष्टि 'छन्द' नाम की चौथी देवभक्ति है। इन चारों देवभक्तियों का मूलोक्थ अग्नि–वायु–आदित्य की समष्टि रूप देवसङ्घ है, जो कि देवसङ्घ आत्मानुगामी बना रहता है। आत्मानुगत देवताओं के आधार पर ही देवभक्तिरूप भौतिक शरीर प्रतिष्ठित रहता है। जिसे हम 'अस्ति' कहते हैं, वह अस्तिभाव (प्रतीयमान वस्तुभाव) देव-प्राण-स्तोम–छन्दोरूपा देवभक्तिचतुष्टयीमात्र ही है। ये ही चारों सम्मिलित होकर अस्तिबुद्धि के परिचायक बन रहे हैं। इन चारों की कारण-कार्य्यभेद से दो दो अवस्था रहती हैं। कारणदशा में ये चारों अमृतलक्षण हैं, कार्य्यदशा में भूतभाव में आते हुए ये ही चारों मृत्युलक्षण बन रहे हैं। ये ही 'हैं', ये ही अमृत हैं, ये ही कार्य्य-दशा में मर्त्य हैं। मर्त्य भूतपिण्ड स्वकारणरूप जिन चार देवभक्तियों के अनुग्रह से 'अस्ति' रूप प्रत्यक्ष का विषय बन रहा है, यह वस्तुतः उन वेदमूलक देवताओं की ही महिमा मानी जायगी। क्योंकि देवभक्तियाँ स्वयं वेदात्मिका देवत्रयी के गर्भ में प्रतिष्ठित हैं। इस दृष्टि से भी हमारा "त्रय्यां वाव विद्यायाम्" इत्यादि सिद्धान्त अपवादरहित बना रहता है। अथवा छोड़िए इस तत्त्ववाद की जटिल पहेली को। सामान्य लौकिक दृष्टि से ही विचार कीजिए। प्रत्येक वस्तु के साथ 'स्पृश्य-दृश्य' भेद से दो भावों का सम्बन्ध रहता है। विज्ञानशास्त्र का यह भी एक माना हुआ सिद्धान्त है कि, जो स्पृश्य है, वह कभी दृश्य नहीं बनता। एवं जो दृश्य है, वह कभी स्पृश्य नहीं बनता। हम देखते हैं किसी भिन्न वस्तुतत्त्व को, एवं छूते हैं किसी भिन्न वस्तु को। जिसे देख रहे हैं, उसे छू नहीं सकते। जिसे छू रहे हैं, उसे देख नहीं सकते, जैसाकि पाठक अगले प्रकरण में विस्तार से देखेंगे। स्पृश्यपिण्ड भूतभाग है, भौतिक पिण्ड ही छुआ जा सकता है। दृश्यमहिमा वेदमयी है, देवमयी है। इसके द्वारा ही हम भूतदृष्टि का अनुमान लगाया करते हैं। इस दृष्टि से तो–"त्रय्यां वाव विद्यायाम्" में अब किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता। त्रयीविद्या की इसी सर्वव्याप्ति को लक्ष्य में रखकर श्रुति ने कहा है—"अथ सर्वाणि भूतानि पर्य्यैक्षत्"*। इस श्रुति के आगे निम्न लिखित वचन पठित हैं, जो कि व्यूहनप्रक्रिया का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

---

* मनोयोगः–ईक्षणम्–पर्य्यैक्षत्।
चक्षुर्योगः–दर्शनम्–अपश्यत्।

२–'स ऐक्षत प्रजापतिः–त्रय्यां वाव विद्यायां सर्वाणि भूतानि ।
हन्त त्रयीमेव विद्यामात्मानमभिसंस्करवा' इति'' ।

(शत० १०।४।२।२२।) ।

प्रजापति ने अपना यह निश्चय कर लिया कि, त्रयीविद्या में ही सम्पूर्ण भूत प्रतिष्ठित हैं । फिर क्या विलम्ब था । अनृतसंहित हम मनुष्यों का ईक्षण–दर्शन व्यर्थ जा सकता है, जाता है । परन्तु अग्निप्रधान, अतएव सत्यसंहित सम्वत्सरप्रजापति का ईक्षण–दर्शन व्यर्थ कैसे हो सकता है । प्रजापति ने यह निश्चय किया कि, जिस त्रयीविद्या के गर्भ में सम्पूर्ण भूत प्रतिष्ठित हैं, जिन भूतों में अपनी मात्राप्रदान से मैं रिरिचान बन गया हूँ, उन भूतों के पुनःसन्धान के लिए, पुनिश्चिति के लिए, सर्वभूतों में आत्मरूप से व्याप्त होने के लिए मुझे भूतों को गर्भ में रखने वाली त्रयीविद्या से ही अपने आपका संस्कार करना चाहिए'' ।

जैसा कि पूर्व के मुहूर्त्त–प्रकरण में स्पष्ट किया जा चुका है, प्रजापति मुहूर्त्तपर्य्यन्त व्याप्त होते हुए १०८०० कलाओं में विभक्त हो रहे हैं । कलात्मक यह प्रजापति निष्कल एक सम्वत्सररूप में परिणत कैसे हुए !, कलाविभागों के रहते हुए भी सम्वत्सर एक क्यों कहलाया !, किस के आधार पर कहलाया ?, इन सब कलाओं का वह एक अभिन्न आत्मा किस आधार पर बना !, इन सब प्रश्नों का समाधान 'त्रयीविद्या-संस्कार'–प्रक्रिया पर ही अवलम्बित है । एवं यह त्रयीसंस्कार त्रयीविद्या की व्यूहनप्रक्रिया पर ही अवलम्बित है। इसी व्यूहनप्रक्रिया का उपक्रम करते हुए आगे चल कर वेदभगवान् कहते हैं—

३—"स ऋचो व्याहत्–द्वादश बृहतीसहस्राणि । एतावत्यो हऽर्चो, याः प्रजापतिसृष्टाः । तास्त्रिंशत्तमे व्यूहे पंक्तिष्वतिष्ठन्त । ता यत्त्रिंशत्तमे व्यूहेऽतिष्ठन्त, तस्मात्त्रिंशन्मासस्य रात्रयः । अथ यत् पंक्तिषु, तस्मात् पांक्तः प्रजापतिः । ता अष्टाशतं शतानि पंक्तयोऽभवन्'' (शत० १०।४।२।२३।) ।

४—"अथेतरौ वेदौ व्याहौत्–द्वादशैव बृहतीसहस्राण्यष्टौ यजुषां, चत्वारि साम्नाम् । एतावद्धैतयोर्वेदयोर्य प्रजापतिसृष्टम् । तौ त्रिंशत्तमे व्यूहे पंक्तिष्वतिष्ठेताम् । तौ यत् त्रिंशत्तमेव्यूहेऽतिष्ठेतां, तस्मात् त्रिंशन्मासस्य रात्रयः । अथ यत् पंक्तिषु, तस्मात् पांक्त प्रजापतिः । ता अष्टाशतमेव शतानि पंक्तयोऽभवन्'' ।

—शत० १०।४।२।२४। ।

५—"ते सर्वे त्रयो वेदाः–दश च सहस्राण्यष्टौ शतानि–अशीतीनामभवन् । स मुहूर्त्तेन मुहूर्त्तेनाशीतिमाप्नोत्, मुहूर्त्तेन मुहूर्त्तेनाशीतिः समपद्यत ।

६—"स एष त्रिषु लोकेषूखायां योनौ रेतोभूतमात्मानमसिञ्चत्–छन्दोमयं, स्तोममयं, प्राणमयं, देवतामयम्। तस्यार्द्धमासे प्रथम आत्मा समस्क्रियत, दवीयसि परः, दवीयसि परः। सम्वत्सरऽएव सर्वः कृत्स्नः समस्क्रियत।
—शत० १०।४।१।२५।)।

७—"तद्यत् परिश्रितमपाधत्त, तद्रात्रिमुपाधत्त। तदनु पञ्चदशमुहूर्त्तान्। मुहूर्त्तानन्तु पञ्चदशाशातीः। अथ यद्यजुष्मतीमुपाधत्त, तदहरुपाधत्त। तदनु पञ्चदश मुहूर्त्तान्। मुहूर्त्तानन्तु पञ्चदशाशीतीः। एवमेतां त्रयीं विद्यामात्मन्नावपत, आत्मन्नकुरुत। सोऽत्रैव सर्वेषां भूतानामात्माभवच्छन्दोमयः, स्तोममयः, प्राणमयः, देवमयः। स एतन्मय एव भूत्वा–ऊर्ध्व उदक्रामत्। स यः स उदक्रामत्–एष स चन्द्रमा." (शत० १०।४।२।२७।)।

८—"तस्यैषा प्रतिष्ठा–य एष तपति। एतस्मादेवाध्यचीयते. एतस्मिन्नध्यचीयत आत्मन एव तन्निरामिमीत, आत्मनः प्राजनयत्" (शत० १०।४।२।२८") इति ॥

३९–छन्दांसि, और त्रयीवेद—

उक्त आठ वचनों के समन्वय के लिए निम्नलिखित यजुर्मन्त्र, एवं तत् सम्बद्ध छन्दःपदार्थ की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है—

"तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत" (यजु सं० ३१।७।)।

"योगमायावच्छिन्न, पञ्चपर्वा, पञ्चपुण्डीरा–वल्शात्मक जिस आभूप्रजापति (स्वयम्भूब्रह्म) ने सम्पूर्ण विश्व को अपने अधिकार में करने के लिए स्वयं अपने आपको विश्व में, एवं सम्पूर्ण विश्व को अपने आप में हुत कर लिया, प्रजापति का वही समष्टिरूप 'सर्वमेध' लक्षण 'सर्वहुत' यज्ञ कहलाया, जो कि वैधयज्ञ-प्रक्रियाओं में 'विश्वजित्' नाम से भी प्रसिद्ध है *। इस सर्वहुतयज्ञ से ऋचाएँ उत्पन्न हुईं, साम उत्पन्न

---

१ *"ब्रह्म ह वै स्वयम्भु तपोऽतप्यत। तदैक्षत–न वै तपस्यानन्त्यमस्ति। हन्ताहं भूतेष्वात्मानं जुहवानि, भूतानि चात्मनीति। तत् सर्वेषु भूतेष्वात्मानं हुत्वा, भूतानि चात्मनि, सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं, स्वाराज्यं, आधिपत्यं पर्य्यैत्"।
(शेष पृ० २४८ पर देखिए) —शत० १३।७।१।१।

हुए, छन्द उत्पन्न हुए, एवं यजु–उत्पन्न हुआ" यह है मन्त्र का अक्षरार्थ। सर्वश्रीसायण, उव्वट, महीधरादि भाष्यकारों ने इस मन्त्र का क्या तात्त्विक अर्थ किया है ?, इस प्रश्न का समाधान हमारे पास नहीं है। हाँ इस सम्बन्ध में केवल यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि, अपने अथर्ववेदभाष्य के उक्त मन्त्रव्याख्यान में 'छन्दः' को 'छन्दांसि' परक मानते हुए सायणाचार्य्य ने शब्दात्मक वेदग्रन्थ की ही सर्वहुतयज्ञ से उत्पत्ति बतलाई है, जैसाकि उनके निम्न लिखित भाष्यवचन से स्पष्ट है—

"सर्वहुतः अश्वभूतात् तस्माद्यज्ञात् पुरुषाद् ऋचः पादबद्धा मन्त्राः सामानि गीत्यात्मकानि जज्ञिरे। तस्माद् यज्ञात् पुरुषात् छन्दः। जसो लुक्। छन्दांसि। हशब्दश्चार्थे। छन्दांसि च ऋगाद्यधिष्ठानानि जज्ञिरे। तस्मादेव पुरुषाद् यजुः प्रश्लिष्टपाठात्मका मन्त्राः अजायन्त"। (अथर्वसं० १९।६।१३-सायणभाष्य)।

हमारे प्रकृत व्यूहनकर्म्म का 'छन्दः' पदार्थ के साथ प्रधान सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में यों कहना चाहिए कि, पूर्वश्रुतियों में जिस व्यूहन का उल्लेख हुआ है, उसका एकमात्र 'छन्दोवेद' के साथ ही सम्बन्ध है। अतएव सर्वप्रथम इस 'छन्दः' पदार्थ का दिग्दर्शन कराना आवश्यक हो जाता है। 'छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति'–'ननु चोक्तं छन्दांसि क्रियन्ते'–'छन्दसि बहुलम्' इत्यादि व्याकरणसिद्धान्तों के अनुसार छन्दः शब्द वेद शब्द का पर्य्याय है। 'छन्दसि' का अर्थ वहाँ 'वेद' ही हुआ है। वेदतत्त्व 'ऋक्-यजुः-साम' भेद से तीन भागों में विभक्त है। इसप्रकार जब वेदत्रयी, और 'छन्दांसि' अभिन्न हैं, तो उस दशा में श्रुति ने "ऋचः सामानि जज्ञिरे, छन्दांसि जज्ञिरे, यजुस्तस्मादजायत" इत्यादि रूप से वेदत्रयी से पृथक् छन्दांसि का निर्देश क्यों, एवं किस आधार पर किया ?, यह एक प्रश्न है। इस प्रश्न के समाधान के लिए अवश्य ही छन्दःपदार्थविवेचन प्रासङ्गिक बन जाता है।

'वेद का मौलिक स्वरूप' नामक द्वितीय स्तम्भ के "व्यष्टिलक्षण प्राजापत्यवेद" नामक परिच्छेद में (पृ० सं० ५५ से ६१ पर्य्यन्त) गायत्र्यादि सात छन्दों के तत्त्वात्मक रूपों का विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। वहीं यह स्पष्ट कर दिया गया है कि, वयलक्षण वस्तुतत्त्व को चारों ओर से घेर कर उसे सीमित बनाए रखने वाला वयोनाधलक्षण परिश्रितभाव ही 'छन्द' है। छन्द से छन्दित वस्तु वय है, वय को अपने गर्भ में रखने वाला वयोनाध ही छन्द है। ऋक् का अग्नि से, वायु का यजु से, आदित्य का साम से सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में अग्नि ही ऋक् है, वायु ही यजु है, एवं आदित्य ही साम है। यह वेदत्रयी वयस्थानीय

(२४७ वें पृष्ठ की टिप्पणी का शेषांश)

२ **"सहस्रं प्रवृञ्ज्यात। सर्वं वै सहस्रम्। सर्वं वै सर्ववेदसम्। सर्वं वै विश्वजित्। एतान्यस्य प्रवर्जनानि। अतो नान्यत्र"** (शत० १४।३।१।३७)।

३ **यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्तत एकशतं देवकर्म्मेभिरायतः।**
इमे वयन्ति पितरो य आययुः प्रवयाप वयेत्यासते तते॥ (ऋक्सं० १०।१३०।१)।

वस्तुतत्त्व है। इस वेदत्रयी का जो वयोनाध होगा, वही इसका छन्द कहलाएगा। यद्यपि व्यष्टिरूप से ऋक् का गायत्रीछन्द है, यजु का त्रिष्टुप्छन्द है, साम का जगतीछन्द है। परन्तु समष्ट्यात्मक छन्द कौन ?, उसका क्या स्वरूप ?, इस प्रश्न का एकमात्र समाधान है–'भृग्वङ्गिरोमय अप्तत्त्व'। अग्नित्रयीरूपा वेदत्रयी अप्-गर्भ में ही प्रतिष्ठित रहती है। सौरसम्वत्सर के चारों ओर पारमेष्ठ्य–भृग्वङ्गिरोमयी आपः का वेष्टन है। इसी वयोनाध से त्रयीमूर्त्ति सम्वत्सर नद्ध है, सीमित है, छन्दित है, सुरक्षित है, जीवित है। अतः हम इस पारमेष्ठ्य आपः को ही 'छन्दःपदार्थ' मानने के लिए तय्यार हैं। 'व्रज गच्छ गोष्ठानम्' (यजुः सं० १।२५।) के अनुसार पारमेष्ठ्य आपोमय समुद्र ही गोस्थान है, यही व्रजस्थान है, आपोमय छन्द एतद्रूप ही हैं। अतएव–'छन्दांसि वै व्रजो गोस्थानः" (तै० ब्रा० ३।२.६।३।) यह कहा गया है। इसी आपोमय समुद्र के गर्भ में सौराग्नि के समावेश से मेध्य अश्व उत्पन्न हुआ है, जो कि अश्व 'वाजी' नाम से प्रसिद्ध है। हमारे ये छन्द भी 'अप्सुयोनिर्वा अश्वः' की भाँति आपोमय ही हैं. अतएव–"छन्दांसि वै वाजिनः" (गो०ब्रा०उ० १।२०।) यह कहा जाता है। "आपो हिष्ठा मयोभुवः–यो वः शिवतमो रसः" (यजु सं०११।५०.५१) के अनुसार पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व रसरूप (अम्भारूप) है. हमारे छन्द एतन्मय हैं, अतएव–"रसो वै छन्दांसि" (तां० ब्रा० ६।६.२६) यह भी कहा जाता है। इसप्रकार यह सर्वात्मना सिद्ध हो जाता है कि, वेदत्रयमूर्त्ति सम्वत्सर का वेष्टन रखने वाला पारमेष्ठ्य भृग्वङ्गिरोमय अप्–तत्त्व ही छन्दःपदार्थ है। यही 'छन्दांसि' है, एवं यही छन्दांसि हमारे उस सोममय चौथे 'अथर्ववेद' का संग्राहक है। 'अथर्ववेद' और 'छन्दांसि' पर्य्याय नहीं हैं। अपितु आपोमय (सोममय) अथर्ववेद का वयोनाध छन्दांसि है। 'आपः' स्वयं बहुवचनान्त है, अतएव तद्रूप 'छन्दः' को 'छन्दांसि' कह दिया गया है। हाँ इस सम्बन्ध में यह अवश्य ही मान लिया जायगा कि, क्योंकि सोममय अथर्ववेद, एवं आपोमय 'छन्दांसि' दोनों समानजातीय हैं। अतएव 'छन्दांसि' से अथर्व का ग्रहण किया जा सकेगा। जहाँ छन्दांसि के स्थान में–'छन्दः' एकवचनान्त रहेगा (अथर्वसं० १६.८।१३.), वहाँ छन्दः को अथर्वपरक ही मानना पड़ेगा। इसप्रकार "अथर्वणां सर्वाणि छन्दांसि" इत्यादि रूप से तत्त्वतः अथर्व और छन्द को पृथक् मानते हुए भी सजातीयता से इनमें पर्य्याय सम्बन्ध बन जाता है।

उक्त छन्दःपरिभाषा के आधार पर 'तस्माद्यज्ञात्' इत्यादि मन्त्र के सम्बन्ध में हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, यहाँ 'छन्दांसि' पद भृग्वङ्गिरोमय आपोमय अथर्व का सूचक बनने के साथ साथ सम्वत्सराग्नित्रयी के चारों ओर व्याप्त रहने वाले आपोमय, परिश्रितलक्षण वयोनाध का भी द्योतक बन रहा है। इस वयोनाधात्मक आपोमय छन्दःतत्त्व का स्वयं सम्वत्सरमण्डल में भी भोग हो रहा है। सम्वत्सर वस्तुतस्तु बृहतीछन्द से ही छन्दित है। अतएव सम्पूर्ण सम्वत्सर 'बार्हत' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। इसी बृहतीछन्द का का इतर गायत्र्यादि छओं छन्दों में नमन हो रहा है, जैसाकि पूर्व में विस्तार से बतलाया जा चुका है।

प्रकृत में ज्योतिःशास्त्र के सुप्रसिद्ध 'वृत्त' को छन्द मान कर ही प्रकृत की व्यूहनप्रक्रिया का समन्वय करना है। अहोरात्रवृत्त, क्रान्तिवृत्त, विक्षेपवृत्त, क्षितिजवृत्त, याम्योत्तरवृत्त, आदि वृत्तों में से प्रकृत में सप्त-संख्याक वे अहोरात्रवृत्त ही अभिप्रेत हैं, जिन्होंने इन्द्र का सहयोग प्राप्त कर भूपिण्ड को स्थिर मार्ग पर परिभ्रमणशील बना रक्खा है। 'चक्राण ओपशं दिवि' (ऋक्सं०८।१४।५) इत्यादि श्रुति ने इन्द्र के जिस ओपश को भूपरिभ्रमण का कारण बतलाया है, वह ओपश छन्दोरूप यही अहोरात्रवृत्त (विशेषतः

मध्यस्थ बृहतीवृत्त) ही हैं, जैसा कि—"छन्द ओपशः" (ऋक्सं० १०।८५।८) इत्यादि श्रुत्यन्तर से प्रमाणित है ।

४०—बृहतीछन्द के तीन वितान—

बृहतीछन्द मध्य में प्रतिष्ठित है । इस से २४ अंश उत्तर, तथा २४ अंश दक्षिण, ४८ अंश के परिसर का जो एक ज्योतिर्म्मण्डल है, वही 'सम्वत्सर' (सौर सम्वत्सर) है । इस परिसर के चारों ओर का दीर्घवृत्तात्मक (अण्डवृत्तात्मक) वृत्त ही 'क्रान्तिवृत्त' नाम से प्रसिद्ध है । इसी पर भूपिण्ड अपने स्वाक्ष-परिभ्रमण से दैनंदिनगति का अधिष्ठाता बनता हुआ साम्वत्सरिक गति का अधिष्ठाता बन रहा है । इस सम्वत्सरमण्डल के मध्य में "सूर्य्यो बृहतो मध्यढम्तपति"—"नैवोदेता नास्तमेता, मध्ये एकल एव स्थाता" इत्यादि के अनुसार सूर्य्य तप रहा है । बृहतीछन्द से छन्दित मध्यस्थ सूर्य्य से उत्तर जो अर्ध-मण्डलात्मक २४ अंशों का भाग है, उसके '१२–८–४' इस क्रम से तीन विभाग हैं । एवमेव दक्षिणार्द्ध-मण्डल में भी १२–८-४ इसी क्रम से तीन विभाग हैं । इन अंशों की दूरी से सौर–बृहती से उत्तर मण्डल में भी तीन पूर्वापरवृत्त हो जाते हैं । एवं दक्षिण में भी तीन पूर्वापरवृत्त हो जाते हैं । मध्यस्थ बृहती-वृत्त स्वय सातवाँ पूर्वापरवृत्त बन रहा है । इसप्रकार सम्भूय सम्वत्सर में सात अहोरात्रवृत्त हो जाते हैं । जिसप्रकार मध्यस्थ बृहती नामक पूर्वापरवृत्त बृहती-सहस्रसम्पत्ति से युक्त है, तथैव बृहती से उत्तर दक्षिण समानान्तर पर प्रतिष्ठित इतर ६ओं वृत्त भी इसी सम्पत्ति से युक्त हैं । यदि ६ ओं समानान्तर पर हैं, तो फिर '१२–८–४' यह वैषम्य क्यों ?, इस प्रश्न का उत्तर 'शर' भाव है । दीर्घवृत्तात्मक क्रान्तिवृत्त के शरभाव से ही दृश्यस्थिति की अपेक्षा से इन समानन्तरानुबन्धी वृत्तों में '१२–८–४' यह वैषम्य हो जाता है । सातों अहोरात्रवृत्त समान हैं, फिर भी दृश्यपरिस्थिति की अपेक्षा से जैसे सातों में (दक्षिण से आरम्भ कर उत्तर पर्य्यन्त) '६–७–८–९–१०–११–१२' यह संख्यावैषम्य हो रहा है, एवमेव क्रान्तिशर के अनुग्रह से 'द्वादश-द्वादश-द्वादश' भावों से युक्त, समानान्तर पर प्रतिष्ठित दक्षिणोत्तरवर्ती पूर्वापरवृत्तों में भी 'द्वादश-अष्टौ-चत्वारः' यह वैषम्य हो रहा है ।

विष्वद् (बृहती) वृत्तस्थ सौर बृहतीप्राण ही वेदमूर्त्ति, सौर, नभ्य, सम्वत्सरप्रजापति है । इसके "ऋक्–साम–यजुः" भेद से तीन विवर्त्त हैं । यही मूलवेद है । "यदेतन्मन्डलं तपति, तन्महदुक्थम् । ता ऋचः । स ऋचां लोकः" के अनुसार बृहत्प्राणात्मक सूर्य्यबिम्ब ऋचाओं की समष्टि है ।"यदेतदर्चिर्दीप्यते, तन्महाव्रतम् । तानि सामानि । स साम्नां लोकः"के अनुसार बृहत्प्राणात्मक सौर अर्चिर्म्मण्डल (रश्मिमय ज्योतिर्म्मण्डल, प्रकाशमण्डल) सामों की समष्टि है । एवं सौर अग्नि यजुर्वेद है । इसप्रकार बृहती से छन्दित सूर्य्य में तीनों वेदों का भोग सिद्ध हो रहा है, जैसा कि 'त्रयी वा एषा विद्या तपति" इत्यादि से स्पष्ट है । इस बार्हत सौरवेद का उन '१२ ८ ४' अंशात्मक तीन पूर्वापरवृत्तों में व्यूहन होता है । इसी व्यूहन से सौरसम्वत्सरप्रजापति की व्याप्ति त्रैलोक्य में हो जाती है । सौरवेद मूलवेद है, यही उक्थ है, आत्मा है ।

अंशात्मना व्याप्त वेद तूलवेद है, यही अर्क है, यही शरीर है । प्रकृत व्यूहनप्रक्रिया इस शरीरवेद की संख्याओं का ही विस्तार बतला रही है ।

४१–वितानवेदत्रयी और बृहती छन्द—

उपक्रमभाव प्रस्ताव है, यही 'ऋक्' है । मध्यमभाव उद्गीथ है, यही 'यजुः' है । उपसंहारभाव निधन है, यही 'साम' है । विष्वद्वृत्त से उत्तर १२ अंश पर प्रतिष्ठित पहिला पूर्वापरवृत्त (तदवच्छिन्न द्वादशधा विभक्त बृहतीसहस्रप्राण) उपक्रमस्थानीय ऋक् है । ८ अंश पर प्रतिष्ठित दूसरा पूर्वापरवृत्त (तदवच्छिन्न अष्टधा विभक्त बृहतीसहस्रप्राण) मध्यमस्थानीय यजु है । एवं ४ अंश पर प्रतिष्ठित तीसरा पूर्वापरवृत्त (तदवच्छिन्न चतुर्द्धा विभक्त बृहतीसहस्रप्राण) उपसंहारस्थानीय साम है । ठीक यही क्रम, इसी से समतुलित क्रम विश्वद्वृत्त से दक्षिण के तीनों पूर्वापरवृत्तों में है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट हो रहाहै—

३–द्वादशाक्षरा जगती (४८)–४–अंशात्मकं पूर्वापरवृत्तम्–उपसंहारभावः–साम

२–एकादशाक्षरा त्रिष्टुप् (४४)–८–अंशात्मकं पूर्वापरवृत्तम्—मध्ममभावः–यजुः

१–दशाक्षरा पंक्तिः (४०)–१२–अंशात्मकं पूर्वापरवृत्तम्—उपक्रमभाव –ऋक्

नवाक्षरा बृहती (३६)–मध्यस्थं पूर्वापरवृत्तम् — वेदत्रयी

१–अष्टाक्षरा अनुष्टुप् (३२)–१२–अंशात्मकं पूर्वापरवृत्तम्—उपक्रमभावः–ऋक

२–सप्ताक्षरा उष्णिक् (२८)–८—अंशात्मकं पूर्वापरवृत्तम्—मध्यमभावः—यजुः

३–षडक्षरा गायत्री (२४)–४—अंशात्मकं पूर्वापरवृत्तम्–उपसंहारभावः—साम

'सप्तछन्दोविज्ञान' का दिग्दर्शन कराते हुए पूर्व में यह बतलाया जा चुका है कि. गायत्र्यादि सातों छन्दों में मध्यस्थ बृहतीछन्द तो अपने स्वरूप मे अहोरात्रेष्टका बना हुआ है, एवं शेष गायत्र्यादि ६ छन्द दो दो मिलकर ७२–७२ भावों में परिणत होते हुए ७२० अहोरात्रों के स्वरूपसमर्पक बने हुए हैं। इस सिंहावलोकन से कहना प्रकृत में यही है कि, षडक्षरा सामात्मिका गायत्री, द्वादशाक्षरा सामात्मिका जगती, दोनों का युग्म एक वस्तुतत्त्व है, यही प्राजापत्य सामवेद है । सप्ताक्षरा यजुरात्मिका उष्णिक,एकादशाक्षरा यजुरात्मिका त्रिष्टुप् , दोनों का युग्म एक वस्तुतत्त्व है, यही प्राजापत्य यजुर्वेद है । अष्टाक्षरा ऋगात्मिका अनुष्टुप् , दशाक्षरा ऋगात्मिका पंक्ति दोनों का युग्म एक वस्तुतत्त्व है, यही प्राजापात्य ऋग्वेद है । इसप्रकार इस छन्दोयुग्म से दो वेदसंस्थाओं की परमार्थतः एक ही वेदसंस्था रह जाती है। मध्यस्थ बृहतीछन्द से छन्दित बृहतीसहस्रप्राण स्वयं नभ्यप्रजापति है, यह उक्थवेदमूर्त्ति है, यही 'प्रजापतिवेद' है । इस प्रजापतिवेद का (मूलवेद का) उक्त प्राजापत्या वेदत्रयी में व्यूहन होता है। वेत्रदयी का छन्दोवितान के द्वारा खण्ड–खण्डभाव में परिणत हो जाना ही व्यूहन है ।

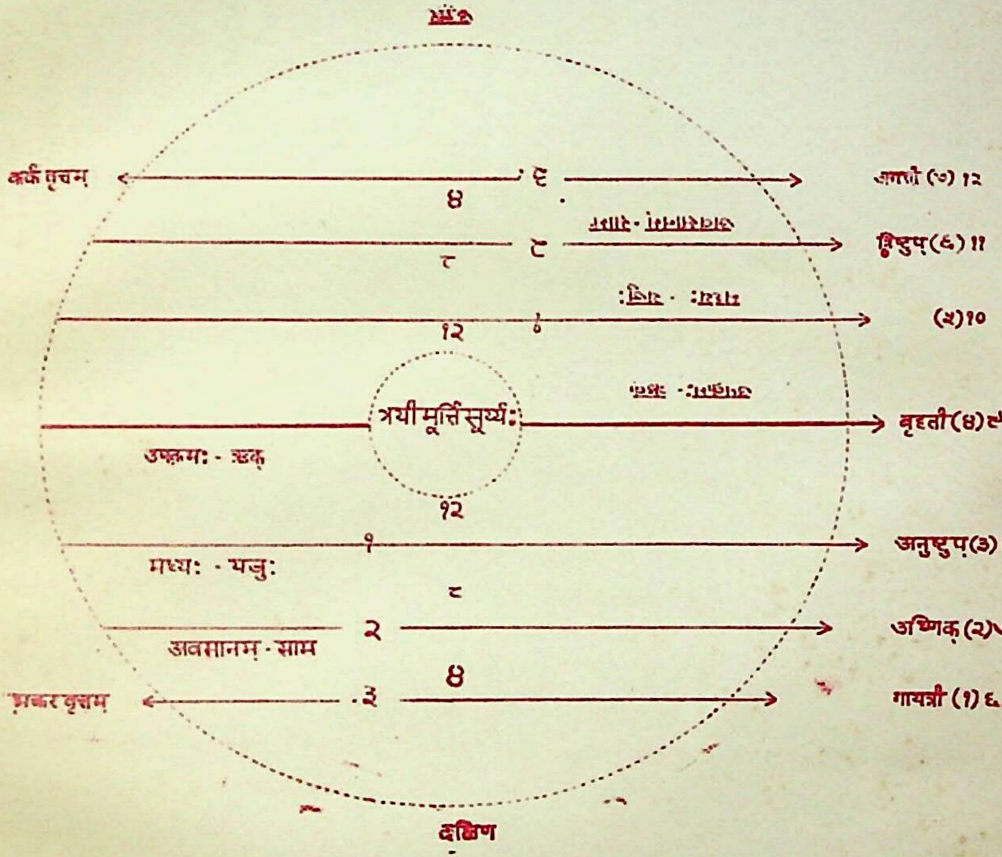
४	१–दक्षिणस्था, षडक्षरा, सामात्मिका गायत्री–साम	बृहतीसहस्रात्मकः सामवेदः प्राजापत्यः ।
	२–उत्तरस्था, द्वादशाक्षरा, सामात्मिका जगती–साम	
८	१–दक्षिणस्था, सप्ताक्षरा, यजुरात्मिका उष्णिक् यजुः	बृहतीसहस्रात्मको यजुर्वेदः प्राजापत्यः ।
	२–उत्तरस्था, एकादशाक्षरा, यजुरात्मिका त्रिष्टुप्–यजुः	
१२	१–दक्षिणस्था, अष्टाक्षरा ऋगात्मिका अनुष्टुप्–ऋक्	बृहतीसहस्रात्मक ऋग्वेदः प्राजापत्यः ।
	२–उत्तरस्था, दशाक्षरा, ऋगात्मिका, पङ्क्तिः—ऋक्	
	* मध्यस्था. नवाक्षरा, त्रयीरूपा बृहती–त्रयीवेदः	बृहतीसहस्रात्मिका त्रयीविद्या ।

४२—बृहतीसहस्र, और तत्त्ववेदसंख्या—

तीन छन्दो युग्मों के साथ क्रमशः '४–८–१२' इस क्रम से विभक्त अंशों का सम्बन्ध बतलाया गया है। इन अंशों के सम्बन्ध से ही चार अंशात्मक, गायत्र-जागत-लक्षण, बृहतीसहस्रप्राणात्मक सामवेद का चार बृहतीसहस्रभावों में व्यूहन हो रहा है। आठ-अंशात्मक, औष्णिक-त्रैष्टुभलक्षण, बृहतीसहस्रप्राणात्मक यजुर्वेद का आठ बृहतीसहस्रभावों में व्यूहन हो रहा है। एवं द्वादश अंशात्मक, आनुष्टुभ-पांक्तलक्षण. बृहतीसहस्रप्राणात्मक ऋग्वेद का द्वादश बृहतीसहस्रभावों में व्यूहन हो रहा है। तात्पर्य यही हुआ कि, तीनों वेद अपने अपने बृहतीसहस्रभावों से बृहतीसहस्रसंख्या (३६००० कला) में तो पहिले से (स्वस्वरूप से) ही परिणत हो रहे हैं। आगे जाकर ४–८–१२, इन अंशों के समन्वय से द्वादश अंशात्मक, बृहतीसहस्रसंख्या में विभक्त ऋग्वेद को बारह बृहतीसहस्रसंख्या (४३२००० चार लाख बत्तीस हजार कलाओं) में परिणत हो जाना पड़ता है। आठ अंशात्मक, बृहतीसहस्रसंख्या में विभक्त यजुर्वेद को आठ बृहतीसहस्रसंख्या [२८८००० दो लाख अठासी हजार कलाओं] में विभक्त हो जाना पड़ता है। एवं चार अंशात्मक, बृहतीसहस्रसंख्या में विभक्त सामवेद को चार बृहतीसहस्रसंख्या (१४४००० एक लाख चवांलीस हजार कलाओं) में विभक्त हो जाना पड़ता है। यदि तीनों तूलवेदों के बृहतीसहस्रों का संकलन किया जाता है, तो '१२–८–४' के समन्वय से २४ बृहतीसहस्र हो जाते हैं, तीनों वेदों के सम्मिलित कलाविभाग ८६४००० (आठ लाख चौसठ हजार) हो जाते हैं। सम्वत्सरप्रजापति के तात्त्विक वेद की यही महिमा (विस्तार) है। वह नभ्य मूलवेद अंशानुगता अपनी व्यूहनप्रक्रिया से, बृहतीसहस्रप्राणरूप से उक्त कलाविभागों में परिणत हो रहा है। प्राजापत्य ऋङ्मन्त्र संख्याएँ चार लाख बत्तीस हजार हैं। प्राजापत्य यजुर्मन्त्र-संख्याएँ दो लाख अठासी हजार हैं, प्राजापत्य साममन्त्र संख्याएँ एक लाख चवांलीस हजार हैं। सम्भूय यह प्राजापत्य, तात्त्विक नित्य, अपौरुषेय, कूटस्थ त्रयीवेद आठ लाख चौसठ हजार कलाओं में विभक्त हैं। यही 'प्राजापत्यवेदमहिमा' है, जिसके स्पष्टीकरण के लिए हमें उक्त विस्तारक्रम का आश्रय लेना पड़ा है।

(२५२, तथा २५३ के मध्य में)

(६)—सप्तदेवच्छन्दोमय—सौररथचक्रपरिलेखः—



*

२४–१	—बृहतीसहस्र	३६०००
२३–२	—बृहतीसहस्र	३६०००
२२–३	—बृहतीसहस्र	३६०००
२१–४	—बृहतीसहस्र	३६०००
२०–५	—बृहतीसहस्र	३६०००
१९–६	—बृहतीसहस्र	३६०००
१८–७	—बृहतीसहस्र	३६०००
१७–८	—बृहतीसहस्र	३६०००
१६–९	—बृहतीसहस्र	३६०००
१५–१०	—बृहतीसहस्र	३६०००
१४–११	—बृहतीसहस्र	३६०००
१३–१२	—बृहतीसहस्र	३६०००

४३२०००—"स ऋचो व्यौहत-द्वादश बृहतीसहस्राणि । एतावत्यो ह्यर्चो याः प्रजापतिसृष्टाः"

—ऋग्वेदकलाः–"ऋचः"

*

१२–१	—बृहतीसहस्र	३६०००
११–२	—बृहतीसहस्र	३६०००
१०–३	—बृहतीसहस्र	३६०००
९–४	—बृहतीसहस्र	३६०००
८–५	—बृहतीसहस्र	३६०००
७–६	—बृहतीसहस्र	३६०००
६–७	—बृहतीसहस्र	३६०००
५–८	—बृहतीसहस्र	३६०००

२८८०००–'अष्टौ यजुषाम्'

—यजुर्वेदकलाः–"यजूंषि"

*

४–१	—बृहतीसहस्र	३६०००
३–२	—बृहतीसहस्र	३६०००
२–३	—बृहतीसहस्र	३६०००
१–४	—बृहतीसहस्र	३६०००

१४४०००—
'चत्वारि साम्नाम्'

—सामवेदकलाः–"सामानि"

*

"८६४००० ते सर्वे त्रयो वेदाः—
दश च सहस्रयष्टौ च शतान्यशीतीनामभवन्"

त्रयीवेदकलाः–"ऋग्यजुःसामानि"
"स एषः प्राजापत्यवेदमहिमा"

४३-वेदसंख्यापरिज्ञानोपयोग, और अग्नियज्ञ—

प्रजापति ने इस व्यूहनकर्म्म से लाभ क्या उठाया ?, यह प्रश्न है। उत्तर वही 'आत्मसंस्कार' है। प्रजापति में आज जो मास-पक्ष-ऋतु-अयनादि पर्वविभाग (अग्निखण्ड) देखे जाते हैं, प्रजानिर्म्माण-प्रक्रिया में सतत अपनी मात्रा खर्च करते हुए भी प्रजापति रिरिचान नहीं बनते, वह इसी वेदसंस्कार की महिमा है। इन्हीं वेदकलाओं के द्वारा रिरिचान प्रजापति का पुनःसन्धान होता रहता है। यही इस व्यूहन कर्म्म का चरम फल है। हम इसे जानकर क्या लाभ उठाते हैं ?, इस प्रश्न का उत्तर वही पूर्वोक्त सुप्रसिद्ध 'अग्नियज्ञ' (चयनयज्ञ) है। वेदव्यूह से युक्त, अग्निमय सम्वत्सरप्रजापति का जिस वैध प्रक्रिया से हम अपने आत्मा में आधान करते हैं, वही प्राजापत्यसंस्कार हमें मृत्युभाव से विमुक्त करता है। भगवान् याज्ञवल्क्य के मुख से ही फल-श्रवण कीजिए !

"यही वह मृत्यु है, जो कि सम्वत्सर है। यही अपने अहोरात्रपर्वों से हम मर्त्य (मरणधर्म्मा) मनुष्यों की आयु दिन दिन क्षीण किया करता है। जब सम्वत्सरप्रजापति अपने ३६००० अहोरात्रों के द्वारा हमारे आध्यात्मिक ३६००० आयुःसूत्रों को खा जाता है, तो हमारी मृत्यु हो जाती है। इसप्रकार सम्वत्सरप्रजापति हमारे लिए मृत्युदेवता बन रहा है। जो विद्वान् सम्वत्सर के अहोरात्रलक्षण इस मृत्युरूप को भलीभाँति जान लेता है, इसके उपयोग से पूर्ण परिचय प्राप्त कर ठीक सम्वत्सरचक्र के अनुरूप अपनी जीवनचर्य्या रखता है, वह अपनी पूर्णायु (१०० वर्ष, ३६००० अहोरात्र) से पहले कभी नहीं मरता (सामान्यफल)।

यही सम्वत्सर *अन्तक (यमराज) है। यही अपने अहोरात्रों की भोगकाल-समाप्ति पर आयु के ३६००० सूत्रों का अवसान बनता हुआ समष्टि के अन्त (अवसान) का कारण बनता है। जो इस अन्तक (सामूहिक अवसानलक्षण), एवं मृत्युरूप (क्षणिक परिवर्त्तनरूप) सम्वत्सर का स्वरूप जानकर अपने आहार-विहारादि में नियमशः प्रतिष्ठित रहता है, वह पूर्ण आयु प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है (दृष्टफल)।

---

* यद्यपि सर्वसाधारण की दृष्टि में 'मृत्यु' और 'यम' दोनों शब्द समानार्थक बन रहे है। किन्तु तत्त्वतः दोनों भिन्नार्थों के ही वाचक हैं। मृत्यु का क्षणिक विनाश से सम्बन्ध है, एवं यम का सामूहिक विनाश से सम्बन्ध है। हमारी अध्यात्मसंस्था का प्रतिक्षण परिवर्त्तन हो रहा है। यह क्षणिक परिवर्त्तन ही मृत्यु' है। कोई समय आता है, जब अध्यात्मसंस्था एकान्त विलीन हो जाती है। वही सामुहिक अवसान है। 'यमो-वै अवसानस्येष्टे'-'ददाद्यमोऽवसानं पृथिव्याः' इत्यादि श्रौत सिद्धान्त के अनुसार इस सामूहिक अवसान का एकमात्र यम से ही सम्बन्ध है। सम्वत्सरप्रजापति क्षणिक परिवर्तन का कारण बनता हुआ मृत्यु भी है, एवं सामूहिक अवसान का कारण बनता हुआ अन्तक (यम) भी है। वही मृत्यु है, वही यम हैं। परन्तु मृत्यु तथा यम दोनों उसी प्रकार भिन्न हैं, जैसे वही (आत्मा) कान है, वही नाक है, परन्तु नाक-कान दोनों भिन्न हैं। इसी भेद के आधार पर व्यासदेव की निम्न लिखित सूक्ति का समन्वय हुआ है—

यदा दासश्च व्यासश्च यमेन सह मृत्युना।
भवितव्यगृहं यान्ति तदा दासो मरिष्यति॥

तत्त्वद्रष्टा वैज्ञानिकों नें इन दृष्ट-सामान्य फलों पर ही सन्तोष न किया। उन्होंनें देखाकि, यदि पूरे सौ वर्ष जो भी लिए, तो इससे क्या हुआ। मरना फिर भी एक दिन अवश्य पड़ेगा। मृत्युभय से एकान्ततः त्राण तो फिर भी न हुआ। अवश्य ही हमें किसी वैसे उपाय का अन्वेषण करना पड़ेगा, जिससे मृत्युभाव से सदा के लिए पीछा छूट जाय। सम्वत्सरचक्र की, सम्वत्सरचक्र में रहने वाले तत्त्वों का परीक्षा आरम्भ हुई। इस परीक्षण का फल यह हुआ कि, इन विद्वानों नें सम्वत्सरचक्र से सम्बन्ध रखने वाले अहोरात्रखण्डात्मक अग्निहोत्र, पक्षखण्डात्मक दर्शपूर्णमास, ऋतुखण्डात्मक चातुर्मास्य, अयन- खण्डात्मक पशुबन्ध, एवं समष्ट्यात्मक सौम्य अध्वर का पता लगा लिया। इन प्राकृतिक नित्य यज्ञों के आधार पर ये इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि, जैसा कुछ प्रकृति में हो रहा है, यदि भौतिक द्रव्यों के माध्यम से हम वैसा ही करने लगें, तो हमारी इस वैध यज्ञप्रक्रिया से हमारे अध्यात्म का उस अधिदैवत के साथ ग्रन्थिबन्धन हो जायगा। फलतः वह जैसे शाश्वत बन रहा है, हम भी अमृतभाव को प्राप्त हो जायँगे। इसी लक्ष्य को सामने रखते हुए इन वैज्ञानिकों नें कालखण्डावच्छिन्न उन प्राकृतिक यज्ञों के अनुरूप वैध यज्ञप्रक्रियाओं का आविष्कार किया, एवं इनके अनुष्ठान से अमृतत्त्व (त्रिणाचिकेतस्वर्ग) का वह अधिकार प्राप्त किया, जो अस्मदादि सामान्य अयज्ञिय मनुष्यों को नहीं मिला करता।

विद्वानों का परीक्षण कर्म केवल इस पञ्चविध सौम्य अध्वर पर ही समाप्त नहीं हो गया। अपितु इन अनुष्ठानों के साथ यह तत्त्वान्वेषण उत्तरोत्तर चलता रहा। परिणामतः इन्हें उस सम्वत्सराग्नि का पता लगा, जो वेदमय बनकर त्रैलोक्य में व्याप्त हो रहा है। इस अग्नि का भी इन्होंनें आत्माग्नि में संस्कार करना चाहा। फलस्वरूप वैध चयनप्रक्रिया का आविष्कार हुआ। उस अग्निचिति का अध्यात्म में अधिभूत के द्वारा चयन करने के लिए ईंटें बनाईं गईं। परन्तु अभी परीक्षा अधूरी थी। अतएव इष्टकाओं की सख्या में प्रकृतिका अनुरूपभाव प्राप्त न हो सका। अपरिमित, अव्यवस्थित इष्टकाओं के चयन का परिणाम यह निकला कि, इन्हनें जिस सम्वत्सराग्नि की चिति से सौम्य अध्वर-संस्कार की अपेक्षा कहीं अधिक जिस अमृतत्त्व को प्राप्त करना चाहा था, वह अमृतत्त्व इन्हें न मिल सका। पुनः परीक्षा आरम्भ हुई। बड़ा परिश्रम किया, प्राकृतिक तत्त्वों का अध्ययन किया। होते होते इन्हें सम्वत्सरप्रजापति के उन सत्र परिगणित, व्यवस्थित पर्वों का पता लग गया, जिन की व्यवस्थित, परिगणित चिति से अमृतत्त्व प्राप्त हो जाता है। स्वयं सम्वत्सर-प्रजापति प्रत्यक्षवत् इन के बौद्धजगत् में प्रकट हो गए। तब कहीं इन्हें यह पता लगा कि, मानों सम्वत्सर-प्रजापति कह रहे हों कि, तुमने मेरे सम्पूर्ण रूपों का (अवयवों का) चयन न किया। तुमने अपने अनुमान से कम-अधिक चितियाँ कर डालीं। यही कारण था कि, तुम्हें अमृतत्त्व प्राप्ति न हो सकी। तत्त्वजिज्ञासु इन विद्वानों नें प्रजापति की इस दृव्या नभोवाणी से मानों यह प्रश्न किया कि, हे प्रजापते ! अब आप ही बतलाइए ! आपके कितने रूप हैं ?। प्रजापति कहने लगे-३६० परिश्रित पर्व हैं, ३६० यजुष्मती इष्टका हैं, १०८०० लोक-म्पृणा इष्टका हैं। अर्थात् मेरे सामान्य अहोरात्रपर्व ७२० हैं, एवं खण्ड-खण्डात्मक सूक्ष्म मुहूर्त्त पर्व दस हजार आठ सौ हैं। ये ही मेरे परिगणित पर्व हैं। बस इतनी चितियों के चयन से तुम्हें अमृतत्त्व मिल सकता है। ऐसा ही हुआ। उन विद्वानों नें परिश्रम-तप-परीक्षा से सम्वत्सरप्रजापति के पर्वों का प्रत्यक्ष कर चयन यज्ञ किया, फलस्वरूप उन्हें अमृतत्व प्राप्त हो गया।"

चयनयज्ञ से प्राप्त होने वाले अमृतत्त्व का क्या स्वरूप ?, क्या चयनयज्ञ करने वाला अपने पाञ्च-भौतिक शरीर से सदा अमृतभ वापन्न (अमर) रहता है ?, क्या इसे कभी शरीर नहीं छोड़ना पड़ता ?, अथवा क्या अमृतत्त्व का यह अर्थ है कि, जो चयनयज्ञ नहीं करते, उन्हें तो मर कर यातनाशरीर से लोका-न्तरों में भ्रमण कर पुनः इसी मृत्युलोक में जन्म लेना पड़ता है। एवं जो चयनयज्ञ कर लेते हैं, उन्हें पुनः मृत्यु-लोक में जन्म नहीं लेना पड़ता ?। वैज्ञानिक कहते हैं, नहीं। शरीर का सदा विद्यमान बने रहना अमृतत्त्व नहीं है। क्योंकि 'संयोगा विप्रयोगान्ताः' इस प्राकृतिक सिद्धान्त के अनुसार भूतसंयोग से उत्पन्न होने वाला शरीर अपने नियत समय पर 'सौ वर्ष में) अवश्य ही नष्ट होगा। न इस यज्ञ के अनुष्ठान से पुनरावर्त्तन ही रुक सकता है। चयनयज्ञकर्त्ता को भी उसीप्रकार नियत समय पर शरीर भी छोड़ना ही पड़ेगा, नियत समय पीछे इसी पाञ्चभौतिक शरीर से पुनः जन्म भी लेना ही पड़ेगा, जैसाकि यज्ञ न करने वाले 'जायस्व-म्रियस्व' के धारावाहिक चक्रमें पड़े रहते हैं। 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः' इत्यादि उपनिषच्छ्रुतियों ने भी यज्ञ से पुनरावर्त्तन का अवरोध असम्भव ही बतलाया है। ऐसी दशा में अमृतत्त्व का क्या रूप ?, क्यों इतना प्रयास किया जाय ?। समाधान स्पष्ट है। संसार में सभी जीते हैं, सभी मरते हैं। परन्तु स्पष्ट है कि, एक बुद्धिमान् मनुष्य बुद्धिपूर्वक जीवनयात्रा व्यतीत करता हुआ जहाँ सुखी बना रहता है, वहाँ सामान्य अज्ञजन सदा संत्रस्त बने रहते हैं। इसीप्रकार शरीर-धारण-परित्याग में तो एक यज्ञिय, और अयज्ञिय दोनों समान हैं। दोनों की परिस्थिति में अन्तर यही है कि, यज्ञिय मनुष्य प्राकृतिक यज्ञ के साथ सम्बन्ध जोड़ता हुआ जहाँ विश्व का अन्नाद (भोक्ता) बना रहता है, वहाँ अयज्ञिय व्यक्ति प्राकृतिक तत्त्वों के उपयोग से वञ्चित रहता हुआ विश्वका अन्न बना रहता है। इस दृष्ट (लौकिक) फल के अतिरिक्त चयनकर्त्ता जहाँ शरीर छोड़ने पर यावदग्निसंस्कारस्थितिपर्य्यन्त सम्वत्सरलोक में आनन्द से (प्रकृतिस्थतापूर्वक) विचरता है। वहाँ अयज्ञिय लौकिक व्यक्ति को इस लोक के छोड़ देने पर परलोक में भी यामीयातनाएँ सहनी पड़ती हैं। इसके अतिरिक्त याज्ञिक मनुष्य इस यज्ञप्रक्रिया के द्वारा प्रकृति का अनुग्रह प्राप्त करता हुआ अपने राष्ट्र को सम्पूर्ण समृद्धियों से युक्त रख सकता है। यह समृद्धिलक्षण आनन्द ही अमृत है, एवं यही अमृतत्त्व यहाँ अभिप्रेत है। मृत्यु की सम्वादभाषा में अमृतत्त्व के इसी स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए आगे जाकर भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"जब विद्वानों ने यज्ञद्वारा अमृतत्त्व प्राप्त कर लिया, तो मृत्यु ने उन विद्वानों से कहा कि, यदि इसी प्रकार सब मनुष्य अमृतत्त्व प्राप्त कर लेंगे, तो मेरे जीवन का साधन क्या होगा ?। विद्वानों ने उत्तर दिया कि, मृत्यु ! स्मरणरक्खो. इस पाञ्चभौतिक शरीर से कोई अमर नहीं हो सकता। यह मर्त्य शरीर सदा तुम्हारा अपना ही भाग रहेगा। 'अमृतत्त्व मिल गया' इस का तात्पर्य्य केवल यही है कि, शरीर को छोड़कर उस यज्ञ-कर्त्ता का आत्मा अमृतभाव में परिणत हो गया। उस अमृतत्वप्राप्ति के कारण बने इस विद्वान् की विद्या, और कर्म्म। वह विद्या और कर्म्म यही अग्निविद्या है। प्राकृतिक, वेदमयी सम्वत्सरविद्या, एवं अग्निकर्म्म (प्राकृतिक सम्वत्सराग्नि के आधारपर वितत चयनयज्ञ) हैं। जो विद्वान् इसे जान लेते हैं, इसका अनुष्ठान कर लेते हैं, वे उत्पन्न तो अवश्य होते हैं। परन्तु उत्पत्ति के साथ ही (जाति-वर्ण-आयु-सम्पत्ति-प्रजा आदि-सुख-समृद्ध्यात्मक) अमृतत्त्व उनके साथ रहता है। जो ऐसा नहीं करते, वे यहाँ भी दुःखी रहते हैं, वहाँ भी दुःखी रहते हैं। सबका अन्न बनने वाले ये यातनाशरीरधारी जीव दुःखमय उत्पत्ति-विनाशचक्र से चक्रायित रहते हैं"। लक्षणैकचक्षुष्कता के नाते यह आवश्यक है कि, यहाँ श्रुति के वे अक्षर ज्यों के त्यों उद्धृत कर दिए जायँ, जिन से प्रमाणभक्तों को ऊहापोह करने का अवसर न मिले—

१—"एष वै मृत्युर्यत् सम्वत्सरः। एष हि मर्त्यानामहोरात्राभ्यामायुः क्षिणोति,+ अथ म्रियन्ते। तस्मादेष एव मृत्युः। स यो हैतं मृत्युं सम्वत्सरं वेद, न हास्यैष पुरा जरसोऽहोरात्राभ्यामायुः क्षिणोति, सर्वं हैवायुरेति"।

२—"एष उ एवान्तकः। एष हि मर्त्यानामहोरात्राभ्यामायुषोऽन्तं गच्छति, अथ म्रियन्ते। तस्मादेष एवान्तकः। स यो हैतमन्तकं मृत्युं सम्वत्सरं वेद, न हास्यैष पुरा जरसोऽहोरात्राभ्यामायुषोऽन्तं गच्छति, सर्वं हैवायुरेति"।

३—"ते देवाः※—(विद्वांसः)—एतस्मादन्तकान् मृत्योः सम्वत्सरात् प्रजापतेर्बिभयाश्चक्रुः—यद्वै नोऽयमहोरात्राभ्यामायुषोऽन्तं न गच्छेदिति। तऽएतान् यज्ञक्रतूँस्तेनिरे—अग्निहोत्रं, दर्शपूर्णमासौ, चातुर्मास्यानि, पशुबन्धं, सौम्यमध्वरम्। तऽएतैर्यज्ञक्रतुभिर्यजमानानाममृतत्वमानशिरे"।

४—"ते हाप्यग्निं चिक्यिरे। तेऽपरिमिता एव परिश्रित उपदधुः, अपरिमिता यजुष्मतीः, अपरिमिता लोकम्पृणाः, यथेदमप्येतर्हि एके (अवैज्ञानिका—यथेच्छं) उपदधति—'देवा अकुर्वन्नि'ति (वदन्तः)। ते ह नैवामृतत्वमानशिरे। तेऽर्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुः— अमृतत्वमवरुरुत्समानाः। तान् प्रजापतिरुवाच—न वै मे सर्वाणि रूपाणि उपधत्थ, अति वै रेचयथ, न वाभ्यापयथ, तस्मान्नामृता भवथ—इति"।

५—"ते होचुः—तेभ्यो वै नस्त्वमेव तद्ब्रूहि, यथा ते सर्वाणि रूपाण्युपदधामेति। स होवाच—षष्टिं च त्रीणि च शतानि परिश्रित उपधत्त, षष्टिं च त्रीणि च शतानि यजुष्मतीरधिषष्टात्रिशतम्। अथ लोकम्पृणा दश च सहस्राण्यष्टौ च शतान्युपधत्त। अथ मे सर्वाणि रूपाणि उपधास्यथ, अथामृता भविष्यथेति। ते ह तथा देवा उपदधुः, ततो देवा अमृता आसुः"।

※ "देवा अहैव देवाः, अथ ये शुश्रूवाँसोऽनूचानास्ते ब्राह्मणा देवाः" इत्यादि सिद्धान्त के अनुसार प्राकृतिक प्राण देवता तो 'देवाः' हैं हीं। जो इन का स्वरूप जानने वाले विद्वान् हैं, वे भी 'देवाः' कहलाए हैं। प्रकृत में इन उभयविध देवताओं में से उन दूसरे मनुष्यदेवताओं का ही ग्रहण है, जिन्होंने परीक्षा के द्वारा यज्ञविद्या का आविष्कार किया था। 'तेऽपरिमिताः॰' इत्यादि वाक्य मनुष्यविध देवताओं के सम्बन्ध में ही अन्वर्थ बनता है!

६–"स मृत्युर्देवानब्रवीत्–इत्थमेव सर्वे मनुष्या अमृता भविष्यन्ति, अथ को मह्यं भागो भविष्यतीति। ते हाचुः–नातोऽपरः कश्चन सह शरीरेणामृतोऽसत्। यदैव त्वमेतं भागं हरासा, अथ व्यावृत्य शरीरेणामृतोऽसत्, योऽमृतोऽसत्–विद्यया वा, कर्म्मणा वा इति। एषा हैव सा विद्या--यदग्निः, एतदु हैव तत् कर्म्म--यदग्निः"।

७–"ते यऽएवमेतद्विदुः, ये वैतत् कर्म्म कुर्वते, मृत्वा पुनः सम्भवन्ति, ते सम्भवन्त एवामृतत्वमभिसम्भवन्ति। अथ य एवं न विदुः, ये वैतत्कर्म्म न कुर्वते, मृत्वा पुनः सम्भवन्ति, तऽएतस्यैवान्नं पुनः पुनर्भवन्ति"।

—(शत० १०।४। तृतीय ब्राह्मण)।

४४–वेदव्यूहनप्रक्रिया, और चयनयज्ञ—

'प्रयं जनमनुदिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्त्तते' न्याय से सम्बन्ध रखने वाली जिज्ञासा का प्रासङ्गिक समाधान किया गया। पुनः प्रक्रान्त उसी व्यूहनकर्म्म की ओर ध्यान आकर्षित किया जाता है। कहा जाचुका है कि, ऋग्वेद का द्वादश, यजुर्वेद का आठ, सामवेद का चार बृहतीसहस्रभावों में व्यूहन हुआ। इनसे तीनों वेदों के सम्मिलित २४ बृहतीसहस्र हो गए। इनमें ऋक् के जो द्वादश बृहतीसहस्र (४३२०००) विभाग हैं, इनकी 'अष्टाशतंशतानि' (आठ सौ, और सौ, ९०० नौसौ) पङ्क्तियाँ हो जातीं हैं। पंक्तिछन्द सप्तछन्दों में (गायत्री से आरम्भकर गायत्री[१], उष्णिक्[२], अनुष्टुप्[३], बृहती[४], पंक्ति[५] इस क्रम से) पाचवाँ छन्द पड़ता है। पाचवाँ होने से इसे 'पंक्ति' कहा गया है। दूसरे शब्दों में 'पंक्ति' शब्द पञ्चावयवता का भी सूचक है। पांक्तलक्षण यह पंक्तिछन्द दशाक्षर है। एक एक चरण के १०–१० अक्षर हैं। चार चरणों के सम्भूय ४० अक्षर हो जाते हैं। यदि ४३२००० ऋचाओं को ४० अक्षरात्मक पंक्तिभावों में में विभक्त किया जाता है, तो कुल '१०८००' (दशहजार आठसौ) पंक्तियाँ हो जाती हैं। इन पंक्तियों का ३०–३० का एक एक विभाग कीजिए। कुल ३६० विभाग हो जायँगे। यदि १२–१२ में विभक्त किया जायगा, तो १०८०० के ९०० विभाग हो जायँगे। ९०० को पुनः ३०–३० भागों में विभक्त किया जायगा, तो कुल ३० विभाग होंगे। यही पंक्ति का त्रिंशत्तम (तीसवाँ) व्यूह कहलाएगा। ऋङ्मय सम्वत्सर-प्रजापति क्योंकि इसी त्रिंशत्तम पंक्तिव्यूह में प्रतिष्ठित रहता है. अतएव एक मास की ३० रात्रियाँ होतीं हैं। त्रिंशत्तम व्यूह पंक्ति के सम्बन्ध से पांक्त (पञ्चावयव) बतलाया गया है। अतएव (इसी पांक्तलक्षणा पंक्ति के सम्बन्ध से) प्रजापति पांक्त (पञ्चावय) भी बन रहा है। इसप्रकार त्रिंशत्तम पंक्तिव्यूह में प्रतिष्ठित रहने से रात्रिसम्पत्, और पञ्चावयवयज्ञसम्पत् (अग्निहोत्र[१], दर्शपूर्णमास[२], चातुर्मास्य[३], पशुबन्ध[४], सौम्यअध्वरसम्पत्[५]) का समन्वय हो रहा है। इसी ऋग्व्यूहन को लक्ष्य में रख कर कहा गया है– "स ऋचो व्यौहत्–द्वादश बृहतीसहस्राणि०" (–३–शत० १०।४।२।२३।)।

यजुर्वेद के जो आठ बृहतीसहस्र (२८८०००) विभाग हैं, इनकी ४० के भागहर सम्बन्ध से ७२०० पंक्तियाँ हो जातीं हैं। सामवेद के जो चार बृहतीसहस्र (१४४०००) विभाग हैं, इनकी ४० के

भागहर सम्बन्ध से ३६०० पंक्तियाँ हो जाती हैं। यदि दोनों वेदों की बृहतीसहस्रसंख्या का संकलन कर दिया जाता है, तो द्वादश बृहतीसहस्र (४३२०००) विभाग हो जाते हैं, एवमेव दोनों की ७२००–३६०० पंक्तियों के संकलन से १०८०० पंक्तियाँ हो जाती हैं। तात्पर्य्य यह निकला कि, जितनें बृहतीसहस्र विभाग, एवं पंक्तिविभाग ऋक्–के हैं, उतने यजुः–और साम दोनों के मिल कर हैं। यदि ऋक् की १०८०० पंक्तियोंका और यजुः साम की १०८०० पंक्तयोंका संकलन कर लिया जाता है, तो सम्भूय २१६०० (इक्कीस हजार छसौ पंक्तियाँ) हो जाती हैं। यद्यपि एक सम्वत्सर में मुहूर्त्त १०८०० इतने ही हैं। परन्तु तीनों वेदों के सम्मिलित २४ बृहतीसहस्रों के ८६४००० (आठलाख चौसठहजार) विभागों के ४०–४० अक्षरात्मक पंक्तिविभागों की अपेक्षा से २१६०० विभाग हो जाते हैं। एकमात्र इसी आधार पर हमनें पूर्व में प्राणन–अपानन भेद से एक अहोरात्र में द्विगुणित मुहूर्त्तों का भोग बतलाते हुए अहोरात्र में २१६०० श्वास-प्रश्वासों का सम्बन्ध बतलाया है।

जिस प्रकार ऋक्–सम्बन्धी १०८०० पंक्तियों के १२ के भागहर सम्बन्ध से ९०० विभाग हो जाते हैं, ९०० के ३० के भागहर सम्बन्ध से ३० विभाग हो जाते हैं। एवमेव इन यजुः साम–सम्बन्धी १०८०० पंक्तियों के भी इसी क्रम से आरम्भ में ९००, पुनः ३० विभाग हो जाते हैं। यजुःसाम के इसी व्यूहन का स्पष्टीकरण करते हुए श्रुति ने कहा है–"अथेतरौ वेदौ व्याहंत्–द्वादश बृहतीसहस्राणि–अष्टौ यजुषां, चत्वारि साम्नाम्" (–४–शत० १०।४।२।२४।)।

———————— *

१–द्वादश बृहतीसहस्राणि–४३२०००–ऋच –पंक्तयः–१०८०० (४०)। 'अष्टाशतं शतानि'

२–अष्टौ बृहतीसहस्राणि–२८८०००–यजूंषि–पंक्तयः–७२०० (४०) }
३–चत्वारि बृहतीसहस्राणि–१४४०००–सामानि–पंक्तयः–३६०० (४०) } 'अष्टाशतं शतानि'

———————— *

× चतुर्विंशति बृहतीसहस्राणि–८६४०००–त्रयो वेदाः–पंक्तयः–२१६०० (४०)

———————— *

(१) १०८००+३० भागहरसम्बन्धेन ३६० पंक्तयः

(२) १०८००+१२ भागहरसम्बन्धेन ९०० पंक्तयः

(३) ९००+३० भागहरसम्बन्धेन ३० विभागाः (अष्टाशतं शतानि)

———————— *

जिन तीनों वेदों की ८६४००० संख्याओं का ऊपर उल्लेख हुआ है, उनके १०८०० 'अशीति' विभाग हो जाते हैं। अपने १०८०० मुहूर्त्तरूप पर्वों से (एक एक पर्व से) प्रजापति एक एक वेदरूपा अशीति का भोग किया करते हैं। यही इनका आत्मसंस्कार है। तात्पर्य्य यह है कि, 'अशीति' शब्द जहाँ

८० संख्या का वाचक बना हुआ है. वहाँ संख्याविज्ञान के अनुसार यही 'अशीति' अन्न का भी वाचक बन रहा है। मान लीजिए, हमें इन्द्र के लिए आहुति देनी है। आहुतिसाधनभूत मन्त्र ८० हों, अथवा मन्त्र के अक्षर ८० हों, इन्हीं से अन्न की भावना गतार्थ मान ली जायगी। 'हम आपके लिए अन्नाहुति दे रहे हैं' यह न कह कर 'अशीति' संख्यात्मक वाक्-भाव का प्रयोग कर दिया जायगा। इसी से अन्न-प्रयोजन सिद्ध हो जायगा। ८० संख्या के वाचक 'अशीति', किंवा 'अशिति' शब्द अन्नार्थक कैसे मान लिए गए ?, इसका उत्तर यही प्राकृतिक वेदसंस्था है। सम्वत्सरप्रजापति महदुक्थलक्षण अन्नाद है, अन्नभोक्ता है। यह अपने मुहूर्तलक्षण १०८०० पर्वों से क्रमशः वेदात्मक अन्न का अपने आप में आधान करता है। वेदात्मक अन्न २४ बृहतीसहस्र के सम्बन्ध से ८६४००० संख्याओं में विभक्त होता हुआ ४० संख्यात्मिका पंक्ति के सम्बन्ध से २१६०० संख्याओं में विभक्त है। अन्नादपर्वों (१०८००) की अपेक्षा अन्नपर्व द्विगुणित (२१६००) हैं। समतुलनभाव की अपेक्षा से अन्नादपर्वरूप एक एक मुहूर्त्ताग्नि में अन्नपर्वरूपा दो दो पंक्तियाँ संचित हैं। दो पंक्तियों की ८० मात्रा होती हैं। एक एक (८० मात्रा) दो दो पंक्तियाँ) एक एक मुहूर्त्ताग्नि का अन्न बन रहीं हैं। इसी प्राकृतिक संख्यासाम्य से 'अशीति' (८० वाचक) शब्द अन्न का वाचक बन गया है। प्रकृत में कहना यही है कि, तीनों वेदों की संकलित संख्या (८६४०००) द्विगुणित पंक्तिसम्बन्ध से १०८०० 'अशीति' रूप में परिणत हो रहीं हैं। इसी अशीति से महदुक्थलक्षण मुहूर्त्तावयवकृतमूर्त्ति सम्वत्सरप्रजापति का आप्यायन हो रहा है। इसी अशीति-विज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुति ने कहा है-"ते सर्वे त्रयो वेदाः-दश च सहस्राण्यष्टौ च शतानि अशीतीनामभवन्' (-श-शत० १०।४।२।२५।)।

सम्वत्सरप्रजापतिर्महदुक्थोऽन्नादः—

१०८००-मुहूर्त्तावयवाः—अन्नादाः

वेदविभागाः—८६४०००

४०-पंक्तिविभागाः—२१६००

८०-अशीतिविभागाः—१०८०० अन्नानि

वेदान्नसंस्कार से संस्कृत बने हुए इस सम्वत्सरप्रजापति ने त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंश-स्तोमात्मिका, त्रैलोक्यरूपा उखा (उख्यत्रिलोकी) में पूर्वप्रतिपादित छन्द-स्तोम-प्राण-एवं-देवता-लक्षण देवभक्तियों से युक्त अपने आपकी आहुति दी। इस प्रथम आहुति से अहोरात्रात्मक प्रथम पर्व का संस्कार हुआ, यही संस्कृत प्रथम पर्व 'अग्निहोत्र' कहलाया। अनन्तर दूसरी आहुति से प्रथम अहोरात्रपर्व की अपेक्षा बृहत् (दवीयसि परः) मासात्मक द्वितीय पर्व का संस्कार हुआ। यही संस्कृत द्वितीय पर्व 'दर्शपूर्णमास' कहलाया।

अनन्तर तीसरी आहुति से द्वितीय मास पर्व की अपेक्षा बृहत् (दवीयसि परः) तृतीय ऋतुपर्व का संस्कार हुआ। यही संस्कृत तृतीय पर्व 'चातुर्मास्य' कहलाया। अनन्तर चौथी आहुति से तृतीय ऋतुपर्व की अपेक्षा बृहत् चतुर्थ अयनपर्व का संस्कार हुआ। यही संस्कृत चतुर्थ पर्व 'पशुबन्ध' कहलाया। सर्वान्त में समष्ट्यात्मिका पञ्चमी आहुति से सर्वापेक्षया बृहत् पञ्चम सम्वत्सरपर्व का संस्कार हुआ। यही संस्कृत पञ्चम पर्व 'सौम्यअध्वर' कहलाया। इसप्रकार मुहूर्त्तलक्षण अहोरात्रात्मक अग्निहोत्र से आरम्भ कर सम्वत्सरात्मक सौम्य अध्वरपर्य्यन्त, उत्तरोत्तर बड़े पर्वों के संस्कार से वेदद्वारा सम्पूर्ण सम्वत्सर का सर्व, और कृत्स्नरूप से उभयथा संस्कार हो गया। रिरिचान प्रजापति अपनी वेदमहिमा से, व्यूहनकर्म्म से पूर्ण बन गए, पांक्त बन गए, सबकुछ बन गए, आज तक बन रहे हैं।

तात्पर्य्य श्रुति का यही है कि, मूलप्रजापति पहिले तो सम्वत्सर–अयन–ऋतु-पक्ष–अहोरात्र–महूर्त्त-भेद से ६ पर्वों में विभक्त होकर पार्थिवसृष्टि का निर्म्माण करते हैं। अनन्तर वेदव्यूहनद्वारा अपनी मूहूर्त्तकलाओं का, मुहूर्तोंसे अहोरात्रों का, अहोरात्रों से पक्षों का, पक्षों से ऋतु का, ऋतु से सम्वत्सर का पुनःसंस्कार कर पूर्ण बन जाते हैं। यह क्रम धारावाहिकरूप से निरन्तर चलता रहता है-'याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः-समाभ्यः'। इसप्रकार प्राजापत्य अयनादि पर्वों का भी संस्कार हो जाता है, एवं स्वयं समष्टिलक्षण, एकात्मक सम्वत्सर भी संस्कृत बन जाता है। इन्हीं द्विविध (पर्व, और समष्टि) संस्कारों को लक्ष्य में रखकर–'सर्वः कृत्स्नः समस्क्रियत' यह कहा गया है। एक का अशेषत्त्व 'कार्त्स्न्य' है, एवं अनेकों का अशेषत्त्व 'सार्व्य' है। एक मनुष्य का सर्वात्मना ग्रहण करते समय–'कृत्स्नो मनुष्यः' कहा जायगा। अनेक मनुष्यों की समष्टि का अभिनय करते हुए 'सर्वे मनुष्याः' कहा जायगा। एक मनुष्य की सर्वाङ्गीणता में–'सर्वो मनुष्यः' कहना अशुद्ध होगा। एवं अनेक मनुष्यों की सर्वाङ्गीणता में 'कृत्स्ना मनुष्याः' कहना अशुद्ध होगा। यहाँ भी पर्वदृष्टि से 'सर्वः समस्क्रियत' कहा गया है, क्योंकि पर्व अनेक हैं। एवं एकाकी सम्वत्सर की दृष्टि से 'कृत्स्नः समस्क्रियत' कहा गया है, क्योंकि एक की अशेषता ही कृत्स्नता है। इसी संस्कार–प्रक्रिया का स्पष्टीकरण करते हुए श्रुति ने कहा है—

"स एषु त्रिषु लोकेषु उखायां योनौ रेतोभूतमात्मानमसिञ्चत्"

(६–शत० १०।४।२।२६।)।

५–सम्वत्सरः——१ (सौम्यअध्वरः)

४–अयने —— २ (पशुवन्धः)

३–ऋतवः —— ६ (चातुर्मास्यानि)

२–पक्षाः ——२४ (दर्शपूर्णमासौ)

१–अहोरात्राणि–७२० (अग्निहोत्रम्)

❀ मुहूर्त्ताः–१०८००

“द्वीयसि परः–द्वीयसि परः”

‘सम्वत्सर एव सर्वः कृत्स्नः समस्क्रियत’

साम्वत्सरिक-अग्नि के स्वरूप का उपक्रम करते हुए इसके प्राकृतिक ‘सुत्या’ ‘चित्या’ भेद से दो पर्व बतलाए गए थे। एवं इन में ‘चित्या’ पर्व (चयनयज्ञ) के सम्बन्ध में यह स्पष्ट किया गया था कि, वैध (अस्मदादि-कृत) चयनयज्ञ में प्राकृतिक चयनयज्ञ से समतुलित ही अग्निचितियाँ होतीं हैं। परिश्रित–लोकम्पृणा–यजुष्मती, आदि का जो संख्याविभाग वहाँ है, ठीक वही संख्याविभाग यहाँ रहता है (देखिए पृ० सं० २०६ से २०८ पर्य्यन्त)। इसप्रकार आधिभौतिक चयनयज्ञ की आधिदैविक चयनयज्ञ से तुलना करते हुए वहीं यह प्रतिज्ञा हुई थी कि, इन चयन पर्वों का वेदमहिमाप्रकरणोपसंहार में स्पष्टीकरण होगा। इसी प्रतिज्ञा की रक्षा के लिए क्रमप्राप्त इन चयनपर्वों का संक्षेप से दिग्दर्शन करा दिया जाता है।

प्राकृतिक सम्वत्सरयज्ञ के परिश्रित, यजुष्मती इष्टका, पुरीष, लोकम्पृणा इष्टका, इन चार पर्वों की अवान्तर संख्याओं का यदि संकलन किया जाता है, तो ११५५६ संख्या हो जाती है। रात्रिलक्षण परिश्रित ३६० हैं, अहर्लक्षणा यजुष्मती इष्टका ३६० हैं, अर्द्धमासलक्षण (शुक्ल–कृष्णपक्षलक्षण) २४ पुरीष, ऋतु-गर्भितमासलक्षण १२ पुरीष, इसप्रकार ३६ पुरीष हैं। मुहूर्त्तलक्षण १०८०० लोकम्पृणाइष्टका हैं। इस-प्रकार पृथिवी से आरम्भ कर २१ अहर्गणपर्य्यन्त व्याप्त रखने वाले इस साम्वत्सरिक चयन की पाँच चितियों में कुल ११५५६ इतने पदार्थ हो जाते हैं। इन के चयन–सम्बन्ध में यह भी जान लेना आवश्यक होगा कि, रात्रिलक्षण ३६० परिश्रितों की चिति का ‘२१–७८–२६१’ यह संख्याक्रम है। पृथिवीलोकलक्षण गार्ह-पत्याग्नि में २१ परिश्रित होते हैं, अन्तरिक्षलक्षण धिष्ण्याग्नि में ७८ परिश्रित चित हैं। एवं द्युलोकलक्षण आहवनीय में २६१ परिश्रित चित हैं, त्रैलोक्य–परिश्रित–समष्टि ३६० हैं। ऋतुगर्भित मासलक्षण ३६ पुरीष, एवं ३६० अहर्लक्षणा यजुष्मती इष्टका, दोनों के संकलन से ‘३९६’ इष्ट-का हो जातीं हैं। त्रैलोक्यचिति दो सन्धिस्थानों के समावेश से पाँच भागों में विभक्त रहती है। इसी

आधार पर 'पञ्चचितिकोऽग्निः' कहा जाता है। ३९६ संख्यायुक्त यजुष्मती इष्टका, एवं पुरीषों का इन पाँचों में क्रमशः '[१]९८-[२]४१-[३]७१-[४]४७-[५]१३८' इतनीं इतनीं चितियाँ प्रतिष्ठित हैं। इनके संकलन से '३९५' चितियाँ हो जातीं हैं *। १०८०० संख्यामें विभक्त मुहूर्त्तचितियाँ पुरीषवत् गार्हपत्य (पृथिवी), धिष्ण्य (अन्तरिक्ष) आहवनीय (द्युलोक), इन तीनों लोकों में क्रमशः '२१-७८-१०७०१' इस क्रम से चित हैं। उक्त चितियों में मुहूर्त, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, सम्वत्सर (कालात्मक) इन कालखण्डों की समष्टि **'लोकाः'** है। पार्थिवान्तरिक्ष्यदिव्याग्नि (अग्न्यात्मक सम्वत्सर) लोकप्रतिष्ठ यज्ञाधिष्ठाता **'यजमान'** है। लोकी लोक में प्रतिष्ठित है। लोक उसका शरीर है, लोकी इस शरीर का आत्मा है, समष्टि प्रजापति है। यही इस चयन पर्व का संक्षिप्त दिग्दर्शन है।

१-परिश्रितः——रात्रयः — ३६०
२-यजुष्मत्यः——अहानि — ३६०
३-पुरीषाणि——२४अर्द्धमासाः / ऋतुगर्भिता १२ मासाः — ३६
४-लोकम्पृणाः——मुहूर्त्ताः——१०८००

—**"११५५६-चितयः"-सम्वत्सरे**

१-पृथिव्यां परिश्रितः—२१
२-अन्तरिक्षे परिश्रितः—७८
३-दिवि परिश्रितः——२६१

—**"३६० परिश्रितः-रात्रयः"**

१-पृथिव्यां—मुहूर्त्ताः——२१
२-अन्तरिक्षे—मुहूर्त्ताः——७८
३-दिवि —मुहूर्त्ताः१०७०१

—**"१०८०० -लोकम्पृणाः-मुहूर्त्ताः"**

* ३६० यजुष्मती, ३६ पुरीष के संकलन से यद्यपि ३९६ चितियाँ होतीं हैं। उधर संख्याक्रमानुसार ३९५ (१ कम) चितियाँ हुईं हैं। इस न्यूनता का कारण है प्रजापतिका प्रजननधर्म्म। "'न्यूनाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते" के अनुसार न्यूनता ही प्रजोत्पत्ति का कारण है। पूर्णता में सृष्टिक्रम का अवसान है। इसी आधार पर-'यद्वै न्यूनं-तत् पूर्णं, यत् पूर्णं-तन्न्यूनम्' यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित है।

(१) १-पृथिव्यां——९८—प्रथमा चितिः	—'३६५-यजुष्मत्यः, पञ्चमासर्त्तवश्च-अहानि' 'एकतो न्यूनाश्चितयः--'न्यूनाद्धै प्रजाः प्रजायन्ते' इत्याहुर्वैज्ञानिकाः।
(२) ❀ सन्धौ——४१—द्वितीया चितिः	
(३) २-अन्तरिक्षे——७१— तृतीया चितिः	
(४) ❀ सन्धौ——४७—चतुर्थी चितिः	
(५) ३-दिवि——१३८—पञ्चमी चितिः	

'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या'--'यद्वै देवा अकुर्वंस्तत् करवाणि'--'देवाननुविधा वै मनुष्याः'--'व्यृद्धं वै तद्यज्ञस्य यन्मानुषं, नेद् व्यृद्धं यज्ञे करवाणि" इत्यादि निगम-सिद्धान्तों के अनुसार हमें अपने आधिभौतिक चयनयज्ञ में प्रकृतिवत् '११५५६' चितियों का ही समावेश करना पड़ता है। छन्दोमार्ग से वह उस अन्तक, मृत्युरूप सम्वत्सरमूर्त्ति प्रजापति अग्नि को ही प्राप्त करता है। इससे वह इसके आत्मा में संस्काररूप से चित हो जाता है। पृ० अन्त० द्यौ की प्रतिकृतिरूप गार्हपत्य, धिष्ण्य, आहवनीय, तीनों में जो क्रमशः '२१-७८-२६१' परिश्रितों का चयन होता है, इन से ३६० भागों में विभक्त रात्रिसम्पत् मिल जाती है। यजुष्मती इष्टकाओं से अहःसम्पत् मिल जाती है, पुरीषचिति से अर्द्धमास, मास, ऋतुः-सम्पत् मिल जाती है। एवं लोकम्पृणा इष्टकाओं से मुहूर्तसम्पत् मिल जाती है। इसी समसम्पत् का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है—

> **"स यदग्निं चिनुते, एतमेव तदन्तकं मृत्युं सम्वत्सरं प्रजापतिमग्निमाप्नोति, यं देवा आप्नुवन्। एतमुपधत्ते, यथैवैनमदो देवा उपादधत। परिश्रिद्भिरेवास्य रात्रीराप्नोति, यजुष्मतीभिरहानि, अर्धमासान्, मासान्, ऋतून्। लोकम्पृणाभिर्मुहूर्त्तान्। तद्याः परिश्रितः, रात्रिलोकास्ताः। रात्रीणामेव साप्तिः क्रियते, रात्रीणां प्रतिमा। ताः षष्टिश्च, त्रीणि च, शतानि (३६०) भवन्ति। षष्टिश्च, त्रीणि च, शतानि सम्वत्सरस्य रात्रयः। तासामेकविंशतिं (२१) गार्हपत्ये, द्वाभ्यां नाशीतिं (७८) धिष्ण्येषु, द्वे, एकषष्टे, शते (२६१) आहवनीये"** (शत० १०।४।३।११--१३ कं०)।

३६० यजुष्मती, ३६ पुरीष मिलकर ३९६ चितियाँ होतीं हैं। एवं इनका पाँच चितियों में क्रमशः '९८-४१-७१-४७-१३८' इस क्रम से विभाजन बतलाया गया है। प्रसङ्गतः इनके नाम उद्धृत कर दिए जाते हैं। पञ्चचिति से सम्बन्ध रखने वाले इन आधिभौतिक पर्वों का आधिदैविक पर्वों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्राकृतिक पदार्थों के जो गुण-कर्म्म हैं, वे ही गुण कर्म्म चित होने वाले इन भौतिक पदार्थों के हैं। जिन्हें प्राकृतिक पर्वों का रहस्यज्ञान अभीष्ट है, उनसे हम निवेदन करेंगे कि, वे शतपथ के उन '६, ७, ८, ९, १०' चार काण्डों का स्वाध्याय करें, जिनमें (६-७-८-९) चयनयज्ञ, एवं अग्निरहस्य (१०) का विस्तार से प्रतिपादन हुआ है। यहाँ संख्या-साम्य-प्रदर्शन के लिए उन पर्वों के चितिक्रम से नाममात्र उद्धृत कर दिए जाते हैं।

१–प्रथमा चितिः—

१–दर्भस्तम्बः	१
२–लोगेष्टकाः	३
३–पुष्करपर्णम्	१
४–रुक्मपुरुषौ	२
५–स्रुचौ	२
६–स्वयमातृण्णा	१
७–दूर्वेष्टका	१
८–द्वियजुः	२
९–रेतःसिचौ	२
१०–विश्वज्योतिः	१
११–ऋतव्ये	२
१२–अषाढा	१
१३–कूर्म्मः	१
१४–उलूखलमुसले	२
१५–उखा	१
१६–पशुशीर्षाणि	५
१७–अपस्याः	१५
१८–छन्दस्याः	५
१९–प्राणभृतः	५०
"द्वाभ्यां न शतम्"	९८"

२–द्वितीया चितिः—

१–आश्विन्यः	५
२–ऋतव्ये	२
३–वैश्वदेव्यः	५
४–प्राणभृतः	५
५–अपस्याः	५
६–वयस्याः	१९
"एकचत्त्वारिंशत्"—	४१

३–तृतीया चितिः—

१–स्वयमातृण्णा	१
२–दिश्याः	५
३–विश्वज्योतिः	१
४–ऋतव्याः	४
५–प्राणभृतः	१०
६–छन्दस्याः	३६
७–वालखिल्याः	१४
"एकसप्ततिः"	७१

४–चतुर्थी चितिः—

१–स्तोममया ऋषिप्राणाः	१८
२–स्पृतप्राणाः	१०
३–ऋतव्ये	२
४–सृष्टयः	१७
"सप्तचत्वारिंशत्	४७

५–पञ्चमी चितिः—

१–असपत्नाः	५
२–विराजः	४०
३–स्तोमभागाः	२९
४–नाकसदः	५
५–पञ्चचूडाः	५
६–छन्दस्याः	३१
७–गार्हपत्यचितिः	८
८–पुनश्चितिः	८
९–ऋतव्ये	२
१०–विश्वज्योतिः	१
११–विकर्णी	१
१२–स्वयमातृण्णा	१
१३–अश्मापृश्निः	१
१४–चितेनिधेयाग्निः	१
"अष्टात्रिंशंशतम्"	१३८

१–९८	—३९५
२–४१	
३–७१	
४–४७	
५–१३८	

"ताः सर्वाः पञ्चभिर्न चत्त्वारि शतानि (३९५)। ततो याः षष्टिश्च, त्रीणि च शतानि (३६०) अहर्लोकास्ताः। अह्नामेव साप्तिः क्रियते, अहनां प्रतिमा। अथ याः षट्त्रिंशत् (३६) पुरीषं, तासां षट्त्रिंशी। ततो याश्चतुर्विंशतिः (२४), अर्धमासलोकास्ताः। अर्धमासानामेव-साप्तिः क्रियते, अर्द्धमासानां प्रतिमा। अथ या द्वादश (१२), मासलोकास्ता। मासानामेव साप्तिः क्रियते, मासानां प्रतिमा। ता उ द्वे-द्वे सहर्तुलोकाः, ऋतूनामशून्यतायै"–(शत०–१०।४।३।१४–१६)।

१—प्रथमाचितिः—प्रकारान्तरेण (तत्त्वसमन्वयदृष्ट्या)—

१	❀ आत्मा	अव्ययपुरुषः षोडशी
	❀ अग्निः	यजुर्वेदाग्निः—वाय्याकाशरूपं द्विब्रह्म
	१ सत्यं साम	आपः—भृग्वङ्गिरोमयं षड्ब्रह्म
२	२ पुष्करपर्णम्	आपः—बृहत्सामात्मकं लोकत्रयसंस्थानम्
	३ रुक्मः	सूर्य्यबिम्बः—समुद्रजश्चित्याग्निपिण्डः
	४ पुरुषः	सौरप्राणोऽग्निः—अमृताग्निः प्रजापतिः
	५ चित्रंसाम	ज्योतिःसंस्था—विश्वरूपसंस्थानम्
३	६ सर्पनामोपस्थानम्	सूर्य्यमण्डलमभिपृथिव्यादि स्पर्शः (सर्पणम्)
	७ अग्नीन्द्रौ	तेज—ओजसी, पृथिवीत ऊर्ध्वं गच्छतोरनुगमः
४	८ स्वयमातृण्णा	पृथिवी—सूर्य्यज्योतिषि पिण्डपृथिवी—भोगः
	९ व्याहृतिसाम	भूः—रथन्तरसाम्ना पृथिवीरूपम्
५	१० दूर्वेष्टका	पशुः—भूपिण्डोपरि भूतग्रामाः
	११ द्वियजुः	आत्मानौ—भूतग्रामे द्यावा—पृथिव्यप्राणयोगः
	१२ रेतःसिचौ	आण्डौ—विराट्—स्वराजौ, अग्नीन्द्रयोः संस्थे
६	१३ विश्वज्योतिः	अग्निः प्रथमा
	१४ ऋतव्ये	मधु—माधवौ
७	१५ अषाढा	पृथिवी—वाक्—वामभृत् ।
	१६ कूर्म्मः	दधि—घृत—मधु—रसो—द्यावापृथिव्यः
	१७ उलूखलमुसले	अन्नोर्कप्राणो विष्णुः—योनिः
८	१८ उखा	त्रयोलोकाः स्तौम्याः (९—१५—२१)
	१९ पञ्चपशुशीर्षाणि	मनश्चक्षुःप्राणःश्रोत्रवाचः
	❀ हिरण्यशकलाः	पञ्चपशुप्राणाः
	❀ अग्न्युपस्थानम्	अग्निसंस्कारदार्ढ्यम्
९	२० अवस्याः, छन्दस्याः	अवस्याः पञ्चदश, छन्दस्याः पञ्च
	२१ प्राणभृतः	सार्वयाजुषोऽग्निः (पञ्चाशत्)

२- द्वितीया चितिः—	३-तृतीया चितिः—	४-चतुर्थी चितिः—
१-आश्विनः	१-स्वयमातृण्णा-अन्तरिक्षं साम गायति (भुवः)	१-प्राणाः (अष्टादशस्तोमाः, ऋषयः)
२-ऋतव्ये	२-दिश्याः	२-स्पृतप्राणाः
३-वैश्वदेव्यः	३-विश्वज्योतिः	३-ऋतव्ये
४-अपस्याः	४-ऋतव्याः	४-सृष्टयः
५-वयस्याः	५-प्राणभृतः	
६-प्राणभृतः	६-छन्दस्याः	
	७-वालखिल्याः	

५-पञ्चमी चितिः—

(३)--१—असपत्नाः, २—विराजः, ३—छन्दस्याः
(३)--१—स्तोमभागाः, २—नाकसदः, ३—पञ्चचूडाः
(३)--१—पुनश्चितिः, २—ऋतव्याः, ३—विश्वज्योतिः (आदित्यः-उत्तमा)।
(३)--१—विकर्णी, २—अश्मापृश्निः ३—स्वयमातृण्णा (द्यौः साम गायति, स्वः)

❋—चितेर्निधेयाग्निः

———❋———

१०८०० संख्या में विभक्त लोकम्पृणा इष्टका एतत्संख्यावच्छिन्न मुहूर्त्तों की प्रतिकृति है । इन से मुहूर्त्तसम्पत् प्राप्त होती है। (प्रकृतिवत्) मुहूर्त्तप्रतिकृतिरूप २१ लोकम्पृणा गार्हपत्य में, ७८ लोकम्पृणा धिष्ण्य में, एवं १०७०१ लोकम्पृणा आहवनीय में चित होतीं हैं। इसप्रकार ३६० परिश्रित, ३६० यजुष्मती इष्टका, ३६ पुरीष, १०८०० लोकम्पृणा इष्टका, इन सबका संकलन ११५५६ (११५५५) पर विश्रान्त हैं। इतनें ही सम्वत्सर (प्राकृतिक चयनयज्ञ) के पर्व है, इतनें हीं इस वैधयज्ञ के पर्व हैं। इसी छन्दःसाम्य से हमारे इस कर्म्म से वह गृहीत है, जैसा कि श्रुति कहती है—

"अथ या लोकम्पृणाः-मुहूर्त्त लोकास्ताः। मुहूर्त्तानामेव साप्तिः क्रियते, मुहूर्त्तानां प्रतिमा। ता (लोकम्पृणाः) दश च सहस्राणि, अष्टौ च शतानि (१०८००) भवन्ति। एतावन्तो हि सम्वत्सरस्य मुहूर्त्ताः। तासां (लोकम्पृ०) एकविंशतिं (२१) गार्हपत्यऽउपदधाति, द्वाभ्यां नाशीतिं (७८) धिष्ण्येषु, आहवनीयऽइतराः (१०७०१) । एतावन्ति वै सम्वत्सरस्य रूपाणि। तान्यस्यात्राप्तान्युपहितानि भवन्ति" (शत० १०।४।३।२१)।

***-प्रकरणोपसंहार—**

जिस 'प्राजापत्यवेदमहिमा' का अब तक यशोगान हुआ है, उसका निष्कर्ष यही है कि, सम्वत्सराग्नि ही प्रजापति है। यह अग्नि स्तोम भेद से अग्नि--वायु--आदित्य रूप से तीन भागों में विभक्त है। अग्नितत्त्व महदुक्थ बनता हुआ 'ऋक्' है, वायुतत्त्व पुरुष बनता हुआ 'यजु' है, एवं आदित्यतत्त्व महाव्रत बनता हुआ साम है। *अग्नित्रयी का ही नाम 'वेदत्रयी' हैं, यही 'प्रजापतिरूप मूलवेद' है, जो कि सूर्य्यरूप से सौर सम्वत्सर के केन्द्र में प्रतिष्ठित है, एवं अन्नादरूप से भूकेन्द्र में प्रतिष्ठित है। इस मूलवेद का देवयानोपलक्षित '१२-८-४' भागों में विभक्त, बृहतीसहस्रप्राणात्मक छन्दों के आधार पर २४ बृहतीसहस्रभावों में व्यूहन होता है। फलतः तूल ऋक् ४३२०००संख्या कला में, तूल यजुः २८८०००कला में, एवं तूल साम १४४००० कला में विभक्त हो जाता है। सम्भूय त्रयीलक्षण इस त्रयीवेद की ८६४००० कला हो जातीं हैं। ये उसी तूलवेद की महिमा हैं, मूलवेद के वितान हैं, अतएव इन्हें अवश्य ही 'प्राजापत्यवेदमहिमा' नाम से व्यवहृत किया जा सकता है। एक सम्वत्सरमण्डल में भुक्त अग्निमय-वेदकला कितनीं ?, प्राकृतिक ऋक्-यजुः-साम-मन्त्रों के कितने अवान्तर विभाग ?, इन प्रश्नों का उत्तर-"२४ बृहतीसहस्राणि' (८६४०००)" ही हैं।

यहीं पर अपने इस वेदमहिमाप्रकरण का उपसंहार करते हुए सर्वान्त में यह कहना और आवश्यक समझते हैं कि, जो वेदभक्त शब्दात्मक वेदग्रन्थों पर ही वेदतत्त्व का पर्य्यवसान माने बैठे हैं, उनसे प्रश्न किया जायगा कि, यदि शब्दात्मक वेद ही तत्त्वतः अपौरुषेय वेदपदार्थ है, तो-"ऋचां दश सहस्राणि ऋचां पञ्च शतानि च" इत्यादिरूप से चरणव्यूहसम्मत जो मन्त्रसंख्या प्रामाणिक मानी जाती है, उसके साथ-"द्वादश बृहतीसहस्राणि--ऋचः, अष्टौ यजुषां, चत्वारि साम्नाम्" इत्यादि रूप से पूर्वप्रतिपादित वेद कलाओं की ८६४००० संख्याओं का वे किस आधार पर समन्वय करेंगे ?। "एतावत्यो ह्वर्चो याः प्रजापति-सृष्टाः' इस श्रुतिसिद्ध वेदसंख्या को वे प्रामाणिक मानेंगे ?, अथवा चरणव्यूहसम्मत संख्या प्रामाणिक मानी जायगी ?, इसी प्रश्न पर हमारा यह 'प्राजापत्यवेदमहिमा' प्रकरण उपरत हो रहा है, एवं प्रकृत प्रकरण की अपेक्षा भी कहीं अधिक रहस्यपूर्ण, वेदरहस्योद्घाटक अगला प्रकरण उन वेदभक्तों के सम्मुख उपस्थित हो रहा है, जो तत्त्वतः वेद--पदार्थ की जिज्ञासा रखते हैं।

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका--द्वितीयखण्डान्तर्गत

"प्राजापत्यवेदमहिमा" नामक

तृतीयस्तम्भ उपरत

—३—

---

* "अग्नयो वै त्रयीविद्या देवयानः पन्थाः। गार्हपत्य ऋक्, पृथिवी, रथन्तरम्। अन्वाहार्य्यपचनो यजुः, अन्तरिक्षं, वामदेव्यम्। आहनीयः साम, सुवर्गो लोको, बृहत्। तस्मादग्नीन् परमं वदन्ति"

(तैत्तिरीय आरण्यक १० प्र०।६३०। अनु०।)

श्रीः

'उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-द्वितीयखण्डान्तर्गत

"प्राजापत्य-वेदमहिमा"-नामक

तृतीयस्तम्भ-उपरत

३

श्री:

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-द्वितीयखण्डान्तर्गत-

"अपौरुषेयवेद का तात्त्विक इतिवृत्त" नामक

चतुर्थ—स्तम्भ

४

——*——

श्रीः

अपौरुषेयवेद का तात्विक इतिवृत्त

१-प्रजापति, और वेद—

प्रजापति की जिस वेदमहिमा का चतुश्चत्त्वारिंशत् परिच्छेदात्मक पूर्व के तृतीय स्तम्भ में दिग्दर्शन कराया गया है, उस वेदमहिमा से अभी तक हमारी वेद-स्वरूपविषयिणी जिज्ञासा शान्त होती दिखाई नहीं देती। अग्नि--वायु--आदित्य--नामक प्राणदेवता ऋग्--यजुः--साममय हैं ?, अथवा ऋक्-यजुः-सामत्रयी का ही नाम देवत्रयी है ?, अथवा देवत्रयी का ही नाम का वेदत्रयी है ?, इसप्रकार भेद-अभेद मर्य्यादाओं से संदिग्ध वेदपदार्थ अभी तक हमारा 'इदमित्थमेव' रूप से समाधान करने में असमर्थ--सा ही बन रहा है। ऐसी दशा में आवश्यक है कि, इन संदिग्ध भावों का निराकरण करते हुए वेद का कोई ऐसा समन्वय किया जाय, जिससे घट-पटादि भौतिक पदार्थों की भाँति वेदतत्त्व का भी हमें इदमित्थमेव रूप से परिज्ञान हो जाय। इसी उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए प्रत्येक पदार्थ में व्याप्त, छन्दो--वितान-रसलक्षणा-वेदत्रयी का संक्षिप्त स्वरूप वेदप्रेमियों के सम्मुख उपस्थित हो रहा है।

पूर्वप्रतिपादित 'प्राजापत्यवेदमहिमा' से यह तो निर्विवाद प्रमाणित है कि, वेद, और प्रजापति का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। त्रैलोक्यव्यापक, अग्नि--वायु-आदित्यकृतमूर्त्ति-सौर सम्वत्सरप्रजापति से ही अपने मूलवेद के आधार पर २४ बृहतीसहस्र (८६४०००) कलात्मक वेदमहिमा का विकास हुआ है। अब देखना यह है कि, इस प्रजापति, तथा प्राजापत्यवेद का परस्पर क्या-सम्बन्ध है ?। तत्त्वविवेचन के आधार पर इस सम्बन्ध में हम निम्नलिखित तीन विभिन्न वाक्यों का प्रयोग कर सकते हैं--

१-प्रजापतेर्वेदा उत्पद्यन्ते—— जन्यजनकभावसम्बन्धः।

२-प्रजापतेर्वेदा निःश्वसिताः——अङ्गाङ्गिभावसम्बन्धः।

३-प्रजापतिरेव वेदाः————तादात्म्यसम्बन्धः।

उक्त तीनों सम्बन्धों के समन्वय के लिए हमें 'मृद्-घट' का कार्य्यकारणभाव सामने रखना पड़ेगा। सर्वसाधारण की दृष्टि में उपादानकारण बनी हुई मिट्टी घट का पिता है, स्वयं घट इसका पुत्र है। यद्यपि 'पिता-पुत्र' से सम्बन्ध रखने वाला औपादानिक कार्य्यकारणभाव यहाँ नहीं है। पिता से उत्पन्न पुत्र की स्वतन्त्र सत्ता हो जाती है। पिता के (उपादानकारण के) सत्तोच्छेद से पुत्र (कार्य्य) की कोई हानि नहीं होती, एवं पुत्रसत्तोच्छेद से पिता का कुछ नहीं बिगड़ता। परन्तु मृद्-घट के कार्य्यकारणभाव में यह सत्ता-भेद नहीं है। 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं, मृतिकेत्येव सत्यम्' के अनुसार मिट्टी की सत्ता से ही घट सत्तायुक्त बन रहा है। उपादान (पिता) स्थानीया जो मिट्टी घट (पुत्र) रूप में परिणत हो गई है, वही घट का आत्मा बन रही है। यदि मिट्टी (पिता) का सतोच्छेद हो जायगा, तो अवश्यमेव घटस्वरूप (पुत्र-स्वरूप) उच्छिन्न हो जायगा। इसप्रकार उपादानकारणता से सम्बन्ध रखने वाला कार्य्यकारणसम्बन्ध

'भिन्नसत्ताककार्य्यकारणभाव''–'अभिन्नसत्ताककार्य्यकारणभाव' भेद से दो भागों में विभक्त मानना पड़ेगा। इनमें पितापुत्रीय सम्बन्ध प्रथम कार्य्य० से सम्बन्ध रखता है, एवं मृद्घटानुबन्धी सम्बन्ध द्वितीय कार्य० से सम्बन्ध रखता है। अभिन्नसत्तात्मक कार्य्यकारणभावापन्न इस मृद्–घट के दृष्टान्त का ही 'प्रजापति–वेद' सम्बन्ध के साथ समन्वय करना है।

क्योंकि मिट्टी ही घट द्रव्य का उपादानकारण है, उपादान ही जनक कहलाया है। अतएव इस दृष्टि से **'मृत्तिकातो घट उत्पद्यते'** यह कहा जा सकता है। जिस प्रकार आँख कान–नाक, आदि इन्द्रियाँ अङ्गीभूत एक ही आत्मा के अनेक अङ्ग हैं, एवमेव यच्चयावत् मृण्मय पदार्थ आत्मभूत अङ्गीरूप एक ही मृत्तिका के अनेक अङ्ग हैं। इस दृष्टि से भी मृद्–घट में अङ्गाङ्गिभाव बन रहा है। एवं निःश्वासदृष्टि से भी अङ्गाङ्गिभाव का समर्थन किया जा सकता है। अङ्गीरूप एक भूतात्मा [सम्वत्सर की प्रतिकृतिरूप अंशात्मक जीवात्मा] से निकलने वाले अङ्गरूप २१६०० श्वास-प्रश्वास इसी के अवयव हैं। एवमेव अङ्गीभूता मृत्तिका की दृष्टि से मृत्तिका को उक्थ मान कर मृतिका के आधार पर अपने अर्क [रश्मि] लक्षण निःश्वासरूप [घटस्वरूपाभिव्यक्तिरूप] को प्रतिष्ठित रखने वाला घट अवश्य ही मृत्तिका का अङ्ग है। इस दृष्टि से **"मृत्तिकाया घटो निःश्वासः"** यह भी कहा जा सकता है। यदि घटद्रव्य का तत्त्वतः अन्वेषण किया जाता है, तो सिवाय मृत्तिका के अन्य द्रव्य अनुपलब्ध है। मृत्तिका की एक अवस्थाविशेष को ही 'घट' नाम दे दिया गया है। वस्तुतः मृत्तिका ही घट है। एवं इसी दृष्टि से–**'मृतिकैव घटः'** इस तादात्म्यसम्बन्ध का भी अभिनय किया जसकता है।

अग्नि–वायु–आदित्यकृतमूर्त्ति सम्वत्सरप्रजापति का अग्निभाग पिण्ड–(मूर्त्ति)–भाव में आकर छन्दोरूप में परिणत होता हुआ ऋग्वेद बना है। वायुभाग क्रिया–(गति)–भाव में आकर रसरूप में परिणत होता हुआ यजुर्वेद बना है। एवं आदित्यभाग वितान–(तेज)–भाव में आकर वितानरूप में परिणत होता हुआ सामवेद बना है। तीनों प्राजापत्य देवता तीनों के उपादान बन रहे हैं। दूसरे शब्दों में देवत्रयीरूप प्रजापति वेदत्रयी का उपादान बन रहा है, एवं इसी दृष्टि से–**''प्रजापतेर्वेदा उत्पद्यन्ते''** इस जन्यजनकभाव का अभिनय किया जासकता है। सम्वत्सरप्रजापति केन्द्र में उक्थरूप से प्रतिष्ठित है। इसके मूलरूप से अर्करूपद्वारा विनिर्गत, सम्वत्सरमण्डल में व्याप्त, संख्या में निःश्वासों से समतुलित वेदत्रयी कलाएँ अवश्य ही प्रजापति के निःश्वास माने जा सकते हैं, एवं इसी दृष्टि से **"प्रजापतेर्वेदा निःश्वसिताः"** इस अङ्गाङ्गिभाव का भी समर्थन किया जा सकता है। मूर्त्तिलक्षण छन्दोवेद, गतिलक्षण रसवेद, तेजोलक्षण वितानवेद, तीनों का तत्त्वतः अन्वेषण करने पर प्राजापत्य–(अग्नि–वायु–आदित्य)–प्राण के अतिरिक्त और कुछ उपलब्ध न होगा। इसी आधार पर–**'प्रजापतिरेव वेदाः'** इस तादात्म्यसम्बन्ध का भी समर्थन किया जा सकता है। इसप्रकार कारणभूत प्रजापति के, तथा कार्य्यरूप वेदों के सम्बन्ध में विरुद्धभावानुगता सम्बन्धत्रयी का दृष्टिकोणभेद से यथावत् समन्वय हो रहा है।

उक्त सम्बन्ध समन्वय के अनन्तर अब वेदतत्त्व के निश्चित स्वरूप के सम्बन्ध में हम यह कह सकते हैं कि, सम्पूर्ण सौर–ब्रह्माण्ड में (जिसके एक अल्पप्रदेश में पार्थिव ब्रह्माण्ड भी अन्तर्भुक्त है) सूर्य्य से आरम्भ कर पृथिव्यादि पर्य्यन्त जितने भी पदार्थ हैं, प्रत्येक में 'अग्नि, वायु, आदित्य' इन तीन

देवताओं का भोग हो रहा है। अथवा "**त्रिदेवसमष्टित्त्वमेव पदार्थत्त्वम्**" ही पदार्थ का अवच्छेदक है। अपने इन यज्ञिय शब्दों को छोड़ कर यदि विज्ञानभाषा के शब्दों से हम इस स्थिति का स्पष्टीकरण करने चलें, तो यह कहा जायगा कि, '**छन्द–रस–वितान**' की समष्टि ही पदार्थत्त्व है। यदि भाषा का स्थान और भी निम्नधरातल पर लाया जायगा, तो इसी स्थिति का यों स्पष्टीकरण होगा कि, '**मूर्ति–गति–तेज**' की समष्टि ही पदार्थ का पदार्थत्त्व है। यदि लोकभाषा के माध्यमसे विचार किया जायगा, तो कहा जायगा कि– "**पिण्ड–क्रिया–विकास**" की समष्टि ही पदार्थ का पदार्थत्त्व है। अग्नि, छन्द, मूर्त्ति, पिण्ड, इत्यादि विविध नामों से प्रसिद्ध जो एक तत्त्व है, वही '**ऋग्वेद**' है। अग्निवेद, छन्दोवेद, मूर्त्तिवेद, सब इसी के नामान्तर हैं। वायु, रस, गति क्रिया, आदि नामों में विभक्त तत्त्वविशेष ही '**यजुर्वेद**' है। वायुवेद, रसवेद, गतिवेद, क्रियावेद, सब इसी के नामान्तर हैं। आदित्य, वितान, तेज, विकास, आदि नामों से उपश्रुत तत्त्वविशेष ही '**सामवेद**' है। आदित्यवेद, वितानवेद, तेजोवेद, विकासवेद, सब इसी के नामान्तर हैं। यही वेदत्रयी की प्रत्यक्ष दृष्टि है। प्रत्येक पदार्थ वेदत्रयीयुक्त है, प्रत्येक भौतिक पदार्थ को हम त्रयीवेद के गर्भ में प्रतिष्ठित देख रहे हैं। किंवा त्रयीवेदरूप त्रिपर्वा भूतपदार्थ ही हमारी दृष्टि का विषय बन रहा है, जैसाकि पूर्वप्रकरण में–"**त्रय्यां वाव विद्यायां सर्वाणि भूतान्यपश्यत्**" इत्यादि श्रुतिव्याख्यान में विस्तार से बतलाया जा चुका है।

१–अग्निः–	छन्दः–	मूर्त्तिः–	पिण्डः—	ऋग्वेदः	—पदार्थस्य–पदार्थत्त्वम्
२–वायुः–	रसः–	गतिः–	क्रिया—	यजुर्वेदः	
३–आदित्यः	वितानम्-तेजः-		विकासः–	सामवेदः	

२–सूर्य्य, और वेदत्रयी—

यद्यपि सभी पदार्थों में उक्त वेदत्रयी के दर्शन किए जा सकते हैं। क्योंकि प्रत्येक पदार्थ में (चेतन–जड़, सर्वसाधारण में) 'पिण्ड, क्रिया, विकास' **तीन** पर्व प्रतिष्ठित रहते हैं। तथापि स्व–ज्योतिर्घन सूर्य्य को उदाहरणरूप से उद्धृत करना विशेष सुविधाजनक होगा। क्योंकि सौरसंस्था वेदत्रयी का एक श्रौत उदाहरण है, साथ ही इसमें त्रयीवेद की (रूपज्योतिर्म्मय पार्थिव पदार्थों की अपेक्षा) स्पष्ट प्रतीति हो रही है। सौरसंस्था पर दृष्टि डालिए। इस में आप '**सूर्य्यपिण्ड–प्रकाश–गति**' तीन पर्व देखेंगे। आप देखेंगे कि, खगोल में एक स्थान पर (बृहतीछन्द पर) स्थिररूप से प्रतिष्ठित रहता हुआ, पृथिवी–परिभ्रमण से पार्थिव मनुष्यप्रजा को गतिशील, उदयास्तभावों से युक्त बनाता हुआ सूर्य्य अपनी हिरण्यज्योति (नारायणाग्नि) से बड़े भ्राजभाव से प्रदीप्त हो रहा है–"**परमया जूत्या बल्बलीति**" (शत०ब्रा०)—(परम ओज-वेग-से प्रज्वलित हो रहा है)।

सूर्य्यपिण्ड के अतिरिक्त आप यह भी देखेंगे कि, सूर्य्यपिण्ड के चारों ओर ज्योतिर्म्मयी रश्मियों का प्रसार हो रहा है। **इन** रश्मियों के विकास को ही हम अपनी भाषा में–'प्रकाश' (उजेला–धूप) कहा करते हैं। साथ ही यह भी देखते हैं कि, यह सौर प्रकाश हमारी दृष्टिसीमा से भी कहीं विदूर स्थान

पर्य्यन्त व्याप्त हो रहा है। यहाँ तक कि जिस भूपिण्ड पर हम प्रतिष्ठित हैं, वह इसी प्रकाशमण्डल के गर्भ में भुक्त है। सूर्य्यपिण्ड और रश्मिमय प्रकाशमण्डल, इन दो प्रत्यक्षदृष्ट भावों के अतिरिक्त एक तीसरा गतिभाव इसी सौरसंस्था में हमें और उपलब्ध हो रहा है। जिस पार्थिव प्रदेश में छाया और आतप (धूप), दोनों सहचरसम्बन्ध से प्रतिष्ठित रहते हैं, वहाँ इस गतिभाव का भी साक्षात्कार किया जा सकता है। ज्यों ज्यों धूप आगे बढ़ती जाती है, त्यों त्यों छाया आगे आगे सरकती जाती है। यहाँ तक कि मध्याह्न में सूर्य्य जब हमारे ठीक खस्वस्तिक (शिरोबिन्दु) पर आ जाता है, तो उस समय हमारा सम्पूर्ण शरीर प्रकाशमण्डल में आजाता है, छायाभाग हमारे पैरों के नीचे आजाता है। छायामय असुरों का एकान्ततः पराभव हो जाता है। **"मृत्युर्वै तमश्छाया"** (ऐ० ब्रा० ७।१२) के अनुसार यह छायामय प्राण उस अमृतलक्षण सौर-ज्योति की अपेक्षा अवश्य ही मृत्युलक्षण माना जायगा। छायामय मृत्युभाव, ज्योतिर्म्मय अमृतभाव, दोनों का यथास्थान सन्निवेश इसी सूर्य्य के द्वारा हो रहा है, जैसा कि-**"निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च"**। (यजुः सं०३४।३१) इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है।

इस सम्बन्ध में बतलाना यही है कि, रश्मिपुञ्जलक्षण प्रकाश को छायास्थानों में हम प्रत्यक्ष ही गतिशील पारहे हैं। यही गतिभाव की प्रत्यक्षदृष्टि है। इसी सम्बन्ध में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि, रश्म्यवच्छिन्न इस सौरप्राण की गति **'प्राणन-अपानन'** भेद से दो विरुद्ध भावों में परिणत रहती है। न केवल सौर प्राण की ही, अपितु 'गति' नाम की जितनी भी क्रियाएँ हैं, सब में दोनों धर्म्म अवश्य ही प्रतिष्ठित रहते हैं। गति (क्रिया) का स्वरूप ही प्राणन-अपानन है। आगे बढ़ना 'प्राणन' है, पीछे हटना 'अपानन' है। दूसरे शब्दों में यों कह लीजिए कि, हृदय की ओर झुकना अपानन है, हृदय से बाहिर की ओर झुकना प्राणन है। केन्द्रानुगता गति अपानन है, केन्द्रबहिर्द्धा गति प्राणन है। बिना केन्द्रगति (अपानन) को प्रतिष्ठा बनाए बहिर्द्धा गति (प्राणन) असम्भव है। मैदान में दौड़ लगा कर बाजी मारने वाले एक मल्ल को आगे बढ़ने से पहिले (प्राणन से पहिले) उस केन्द्रबललक्षण प्रतिष्ठाबल (अपानन) की प्राप्ति के लिए दो चार कदम पीछे हटना पड़ता है। आकाश में आगे बढ़ने वाले चील्हादि पक्षी अपने दोनों पक्षों (पंखों) को पीछे हटाते हुए (अपानन करते हुए) ही आगे संचार करने में समर्थ होते हैं। चलते हुए एक पैर पीछे रख कर ही दूसरा आगे बढ़ाया जा सकता है। एँ जिन की गति अपानन को मूल बना कर ही प्राणन में समर्थ होती है। इसप्रकार गतिमात्र में **'प्राणन-अपानन'** दोनों भाव समाविष्ट हैं। जिस स्थान पर धूप-छाया का युग्म है, उसके ठीक बीच में धूपसीमा पर आप एक रेखा खैंच दीजिए। आप देखेंगे कि धूप आगे बढ़ने से पहले सहसा पीछे हटती है, फिर आगे बढ़ती है। इसप्रकार अपानन करते हुए ही धूप प्राणन व्यापार करने में समर्थ होती है। सूर्य्यरश्मि पीछे हटती हुई ही आगे बढ़ रही है। गतितत्त्व के इसी स्वाभाविक विज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुति ने कहा है- **"अन्तश्चरति रोचना, अस्य प्राणादपानती, व्यख्यन् महिषो दिवम्"** (यजुः सं ३।७)। यही तीसरे गतितत्त्व के साक्षात् दर्शन हैं।

इसप्रकार एक सौरसंस्था में 'सूर्य्य-प्रकाश-गति' तीनों भावों का हम साक्षात्कार कर रहे हैं। इन तीनों भावों को हम उस केन्द्रस्थ तत्त्व के ही तीन विकास मानेंगे, जो कि 'प्रजापति' नाम से प्रसिद्ध है, जिसे कि मनःप्राणवाङ्मय कहा जाता है, जो कि प्रकृति के सम्बन्ध से 'वागग्नि' नाम से भी प्रसिद्ध हो रहा है,

जैसा कि-'प्रजापतिश्चरति गर्भे'-'स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः'-'आत्मा उ एकः सन्नेतन्त्रयम्'-'तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्'' इत्यादि मन्त्र-ब्राह्मश्रुतियों से स्पष्टीकरण हुआ है। मनःप्राणगर्भित, गर्भीभूत वागग्नि के ही 'अग्नि-वायु-आदित्य' नामक तीन विकास हैं। अग्निविकास ही सूर्य्यपिण्ड है, वायुविकास ही गति है, आदित्यविकास ही प्रकाश है। पिण्ड के आधार पर ही प्रकाश (रश्मियाँ), तथा गति, दोनों भाव प्रतिष्ठित हैं। पिण्ड ही दोनों का उक्थ (प्रभव) बन रहा है, पिण्ड ही दोनों की प्रस्तावभूमि (उपक्रमस्थान) है। अतएव अग्निविकासलक्षण इस पिण्ड को अवश्य ही 'ऋग्वेद' कहा जा सकता है। पिण्ड सीमित है, सीमाभाव ही विज्ञानभाषा में 'छन्दो' नाम से प्रसिद्ध है। अतएव अग्निपिण्डात्मक इस ऋग्वेद को अवश्य ही 'छन्दोवेद' कहा जा सकता है।

आदित्यविकास ही सौरप्रकाशमण्डल (रश्मिमण्डल, अर्चिर्म्मण्डल) है। पिण्डकेन्द्र को आधार बना कर ही यह बहिर्मण्डलरूप से वितत हो रहा है-(फैल रहा है) 'ऋक् (पिण्ड) के आधार पर ही इस साम (मण्डल) का गान (विस्तार) हो रहा है-'ऋच्यध्यूढं साम गीयते'। प्रकाशमण्डल ही पिण्डदृष्टि की अवसानभूमि है। जहाँ तक प्रकाश की सीमा है, वहीं तक वस्तुपिण्ड देखा जा सकता है। मण्डल के बाहिर पिण्डदृष्टि का अवसान है, निधन है। अतएव अवसानात्मक उपसंहारस्थानीय, आदित्यविकास-लक्षण इस वेदको **'सामवेद'** कहा जा सकता है। वितान ही इसका प्रातिस्विकरूप है, इसी आधार पर इसे **'वितानवेद'** कहना भी अन्वर्थ बनता है।

सूर्य्यपिण्ड, तथा सौरमण्डल, दोनों हीं एकप्रकार की सीमा हैं, आयतन हैं, आकारविशेष हैं। जिस वस्तुतत्व का यह पिण्ड है, एवं जिसका यह मण्डल है, पिण्डमण्डलरूप पुरों के भीतर व्याप्त रहने वाला वह वस्तुतत्त्व ही 'पुरुष' नाम से प्रसिद्ध है। पिण्ड-मण्डल, दोनों स्थिर हैं, पुरुष गतिमान् है, प्रस्रवणशील है, रसनधर्म्मा है, अतएव इसे 'रस' भी कहा जा सकता है। वायुविकास ही सौरगतितत्त्व है। यह पिण्ड-मण्डल की सीमा से सीमित रहता हुआ भी स्वस्वरूप से छन्दोमर्य्यादा से वञ्चित है। शब्दप्रपञ्च में जो स्थान पद्यात्मिका वाक् का है, अर्थप्रपञ्च में वही स्थान पिण्डात्मक ऋग्वेद का है। जो स्थान गेयात्मक वाक्प्रपञ्च का है, वही स्थान मण्डलात्मक सामवेद का है। एवं जो स्थान गद्यात्मिका वाक् का है, वही स्थान गत्यात्मक यजुर्वेद का है। इस ओर के पिण्डरूप ऋग्वेद, उस ओर के मण्डलरूप सामवेद, दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित, अतएव दोनों से योग करता हुआ ही वायुविकासलक्षण यह रसनशील तत्त्व **'यजुर्वेद'** नाम से प्रसिद्ध है। अपनी रसनवृत्ति से ही यह **'रसवेद'** भी कहलाया है। इसप्रकार पिण्ड-प्रकाश-गति (मूर्त्ति-मण्डल-तेज,-छन्द-वितान-रस,) रूप से हम सौरसंस्था में तीनों वेदों का प्रत्यक्ष दर्शन कर रहे हैं। साथ ही हमें यह भी मान लेना चाहिए कि, प्रत्येक पार्थिव वस्तु में भी ये तीनों पर्व नित्य प्रतिष्ठित हैं। इन में वस्तुपिण्ड का हम प्रत्यक्ष कर रहे हैं, परिवर्त्तनरूप गतिभाव का भी साक्षात्कार हो रहा है। प्रश्न है-प्रकाशमण्डल का। अवश्य ही रूपज्योतिर्म्मय इन पार्थिव पिण्डों का स्वज्योतिर्म्मय सूर्य्यपिण्ड की भाँति प्रकाशमण्डल नहीं बना करता। किन्तु मण्डल अवश्य बनता है। ज्योतिर्म्मय प्राण हो, अथवा तमोमय। अवश्य ही यह अपना एक मण्डल बनाता है। प्रत्येन वस्तुपिण्ड के चारों ओर वस्तुकेन्द्र से निकल कर बड़ी दूर तक व्याप्त रहने वाला प्राण मण्डलरूप में परिणत रहता है, जैसा कि आगे जाकर विस्तार से बतलाया जाने वाला है। प्रकृत में यही वक्तव्य है कि, पदार्थमात्र में भावत्रयी का प्रत्यक्ष दर्शन हो रहा है। 'छन्दोऽपि दृश्यते, वितानमपि,

रसोऽपि' का कभी अपलाप नहीं किया जा सकता। यही वेदसाधारण का एक दृष्टिकोण है, जिसका निम्न-लिखित वाजिश्रुति स्पष्टीकरण कर रही है—

१—"अयं वाव 'यजु'र्योऽयं पवते। तदेतद्यजुर्वायुश्चान्तरिक्षञ्च, यच्च जूश्च, तस्माद्यजुः। एष एव 'यत्', एष ह्येव ह्येति। तदेतद्यजुरृक्सामयोः प्रतिष्ठितं, ऋक्सामे वहतः" (शत० १०।३।५।१,२,)।

२—"तस्य वाऽएतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्। वाचा हि चीयते—ऋचा, यजुषा, साम्ना—इति-नु दैव्या। सा वा एषा वाक् त्रेधा विहिता—ऋचो, यजूंषि, सामानि। तेनाग्नि-(र्वागग्नि) स्त्रेधा विहितः। सोऽयमात्मा त्रेधा विहितः। सोऽनेन त्रेधा विहि-तेनात्मना-एतं त्रेधा विहितं दैवममृतमाप्नोति" (शत० १०।५।१।१,३।)।

३—"सा या सा वाक्, असौ स आदित्यः। स एष मृत्युः (सम्वत्सरः)। तद्यत् किञ्चार्वाचीनमादित्यात्, सर्वं तन्मृत्युनाप्तम्। सा वा एषा वाक् त्रेधा विहिता—ऋचो, यजूंषि, सामानि। मण्डलमेव (पिण्ड एव) ऋचः, अर्चिः सामानि, पुरुषो यजूंषि" (शत० १०।५।१।४,५,)।

४—"यदेतन्मण्डलं तपति, तन्महदुक्थम्। ता ऋचः, स ऋचां लोकः। अथ यदेतद-र्चिर्दीप्यते, तन्महाव्रतम्। तानि सामानि, स साम्नां लोकः। अथ य एष एतस्मिन्, मण्डले पुरुषः, सोऽग्निः (प्राणविधः), तानि यजूंषि, स यजुषां लोकः। सैषा त्रय्येव विद्या तपति" (शत० १०।५।२।१,२,)*

५—"ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्तिमाहुः—
सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्।
सर्वं तेजः सामरूपं ह शश्वत्—
सर्वं हेदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्॥"
(तै० ब्रा० ३।१२।९।२।)।

* यह आधिदैविक वेद का स्पष्टीकरण है। आगे जाकर इसी ब्राह्मण में बड़े विस्तार के साथ आधि-भौतिक, तथा आध्यात्मिक वेद का निरूपण हुआ है। वेद के तात्त्विक स्वरूप के जिज्ञासु को उक्त ब्राह्मण अवश्य ही देखना चाहिए।

उपर्युक्त तृतीय श्रुति ने वागग्निरूप आदित्य को मृत्यु बतलाया है। स्वयं सम्वत्सरप्रजापति अहोरात्र-पर्वों से हमारे आध्यात्मिक बृहतीसहस्र (३६०००) आयुः- सूत्रों का एक एक के क्रम से आदान करता हुआ मृत्यु बन रहा है। अन्तक बन रहा है। सम्वत्सरप्रजापतिलक्षण, वेदाग्निमय प्रजापति का यह 'मृत्यु' भाव केवल मध्यस्थ 'यजु' से ही सम्बन्ध रखता है। श्रुतियों में 'मर्त्य'-'मृत्यु' दो शब्द आया करते हैं। अमृतगर्भित मृत्यु का नाम जहाँ 'मर्त्य' है, वहाँ विशुद्ध मृत्यु को मृत्यु ही कहा गया है। पूर्वप्रतिपादित सौर-वेद में ऋक्-साम, दोनों आयतनरूप आकाशात्मक बनते हुए (अपरिवर्त्तन की दृष्टि से) जहाँ 'अमृत' मानें जायँगे, वहाँ दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित गति-लक्षण यजु (परिवर्त्तन की दृष्टि से) मृत्यु माना जायगा। "तदेतद्यजुर्ऋक्सामयोः प्रतिष्ठितं, ऋक्सामे वहतः" के अनुसार मृत्युलक्षण यह मध्यस्थ यजु अमृतलक्षण, अवारपारीण ऋक् साम के आधार पर प्रतिष्ठित है। यजुर्लक्षण मृत्युभाव अपने क्षणिक परिवर्त्तन के कारण क्षण क्षण में बदल रहा है। ऐसी दशा में प्रश्न होना चाहिए था कि, यदि यजु मृत्यु है, यही वस्तुतत्त्व है, तो प्रत्येक पदार्थका स्वरूप क्षण क्षण में बदलता रहना चाहिए, एवं 'स एवायम्' यह अपरिवर्त्तनरूपा प्रत्यभिज्ञा नहीं होनी चाहिए ?। इस प्रश्न का समाधान यही होगा कि, अवश्य ही यजुरूप मृत्यु मृत्यु है, क्षणिक परिवर्त्तनशील है, अतएव पदार्थ क्षण क्षण में बदल भी रहे हैं। तथापि क्योंकि यह मध्यस्थ मृत्यु (यजुः) उभयतः अर्चिर्लक्षण अमृत (ऋक्- साम) से परिगृहीत है। इसी अवारपारीण अविच्छिन्न धरातल के आधार पर-'स एवायम्' प्रत्यभिज्ञा होती रहती है। अतएव पदार्थ बदलते हुए भी न बदलते से दिखलाई देते हैं। यही इस यजुर्मृत्यु का अमृतभाव है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर आगे जाकर वाजिश्रुति कहती है—

"अथैतदमृतं-यदर्चिर्दीप्यते। तस्मान्मृत्युर्न म्रियते। अमृते ह्यन्तः।
तस्मादु* न दृश्यते। अमृते ह्यन्तः। तदेषः श्लोको भवति—
अमृतं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्।
मृत्युर्विवस्वन्तं वस्ते मृत्योरात्मा विवस्वति ॥

(शत० १०।५।२।३,४,)।

१-महदुक्थम्-	-ऋचः-	-आदौ-	-अमृतम्	}	—'निवेशयन्नमृतं-मर्त्यं च'
२-पुरुषः-	-यजूंषि-	-मध्ये-	-मृत्युः		
३-महाव्रतम्-	-सामानि-	-अन्ते-	-अमृतम्		

---

* मण्डल-पिण्ड-गति, तीनों में वस्तुतत्त्व गतिरूप यजु ही है। परन्तु आश्चर्य्य है कि, जो वस्तुतत्त्व (यजु-गति) है, उसे तो हम नहीं देखते। देखते हैं मण्डल, तथा पिण्डरूप आकारमात्र को। अमृतके दर्शन हो रहे हैं, दूसरे शब्दों में मृत्युगर्भित (यजुर्गर्भित) अमृत (ऋक्-साम) का ही साक्षात्कार हो रहा है।

१–मण्डलम्–पिण्डः—छन्दः—–ऋचः	(छन्दोवेदः)	—"सैषा त्रयीविद्या तपति"
२–पुरुषः—गतिः—–रसः——यजुंषि	(रसवेदः)	
३–अर्चिः—–विकासः–वितानम्—सामानि	(वितानवेदः)	

३–वेदत्रयी का सामान्य परिचय—

जिस त्रयीवेद का पूर्वपरिच्छेद में दिग्दर्शन कराया गया है, उस की 'लाभार्थ' के साथ तुलना करते हुए भी वेदत्रयी का सामान्य परिचय कराया जा सकता है। 'विद्यते, वेत्ति, विन्दते' तीनों हीं निर्वचनों से संसिद्ध वेदशब्द का प्रकृत में 'विन्दते'--इति वेदः' यह लाभार्थक भाव ही अभिप्रेत है। जिस पदार्थ के साथ हमारा ऐन्द्रियक सम्बन्ध होता है, उसे 'ज्ञेय' कहा जाता है। जिन इन्द्रियों के द्वारा सम्बन्ध होता है, वह ऐन्द्रियकज्ञान 'ज्ञान' है। एवं संस्काररूप ऐन्द्रियक–मानसज्ञान के आधार पर 'इदमहं जानामि' कहने वाला 'अहं' भाव ही 'ज्ञाता' है। ज्ञाता अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य है, ज्ञान अन्तःकरण-वृत्यवच्छिन्न चैतन्य है, एवं ज्ञेय विषयावच्छिन्न चैतन्य है। तीनों के एकत्र समन्वय से ही हमें तत्पदार्थ का प्रत्यय होता है, इसी प्रत्यय को हम पदार्थोपलब्धि कहा करते हैं। उपलब्धिलक्षण पदार्थ (ज्ञानीय पदार्थ) ही वस्तुलाभ है। यह लाभात्मक भाव ही वेदत्रयी है, एवं इसी लाभार्थ को लक्ष्य में रख कर हम वेदशब्द का 'विन्दते–इति वेदः' यह निर्वचन किया करते है।

ज्ञाता, ज्ञान ज्ञेय, तीनों के उक्त विवेचन से थोड़ी देर के लिए हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, ज्ञाता, ज्ञान, ये दो पर्व तो आध्यात्मिक हैं, एवं ज्ञेयपर्व आधिभौतिक है। दो सम्पत्तियाँ हमारी, एक ब्राह्मसम्पत्, तीनों के संयोग से तात्कालिक प्रत्यय का उदय माना गया है। परन्तु तत्त्वदृष्ट्या विचार करने पर हमें इस तथ्य पर पहुँचना पड़ता है कि, जिसे हम 'ज्ञाता' कहते है, उसमें भी ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, तीन पर्व हैं। एवं जिस भौतिक पदार्थ को 'ज्ञेय' कहते हैं, उसमें भी 'ज्ञाता–ज्ञान–ज्ञेय' तीनों पर्व हैं। पहिले 'ज्ञाता' से सम्बन्ध रखने वाली पर्वत्रयीं का ही विचार कीजिए।

चिल्लक्षण आत्मा ही दर्शनपरिभाषा में 'ज्ञाता' नाम से प्रसिद्ध है। वैदिकविज्ञान इस आत्मा को आत्मा न कह कर अपनी विज्ञानभाषा में 'प्रजापति' कहा करता है, जो कि प्रजापति शब्द 'ज्ञाता' की अपेक्षा कहीं रहस्यपूर्ण, एवं अन्वर्थ शब्द बन रहा है। यद्यपि स्वयं 'ज्ञाता' शब्द भी सापेक्ष बनता हुआ वैज्ञानिक प्रजापति शब्द की यथाकथञ्चित् पूर्ति कर देता है, तथापि अध्यात्मसंस्था का जैसा विस्पष्ट ग्रहण प्रजापति शब्द से हो रहा है, ज्ञाता शब्द इस दृष्टि से सर्वथा असमर्थ है। यद्यपि ब्राह्मणग्रन्थों का यह प्रजापति शब्द अपनी विशेषताओं से असंख्य स्थानों में व्याप्त हो रहा है। तथापि यहाँ सामान्यरूप से चार व्याप्तियों का, एवं विशेष रूप से एक व्याप्ति का ही दिग्दर्शन करावा जायगा।

सहस्रवल्शात्मक, सहस्रविश्वात्मक, महामायावच्छिन्न, षोडशकल, चतुष्पाद, सर्वाधार, निराधार, सर्व-धर्मोपन्न महेश्वर ही 'अमृतप्रजापति' नामक पहिला प्रजापति है। पञ्चकलाव्ययाक्षरक्षर ही इसका विवर्रा

इस त्रिपर्वा सत्यप्रजापति का अन्य एवं स्वतन्त्र दृष्टिकोण से 'विश्वातीत-विश्वात्मा-विश्व' नामक तीन पर्वों में उपभोग देखिए। प्रजापति का मनोभाग 'रस' है, प्राणभाग 'बल' है, एवं वाग्भाग 'अभ्व' है। रस 'ब्रह्म' है, बल 'कर्म्म' है, अभ्व 'माया' है। ब्रह्म 'अमृत' है, कर्म्म 'मृत्यु' है, माया 'विलक्षणं' है। अमृत 'आभू' है, मृत्यु 'तुच्छ' है, एवं विलक्षणं 'वस्तुभूतं' है। रस-बल-अभ्वावस्थापन्न वही मनः-प्राणवाङ्मय आत्मा विश्वातीत 'परात्पर' है। ज्ञानक्रियार्थापन्न वही मनःप्राणवाङ्मय आत्मा विश्वात्मलक्षण 'पुरुष' है। एवं नामरूपकर्म्मात्मक मनःप्राणवाङ्मय वही आत्मा विश्वलक्षण 'पुर' है। इन तीनों में प्रकृत में मध्यस्थ विश्वात्मलक्षण पुरुष ही सत्यप्रजापतिरूप से गृहीत है।

१—रसः—ब्रह्म—अमृतम्—आभूः—ज्ञानम्—मनः
२—बलम्—कर्म्म—मृत्युः—तुच्छम्—क्रिया—प्राणः
३—अभ्वम्—माया—विलक्षणम्—वस्तुभूतम्—अर्थः—वाक्

} प्रजापतिः

१—मनः:
- १—मनः—रसः
- २—प्राणः—बलम्
- ३—वाक्—अभ्वम्

} परात्परो विश्वातीतः (मनःप्रधानः)

२—प्राणः:
- १—मनः—मनः
- २—प्राणः—प्राणः
- ३—वाक्—वाक्

} पुरुषो विश्वात्मा (प्राणप्रधानः)

३—वाक्:
- १—मनः—रूपम्
- २—प्राणः—कर्म्म
- ३—वाक्—नाम

} पुरं विश्वम् (वाक्प्रधानम्)

} —'सत्यप्रजापतिः'

मनःप्राणवाङ्मय सत्यप्रजापति की अपने इन्हीं तीन पर्वों से तीन अवस्था हो जातीं हैं, जिन्हें कि क्रमशः **'अणोरणीयान्–मध्यमः–महतोमहीयान्'** इन नामों से व्यवहृत किया जा सकता है। नाभिलक्षण नभ्यभाव 'अणोरणीयान्' है, मूर्त्तिलक्षण मध्यभाव 'मध्यम' है, महिमालक्षण वाह्यभाव 'महतोमहीयान्' है। तात्पर्य्य यही है कि, अपने मनोभाग से (आत्मरूप से) वही प्रजापति केन्द्र में प्रतिष्ठित रहता हुआ **'नभ्य-प्रजापति'** कहलाने लगता है। यह सुसूक्ष्म है, अतः इसे अवश्य ही अणोरणीयान् कहा जा सकता है। अपने प्राणभाग से वही प्रजापति महिमामण्डलरूप में परिणत होता हुआ, सर्वप्रपञ्च को अपने गर्भ में रखता हुआ महतोमहीयान् 'सर्वप्रजापति' है। एवं अपने वाग्भाग से वही प्रजापति मूर्ति (पिण्ड) रूप में परिणत होता हुआ मध्यस्थ **'उद्गीथप्रजापति'** है। इसप्रकार केन्द्र, महिमा, मूर्त्ति–भावात्मक मनः–प्राण–वाङ्मय प्रजापति ही प्रत्येक पदार्थ का तात्त्विक स्वरूप बना हुआ है। किसी भी वस्तु को ले लीजिए। उसमें आपको ये तीनों भाव मिलेंगे, चाहे वह वस्तु जड़ हो, अथवा चेतन हो। नभ्यप्रजापति पशुपति है, ज्ञाता है। सर्व-प्रजापति पाश है, ज्ञान है। एवं उद्गीथप्रजापति पशु है, ज्ञेय है। इसप्रकार एक ही प्राजापत्यसंस्था में केन्द्रावच्छिन्न मनोऽवच्छेदेन ज्ञाता, महिमावच्छिन्न प्राणावच्छेदेन ज्ञान, एवं मध्यमावच्छिन्न वागवच्छेदेन ज्ञेय, रूप से वही ज्ञाता है, वही ज्ञान है, वही ज्ञेय है, समष्टि प्रजापति है। यही अध्यात्म है, यही अधिदैवत है, यही अधिभूत है–**'प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं यदिदं किञ्च–सर्वमु ह्येवेदं प्रजापतिः'**।

१–नभ्यप्रजापतिः	**(नाभिः–हृदयम्–आत्मा—मनः)**	ज्ञाता	"प्रजापतिः
२–उद्गीथप्रजापतिः	**(मूर्त्तिः—पिण्डः–पशवः—वाक्)**	ज्ञेयः	
३–सर्वप्रजापतिः	**(महिमा–वितानम्–प्राणाः—प्राणः)**	ज्ञानम्	

यद्यपि नाम–रूप–कर्म्म–भावों का क्रमशः मनोमय नभ्यप्रजापति के साथ रूप का, प्राणमय सर्वप्रजापति के साथ कर्म्म का, एवं वाङ्मय उद्गीथप्रजापति के साथ नाम का सम्बन्ध माना जाता है। तथापि 'मूर्त्ता–मूर्त्तविज्ञान' परिभाषा की दृष्टि से नामरूपकर्म्मात्मक व्याकृत भावों का एकमात्र उद्गीथप्रजापति के साथ ही प्रधान सम्बन्ध माना जायगा। केन्द्रस्थ नभ्यप्रजापति भी अपने अमूर्त्त भाव से अव्याकृत हैं, एवं महिमा-मय प्राणलक्षण सर्वप्रजापति भी अव्याकृत ही है। व्याकृत है मूर्त्तलक्षण, वाङ्मय भूतात्मक उद्गीथप्रजापति। पदार्थगत सम्पूर्ण धर्म्मों का उत्थान मूर्ति (पिण्ड) लक्षण इसी प्रजापति से हुआ है। अतएव यही ऋग्वेदरूप 'उक्थ' है। इसी के आधार पर ये प्रतिष्ठित हैं, अतएव यही यजुरूप 'ब्रह्म' है। एवं यही सर्ववाक्प्रपञ्च (भूतसृष्टि) में समरूप से व्याप्त है, अतएव यही सामलक्षण 'साम' है। उक्थ–ब्रह्म–सामलक्षण, त्रयीवेदमूर्त्ति उद्गीथ-प्रजापति ही वाक्प्रपञ्च का आत्मा बना हुआ है, जैसा कि छन्दोवेदपरिच्छेद में विस्तार से बतलाया जाने वाला है।

१–नभ्यप्रजापतिः	**(मनोमयः)—अव्याकृतः, अमूर्त्तः**		**"उभयं हैतद्भवति-मूर्त्तं चा-मूर्त्तंच"**
२–उद्गीथप्रजापतिः	**(वेदवाङ्मयः)–व्याकृतः, मूर्त्तः**		
३–सर्वप्रजापतिः	**(प्राणमयः)—अव्याकृतः, अमूर्त्तः**		

है। यह सम्पूर्ण महाविश्व का एक प्रजापति है। एकवल्शात्मक, पञ्चपुण्डीरा-प्राजापत्यवल्शात्मक विश्व का आत्मा, योगमायावच्छिन्न, पञ्चकल, विश्वाधार, सर्वधर्म्मविशिष्ट उपेश्वर ही **'सत्यप्रजापति'** नामक दूसरा प्रजापति है। ब्रह्मनिःश्वसित वेद ही इसका शरीर है। नारायणाग्निमूर्त्ति, पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व से समन्वित भृग्वङ्गिरोमय, गायत्रीमात्रिकवेदमूर्त्ति, मैथुनीसृष्ट्यधिष्ठाता, गोसहस्रकृतात्मा, यज्ञेश्वर ही **'यज्ञप्रजापति'** नामक तीसरा प्रजापति है। एवं अग्नि-वायु-आदित्यकृतमूर्त्ति, त्रैलोक्यव्यापक, रोदसीब्रह्माण्डाधिनायक, रुद्रकृतात्मा, पलितवामाग्निलक्षण, सम्वत्सरचक्रप्रवर्त्तक, यज्ञमात्रिकवेदमूर्त्ति, सहस्रशीर्ष-सहस्राक्ष-सहस्रपाल्लक्षण, सौरब्रह्माण्डकृतशरीर 'ईश्वर' ही **'विराट्प्रजापति'** नामक चौथा प्रजापति है। विराट् की प्रतिष्ठा यज्ञ है, यज्ञ की प्रतिष्ठा सत्य है, सर्वप्रतिष्ठा अमृत है। साथ ही चारों का परस्पर अन्तरान्तरीभावसम्बन्ध है। विराट्प्रजापति ही पूर्वप्रतिपादित-अमृतमृत्युलक्षण वह सम्वत्सरप्रजापति है, जो वेदत्रयी के द्वारा सम्पूर्ण भूतों को अपने गर्भ में प्रतिष्ठित रखता है। इसी विराट्प्रजापति का प्रकृत में 'वेदत्रयी' शब्द से ग्रहण है, जिसकी मूलप्रतिष्ठा सत्यप्रजापति बन रहा है। सत्य के आधार पर यज्ञ होता है, यज्ञाधार पर विराड्वेद का विकास होता है। अतः प्रकृत प्रकरण में सत्यप्रजापति की ओर ही विशेषरूप से पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जा रहा है।

*

स्वतन्त्रः—[१—अमृतप्रजापतिः—षोडशीपुरुषो महामायावच्छिन्नः।—अश्वत्थब्रह्माण्डं-शरीरम्

समन्विताः—{
२—सत्यप्रजापतिः—प्राकृतपुरुषो योगमायावच्छिन्नः।—स्वायम्भुवब्रह्माण्डं-शरीरम्
३—यज्ञप्रजापतिः—यज्ञपुरुषो योगनिद्रावच्छिन्नः।—पारमेष्ठ्यब्रह्माण्डं-शरीरम्
४—विराट्प्रजापतिः—सम्वत्सरपुरुषो गुणमायावच्छिन्नः।—सौरब्रह्माण्डं-शरीरम्

*

ब्रह्मनिःश्वसितवेदमूर्त्ति सत्यप्रजापति के आधार पर यज्ञ का वितान होने वाला है, एवं इसी यज्ञाधार से हमें छन्दो-वितान-रसलक्षणा-वेदत्रयी का सामान्य विवेचन करना है। अतः सर्वप्रथम सत्यप्रजापति का ही विवर्त्त लक्ष्य में रखना होगा। 'सत्यम्' शब्द का अर्थ है-'त्रिपर्वात्तत्त्व' A। '[1]स-[2]ति-[3]यम्' ही सत्य का प्रातिस्विक निर्वचन है। तीन पर्वों की सूचना के लिए ही तद्वाचक शब्द के तीन पर्व उपस्थित हुए हैं। वे तीन पर्व क्रमशः-**'नाभि-मूर्त्ति-महिमा'** इन नामों से प्रसिद्ध हैं। महिमा उसीका **'प्रजा'** रूप है, मूर्त्ति उसीका 'शरीर' है, एवं **'नाभि'** उसी का **'आत्मा'** है। आत्मा, शरीर, प्रजा, लक्षण नभ्य-शरीर-महिमा-भावत्रयी की समष्टि ही **'सत्यप्रजापति'** है।

"**यद्वै किञ्च प्राणि, स प्रजापतिः**" यह प्रजापति का सामान्य लक्षण माना गया है। प्राणतत्त्व बिना भूत के आधार पर प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। क्योंकि प्राण गतिमान् है, गतिरूप है, क्रियात्मक है। क्रिया अपने संचार के लिए प्रत्येक दशा में किसी निष्क्रिय धरातल की अपेक्षा रखती है। क्रियात्मक प्राण का

A 'सत्यम्' शब्द की विशद वैज्ञानिक व्याख्या 'गीताविज्ञानभाष्यभूमिका' द्वितीयखण्ड 'ग' विभागान्तर्गत 'कर्म्मयोगपरीक्षा' नामक प्रकरण के 'वैदिककर्म्मयोग' नामक अवान्तर प्रकरण में देखनी चाहिए।

आधारभूत वह निष्क्रिय पदार्थ ही जहाँ विज्ञानभाषा में 'पशु' कहलाया है, वहाँ लोकभाषा में वही 'भूत' कहलाया है। प्राण क्रिया है, भूत पशु है, दोनों हीं जड़ हैं। जिस प्रकार बिना भूतप्रतिष्ठा के क्रिया का सञ्चार अवरुद्ध है, एवमेव बिना ज्ञानमयी कामना के भी क्रिया का विकास असम्भव ही है। **"अकामस्य क्रिया काचित्० *"** इत्यादि मानवसिद्धान्तानुसार अवश्य ही ज्ञानोत्थिता कामना से ही प्राणात्मिका क्रिया का विकास होता है, एवं पशुरूप निष्क्रिय भूतभाग ही इसकी संचारभूमि बनता है। क्रियाविकासक, कामनामय उसी ज्ञान को-**'मन'** कहा जाता है। इसप्रकार **'यद्वै-प्राणि०'** की व्याप्ति **"पशुगर्भितो यः प्राणः, तद्गर्भितः-य आत्मा, स प्रजापतिः"** इत्यादिरूप से **'मनः-प्राण-पशु- समष्टिः प्रजापतिः'** इस लक्षण पर विश्रान्त हो रही है। भूतरूप पशुभाग वागाकाशमूलक है। वाङ्मय मर्त्याकाश ही पञ्चभूतरूप में परिणत हुआ है। अतएव इसे 'वाक्' कहा जायगा। इसप्रकार प्रजापतिलक्षण आत्मा का अन्ततोगत्वा-**'स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः'** इस प्रसिद्ध लक्षण पर ही पर्य्यवसान मानना पड़ेगा। 'मन-प्राण-वाक्' तीनों को ही प्राणात्मक भी माना जा सकता है। क्योंकि प्रजापति की मध्यस्था प्राणविभूति की तीनों ओर व्याप्ति है। तभी तो **'यद्वै-किञ्च-प्राणि०'-'प्राणः प्रजानाम्'** इत्यादि कहना अन्वर्थ बनता है। निम्न लिखित श्रुति से तो स्पष्टरूप से ही प्रजापति की प्राणप्रधानता व्यक्त हो रही है—

> **"तद्वै स प्राणोऽभवत् महान् भूत्वा प्रजापतिः। भुजो भुजिष्या वित्वा यत् प्राणान् प्राणयत् पुरि" इति। आत्मा (शरीरं) वै पूः। यद्वै प्राणान् प्राणयत, तस्मात् प्राणा देवाः। अथ यत् प्रजापतिः प्राणयत्, तस्मादु "प्रजापतिः प्राणः"** (शत० ७।५।१।२१।)।

मनःप्राणवाग्लक्षणा इस प्राणत्रयी के प्राणात्मक मनोमय आत्मा को 'मुख्यप्राण' कहा जायगा, व्यवहार में इसे **'आत्मा'** बोला जायगा। मुख्यप्राणलक्षण मनोमय आत्मा के अङ्गभूत प्राणलक्षण प्राण को **'प्राणाः'** कहा जायगा, एवं वाङ्मयी प्राणलक्षणा वाक् (पशु) को 'श्रीः' कहा जायगा। इसप्रकार **"मनः-प्राण-वाक्"-"आत्मा-प्राणाः-श्रीः"-"नाभिः-मूर्त्तिः-महिमा"-"ज्ञानं-क्रिया-अर्थः"**-इत्यादि रूप से त्रिपर्वा सत्यप्रजापति का अनेक प्रकार से अभिनय किया जा सकेगा।

१—मनः—ज्ञानम्—नाभिः—आत्मा—आत्मा—आत्मा	"सत्यप्रजापतिः"
२—प्राणः—क्रिया—महिमा—प्राणाः—प्राणः—महिमा	
३—वाक्—अर्थः—मूर्त्तिः—श्रीः—पशुः—शरीरम्	

---

* **अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्।**
यद्यद्धि कुरुते किञ्चित्तत् कामस्य चेष्टितम्॥
—मनुः २।४।

A"**दर्शनशास्त्र**" इस सम्बन्ध में (जड़–चेतन के विवेक में) अपना जो निर्णय व्यक्त करता है, वह श्रेणि-विभागाक्रान्त सामान्य अधिकारियों के लिए उपयुक्त बनता हुआ भी सहजज्ञानानुमोदित प्राकृतिक तत्त्व के अनुगामी विशेष अधिकारियों की जिज्ञासा यथावत् शान्त नहीं कर सकता, नहीं करना चाहिए । क्योंकि ऐसा करना दर्शनशास्त्र की सुप्रसिद्ध "**दर्शन**" मर्यादा के बाहिर जाना है । दर्शन–ज्ञान का जहाँ हमारे बौद्ध जगत् से सम्बन्ध है, वहाँ आत्मज्ञान का आत्मविवर्त्त से सम्बन्ध है । सीधी भाषा में हमें यों कहना चाहिए कि, हमारी अध्यात्मसंस्था में मुख्यतः दो ज्ञान–धाराएँ प्रवाहित रहतीं हैं । इन दोनों का स्थलभेद से प्रत्यक्ष किया जासकता है ।

एक ऐसा व्यक्ति, जिसने शब्दशास्त्र का यत्किञ्चित् भी अध्ययन नहीं किया है, बुद्धिवादी विद्वान् जिसे '**मूर्ख**' कहा करते हैं, जिस मूर्ख का एकमात्र लक्ष्य है–अपनी सहजभाषा से लोकव्यवहारों का सञ्चालन करते हुए खाते–कमाते–परिवार का भरण–पोषण करते लीलासंवरण कर जाना । संसार में क्या हो रहा है ?, कौन विद्वान् है, कौन मूर्ख है ?, क्या अच्छा है, क्या बुरा है ?, राष्ट्र क्या है ?, समाज क्या है ?,राष्ट्र-समाजोत्थान कैसे सम्भव है ?, ईश्वर ने जगत् क्यों, कैसे, कब, किससे, कहाँ बनाया ?, इत्यादि '**क्यों**' के प्रपञ्चों की दुनिया से हमारा वह 'मूर्ख' सर्वथा तटस्थ है । जैसा कुछ बन पड़ता है, सुविधानुसार राम–राम कर लेता है, पुण्यपथ का प्रेमी बना रहता है, पाप से भय करता रहता है । किन्तु ईश्वर–पुण्य–पाप की वैज्ञानिक व्याख्या सुनने–सुनाने की न इसमें योग्यता है, न समय, न प्रवृत्ति । ज्ञानगर्व से मदोन्मत्त बने हुए मदसद्विवेकी विद्वद्गण ईश्वर की साक्षात् प्रतिमारूप इसी 'मूर्ख' को-'**ग्रामीण**'-'**जँगली**'-'**असभ्य**'-'**पशु**' आदि उपाधियों से अलङ्कृत करते हुए अंशतः भी तो लज्जित नहीं होते । यह तो हुआ ज्ञानधारा का एक दृष्टिकोण । अब दूसरे दृष्टिकोण से विचार कीजिए ।

एक ऐसा व्यक्ति, जो किसी महानगर के महाप्रासाद में, महासम्पत्तिशाली बड़े आदि के घर पैदा हुआ है । पूर्ण सुविधाओं से युक्त रहता है । लालन–पालन–शिक्षा–दीक्षा–सभ्यता-सदाचार–शिष्टाचार, आदि में मनमाना खर्च होता है । समय पाकर आरम्भ का वह अबोध व्यक्ति, मूर्खसम व्यक्ति पूर्ण योग्य बन जाता है, विद्वान् बन जाता है । इसने दर्शन पढ़ा है, राजनीति–समाजनीति, धर्म्मनीति, शिल्प, कला, वाणिज्य, आदि सभी कुछ सीखा है । अपने इसी शास्त्रीय ज्ञान के आधार पर यह एक दिन समाज का 'बुद्धिमान्' नेता मान लिया जाता है । समाज इसे प्रतिष्ठा देता है, अपना नियन्ता मानता है, मुखिया समझता है । और यह भी समाज के द्वारा मिलने वाली इस व्यक्तिप्रतिष्ठा से, व्यक्ति–पूजन से, अपने शास्त्रीय ज्ञान से, बुद्धिमानी से अपने आपको सचमुच में महापुरुष (बड़ा आदमी) मान बैठता है । प्रत्येक विषय का अपने शास्त्रीय ज्ञान के आधार पर बुद्धि–पूर्वक निर्णय करना ही इसका मुख्य लक्ष्य बन जाता है । साथ ही यह उन्हीं विषयों को अपने ज्ञानीय–प्राङ्गण में स्थान देता है, जो विषय तर्क–युक्तिसम्मत बुद्धिपूर्वक प्रतिपादित होते हैं । यह मूर्ख की भाँति 'अन्धा' नहीं रहता । मनमाना श्रद्धा–विश्वास नहीं कर बैठता । प्रत्येक विषय को पहिले ज्ञान के काँटे पर तोलता है, उसमें जो बावन तोला पाव रत्ती उतरता है, वही इसके लिए उपादेय

A इस विषय का विशद विवेचन 'गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत' 'आत्मपरीक्षा' नामक द्वितीय खण्ड के 'ख' विभाग में '**दार्शनिक दृष्टि से आत्मपरीक्षा**' नामक प्रकरण में देखना चाहिए ।

बनता है । जब तक इसकी समझ (बुद्धि) में नहीं आता, तब तक यह आत्मा, ईश्वर, जीव, पाप, पुण्य, आदि को भी श्रद्धा विश्वास की दृष्टि से देखने में असमर्थ है । ऐसा बुद्धिमान , शास्त्रज्ञ, विवेकी, कुशल, चतुर व्यक्ति ही हम साधारण मनुष्यों की ओर से–'नागरिक'–'सभ्य'–'मनुष्य'–'विद्वान्'–'बड़ा आदमी' इत्यादि उपाधियों से अलङ्कृत किया जाता है । यही ज्ञानधारा का दूसरा दृष्टिकोण है ।

इतना तो निश्चित है कि, पुराणशास्त्रप्रतिपादित, श्रुतिसम्मत सृष्टि के क्रमिक विकास की दृष्टि से मूर्ख ज्येष्ठभ्राता है, बुद्धिमान् कनिष्ठभ्राता है । अवश्य ही आरम्भ में इस जगतीतल पर मूर्खों का ही साम्राज्य रहा होगा, जिनके कि स्वर्णमय शान्ति–साम्राज्य को अगली पीढ़ियों में उत्पन्न होने वाले बुद्धिमानों नें वीरान कर दिया । ज्यों ज्यों सभ्यता बढ़ती गई, त्यों त्यों कृत्रिमता घर करती गई, प्राकृतता नष्ट होती गई । व्यवहार की सामान्य भाषा के स्थान में परिष्कृत विविध भाषाओं नें जन्म लिया । ग्रामों नें नगरों का रूप धारण किया । अशिक्षा का आसन शिक्षा नें छीन लिया । निःसीम शब्दशास्त्र अवतीर्ण हुआ । इनकी बुद्धिपूर्विका विविध व्याख्याएँ हुईं । इसप्रकार अतीत पर वर्त्तमान ने अपना पूरा पूरा सिक्का जमा लिया, जिसका इतिवृत्त आज के बुद्धिमानों के सामने प्रत्यक्षवत् * स्फुट है ।

'मूर्ख' ज्ञानशून्य है, यह तो सम्भवतः बुद्धिमान् भी बुद्धिसम्मत न मानेंगे । क्योंकि बुद्धिमानों की दृष्टि में बिना ज्ञान के कोई भी कर्म्म नहीं हो सकता । ऐसी अवस्था में मूर्ख को ज्ञानाभावलक्षण 'अज्ञान' शब्द से तो व्यवहृत नहीं किया जा सकेगा । अवश्य ही मूर्ख भी 'ज्ञानवान्' है । इधर बुद्धिमानों की ज्ञाननिष्ठा में तो सन्देह भी करना भारी अपराध है । हाँ तो ज्ञानवान् दोनों हीं हैं । अब प्रश्न यह रह जाता है कि, यदि मूर्ख बुद्धि–लक्षण (विद्वानों के) ज्ञान से अपने मूर्खतारूप कर्म्मों का सञ्चालन नहीं करता, तो वह ज्ञान कौन सा है ?। बुद्धिमान् अन्वेषण करेंगे, तो उत्तर में इनकी भाषा में 'आत्मज्ञान' शब्द उपस्थित होगा, जिसे मूर्खों की भाषा में हम 'सहजज्ञान'–'ईश्वरीयज्ञान' 'प्राकृतिकज्ञान' आदि शब्दों से व्यवहृत करेंगे । विद्वान् लोग क्योंकि बुद्धि से काम लेते हैं । साथ ही शास्त्रद्वारा इनका यह ज्ञान विकसित हुआ है । दूसरे शब्दों में कृत्रिम साधनों से इनका ज्ञान प्रकट हुआ है, अतएव इनके इस महापौरुष लक्षण महाज्ञान को, बुद्धिमानी की इन विद्वानों की भाषा में–'तर्क–युक्ति–सम्मत बौद्धज्ञान' कहेंगे, एवं मूर्खों की भाषा में यही ज्ञान 'कृत्रिमज्ञान' 'जीवज्ञान'–'विकृतज्ञान' आदि शब्दों से व्यवहृत होगा ।

बुद्धिमानों के अन्तर्जगत् में क्षोभ उत्पन्न करने वाली मूर्खों की वह सहज ज्ञानधारा अवश्य ही एक विचित्र पहेली मानी जायगी । साथ ही वेद की बुद्धिसम्मत व्याख्या के प्रेमी हमारे पाठक भी इस सर्वथा अप्रासङ्गिक ज्ञान–चर्चा से अपने बौद्ध धरातल को क्षुब्ध ही अनुभूत करेंगे । परन्तु जब उनके सामने 'मूर्खतापूर्ण–सहजज्ञान' का वास्तविक इतिहास आ जायगा, तो उन्हें सम्भवतः यह मान लेना पड़ेगा कि, हम अप्रस्तुत विषय का अनुगमन करते हुए भी अपने 'वेदत्रयी' प्रकरण से बाहिर नहीं जा रहे हैं । अच्छा, तो अब उस मूर्खतापूर्ण सहजज्ञान का संक्षिप्त इतिहास सुन लीजिए ।

---

* बुद्धिमानों के इस क्रमिक सृष्टीतिवृत्त का विवेचन 'गीताविज्ञानभाष्यभूमिका'न्तर्गत 'बहिरङ्गपरीक्षात्मक'–प्रथमखण्ड के–'आरम्भिक निवेदन' नामक प्रकरण में देखना चाहिए ।

१-* मूर्त्तिरेव-उक्थम्-ऋक्	व्याकृतधर्म्माणां-उक्थं, ब्रह्म, साम,र्त्तिरेव । आतश्च
२-* मूर्त्तिरेव—ब्रह्म—यजुः	
३-* मूर्त्तिरेव—साम—साम	मूर्त्तिरेवात्मा--उद्गीथप्रजापतिः ।

४-विज्ञानदृष्टि, और त्रिपुटीविवर्त्त—

प्रसङ्ग यह चल रहा था, कि सर्वसाधारण की दृष्टि में ज्ञाता, ज्ञान, दोनों जहाँ आध्यात्मिक तत्व, एवं ज्ञेय आधिभौतिक पदार्थ है, वहाँ विज्ञानदृष्टि से प्रत्येक पदार्थ त्रिपुटी से युक्त है । जब प्रत्येक पदार्थ 'प्रजापति' है, एवं प्रजापति पूर्वकथनानुसार जब त्रिपर्वा है, तो अवश्य ही प्रत्येक को त्रिपर्वा माना जासकता है । यहीं सीमा समाप्त नहीं हो जाती । अपितु मनःप्राणवाक् के त्रिवृद्भाव से तो आगे जाकर 'ज्ञाता–ज्ञान–ज्ञेय' प्रत्येक त्रिपर्वा बन रहा है, जैसा कि अन्य निबन्धों में (ईशादिभाष्यों में) विस्तार से निरूपित है । शास्त्रीय दृष्टि से प्रत्येक संस्था में तीनों पर्वों का भोग बतलाया गया । अब लोकदृष्टि से भी विचार कर लीजिए ।

यह एक सिद्ध विषय है कि, हमें जितनें भी ऐन्द्रियक प्रत्यय (ज्ञान) होते हैं, दूसरे शब्दों में हम जिन ऐन्द्रियक विषयों का अनुभव करते हैं, वे सब संस्काररूप से हमारे प्रज्ञान--धरातल पर पहिले से ही प्रतिष्ठित हैं । जो ज्ञेय विषय संस्काररूप से हमारी अध्यात्मसंस्था में जन्मकाल से ही प्रतिष्ठित रहते हैं, हम अपने जीवन में इन्द्रियों के द्वारा तत्संस्कारसम आधिभौतिक ज्ञेय पदार्थों का ही अनुभव कर सकते हैं । गन्ध एक प्रकार का ज्ञेय विषय है । यदि गन्धमात्रा पहिले से विद्यमान है, तभी हम बाह्य गन्ध का ग्रहण कर सकते हैं । अन्यथा गन्धप्रत्यय से हम वञ्चित रह जाते हैं । प्रत्येक इन्द्रिय में 'प्रज्ञा–प्राण–भूत' भेद से तीन तीन मात्राओं का समावेश रहता है । प्रज्ञामात्रा ज्ञाता है, प्राणमात्रा वृत्ति (ज्ञानसाधक) है, भूतमात्रा ज्ञेय है । ऐन्द्रिक अन्तर्जगत् में प्रतिष्ठित ज्ञेयलक्षण भूतमात्रा का बहिर्जगत् में प्रतिष्ठित ज्ञेयलक्षण भूतपदार्थों के साथ सम्बन्ध होता है, तत्काल तद्विषयक प्रत्यय का उदय हो जाता है । हम देखते हैं कि, प्रत्येक व्यक्ति का ऐन्द्रियक प्रत्यय भिन्न भिन्न रहता है । किसी को वही मरीचिका (मिर्च) अति तिक्त (चरचरी) प्रतीत होतीं है, किसी को तिक्तता का अनुभव भी नहीं होता । ज्वरार्त्त रोगी को मधुर पदार्थ कटु लगने लगते हैं । इन सब अनुभवभेदों का एकमात्र कारण हमारी आध्यात्मिक भूतमात्राओं (ज्ञेयों) के विकास अविकास का तारतम्य ही माना जायगा । एवं इसी आधार पर यह निश्चयरूप से कहा जायगा कि, जिन बाह्य ज्ञेयों का हमें अनुभव होता है, उनकी मात्रा पहिले से ही हमारी अध्यात्मसंस्था में भी प्रतिष्ठित हैं । इसप्रकार केवल अध्यात्मसंस्था में हीं (पुरुषसंस्था में हीं) ज्ञाता (आत्मा), ज्ञान (इन्द्रियाँ), ज्ञेय (भूतमात्रा) तीनों की सत्ता सिद्ध हो जाती है । हमारा मनोमय ज्ञान–भाग पुरोऽवस्थित ज्ञेय के मनोमय ज्ञानभाग से, प्राणमय ज्ञानभाग उसके प्राणमय ज्ञानभाग से, एवं वाङ्मय ज्ञेयभाग (भूतमात्रा) उसके वाङ्मय ज्ञेयभाग से युक्त होता है, हमारे तीनों पर्व उसके तीनों पर्वों से युक्त होकर ही प्रत्यय के कारण बनते हैं ।

अब इस सम्बन्ध में प्रश्न यह रह जाता है कि, यदि हमारी भाँति 'जड़' नाम से प्रसिद्ध भौतिक पदार्थों में--(जिन्हें सामान्य भाषा में केवल ज्ञेय कहा जाता है) भी यदि 'ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय' तीनों पर्व हैं, तो उन्हें प्रत्यय क्यों नही होता ? । हम देखते हैं कि, पाषाण-लोष्टादि में न तो इन्द्रियाँ (ज्ञान) हीं हैं, न इन्द्रियप्रवर्त्तक सुखःदुःखानुभवकर्त्ता प्रज्ञान ही है, न आयतनवर्द्धक, चेष्टाकर्म्मप्रवर्त्तक आत्मा (ज्ञाता) ही है। फिर यह किस आधार पर कहा जा सकता है कि, "हमारे साथ उनका समतुलन है, किंवा जो पर्वत्रयी अध्यात्मसंस्था में है, वही पर्वत्रयी अधिभूतसंस्था में है" ।

एक आस्तिक भारतीय के लिए तो उक्त प्रश्न का महत्त्व इसलिए नहीं है कि, 'ईशावास्य-मिदं सर्वम्'-'सर्वं खाल्वदं ब्रह्म' पर निष्ठा रखने वाला यह भारतीय 'जड़' नाम की कोई वस्तु मानता ही नहीं । 'जड़-चेतन' व्यवहार तत्त्वतः निम्मूंल है ' "पाषाणादि में आत्मा नहीं है, इसलिए वे जड़ हैं, मनुष्यों * में आत्मा है, इसलिए वे चेतन हैं" यदि 'जड़-चेतन' व्यवहार का यह कारण माना जाता है, तब तो सर्वथा भ्रान्ति है । क्योंकि सर्वव्यापक आत्मा की कहीं सत्ता रहे, कहीं सत्ता न रहे, यह सर्वथा असम्भव है । यदि "जिनमें इन्द्रियों का विकास है, वे चेतन हैं, एवं जिनमें इन्द्रियों का विकास नहीं है, वे जड़ हैं" जड़-चेतन व्यवहार की यह परिभाषा मानी जाती है, तो वह आस्तिक भारतीय को भी मान्य है। क्योंकि **'सेन्द्रियं चेतनद्रव्यं, निरिन्द्रियमचेतनम्'** (चरकसंहिता) इत्यादिरूप से इन्द्रिय-विकासानुबन्धी चेतनभाव, इन्द्रियविकासाभावानुबन्धी जड़भाव स्वयं भारतीय विद्वानों को भी अभिमत है। वस्तुतत्त्व सब में समान हैं, केवल अभिव्यक्ति, अनभिव्यक्ति में तारतम्य है । क्योंकि भूतपदार्थों में ज्ञाता--ज्ञान की अनभिव्यक्ति है, अतएव वे जड़ मान लिए गए हैं, अतएव च उन्हें अस्मदादि की भाँति न तो प्रत्यय ही होता, न आयतनवृद्धि आदि चेतनधर्म्म ही इनमें विकसित होते ।

५-ज्ञानधारा के दो विभिन्न दृष्टिकोण—

'जड़-चेतन' का प्रसङ्ग चल रहा है । अतएव इस सम्बन्ध में उत्पन्न होने वाली विविध भ्रान्तियों का निराकरण-प्रासङ्गिक प्रतीत होता है । व्यवहारजगत् से सम्बन्ध रखने वाला, अधिकारी की योग्यता के तारतम्य से अपने प्रतिपाद्य विषयों का श्रेणि-विभाजन करने वाला, ज्ञान के क्रमिक उत्थान के लिए-- **"असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते"** को अपना लक्ष्य बनाने वाला, अतएव प्रतिपाद्य विषयों में परस्पर विरुद्ध गमन करता हुआ सा प्रतीत होने वाला, किन्तु 'शिक्षा-सिद्धान्त' के अनुसार अपने अपने विभिन्न-प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से सर्वथा उपयुक्त बना रहने वाला, त्रिधा विभक्त भारतीय

---

* कुछ समय पूर्व पश्चिमी विद्वानों में यह विवाद चला था कि, अश्व--गज-सिंह--व्याघ्रादि पशुओं में आत्मसत्ता है, अथवा नहीं ? । उन्होंनें इस सम्बन्ध में क्या मन्तव्य अभिव्यक्त किया ?, प्रश्न इसलिए अमीमांस्य है कि, भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार तो पाषाणादि धातुवर्ग भी विश्वेश्वरात्मसत्ता से वञ्चित नहीं है । प्रश्न है केवल 'अभिव्यक्ति' का । इस सम्बन्ध में यह निश्चित राद्धान्त है कि, सर्वव्यापक भी विश्वात्मा एकमात्र मानव में हीं स्वस्वरूप से अभिव्यक्त है । और इस अभिव्यक्ति की दृष्टि से समस्त चराचरविश्व में एकमात्र मानव ही आत्मवान्-आत्मयाजी है, जैसाकि खण्डचतुष्टयात्मक **'भारतीय मानव'** नामक महान् निबन्ध में यत्रतत्र विस्तार से निरूपित है ।

मूर्खतापूर्ण सहजज्ञान वह ज्ञान है, जिसे हम 'आत्मसंवेदन' (आत्मा की पुकार) कहा करते हैं। यह वह ज्ञान है, जिसका मूलस्रोत सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, स्वयं जगदीश्वर है। यह विमलज्ञानधारा वह ज्ञानधारा है, जिसके अविच्छिन्न प्रवाह में अच्छा-बुरा, राग-द्वेष, पाप-पुण्य, हिंसा, स्तेय, असत्य, कृत्रिमता, वितण्डा, छल, आदि बुद्धिगम्य महा-ग्रहों का प्रवेश एकान्ततः निषिद्ध है। यह वह-ज्ञानगरिमा है, जिसने सम्पूर्ण प्राणीवर्ग का भार वहन कर रक्खा है। यह-वह सम-ज्ञान है, जिसका विभक्त विश्व पर्वों में अविभक्तरूप से साम्राज्य है। यह वह सहजज्ञान है, जो सहजशब्दों का प्रवर्त्तक बना रहता है। यह वह निर्म्मल ज्ञान है, जिसका हम एक ३-४ वर्ष के शिशु में भी पूर्ण विकास देखते हैं। यह वह ज्ञान है, जिसका परमानन्दघन बालकों की बालक्रीड़ा में प्रत्यक्ष किया जासकता है। यह वह ज्ञान है, जिसका स्वाभाविक (सहज) आकर्षण कभी कभी उन बुद्धिमानों को भी अपने बुद्धिक्षेत्र से विकम्पित कर देता है, जोकि बुद्धिमान् आरम्भ में कृत्रिमज्ञान के पक्षपाती बनते हुए अन्त में 'नेति-नेति' कहकर उपसंहृत हो जाते हैं। यह वह ज्ञान है, जिसके अनुग्रह से हमारे जीवन के सर्वस्वभूत श्रद्धा-विश्वास नाम के दो भाव उत्तरोत्तर पुष्पित-पल्लवित होते रहते है।

और यह वही ज्ञान है, जो हमनें हमारी बुद्धिमानी से खो दिया है, अथवा तो खोते जा रहे हैं। यह वही ज्ञान है, जो प्रवृद्ध बुद्धिवाद के अनुग्रह से स्वस्वरूप (सहजभाव) से आवृत होता हुआ श्रद्धा-विश्वास से वञ्चित हो गया है। यह वही ज्ञान है, जिसे हमनें कृत्रिम शब्दजाल का अनुगामी बनाने की भूल करते हुए पलायित कर दिया है। यह वही ज्ञान है, जो बुद्धिवाद का बाना पहिन कर शान्ति के स्थान में क्रान्ति का कारण बन रहा है। यह वही ज्ञान है, जिसने बुद्धिवाद का अनुगमन करते हुए अपने शान्तिप्रद 'ईश्वर' और 'धर्म्म' इन दो रूपों को अन्तर्मुख बना लिया है, एवं फलस्वरूप शान्तिसंवाहक ईश्वर, तथा धर्म्ममूर्त्ति वही ज्ञान आज विश्वशान्ति के लिए एक महा संकट बन गया है।

६-मूर्खतापूर्ण सहजज्ञान, और ऋषिदृष्टि—

और यह वही ज्ञान है, जिसके सहज उपासक जहाँ बुद्धिमानों की भाषा में 'मूर्ख' कहलाए है, वहाँ सहज भाषा में 'ऋषि' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। यह वही ज्ञान है, जो बिना प्रयास, किंवा सहज प्रयास के द्वारा श्रद्धा-विश्वास की सजीव प्रतिमारूप, निर्म्मल अन्तःकरण वाले उन महर्षियों की सहजवाणी के द्वारा विनिर्गत है। यह वही ज्ञान है, जिसके सहज शब्द 'वेद' नाम से श्रुत हैं। यह वही ज्ञान है, जिसे ऋषियों नें जैसा सुना, वैसा ही लोक के अभ्युदय के लिए 'श्रुति' नाम से हमारे सामने मूर्त्तिवत् रख दिया है।

और यह वही वेदज्ञान है, जिसके 'जर्फरी-तुर्फरी' आदि सहस्रों सहज शब्द सहजज्ञान से वञ्चित बुद्धिमान् व्याख्याताओं की दृष्टि में अद्यावधि भी एक पहेली ही बने हुए हैं। यह वही वेदज्ञान है, जिसके सहज सन्देश को अपनी बुद्धिमानी से समझने में असमर्थ रहते हुए बुद्धिमानों नें शिक्षा-कल्पादि षडङ्गों की सृष्टि कर डाली है। यह वही वेदज्ञान है, जो काल पाकर षड्ङ्गों के धरातल से भी गिराया जाकर दर्शनशास्त्र का पात्र बना दिया गया है। यह वही वेदज्ञान है, जिसने इसीप्रकार विविध भाष्य, बुद्धिसम्मत असंख्य व्याख्याएँ, टीका उपटीका, आदि के आवरण-प्रत्यावरण-प्रत्यन्तावरण-सूक्ष्मान्तरावरण आदि लक्षण-अनेक आवरणों से आज के इस बुद्धिवादप्रधान युग में अपना सहजभाव सर्वथा छोड़ दिया है। सर्वान्त में यह वही वेदज्ञान है, जो अपनी

सहजज्ञानमूला सहज परिभाषाओं से वञ्चित होता हुआ आज सर्वथा तत्त्वशून्य, वितण्डावादमूलक पौरुषेया-पौरुषेय जैसे निरर्थक वादों का अनुगामी बना दिया गया है। यही हमारे इस मूर्खतापूर्ण ज्ञान (ईश्वरीयज्ञान, सहजज्ञान, ऋषिदृष्टि, आर्षधर्म्म, वेदज्ञान,) का संक्षिप्त, किन्तु सहजसिद्ध इतिवृत्त है, जिसे भुला देने से वेदज्ञान-प्रतिपादक वेदशास्त्र आज वेदस्वरूपप्रतिकृतिभूत कृष्णमृग की विहारभूमि इस भारतवर्ष के विद्वानों के लिए भी एक जटिल समस्या बन रहा है, जिसका कि आगे के 'मन्त्रापौरुषेय' प्रकरण में समाधान होने वाला है। रही बात विद्वत्तापूर्ण-बौद्धज्ञान के इतिवृत्त की। इस सम्बन्ध में इसलिए कुछ नहीं कहा जा सकता कि, आज हम जो कुछ जानते हैं, पढ़ते हैं, लिखते हैं, कर्म करते हैं, वह सब कुछ इस कृत्रिम बौद्धज्ञान का ही महा विस्तृत इतिवृत्त है।

७-जड़चेतनात्मक रहस्यवाद—

उक्त ज्ञानेतिवृत्त की प्रासङ्गिक चर्चा के अनन्तर पुनः प्रक्रान्त जड़-चेतनवाद की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। दर्शनशास्त्र ने इस सम्बन्ध में जो निर्णय किया है, वह बौद्धज्ञान की दृष्टि से सर्वथा आदरणीय है। अत्र आत्मज्ञानलक्षण उस 'सहजज्ञान' की दृष्टि से जड़-चेतनभाव की मीमांसा कीजिए, जो सहजज्ञान **'वेदज्ञान'-'ज्ञानसहकृतविज्ञान'** आदि नामों से प्रसिद्ध है। इस विज्ञानदृष्टि से विचार करने पर हमें इस तथ्य पर पहुँचना पड़ता है कि, ईश्वरीय सृष्टिप्रपञ्च 'ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय' भेद से तीन भागों में विभक्त है। ज्ञाता **'आत्मा'** है, ज्ञान इस आत्मा की **'रश्मियाँ'** है, ज्ञेयभाग इसी आत्मा का 'प्रवर्ग्य' अंश है। आत्मा **'चित्'** है, रश्मियाँ **'चेतना'** है, प्रवर्ग्य **'अचित्'** है। चित् 'अवारपारीण' है, चेतना 'मध्यस्था' है, प्रवर्ग्य **'उपसंहार'** है। इस विषय की उत्थानिका से पहिले ही यह लक्ष्य में रख लेना चाहिए कि 'मनः-प्राणवाङ्मय प्रजापति के अंशरूप सभी सृष्टिविवर्त्त मनःप्राणवाङ्मय ही हैं। इस दृष्टि से सभी को **'ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय'** कोटि में रक्खा गया है, सभी त्रिपर्वा हैं। अतएव भारतीय व्यापक चिद्वाद (आत्मवाद) निरापद है। अतएव मनुष्येतर पदार्थों के (पशु-पक्षी,वृक्षादि के) उत्पीड़न से होने वाला 'पाप' भाव ज्यों का त्यों सुरक्षित है। इस दृष्टि को मूलाधार मान कर ही आगे चलना है।

सृष्टिप्रपञ्च को हम सामान्यरूप से पहिले तीन भागों में विभक्त करेंगे। कुछ पदार्थ तो ऐसे हैं, जिनका न तो आयतन घटता-बढ़ता, न जिनमें कोई (प्रत्यक्ष में) आदान-विसर्गभाव ही उपलब्ध होता। पाषाण, मृत्, लोष्ट, धातु, उपधातु, रस, उपरसादि पदार्थ इसी प्रथम कोटि में मानें जायँगे। कुछ पदार्थ ऐसे हैं, जो घटते-बढ़ते हैं, आदान-विसर्गलक्षण व्यापार करते हुए प्रतीत होते हैं, परन्तु अपने स्थान से अन्यत्र गमन करने में असमर्थ रहते हैं। ओषधि-वनस्पति (वृक्ष-लता-गुल्मादि) पदार्थ इसी द्वितीय कोटि में मानें जाँयगे। कुछ पदार्थ ऐसे हैं, जिनका मिथुनभाव से सर्जन होता है, इन्द्रियों का विकास रहता है, अवस्था, तथा जात्यनुरूप बढ़ते हैं, प्रत्यक्ष में ध्वनि-शब्दादि वाक् का उपयोग करते हैं, एक-स्थान से स्थानान्तर में गमनागमन करते हैं, कृश-स्थूलादि आकारभेदों में परिणत होते रहते हैं। 'मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, कृमि' इन पाँच वर्गों का इस तृतीय कोटि में ही अन्तर्भाव माना जायगा। तीनों वर्गों के पदार्थ क्रमशः **'असंज्ञ-अन्तःसंज्ञ-ससंज्ञ'** कहलाएँगे। यदि ऐन्द्रियक दृष्टि से चेतन-अचेतन की व्यवस्था की जायगी, तो धातूपधातुलक्षण असंज्ञजीवों को **'अचेतन'** (नितान्त जड़) कहा जायगा। क्योंकि इन पदार्थों

में चिद्विगर्मनभूत इन्द्रियविकास का नितान्त अभाव है। ओषधि-वनस्पतिलक्षण अन्तःसंज्ञजीवों को 'अर्द्धचेतन' (चेतन-जड़ की मध्यावस्था) माना जायगा। क्योंकि इनमें त्वगिन्द्रियमात्र का विकास रहता है। एकमात्र इस त्वगिन्द्रिय के विकास से ही इनके केन्द्र में रहने वाली ज्ञानधारा इतर सब ऐन्द्रियक ज्ञानों की प्रवर्त्तिका बन जाती है, जैसा कि—"तस्माद् रुदन्ति पादपाः, हसन्ति, जिघ्रन्ति' (महाभारत) इत्यादि वचनों से स्पष्ट है। क्योंकि इनमें चेतनोपोद्बलक सर्वेन्द्रिय विकास का अभाव है। इसलिए तो इन्हें 'चेतन' नहीं कहा जा सकता। साथ ही त्वगिन्द्रिय विकास के प्रभाव से चित् के आंशिक विकास से ये वञ्चित भी नहीं हैं। अतएव इन्हें अर्द्धचेतन कहना सर्वथा अन्वर्थ बनता हैं। मनुष्यादि ससंज्ञजीवों को 'चेतनजीव' कहा जायगा। क्योंकि इनमें ऐन्द्रियक ज्ञान का विकास देखा जाता है। इसप्रकार पार्थिव पदार्थों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है।

१-चेतनपदार्थाः---ससंज्ञजीवाः---मनुष्य-पशु-पक्षि-कीट-कृमयः।

२-अर्द्धचेतनपदार्थाः-अन्तःसंज्ञजीवाः-ओषधिवनस्पतयः।

३-अचेतनपदार्थाः--असंज्ञजीवाः---धातूपधातवः।

८-आत्मा, और जीव का पार्थक्य—

अब एक दूसरी दृष्टि से इन्हीं तीनों के तीन विभाग किए जाते है, जिस दृष्टिकोण का हमारे प्रकृत प्रकरण से घनिष्ठ सम्बन्ध है। मनुष्यों का एक स्वतन्त्र विभाग समझिए। 'पशु-पक्षी-कीट-कृमि-ओषधि-वनस्पति' इन का एक स्वतन्त्र विभाग समझिए, एवं धातुवर्ग का एक स्वतन्त्र विभाग मानिए। इन तीनों में प्रथम विभाग को-'ज्ञातृविभाग' कहा जायगा, दूसरे को 'ज्ञानविभाग' माना जायगा, एवं तीसरे को 'ज्ञेयविभाग' माना जायगा। इन तीन विभागों के साथ ही हमारे सम्मुख पूर्वोक्त प्रश्न का समाधान स्वतः उपस्थित हो जाता है। परन्त इस समाधान के साथ ही एक दूसरा जटिल प्रश्न और सामने आ जाता है। हमारी भाँति बहुतों को यह ऊहापोह हुआ होगा कि, मनुष्य के सदृश पशु-पक्षी-आदि इतर चेतन जीवों को भी क्या पाप-पुण्य-लगता है ?, क्या इन्हें भी अच्छे बुरे का फल भोगने के लिए यातनाशरीर धारण कर लोकान्तर में जाना पड़ता है ?, दूसरे शब्दों में क्या इन का भी पुनर्जन्म होता है ?, क्या इन में भी वही कर्म्मभोक्ता आत्मा है, जो मनुष्यों में प्रतिष्ठित है ?।

इन सब प्रश्नों का समाधान भी उक्त विभागत्रयी से भलीभाँति गतार्थ बन रहा है। एवं इस गतार्थता के लिए 'जीवात्मा' नामक सुप्रसिद्ध व्यावहारिक शब्द ही पर्य्याप्त बन रहा है। सभी को यह विदित है कि, जीव को आत्मा कहा जाता है, आत्मा जीव माना जा रहा है। यदि यह पर्य्याय-मान्यता ठीक है, तो 'जीवात्मा' का क्या अर्थ ?। एक साथ समानार्थक दोनों शब्दों के प्रयोग का क्या प्रयोजन ?। सहज ज्ञान उत्तर देगा कि, यह पर्य्याय सम्बन्ध नितान्त अशुद्ध है। 'आत्मा' भिन्नार्थक शब्द है, एवं जीव भिन्नार्थक शब्द है। जीव अवश्य ही 'आत्मा' कहा जासकता है, परन्तु आत्मा जीव नहीं माना जासकता। आत्मा अवारपारीण है, जैसाकि पूर्व में बतलाया जा चुका है। जीव सादि सान्त है। पूर्वजन्मानुभूति, आवागमन, पाप-पुण्य आदि का विपर्य्यय, ये सब भाव उन जीवों के साथ युक्त रहते हैं, जिन में अवारपारीण आत्मा की अभिव्यक्ति रहती

है। जिन जीवों में इस आत्मा की अभिव्यक्ति नहीं रहती, दूसरे शब्दों में जो जीव आत्मस्वरूप को अभिव्यक्त करने में असमर्थ रहते हैं, उन में पूर्वजन्मानुभूति की कथा तो विदूर रही, इस जन्म में भी संस्कारों का धारावाहिक क्रम नहीं रह सकता। न इन्हें पाप-पुण्य लगता, न पुनरागमन का ही प्रश्न उठाया जा सकता। मनुष्य, तथा पश्वादि के स्वरूप में यही एक बहुत बड़ा अन्तर है।

मनुष्य नामक संसज्ञजीव जहाँ आत्माभिव्यक्तित्व से युक्त है, वहाँ पश्वादि नामक ससंज्ञजीव इस आत्माभिव्यक्तितत्त्व से वञ्चित हैं। 'मानव' नामक प्राणी आत्माभिव्यक्तितत्त्व से युक्त रहते हुए जहाँ 'जीवात्मा' कहलाएँगे, वहाँ पश्वादि केवल 'जीव' शब्द से ही व्यवहृत होंगे। सहजज्ञान से सम्बन्ध रखने वाली सहजभाषा में इन पश्वादि प्राणियों के लिए 'जीवात्मा' शब्द प्रयुक्त न होकर 'जीव-जन्तु' शब्द ही प्रयुक्त होंगे,हुए हैं। पशुओं में आत्मा की अभिव्यक्ति क्यों नहीं होती ?, इस प्रश्न का उत्तर वही प्राणात्मक ज्ञानप्रपञ्च है, जिसे हमनें ऐन्द्रियक ज्ञान कहा है। ऐन्द्रियकज्ञानप्रधानता ही आत्माभिव्यक्तितत्त्व का कारण है। यही कारण है कि, ऐसे नितान्त मूर्ख, जिनको सिवाय ऐन्द्रियक ज्ञान के कुछ भी बोध नहीं हैं, जो मूढगर्भवत् नितान्त पशुवत् हैं, उन मनुष्यों में भी आत्मा अभिव्यक्त नहीं रहता। फलत: वे भी जड़भरत बनते हुए पशुओं की भाँति ही जीवन्मुक्त बने रहते हैं। इस के अतिरिक्त आत्माभिव्यक्तितत्त्व की चरम सीमा पर पहुँचे हुए वे परमहंस भी अपने आत्मा को जीवसम्बन्ध से पृथक् करते हुए जीवन्मुक्त बन जाते हैं।

तत्त्वतः निष्कर्ष यही है कि, आत्मा सर्वव्यापक है। इस की अपने स्वरूप से सर्वत्र सभी जीवों में यद्यपि अभिव्यक्ति है। तथापि जीवसंस्था की योग्यता के तारतम्य से जीवों में इस की अभिव्यक्ति-अनभिव्यक्ति हो रही है। पुरुष नामक जीव ही इस आत्माभिव्यक्तितत्त्व का मुख्य पात्र है। अतएव जीवसृष्टि में पुरुष ही प्रजापति (ईश्वर) के नेदिष्ठ (समसम्बन्धी-समीपतम) माना गया है, जैसाकि-'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्' (शतपथब्राह्मण) इत्यादि वचन से स्पष्ट है। पश्वादि जीवों में इस अभिव्यक्तितत्त्व का अभाव है, अतएव इन में अवारपारीण-सस्कारों का अभाव है। अतएव ये कर्म्मजनित संस्कारों से विनिर्मुक्त रहते हुए मुक्तवत् हैं। इनकी अपेक्षा वृक्षादि निम्न श्रेणि में हैं। क्योंकि पशुओं में जहाँ पाँचों इन्द्रियों का विकास है, वहाँ इन अन्तःसज्ञ जीवों में केवल त्वगिन्द्रिय का ही विकास है। भूतवर्ग इन से भी अपेक्षाकृत निम्न श्रेणि में प्रतिष्ठित हैं। अतएव यहाँ ऐन्द्रियक विकास का आत्यन्तिक अभाव है। इसप्रकार 'ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय' भेदसे जीववर्ग तीन विभागों में विभक्त रहता हुआ सर्वथा व्यवस्थित बन रहा है।

१-मनुष्याः——————————————ज्ञातृविभागः (संसञ्ज्ञाः-चिन्मयाः)

२-पशु-पक्षि-कृमि-कीट-ओषधि-वनस्पतयः——ज्ञानविभागः (संसञ्ज्ञाः, अन्तःसंज्ञाः चेतनायुक्ताः)

३-धातूपधातवः——————————————ज्ञेयविभागः (असंज्ञाः-अचेतनाः)।

६-सामान्या वेदत्रयी—

प्रासङ्गिक चर्चा समाप्त हुई। अब उस वेदत्रयी का विचार कीजिए, जिस के सम्बन्ध में 'नभ्य-उद्गीथ-सर्व' लक्षण, ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयत्रयीमर्त्ति सत्यप्रजापति का परिच्छेदारम्भ में हो दिग्दर्शन कराया जा

चुका है। यह सत्यप्रजापति अपने नभ्यलक्षण आत्मस्वरूप से केन्द्र में प्रतिष्ठित रहता हुआ सर्वोक्थ बनता हुआ ऋग्वेद है। प्राणलक्षण सर्वभाव महिमात्मक सामवेद है, एवं वागलक्षण उद्गीथभाव यजुर्वेद है। ऋग्वेद छन्दोवेद है, सामवेद वितानवेद है, यजुर्वेद रसवेद है। वागग्निरूप यही रसवेद यज्ञवितान का कारण बनता है। पदार्थमात्र में इस वेदसाधारण का उपभोग हो रहा है। तीनों वेद पदार्थरूप में परिणत होते हुए क्या, क्या कार्य्य करते हैं ?, यह विचार कीजिए। रसवेद वागग्निलक्षण अन्नाद है। अन्नाहुति से स्वस्वरूप को प्रतिष्ठित रखना अन्नादाग्नि का स्वाभाविक धर्म्म है। अपनी इस स्वाभाविक वृत्ति से यह रसाग्नि (यजुः) अन्नका आहरण करता है। इस अन्नयज्ञ के योग–तारतम्य से ही पदार्थों में स्वास्थ्य–क्षय-वृद्धि आदि भावों का उदय होता रहता है। पदार्थों का जीवन, स्थिति, आदानविसर्गात्मक इस अन्नान्नादयज्ञ पर ही अवलम्बित है। यह यज्ञ रसाग्निलक्षण यजुः की ही महिमा है। वस्तुप्रतिष्ठा, एवं वस्तुतत्त्व, ये दोनों कर्म्म इसी रसवेद के हैं। प्रत्येक वस्तु में आकुञ्चन, प्रसारण, ये दो धर्म्म प्रतिष्ठित रहते हैं। ये दोनों धर्म्म प्राणलक्षण वितानवेद (सामवेद) से सम्बन्ध रखते हैं। प्रत्येक वस्तु समीप से बड़ी दिखलाई देती है, दूरसे छोटी प्रतीत होती है। यह ह्रस्व–दीर्घभाव वागलक्षण–छन्दोवेद (ऋग्वेद) से सम्बन्ध रखते हैं। इसप्रकार स्थिति, वस्तुतत्त्व, आकुञ्चन–प्रसारण, ह्रस्व–दीर्घादि भाव त्रयीवेद से ही सञ्चालित हैं। क्योंकि पदार्थमात्र में इन धर्म्मों का समावेश है, अतएव इस वेदत्रयी को हम 'सामान्यवेद' कह सकते हैं। उपलब्ध होने वाले प्रत्येक पदार्थ में तीनों का भोग है। उपलब्धिरूप प्रत्येक प्रत्यय में तीनों का समन्वय है। अतएव * 'विन्दति' भाव को आगे रखने वाली इस वेदत्रयी को हम 'सामान्य' नाम से व्यवहृत कर सकते हैं। लाभार्थिका, सामान्यलक्षणा वेदत्रयी का यही सामान्य–परिचय है। अब विशेष परिचय के लिए क्रमशः तीनों का तात्त्विक–स्वरूप पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जा रहा है।

१०–ऋगलक्षण छन्दोवेद—

मूर्त्ति को ही छन्दोवेद कहा जाता है। यही छन्दोवेद 'ऋग्वेद' है। त्रयीवेद का मूल ऋगग्निलक्षण छन्दोवेद ही माना गया है। अग्नि स्वस्वरूप से त्रिवृत् है, अतएव अग्नि–वायु–आदित्य, ये तीनों अग्निविवर्त्त (प्रत्येक) तीनों से युक्त हैं। ऐसे त्रिवृत् (९) अग्नि से सम्बन्ध रखने वाली, तद्रूपा वेदत्रयी भी अवश्य ही त्रिवृता ही मानी जायगी। एव इसी त्रिवृद्भाव के कारण आदित्यवायुगर्भित अग्निप्रधान ऋग्वेद में भी ऋक्–यजुः–साम का उपभोग मानना पड़ेगा। अग्न्यादित्यगर्भित वायुप्रधान यजुर्वेद में भी तीनों का समन्वय मानना पड़ेगा। एवं अग्निवायुगर्भित आदित्यप्रधान सामवेद में भी तीनों का समन्वय मानना पड़ेगा। इन तीन वेद त्रिकों में से क्रमप्राप्त प्रथम छन्दोवेदलक्षणा, ऋग्–युजुः-साममयी-ऋग्वेदत्रयी के ही संक्षिप्त स्वरूप की मीमांसा की जाती है।

इसी सम्बन्ध में पहिले एक विषय को लक्ष्य में और रख लेना चाहिए। छन्दोलक्षण ऋग्वेद क्योंकि अपने उक्थभाव से वस्तुस्वरूप की प्रतिष्ठा बनता है, अतएव इसे हम 'प्रतिष्ठावेद' कहेंगे। रसलक्षण यजुर्वेद क्योंकि अपने पुरुषभाव से वस्तुस्वरूप का आत्मा बनता है, अतएव इसे 'आत्मवेद' कहा जायगा। एवं वितानलक्षण सामवेद क्योंकि अपने तेजोभाव से वस्तु का (ज्योतिर्ल्लक्षण) महिमामण्डल बनता

---

* सत्तायां विद्यते, ज्ञाने वेत्ति, विन्ते विचारणे।
विन्दते–विन्दति–प्राप्तौ, श्यन्–लुक–श्नम्–शेष्विदं क्रमात् ॥

है, अतएव इसे 'ज्योतिर्वेद' कहा जायगा (देखिए, ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य द्वितीयखण्ड, १६ पृष्ठ से ४६ पृष्ठ पर्य्यन्त)।

प्रतिष्ठालक्षण ऋग्वेद 'ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्त्तिमाहुः', इस तैत्तिरीय श्रुति के अनुसार मूर्त्ति-निर्म्मापक बनता हुआ तद्रूप है। उदाहरण के लिए प्रतिष्ठारूप किसी भी वर्त्तुलाकार (गोलाकार) वस्तु-पिण्ड को सामने रख लीजिए, एवं इसी पिण्ड के आधार पर ऋग्वेदत्रयी का विचार कीजिए। मूर्त्ति छन्दोवेद है, यही ऋग्वेद है। इस सम्बन्ध में यह जिज्ञासा होती है कि, इस मूर्त्ति का स्वरूप क्या है ?। प्रश्नसमाधि के लिए 'पिप्पलादोपनिषत्' (प्रश्नोपनिषत्) के 'रयिप्राण' प्रकरण की ओर ही पाठकोंका ध्यान आकर्षित किया जायगा। तेजः-स्नेह नामक दो तत्त्वों की समन्वितावस्था ही 'मूर्त्ति' है। तेजः पदार्थ वही आपका सुप्रसिद्ध आङ्गिरस अग्नि है, एवं स्नेहतत्त्व सुप्रसिद्ध भार्गव सोम है। तेजोऽग्नि की 'सम्प्रासरण' संज्ञा है, स्नेहसोम की 'संचार' संज्ञा है। अग्नि विशकलनधर्म्मा है, उत्तरोत्तर विकासमान है। सोम संकोचधर्म्मा है, उत्तरोत्तर संहत है। विकासशील इस अग्नितत्त्व का ही नाम 'प्राण' है। एवं संकोचशील सोमतत्त्व ही 'रयि' नाम से व्यवहृत हुआ है। जहाँ विशुद्ध प्राणाग्नि का साम्राज्य है, वहाँ भी वस्तुस्वरूप की उत्क्रान्ति है, एवं जहाँ विशुद्ध रयिप्राण का आधिपत्य है, वहाँ भी वस्तुस्वरूपाभाव है। दोनों के 'याग' नामक रासायनिक मिश्रण (यज्ञ) से ही वस्तुपिण्ड की स्वरूपनिष्पत्ति होती है। जब विशकलनधर्म्मा प्राणाग्नि में संकोचधर्म्मा सोम की (अन्तर्य्यामसम्बन्ध से) आहुति होती है, तभी वह अग्नि उस सोम को अपने गर्भ में ले कर पिण्डरूप में परिणत होता है। पिण्डस्वरूपनिर्म्माण के लिए प्राणाग्नि का, किंवा प्राणाग्नि के स्वाभाविक विकास का मूर्च्छित होना आवश्यक है। यह मूर्च्छाभाव ही पिण्डाविर्भाव का कारण बनता है। एवं सोम ही इस मूर्च्छा-वृत्ति का प्रवर्त्तक है। क्योंकि अपने स्वाभाविक स्नेहधर्म्म से यह स्वयं मूर्च्छित है। अग्नि में हुत होकर यह उसी प्रकार प्राणाग्नि के स्वाभाविक विकास को मूर्च्छित कर देता है, जैसा कि भोजन से पहिले अशनायाके द्वारा प्रदीप्त रहने वाला शारीराग्नि भोजनरूप अन्नसोम को गर्भ में लेते ही मूर्च्छित हो जाता है। भोजनोत्तर अग्नि-विकास का मन्द पड़ जाना सर्वानुभूत है। क्योंकि मूर्च्छित अग्नि मूर्त्ति है, मूर्च्छाभाव मूर्च्छित सोमाहुति पर निर्भर है, अतएव 'मूर्त्ति' का विश्लेषण करते हुए हम प्राणाग्नि-रयिसोम के समतुलन में रयिसोम को ही मूर्त्ति कहेंगे। मूर्त्ति के इसी तात्त्विक स्वरूप को लक्ष्य में रखकर भगवान् पिप्पलाद ने कहा है—"तस्मात्-मूर्त्तिरेव रयिः" (प्रश्नोपनिषत्। १।५।)। अग्निसम्बन्धी, किंवा तद्रूप ऋक् ही रयि (सोम) का सहयोग प्राप्त कर मूर्त्ति (पिण्ड) रूप में परिणत हुई है। इसी आधार पर पूर्व श्रुति का—"ऋक् से सम्पूर्ण मूर्त्तियों को उत्पन्न बतलाते हैं" यह कथन अन्वर्थ बन रहा है।

११—ऋग्वेद के दो दृष्टिकोण—

ऋक्प्रतिष्ठालक्षणा यह मूर्त्ति दो प्रकार से त्रयीवेद की अनुगामिनी बन रही है। एक दृष्टिकोण का दार्शनिकभाव से, एवं दूसरे का विज्ञानभाव से सम्बन्ध है। दोनों में से क्रमप्राप्त दार्शनिकभाव का ही पहिले दिग्दर्शन कराया जाता है। यद्यपि भूमिकाप्रथमखण्ड में 'आत्मप्रतिष्ठाज्योतिर्लक्षणवेदनिरुक्ति' प्रकरण मे इस दृष्टि का दिग्दर्शन कराया जा चुका है—(देखिए, उप० भू० प्र० खं० वै० वेदनिरुक्ति, पृ० ३५)। तथापि सन्दर्भसङ्गति की दृष्टि से यहाँ भी संक्षेप से उस विषय का स्पष्टीकरण अपेक्षित है। सहज-ज्ञान की सहजभाषा में प्रतिष्ठा का अर्थ है—'ठहराव'। दार्शनिकभाषा में इसी के लिए 'अस्ति' शब्द प्रयुक्त हुआ है, जो 'अस्ति' प्रतिष्ठात्रयी का एक पर्वविशेष ही माना जायगा।

जैसकि पूर्व में कहा गया है, मनोमय नभ्यप्रजापति, एवं प्राणमय सर्वप्रजापति, दोनों अव्याकृत बनते हुए अमूर्त हैं। मूर्त है एकमात्र वाङ्मय उद्गीथप्रजापति। यही अपने अव्याकृतरूप से नाम–रूप कर्म्म की व्याकृति की प्रतिष्ठा बन रहा है। प्रतिष्ठातत्त्व वाग्रूप है। यह वाक्तत्त्व अपने स्वाभाविक त्रिवृद्भाव के कारण मनःप्राणवाङ्मय है। अतएव इस एक ही वाक् के मनोमयीवाक्, प्राणमयीवाक्, वाङ्मयीवाक्, ये तीन विवर्त्त हो जाते हैं। इनमें मनोमयी वाक्प्रतिष्ठा 'आत्मधृति' है। प्राणमयी वाक्प्रतिष्ठा 'असतोधृति' है, एवं वाङ्मयी वाक्प्रतिष्ठा 'सतोधृति' है। आत्मधृतिलक्षणा वाक्प्रतिष्ठा (मनः–प्रतिष्ठा) रूपव्याकृति की, असतोधृतिलक्षणा वाक्प्रतिष्ठा (प्राणप्रतिष्ठा) कर्म्मव्याकृति की, एवं असतोधृतिलक्षणा वाक्प्रतिष्ठा (वाक्प्रतिष्ठा) नामव्याकृति की प्रतिष्ठा बनी हुई है। रूप का मनोमयी वाक् से, कर्म्म का प्राणमयी वाक् से, एवं नाम का वाङ्मयी वाक् से सम्बन्ध है, यही तात्पर्य्य है। मन ही वागवच्छेदेन रूपों का, प्राण ही वागवच्छेदेन कर्म्मों का, एव वाक् ही स्वावच्छेदेन नामों की प्रवर्त्तिका बन रही है। नामरूपकर्म्म की समष्टि ही 'मूर्त्ति' है, मनःप्राणवाक् की समष्टि ही मूर्त्तिप्रतिष्ठा है। व्यवहारभाषा में यों कहा जा सकता है कि, मूर्त्तिप्रतिष्ठा मूर्त्ति की अव्याकृतावस्था है, स्वयं मूर्त्ति इसी की व्याकृतावस्था है, जबकि परमार्थतः व्याकृत पदार्थों की अपेक्षा वाक्प्रपञ्च व्याकृत ही माना जायगा।

'अव्याकृत' का सीधासा अर्थ है–'अमृतभाव', एवं व्याकृत की परिभाषा है 'मृत्युभाव'। 'मनः–प्राण-वाङ्मय' सत्यप्रजापति अमृतधर्म्मा बनता हुआ अव्याकृत है। परन्तु स्वयं इसकी तीनों कलाओं का जब विचार किया जायगा, तो मनोमय नभ्यभाव, प्राणमय महिमाभाव, ये दो तो अमृतप्रधान बनते हुए अव्याकृत मानें जायँगे, एवं वाङ्मय उद्गीथभाव मर्त्यसृष्टि का आरम्भक (उपादान) बनता हुआ व्याकृत माना जायगा। इसी दृष्टिकोण से इस वाक् को व्याकृत कह दिया जाता है। परन्तु जब नामरूपकर्म्म की अपेक्षा से वाक् का विचार किया जायगा, तो उस दशा में वाक् को अव्याकृत ही माना जायगा। क्योंकि मर्त्य नामरूपों का उपादान बनता हुआ भी यह वाग्भाव अविकृतपरिणामवाद के अनुसार अमृत ही बना रहता है।

यह कहा गया है कि, मनोमय नभ्यप्रजापति आत्मा है, यही आत्मवेद है, यही रसलक्षण यजुर्वेद है। प्राणमय सर्वप्रजापति महिमा है, यही ज्योतिर्वेद है, यही वितानलक्षण सामवेद है। वाङ्मय उद्गीथप्रजापति मूर्त्ति है, यही प्रतिष्ठावेद है, यही छन्दोलक्षण ऋग्वेद है। तीनों हीं त्रिवृद्भावापन्न हैं। अतएव तीनों में तीनों वेदों का उपभोग रहा है। प्रकृत में तीनों में से त्रिवृत्–वाङ्मय प्रतिष्ठालक्षण छन्दोवेद का ही दिग्दर्शन अपेक्षित है। शेष दोनों त्रयीभावों का आगे आने वाले 'वितानलक्षण सामवेद, रसलक्षण यजुर्वेद' नामक परिच्छेदों में स्पष्टीकरण होगा। नाम साम्य से विषय–सन्दर्भ–सङ्गति में अव्यवस्था सम्भव है। इस विप्रतिपत्ति को दूर करने के लिए यहाँ त्रिवद्भाव की समष्टि उद्धृत कर दी जाती है। इसको लक्ष्य में रखते हुए ही दार्शनिकदृष्टि से सम्बन्ध रखने वाले तीनों वेदविवर्त्तों पर क्रमिक दृष्टि डालना उपयुक्त होगा—

※ सत्यप्रजापतिः—

१—नभ्यप्रजापतिः——आत्मा (मनः—अव्याकृतम्)—यजुर्वेदो रसात्मकः	अव्याकृतप्रजापतिः
२—सर्वप्रजापतिः——प्राणः (प्राणः—अव्याकृतः)—सामवेदो वितानात्मकः	
३—उद्गीथप्रजापतिः—पशवः (वाक्—व्याकृता)—ऋग्वेदश्छन्दोमयः	

१—नभ्यप्रजापतिस्त्रिवृतः—(मनःप्राणवाङ्मयः—अव्याकृतः)। (मनः)—आत्मा। (यजुः)

रसदेवत्रयी	१—मनोमयं मनः (मनः)—आत्मा (अव्याकृतः)—ऋग्वेदो रसात्मकः
	२—मनोमयः प्राणः (मनः)—प्राणाः (अव्याकृताः)—सामवेदो रसात्मकः
	३—मनोमयी वाक् (मनः)—पशवः (व्याकृताः)—यजुर्वेदो रसात्मकः

२—सर्वप्रजापतिस्त्रिवृतः—(मनःप्राणवाङ्मयः—अव्याकृतः) (प्राणः)—प्राणः। (साम)

वितानवेदत्रयी	१—प्राणमयं मनः (प्राणः)—आत्मा (अव्याकृतः)—ऋग्वेदो वितानात्मकः
	२—प्राणमयः प्राणः (प्राणः)—प्राणाः (अव्याकृताः)—सामवेदो वितानात्मकः
	३—प्राणमयी वाक् (प्राणः)—पशवः (व्याकृताः)—यजुर्वेदो वितानात्मकः

३—उद्गीथप्रजापतिस्त्रिवृतः—(मनःप्राणवाङ्मयः—व्याकृतः) (वाक्)—पशवः। (ऋक्)

छन्दोवेदत्रयी	१—वाङ्मयं मनः (वाक्)—आत्मा (व्याकृतः)—ऋग्वेदश्छन्दोमयः
	२—वाङ्मयः प्राणः(वाक्)—प्राणाः (व्याकृताः)—सामवेदश्छन्दोमयः
	३—वाङ्मयी वाक् (वाक्)—पशवः(व्याकृताः)—यजुर्वेदश्छन्दोमयः

१२-प्रतिष्ठात्रयी (धृतित्रयी) का मौलिक रहस्य—

प्रतिष्ठावेदत्रयी ही छन्दोवेदत्रयी है, यही प्रकृत परिच्छेद का मुख्य लक्ष्य है। प्रत्येक वस्तु ठहरी हुई सी प्रतीत होती है। यह ठहराव तीन भावो में विभक्त किया जा सकता है। 'अस्ति' रूप ठहराव एक प्रकार का ठहराव है। 'वस्तु है' यही एक प्रतिष्ठाभाव है। जिस दिन अस्तिलक्षणा यह प्रतिष्ठा इस वस्तु से निकल जाती है, वस्तु का अस्तित्व मिट जाता है। आत्मसत्ता से जैसे शरीर सत् है, एवमेव इस अस्तिप्रतिष्ठा से वस्तु सत् है। अतएव इस अस्तिप्रतिष्ठा को अवश्य ही 'आत्मप्रतिष्ठा' कहा जा सकता है। यह प्रतिष्ठा वस्तु का ब्रह्मौदन है, अपना भाग है। इसे कोई अपहृत नहीं कर सकता। प्रत्येक पदार्थ भागधेयलक्षण इस अपने अपने अस्तित्व का आप ही भोक्ता है। अतएव इसे 'स्वप्रतिष्ठा' भी कहा जा सकता है। इसी ने वस्तुस्वरूप को 'अस्ति' रूप से अपने ऊपर धारण कर रक्खा है, अतएव इसे 'आत्मविधृति' भी कहा जा सकता है। स्वसत्ता, स्वप्रतिष्ठा, अस्तित्वप्रतिठा, आत्मप्रतिष्ठा, आत्मविधृति, इत्यादि अनेक नामो से प्रसिद्ध यही पहिली वाङ्मय-मनोमयी आत्मसत्ता है। इसी से- 'घटोऽस्ति'-'घटो विद्यते'-'अहमस्मि' इत्यादि व्यवहार प्रतिष्ठित हैं।

दूसरा पर्व असल्लक्षण है। प्राणतत्त्व का ही नाम 'असत्' है (देखिए शत० ६।१।१।१।)। असत् नाम से व्यवहृत, किन्तु सद्रूप प्राण ही वागवच्छेदेन, दूसरे शब्दों में प्राणमयी, अतएव असद्नाम से व्यवहृता किन्तु सद्रूपा वाक् ही वाङ्मय पदार्थों के जन्मभाव का आरम्भक बनी हुई है। प्रत्येक पदार्थ अपने जन्म से पहले 'असत्' रहता है। जब असद्रूप (प्रागभावरूप) इस पदार्थ में असद्रूपा (प्राणमयी वाग्रूपा) सत्ता का प्रवेश होता है, तभी प्रागभावलक्षण पदार्थ उत्पन्न होते हैं। यह घट अभी नहीं है। कुम्भकार ने वाग्रूपा मृत्तिका में अपने हाथों का असद्रूप प्राण (बल) डाला। कालान्तर में इस प्राणसत्ता से वह चक्रावच्छिन्न मृद्भाग घटरूप में परिणित हो गया। यह सत्ता स्वयं घट की सत्ता नहीं है। अपितु मृत्सत्ता से घट सत् बन रहा है। मृत् में पानी की सत्ता, पानी में अग्निसत्ता, अग्नि में वायुसत्ता, वायु में आकाशसत्ता, इसप्रकार पाँचों भूतों में सत्ता का उत्तरोत्तर अनुगमन हो रहा है। पाँचों भूतों की उत्पत्ति परसत्ता को लेकर हुई है। पाँचों ही भूत स्वस्वरूप से असत् हैं, परसत्ता से सत् बने हुए हैं। जब तक यह जन्ममूला परसत्ता इनमें प्रतिष्ठित रहती है, तभी तक इनकी स्वरूपरक्षा है। उस आत्मसत्ता ने परम्परया इन असत् पदार्थों के स्वरूप निर्म्माण के लिए आत्मसमर्पण कर रक्खा है। यही इन पदार्थों की 'असतोधृति' है। क्योंकि इस परसत्ता ने असत् पदार्थों को अपने ऊपर धारण करते हुए इन्हें सद्रूप बना रक्खा है, अतएव (असत्-पदार्थों के धारण करने से ही) इस परप्रतिष्ठा को 'असतोधृति' कहना अन्वर्थ बनता है, जिसका कि परम्परया पूर्वोक्त आत्मविधृतिलक्षणा स्वप्रतिष्ठा पर ही पर्य्यवसान हो रहा है।

प्रश्न हो सकता कि, जब वही आत्मसत्ता-**'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः'** इत्यादि औपनिषद सिद्धान्त के अनुसार पञ्चभूतों में प्रविष्ट होती हुई पाञ्च-भौतिक पदार्थों में प्रतिष्ठित है, एवं इसी को जब 'परप्रतिष्ठालक्षणा' असतोधृति कहा जाता है, तो पूर्वप्रतिपादिता स्वप्रतिष्ठालक्षणा आत्मविधृति, और इस असतोधृति के स्वरूप में भेद क्या रहा ?, किस आधार पर दो भेद माने गए ?। प्रश्न यथार्थ है। साथ ही निरुपाधिक सत्ताभाव की दृष्टि से आत्मप्रतिष्ठा ही परप्रतिष्ठा है, परप्रतिष्ठा ही आत्मप्रतिष्ठा है। परन्तु सोपाधिकभावमूलक द्वैतविवर्त्त में दोनों के सर्वथा विभिन्न दो क्षेत्र हो जाते हैं। पूर्वकथनानुसार जिन

पदार्थों में आत्माभिव्यक्तित्व नहीं है, उन्हें छोड़ते हुए आत्माभिव्यक्तित्व के सत्पात्र मनुष्यविवर्त्त को उदाहरण बनाइए ।

हमारी अध्यात्मसंस्था में **'आत्मा-शरीर'** दो पर्व हैं । आत्मा अविनाशी है, अनुच्छित्तिधर्म्मा है । शरीर विनाशी है, उच्छित्तिधर्म्मा है । जीवनदशा में आत्मा भी है, शरीर भी है । जब आत्मा (जीव) निकल जाता है, तब शरीर यहीं पड़ा रह जाता है । इसी स्थिति का 'शरीर रह गया, आत्मा निकल गया' इस रूप से अभिनय किया जाता है । यही अभिनय सत्ताभेद का सूचक बन रहा है । पाञ्चभौतिक शरीर आत्मसत्ताकाल में चलता फिरता था, इसमें जीवनीय रस था । आत्मसत्ताभावकाल में शरीर स्थिर यष्टिवत् पड़ा रहता है, केवल यही अन्तर है। परन्तु शरीर शरीरत्वेन आज भी है । पाञ्चभौतिक शरीर का संगठन, आकार ज्यों का त्यों विद्यमान है । यदि प्रयोगविशेषों का उपयोग किया जाता है, तो बरसों शरीर शरीररूप से रह सकता है । यह शरीर का अस्तित्व जहाँ परप्रतिष्ठालक्षणा 'असतोधृति' कहलावेगा, वहाँ स्वप्रतिष्ठालक्षणा आत्म-सत्ता 'आत्मविधृति' कहलाएगी । वही आत्मा साक्षात् रूप से, किंवा सूर्यद्वारा, किंवा अन्नरसद्वारा हमारा आत्मा (जीवात्मा) बनता हुआ आत्मविधृति बन रहा है, अहंलक्षण आत्मा बन रहा है, स्वप्रतिष्ठा बन रहा है । एव वही आत्मा 'आकाश-वायु-अग्नि-जल-मृत्-शरीर-' इन असद्भावों में परम्परया प्रविष्ट बनता हुआ इनका भी स्वरूपसमर्पक बन रहा है । यही उसका पाञ्चभौतिक शरीरानुबन्धी 'असतोधृति' नामक दूसरा विवर्त्त है । आत्मविधृति नभ्य-आत्मानुग्राहिणी है, असतोधृति पिण्डशरीरानुग्राहिणी है । आत्मधृति का सत्पदार्थ से साक्षात् सम्बन्ध है, अतएव यह स्वप्रतिष्ठा है । असतोधृति भूतपरम्परया आगत है, अतएव यह परप्रतिष्ठा है । इसप्रकार क्षेत्रभेद (आत्मक्षेत्र, शरीरक्षेत्र-भेदों) से दोनों प्रतिष्ठाओं का पार्थक्य भलिभाँति सिद्ध हो जाता है ।

स्वप्रतिष्ठालक्षणा आत्मप्रतिष्ठा, एवं परप्रतिष्ठालक्षणा शरीरप्रतिष्ठा, इनमें से दूसरी शरीरप्रतिष्टा के आगे जाकर शरीरप्रतिष्टा, भूतप्रतिष्ठा, भेद से दो विवर्त्त हो जाते हैं । जन्म से पूर्व सर्वथा असत् (प्रागभाव) रूप बने हुए पार्थिव पदार्थ उस परप्रतिष्ठा से आज सत् बन रहे हैं । प्रागभावावस्था भावावस्था में परिणत हो रहीं हैं । अतएव आत्मधृतिगर्भित असतोधृतिरूप इन पदार्थों को हम 'सत्' कह सकते हैं । सद्रूप ये भौतिक पदार्थ एक दूसरे के आधार पर प्रतिष्ठित हो रहे हैं । आकाशाधारपर वायु, वायु पर अग्नि, अग्नि पर जल, जल पर मिट्टी, मिट्टी पर पार्थिव पदार्थ प्रतिष्ठित हैं । असतोधृति का **'तत्सष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'** से सम्बन्ध है । एवं इस तीसरी प्रतिष्ठा का केवल आधारभाव से सम्बन्ध है ।

आधार आलम्बन (आश्रय) नाम से प्रसिद्ध है । यह आधार सर्वतः आधार, एकतः आधार, भेद से दो भागों में विभक्त है । सर्वतः आधार को वैदिकभाषा में **'आवपन'** कहा जाता है, एकतः आधार को 'आयतन' कहा जाता है । घट में प्रतिष्ठित रहने वाली असतोधृति घट का आपवनलक्षण आधार है । बाहिर-भीतर-चारों ओर-सब ओर से मृण्मयी असतोधृति घट का आधार बन रही है । मृण्मयी पृथिवी का आवपनाधार जलसत्ता है, जलसत्ता का आवपन अग्निसत्ता है, अग्निसत्ता का आवपन वायुसत्ता है, वायुसत्ता का आवपन आकाशसत्ता है । यही सर्वतः-आधारलक्षण असतोधृति नाम की शरीरप्रतिष्ठा है । यही 'तत्सष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' है । मृण्मयी आवपनरूपा असतोधृति से सद्रूप बने हुए पार्थिव पदार्थ

किस पर प्रतिष्ठित हैं ?, पृथिवी पर । पृथिवी ही पार्थिव पदार्थों का आयतन (एकतः आधार) है । आपोमयी असतोधृति से सद्रूप बनी हुई पृथिवी का आयतन कौन ?, समुद्र (पानी)—'**समुद्रमभितः पिन्वमानम्**' । अग्निमयी असतोधृति से सद्रूप बने हुए पानी का आयतन कौन ?,-'अग्नि' (सम्वत्सरअग्नि) । वायुमयी असतोधृति से सद्रूप बनने वाले अग्नि का आयतन कौन ?, वायु (पारमेष्ठ्य वायुसमुद्र) । आकाशमयी असतोधृति से सद्रूप बने हुए वायु का आयतन कौन ?, * "**आकाश एव सर्वेषां भूतानामेकायतनम्**" ।

छोटे आकार का भौतिक पदार्थ अवश्य ही किसी न किसी बड़े आकर के भौतिक पदार्थ पर प्रतिष्ठित रहता है । यही आयतनलक्षणा, एकतः आधारभूता तीसरी भूतप्रतिष्ठा है । यही शरीरप्रतिष्ठा का दूसरा पर्व है । इनमें प्रतिष्ठा बना हुआ भूत भी सत् है, प्रतिष्ठित पदार्थ भी सत् है । एक बड़े सत् ने अपने ऊर्ध्व पृष्ठ पर दूसरे सत् का अधःपृष्ठ अपने ऊपर प्रतिष्ठित कर रक्खा है । इस सद्भूत के सम्बन्ध से ही हम इस तीसरी प्रतिष्ठा को '**सतोधृति**' कह सकते हैं । आत्मविधृतिलक्षणा प्रतिष्ठा नित्या है, असतोधृतिलक्षणा शरीरप्रतिष्ठा भूतपर्वों के स्वप्रभवों में विलयन होने से पहिले पहिले तक प्रतिष्ठित है । सतोधृतिलक्षणा भूतप्रतिष्ठा इसी जीवन में बदलती रहती है । आत्मविधृति की मूलप्रतिष्ठा मनोमय पुरुष है, असतोधृति की मूलप्रतिष्ठा प्राणमयी प्रकृति है, एवं सतोधृति की मूलप्रतिष्ठा वाङ्मयी विकृति है । ज्ञातृप्रधान मानव वर्ग में पुरुषानुगृहीता आत्मप्रतिष्ठा की प्रधानता है, ज्ञानप्रधान पश्वादिवर्ग में प्रकृत्यनुगृहीता असतोधृति की प्रधानता है, एवं ज्ञेयप्रधान धातुवर्ग में विकृत्यनुगृहीता सतोधृति की प्रधानता है । आत्मप्रतिष्ठा में शाश्वतनित्यता है, शरीरप्रतिष्ठा में धारावाहिक नित्यता है, एवं भूतप्रतिष्ठा में क्षणिक अनित्यता है । इसप्रकार तारतम्य से प्रत्येक पदार्थ में तीनों प्रतिष्ठाओं का साक्षात्कार किया जा सकता है ।

१३-प्रतिष्ठात्रयी, और वेदत्रयी—

पूर्वोक्त तीनों धृतियाँ हीं क्रमशः ऋक्, साम, यजुर्वेद हैं । 'उक्थ-ब्रह्म-साम' ही तीनों वेदों की सामान्य भाषा है (देखिए, भू० १ ख० वै० नि० ३५) । उक्थ ही ऋक् है, ब्रह्म ही यजु है, साम ही साम है । यह स्मरण रखने की बात है कि, भूमिकाप्रथमखण्ड के तत्प्रकरण में हमनें आत्मधृति को उक्थस्थानीय

* १-"**आकाशाद्योनेः सम्भूतः**" (कौषीतकि० १।६।) ।
२-"**अस्य लोकस्य का गति रिति ?, आकाश इति**" (छान्दोग्य० १।६।१।) ।
३-"**इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते, आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति**" (छां० १।६।१।) ।
४-"**आकाशो ह्येवैभ्यो (भूतेभ्यो) ज्यायान, आकाशः परायणम्**" (छां० १।६।१।)

ऋग्वेद, असतोधृति को प्राणस्थानीय यजुर्वेद, सतोधृति को वाक्स्थानीय सामवेद कहा है। एवं यहाँ ठीक इसके विपरीत आत्मधृति को ऋग्वेद, असतोधृति को सामवेद, एवं सतोधृति को यजुर्वेद कहा जा रहा है। अवश्य ही सामान्य दृष्टि से दोनों निरुक्तियों में विरोध प्रतीत हो रहा है। परन्तु दृष्टिकोणभेद से दोनों का समन्वय हो रहा है। बात एक ही है, केवल शब्दों में अन्तर है। यही क्यों, इसी सम्बन्ध में एक तीसरी दृष्टि और है, जिसका ईशभाष्य में स्पष्टीकरण हुआ है। उसका भी तत्त्वतः निर्विरोध समन्वय हो रहा है। द्वितीयखण्डारम्भ में ही हम यह निवेदन कर चुके हैं कि, वेदपदार्थ सर्वथा ऋजु रहता हुआ भी परिभाषाज्ञानविलुप्ति से आज हमारे लिए जटिल समस्या बन रहा है। यही कारण है कि, सामान्य दृष्टि से अवलोकन करने पर हमारे ही पूर्वापरग्रन्थों में पाठकों को विरोध प्रतीत होने लगता है। इस आक्षेप से बचने के लिए, साथ ही वेदतत्त्व के यथावत् समन्वय की दृष्टि से भी यह आवश्यक है कि, इस वेदनिरूपणात्मक प्रकरण में उन पूर्वापर-विरोधों का यथासम्भव निराकरण कर दिया जाय। प्रस्तुत खण्ड से पहिले ईशभाष्य द्वितीय खण्ड की वेदनिरुक्ति में (पृ० सं० १२ से ४६ पर्य्यन्त), एवं उपनिषद्भूमिका प्रथमखण्ड की 'आत्मज्योतिप्रतिष्ठालक्षणवेदनिरुक्ति' प्रकरण में (पृ० सं० ३१ से ३८ पर्य्यन्त) त्रिवृद्भावापन्न वेदत्रयी का निरूपण हुआ है। प्रकृत स्थल उसी वेदत्रयी-प्रकरण का तीसरा उपबृंहण है। साथ ही दृष्टिकोणभेद से तीनों ही स्थल पार्थक्य से सम्बन्ध रख रहे हैं। इतर ग्रन्थोक्त दोनों निरुक्तियों को सामने रख लीजिए, तदनन्तर प्रकृत निरुक्ति का विचार कीजिए। इस समतुलन से निम्नलिखित रूप से तीन विवर्त्त पाठकों के सम्मुख उपस्थित होंगे। तीनों में से दो विवर्त्तों का स्वरूप तो तद्ग्रन्थों में ही देखना चाहिए। यहाँ तुलना के लिए उनकी केवल तालिका उद्धृत कर दी जाती है। तीसरी त्रयी में से प्रकृत में केवल छन्दोवेदलक्षणा त्रयी का ही स्पष्टीकरण हुआ है। शेष दोनों त्रिकों का आगे आने वाले वेदप्रकरणों में स्पष्टीकरण किया जायगा। निरर्थक प्रतीयमाना पुनरुक्ति,तथा विस्तारदोष भी विषयसमन्वय की दृष्टि से महान् प्रयोजन से ही अनुप्राणित माने जायँगे।

१– ईशोपनिषत्–प्रतिपादितवेदत्रयीविवर्त्त—(अग्निवेदविवर्त्तम्)

अग्निर्वेदस्त्रयीवेदः—(मूलवेदः)।

१–आत्मवेदः––आनन्दः––(आनन्दः) – यजुर्वेदः
* २–प्रतिष्ठावेदः––सत्ता –– (सत्)––ऋग्वेदः
३–ज्योतिर्वेदः––चेतना ———(चित्)––सामवेदः
} "अग्निमयो–मूलवेदः"

*

यजुः १
१–उक्थम्––उक्थवेदः·········ऋग्वेदः
२–ब्रह्म——ब्रह्मवेदः·········यजुर्वेदः
३–साम——सामवेदः·········सामवेदः
} आत्मवेदः—यजुर्वेदः––यजुरग्निः (वायुः)।

*

ऋक् २
१–आत्मा—आत्मधृतिवेदः······ऋग्वेदः
२–धृतिः—–असतोधृतिवेदः······यजुर्वेदः
३–विधृतिः––सतोधृत्तिवेदः······सामवेदः
} प्रतिष्ठावेदः–ऋग्वेदः–ऋगग्निः (अग्निः)

*

साम ३
१––आत्मा–ज्ञानज्योतिर्वेदः······ऋग्वेदः
२—भूतानि–भूतज्योतिर्वेदः······यजुर्वेदः
३––नामरूपे–सत्यज्योतिर्वेदः······सामवेदः
} ज्योतिर्वेदः–सामवेदः–सामाग्निः (आदित्यः)

*

१–यजुः———यजुर्वेदत्रयी–– वाक्प्राणमनोमयी मनःप्रधाना, आनन्दलक्षणा––'रसवेदत्रयी'।
२–ऋक्———ऋग्वेदत्रयी––मनोवाक्प्राणमयी प्राणमयी प्राणप्रधाना, सल्लक्षणा–'छन्दोवेदत्रयी'।
३–साम———सामवेदत्रयी—मनःप्राणवाङ्मयी वाक्प्रधाना चिल्लक्षणा "वितानवेदत्रयी'।

२–उनिषद्भूमिकाप्रथमखण्डप्रतिपादित–वेदत्रयीविवर्त्त—

(क)

१–आनन्दः—ज्ञानशक्तिमयं मनः (आनन्दविकासभूमिः)

२–चेतना——क्रियाशक्तिमयः प्राणः (चेतनाविकासभूमिः)

३–सत्ता——अर्थशक्तिमयी वाक् (सत्ताविकासभूमिः)

१–आनन्दात्मकः—मनोमय आत्मा—आत्मा

२–चेतनात्मकः——प्राणमय आत्मा—ज्योतिः

३–सत्तात्मकः———वाङ्मय आत्मा—प्रतिष्ठा

१–आनन्दात्मको मनोमय आत्मा—आत्मा—(आत्मा) आत्मवेदः—रसवेदः (यजुर्वेदः) ।

२–चेतनात्मकः प्राणमय आत्मा—आत्मा—(ज्योतिः) ज्योतिर्वेदः—वितानवेदः (सामवेदः)

३–सत्तात्मको वाङ्मय आत्मा——आत्मा—(प्रतिष्ठा) प्रतिष्ठावेदः—छन्दोवेदः (ऋग्वेदः)

(ख)

१–तदित्थमानन्दात्मके मनोमये आत्मलक्षणे युजर्वेदे मनसस्त्रिवृद्भावाद्वेदत्रयोपभोगः ।

१–आनन्दगर्भितं मनोमयं मनः——(मनः)—सामवेदः

२–आनन्दगर्भितो मनोमयः प्राणः——(मनः)—यजुर्वेदः

३–आनन्दगर्भिता मनोमयी वाक् (मनः)—ऋग्वेदः

(उपर्युक्त तीनों) } आत्मवेदत्रयी–मनोमयी—"मनः"[१]

२–तदित्थं चेतनात्मके प्राणमये ज्योतिर्लक्षणे सामवेदे प्राणस्य त्रिवृद्भावाद्वेदत्रयोपभोगः।

१–चेतनागर्भितं प्राणमयं मनः (प्राणः)—ज्ञानज्योतिः—ऋग्वेदः
२–चेतनागर्भितः प्राणमयः प्राणः (प्राणः)—भूतज्योतिः—यजुर्वेदः
३–चेतनागर्भिता प्राणमयी वाक् (प्राणः)—सत्यज्योतिः—सामवेदः

} ज्योतिर्वेदत्रयी प्राणमयी "प्राणः" [२]

३–तदित्थं सत्तात्मके वाङ्मये प्रतिष्ठालक्षणे ऋग्वेदे वाचस्त्रिवृद्भावाद्वेदत्रयोपभोगः।

१–सत्तागर्भितं वाङ्मयं मनः (वाक्)—आत्मधृतिः—ऋग्वेदः
२–सत्तागर्भितो वाङ्मयः प्राणः (वाक्)—असतोधृतिः—यजुर्वेदः
३–सत्तागर्भिता वाङ्मयी वाक् (वाक्)—सतोधृतिः—सामवेदः

} प्रतिष्ठावेदत्रयी-वाङ्मयी "वाक्" [३]

प्रकारान्तरेण समन्वयो द्रष्टव्यः—

(क)

१–आत्मवेदः—आनन्दः–आनन्दः–यजुर्वेदः
२–ज्योतिर्वेदः—चेतना—चित्—सामवेदः
३–प्रतिष्ठावेदः—सत्ता—सत्—ऋग्वेदः

} —"सच्चिदानन्दवेदत्रयं।"

(ख)

१–उक्थं–उक्थवेदः—ऋग्वेदः
२–ब्रह्म—ब्रह्मवेदः—यजुर्वेदः
३–साम—सामवेदः—सामवेदः

—आत्मवेदो वेदत्रयात्मकः—"यजुर्वेदः"—"आनन्दः[१]"

१–आत्मा—आत्मघृतिवेदः—ऋग्वेदः
२–घृतिः—असतोघृतिवेदः—यजुर्वेदः
३–विघृतिः—सतोघृतिवेदः—सामवेदः

—प्रतिष्ठावेदो वेदत्रयात्मकः—"ऋग्वेदः"—"सत्ता[२]"

१–आत्मा—ज्ञानज्योतिर्वेदः—ऋग्वेदः
२–भूतानि—भूतज्योतिर्वेदः—यजुर्वेदः
३–नामरूपे–सत्यज्योतिर्वेदः—सामवेदः

—ज्योतिर्वेदो वेदत्रयात्मकः—"सामवेदः"—"चेतना[३]"

उक्त तालिकाओं में से ईशतालिका में सत्तालक्षण प्रतिष्ठावेद को 'ऋग्वेद' कहा गया है। आगे जाकर इसी के तूल विवर्त्त में आत्मघृति को ऋग्वेद कहा है, असतोघृति को यजुर्वेद माना है, सतोघृति को सामवेद माना है। आत्मघृति का मनोभाव से, असतोघृति का प्राणभाव से, एवं सतोघृति का वाग्भाव से सम्बन्ध मानते हुए मन का ऋग्वेद से, प्राण का यजुर्वेद से, एवं वाक् का सामवेद से सम्बन्ध सिद्ध किया गया है। और इस सिद्धि का कारण यह बतलाया गया है कि, मनोमयी आत्मघृति इतर दोनों घृतियों का प्रस्ताव बनती हुई उक्थरूपा 'ऋक्' है। वाङ्मयी सतोघृति आत्मघृति से समतुलित है। अतएव 'ऋचा समं मेने' परिभाषानुसार इसे 'साम' कहना अन्वर्थ बनता है। असतोघृति में कार्य्य–कारणसत्ता का परस्पर यजन है। कार्य में कारण-सत्ता का योग हो जाना ही असतोघृति है। इस 'यजनात्' से यह सतोघृति यजु कहला सकती है। इसप्रकार प्रस्ताव, ऋचासम, यजनात्, भाव ही वहाँ तीनों को ऋक्–साम–यजुः–शब्द से व्यवहृत करने के कारण बने हैं।

भूमिकाप्रथमखण्ड की वेदतालिका में भी सत्तालक्षण प्रतिष्ठावेद को ही ऋग्वेद माना गया है। एवं इस दृष्टि से ईशभाष्य, तथा भूमिका, दोनों निर्विरोध हैं। मनोमयी आत्मघृति को वहाँ ऋग्वेद माना गया है, प्राणमयी असतोघृति को यजुर्वेद माना गया है, वाङ्मयी सतोघृति को सामवेद कहा गया है। इसप्रकार सत्तात्मिका त्रिवृद्वाक् से सम्बन्ध रखने वाला भूमिकाविवर्त्त ईशविवर्त्त से सर्वथा समतुलित है।

उक्त दोनों विवर्त्तों को लक्ष्य में रखते हुए अब प्रकृत स्थल का विचार कीजिए । प्रकृत में मनः–प्राण–वाङ्मयी, सत्तालक्षणा, पशुरूपा वाक् को ही ऋग्वेद माना गया है, एवं इसी को छन्दोवेद कहा गया है । इस अंश में तो इसका उक्त–दोनों विवर्त्तों के साथ निर्विरोध समतुलन है । अन्तर है—अवान्तर पर्वों में । आत्मधृति मनोमयी है, यही ऋग्वेद है । असतोधृति प्राणमयी है, यही सामवेद है । सतोधृति वाङ्मयी है, यही यजुर्वेद है । इस दृष्टि से जहाँ उक्त विवर्त्तों में प्राणमयी असतोधृति यजुर्वेद था, वाङ्मयी सतोधृति सामवेद था, ठीक इसके विपरीत यहाँ प्राणमयी असतोधृति को सामवेद माना गया है, वाङ्मयी सतोधृति को यजुर्वेद माना गया हैं । कारण इस दृष्टि का यही है कि, आत्मधृति तो सर्वमूल बनने से उक्थस्थानीया बनती हुई ऋग्वेद है ही । प्राणलक्षणा असतोधृति का कारण–कार्य्यरूप में उत्तरोत्तर वितान होता है । वितान ही साम है । इस दृष्टि से यहाँ प्राणात्मिका असतोधृति सामवेद मान लिया गया है । यजनदृष्टि से जहाँ इसे (* दार्शनिक भाव में) यजुर्वेद कहा जायगा, वहाँ कार्य्यकारणरूप वितानभाव की दृष्टि से इसे सामवेद भी कहा जा सकेगा । वाङ्मयी असतोधृति को यहाँ यजुः कहने का एकमात्र कारण यही है कि, वाङ्मयी वाक् पशुलक्षणा है । पशु-भाव (अन्नलक्षण मर्त्यभाव) ही परस्पराहुति के द्वारा यज्ञ का स्वरूपसमर्पक बन जाता है । इस दृष्टि से यहाँ 'यजन' सम्बन्ध घटित है । अतएव इसे यजुः कहना अन्वर्थ बन जाता है । ऋचा–समतुलन दृष्टि से जहाँ इसे साम कहने में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती, वहाँ यजनभावापेक्षया यजुः कहने में भी कोई संकोच नहीं किया जा सकता । इसप्रकार तात्त्विक वैज्ञानिकदृष्टि से जहाँ तत्त्वतः सब पदार्थ नियत हैं, वहाँ दार्शनिकदृष्टि भेद से भिन्नवत् प्रतीत होने वाले पदार्थों का भी समन्वय किया जा सकता है । प्रकृत में इस प्रासङ्गिक दार्शनिक दृष्टि के सम्बन्ध में यही कहना है कि—अस्तिमत् प्रत्येक वस्तु के अस्तिलक्षण प्रतिष्ठातत्त्व को तीन भागों के आधार पर त्रयीरूप से देखा जा सकता है । अस्तित्रयी के अनुग्रह से वस्तुपिण्डलक्षण केवल छन्दोवेद (ऋग्वेद) में हीं तीनों वेदों का उपभोग हो रहा है । अब क्रमप्राप्त वैज्ञानिकभावानुबन्धी तत्त्ववाद की ओर तत्त्वज्ञों का ध्यान आकर्षित किया जाता है ।

केवल वस्तुपिण्ड से सम्बन्ध रखने वाले वस्तुपिण्डावच्छिन्न, वस्तुपिण्डाकारमूर्त्ति, छन्दोलक्षण–ऋग्वेद का वैज्ञानिक समन्वय करने से पहिले इस वेदत्रयी (छन्दोवेदत्रयी) की परिभाषा जान लेना आवश्यक होगा । एवं इस आवश्यकता की पूर्त्ति के लिए छन्दोवेदत्रयी के ऋक्–साम–यजुः–पर्वों का स्पष्टीकरण वाले निम्नलिखित श्रौत वचनों को अवधान पूर्वक लक्ष्य में रख लेना अत्यावश्यक होगा—

१४—छन्दोवेदमयीं ऋक्परिभाषाएँ—(१)

१—"अथेमानि प्रजापतिर्ऋक्यपदानि शरीराणि सञ्चित्याऽभ्यर्चत् ।
यदभ्यर्चत, ता एवर्चोऽभवत" (जै० उ० ब्रा० १।१५।६।) ।

"मध्य प्रजापति ने ऋक्पदरूप शरीरों को संचिति से प्रस्तुत किया । इस प्रस्तुति से ही शरीर-लक्षण पद (पिण्ड) ऋच् नाम से प्रसिद्ध हुआ" ।

---

* दार्शनिक भावों का केवल दृष्टि से सम्बन्ध है । यहाँ दृष्टिकोणभेद से पदार्थव्यवहारों में विपर्य्यय हो जाता है ।

२—"अस्थि वा ऋक्" (शत० ७।५।२।२५।)—'अस्थि (घनवस्तुपिण्ड) ही ऋक् है'।

३—"स (प्रजापतिः) ऋचैव आशंसत्" (कौ० ब्रा० ६।१०)। 'उस प्रजापति ने ऋक् से ही शंसन (विभक्ति-विभाग-लक्षण शस्त्र) कर्म्म किया"।

४—"महदुक्थं-ऋचां समुद्रः" (शत० ६।५।२।१२।) 'महदुक्थ (वस्तुपिण्ड) ऋचाओं का समुद्र है'।

५—"ऋग्वेदाद् गार्हपत्योऽजायत" (षड्विंशब्रा० ४।१।) 'ऋग्वेद से गार्हपत्य (पिण्ड) उत्पन्न हुआ"।

६—"अयं लोक ऋग्वेदः" (ष० १।५।)–'यह (पिण्ड) लोक ऋग्वेद है"।

७—"ऋक्सम्मिता वा इमे लोकाः" (कौ० ब्रा० ११।१।) 'ये (महिमात्मक) लोक ऋक् (पिण्ड) से समतुलित हैं'।

८—"ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्त्तिमाहुः" '(तै० ब्रा० ३।१२।६।१।) 'ऋचाओं से ही सम्पूर्ण मूर्त्तियों (पिण्डों) की उत्पत्ति मानी गई है'।

९—"वागेव ऋक्" (शत० ४।६।७।५।)–'(सतोधृतिलक्षणा वाङ्मयी) वाक् ही ऋक् है"।

—x:x:x:x—

१५–छन्दोवेदमयीं यजुः-परिभाषाएँ—(२)

१—"यजो ह वै नामैतद्यद्यजुरिति" (शत० ४।६।७।१३)–'ऋक्-साम को मिलाने से 'यज' नाम से प्रसिद्ध तत्त्व (हृदय) ही यजु कहलाया है"।

२—"प्राणो वै यजुः। प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि युज्यन्ते" (शत० १४।८।१४।२।) 'प्राण (नभ्य प्रजापति) ही यजु है, इसी में सम्पूर्ण भूतों (पिण्ड) का योग हो रहा है'।

३—"अथ यन्मनो, यजुष्टत्"–'जो मन (हृद्यभाव) है, वही यजु है'।

४—"सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्"—(तै० ब्रा० ३।१२।६।१।)–'(स्थितिगर्भितगतिलक्षण हृद्य-प्रजापतिरूप) यजु से ही सम्पूर्ण गतिभावों का विकास हुआ है'।

५—"तस्माद्यजूंषि निरुक्तानि सन्त्यनिरुक्तानि" '(अपने इस सर्वमूलभूत हृद्यभाव से (ही) ये यजु (कहने को) निरुक्त बनते हुए भी वस्तुतः अनिरुक्त (हृद्य) ही हैं"।

६—"स यजूंष्येव हिङ्कारमकरोत्" '(उस प्रजापति ने (हृद्य) यजु के आधार पर (यजुरूप से) ही हिंकार (उपक्रम) किया'।

७—"मज्जा यजुः" (शत० ८।१।४।५।)–'अस्थि (पिण्ड) लक्षण ऋक् के गर्भ में प्रविष्ट रहने वाला मज्जालक्षण भाव (हृद्य सारभाग) ही यजु है'।

८—"यजुर्वेदो महः" (शत० १२।३।४।६।)-'अपने हव्यभाव के वितान से यजुः मह (महिमा) है"।

९—"ऋक्सामे यजुरपीतः" (शत० १०।१।१।१६।) 'ऋक्साम, दोनों यजु में डूबे हुए हैं"।

—*—

१६—छन्दोवेदमयी सामपरिभाषाएँ—(३)

१—"साम्ना समानयन्। तत् साम्नः सामत्त्वम्" (तै० ब्रा० २।२।८।७।)-'प्रजापति ने साम से (वस्तु का) समानयन (ग्रहण) किया, अतएव वह साम कहलाया'।

२—"यद्वै तत् सा च, अमश्च समवदतां, तत् सामाभवत्। तत् साम्नः सामत्त्वम्" (गो०ब्रा० उ० ३।२०।)। "सा (ऋक्-विष्कम्भ), अम (साम-परिणाह) दोनों के मिलने से साम-स्वरूप का प्रादुर्भाव हुआ'।

३—"साम वा ऋचः पतिः" (श० ८।१।३।५।) '(परिणाहात्मक) साम ही ऋक् (विष्कम्भ) का पति (स्वरूपसंग्राहक) है'।

४—"सर्वं तेजः सामरूप्यं ह शश्वत्" (तै० ब्रा० ३।१२।६।२।)-'तेजोलक्षण मण्डल (परिणाह) ही साम है'।

५—"महाव्रतं साम्नां समुद्रम्" (शत० ६।५।२।१२।)-'महाव्रतलक्षण परिणाह ही सहस्र सामों का समुद्र (कोश) है'।

६—"साम हि नाष्ट्राणां रक्षसामपहन्ता" (शत० ४।४।५।६।)-'सामलक्षण परिणाह ही पिण्ड पर होने वाले बाह्य आक्रमणों से पिण्ड की रक्षा करता है'।

७—"ऋचि साम गीयते" (शत० ८।१।३।३।)-'ऋग्रूप विष्कम्भ के आधार पर परिणाहरूप साम का गान (फैलाव) होता है'।

८—"एतदु वाव साम, यद्वाक्" (जै० उ० ब्रा० २।१५।४।)-'यह वाक् (परिणाहात्मक पिण्ड) ही साम है'।

९—"त्यृचं साम" "विष्कम्भलक्षण तीन ऋचाओं से परिणाहलक्षण एक साम बनता है"।

—*—

१७—वस्तु के तीन पर्व—

जिस के लिए 'वस्तु' 'पदार्थ'-'इयं'-'अयं'-'इदं'-'असौ' 'तत्'-'सः' इत्यादि शब्द प्रयुक्त हुए हैं, उसके "वस्तुतत्त्व-मूर्त्ति-मण्डल" ये तीन पर्व हैं। तीनों की समष्टि के लिए ही 'वस्तु'-'पदार्थ' आदि शब्दों का प्रयोग हुआ करता है। अणु से अणु, महान् से महान्, किसी भी वस्तु को उदाहरण बना लीजिए, प्रत्येक के साथ आप तीन दृष्टियों का समन्वय प्राप्त करेंगे। इन तीन दृष्टियों में से दृष्ट वस्तु की वस्तुतत्त्वदृष्टि

प्रकृत में यजुर्वेदद्दष्टि कहलाएगी, मूर्त्तिदृष्टि को ऋग्वेददृष्टि कहा जायगा. एवं मण्डलदृष्टि सामवेददृष्टि मानी जायगी। साथ ही आप यह भी देखेंगे कि, ऋग्वेदमयी मूर्त्तिदृष्टि से सम्बद्ध, एवं सामवेदमयी मण्डलदृष्टि से सम्बद्ध वस्तुगत मूर्त्ति, और मण्डल, दोनों विशुद्ध 'भातिसिद्ध' तत्त्व रहेंगे। न मूर्त्ति ही वस्तुतत्त्व है, न मण्डल ही वस्तुतत्त्व है। गुरुत्व–द्रवत्व–कठिनत्त्व–आकुञ्चनत्त्व–प्रसारणत्त्व–आदि–जितने भी द्रव्यधर्म्म हैं, उन का इन दोनों से कोई सम्बन्ध नहीं हैं। मूर्त्ति भी एक प्रकार का आकार है, मण्डल भी एक प्रकार का आकार है। आभ्यन्तर आकार मूर्त्ति है, बाह्य आकार मण्डल है। इन दोनों भातिसिद्ध भावों से सर्वथा भिन्न, किन्तु दोनों से सीमित यजुर्वेदमयी वस्तुतत्त्वदृष्टि से सम्बद्ध वस्तुगत वस्तुतत्त्व सत्तासिद्ध पदार्थ है। गुरुत्वादि धर्म्मों का इसीके साथ सम्बन्ध है। इसीकी मूर्त्ति है,इसीका मण्डल है। यह वस्तुतत्त्व मूर्त्ति-मण्डलाकारों से आकारित है। आकारित यही सत्तासिद्ध पदार्थ अस्तिलक्षण 'रस' है। इसी की रसरूपसे उपलब्धि होती है। अतएव इसे अवश्य ही 'रसवेद' कहा जा सकता है। अपिच वस्तुकेन्द्र से आरम्भ कर मण्डलपरिधि पर्य्यन्त इस का रसन होता है, इसलिए भी इसे रसवेद कहना अन्वर्थ बनता है। मूर्त्तिरूप आकार से पिण्डावच्छिन्न रसवेद छन्दित (सीमित) रहता है। मूर्त्तिलक्षण, छन्दनलक्षण–सीमालक्षण छन्द है। अतएव मूर्त्तिलक्षण ऋग्वेद को अवश्य ही छन्दोवेद माना जा सकता है। मण्डल इसी वस्तु की बाह्य विकासावस्था का आकार है, सीमा है। मण्डलाधार पर ही रस का वितान होता है। किंवा मण्डल ही अपने वितानभाव से रसवितान का कारण बनता है। अतएव मण्डलक्षण सामवेद 'वितानवेद' नाम से व्यवहृत किया जा सकता है। पदार्थ से सम्बन्ध रखने वाली इस वेदत्रयी में से प्रकृत में आकारलक्षण, ऋग्रूप, मूर्त्ति–स्वरूप छन्दोवेद का ही निरूपण प्रक्रान्त है। इसीके साथ तीनों वेदों का (जो आकारविशेषमात्र होंगे) समन्वय करना है।

१–वस्तुतत्त्वभावः-सत्तासिद्धपदार्थः–आकारितवस्तु—यजुर्वेदः–रसवेदः	—"पदार्थ"
२–मूर्त्तिः—भातिसिद्धपदार्थः–आभ्यन्तराकारः–ऋग्वेदः–छन्दोवेदः	
३–मण्डलम्—भातिसिद्धपदार्थः–बाह्याकारः——सामवेदः–वितानवेदः	

१८–केन्द्र–व्यास–परिधि–भाव—

त्रिकोण, चतुष्कोण, षट्कोण, आदि सभी पिण्डों के साथ यद्यपि उक्त त्रयी का समन्वय हो रहा है। तथापि विषयऋजुता की दृष्टि से यहाँ वर्त्तुल–पिण्ड (गोलाकारपिण्ड) को ही उदाहरण बना कर छन्दोवेद का विचार करना सुविधाजनक होगा। वर्त्तुल–वस्तुपिण्ड के यों तो शतशः विभाग माने जा सकते हैं। परन्तु तत्त्वतः "हृदय, विष्कम्भ, परिणाह", इन तीन विभागों से ही मूर्त्ति का सम्पूर्ण स्वरूप गृहीत हो जाता है। ये तीनों शब्द वैदिक हैं। प्रचलित संस्कृतभाषा में इनके लिए "केन्द्र, व्यास, परिधि" शब्द नियत हैं। इन्हीं तीनों भातिसिद्ध पदार्थों को लक्ष्य में रखते हुए छन्दोवेदत्रयी का विचार अपेक्षित है।

१–हृदयम्—

पहिले क्रमप्राप्त 'हृदय' का ही विचार कीजिए। सामान्यदृष्टि से विचार करने पर वस्तुपिण्ड की उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म मध्यस्थ बिन्दु को हृदय मान लिया जाता है, जिसके आधार पर विष्कम्भ और परिणाह, दोनों

प्रतिष्ठित रहते हैं। यथार्थ है। अवश्य ही व्यास–परिणाह, दोनों हृदय नाम की सुसूक्ष्म मध्यस्थ बिन्दु पर ही प्रतिष्ठित हैं। परन्तु केवल यही कह देने से हृदय की व्याख्या सुसमन्वित नहीं मानी जा सकती। केन्द्रशक्ति, हृदयबल, आदि शब्दमात्र इसका तात्त्विक स्वरूप व्यक्त करने में असमर्थ हैं। उस मध्य बिन्दु का क्या स्वरूप है ?, क्यों वह सब का आधार बन जाती है ?, इत्यादि प्रश्नों का समाधान एकमात्र वैदिक **'प्राजापत्यविद्या'** पर ही निर्भर है। पहिले हृदय को एक बिन्दु मानते हुए ही विचार कीजिए।

वैदिक विज्ञानने **हृदय, पृषत्, स्तोक, द्रप्स,** भेदसे बिन्दु का चार स्थलों में विभाजन किया है। जिस बिन्दु से फिर कोई सूक्ष्म बिन्दु न हो. सर्वसुसूक्ष्म उसी बिन्दु का नाम **'हृदय'** है। शिक्षणकाल में यद्यपि शिक्षक लेखिनी से एक सुसूक्ष्म बिन्दु बना कर उसे 'हृदय' कह दिया करता है। परन्तु यह शिष्य का शिक्षक के द्वारा उपलालनमात्र है। किसी भी यन्त्र से कैसी भी सूक्ष्म बिन्दु बना लीजिए, उस साकार बिन्दु के गर्भ में अवश्य ही हृदयबिन्दु रहेगी। प्रयत्नसहस्रों से भी उसका आकार-प्रदर्शन असम्भव है। यही इस बिन्दु की अनिरुक्तता, एवं अनिर्वचनीयता है, जिस का हम अपने व्यवहार में स्थूलबिन्दु के समाश्रय से तटस्थलक्षणविधा निर्वचन किया करते है। श्रुति ने–**'प्रजापतिर्वै हृदयम्'**–(शत० १४।८।४।१।)–**'अनिरुक्तो वै प्रजापतिः'** (शत० १।१।१।१३।) इत्यादि रूप से स्पष्ट शब्दों में प्रजापतिरूप हृदय को अनिरुक्त कहा है। तत्त्वतः है भी ऐसा ही।

दार्शनिकभाषा में इसी 'हृदय' को हम 'प्रकृति' कहेंगे। प्राधानिक शास्त्र ने प्रकृति से ही वैकारिक विश्व की अभिव्यक्ति मानी है। कृति कार्य्य है। एवं कार्य्य की प्रथमावस्था ही प्रकृति है। कारण ही कार्य्य की प्रथमावस्था कहलाया है। हृदय ही वस्तुकार्य्य की कारणावस्था है, अतएव हृदय को अवश्य ही 'प्रकृति' (प्रकृतिः–कृतेः प्रागवस्था, कारणं) कहा जा सकता है। प्रत्यक्ष में भी हम हृदय को ही कार्य्यरूप पदार्थ की मूलप्रतिष्ठा देखते हैं। जब तक हमारा हृदय (हॉर्ट) ठीक ठीक काम करता रहता है, तब तक शरीरपिण्ड सुव्यवस्थित रहता है। हृच्छक्ति के उत्क्रान्त होते ही सम्पूर्ण कार्य्यविवर्त्त विश्राम कर लेता है।

प्रकृतिलक्षण इसी हृदय को वैदिक अध्यात्मभाषा में **'अन्तर्य्यामी'** कहा गया है। प्रत्येक वस्तु के केन्द्र में प्रतिष्ठित रहने वाला वह तत्त्व, जो वस्तुस्वरूप का यथानुरूप नियन्त्रण करता रहता है, अन्तर्य्यामी है। इस का व्यापार ही नियति–की चर्य्या है। सब अपने अपने नियतिब्रह्म की चर्य्या से आक्रान्त हैं। निष्कर्ष यही हुआ कि, जो सुसूक्ष्म बिन्दु स्वयं निराकार, अनिरुक्त, अनिर्वचनीय रहती हुई स्थूल, साकार, निरुक्त, निर्वचनीय पदार्थों का नियतभाव से सञ्चालन करती है, अन्तर्य्यामी, प्रजापति, प्रकृति, आदि नामों से प्रसिद्ध उसी अव्यवहार्य्य बिन्दु को हृदय कहा जाता है।

वर्षाऋतु में बरसने वाले पानी की सुसूक्ष्म फुहारें ही **'पृषत्'** नाम की बिन्दु है। इन्हीं को **'सीकर'**–'जलकण' आदि कहा गया है। वर्षा की सामान्य बिन्दुएँ (जिन्हें लोकभाषा में 'बूँद' कहा जाता है) 'स्तोक' नाम से प्रसिद्ध हैं। वर्षा की बड़ी बड़ी बिन्दुएँ (जिन्हें लोकभाषा में **'टपका'** कहा जाता है) 'द्रप्स' नाम से प्रसिद्ध है। विश्वविज्ञान के सफल कवि (महर्षि) अपनी अलङ्कारभाषा में कहा करते हैं कि, 'यह ज्योतिर्घन सूर्य्य उस आपोमय परमेष्ठी प्रजापति का 'द्रप्स' ही है–**'द्रप्सश्चस्कन्द'** (ऋक्सं० १०।१७।११।)। जिस प्रकार भातिसिद्ध एकत्वादि निर्वचनीय संख्याओं की अपेक्षा सत्तासिद्ध एकत्वसंख्या अनिर्वचनीय, तथा

अव्यवहार्य्य है, एवमेव पृषदादि तीनों निर्वचनीय विन्दुओं की अपेक्षा हृदयविन्दु भी सर्वथा अनिर्वचनीय, एवं अव्यवहार्य्य ही है।

हृदय की तटस्थ व्याख्याएँ जहाँ यत्र तत्र सर्वत्र तारतम्य से सुनी-सुनाई-जाती हैं, वहाँ इसकी स्वरूप-व्याख्या का श्रेय ऋषिशास्त्र (वेदशास्त्र) को ही मिलना चाहिए। क्योंकि उसी ने 'हृ-द-य' रूप से हृच्छक्ति का पूरा पूरा विश्लेषण किया है। एक चमत्कार और देखिए। सबकी प्रतिष्ठा हृदय है, किन्तु हृदय की प्रतिष्ठा हृदय ही है। वह अपने आप में ही स्वस्वरूप से स्वमहिमा में प्रतिष्ठित है। यद्यपि यह कथन विरुद्ध-सा प्रतीत होता है। परन्तु जब हम तत्त्व की महिमा का स्वरूप अवगत कर लेते हैं, तो विरोध हट जाता है। **'वाग् वा अस्य (प्रजापतेः) स्वो महिमा'** (शत० १।४।२।१७।) के अनुसार वाक् ही इस प्रजापति की अपनी महिमा है। वाक् आकाशलक्षण स्थितितत्त्व है। इसके 'अणु-महान्' भेद से दो सोपाधिकरूप बन जाते हैं। हृदय (सर्वसूक्ष्मभाव) इसी का अणोरणीयान् रूप है, महामहिममय बहिर्म्मण्डल इसी का महतोमहीयान्‌रूप है। अपनी वाक्सहस्री के वितान के आधार यह अणोरणीयान् ही महतोमहीयान् बन रहा है। व्यवहार में दो रहते हुए भी परमार्थतः दोनों एक हैं, अभिन्न हैं। हृदय ही महिमा है। यही उपनिषदों का हृदयाकाश है, जो कि 'हृदय' का 'यम्' नामक, वाङ्मय, आकाशात्मा 'ब्रह्माक्षर' नाम से उपश्रुत है। **'हृदि-अयं हृदयम्'** का प्रतिष्ठारूप हृदय **"ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा"** (शत० ६।१।१।६।) वाला स्थितिलक्षण, वागाकाशमूर्त्ति यही ब्रह्माक्षर है। यही अन्तर्य्यामी का एक पर्व है। यही तुरीय पद है। यही प्रणवब्रह्म है।

प्रणवब्रह्मात्मक, आकाशात्मक इस स्थिर ब्रह्मधरातल पर-जिसे कि वेदविज्ञानपरिभाषानुसार हम **'जूः'** (**'अयमेवाकाशो जूः'**-शत० १०।३।५।२।) कहेंगे—तीन सोपाधिकरूप प्रतिष्ठित रहते हैं। पहिला सोपाधिकरूप स्वयं स्थितिलक्षण-ब्रह्माक्षर है, दूसरा सोपाधिकरूप 'गति' तत्त्व है। अर्वाक्-पराक्, भेद से यह गतिभाव ही **'आगति-गति'** भेद से दो भागों में विभक्त हो रहा है। आगतितत्त्व विष्णवक्षर है, गतितत्त्व इन्द्राक्षर है। स्थितिलक्षण ब्रह्माक्षर अपनी प्रतिष्ठा से दोनों गत्यक्षरों का नियमन करता हुआ 'यम्' है। आगतिलक्षण विष्णु-अक्षर आहरण का अधिष्ठाता बनता हुआ 'हृ' है। गतिलक्षण इन्द्राक्षर खण्डन (विसर्ग) का प्रवर्त्तक बनता हुआ 'द' है। 'हृ-द-यम्' की समष्टि ही **'हृदयम्'** है। यही उस हृदय का सोपाधिकरूप है। प्रत्येक पदार्थ में कार्य्यदृष्टि से **'हृदयम्'** का प्रत्यक्ष किया जा सकता है।

प्रत्येक पदार्थ स्वस्वरूप से ठहरा हुआ है, स्थित है, प्रतिष्ठित है। यही स्थितिलक्षण ब्रह्माक्षर के ब्रह्मव्यापार के प्रत्यक्षदर्शन हैं। यदि पदार्थों में यह प्रतिष्ठाधर्म्म न होता, तो पदार्थप्रत्यक्ष ही असम्भव बन जाता। विद्युत् में गतिधर्म्मा इन्द्र के समावेश से क्योंकि प्रतिष्ठा स्वल्प है, अतएव क्षणमात्र में वह स्वप्रभव (आकाशेन्द्र) में विलीन हो जाती है। प्रतिष्ठा के अतिरिक्त प्रत्येक पदार्थ में गति-आगति धर्म्मों का भी प्रत्यक्ष हो रहा है। परिवर्त्तनरूपा गति ही तो गति है। धारावाहिक स्थिरता ही तो आगति है। इन्द्रगति, विष्णु-आगति, दोनों की प्रतिस्पर्द्धा का पूर्वप्रकरणों में स्पष्टीकरण किया जा चुका है। एक पुष्प पर दृष्टि डालिए। पुष्प विकसित हो रहा है। यह विकासगति का प्रत्यक्ष है। परन्तु पुष्प की पँखुड़ियाँ पुष्पमूल को छोड़ कर पलायित नहीं हो जातीं। यही संकोचलक्षणा आगति का प्रत्यक्ष है। अस्तु इस विषय का अधिक विस्तार

इसलिए अनपेक्षित है कि, प्रकाशित अन्य ग्रन्थों में, विशेषतः ईशभाष्य के-'अनेजदेकं मनसो जवीय,' मन्त्रभाष्य में हृदयाक्षरों का विशद वैज्ञानिक विवेचन किया जा चुका है। प्रकृत में इस सम्बन्ध में केवल यहीं ज्ञातव्य है कि, स्थिति के आधार पर प्रतिष्ठित गतितत्त्व ही हृदयभाव है। आकाशावपन में प्रतिष्ठित यह गतिभाव विरुद्धदिग्द्वयगति, परागगति, अर्वागगति, भेद से तीन भागों में विभक्त है। यही गतित्रयी उस स्थित्याकाशलक्षण हृदय में प्रतिष्ठित रहने वाला हृ-द-य है। यही आगे के सम्पूर्ण भूतविवर्त्त का संग्राहक बनता हुआ-'गृह्णाति' इस निर्वचन से 'गर्भ' नाम से प्रसिद्ध है। 'हृदय में हृदय रहता है', जो तात्पर्य्य इस विज्ञानभाषा का है, वही तात्पर्य्य-'गर्भ में प्रजापति विचरता है' इस वाक्य का है। इसीका हम 'गर्भ में गर्भ विचरता है', इस रूप से भी अभिनय कर सकते हैं। 'पुरुष उ गर्भः (जै० उ० ब्रा० ३।३६।३) इत्यादि वचन पुरुषप्रजापति को भी गर्भ बतला रहा है। 'प्रजापतिश्चरति गर्भे, का 'गर्भे' शब्द निरुपाधिक स्थित्याकाश का द्योतक है, प्रजापति-शब्द सोपाधिक मूर्त्तित्रयीलक्षणा गति का वाचक है। इसी गतिभाव को स्पष्ट करने के लिए 'चरति' कहा गया है। गति का विरुद्धदिग्द्वयगतिभाग ही 'स्थिति' है, यही 'जू' है। आगति, गति, नामक दोनों पर्व 'यत्' है। 'यत्-जू' की समष्टि ही 'यज्जू' है, यही परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में 'यजुः' है। यही हमारा छन्दोमय यजुर्वेद है। स्थिति-गति, दोनों हीं वस्तुतत्त्व के (अग्नीषोमात्मक वस्तुपिण्ड के) जनक बनते हैं। स्वयं स्थिति-गति तो एक प्रकार के छन्द ही मानें जायँगे। अतएव हृदयरूप यजु को अवश्य ही छन्दोलक्षण यजुर्वेद कहा जायगा। क्योंकि छन्द ऋग्वेद है, इसी में इस यजुर्लक्षण छन्दोवेद का उपभोग हो रहा है, अतएव इसे ऋग्वेदरूप ही माना जायगा। हृदय की उक्त व्याख्या को लक्ष्य में रखते हुए ही पूर्वोद्धृत यजुःसम्बन्धी वचनों का समन्वय कीजिए।

विष्कम्भ और परिणाह, दोनों का यजन (मेल), और स्वरूपसत्ता हृदयबिन्दु के आधार पर ही प्रतिष्ठित है। हृदय ही व्यास की प्रतिष्ठा है, हृदय ही परिणाह की मूलभित्ति है। दूसरे शब्दों में यों कहना चाहिए कि, हृदय बिन्दु ही अपने सहस्रभाव से आगे जाकर व्यास बनती है, यही परिणाह बनती है। हृदय-लक्षण प्रजापति सहस्रभावापन्न है। इस साहस्री का परिणाम यह होता है कि, सम्पूर्ण मूर्त्ति हृदय-बिन्दुओं के वितान से ही प्रतिष्ठित है। साधारण दृष्टि के अनुसार एक वस्तुपिण्ड में एक हृदय है। परन्तु वैज्ञानिक की दृष्टि में हृदयसमष्टि का नाम वस्तुपिण्ड है। अनेक क्षरपरमाणुओं के रासायनिक समन्वय से पिण्ड का निर्म्माण होता हैं। प्रत्येक परमाणु अपना अपना एक स्वतन्त्र हृदय रखता है। प्रत्येक का अपना व्यास, परिणाह पृथक् पृथक् है। व्यास-परिणाहावच्छिन्न अनन्त हृद्बिन्दुओं के एकायतन में समन्वित होने से ही वस्तुपिण्ड का उदय होता है। इसीलिए तो हृदयरूप यजु को 'यजुः' न कह कर 'यजूंषि' कहा जाता है। यजुः एक नहीं, अनन्त हैं, 'यजुषां समुद्रः' है। अपने गतिभाव के कारण ही यह यजुः प्राण कहलाया है। हृदय में ही मन प्रतिष्ठित है। दूसरे शब्दों में हृदयावच्छिन्न रसबलात्मक, उभयात्मक तत्त्व ही मन है। अतः यजुः को मन कहना भी अन्वर्थ बनता है। मूर्त्तिपिण्ड स्वयं निरुक्त है। पूर्वकथनानुसार यह हृदयवितान की ही प्रतिकृति है, एवं इसी दृष्टि से यजु को भी निरुक्त कहा जा सकता है। परन्तु तत्त्वतः यह अनिरुक्त ही है। हृदयरूप यजु ही वस्तु का उपक्रम है। उपक्रम ही 'हिङ्कार' है। व्यासात्मक वस्तु-पिण्ड यदि घनभाव के कारण अस्थि है, तो अस्थि का भी सारभूत बना हुआ हृदयरूप यजु अवश्य ही मज्जा है। इसप्रकार पूर्व प्रदर्शित सभी यजुः-परिभाषाओं का हृदयलक्षण, छन्दोमय, यजुर्वेद के साथ समन्वय हो रहा है।

२–विष्कम्भः—

विष्कम्भ को हमनें ऋक् कहा है । यही विष्कम्भ सामान्य भाषा में 'व्यास' नाम से प्रसिद्ध है, जिसे कि वर्त्तमान विज्ञान 'डायमिटर' नाम से व्यवहृत किया करता है । कोशकार ने कपाट-मध्य अर्गला को 'विष्कम्भ' कहा है । 'विष्कभ्नाति' इसका निर्वचन किया है । अर्गला दोनों कपाटों का ग्रन्थिबन्धन कर देती है, अतएव यह विष्कम्भ है । एवं व्यास शब्द को विस्तारवाचक माना है । विज्ञानदृष्टि से प्रकृत में दोनों ही अर्थ ग्राह्य हैं । मूर्त्तिपिण्ड की अर्गला मध्यस्थ व्यास ही है । व्यास ने ही मूर्त्ति को सीमाभाव मे बद्ध कर रक्खा है । अतएव व्यास को विष्कम्भ कहा जाता है । गोलाकार पिण्ड की मध्यरेखारूप विष्कम्भ ही पार्श्ववर्त्ती बिन्दु-द्वय के उत्तरोत्तर-भावी क्रमिक वितान से महिमारूप में वितत होता है, फैलता है, जैसाकि मण्डलात्मक वितानवेदप्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है । विस्तार का मूल यही विष्कम्भ बनता है, अतएव इसे व्यास भी कहा जा सकता है *।

मूर्त्ति के स्वरूप निर्म्माण में "आयाम[1] (लम्बाई)-विस्तार[2] (चौड़ाई)-उत्सेध[3] (ऊंचाई)-घनता[4] (मुटाई)" इन चार धर्म्मों का समावेश रहता है । दूसरे शब्दों में जिस पदार्थ में ये चारों धर्म्म रहते हैं, उसी को 'मूर्त्ति' कहा जाता है । इन चारों मूर्त्तिधर्म्मों की मूलप्रतिष्ठा विष्कम्भ ही बनता है । बिना विष्कम्भ के आयामादि की व्यवस्था असम्भव है । स्वयं विष्कम्भ ही इन चार धर्म्मों में परिणत हो कर मूर्त्ति-स्वरूपोद्भव का कारण बनता है । अतएव ये चारों धर्म्म विष्कम्भ के ही रूपान्तर माने जायँगे । क्योंकि विष्कम्भ ही इन चार धर्म्मों में परिणत होकर उस हृद्य-यजुर्म्मूर्त्ति प्रजापति का मूर्त्तिरूप शरीर बनता है । अतएव इस धर्म्मचतुष्टयात्मक विष्कम्भ को उस नभ्यप्रजापति का शरीर माना जा सकता है । हृदयबिन्दुओं की सञ्चिति ही विष्कम्भ है, विष्कम्भ की सञ्चिति ही मूर्त्ति है । जिस प्रकार सामान्यदृष्टि एक वस्तुपिण्ड में एक हृदय मानती है, एवमेव व्यास भी एक ही माना जाता है । परन्तु सहस्रसामण्डलों के वितान का कारण बनता हुआ यह विष्कम्भ भी सहस्रभाव में ही परिणत है । प्रत्येक बिन्दु हृदय है, हृदयानुबन्धिनी प्रत्येक मध्यरेखा विष्कम्भ है । इसप्रकार हृदयाधार पर उत्तरोत्तर सञ्चित विष्कम्भ ही धर्म्मचतुष्टयीरूप से मूर्त्ति बनता है, मण्डल बन जाता है । तभी तो इस विष्कम्भरूप ऋक् को ऋक् न कह कर 'ऋचः' कहा जाता है । यही तो इस ऋक् का समुद्रभाव है । सञ्चितिलक्षण इस अभ्यर्चन (प्रस्ताव-प्रस्तुति) से ही यह विष्कम्भलक्षण प्राजापत्य शरीर **"यदभ्यर्चत्-ताऽएवर्चोऽभवन्"** इत्यादि निर्वचनानुसार ऋक् कहलाया है । यही ऋक् (विष्कम्भ) पिण्ड-

---

* **गोलस्य मध्यरेखा–व्यासः–यथा—**

१—व्यासे भनन्दाग्निहते विभक्ते खबाणसूर्य्यैः परिधिस्तु सूक्ष्मः ।
द्वाविंशतिघ्ने विहृतेऽथशैलैः स्थूलोऽथवा स्याद्व्यवहारयोग्यः ॥

उदाहरणम्—२–विष्कम्भमानं किल यत्र सप्त तत्र प्रमाणं परिधेः प्रचक्ष्व ।
द्वाविंशतिर्यत् परिधिप्रमाणं तद्व्याससंख्या च सखे ! विचिन्त्य" ।

(लीलावती)

स्वरूपनिष्पत्ति का कारण है। पिण्ड ही भूरात्मक गार्हपत्य है। अतएव "ऋग्वेदात गार्हपत्योऽजायत" कहना अन्वर्थ बन रहा है। वितानवेद से सम्बन्ध रखनें वालीं 'उक्थामद' नाम की सहस्रमूर्त्तियाँ "म मूलवस्तुपिण्डरूप ऋक् से समतुलित हैं, अतएव 'ऋक्सम्मिता वा इमे लोकाः' कहना चरितार्थ हो रहा है। वितानात्मिका ऋचाएँ 'उक्थ' हैं, उन सबका मूल पिण्डात्मिका महाऋक् है। अतएव इसे 'महदुक्थ' कहना अन्वर्थ बनता है। जिस प्रकार हड्डियों के आधार पर शरीर प्रतिष्ठित रहता है, एवमेव विष्कम्भरूप ऋक् के आधार पर ही मूर्त्तिस्वरूप प्रतिष्ठित है। अतएव 'अस्थि वा ऋक्' कहने में भी कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। यही क्यों, हमारी अध्यात्मसंस्था में छन्दोलक्षण ऋक् ही हड्डी बनता है, छन्दोलक्षण यजु ही मज्जा बनता है। श्रुति का मज्जा, एवं अस्थि को यजुः-ऋक् कहना केवल दृष्टान्तविधि नहीं है, अपितु सत्य-अभिनय है। वक्तव्यांश प्रकृत में यही है कि, हृदय को अपने मूल में प्रतिष्ठित रखने वाला धर्म्मचतुष्टयीलक्षण विष्कम्भ (व्यास) ही छन्दोमय ऋग्वेद है।

२—परिणाह—

परिणाह को 'साम' नाम से व्यवहृत किया गया है। यही परिणाह सामान्य भाषा में 'परिधि' कहलाया है। वर्त्तमान विज्ञान इसी को 'सर्कम्फ्रेंस' कहता है। वस्तुपिण्ड का चारों ओर का घेरा ही परिणाह है। इससे वस्तुपिण्ड चारों ओर से नद्ध रहता है, बद्ध रहता है, सीमित रहता है, छन्दित रहता है, अतएव इस पिण्डसीमा को 'परिणाह*A*' कहना अन्वर्थ बन रहा है। परितः व्याप्त रहने कारण ही यह 'परिवेष*' नाम से भी प्रसिद्ध है। यही परिवेष सुप्रसिद्ध छन्दोमय सामवेद है, जिसके (पिण्डसीमापेक्षया) अनेक निर्वचन किए जा सकते हैं।

वस्तुपिण्ड का ग्रहण इस बाह्य सीमालक्षण परिणाह से ही होता है। दूसरे शब्दों में वस्तु-समानयन का आधार परिणाह ही बनता है, अतएव 'समानयन्' निर्वचन से भी इसे साम कहा जा सकता है। विष्कम्भ ऋक् है, परिणाह साम है। यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, पति (पुरुष) अग्निप्रधान है, पत्नी (स्त्री) सोमप्रधाना है। अग्नि सत्य बनता हुआ 'स-ति-यम्' है, त्र्यक्षरमूर्त्ति है। ऋत सोम अन्नात्मक एकाक्षर है। सोम की अपेक्षा अग्निबल त्रिगुणित है। इसी आधार पर कहा जा सकता है कि, अग्निमय पुरुष सौम्या स्त्री की अपेक्षा (बलत्वेन) त्रिगुणित है। पुरुष बलवान् है, स्त्री अन्नभावात्मकत्वेन अबला है÷।

A अरत्नीनां सहस्रञ्च शतानि दश पञ्च च।
परिणाहस्तु वृक्षस्य फलानां रसभेदिनाम्" (महाभारत) 'परिणह्यते-अनेन"।

*"परिवेषस्तु परिधिरूपसूर्य्यकमण्डले" (अमरः १।४।३२।)।

÷ इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन 'शतपथहिन्दीविज्ञानभाष्य' चतुर्थवर्ष के 'पत्नीसन्नहन-विज्ञान' नामक अवान्तर प्रकरण में देखना चाहिए।

यह एक विज्ञानसम्मत सिद्धान्त है कि, ज्यामिति (ज्यामेट्री) के अनुसार प्रत्येक वृत्त व्यास से त्रिगुणित होता है। किसी भी वृत्त के व्यास को एक ओर उद्धृत कर लीजिए, परिधि को एक ओर। यदि परिधिमण्डल की रेखा से व्यासरेखा का समतुलन किया जायगा, तो वह तृतीयांश निकलेगी। यदि व्यास रेखा से परिधिरेखा का समतुलन किया जायगा, तो परिधि व्यास की अपेक्षा त्रिगुणित होगी। इसके साथ ही एक रहस्य और है। परिधि व्यास से तिगुनी ही नही होती। अपितु तिगुनी से कुछ अधिक होती है।

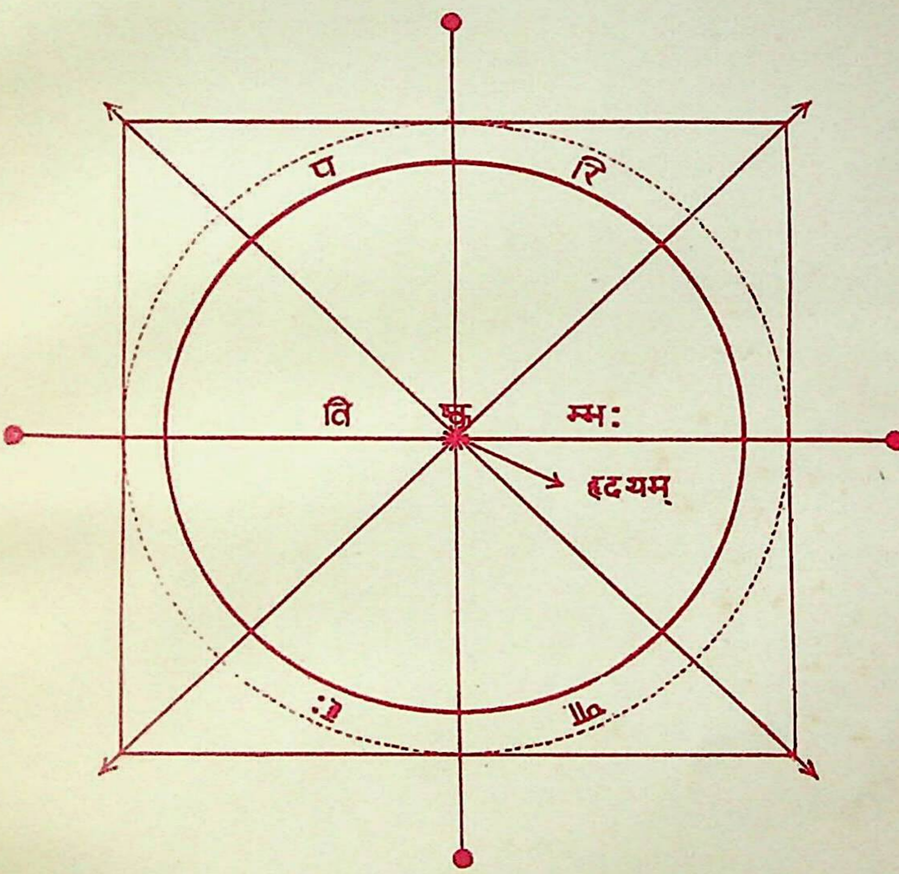
इस आधिक्य का कारण ?। विज्ञानशास्त्र उत्तर देता है कि, यदि वस्तुपिण्ड पर ही वस्तुस्वरूप का अवसान हो जाता, तब तो अवश्य ही परिधि व्यासापेक्षया ठीक त्रिगुणित ही होती। परन्तु (जैसाकि वितान-वेदप्रकरण में बतलाया जाने वाला है) वस्तुस्वरूप का विश्राम पिण्ड पर ही नहीं हो जाता। अपितु पिण्ड से बाहर बहिर्म्मण्डलरूप से इसी वस्तुलक्षण भूतपिण्ड का प्राणरूप से वितान होता है। आश्चर्य्य तो यह है कि, जिस वस्तुपिण्ड के लिए-'अहं जानामि, पश्यामि' प्रयोग होते हैं, वस्तुतः वह वस्तुमण्डल है। वस्तुपिण्ड स्पृश्य है हम इसे छू भर सकते हैं, देख नहीं सकते। देखते हैं दृश्यमण्डलात्मक बहिःप्राण को। प्राणमण्डल ही हमारी दृष्टि का विषय बनता है। "सर्वं वै अनिरुक्तम्" इस निगम सिद्धान्त का यही मौलिक रहस्य है। विश्व का कोई भी पदार्थ हम नहीं देख सकते, किसी पदार्थ का तद्रूप से निर्वचन नहीं कर सकते। जो वस्तु इन्द्रियों के द्वारा संस्काररूप से हमारे प्रज्ञानधरातल में आ जाती है, उसी का वाणी से निर्वचन होता है। वस्तुपिण्ड में केवल त्वगिन्द्रिय को छोड़ कर अन्य इन्द्रियों की गति अवरुद्ध है। वस्तु-महिमा ही संस्काररूप से प्रज्ञान में प्रतिष्ठित होती है। इसे ही हम देखते हैं। जिसे देखते हैं, उसी का निर्वचन करते हैं। पिण्डापेक्षया वस्तुमात्र अनिरुक्त है। कहना यही है कि, वस्तुपिण्ड से आगे भी वस्तु-भाव विद्यमान है। हृद्यप्रजापति के इस बहिर्वितान के कारण ही विष्कम्भ के वितानरूप परिणाह के पूरे तीन विवर्त्त न होकर कुछ अधिक भाग रहता है। यह आधिक्य ही उत्तर-वितान का कारण बनता है।

वेदज्ञ विद्वानों को विदित है कि, तीन ऋङ्मन्त्रों का एक साममन्त्र होता है। इस 'वेदन' का तात्पर्य्य यही है कि, जितने समय में एक ऋङ्मन्त्र का उच्चारण होता है, उसी ऋङ्मन्त्र को यदि तिगुना समय लगा कर बोला जाता है, तो वही ऋङ्मन्त्र साममन्त्र कहलाने लगता है। इसी आधार पर साम का-'त्र्यृचं साम' (तीन ऋचा का एक साम) यह लक्षण किया जाता है। ठीक यही बात तत्त्वात्मक ऋक्-साम के सम्बन्ध में समझिए। तत्त्वप्रकरण में व्यास ही ऋक् है, परिणाह ही साम है। जितने प्रदेश में वस्तुपिण्ड की व्यासरेखा प्रतिष्ठित रहती है, उसे से तिगुने प्रदेश में परिणाहरेखा प्रतिष्ठित होगी। यही त्रिगुणभाव साम का पुरुषभाव है, एवं तृतीयांशभाव ऋक् का स्त्रीभाव है। एकमात्र इसी आयामभाव को प्रधान मान कर श्रुति का-"साम वा ऋचः पतिः" यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। क्योंकि तत्त्वात्मक ऋक्-साम में 'त्र्यृचं साम' यह नियम है, अतएव शब्दात्मक ऋक्-साममन्त्रों की उच्चारण-व्यवस्था में भी-'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या' इस नियम का अनुगमन किया जाता है। निष्कर्ष यही हुआ कि-परिणाहात्मक साम अपने विष्कम्भरूप ऋक की अपेक्षा त्रिगुणित होता है, जिसका प्रकार परिलेख से स्पष्ट है।

विष्कम्भ ही त्रिगुणित बन कर परिणाह बना है, यही रहस्य सूचित करने के लिए ऋषि ने साम शब्द का-'सा च, अमश्च समवदतां, तत् सामाभवत्' यह निर्वचन किया है। साम शब्द के 'सा-अम' दो

(३१४, तथा ३१५ के मध्य में)

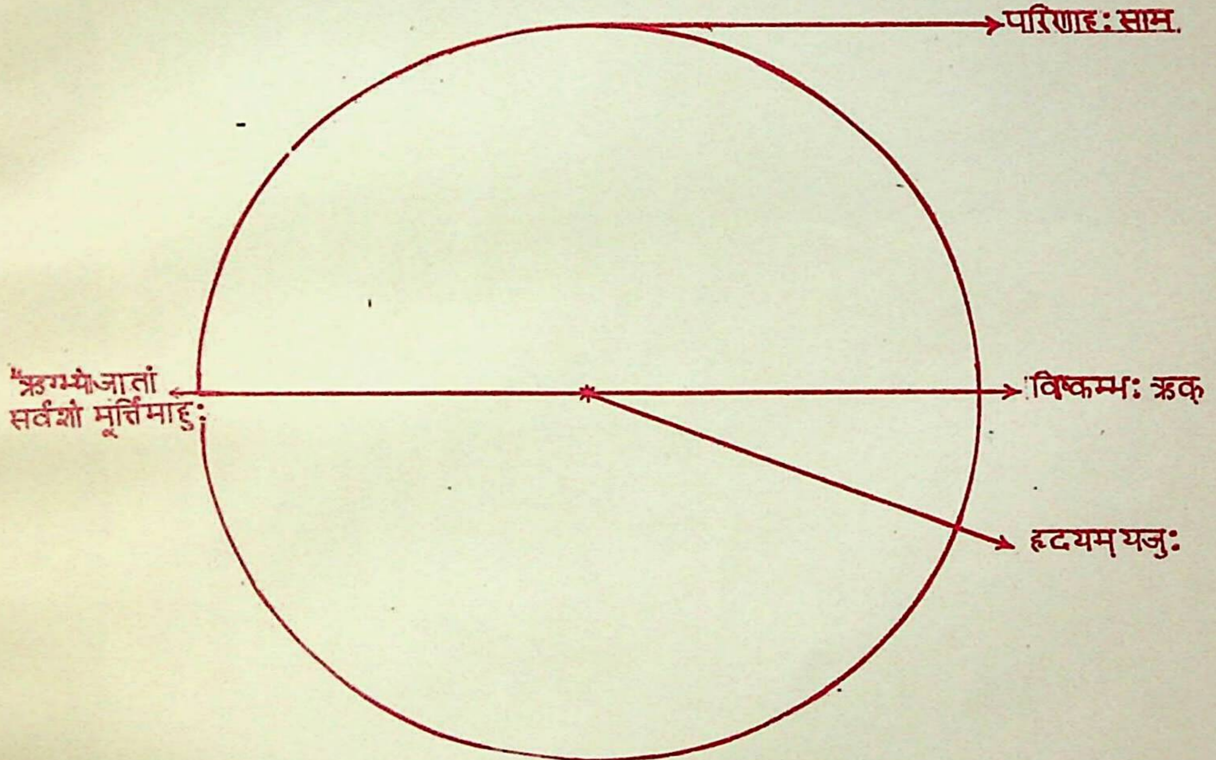
(७)—विष्कम्भ (व्यास) भावानुगतस्त्रिगुणितपरिणाहमण्डलपरिलेखः—



श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, दुर्गापुरा (जयपुर)

(३१४, तथा ३१५ के मध्य में)

(८)-छन्दोवेद प्रतिकृतिप्रदर्शनात्मकः परिलेखः—



श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, दुर्गापुरा (जयपुर)

विभाग है। 'सा' विष्कम्भलक्षण ऋक् का वाचक है। 'अम' परिणाहलक्षण साम का वाचक है। 'समित्येकीभावे' के अनुसार 'अम' समन्वयभाव का सूचक है। 'सा' लक्षण ऋक् ही 'अम'लक्षण साम के साथ एकीभाव को प्राप्त कर सामरूप में परिणत हो रही है। इस कथन का तात्पर्य्य यही है कि, 'सा' ही त्रिगुणित बन कर उस त्रिगुणितभाव में आत्मसमर्पण कर साम बन रही है। परिणाहात्मक साम का यही संक्षिप्त स्वरूपप्रदर्शन है। ऋक् ही साम बना है, इसी आधार पर ऋक् को कहीं कहीं साम कह दिया गया है—(देखिए बृहद्देवता············)।

१९–हृदय-विष्कम्भ-परिणाह, और वेदत्रयी—

छन्दोवेदलक्षणा मूर्त्ति (वस्तुपिण्ड) के 'हृदय–व्यास–परिधि' ये तीनों भाव ही क्रमशः 'यजुः–ऋक्–साम' तीन वेद हैं। तीनों ही वयोनाधात्मक हैं, आयतनरूप हैं, सीमालक्षण हैं, छन्दोमय हैं। एवं छन्द को ही ऋक् कहा जाता है, अतएव इस वेदत्रयी को हम 'ऋग्वेदत्रयी' कह सकते हैं। यही छन्दोलक्षण ऋग्वेद में तीनों वेदों का उपभोग है। यही आगे की रसलक्षणा यजुर्वेदत्रयी, एवं वितानलक्षणा सामवेदत्रयी की प्रतिष्ठा बनती है। मूर्त्ति के आधार पर ही वस्तुतत्त्वलक्षण रसात्मक यजुर्वेद प्रतिष्ठित है, एवं मूर्त्ति के आधार पर ही वस्तुमण्डललक्षण वितानात्मक सामवेद प्रतिष्ठित है। इसी सर्वप्रतिष्ठा की दृष्टि से प्रकृत में इसे पहिला स्थान मिला है।

तदित्थं-हृदय-विष्कम्भ-परिणाह-भेदेन छन्दोमये ऋग्वेदे वेदत्रयोपभोगः—

ऋक्–१–हृदयम्–	यजुः–यजूंषि–	पुरुषः (यजुषां समुद्रः)।	छन्दोवेदत्रयी-"ऋग्वेदः"
ऋक्–२–विष्कम्भः–	ऋक्–ऋचः–	महदुक्थम् (ऋचां समुद्रः)।	
ऋक्–३–परिणाहः–	साम–सामानि	महाव्रतम् (साम्नां समुद्रः)।	

२०–'साम' लक्षण वितानवेदोपक्रम—

जिस प्रकार वेदशास्त्र में स्वयं वेदपदार्थ एक दुरूह विषय है, तथैव वेदपदार्थ में सहस्रमहिमामय 'सामवेद' एक जटिल समस्या है। पिण्डावच्छिन्न ऋग्वेद भी सुबोध्य है, तदवच्छिन्न यजुर्वेद भी उतना जटिल नहीं है। किन्तु महिमामय सामवेद अपने महिमाभाव से सचमुच एक क्लिष्ट पदार्थ बन रहा है। "वेदानां सामवेदोऽस्मि" इस भगवद्वाक्य से जहाँ इसे अन्य वेदों की अपेक्षा गौरव मिल रहा है, वहाँ ९ भागों में विभक्त अथर्व, २१ भागों में विभक्त ऋक्, १०१ भागों में विभक्त यजुः की अपेक्षा १००० भागों में विभक्त रहने से भी यह प्रजापति की वास्तविक विभूति बन रहा है। ब्राह्मणग्रन्थों में विषय-दुरूहता की दृष्टि से जो स्थान सामवेदीय ताण्ड्यमहाब्राह्मण का है, वह विषयदुरूहता इतर ब्राह्मणग्रन्थों में नहीं है। महाविज्ञानसापेक्ष इस मण्डलात्मक साम का, साम के अवान्तर सहस्र मण्डलों का दिग्दर्शन कराना भी प्रकृत में असम्भव है। इसके लिए तो स्वतन्त्ररूप से गम्भीर अध्ययन ही अपेक्षित है। साथ ही हम स्वयं भी इस विषय में पूर्ण तो क्या, आंशिक परिचय भी नहीं रखते। अपनी स्थूलतमा बुद्धि से जैसा कुछ अस्तव्यस्त जान पाया है, सन्दर्भसङ्गति की दृष्टि से उसी का दिग्दर्शनमात्र करा दिया जाता है।

मूर्त्ति की परिभाषा करते हुए पूर्व में यह स्पष्ट किया गया है कि, मूर्च्छित, सोमगर्भित, अग्निपिण्ड का ही नाम मूर्त्ति है, जिसके केन्द्र-व्यास-परिधि-नामक तीन छन्द होते हैं। इसी प्रकार 'मण्डल' की भी कोई परिभाषा होनी चाहिए। जिसे मूर्त्ति (पिण्ड) कहा जाता है, उसी के आगे जाकर 'मूर्त्ति'-'महिमा' भेद से दो रूप हो जाते हैं। स्पृश्यपिण्ड मूर्त्ति है, दृश्यपिण्ड महिमा है। दृश्यपिण्ड में मूर्च्छावृत्ति का अभाव है, अतएव इसे मूर्त्ति न कह कर 'महिमा' कहा गया है। मूर्त्ति का भी एक चारों ओर का मण्डल होता है, महिमापिण्ड भी अवश्य ही बहिर्म्मण्डल से युक्त रहता है। मूर्त्ति का चारों ओर का घेरा मूर्त्तिमण्डल है, महिमा का चारों ओर का घेरा महिमामण्डल है। मूर्त्तिमण्डल भी परिणाह है, महिमामण्डल भी परिणाह है। इन दोनों के व्यावहारिक बोधसौकर्य्य के लिए मूर्त्तिमण्डल को परिणाह शब्द से व्यवहृत किया जाता है, महिमा-मण्डल 'मण्डल' नाम से ही व्यवहृत होता है। इन दोनों के लिए वैदिक संकेतभाषा में 'पद-पुनःपद' शब्द नियत हैं। पद अन्तःपृष्ठ है, परिणाह है। पुनःपद बहिःपृष्ठ है, मण्डल है। अन्तःपृष्ठात्मक परिणाह छन्दोलक्षण साम है, बहिःपृष्ठात्मक मण्डल वितानलक्षण सामवेद है, जिसके अवान्तर तीन विभाग हो जाते हैं।

२१-मूर्त्ति का मण्डलरूप में वितान—

अब प्रश्न हमारे सामने यह है कि, मूर्त्ति मण्डलरूप में परिणत कैसे हो गई ?, इसके एकसहस्र भेद कैसे हो गए ?, एवं यह मण्डल हमारे दृश्य जगत् की वस्तु कैसे बनता है ?। इन प्रश्नों के समाधान के लिए निम्नलिखित वाजिश्रुति की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है—

१—"यजुषा ह वै देवा अग्ने यज्ञं तेनिरे, अथर्चा, अथ साम्ना। तदिदमप्येतर्हि यजुषैवाग्रे यज्ञं तन्वते, अथर्चा, अथ साम्ना। यजो ह वै नामैतत्—'यजु' रिति"।

२—"यत्र वै देवा इमा विद्याः कामान् दुदुहे, तद्ध यजुर्विद्यैव भूयिष्ठान् कामान् दुदुहे। सा निर्धीतमेवास। सा नेतरे (ऋक्साम) विद्ये प्रत्यास, नान्तरिक्षलोक इतरौ लोकौ प्रत्यास"।

३—"ते देवा अकामयन्त-कथं न्वियं विद्येतरे विद्ये स्यात्, कथमन्तरिक्षलोक इतरौ लोकौ प्रतिस्यात् इति। ते होचुः—'उपांश्वेव यजुर्भिश्चराम। तत एषा विद्येतरे विद्ये प्रतिभविष्यति, ततोऽन्तरिक्षलोक इतरौ लोकौ प्रति-भविष्यति' इति"।

४—"तैरुपांश्वचरन्-आप्याययन्नेवैतानि तत्। तत एषा विद्येतरे विद्ये प्रत्यासीत्। ततोऽन्तरिक्षलोक इतरौ लोकौ प्रत्यासीत्। तस्माद्यजूंषि निरुक्तानि सन्ति-अनिरुक्तानि। तस्मादयमन्तरिक्षलोको निरुक्तः सन्ननिरुक्तः"।

(शत० ब्रा० ४।६।७।१३,१७,)।

१-' देवताओं नें पहिले पहिले यजु से ही यज्ञ का वितान किया. अनन्तर ऋक् से, अनन्तर साम से (यज्ञवितान किया)। वैसा ही आज भी (इस मनुष्यकृत वैध यज्ञ में यज्ञसम्पादक ऋत्विज) पहिले पहिल यजु से ही यज्ञ का वितान करते हैं, अनन्तर ऋक् से, ऋगनन्तर साम से (यज्ञवितान करते हैं)। (ऋक्-साम का संगमन कराने के कारण) 'यज्ञ' (नाम से प्रसिद्ध तत्त्व ही देवताओं की परोक्षभाषा में) 'यजु' नाम से प्रतिद्ध है।'' २-'जहाँ प्रतिष्ठाधरातल के आधार पर देवताओं के लिए (यजुः-ऋक्-साम नाम की तीन) विद्याओं नें कामनाओं (अभीप्सित फलों) का दोहन किया। उस दोहन प्रक्रिया में देवताओं के लिए यजु-विद्या ने ही सबसे अधिक कामनाओं का दोहन किया। (परिणाम यह हुआ कि, अत्यधिक कामदोहन से) वह यजुर्विद्या निस्सार ही बन गई। फलतः यजुर्विद्या ऋक्-साम नाम की इतर दोनों विद्याओं की (भी) अनुगामिनी न बन सकी, अन्तरिक्षलोक, एवं इतर दोनों लोकों की (भी) अनुगामिनी न बन सकी'' । ३-''देवताओं नें संकल्पात्मक विचार किया कि, किस उपाय से इस निर्धीतरसा यजुर्विद्या को इतर विद्याओं की प्रतिस्पर्द्धा में खड़ा किया जाय, एवं कैसे इसे अन्तरिक्षलोकात्मक दोनों लोकों का अनुगामी बनाया जाय । अन्त में यह निर्णय किया कि-''अपन यजु का उपांशु (गुप्त) रूप से ही प्रचार (वितान) करें । इसी से यह यजुर्विद्या दोनों विद्याओं, एवं दोनों लोकों की प्रतिस्पर्द्धा में ठहर सकेगी''। ४-देवताओं नें यजुओं का आप्यायन करते हुए उपांशु ही इनका प्रचार किया। फलतः यह विद्या भी दोनों विद्याओं की, तथा दोनों लोकों की प्रतिस्पर्धा में ठहर गई। इसीलिए (उपांशुभाव से ही) ये यजु निरुक्त रहते हुए भी अनिरुक्त हैं। अतएव (यजुर्मय) अन्तरिक्षलोक निरुक्त होता हुआ भी अनिरुक्त है''।

उक्त अक्षरार्थ के तात्त्विक बोध के लिए पूर्वप्रतिपादित छन्दोवेद की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। हृदय की स्वरूपव्याख्या करते हुए यह बतलाया गया है कि, स्थितिलक्षण हृदयाकाश में प्रतिष्ठित ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्राक्षरमूर्त्ति, स्थिति-गत्यात्मक, प्रकृति नामक तत्त्व का ही नाम हृदय है । यह हृदय ही स्थितिभाव से जू, गतिभाव से यत् बनता हुआ यजुः है, यही यजुर्विद्या है। विष्कम्भात्मिका ऋक्, तथा परिणाहात्मक साम ही इतर दोनों ऋक्-सामविद्या हैं। इन तीनों विद्याओं से ही उस त्रिदेवव्यापार से सृष्टि का निर्म्माण हुआ है। इस निर्म्माण प्रक्रिया में यजुर्म्मूर्त्ति हृदय की मात्रा ही अतिशयरूप से सृष्टिप्रक्रिया में खर्च होती है। स्वयं विष्कम्भ (ऋक्) भी हृदय (यजु) का ही विस्तार है, विष्कम्भविस्तारात्मक परिणाह (साम) भी परम्परया इसी यजु की महिमा है। पहिले पहिल हृदय से ही वस्तुनिर्म्माणप्रक्रिया का आरम्भ होता है, जैसाकि, 'हृन्मूलासृष्टिविद्या' को प्रधानता देने वाले महर्षि हिरण्यगर्भ की 'हिरण्यगर्भविद्या*' में (अन्यत्र) विस्तार से निरूपित है। हृदयलक्षण यजु के व्यापार का दूसरा फल विष्कम्भलक्षण ऋक् है, तीसरा परिणाम परिणाहलक्षण साम है। प्रत्येक मूर्त्तिसृष्टि में हृदय-(यजु)-विष्कम्भ (ऋक्) परिणाह (साम), यही सहज क्रमधारा रहती है। इस सहज क्रमधारा से हृद्या देवत्रयी की कामना पूरी हो जाती है, मूर्त्ति का उदय हो जाता है। परन्तु हृदयमात्रा विलीन हो जाती है। विलीन हो जाने का तात्पर्य्य यही है कि, मूर्त्ति का परिणाहरूप बाह्य आकार, तथा विष्कम्भरूप आयाम-विस्तार-उत्सेध-घनता-धर्म्मों की जैसी अभिव्यक्ति रहती है, हृदयरूप यजु इस अभिव्यक्ति से तब भी वञ्चित रह जाता है, जबकि दोनों विद्याएँ इसी का उपबृंहणमात्र हैं।

---

* इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन 'मुण्डकोपनिषद्विज्ञानभाष्य' में देखना चहिए।

यह तो हुई मूर्त्तिलक्षण छन्दोवेद की गाथा। अब उस वितानवेद का विचार कीजिए, जिसमें अन्तरिक्ष, द्यु, नामक दो लोक और प्रतिष्ठित हैं, एवं जिसका भूलोक स्वयं मूर्तिपिण्ड है। वितानवेद में प्रत्यक्ष में यद्यपि ऋक्-साम का ही साम्राज्य उपलब्ध हो रहा है। परन्तु यह ध्रुव सत्य है कि, मूल में प्रतिष्ठित हृदयरूप यजु ही अपने साहस्रीभाव से उपांशुरूप से महिमामण्डल की परिधि पर्य्यन्त व्याप्त रहता हुआ दोनों की प्रतिष्ठा बन रहा है, दोनों की प्रतिस्पर्द्धा में खड़ा हुआ है।

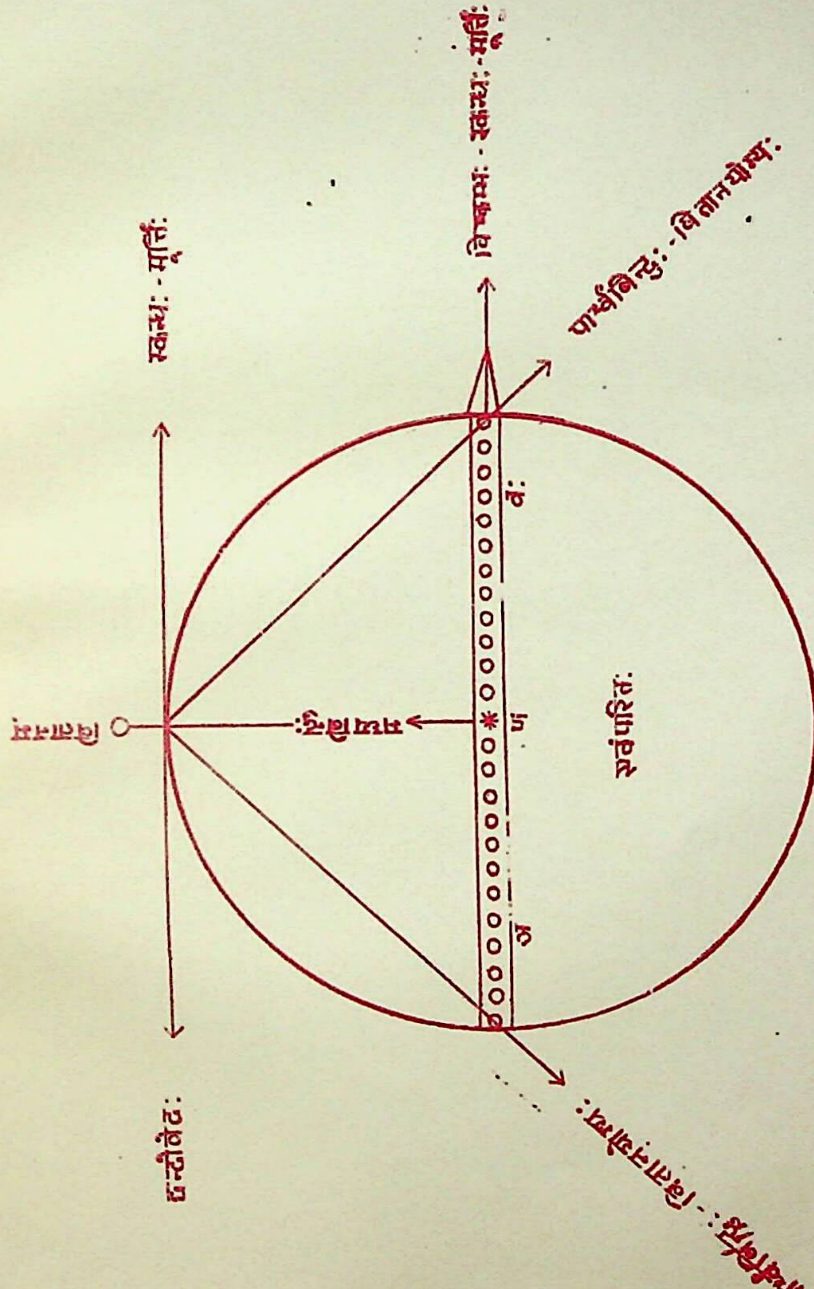
२२-प्रजापति की सहस्रायु—

'सहस्र' भाव क्या वस्तु है ?, इस अवान्तर प्रश्न के सम्बन्ध में प्रकृत में विशेष नहीं कहा जा सकता। **'प्राजापत्यवेदमहिमा'** प्रकरण में **'सहस्रायुर्जज्ञे'** इत्यादि अवान्तर प्रकरण में सहस्र शब्द की व्याख्या की जा चुकी है। यहाँ केवल यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि, मूल में प्रतिष्ठित हृद्य देवताओं के प्राणगर्भित वाङ्मय अग्निहोत्र से उत्पन्न 'गौ' नामक सहस्र तत्त्व ही वेदसाहस्री का जनक बनता है। प्रत्येक पदार्थ के केन्द्र में देवत्रयी से सम्बद्ध सहस्र गौतत्त्व बीजरूप से प्रतिष्ठित रहते हैं। इन्ही का आगे जाकर सहस्र मण्डलरूप से वितान होता है। यही वितानमण्डल साममण्डल नाम से व्यवहृत हुआ है। एक सर्षप (सरसों) में भी यह साहस्रीमण्डल विद्यमान है, महाविश्व भी इस मण्डल से युक्त है, जो कि साहस्रीमण्डल विज्ञानभाषा में "वैश्वरूप्य" नाम से प्रसिद्ध है। **"अणोरणीयान्, महतोमहीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्"** में प्रतिपादित अणो० महतो० आत्मा त्रिदेवमूर्त्ति हृदयावच्छिन्न यजु ही है। यही उपक्रम में अणोरणीयान् है, उपसंहार में यही महतोमहीयान् है। इसप्रकार हृदयबिन्दु के व्यास द्वारा होने वाले सहस्र-गौ-वितान से वही मूर्त्ति मण्डलरूप में परिणत हो जाती है। मूर्त्ति मण्डलरूप में परिणत कैसे हो गई ?, किंवा छन्दोवेद वितानवेद में कैसे परिणत हो गया ?, इत्यादि प्रश्नों का यही संक्षिप्त समाधान है, एव समाधान का मूलमन्त्र है एकमात्र हृदयलक्षण यजुः-**'बहुधा विजायते, तस्मिन्ह तस्थौ भुवनानि विश्वा"**।

दूसरी दृष्टि से मूर्त्ति, और मण्डल के सम्बन्ध की मीमांसा कीजिए। जिस प्रजापति के आधार पर वितानवेद का विकास होता है, उसे ही पूर्व परिच्छेदों में हमनें 'सत्यप्रजापति' कहा है, एव इसके वहाँ **'नभ्य-उद्गीथ-सर्व'** भेद से तीन विवर्त्त बतलाए हैं। प्रकृत में नभ्यप्रजापति को हम **'अनिरुक्त'** प्रजापति कहेंगे, उद्गीथ को **'निरुक्तानिरुक्त'** प्रजापति कहेंगे, एवं सर्वप्रजापति को **'निरुक्तप्रजापति'** कहेंगे। सत्यप्रजापति के इस त्रित्त्व से प्रत्येक पदार्थ में **'नाभिविन्दु, मूर्त्तिपृष्ठ, बहिःपृष्ठ'** ये तीन भाव हो जाते हैं। मूर्त्तिपृष्ठ (वस्तुपिण्ड) का केन्द्र नाभिविन्दु बनता है, बहिःपृष्ठ का केन्द्र उद्गीथप्रजापति बनता है। नाभिविन्दु उसी प्रजापति का प्रथमान्त (पहिला अवसान, पहिली व्याप्ति) है, मूर्त्तिपिण्ड इसी का द्वितीयान्त है, बहिःपृष्ठ इसी का तृतीयान्त है। इस बहिःपृष्ठ में '९-१५-२१-३३-४८' ये पाँच अवान्तर पृष्ठ प्रतिष्ठित रहते हैं, जिनका प्रथम प्रकरण में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। इन तीनों पृष्ठों का मूलाधार क्योंकि हृदयबिन्दु है, अतएव इसे 'नभ्य' कहना अन्वर्थ बनता है। जैसाकि छन्दोवेदपरिच्छेद में बताया जा चुका है, शून्य बिन्दु ही केन्द्रबिन्दु है। इसमें आयाम-विस्तारादि ग्राह्य धर्म्म नहीं है। यह त्रिदेवमूर्त्तिमयी एक निराकारशक्ति है, प्रदेश का यहाँ अत्यन्ताभाव है। दिग्-काल की गति यहाँ अवरुद्ध है। यही हृद्य-बिन्दु वस्तुभार की तुला (तराजू) है।-**'तत्प्रतिष्ठायां तद्वस्तुप्रतिष्ठा, तदप्रतिष्ठायां तद्वस्तूच्छेदः"**।

(३१८, तथा ३१९ के मध्य में)

(९)—अणु—स्कन्ध—प्रतिकृतिप्रदर्शनात्मकः परिलेखः—



श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, दुर्गापुरा (जयपुर)

सर्वाधार, स्वयं पराधारापेक्षया निराधार वह हृद्बिन्दु ही छन्दोवेद की प्रतिष्ठा बनती हुई अपने अनिरुक्त (उपांश) रूप से वितानभाव में परिणत होती है।

२३–प्रजापति के अणु–स्कंधभाव—

अविग्रहात्मा (निराकार) ब्रह्म की चर्चा को सर्वथा अविज्ञेय मानते हुए जब हम विग्रहात्मा प्रजापति के दर्शन करने आगे बढ़ते हैं, तो वहाँ हमें 'आत्मा–प्राण–पशु' नामक तीन पर्वों की उपलब्धि होती है, जिस प्राजापत्य पवका कि पूर्वपरिच्छेदों में **"मनोमय आत्मा, प्राणमयः प्राणः, वाङ्मयाः पशवः"** इत्यादिरूप से विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। मनःप्राणवाङ्मय सविग्रहात्माप्रजापति ब्रह्मेन्द्रविष्णुरूप हृद्या प्रकृति का समन्वय प्राप्त कर तदभिन्न बनता हुआ ही सृष्टिनिर्म्माण में प्रवृत्त होता है। सृष्टिनिर्म्माता इस प्रजापति से **'अणु, स्कन्ध'** भेद से दो प्रकार की सृष्टियाँ होतीं हैं। परमाणु को हम यहाँ अणु कहेंगे, एवं जिन अनन्त परमाणुओं के समन्वय से स्थूल पदार्थ उत्पन्न होते हैं, उसे हम **'स्कन्ध'** कहेंगे। दूसरे शब्दों में स्थूलपिण्ड उसी प्रजापति की स्कन्धसृष्टि कहलाएगी, एवं सुसूक्ष्म परमाणु उसी की अणुसृष्टि मानी जायगी। इन दोनों सृष्टियों का मूलाधार प्रजापति नभ्यबिन्दु (हृदय) लक्षण कहा जायगा। क्योंकि इसी से अणु का, एवं अणु द्वारा स्कन्ध का विकास होता है।

पदार्थ साधारण की चर्चा थोड़ी देर के लिए छोड़ दीजिए। सूर्य्य–पृथिवी पिण्ड को उदाहरण बना-इए। एवं इन्हीं में वितानवेद के स्वरूप का साक्षात्कार कीजिए। भूपिण्ड–पिण्ड है, मूर्त्ति है। इसमें अवश्य ही एक विष्कम्भ होगा, विष्कम्भ का मूलाधार अवश्य ही (विष्कम्भमध्यस्थ) हृदय होगा। इस हृदय से दोनों ओर वितत व्यास का क्या स्वरूप है ?, यदि यह प्रश्न किया जायगा, तो उत्तर होगा--'अणुसंघात'। अनेक अणुओं के समन्वय का ही नाम एक व्यास है। ऐसे अनेक व्यासों के समन्वितरूप का ही नाम एक स्कन्ध है, यही एक वस्तुपिण्ड है। वस्तुपिण्ड को छोड़ते हुए विशुद्ध विष्कम्भ पर दृष्टि डालिए।

२४–सहस्र के सहस्रधा महिमानः सहस्रवितान—

"सम्पूर्ण मूर्त्तिपिण्ड अनेक व्यासों की राशिमात्र है, प्रत्येक व्यास अनेक अणुओं का संघात है, प्रत्येक अणु अपना अपना एक स्वतन्त्र केन्द्र रखता है। केन्द्रबिन्दु ही अणु की जननी है, अणु ही व्यास के जनक हैं, एवं व्यास ही स्कन्धात्मक मूर्त्तिपिण्ड के आविर्भावक हैं" यह सिद्धान्त विज्ञानसिद्धान्त से कुछ विरुद्ध सा प्रतीत हो रहा है। क्योंकि विज्ञानसम्मत पक्ष यही है कि, एक वस्तुपिण्ड में अणु चाहे कितने हीं हों, परन्तु केन्द्र और व्यास एक एक ही होता है। विज्ञान के इस सिद्धान्त का प्रतिवाद तो इसलिए नहीं किया जा सकता कि, वस्तुतः केन्द्र एक ही है, तदनुबन्धी विश्कम्भ भी एक ही है। साथ ही समर्थन इसलिए नहीं किया जा सकता कि, महिमारूप से एक ही मूर्त्ति में केन्द्र भी असंख्य हैं, तदनुबन्धी व्यास भी असंख्य हैं, फलतः मूर्त्तियाँ भी असंख्य हैं, यही हृदययजुर्म्मय नभ्यप्रजापति का सहस्रधा महिमानः सहस्र वितान है।

मान लीजिए सूर्य्यकेन्द्र से सहस्र रश्मियाँ निकल कर इतस्ततः भचक्र में व्याप्त हो रहीं हैं। भचक्र वायु से आसमन्तात् पूर्ण है। वायुतत्त्व भार्गव (सौम्य) बनता हुआ एक वीध्र पदार्थ है। वीध्र पदार्थ रश्मि-ग्राहक बनने के साथ ही उसका परावर्त्तक भी बन जाया करता है। दर्पण पर प्रतिबिम्बित एक रश्मिसे सूर्य्य–

बिम्ब बना। वीध्र दर्पण ने रश्मिको वापस फैंका। यहाँ एक नया रश्मिमण्डल बन गया। इसीप्रकार प्रतिफलित रश्मियों को अन्य वीध्र पदार्थों का सहयोग प्रदान करते जाइए, एक से सहस्र, सहस्र से सहस्रों रश्मियों का वितान हो जायगा। ठीक इसी नियम के अनुसार वीध्र वायुधरातल से (जिस वायु में-'त्वमातन्थोर्वन्तरिक्षम्'-(ऋक्संहिता-वाला दिक्सोम व्याप्त है) उन रश्मियों का सम्बन्ध होता है। परिणामतः रश्मि से रश्मि, पुनः इस से अन्य रश्मि, इस क्रम से वे सहस्ररश्मियाँ अनन्त सहस्रों में विभक्त हो जाती हैं। जहाँतक सौरी-ब्रह्मवाक् की व्याप्ति है, जो सौरपरिधि 'लोकालोक' नाम से प्रसिद्ध है, जिसे वैज्ञानिक 'हिरण्मयमण्डल' कहा करते हैं, जिसके स्वरूपावच्छेदक रोदसीत्रिलोकीरूप द्यावापृथिवी हैं, वहाँ तक अपने अनन्त सहस्रभावों से रश्मिगत-सौर-ज्योतिःप्राण व्याप्त हो जाता है। यह महारश्मिमय महाज्योतिर्म्मण्डल उस एक ही नभ्यबिन्दु का 'सहस्रधा महिमानः सहस्रम्' वितान है। इस वितान का फल है-'अच्छिद्र पवित्र सौर तेज'। यद्यपि 'बालमात्राद् खिल्याः' निर्वचन रखने वाले 'बालखिल्या' नामक प्राणविशेष सौररश्मियों के व्यवच्छेदक बन रहे हैं। परन्तु वितानमहिमा के आगे यह व्यवधान अभिभूत हो रहा है। अतएव रश्मिप्रसारलक्षण यह सौरतेज अच्छिद्ररूप से (एकाकार से) सम्पूर्ण त्रैलोक्य में व्याप्त है। यदि रश्मियों का सहस्रधा-सहस्रवितान न होता, तो व्यवधानधर्म्मावच्छिन्न रश्मियों का यह प्रकाश कभी अच्छिद्र नहीं बनता। इसी महिमासाहस्री का स्पष्टीकरण करते हुए ऋषिने कहा है—

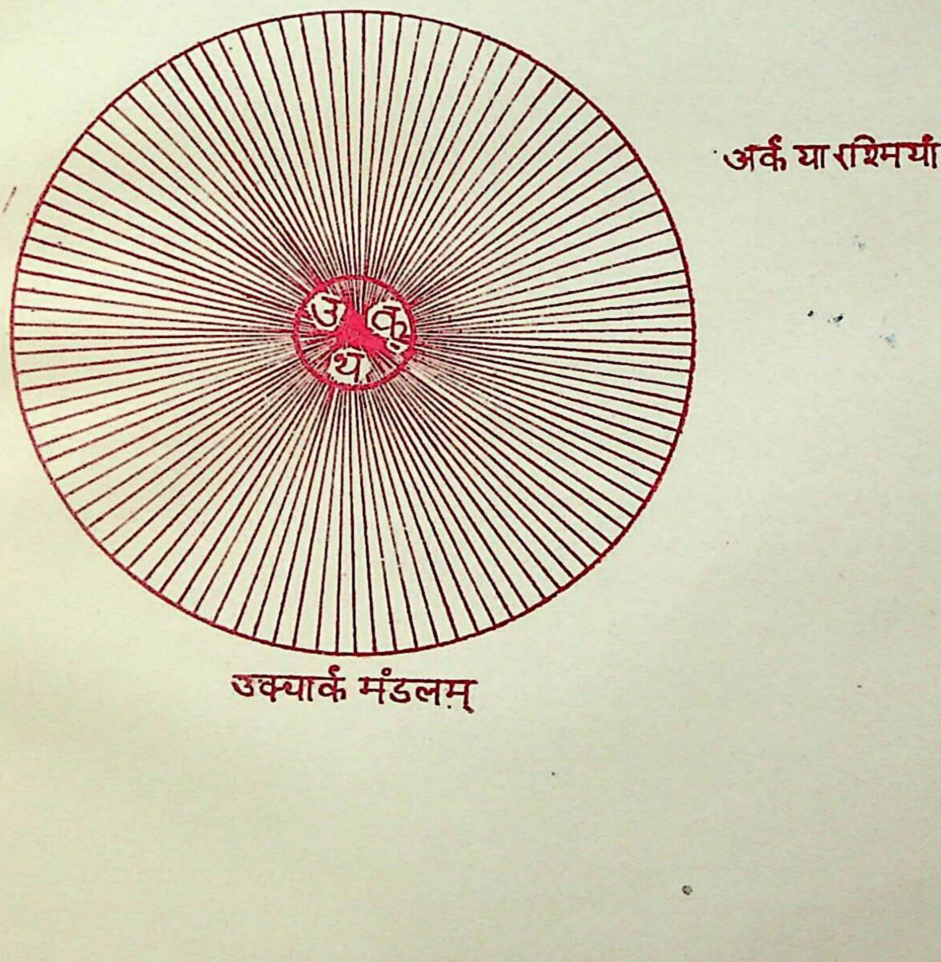
"सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद्द्यावापृथिवी तावदित्तत्।
सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्"।

न केवल सूर्य्य में हीं, अपितु वस्तुमात्र के केन्द्र से इसी प्रकार (हृदयमूल से) सहस्ररश्मियों का वितान होता है 'अहं सूर्य्य इवाजनि' (ऋक्संहिता) इत्यादि मन्त्र सहस्र की इसी व्याप्ति का स्पष्टीकरण कर रहा है। 'अधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत्' के अनुसार नीचे ऊपर-दाएँ-बाएँ-तिर्य्यक्, सब ओर रश्मिप्रसार स्वाभाविक है। यही रश्मिमण्डल उस मूर्त्ति की महिमा कहलाई है, जिसका विकास हुआ है, उन पार्श्ववर्त्ती अणुओं से, जो विष्कम्भ की सीमा बने रहते हैं। निम्न लिखितरूप से प्रत्येक वस्तु में आप सहस्र-रश्मि-वितान का समन्वय कर सकते हैं।

२५-हृदयबिन्दु का परितः वितान—

मूर्त्तिपिण्ड के जिस एक केन्द्र को मध्यबिन्दु माना जाता है, उससे सर्वथा अभिन्नवत् आगे एक बिन्दु और प्रतिष्ठित कर दीजिए। इसप्रकार एक बिन्दु के आगे एक बिन्दु का समावेश करते जाइए। ऐसी सहस्र बिन्दुओं का सन्निवेश करने के पश्चात् उस व्यास पर आइए, जो प्रथम बिन्दु का ग्राहक बना हुआ है। उत्तरोत्तर वितत होने वाली प्रत्येक बिन्दु के साथ एक स्वतन्त्र व्यास और बनाते जाइए। इसप्रकार सहस्र बिन्दुओं के सहस्र ही व्यास हो जायँगे। प्रत्येक व्यास के साथ एक एक परिणाह का सम्बन्ध करते जाइए, एक सहस्र ही परिणाह हो जायँगे। इसके साथ ही यह लक्ष्य में रखिए कि, मध्यबिन्दु में वे सहस्रमात्राएँ पूर्वकथनानुसार बीजरूप से प्रतिष्ठित हैं। बीजस्था हृद्या प्राजापत्या वेदमात्रा ही उत्तरोत्तर वितत होकर इतर हृदय-व्यास-परिधियों की जननी बनती है। यही हृद्य प्रजापति का उत्तरोत्तर विस्रंसन है। इसी विस्रंसन से प्रजापति

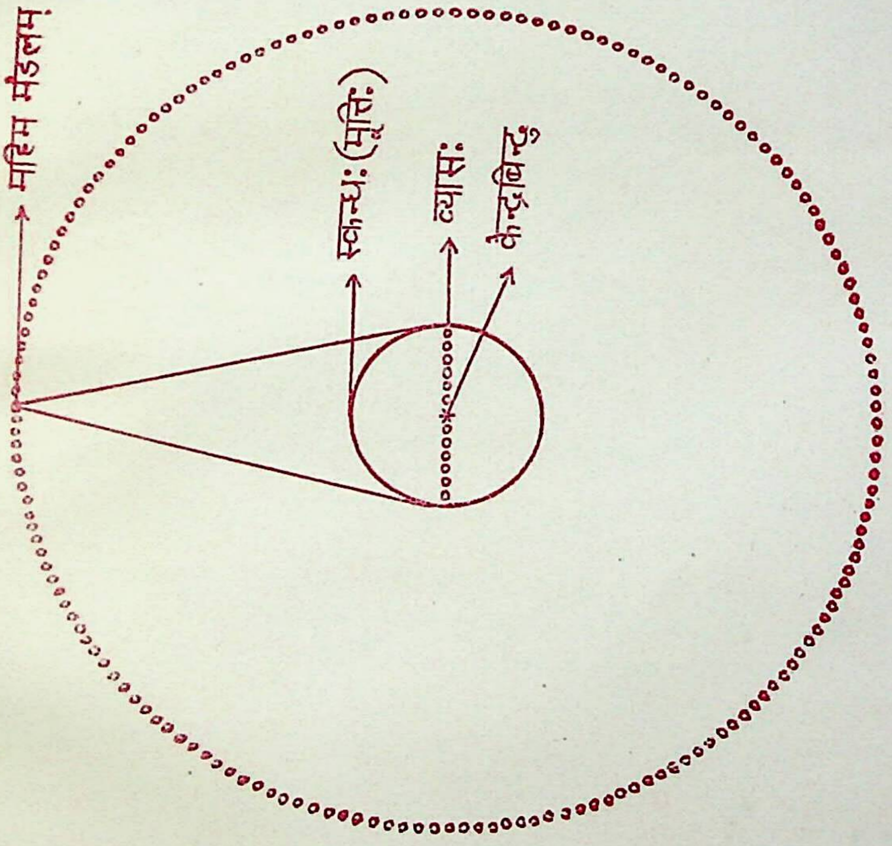
(१०)—रश्म्यर्कसहस्रवितानपरिलेखः—



श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, दुर्गापुरा (जयपुर)

(३२१, तथा ३२२ के मध्य में)

(११)—व्यासाणुबिन्दुवितानपरिलेखः—



रिरिचान बनते रहते हैं। एवं प्रजापति का यह रिरिचानभाव अग्निलक्षण चयनयज्ञ से पुनः संहित होता रहता है, जैसा कि 'प्राजापत्यवेदमहिमा' में विस्तार से बतलाया जा चुका है।

अवश्य ही एक मूर्त्ति में एक ही हृदय होता है, एक ही व्यास होता है, एवं एक ही परिधि होती है। किन्तु हृदयभेद से जब मूर्त्तियाँ एक सहस्र हैं, तो इन तीनों के सहस्र वितानों में विज्ञानसिद्धान्त की कोई क्षति नहीं होती। सर्वसाधारण जिस वस्तुपिण्ड को एक मूर्त्ति मान रहा है, विज्ञानदृष्टि उसी मूर्त्ति के आधार पर महिमामयीं सहस्र मूर्त्तियाँ मान रही है।

कहा जा चुका है कि, पूर्वबिन्दु के आगे एक बिन्दु का समावेश और होता है। कैसे ?, इसका उत्तर है व्यास के पार्श्ववर्त्ती दो बिन्दु। पार्श्वाणु [पार्श्वबिन्दु) स्वमहिमा से एक 'सिद्धाणु' रूप में परिणत होकर आगे की नभ्यबिन्दु (केन्द्रबिन्दु) बन जाते हैं। इसी उत्तरबिन्दु को केन्द्र मान कर पुनः एक स्वतन्त्र व्यास बनता है। परन्तु इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना होगा कि, उत्तर व्यास मध्य व्यास की अपेक्षा छोटा होगा। इस दूसरे व्यास में भी वही सिद्धाणुक्रम चलता है। पुनः हृदय का वितान होता है, एवं हृदयाधार पर पुनः विष्कम्भ का उदय हो जाता है। पूर्व पूर्व विष्कम्भ की दोनों पार्श्वबिन्दुओं की सम्मिलित अवस्थारूप एक एक सिद्धाणु उत्तर-उत्तर का केन्द्र बनता जाता है, केन्द्र के साथ बिन्दुद्वय के उत्तरोत्तर क्रमिक ह्रास से तदनुबन्धी व्यास भी उत्तरोत्तर छोटा होता जाता है। सर्वान्त में जब एक ही बिन्दु रह जाती है, तो सिद्धाणु के निर्म्माण को अवसर नहीं मिलता। बस, वहीं अन्तिम सीमा समाप्त हो जाती है। तीन बिन्दुओं के अभाव से आगे दो बिन्दुओं का गमन अवरुद्ध है। अतएव आगे केन्द्रबिन्दु का आविर्भाव अवरुद्ध है। अतएव व्यास की स्वरूपनिष्पत्ति अवरुद्ध है। व्यास ऋक् है। क्योंकि अन्तिम नभ्यबिन्दु के आगे व्यास का अभाव है, अतएव इस अन्तिम साममण्डल को 'उदचसाम' 'निधनसाम' इत्यादि नामों से व्यवहृत किया जाता है।

२६-सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी-शब्दों की परिभाषा—

स्वज्योतिर्म्मय प्रत्येक पदार्थ की सामान्य संज्ञा 'सूर्य्य' है, परज्योतिर्म्मय प्रत्येक पदार्थ की संज्ञा 'चन्द्रमा' है, एवं रूपज्योतिर्म्मय प्रत्येक पदार्थ की संज्ञा 'पृथिवी' है। अपने प्रातिस्विक ज्योतिष्टोमयज्ञ से परितः(चारों ओर से) ज्योतिर्म्मय बने रहने वाले, अपने ज्योतिःप्रदान-धर्म्म से दूसरे वीभ्र पिण्डों को प्रकाशित करने वाले पदार्थ ही स्वज्योतिर्म्मय मानें गए हैं। इन्हीं को 'सूर्य्य' नाम से व्यवहृत किया गया है। भचक्र में बृहतीछन्द पर प्रतिष्ठित स्वज्योतिर्गोलक इसी धर्म्म के कारण 'सूर्य्य' कहलाए हैं। इसी प्रकार स्वाती, लुब्धक, चित्रा,आदि आदि और और जितनें भी स्वज्योतिर्म्मय नक्षत्र हैं, उन्हें भी सूर्य्य ही कहा जायगा। स्वयं आत्मा भी इसी परिभाषा के अनुसार सूर्य्य कहलाया है। स्वज्योतिर्म्मय किसी सूर्य्य के प्रकाश को लेकर एक भाग से प्रकाशित, एक भाग से अप्रकाशित रहने वाले ज्योतिर्म्मय पिण्ड हीं परज्योतिर्म्मय कहलाए हैं। प्रत्यक्ष-दृष्ट चन्द्रमा इसी धर्म्म से चन्द्रमा कहलाया है। इसके सदृश अनेक चन्द्रमा हैं। ये भी सूर्य्यवत् अन्य पदार्थों को प्रकाशित करते हैं। जिन पदार्थों से ज्योति का आविर्भाव नहीं होता, अतएव सूर्य्य-चन्द्रादि की भांति जो दूसरों को प्रकाशित करने में असमर्थ हैं, जो केवल अपने रूपज्योति (स्वरूपज्योति) के ही प्रदर्शक बने रहते हैं, वे सब पदार्थ 'पृथिवी' नाम से व्यवहृत हुए हैं। पिण्ड की सामान्य संज्ञा 'भूः' है।

इस परिभाषा के अनुसार सूर्य्य–चन्द्रमा–पृथिवी–आदि सभी पिण्ड भू हैं । सूर्य्य स्वज्योतिर्म्मयी 'भूः' है, चन्द्रमा परज्योतिर्म्मयी 'भूः' है, एवं पृथिवी रूपज्योतिर्म्मयी 'भूः' है । भूरूप प्रत्येक पिण्ड अपने व्यामाणुवितान से महिमाभाव से युक्त रहता है ।

२७–कूटस्थ व्यास के आधार पर भूतव्यासों का वितान—

भूलक्षण पिण्ड का केन्द्रानुबन्धी व्यास 'कूटस्थ' व्यास कहलाता है, एवं आगे के इतर व्यासों को 'भूतव्यास' कहा जा सकता है । केन्द्रस्थ अक्षर ही स्कन्धात्मक क्षरकूट का विवर्त्त बनता हुआ–'कूटस्थोऽक्षर उच्यते' के अनुसार कूटस्थ कहलाया है । आगे के व्यासों में अणुभावों की प्रधानता है । अणु स्वयं क्षरात्मक हैं, क्षरप्रधान हैं । क्षर ही 'क्षरः सर्वाणि भूतानि' के अनुसार भूत है । अतएव अणुप्रधान इतर व्यासों को 'भूतव्यास' कहा जा सकता है । जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होने वाला है, हमें व्यासलक्षण ऋक् का ही प्रत्यक्ष होता है । प्रत्यक्ष का विषय बनने वाले ऋग्रूप व्यास महिमामण्डल से सम्बन्ध रखने वाले भूतव्यास ही मानें जायँगे । हमारी भौतिक चक्षुरिन्द्रिय क्षरात्मक भूतव्यास का ही प्रत्यक्ष कर सकती है । कूटस्थ व्यास तो कूटस्थ अतीन्द्रिय अक्षरमूलक बनता हुआ इन्द्रियातीत ही रहता है । इसी आधार पर यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है कि, "हम कूटस्थ व्यास वाले–भूपिण्ड (वस्तुमूर्त्ति) को नहीं देखते, नहीं देख सकते । अपितु भूतव्यासावच्छिन्ना भूमहिमामयीं मण्डलात्मिका मूर्त्तियों का ही साक्षात्कार सम्भव है" ।

भू से भूमहिमा कितनी बड़ी ?, कहाँ तक इसकी व्याप्ति ?, इत्यादि प्रश्नों का उत्तर भी कूटस्थ व्यास ही है । स्कन्धापरपर्य्यायक मूर्त्तिपिण्ड के जितने अणुओं से कूटस्थ व्यास का स्वरूप निष्पन्न हुआ है, उस अणुसमष्टिरूप कूटस्थ व्यास के पार्श्ववर्त्ती अन्तिम दोनों अणुओं से दक्षिण की ओर * तिर्य्यक् रेखा ले जाइए । जहाँ जाकर ये दोनों अणुरेखाएँ मिल जाँय, वहाँ से एक वृत्त बना डालिए । यही वृत्त 'भूमहिमा' कहलाएगी । पिण्डव्यास के तारतम्य से इन पिण्डमहिमाओं का स्वरूप अपेक्षाकृत छोटा बड़ा होगा । निम्नलिखित परिलेख के माध्यम से प्रत्येक पिण्ड की महिमा का स्वरूप जाना जा सकता है ।

२८–पार्थिव, एवं सौर सामत्रयी—

उदाहरण के लिए यहाँ सूर्य्य, पृथवी नाम के भू पिण्डों की महत्ता (महिमा) का विचार कीजिए । पृथवीपिण्ड की अपेक्षा सूर्य्यपिण्ड कहीं बड़ा है । इसकी महत्ता का केवल इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि, कोटि–कोटि–क्रोश पर्य्यन्त अपने मण्डल की व्याप्ति रखने वाला भूपिण्ड मण्डल सहित सौर मण्डल के गर्भ में समाविष्ट है । पृथिवीपिण्ड से सूर्य्य कितनी दूर ?, इस प्रश्न का उत्तर जहाँ वर्तमान विज्ञान '६ करोड़ मील दूर' इन शब्दों में देता है, वहाँ वैदिक विज्ञान अपनी भाषा में–"एकविंशो वा इत आदित्यः" यह उत्तर दे रहा है । 'पृथवी से २१ पर सूर्य्य है', इस उत्तर का तात्पर्य्य यही है कि, भूपिण्ड से

---

* वैदिक परिभाषानुसार 'उत्तर' केन्द्र का वाचक है, दक्षिण परिधि का वाचक है । "ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः" इत्यादि में ऊर्ध्व शब्द भी केन्द्राभिप्राय का ही सूचक है, जैसा कि गीतामूलभाष्यान्तर्गत 'अश्वत्थविद्या' प्रकरण में विस्तार से प्रतिपादित है ।

सम्बन्ध रखने वाला, ४८ अहर्गणात्मक, जो वषट्कारमण्डल है, उस महिमारूप वाङ्मय वषट्कारमण्डल के २१ वें अहर्गण पर सूर्य्य है। वैदिक संख्याविज्ञान की प्रतिष्ठा सहस्र संख्या है, अतएव **'पूर्णं वै सहस्रम्'** यह कहा गया है। इसका यह तात्पर्य्य नहीं है (जैसा कतिपय आधुनिक कल्पना किया करते हैं) कि, ऋषि सहस्र-संख्या से अधिक संख्या ही न जानते थे। परमपरार्ध्य की संख्या के आविष्कारक इन ऋषियों नें किसी कारणविशेष से ही सहस्र को पूर्ण संख्या माना है, जैसा कि अगले प्रकरणों में स्पष्ट होने वाला है। मूलस्थ बीजरूप सहस्रभाव के वितानमण्डल को ही वाङ्मण्डल कहा गया है। यही वषट्कार है। इस वषट्कार के **'अग्नि-आपः-वाक्'** नामक तीन शुक्रों से तीन विवर्त्त हो जाते हैं। अग्निशुक्र वषट्कार की एक सीमा है, आपःशुक्र वषट्कार की एक सीमा है, वाक्शुक्र वषट्कार की एक सीमा है। हृद्-ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र, इन तीन अक्षरों का संस्थाविभेद ही इस सीमात्रयी का जनक है। अग्निपृष्ठ पर्य्यन्त इन्द्राक्षर का, आपः-पृष्ठ पर्य्यन्त विष्णवक्षर का, वाक्पृष्ठ पर्य्यन्त ब्रह्माक्षर का साम्राज्य है, जैसाकि—**"यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्"** रूप से पूर्व की सहस्रव्याख्या में स्पष्ट किया जा चुका है। अग्निपृष्ठ २१ वें अहर्गण पर समाप्त है, यहीं सूर्य्य प्रतिष्ठित है। आपःपृष्ठ ३३ पर समाप्त है, वाक्पृष्ठ ४८ पर समाप्त है। इन तीनों पृष्ठों की समाप्ति पृथिवी का 'रथन्तर' साम है। **'आदित्यो वै देवरथः'** के अनुसार सूर्य्य रथ है, पार्थिव साम ने इस सूर्य्यरूप रथ का भी तरण (पार) कर रक्खा है, अतएव इसे 'रथन्तर' कहा जाता है। अपिच यह पार्थिव साम यजुः रस से ओतप्रोत बनता हुआ रसतम है। इसलिए भी इसे रथन्तर कहना अन्वर्थ बनता है, जैसाकि—**"रसतमं ह वै रथन्तरमित्याचक्षते परोक्षम्"** (शत०९।१।२।३६।) इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है।

पार्थिव रथन्तरसाम के ही तीन रूप हो रहे हैं। पहिला अग्न्यात्मक रथन्तरपृष्ठ है, इसे 'रथन्तर' ही कहा जाता है। रथन्तर की पहिली व्युत्पत्ति का इस अग्निपृष्ठात्मक रथन्तर से सम्बन्ध है। क्योंकि २१ पर सूर्य्य है, और पार्थिव अग्निपृष्ठ २१ से ऊपर तक (लगभग २२पर्य्यन्त) जाता है, अतएव **'रथं-सूर्य्यं तरति'** से इसे रथन्तर कहना अन्वर्थ बनता है। दूसरी व्युत्पत्ति का समष्टि से सम्बन्ध है। तीनों ही पृष्ठ 'रसतम' हैं, अतएव पृष्ठत्रयी को रसतमापेक्षया रथन्तर कहा जा सकता है। दूसरा अन्नात्मक पार्थिव पृष्ठ **'वैरूपसाम'** नाम से प्रसिद्ध है। तीसरा वागात्मक पार्थिव पृष्ठ **'शाकरसाम'** नाम से प्रसिद्ध है। शाक्वरसाम लोकत्रया-नुबन्धी दिङ्मण्डल है। वैरूपसाम पर्जन्यानुबन्धी आपोमण्डल है। रथन्तरसाम यज्ञानुबन्धी अग्निमण्डल है। शुक्रापेक्षया जहाँ तीनों क्रमशः वाङ्मय, आपोमय, अग्निमय हैं, वहाँ *मनोता की अपेक्षा तीनों क्रमशः द्युमय, गोमय, वाङ्मय कहलाएँगे। "वाक्-गौ-द्यौः-तीनों पृथवी के मनोता हैं। अग्निपृष्ठ वाक्-मनोता से, अप्पृष्ठ गौ-मनोता से, एवं वाक्पृष्ठ द्यौ-मनोता से परिगृहीत है। इसप्रकार शुक्रत्रयी के अनुग्रह से पार्थिव महिमामण्डल के तीन मुख्य सामपर्व हो जाते हैं, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

---

*इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन 'ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य' प्रथम खण्ड के **"मनःप्राणवाक्-के त्रिवृद्भाव की व्यापकता"** नामक अवान्तर प्रकरण में देखना चाहिए।

१ अक्षरत्रयी	२ शुक्रत्रयी	३ स्तोमत्रयी	३ मनोतात्रयी	५ सामत्रयी	६ मण्डलत्रयी
३–ब्रह्मा—	वाक्	४८	द्यौः	शाक्वरं साम	दिङ्मण्डलम्
२–विष्णुः—	आपः	३३	गौः	वैरूपं साम	अब्मण्डलम्
१–इन्द्रः—	अग्निः	२१	वाक्	रथन्तरं साम	अग्निमण्डलम्

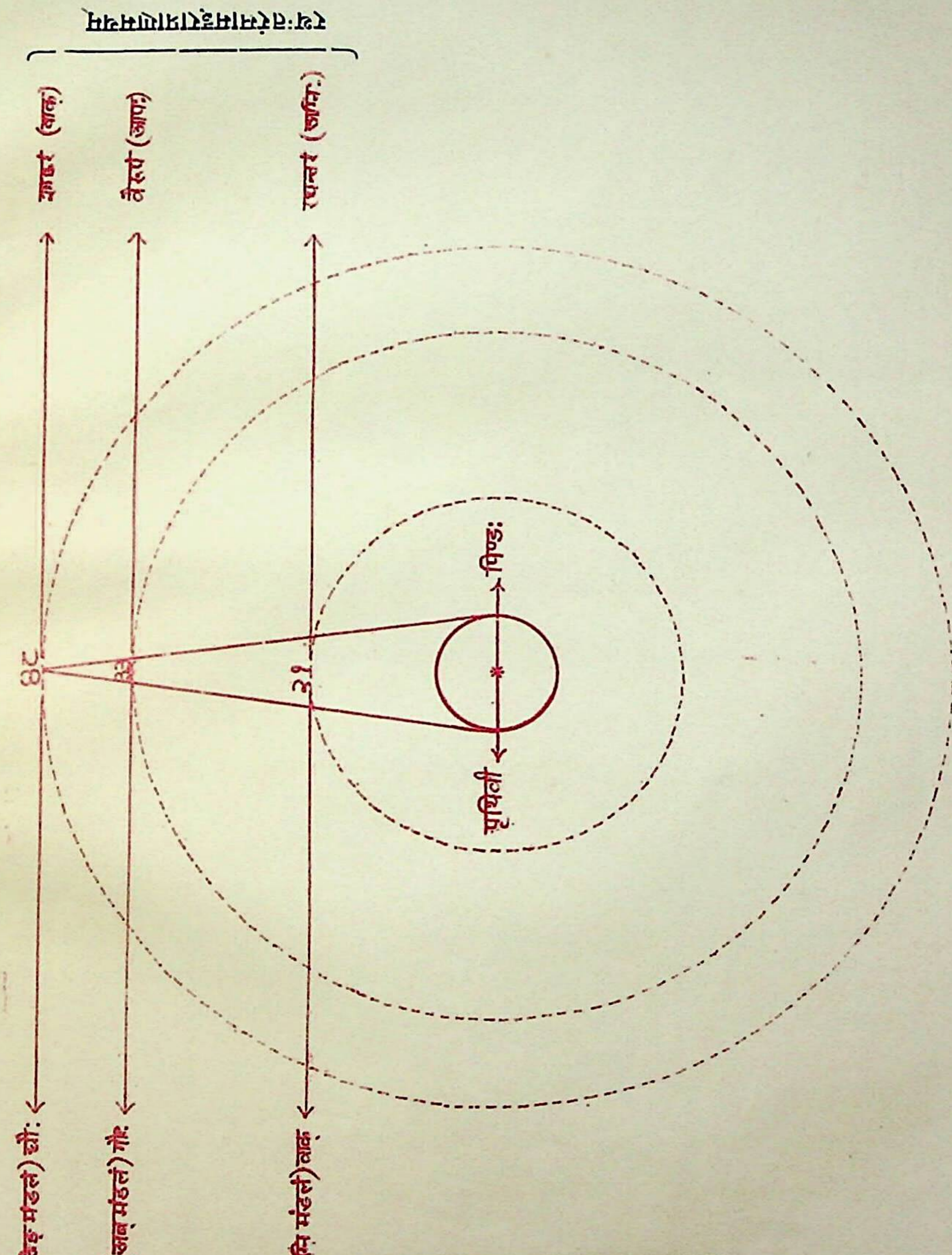
ठीक यही साम-संस्थानक्रम स्वज्योतिर्घन सूर्य्य में समझिए। अन्तर केवल बृहत्ता में है। अतएव सौरी पृष्ठत्रयी **'बृहत्साम'** नाम से व्यवहृत हुई है। अपिच जैसे पृथिवी में रसलक्षण यजुरग्नि की व्याप्ति रहती है, तथैव सौरसंस्था में बृहतीछन्दोऽवच्छिन्न बृहत्–इन्द्रप्राण की व्याप्ति रहती है। रसाग्नि से पार्थिव साम रसतम बनता हुआ जहाँ रथन्तर है, वहाँ बृहत्प्राण से सौरसाम बृहत्साम नाम से प्रसिद्ध है। पृथिवीवत् यहाँ भी २१–३३–४८ क्रम से अग्नि–आपः–वाक् शुक्रों का भोग हो रहा है। सूर्य्य के मनोता ज्योतिः, गौः, आयुः, नाम से प्रसिद्ध हैं। ज्योतिर्मनोतानुगृहीत, अग्निशुक्रात्मक, एकविंशस्तोमावच्छिन्न सौरसाम **'बृहत्साम'** नाम से प्रसिद्ध है। गौ–मनोतानुगृहीत आपः–शुक्रात्मक, त्रयस्त्रिंशस्तोमावच्छिन्न सौरसाम **'वैराजसाम'** नाम से प्रसिद्ध है। आयुः–मनोतानुगृहीत, वाक्–शुक्रात्मक, अष्टाचत्वारिंशत् स्तोमावच्छिन्न सौरसाम **'रैवतसाम'** नाम से प्रसिद्ध है। बृहत्साम–**'आदित्यमण्डल'** है, वैराजसाम **'ऋतुमण्डल'** है, रैवतसाम **'पशुमण्डल'** है। मण्डलत्रयात्मक–सामत्रयसमष्टिरूप से एक बृहत्साम है, जिसके अवान्तर तीन पर्व हैं। पृथिवी का २१ स्तोमात्मक रथन्तरसाम ही जब सूर्य्य से भी कुछ ऊपर तक अपनी व्याप्ति रखता है, तो पृथिवी पिण्ड की अपेक्षा कई गुणा अधिक–सूर्य्य का २१ स्तोमात्मक बृहत्साम कहाँ तक अपनी व्याप्ति रखता होगा ?, यह एक गम्भीर प्रश्न होने पर भी आपोमय परमेष्ठी के रहस्यवेत्ताओं के लिए सर्वथा निर्णीत विषय है।

१ अक्षरत्रयी	२ शुक्रत्रयी	३ स्तोमत्रयी	४ मनोतात्रयी	५ सामत्रयी	६ मण्डलत्रयी
३–ब्रह्मा—	वाक्	४८	आयुः	रैवतं साम	पशुमण्डलम्
२–विष्णुः—	आपः	३३	गौः	वैराजं साम	ऋतुमण्डलम्
१–इन्द्रः—	अग्निः	२१	ज्योतिः	बृहत् साम	आदित्यमण्डम्

(३२४, तथा ३२५ के मध्य में)

(१२)--पार्थिवसम्वत्सरचक्रानुगत--सामत्रयी–परिलेखः —

(समवत्सरं साम पार्थिवं रसतमम्)

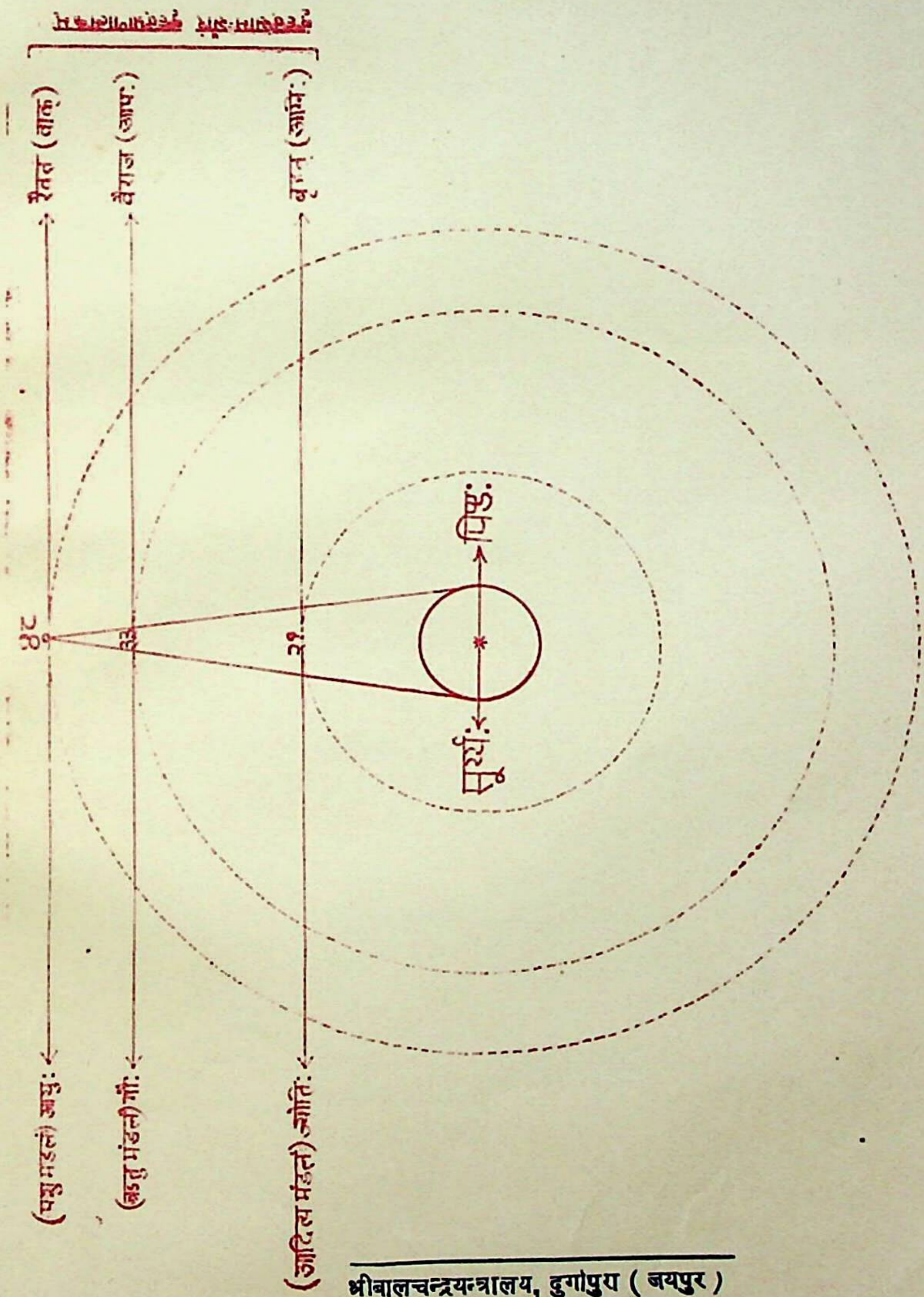


श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, दुर्गापुरा (जयपुर)

(३२४, तथा ३२५ के मध्य मे)

(१३)—सौरसम्वत्सरचक्रानुगत—सामत्रयी—परिलेखः—

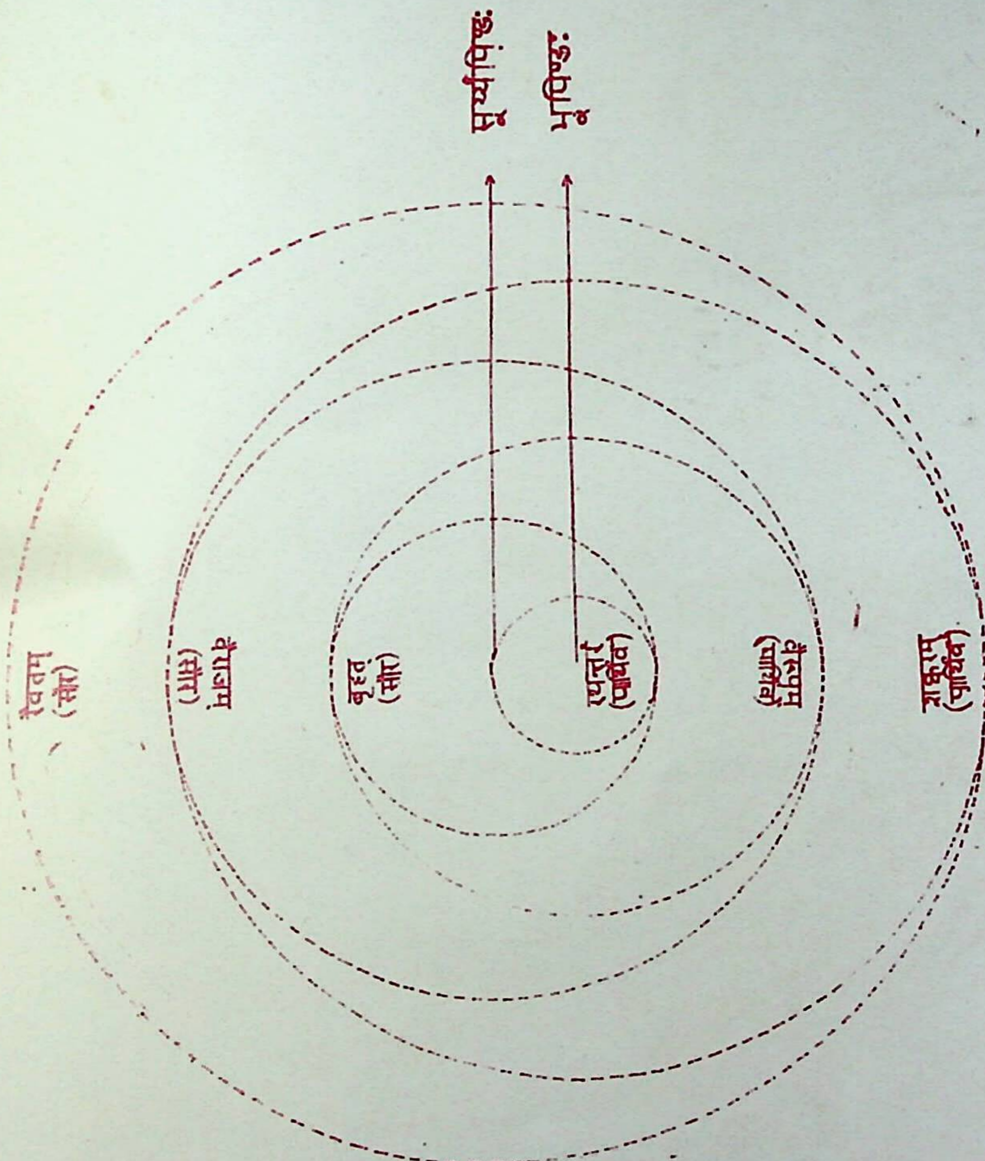
(सम्वत्सरं साम सौर हिरण्मयम्)



श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, दुर्गापुरा (जयपुर)

(३२४, तथा ३२५ के मध्य में)

(१४)-सौरपार्थिव-सामातिमानपरिलेखः—



श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, दुर्गापुरा (जयपुर)

२९–सामों का अतिमानसम्बन्ध—

'उदूढत्रिलोकीविज्ञान' के अनुसार स्त्रीस्थानीया पृथिवी, पुरुषस्थानीया द्यौ, दोनों का परस्पर विवाह होता है। इसी से उदूढत्रिलोकी का आविर्भाव होता है, जैसाकि अन्यत्र (पुराणरहस्यादि निबन्धों में) प्रतिपादित है। द्यावापृथिवी के इस विवहन–कर्म्म को ही सम्बन्धरहस्यवेत्ताओंनें 'अतिमानसम्बन्ध' नाम से व्यवहृत किया है। इसी सम्बन्ध से द्यावापृथिवी (सूर्य्य–पृथिवी) के श्यैत–नौधस–रसों का परस्पर आदान–प्रदान होता है। सामपृष्ठ ही श्यैत–नौधस-रसों के आदान–प्रदान के द्वार हैं, अतएव इन्हें भी सामविशेष मान लिया गया है। पृथिवी के तीनों सामों का सूर्य्य के तीनों सामों के साथ होने वाले इस अतिमानसम्बन्ध को हम 'दहरोत्तरसम्बन्ध' ही कहेंगे। पार्थिव रथन्तरसाम के साथ सौर बृहत्साम का अतिमान है। पार्थिव वैरूपसाम के साथ सौर वैराजसाम का अतिमान है। एवं पार्थिव शाक्वरसाम के साथ सौर रैवतसाम का अतिमान है, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

निम्नलिखित श्रुतियाँ पार्थिव रथन्तर–वैरूप–शाक्वर, एवं सौर बृहत्–वैराज–रैवत, इन तीनों के अतिमानसम्बन्ध का ही स्पष्टीकरण कर रहीं हैं—

१–"बृहच्च वा इदमग्रे रथन्तरं चास्ताम् । वाक् च वै तन्मनश्चास्ताम् । वाग् वै रथन्तरं, मनो बृहत् । तद्–बृहतपूर्वं ससृजानं रथन्तरमत्यमन्यत । तद्रथन्तरं गर्भमधत्त, तद्वैरूपमसृजत । ते द्वे भूत्वा रथन्तरं च, वैरूपं च बृहदत्यमन्येताम् । तद् बृहद्गर्भमधत्त, तद्वैराजमसृजत । ते द्वे भूत्वा बृहच्च, वैराजश्च, रथन्तरं च, वैरूपं चात्यमन्येताम् । तद्रथन्तरं गर्भमधत्त, तच्छाक्वरमसृजत । तानि त्रीणि भूत्वा रथन्तरञ्च, वैरूपं च, शाक्वरं च-बृहच्च, वैराजं च, अत्यमन्यन्त । तद् बृहद्गर्भमधत्त, तद्रैवतमसृजत । तानि त्रीण्यन्यानि, त्रीण्यन्यानि,तानि षट् पृष्ठान्यासन्"

(ऐ० ब्रा० १८।६।७-८।)।

२–"यद्वै रथन्तरं, तद्वैरूपम् । यद् बृहत्, तद्वैराजम् । यद्रथन्तरं, तच्छाक्वरम् । यद् बृहत्, तत्–रैवतम् । उभे अनवसृष्टे भवतः" । (ऐ० ब्रा० १७।७।१३।)।

३—"उभे बृहद्रथन्तरे भवतः । इयं वाव रथन्थरं, असौ बृहत् । आभ्यामेवैनमन्तरेति–वाचश्च, मनसश्च । प्राणाच्च, अपानाच्च । दिवश्च, पृथिव्याश्च । सर्वस्माद्वित्ताद्, वेद्यात्" (तै० ब्रा० १।४।६।)।

३०–चाक्षुष साम, और प्रोतात्तविन्दु—

उक्त 'सामातिमानविज्ञान' से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, भचक्र में ग्रह–नक्षत्र–सूर्य्य–चन्द्रादि जितने भी ज्योतिर्गोलक दिखलाई देते हैं, उन सबके ज्योतिर्म्मय साममण्डलों के साथ हमारे चाक्षुष–

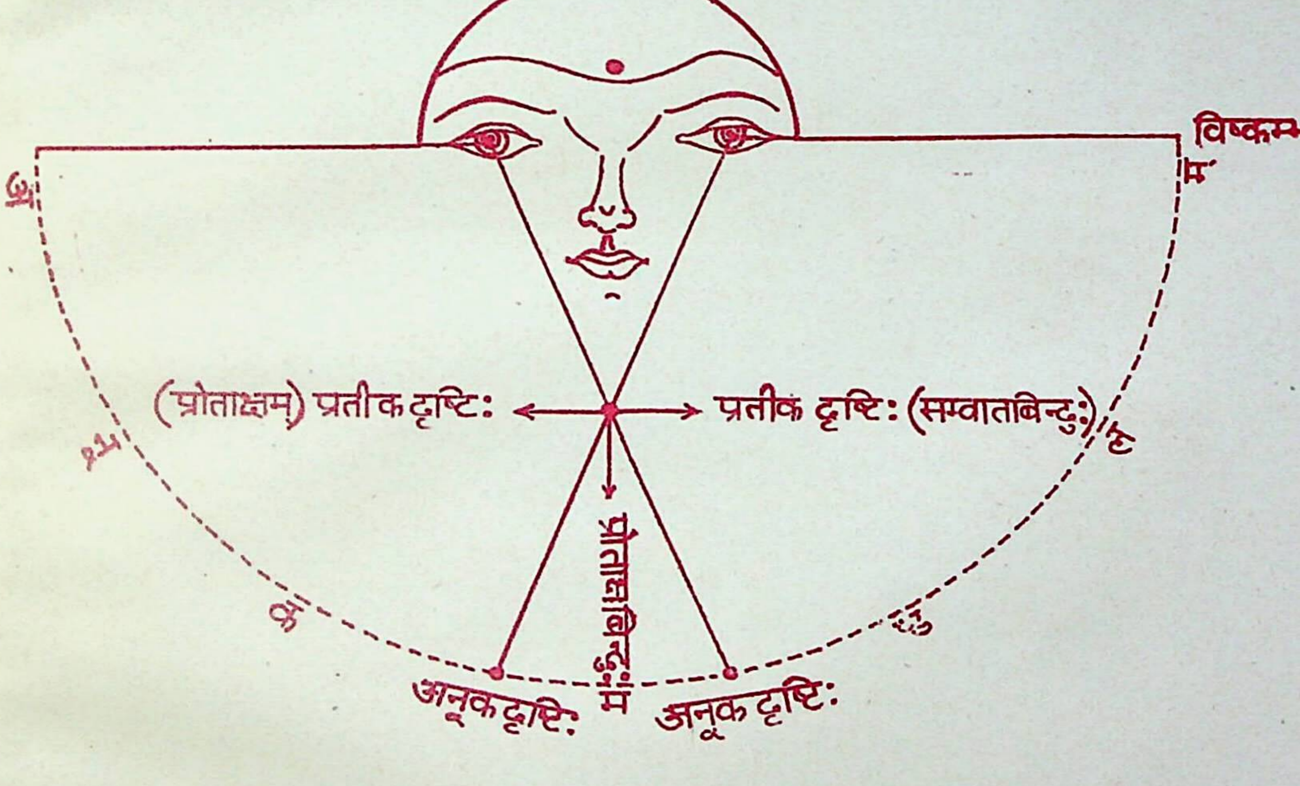
ज्योतिर्म्मय साममण्डल का (द्यावापृथिव्य सामों की भाँति) अतिमान हो रहा है। इसी अतिमान से वे ज्योतिर्गोलक हमारी चक्षुरिन्द्रिय के विषय बन रहे हैं। सूर्य्य, और चक्षु की तुलना इसीलिए की गई है कि, इसका स्वरूप सौरसंस्था से मिलता जुलता है। जो रुक्म–पुष्करपर्ण–पुरुषत्रयी सूर्य्यसंस्था में है, वही त्रयी अध्यात्मसंस्था के चक्षुर्म्मण्डल में हैं *। इसीलिए चाक्षुष पुरुष की, एवं आदित्यपुरुष की उपनिषदों में तुलना हुई है A। प्रकृत में यही बतलाना है कि, हमारी नेत्रज्योति का उपादान स्वज्योतिर्घन सूर्य्य है, अतएव चक्षुरिन्द्रिय भी रूपज्योति का अधिष्ठाता बन रहा है। दोनों आँखों से रश्मियों का विनिर्गमन होता है। यदि हम पूर्व दिशा की ओर मुख करके खड़े हो जाते हैं, तो दहिनी आँख से निकलने वाली चक्षुरश्मि ईशानकोण की ओर (तिर्य्यक्) जाती है, वामरश्मि का रुख अग्निकोण की ओर रहता है। इन तिर्य्यक रश्मियों का आगे जाकर मिलन होता है। जिस बिन्दु पर इनकी इस दूरी का पात होता है, दूरी हट जाती है, वही बिन्दु **'सम्पातबिन्दु'** नाम से प्रसिद्ध है। इस सम्पातबिन्दु को ही विज्ञानभाषा में **'प्रोतात्तबिन्दु'** कहा गया है। क्रासपाइन्ट–फोकस–आदि नामों से वर्त्तमान विज्ञान-भाषा में प्रसिद्ध इस प्रोतात्तबिन्दु पर जो वस्तु रहती है, उसकी 'पश्यन्ति सप्तमं सर्वे शनि–जीव–कुजाः–पुन." (लघुपाराशरी) इस ज्योतिःसिद्धान्त के अनुसार (ठीक सामने पड़ने से) इतर प्रान्त-भागों की अपेक्षा स्पष्ट प्रतीति होती है। सम्पातबिन्दु से आगे पुनः चक्षुरश्मियों का तिर्य्यग् वितान हो जाता है। एवं किसी नियत सीमा पर वितानमण्डल समाप्त हो जाता है। यही मण्डल चाक्षुषसाम है। यही वस्तुप्रत्यक्ष का कारण बनता है। जिस वस्तु का साममण्डल इस चाक्षुष साममण्डल में प्रविष्ट होता है, हम उसी का प्रत्यक्ष किया करते हैं। हम देखते हैं कि, चक्षु से १० वितस्ति दूर रक्खा हुए एक स्थूल पदार्थ (घट-पटादि) तो हमारी दृष्टि में आ जाता है, परन्तु घट और चक्षु के बीच के प्रदेश में पड़े हुए एक केश को हमारी आँखें नहीं देख पातीं। कारण इसका यही है कि, घट का साममण्डल तो चाक्षुष साममण्डल में प्रविष्ट हो जाता है, किन्तु केश का अल्पसीमायुक्त अल्पसाममण्डल चाक्षुषसाममण्डल के साथ अतिमान करने में असमर्थ रहता है। वस्तुप्रत्यक्ष के लिए यह प्रत्येक दशा में आवश्यक है कि, अपने स्थान पर स्थित चाक्षुषमण्डल की सीमा के भीतर अन्य वस्तुओं के साममण्डलों का प्रवेश हो। प्रतीकबिन्दु (सम्पातबिन्दु) पर वस्तुमण्डल आ गया, तब तो कहना ही क्या है। यदि अनूकमण्डल के ही भीतर आकर रह गया, प्रतीक तक न पहुँच सका, तब भी सामान्य प्रत्यक्ष हो जायगा। परन्तु अनूक से बाहिर ही जिसका साममण्डल रह गया, उसका प्रत्यक्ष असम्भव है।

---

*–"अथाध्यात्मं–यदेतन्मण्डलं तपति, यश्चैष रुक्मः, इदं तच्छुक्लमक्षन्। अथ यदेतदर्चिर्दीप्यते, यच्चैतत् पुष्करपर्णं, इदं तत् कृष्णमक्षन्। अथ य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषः, यश्चैष हिरण्मयः पुरुषः, अयमेव सः–योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः" (शत० १०।५।२।७।)।

A–"अक्षिभ्यां चक्षुः, चक्षुष आदित्यः"। "आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशन्"। इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन 'गीताविज्ञानभाष्यभूमिका' के 'आचार्य्यपरीक्षा' नामक खण्ड के **'चाक्षुषकृष्णरहस्य'** नामक अवान्तर प्रकरण में देखना चाहिए।

(१५)--चाक्षुषसामातिमानरिलेखः—



उक्त चाक्षुषसामप्रदर्शन से प्रकृत में प्राच्य, तथा प्रतीच्य के तेजोव्याप्ति-सिद्धान्त के सम्बन्ध में विभेद बतलाना है। प्राच्य (भारतीय वैदिक) विज्ञान के मतनुसार प्रत्येक वस्तु का प्राण उस वस्तु के महिमामण्डल की परिधिपर्य्यन्त स्थिरधरातलरूप से व्याप्त होता है, जैसा कि **"सर्वं तेजः सामरूपं ह शश्वत्"** इत्यादि तैत्तिरीय श्रुति से स्पष्ट है। नक्षत्रादि ज्योतिर्गोलकों का तेजोमय साममण्डल हमारे चाक्षुषसाम की सीमा में प्रविष्ट होकर ही तत्पिण्डप्रतीति का कारण बन रहा है। भारतीय विज्ञान कहता है कि, नक्षत्रों का प्राण-ज्योतिर्म्मय तेज वर्षों में चल कर पृथिवी पर नहीं आता, अपितु उत्पत्तिकाल से ही अपने अपने साममण्डलों के आधार पर सब का तेज यथामण्डल व्यवस्थित है। सामातिमान से सबके तेजों का एककालावच्छेदेन ही अतिमान हो रहा है। उधर प्रतीच्य विज्ञान कहता है कि, नक्षत्रों के तेज को (पृथिवी पर) आने में हजारों लाखों वर्ष लगते हैं। दोनों में कौन सिद्धान्त मान्य है ?, इस प्रश्न के उत्तर में प्राच्यसिद्धान्त की मान्यता स्वीकार करते हुए भी हम प्रतीच्य सिद्धान्त की समालोचना करने में इसलिए असमर्थ हैं कि, हमने जहाँ अज्ञानतावश अपने वैज्ञानिक वेदशास्त्र का व्यावहारिक ज्ञान भुला दिया है, वहाँ प्रतीच्य विद्वान् अपनी श्रम-परिश्रम-निष्ठा से अपने भौतिक विज्ञान के व्यावहारिक प्रयोगों में सफल बने हुए हैं।

३१-विष्कम्भ का वितान—

प्रासङ्गिक सामातिमानचर्चा का उपसंहार करते हुए पुनः उसी विष्कम्भानुबन्धी वितानभाव की ओर ध्यान आकर्षित किया जाता है। यह बतलाया जा चुका है कि, मूर्त्ति-व्यास 'कूटस्थव्यास' कहलाता है, एवं मूर्त्तिपृष्ठ से आरम्भ कर उच्चसामसीमा से पहिले पहिले व्याप्त महिमा-व्यास 'भूतव्यास' नाम से प्रसिद्ध है। इसी सम्बन्ध में यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि, कूटस्थ व्यास के पार्श्ववर्त्ती अणुद्वय से ही एक सिद्धाणु का स्वरूप निष्पन्न होता है, एवं यही सिद्धाणु कूटस्थ केन्द्र के आगे का केन्द्र बनता हुआ अग्रिम व्यास की प्रतिष्ठा बनता है। इस अग्रिम व्यास के भी दोनों पार्श्ववर्त्ती अणु तीसरे केन्द्र का, इसी प्रकार चौथे, पाचवें, इत्यादिरूप से पूर्व-पूर्व व्यास पार्श्ववर्त्ती अणुद्वय से उत्तर-उत्तर की केन्द्रबिन्दु का, उत्तरोत्तर की केन्द्रबिन्दु के आधार पर तत्तत् केन्द्रबिन्दु के तत्तद् व्यास का वितान हो जाता है। जबतक व्यास में तीन अणु रहते हैं, तब तक तो इसके पार्श्ववर्त्ती दोनों अणुओं के वितान से एक हृद्बिन्दु का विकास और हो जाता है। परन्तु जब एक ही बिन्दु रह जाती है, तो वितान समाप्त हो जाता है। इसप्रकार निम्न लिखित रूप से कूटस्थ व्यास के आधार पर एक सहस्र व्यासों का, तत्प्रतिष्ठारूप हृद्बिन्दुओं का आविर्भाव हो जाता है।

जिस कूटस्थ व्यास के आधार पर बिन्दुद्वय के उत्तरोत्तर ह्रास से भूतव्यासों का वितान हुआ है, उस कूटस्थ व्यास की मूलप्रतिष्ठा हृदय है, यह कहा जा चुका है। उद्धृत हृद्वितानपरिलेख में पाठक देखेंगे कि, केन्द्र से आरम्भ कर पृष्ठ पर्य्यन्त तत्त्वतः हृद्बिन्दुओं का ही वितान हो रहा है। वही मूर्त्तिसम्पादक अणु है, वही स्कन्ध है, वही भूतव्यास है, वही पृष्ठ है। चारों ओर इसी हृद्बिन्दुका सब रूपों में वितान हो रहा है। हृद्बिन्दु की इस सर्वव्याप्ति का परिणाम यह होता है कि, मूर्त्तिकेन्द्र के आधार पर चारों ओर विष्कम्भों का वितान हो जाता है। कूटस्थ व्यास एक मानते हुए भी पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है कि, कूटस्थ बिन्दु के आधार पर मूर्त्तिपिण्ड के चारों ओर स्कन्धव्यासों का वितान हो जाता है। जिस व्यास को मूल मान

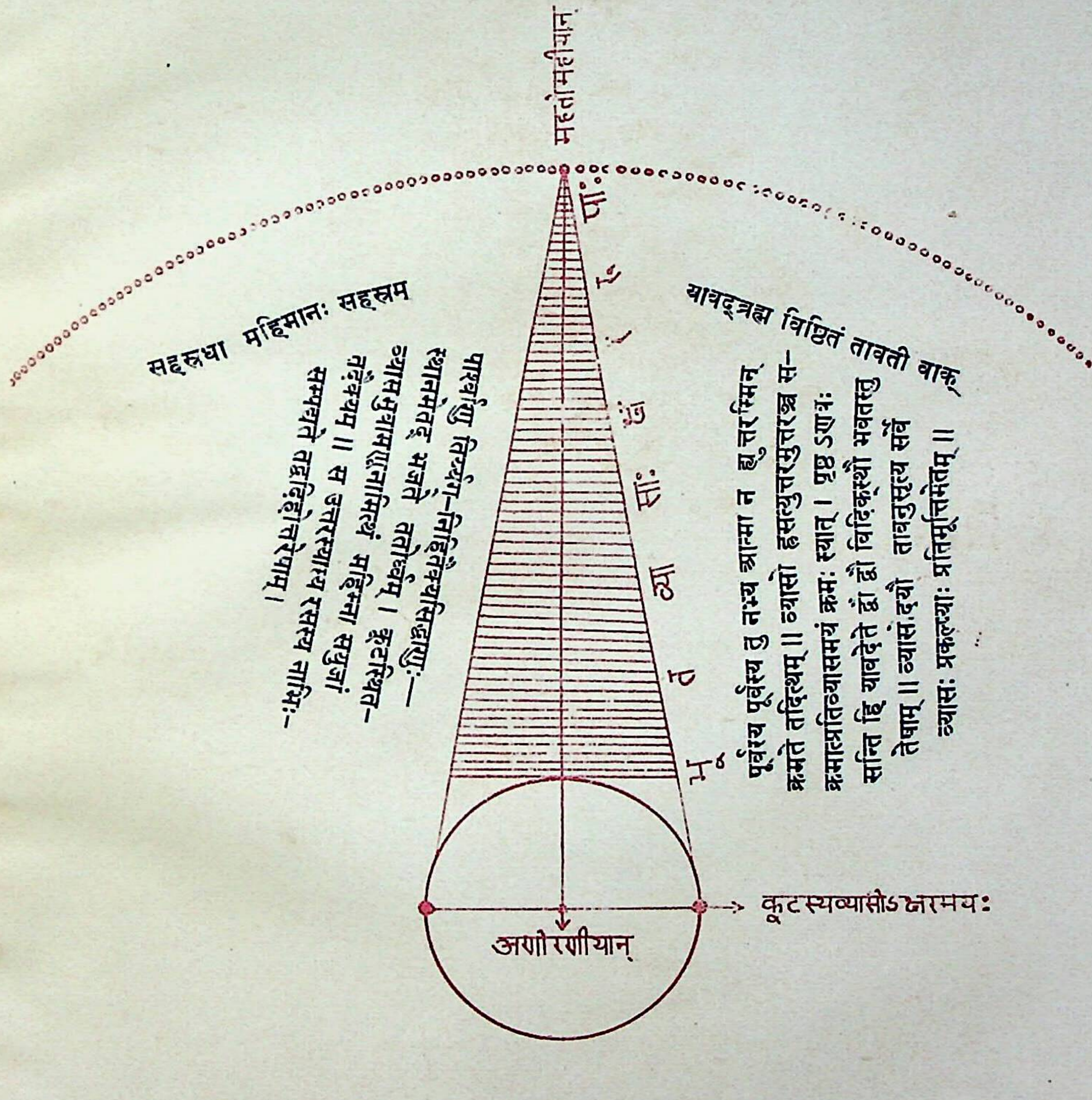
कर हम हृद्बिन्दुवितान का विचार करेंगे, वहीं से भूतव्यासवितान का स्वरूप गृहीत हो जायगा। दूसरे शब्दों में मूर्त्तिगत प्रत्येक कूटस्थ व्यास के आधार पर मूर्त्ति के चारों ओर समभावापन्न नवीन नवीन भूतव्याससंस्था उपलब्ध होगी। परिणाम इस का यह होगा कि, मूर्त्ति के उन अनन्त कूटस्थ व्यासों के आधार पर मूर्त्ति के चारों ओर अनन्त (सहस्र) भूतव्याससंस्थाएँ बन जायँगी प्रत्येक भूतव्याससंस्था का मूलाधार तत्-सम्बद्ध कूटस्थ व्यास बनेगा। प्रत्येक कूटस्थ व्यास तत्सम्बद्ध कूटस्थ हृद्बिन्दु के आधार पर प्रतिष्ठित रहेगा। प्रत्येक भूतव्याससंस्था का प्रत्येक व्यास पूर्व पूर्व व्यागणुद्वय से सम्पन्न सिद्धाणुद्वय से समान्वित सिद्धाणुरूप हृदयबिन्दु को अपनी प्रतिष्ठा बनाएगा। और इसप्रकार पूर्व में बतलाए हुए विष्कम्भ-वितान का निम्न लिखित स्वरूप पाठकों के सम्मुख उपस्थित होगा।

३२–प्रत्यक्षविज्ञान—

वस्तु–दर्शन के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों के सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि, हमारी चक्षुरिन्द्रिय वस्तु पर जाती है ?, अथवा विषय हमारे चक्षु पर आता है ? । सामान्य दृष्टि से विचार करने पर यही उत्तर मिलता है कि, न तो चक्षु ही विषय पर जाता, एवं न विषय ही चक्षु पर आता। दार्शनिक दृष्टि इस सम्बन्ध में यह उत्तर देती है कि, श्रोत्र–घ्राण–रसना, आदि इतर इन्द्रियाँ तो 'अप्राप्यकारी' हैं, एवं चक्षुरिन्द्रिय 'प्राप्यकारी' है। 'संयोग–विभाग–शब्द' तीनों में से किसी एक व्यापार से आकाश में व्याप्त, 'इन्द्रपत्नी' नाम से प्रसिद्ध वाक्–समुद्र में व्यापारानुरूप उसी प्रकार वीचियाँ (लहरें–तरङ्गें) उत्पन्न हो जातीं हैं, जैसे एक जलपूर्णपात्र का जल कराघातलक्षण आघातबल से वीचिरूप में परिणत हो जाता है। वाक्–वीचियाँ अपने आगे के वाक्–धरातल को वीचिरूप में परिणत करतीं हुईं आगे वितत होतीं हैं। यदि यह वीचिक्रम धारावाहिक रूप से उत्तरोत्तर संक्रमण करता हुआ हमारी श्रोत्रेन्द्रिय पर्य्यन्त आने में समर्थ हो जाता है, तो उस वीचि का कर्णशष्कुली पर आघात होता है। वहाँ पर सर्वेन्द्रिय प्रज्ञानमन प्रतिष्ठित है। श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा प्रज्ञान मन पर उस वीचिका आघात होता है। तत्काल शब्द उत्पन्न हो जाता है। 'शपं–आक्रोशं–आघातं–ददाति' ही 'शब्द' शब्द का निर्वचन है। इसप्रकार वीचितरङ्गन्याय से वाग्–वीचियाँ श्रोत्रेन्द्रियस्थान पर ही शब्दाविर्भाव का कारण बनतीं हैं। अतएव श्रोत्रेन्द्रिय को 'अप्राप्यकारी' (विषय पर–शब्द पर–न जाकर स्वयं अपने स्थान में हीं प्रतिष्ठित रहते हुए शब्दविषयग्रहण करने वाला) कहना अन्वर्थ बनता है। इसी प्रकार रसनेन्द्रिय भी विषय को अपनी सीमा में लेकर ही रसप्रत्यय में समर्थ होती है। यही अवस्था घ्राणादि इतर इन्द्रियों की है। दार्शनिकों का कहना है कि, चक्षुरिन्द्रिय विषय पर जाती है। अतएव इसे प्राप्यकारी मानना चाहिए। परन्तु वैज्ञानिक कहते हैं कि—**'सर्वाणीन्द्रियाणि–इन्द्रियत्त्वेन समानधर्म्मोपेतानि'** इस न्याय से चक्षु भी अप्राप्य-कारी ही है। चक्षु के तेजोमय जिस साममण्डल का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, वह चक्षुरिन्द्रिय का अपना जगत् है, अपना मण्डल है, स्व–वित्त है। विषय को स्वयं इस मण्डल में आना पड़ता है। चाक्षुष-तेजोमण्डल चक्षुर्बिन्दु को छोड़ कर विदूरस्थ विषय पर अनुधावन नहीं कर सकता। यदि चक्षुरिन्द्रिय का चक्षु-र्गोल को छोड़ कर बाहिर निकलना दार्शनिक किसी प्रकार सिद्ध कर देते, तो अवश्य ही इस सम्बन्ध में उनका अप्राप्यकारित्त्व सिद्धान्त सुरक्षित रह सकता था। मानना पड़ेगा कि, चक्षुरिन्द्रिय सदा स्वस्थान में हीं प्रतिष्ठित रहती है। अतएव कहना पड़ेगा कि चाक्षुषमण्डल चक्षुर्बिन्दुव्यास से बद्ध होता हुआ नियत स्थान पर ही प्रतिष्ठित रहता है। इसी आधार पर दार्शनिकों को मान लेना पड़ेगा कि, न तो चक्षु ही विषय पर जाता, न

(३२८, तथा ३२९ के मध्य मे)

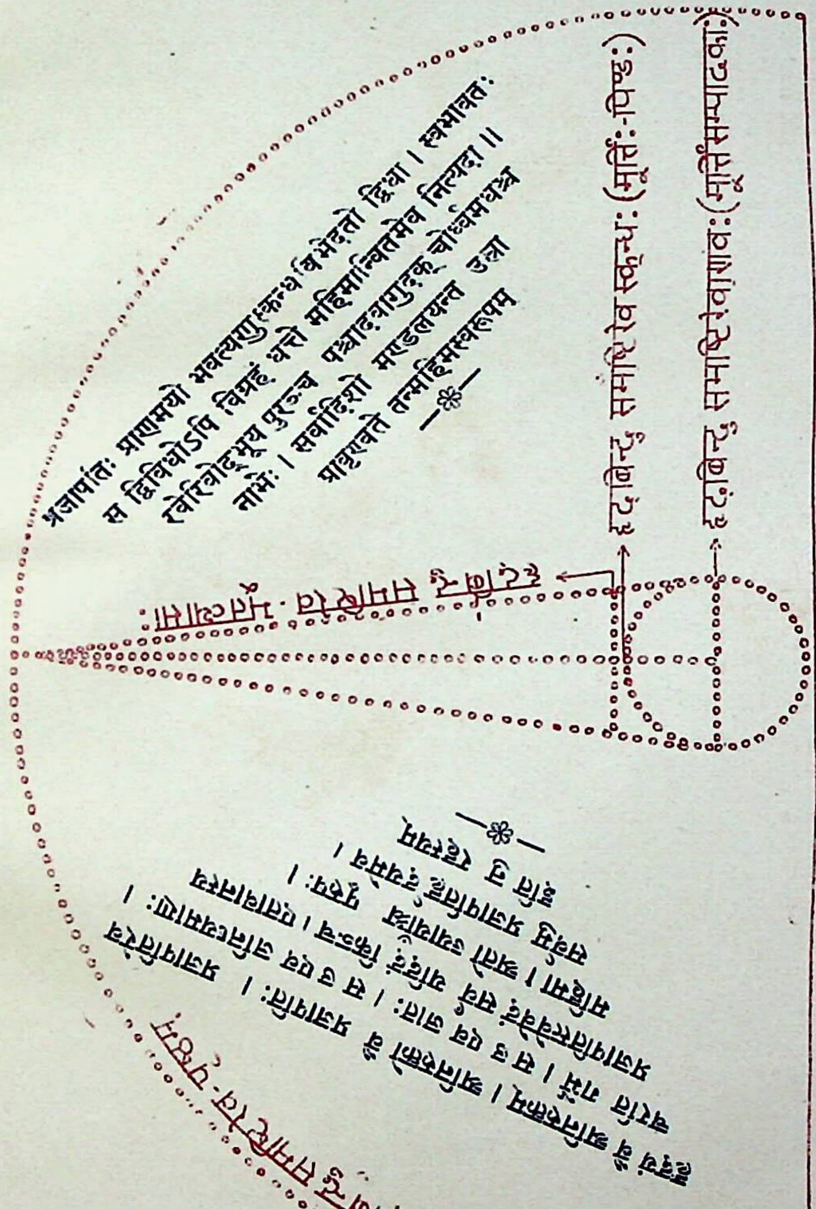
(१६)—छन्दोवेदात्मक-विष्कम्भवितानपरिलेख :—



(३२८, तथा ३२९ के मध्य में)

(१७)—व्यासाणुसाहस्रीवितानपरिलेखः—

(भूतव्यासानां परितो वितानम्)



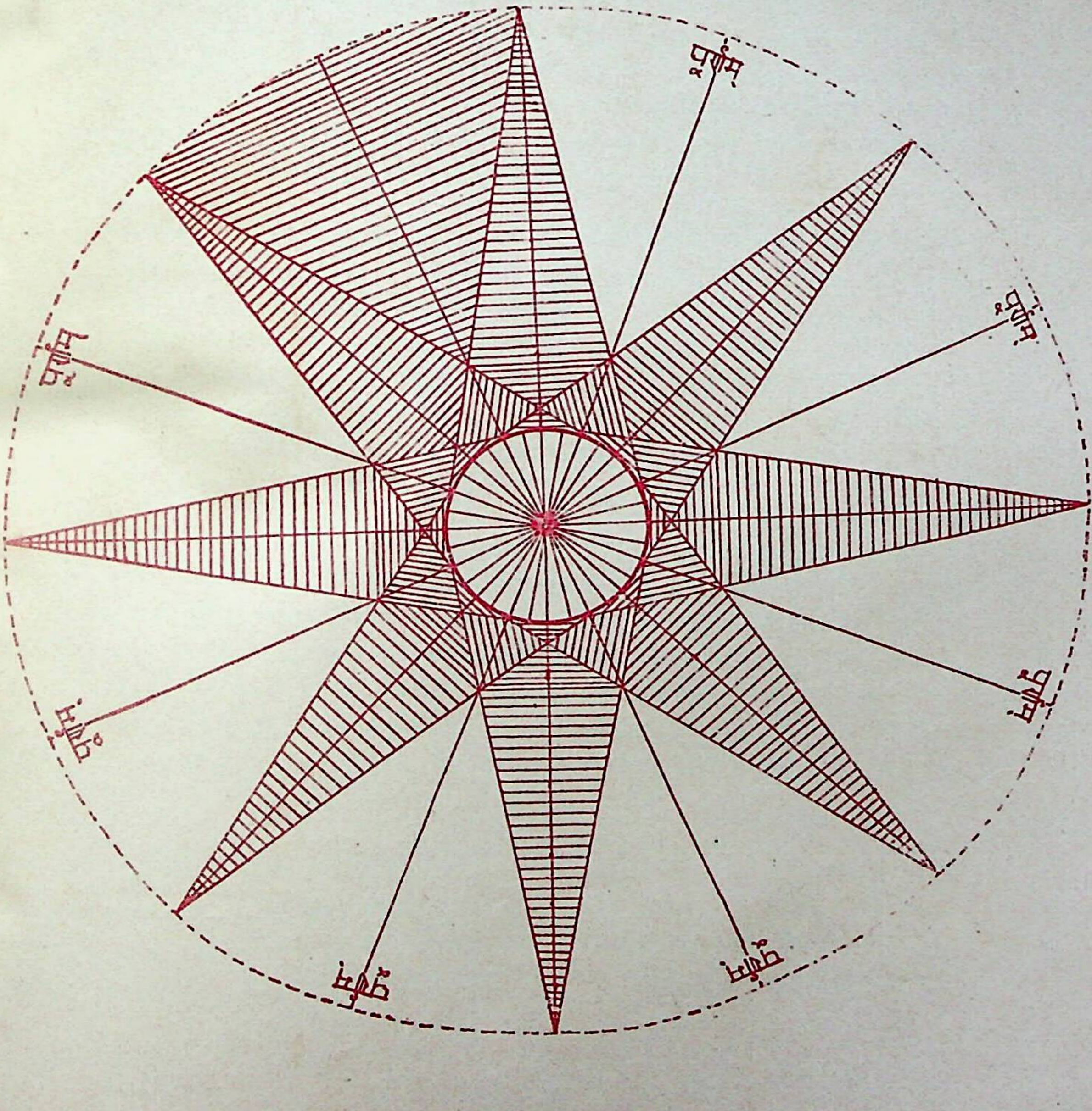
श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, दुर्गापुरा (जयपुर)

उपनिषद्भूमिका—द्वितीयखण्ड

(३२८, तथा ३२९ के मध्य में)

(१८)–व्यासानुगतपरिणाहसाम्नीवितानपरिलेखः—

(भूतव्यासानुगत–परिणाहभावानां परितो वितानम्)



चाक्षुष साममण्डल ही विषय पर जा सकता। फलतः इतरेन्द्रियवत् चक्षु का भी अप्राप्यकारित्व ही सिद्ध हो जाता है।

तो क्या विषय चक्षु पर आता है?, उत्तर मिलेगा, नहीं। जो हेतु चक्षु के विषय पर न जाने का है, वही हेतु विषय के चक्षु पर न आने में समझिए। प्रत्येक भौतिक पदार्थ स्वस्थान में प्रतिष्ठित है। वह चल कर चक्षु में आ गया, अथवा चक्षु पर आ गया, यह मान लेना तो बुद्धि का उपहास होगा। यदि इस उपहास का अभ्युपगमवाद से थोड़ी देर के लिए हम अभिनन्दन कर भी लें, तब भी बात ठीक नहीं बैठती। हम मान लेते हैं कि, भौतिक विषय के थोड़े परमाणु ही हमारी चक्षुरिन्द्रिय पर आ जाते हैं। यदि सचमुच ऐसा है, तब तो वस्तुपिण्ड की थोड़े ही समय में उत्क्रान्ति हो जानी चाहिए। क्योंकि दृष्टिद्वारा उसके परमाणु विलीन हो रहे हैं। यदि एक ही वस्तु को एक सहस्र, अथवा परमाणुसंख्यानुरूप एक सहस्र से अधिक, अथवा कम व्यक्ति एक ही समय मे देखने लगें, तो परमाणूत्क्रान्ति से वस्तु तत्काल उत्क्रान्त हो जायगी। परन्तु ऐसा नहीं होता। असंख्यात मनुष्यों की दृष्टि के विषय बनते हुए भी भौतिक पदार्थों के परमाणुसंघठन में कोई ह्रास नहीं होता। अतएव मानना पड़ेगा कि, विषय चक्षु पर नहीं आता।

इस के अतिरिक्त यदि विषय का चक्षु पर आगमन मान लिया जायगा, तो एक संकट और उपस्थित हो जायगा। चक्षुरिन्द्रिय के स्वरूप पर होने वाले आघातरूप संकट की बात छोड़िए। प्रधान संकट तो यह होगा कि, समीपस्थ, विदूरस्थ विषय सब को समानाकार ही प्रतीत होनें लगेंगे (होने चाहिएँ)। जब वस्तु ही आँख पर आ रही है, तो समीपस्थ वस्तु विदूरस्थ की अपेक्षा क्यों बड़ी प्रतीत हो, एवं विदूरस्थ वस्तु समीपस्थ की अपेक्षा क्यों छोटी प्रतीत हो। हम देखते हैं कि, पुरोऽवस्थित वस्तुपिण्ड से हम ज्यों ज्यों दूर हटते जाते हैं, त्यों त्यों उसकी आकृति छोटी दिखलाई देने लगती है। एवं ज्यों ज्यों हम इस के समीप आते जाते हैं, त्यों त्यों वस्तुस्वरूप बड़ा प्रतीत होने लगता है। विषयागमनद्वारा इस प्रत्यक्षदृष्टि का भी समाधान नहीं किया जा सकता। इसलिए भी यह निश्चयरूप से कहना पड़ेगा कि, विषय भी (चक्षुर्वत्) चक्षु पर नहीं आता।

चक्षु विषय पर जाता नहीं, विषय चक्षु पर आता नहीं, फिर भी विषयदर्शन हो रहा है, यह कैसा आश्चर्य्य है। यदि विषय चक्षु पर नहीं आता, तो आँखें किसे देखतीं है?, यदि आँखें विषय पर नहीं जातीं, तो किस के लिए 'अहं पश्यामि' अभिनय होता है?। वैज्ञानिक उत्तर देते हैं—"सर्वं वै अनिरुक्तम्"। विश्व के यच्च-यावत् पदार्थ अनिरुक्त हैं, अनिर्वचनीय हैं, दृश्यजगत् से बाहिर की वस्तु हैं। हम जो कुछ देखते हैं, अनुभव करते हैं, वह हमारी सृष्टि है, हमारे हृद्यप्रजापति का अन्तर्जगत् है। जब एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के अन्तर्विचारों का, अन्तर्जगत् का प्रत्यक्ष करने में असमर्थ है, तो वही मनुष्य महामहिममय इस विश्वको, विश्व के पदार्थों को, ईश्वरीय जगत् को कैसे देख सकता है?। जीव कभी ईश्वरजगत् के दर्शन नहीं कर सकता।

३३—अन्तर्जगत्, और बहिर्जगत्—

विश्वविवर्त्त को 'अन्तर्जगत्' बहिर्जगत्' भेद से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। स्वज्ञानसीमा के गर्भ में प्रतिष्ठित रहने वाला जगत् अन्तर्जगत् कहलाएगा, एवं स्वज्ञानसीमा से बहिर्भूत जगत् बहिर्जगत् माना जायगा। पञ्चपुण्डीरप्राजापत्यबल्शात्मक पाञ्चभौतिक महाविश्व 'तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि

विश्व' के अनुसार सर्वज्ञ ईश्वर के ज्ञानमण्डल के गर्भ में प्रतिष्ठित है। अतएव ईश्वरीय ज्ञानापेक्षया इस महाविश्व को हम ईश्वर का अन्तर्जगत् कहेंगे। यही अन्तर्जगत् जीव की ज्ञानसीमा से बहिर्भूत है, अतएव जीवज्ञानापेक्षया इसी ईश्वरीय अन्तर्जगत् को बहिर्जगत् कहा जायगा। हम (जीव) सूर्य्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, ग्रह, पृथिवी, जल, पाषाण, आदि आदि जितनें भी पदार्थ देख रहे हैं, देखते हैं, देखेंगे, वे सब ईश्वरीय अन्तर्जगत के सूर्य्य-चन्द्रमादि से सर्वथा पृथक् पदार्थ हैं। हम अपने बनाए हुए ही पदार्थों को देखते हैं। हमें उसी सूर्य्य का प्रत्यक्ष हो रहा है, जिसका निर्म्माण भी चक्षुरिन्द्रिय के सहयोग से हमारे ज्ञान के द्वारा (प्रज्ञान-द्वारा) ही हुआ है, एवं जो प्रतिष्ठित भी हमारे ज्ञानमण्डल की सीमा के गर्भ में ही है। कैसे ?, इसका एकमात्र उत्तर वही एकान्त वितानवेद है।

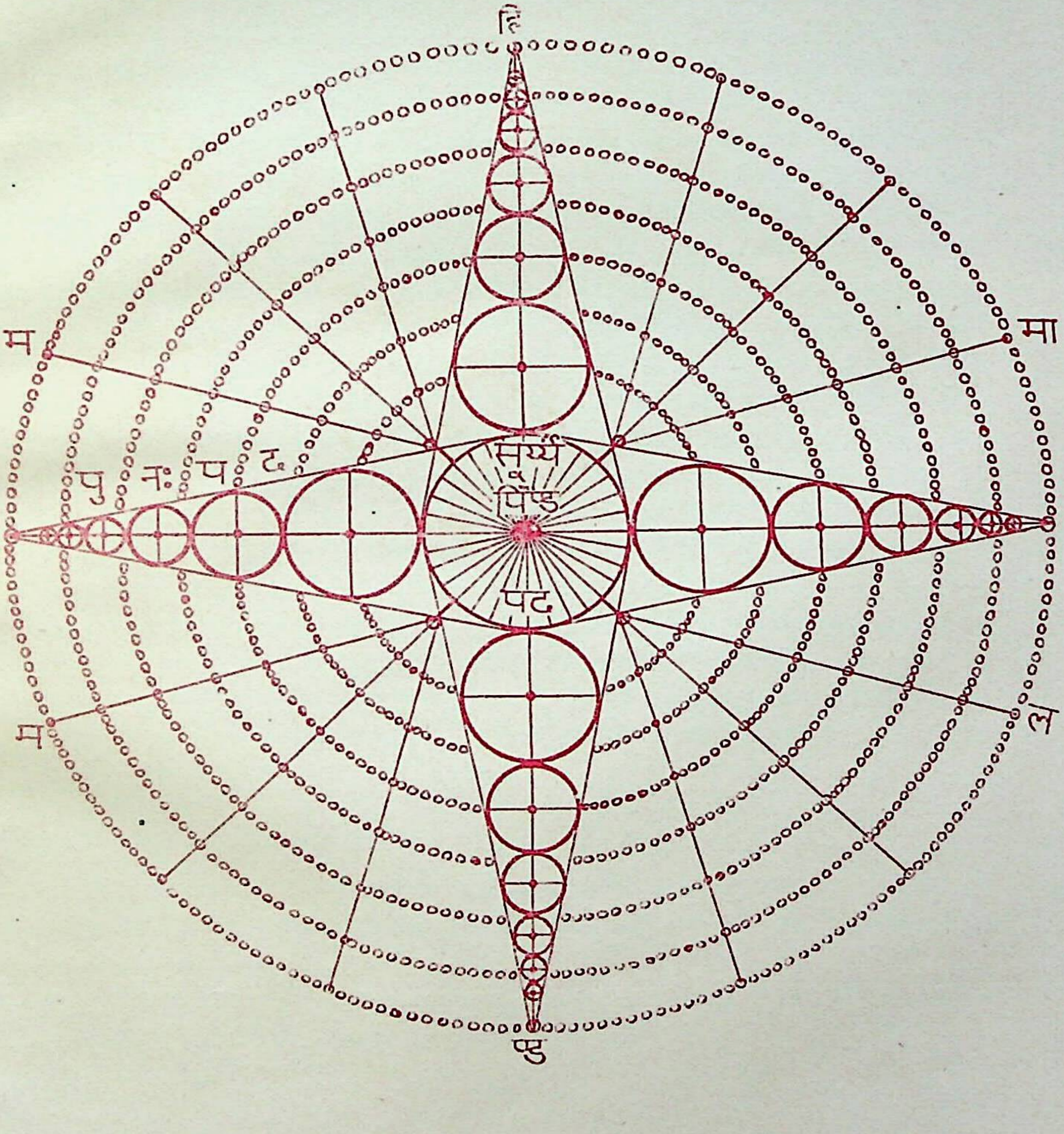
सूर्य्यपिण्ड वस्तुपिण्ड है। इसमें उसी हृदयबिन्दु के आधार पर एक बहिर्मण्डल और बनता है। हृदय-व्यास-परिणाहों के उत्तरोत्तर वितान से सूर्य्यरश्मियों का एक महिमामय मण्डल बन रहा है। सूर्य्य की एक रश्मि को ले लीजिए, और विचार कीजिए कि, इस रश्मि का क्या स्वरूप है ?। अन्वेषण करने पर आप इस तथ्य पर पहुँचेंगे कि, जो सूर्य्यमूर्त्ति स्वस्थान में महामहा थी, वही उत्तरोत्तर बड़ी-छोटी के धारावाहिक क्रम से रश्मिरूप में परिणत हो रही है। सूर्य्य में सहस्ररश्मियाँ मान लीजिए। प्रत्येक रश्मि सहस्र केन्द्र-बिन्दुओं की चिति है। प्रत्येक हृदयबिन्दु दीर्घ-ह्रस्व व्यास से युक्त है, एवं प्रत्येक व्यास बड़े-छोटे परिणाह से घिरा हुआ है। मूर्त्ति का यही तो प्रातिस्विक स्वरूप है, जिसका छन्दोवेदनिरुक्ति में विस्तार से स्पष्टीकरण किया जा चुका है। क्योंकि केन्द्रबिन्दु एक सहस्र हैं, अतएव व्यास, परिणाह भी एक सहस्र हैं। फलतः केन्द्र-बिन्दुवितानलक्षणा प्रत्येक रश्मि में सहस्र-बड़ी छोटी सूर्य्यमूर्त्तियों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। इन सहस्र मूर्त्तियों की मूलाधार वस्तुपिण्डात्मिका वही महासूर्य्यमूर्त्ति है। यह इसका पद-रूप है, ये पुनःपद हैं, महिमाभाव हैं, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

३४–सूर्य्यरश्मि, और सहस्रसूर्य्य—

उक्त परिलेख से पाठकों को विदित होगा कि, जिसे हम 'सूर्य्यरश्मि' कहते हैं, वह वस्तुतः सूर्य्य की एक सहस्र मूर्त्तियों का वितानमात्र है। इस वितान का मुख्य स्तम्भ भूतव्यास ही बनता है। विष्कम्भ ही ऋक् है, यही परिणाहात्मक साममण्डल से युक्त होकर मूर्त्तिभाव में परिणत होता है। सूर्य्यसंस्था उदाहरणमात्र है। वस्तुपिण्डमात्र में वस्तुपिण्डलक्षण छन्दोवेद के कूटस्थ व्यास को आधार मान कर वितत होने वाले एक एक भूतव्यास से निष्पन्न एक एक मूर्त्ति के पारस्परिक वितान से प्रतिव्यासपृष्ठीय केन्द्र-रश्मि में एक एक सहस्र मूर्त्तियाँ प्रतिष्ठित रहतीं हैं। इन 'सहस्रधा-महिमानः सहस्रम्' मूर्त्तियों का जो एक बृहन्मण्डल बनता है, वही तत्तत्पदार्थ का महिमामण्डल है। वस्तुपिण्ड चक्षुर्वत् स्थिर है, भूतपिण्ड भी स्वस्थान पर स्थिर है। दोनों के साममण्डल भी स्थिर हैं। यदि दोनों के साममण्डल परस्पर अतिमानभाव से युक्त हो जाते हैं, तो तत्काल विषयसाम के प्रदेशविशेष में रहने वाली आकारविशेषयुक्ता मूर्त्ति का चाक्षुषसाम के द्वारा चक्षुर्गत प्रज्ञान मन में प्रतिबिम्ब उत्तर आता है। वही प्रतिबिम्बित वस्तुमूर्त्ति हमारे प्रत्यक्ष का कारण बनती है। इसी के लिए **'अहं पश्यामि'** यह अभिनय होता है। पहिले एक स्थान पर हमनें यह कहा था कि, वस्तुपिण्ड का हम स्पर्श कर सकते हैं, देख नहीं सकते। देखते हैं महिमामण्डलान्तर्वर्ती मूर्त्तिभाव को। परन्तु आज हमें यह कहना पड़ेगा कि, जिस प्रकार वस्तुपिण्ड प्रत्यक्षातीत है, वैसी ही वस्तुमहिमा भी प्रत्यक्ष से बाहिर की ही वस्तु

(३३०, तथा ३३१ के मध्य में)

(१९)-सूर्य्यानुगत–उक्थामद (मूर्त्ति) वितानपरिलेखः—



है। हाँ बाह्य सीमा को प्रत्यक्ष का आलम्बन अवश्य माना जा सकता है। इसी परिस्थिति का यों अभिनय किया जा सकता है कि, बहिर्जगत् , किंवा बहिर्जगत् के पदार्थ हमारे अन्तर्जगत् के निर्म्माण के आलम्बन बनते हैं। बहिर्जगत् के पदार्थों के महिमामण्डल के जिस प्रदेश की मूर्त्ति पूर्वोक्त चाक्षुषसाम के प्रोतावबिन्दु (सम्पातबिन्दु) पर संक्रमण करती है, उसी संस्काररूपा मूर्त्ति को प्रज्ञानज्ञान अपने अन्तर्जगत् की वस्तु बना लेता है। ज्यों-ज्यों हम वस्तुपिण्ड के समीप जाते हैं त्यों-त्यों महिमामयीं मूर्त्तियाँ हमें बृहदाकार से युक्त मिलतीं हैं। ज्यों-ज्यों वस्तुपिण्ड से दूर होते जाते हैं, त्यों त्यों अल्पाल्प मूर्त्तियों का सहयोग प्राप्त होता है। एकमात्र इसी हेतु से वस्त्वाकारप्रतीति में बड़ी-छोटी का भेद रहता है। प्रोतावबिन्दु से मिलने वाली महिमामयी मूर्त्ति के आधार पर जो ज्ञानीय मूर्त्ति बनती है, वह हमारे अन्तर्जगत् की प्रातिस्विक वस्तु बन जाती है। यही हमारे आत्मा की 'अशीति' है, यही ब्रह्मौदन है। यह स्मरण रखने की बात है कि, हम किसी के भी ब्रह्मौदन का भोग किसी भी अवस्था में नहीं कर सकते। * 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' इस औपनिषद सिद्धान्त के अनुसार केवल प्रवर्ग्यांश ही (परित्यक्त भाग ही) अन्य आत्मसंस्था का भोग्य बनता है। मण्डलावच्छिन्न मूर्त्तियाँ नभ्यप्रजापति के ब्रह्मौदन हैं। इन्हें दूसरा नभ्यप्रजापति कैसे अपना भोग्य बना सकता है ?। इन ब्रह्मौदनरूपा सहस्रमूर्त्तियों के आधार पर उत्पन्न प्रतिबिम्बलक्षण सर्वथा अपूर्व मूर्त्तियाँ हीं इसका प्रवर्ग्य है। यही दूसरों में भुक्त होकर उसका ब्रह्मौदन है। यही ब्रह्मौदन अन्तर्जगत् है। जिस बहिर्जगल्लक्षण ब्रह्मौदन के आधार पर हमारे अन्तर्जगल्लक्षण जिस ब्रह्मौदन का अपूर्व प्रादुर्भाव होता है, वह बहिर्जगत् से पुनः कोई सम्बन्ध न रखता हुआ अपनी स्वतन्त्र संस्था बना लेता है। एक वस्तु का हमनें प्रत्यक्ष किया। प्रतिबिम्ब नियम से उसका ज्ञानीय आकार बन गया। अब वह वस्तु (जिसके आधार पर ज्ञानीय जगत् बना है) भले ही नष्ट-भ्रष्ट-जीर्ण-शीर्ण हो जाय, परन्तु हमारी ज्ञानीय वस्तु (ज्ञानाकाराकारित वस्तु) की इससे कोई क्षति नहीं होती वस्तुप्रदेश से सैंकड़ों कोस दूर चले आने पर भी हमारी वह ज्ञानीय वस्तु ज्ञानक्षेत्र में प्रत्यक्षवत् स्फुट बनी रहती है। इसीलिए यह कहा जाता है कि, हम जो कुछ देखते हैं, वह (बहिर्जगत् की मण्डलमयी मूर्त्तियों के आधार पर) हमारी बनाई हुई है, हमारी ज्ञानसीमा में प्रविष्ट है, हमारा ब्रह्मौदन है, हमारा प्रातिस्विक वित्त है। इसे दूसरा कोई नहीं बटा सकता। प्रत्यक्षवत् गन्ध-रस-आदि इतर विषयमात्र के सम्बन्ध में भी यही नियम समझना चाहिए। पुष्प से गन्ध निकल कर हमारे नासाछिद्र में प्रतिष्ठित नहीं हो जाता। अपितु गन्धमण्डल के आधार पर घ्राणेन्द्रियस्थान में तत्काल नवीन गन्ध का आविर्भाव होता है। इस आविर्भाव में इन्द्रिययोग्यता तारतम्य से तारतम्य हो जाता है। जिसकी इन्द्रिय गन्धमण्डल के सम्पर्क में नह आती, वह भी गन्धाविर्भाव से वञ्चित रह जाता है, एवं जिसमें पहिले से गन्धोक्थ का अभाव है, वह मण्डलानुवर्त्ती बनता हुआ भी गन्धाविर्भाव से वञ्चित रह जाता है।

३५-तात्कालिक विषयप्रत्यक्ष—

निष्कर्ष यही हुआ कि, ऐन्द्रियक जितनें भी विषय हैं, त्वगिन्द्रिय को छोड़ कर सब तात्कालिक हैं हमारे निर्म्माणविशेष हैं। सब को हम अपने मण्डल में (अपने बनाए हुए) ही देखते हैं। सामान्यवर्ग इस

* इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन 'ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य' प्रथमखण्ड के उक्त मन्त्रभाष्य के 'प्रवर्ग्यविद्या' नामक अवान्तर प्रकरण में देखना चाहिए।

सम्बन्ध में यह प्रश्न कर सकता है कि, यदि सूर्य्य–चन्द्रादि हमारे बनाए हुए हैं, एवं इनका हम अपने चाक्षुष–मण्डल में ही प्रत्यक्ष करते हैं, तो उस दूरी का क्या तात्पर्य्य है, जो वस्तुप्रत्यक्ष के साथ बद्ध है। हम सूर्य्य को हमसे बड़ी दूर खगोल में प्रतिष्ठित देखते हैं। एवमेव जो पदार्थ जहाँ जिस समीप, अथवा विदूर प्रदेश में प्रतिष्ठित है, उसकी उसी प्रदेश में प्रतीति होती है। यदि हम ही इनके निर्म्माता हैं, यदि हमारे चाक्षुष धरातल पर ही इनका हमारे ही ज्ञान से आविर्भाव हुआ है, तो सामीप्य–विदूरत्व नहीं रहना चाहिए। परन्तु रहता है। इसी आधार पर अमुक वस्तु यहाँ, अमुक वहाँ, इत्यादि व्यवहार प्रतिष्ठित हैं।

सामान्य वर्ग की उक्त प्रश्नावली ठीक है। परन्तु विज्ञानदृष्टि इस का 'चित्र' द्वारा समाधान कर रही है। एक दर्पण के सामने हम खड़े हो जाते हैं। हमारा चित्र बहिर्य्यामलक्षण विभूतिसम्बन्ध से दर्पणस्तर पर प्रतिबिम्बित हो जाता है। दर्पणस्तर घन है। उनमें न पीछे हटने के लिए स्थान है, न आगे बढ़ने के लिए कोई प्रदेश। परन्तु हम देखते हैं कि, ज्यों ज्यों हम दर्पण के समीप जाते हैं, त्यों त्यों ऐसा प्रतीत होता है, मानों दर्पणस्था हमारी आकृति उत्तरोत्तर आगे आ रही हो। एवमेव दर्पण से विदूर हटने पर दर्पणस्था आकृति दर्पण के भीतर उत्तरोत्तर विदूर हटती जाती है। वस्तुतः ऐसा है नहीं, परन्तु प्रतीत हो रहा है, यही तो आश्चर्य्य है। भारतीय वैज्ञानिकों नें इस आश्चर्य्य के मूलतत्त्व को भी खोज निकाला है। वही मूलतत्त्व भारतीय विज्ञानशास्त्र में 'अभ्व' * नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

३६–चित्र की चित्रता—

आश्चर्य्यवत् प्रतीत होने वाला यह आकृतिभाव, समानदर्पणधरातल पर प्रतीत होने वाले आश्चर्य्यमय नासिका–मुख–शिरः–कटि–पाद–अंगुलि–आदि की पृथक्–पृथक्–आयाम–उच्छ्राय–विस्तार रूप से प्रतीति, सब इसी अभ्व की महिमा है। यही दर्पणस्थ चित्र का चित्रत्त्व है। आश्चर्य्यमय भाव के लिए संस्कृतसाहित्य में 'चित्र' शब्द प्रयुक्त हुआ है। जिस अर्थ में पाश्चात्यभाषा 'फोटो' शब्द का प्रयोग करती है, उसी अर्थ में 'चित्र' शब्द प्रयुक्त हुआ है। तस्वीर में हम देखते हैं कि, चित्रित व्यक्ति, एवं पुरोऽवस्थित प्रदेशादि यथानुरूप व्यवस्थित रहते हैं। यदि करस्पर्श करते हैं, तो तस्वीर का कोई प्रदेश ऊँचा–नीचा–समीप–विदूर नहीं है। परन्तु प्रतीत होने वाले प्रतिबिम्ब प्रदेशादि उच्चावच-भावों से युक्त हैं। विदित होता है, उद्यानपथ बड़ा लम्बा जा रहा है। उद्यान का अमुक वृक्ष चित्र के समीप है, अमुक विदूर। चित्र स्वयं अवयवों के सामीप्यादि भावों से युक्त है। बात यह है कि, जिस प्रोताक्षबिन्दु (फोकस) पर चित्रग्राहक यन्त्र (केमरा) के तेजोमण्डलद्वारा हमारे प्रतिबिम्ब का आधान होता है, इसके साथ साथ ही सामीप्यादि भाव भी आहित हो जाते हैं। ठीक यही परिस्थिति चाक्षुषमण्डल की समझिए। जिस प्रकार चाक्षुषप्रज्ञान उस मूर्त्ति के आधार पर सूर्य्य बना डालता है, एवमेव दूरी का भी प्रवर्त्तक बना रहता है। सीधी भाषा में यों कहा जा सकता है कि, सूर्य्य के साथ साथ दूरी की तस्वीर भी आखों में उतर आती है। इसप्रकार हम अपनें ही चाक्षुषमण्डल में पदार्थों के साथ साथ पदार्थों के सामीप्य–विदूरत्वादि भावों की भी प्रतीति करने लगते हैं। भूपिण्ड की अपेक्षा

---

* इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन 'गीताविज्ञानभाष्यभूमिका' द्वितीय खण्डान्तर्गत 'ब्रह्मकर्म्म-परीक्षा' के–'ब्रह्म, कर्म्म–अभ्ववाद' नामक अवान्तर प्रकरण में देखना चाहिए।

कई गुणा बृहत् सूर्य्य ही खगोल में प्रतिष्ठित हैं। यदि हम इतना बड़ा सूर्य्य देख सकते, तो अवश्य ही यह कह सकते कि, हम दूर खगोल में सूर्य्य देख रहे हैं। पृथिवी से भी बड़ी दूर तक व्याप्त सौररश्मिरूपा मण्डलात्मिका मूर्त्तियों में से यदाकाराकारिता मूर्त्ति का पृथिवी के साथ सम्बन्ध हो रहा है, तदाकाराकारिता मूर्त्ति के आधार पर तदाकाराकारित हो ज्ञानीय सूर्य्य का निर्म्माण होता है।

३७–परोक्षप्रिय देवता—

यदि समानाकार से युक्त सौ दर्वाजे एक के आगे एक, इस क्रम से बनाएँ जायँगे, एवं सब से अन्त के दर्वाजे पर खड़े हो कर इन सौ दर्वाजों पर हम दृष्टि डालेंगे, तो ऐसा प्रतीत होगा, मानो एक दर्वाजा दूसरे के भीतर है। यहाँ तक कि उस छोरका दर्वाजा सब से छोटा दिखलाई देगा। दर्वाजे सब समानाकार हैं। फिर यह प्रतीतिवैषम्य क्यों ?। उत्तर वही साममण्डल है। इसी आधार पर यह कहा जा सकता है, और निश्चयेन कहा जा सकता है कि, विश्व के किसी पदार्थ का हम साक्षात्कार नहीं कर सकते। हमारे लिए बहिर्जगत् के सब पदार्थ परोक्ष हैं, अनिरुक्त हैं। **'परोक्षप्रिया इव हि देवाः, प्रत्यक्षद्विषः'** यह वचन भी इसी सिद्धान्त का समर्थन कर रहा है। स्वस्वरूप से परोक्ष रहते हुए भी देवता संघातरूप * ये पदार्थ ही आलम्बनरूप से प्रत्यक्ष का कारण बनते हैं, यही सूचित करने के लिए **'इव'** पदका सन्निवेश कर दिया गया है। इन सब परिस्थितियों के आधार पर उस मूल प्रश्न के सम्बन्ध में हमें इस निर्णय पर पहुँचना पड़ा कि, न तो चक्षुरिन्द्रिय विषय पर जाती, एवं न विषय चक्षु पर आता। अपितु चाक्षुष, तथा वैषयिक साममण्डलों का परस्पर अतिमान होता है। इसी से तत्काल प्रज्ञानद्वारा वस्तुस्वरूप का उदय होता है। उसी के लिए 'अहं-पश्यामि' यह अभिनय होता है। वर्त्तमानविज्ञान भी इस सम्बन्ध में यह तो मान ही रहा है कि, पार्थिव-पदार्थों के साथ प्रकाश–किरणों का सम्बन्ध होता है। प्रकाशकिरणें वस्त्वाकार में परिणत हो कर प्रतिफलित होतीं हैं। प्रतिफलित, वस्त्वाकाराकारित सौर रश्मि ही चक्षुस्थान पर आके वस्तुप्रतीति का कारण बनती है। हमारे प्राच्यविज्ञानने जहाँ इस भौतिक विज्ञानदृष्टि की अपेक्षा कहीं अधिक तथ्य का अनुगमन किया है, वहाँ—**'चक्षोः सूर्य्यः'–'आदित्यो वै देवचक्षुः'–'सूर्य्यश्चक्षुर्भूत्वा'–'कश्यपः पश्यको भवति'** इत्यादि-रूप से इस भौतिक दृष्टि का भी समर्थन किया ही है।

३८–परोह्वयः–पर उर्व्यः–रहस्य—

अब इसी वितानवेद के सम्बन्ध में **'परोह्वयः'–'पर उर्व्यः'** इन दो साङ्केतिक शब्दों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। ऋक् को 'परोह्वयः' कहा जाता है, साम को 'पर उर्व्यः' माना गया है। मूर्त्ति ऋक् है, मण्डल साम है। कूटस्थ व्यासावच्छिन्न महामूर्त्तिपिण्ड से सम्बद्ध भूतव्यासावच्छिन्न मण्डलात्मिका सहस्र–सहस्र मूर्त्तियाँ उत्तरोत्तर छोटीं होतीं जातीं हैं। क्योंकि व्यासस्थ पार्श्वबिन्दुओं का उत्तरोत्तर ह्रसन है। इसीलिए मण्डल की अन्तिम परिधि में मूर्त्ति का आकार बिन्दुमात्र रह जाता है, जैसाकि 'सूर्य्यमूर्त्ति-वितानपरिलेख' में स्पष्ट किया जा चुका है। महिमामण्डल से सम्बन्ध रखने वाली प्रत्येक मूर्त्ति के समप्रदेश

---

* **"जायमानो वै जायते, सर्वाभ्यो एताभ्यो एव देवताभ्यः"। "देवेभ्यश्च जगत्-सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः"।**

से एक एक स्वतन्त्र मण्डल बनाते जाइए । सहस्र मूर्तियों के ऐसे सहस्र मण्डल बन जायँगे । इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखिए कि, मूर्तियाँ तो प्रत्येक रश्मिवितान में एक एक सहस्र हैं । फलतः इन की तो सहस्र-साहस्रियाँ हो जाती हैं । परन्तु चारों ओर की मूर्तियों के समानप्रदेश से सम्बन्ध रखने वाले ये स्वतन्त्र मण्डल एक सहस्र ही बनेंगे । साथ ही आप देखेंगे कि, विष्कम्भावच्छिन्न ये मूर्तियाँ जहाँ उत्तरोत्तर छोटी बनती हुई 'परोह्वयः' हैं, वहाँ ये स्वतन्त्रमण्डल उत्तरोत्तर बड़े बनते हुए 'पर उर्व्यः' हैं । ये ही मण्डल वितानवेद हैं, यही सामवेद है । तेज का स्वभाव है कि, वह मूल से तूल की ओर उत्तरोत्तर अधिकाधिक विकसित होता है । दीपार्चि (दीपशिखा-दीप लौ) ऋक् है । यह केन्द्र से उत्तरोत्तर छोटी है । परन्तु प्रकाशमण्डल उत्तरोत्तर बृहत् है । इसी आधार पर तेजोमय इस साम का—"सर्वं तेजः सामरूप्यं ह शश्वत्" यह लक्षण किया जाता है । ऋङ्मूर्त्ति ह्रस्वपरा होगी, साममण्डल दीर्घपर होंगे । प्रत्यक्ष होता है महिमामयी मूर्त्ति का । ये उत्तरोत्तर ह्रस्व हैं, छोटीं हैं । अतएव वस्तु उत्तरोत्तर छोटी दिखलाई देती है । साथ ही जिस प्रदेश पर खड़े होकर हम मूर्त्ति का जितना बड़ा आकार देख रहे हैं, उस प्रदेश से बनने वाले मण्डल पर जितने व्यक्ति खड़े हो कर वस्तु पर दृष्टि डालेंगे, वे सब उसे समानाकार ही देखेंगे । मूर्त्तिसाम्य का प्रयोजक 'पर-उर्व्यः' साम बना है, मूर्त्तिदृष्टि का आलम्बन 'परोह्वयः' ऋक् बनती है, यही तात्पर्य है ।

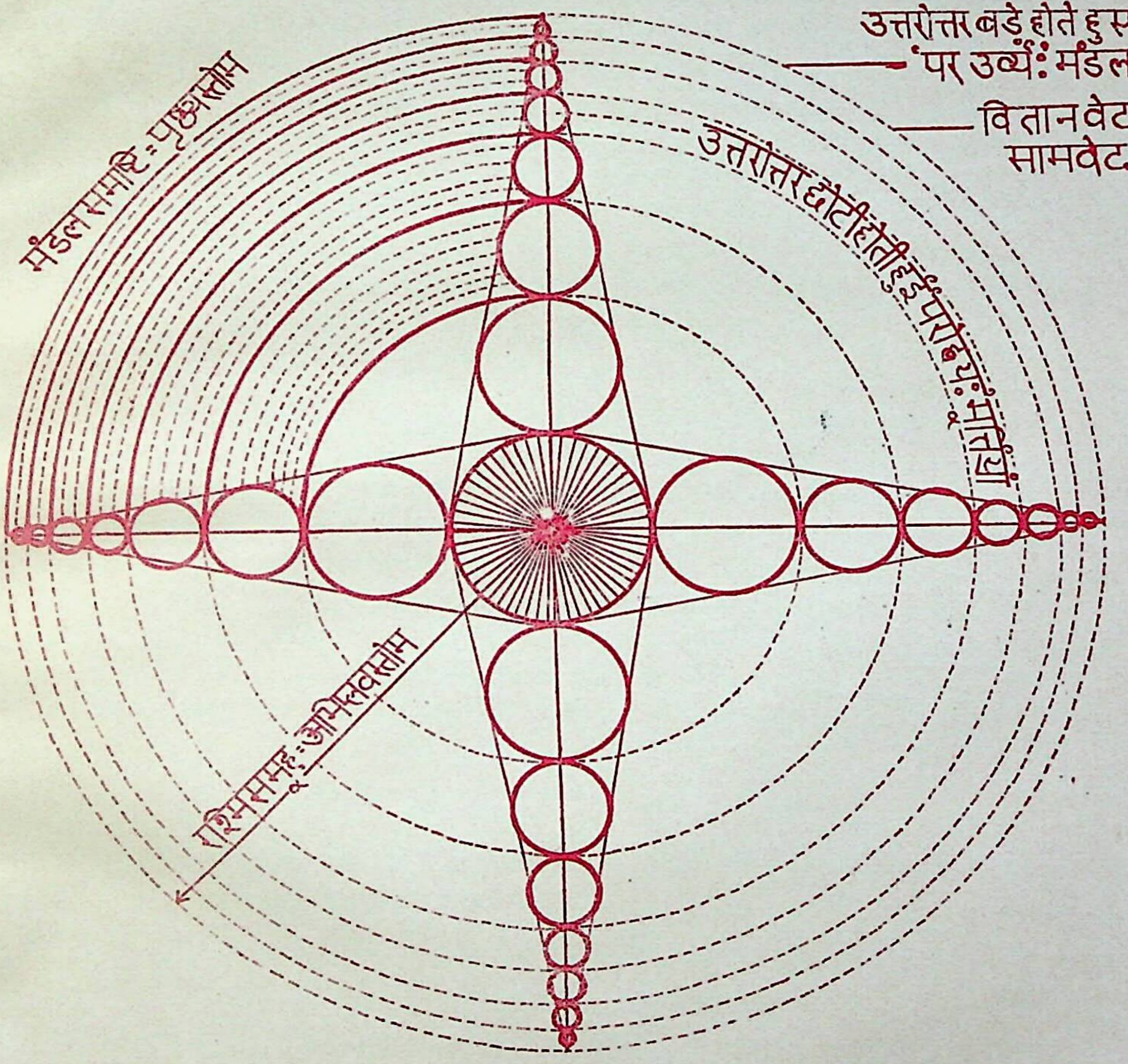
३९-अभिप्लव,एवं पृष्ठ्य-स्तोमविज्ञान—

वितानलक्षण सामवेद का स्वरूप प्रक्रान्त है । यह कहा जा चुका है कि, वितानात्मक पर उर्व्यः मण्डल का ही नाम साम है । छन्दोवेदलक्षणा ऋग्वेदत्रयी के अनुसार वितानलक्षणा सामवेदत्रयी भी विशुद्ध आयतन रूप है, वयोनाधलक्षणा है । आयतनत्रयी में प्रतिष्ठिता, वयोलक्षणा रसात्मिका यजुर्वेदत्रयी इन दोनों त्रयीभावों से सर्वथा पृथक् , किन्तु दोनों में व्याप्त तीसरी वेदत्रयी है, जिसका अनुपद में ही स्पष्टीकरण होने वाला है । इन पंक्तियों से पहिले पहिले इस वितानसामनिरुक्ति-प्रकरण में जो कुछ कहा गया है, वह रसात्मिका यजुर्वेदत्रयी, एवं वितानात्मिका वेदत्रयी, दोनों से सम्बन्ध रखता है । व्यास, मध्यरेखा, मूर्त्ति, इन तीन पूर्वोक्त भावों का रसवेदत्रयी से सम्बन्ध है । मण्डलों का वितानवेदत्रयी से सम्बन्ध है । अब यहाँ से मण्डलात्मिका वितानत्रयी की निरुक्ति आरम्भ होती है । विष्कम्भ, मध्यरेखा, मूर्त्ति, रसत्रयी से सम्बद्ध इन तीनों भावों को छोड़ते हुए मूर्त्तिपृष्ठात्मक, सहस्रमण्डलात्मक सामवेद में साम कौन है ?, ऋक् कौन है ?, यजुः कौन है ? यह विचार करना है । दूसरे शब्दों में केवल मण्डल में रहने वाली सामत्रयी का क्या स्वरूप है ?, अब यह स्वतन्त्ररूप से मीमांस्य है ।

सामस्वरूपमीमांसा से पहिले तत्सम्बद्ध **'पृष्ठविज्ञान'** की मीमांसा कर लेना आवश्यक होगा । क्योंकि मण्डल ही साम है, एवं मण्डल ही 'पृष्ठ' है । इस पृष्ठ-स्वरूप परिज्ञान के लिए 'स्तोमविज्ञान' स्वतः मीमांस्य बन जाता है । अतः सर्वप्रथम इसी का दिग्दर्शन करा देना उचित होगा । स्तोमशब्द 'राशि' (ढेर) का वाचक है । प्रत्येक पदार्थ से सम्बन्ध रखने वाला यह स्तोम **'अभिप्लवस्तोम'-पृष्ठ्यस्तोम'** भेद से दो भागों में विभक्त माना गया है । प्रत्येक वस्तुपिण्ड से चारों ओर मण्डलाकाररूप में परिणत होकर उत्तरोत्तर प्रवृद्धावस्थापन्न प्रतिष्ठित रहने वाले परिणाहों की राशि 'पृष्ठ्यस्तोम' कहलाएगी । एवं प्रत्येक वस्तुपिण्ड के केन्द्र से आरम्भ कर निधन (उदक) साम नामक, अन्तिम परिधिरूप अन्तिम पृष्ठ (मण्डल) पर्यन्त व्याप्त रहने

(३३४, तथा ३३५ के मध्य में)

(२०)—परिणाहात्मकसाममण्डलवितानपरिलेखः—



वाली रश्मिराशि 'अभिप्लवस्तोम' नाम से व्यवहृत होगी। मण्डलसमष्टि पृष्ठ्यस्तोम होगा, रश्मिसमूह को अभिप्लवस्तोम कहा जायगा।

रश्मिभाव केन्द्रबिन्दु का ही वैतानिकरूप बतलाया गया है। केन्द्रबिन्दुओं की सचितिरूप इस ऋजु (सीधी) रश्मि के आधार पर सहस्र व्यासों का उद्गम होता है। व्यास मे समतुलित, रश्मिभाव से सम्बद्ध मूर्त्तियाँ इन्हीं व्यासों पर प्रतिष्ठित हैं। इन मूर्त्तियों के आधार पर ही मण्डलात्मक सहस्र पृष्ठों का उदय बतलाया गया है। इसप्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि, हृद्बिन्दुमश्चितिरूप रश्मिलक्षण अभिप्लव ही परम्परया मण्डलात्मक सहस्र पृष्ठों का जनक है। अभिप्लव पिता है, पृष्ठ इसके पुत्र हैं *। सूर्य्यसंस्था से आने वाले प्राणदेवता पार्थिव पदार्थों में प्रविष्ट रहते हैं। यह सौरप्राण ही (बृहतीप्राण ही) 'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' के अनुसार पार्थिव पदार्थों का आयुःसंरक्षक आत्मा बनता है। ये आत्मदेवता रश्मिवितानद्वारा ही उस सौर-सम्वत्सर में चित होते हैं। पार्थिव पदार्थों के प्राणदेवता रश्मियों के द्वारा ही रिरिचान सौर सम्वत्सरप्रजापति का पुनः सन्धान करने में समर्थ होते है। जिस प्रकार नदी के इस छोर पर रहने वाला मनुष्य जलतरङ्गों के आधार पर तैरता हुआ नदी के उस पार पहुँच जाता है, एवमेव ये प्राणदेवता सहस्रभावापन्न रश्मिस्थानीय तरङ्गों के आधार पर पुनः उस स्वर्गलोक (सौरसंस्था) में पहुँच जाते हैं। इस सन्तरण-साधन से ही इन रश्मिस्तोमों को 'अभिप्लव' कहा गया है +।

जिस प्रकार सौर अग्नि 'आदित्य' नाम से प्रसिद्ध है, एवमेव पार्थिव अग्नि 'अङ्गिरा' नाम से प्रसिद्ध है। सौरप्राण का ही पार्थिव पदार्थो के साथ दो प्रकार से सम्बन्ध होता है। प्रवर्ग्य सम्बन्ध से पार्थिव पदार्थों की प्रातिस्विक वस्तु बन जाने वाला सौरप्राण अङ्गिरा है। बहिर्य्याम सम्बन्ध से पार्थिव पदार्थों को आयुः-प्रदान कर प्रतिफलनविधा से वापस लौट जाने वाला सौरप्राण आदित्य है। आदित्य, और अङ्गिरा, दोनों यहाँ से वहाँ जा रहे हैं। दोनों का लक्ष्यस्थान एक है, परन्तु गमनमार्ग भिन्न-भिन्न है। आदित्यप्राण अभिप्लव के द्वारा सौरसम्वत्सर में जाता है, अङ्गिराप्राण पृष्ठ्यस्तोम के द्वारा वहाँ पहुँचता है। अङ्गिराप्राण अपने अग्नि-वायु-आदित्यरूपों से क्रमशः त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंश पृष्ठ्यस्तोमों का स्पर्श करता हुआ एकविंशात्मक सूर्य्यलोक में जा पहुँचता है। क्योंकि ये मण्डल अङ्गिरात्रयी के स्पृश्य-मण्डल हैं, अतएव इन्हें 'स्पृश्य' कहा जा सकता है। यही 'स्पृश्य' शब्द परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में 'पृष्ठ्य' नाम से व्यवहृत हुआ है।

---

* "पिता वा अभिप्लवः, पुत्रः पृष्ठ्याः" (गो० ब्रा० पू० ४।१७)।

\+ "स सहस्रायुर्जज्ञे। स यथा नद्यै पारं परापश्येत्, एवं स्वस्यायुषः पारं पराचख्यौ" (शत० ११।१।६।६।)।

"तद्यदभिप्लवमुपयन्ति, सम्वत्सरमेव तद्यजमानाः समारोहन्ति" (कौ०ब्रा०२०।१)।

"स्वर्गं लोकमभ्यप्लवन्त। यदभ्यप्लवन्त, तस्मादभिप्लवाः"(शत०१२।२।२।१०)।

"ते एतेनाभिप्लवेनाभिप्लुत्य मृत्युं पाप्मानमपहत्य ब्रह्मणः सलोकतां सायुज्यतामापुः" (कौ० ब्रा० २१।१।)

आदित्य-गमनसाधक रश्मिसंचितिलक्षण अभिप्लवस्तोम, एवं अङ्गिरा-गमनसाधक, मण्डलसंचितिलक्षण पृष्ठ्यस्तोम, दोनों के इस तात्त्विक स्वरूप का निम्न लिखित दोनों वचनों से स्पष्टीकरण हो रहा है—

अभिप्लवः— **"आदित्याः स्वर्गं लोकमभ्यप्लवन्त । यदभ्यप्लवन्त, तस्मादभिप्लवः"**

—गो० ब्रा० पू० ४।२३।

पृष्ठ्यः—**"आङ्गिरसाः सर्वैः पृष्ठैः स्वर्गं लोकमभ्यस्पृशन्त । यदभ्यस्पृशन्त, तस्मात् स्पृश्यः । तं वा एतं 'स्पृश्यं' सन्तं 'पृष्ठ्य' इत्याचक्षते परोक्षेण"** ।

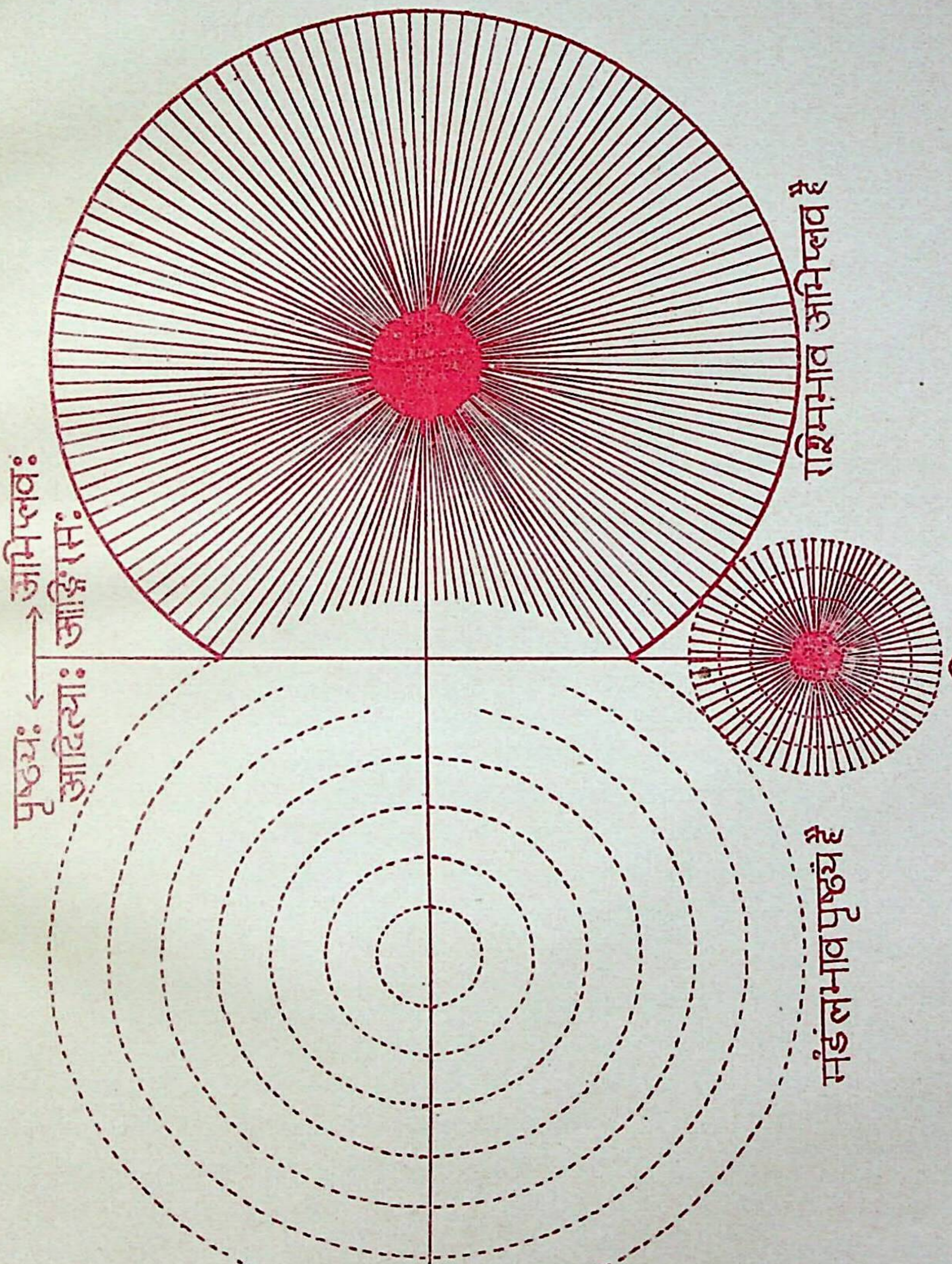
—गो० ब्रा० पू० ४।२३ ।

अभिप्लव रश्मिरूप हैं, पृष्ठ्य मण्डलात्मक हैं । रश्मियाँ भी एक सहस्र हैं, मण्डल भी एक सहस्र हैं । इस दृष्टि से तो दोनों समतुलित हैं । परन्तु दोनों के अवान्तर संस्थानों के स्वरूप में आगे जाकर भेद हो जाता है । अभिप्लवस्तोम ३६० संख्या को मूलाधार बनाते हुए अहोरात्रपर्वों के सम्पादक बनते हैं, पृष्ठ्यस्तोम '६-३' के क्रम से ६ भागों में विभक्त होते हुए लोकचतुष्टयी के प्रवर्त्तक बनते हैं, जिनका अनुपद में ही स्पष्टीकरण होने वाला है । यहाँ दो बातों पर विशेष ध्यान रखना आवश्यक है । वस्तुकेन्द्रानुगामी सहस्र रश्मि-मण्डल अभिप्लव है, इसका आयुःप्रवर्त्तक सौर आदित्यप्राण (बृहतीप्राण) से सम्बन्ध है, यह एक दृष्टि है । वस्तुमूर्त्यनुगामी सहस्र साममण्डल पृष्ठ्य है, इसका लोकप्रवर्त्तक (शरीरप्रवर्त्तक) पार्थिव अङ्गिराप्राण से सम्बन्ध है, यह एक दृष्टि है । इन दोनों दृष्टियों के आधार पर प्रत्येक वस्तुपिण्ड में निम्न लिखितरूप से दोनों स्तोमों का स्वरूप उपभुक्त देखा जा सकता है ।

पहिले संक्षेप से आङ्गिरस सहस्र पृष्ठों का ही विचार कर लीजिए । इन सहस्र पृष्ठों के (जो कि मनः-प्राणगर्भित वाङ्मय गौतत्त्वात्मक हैं) ३०-३० गौके संकलन से ३३ अहर्गण हो जाते हैं । ९९० संख्या पूरी हो जाती है । १० शेष रह जाते हैं । सृष्टिधारा का विकास इसी शेषांश से हुआ है, होता है । पूर्व की छन्दोवेद-निरुक्ति में स्पष्ट किया गया था कि, व्यास की अपेक्षा त्रिगुणित रहने वाला परिणाह तिगुने से कुछ अधिक होता है । वही आधिक्य इस मण्डल में भी प्रतिष्ठित है, जिसकी उपपत्ति तन्निरुक्ति में ही बतलादी गई है । इन्हीं सहस्र भावों का यदि छन्दो दृष्टि से वितान किया जाता है, तो ४८ अहर्गण होते हैं । इन ४८ के आधार पर '२४-४४-४८' इस क्रम से छन्दोमा नामक तीन युग्मस्तोमों का आविर्भाव होता है । एवं ३३ के आधार पर '९-१५-१७-२१-२७-३३' इस क्रम से ६ अयुग्मस्तोमों का आविर्भाव होता है । क्योंकि सहस्र पृष्ठों का एकावसान इन ६ स्तोमों में हो जाता है, अतएव इन ६ ओं अयुग्म स्तोमों की समष्टि को—**'पृष्ठ्यषडह'** नाम से व्यवहृत कर दिया जाता है । तीन छन्दोमास्तोमों की समष्टि का स्वतन्त्र विभाग रह जाता है । इनमें अष्टाचत्वारिंश (४८) स्थानीय तीसरा जागत स्तोम ही **'महाव्रतअतिरात्र'** नाम से प्रसिद्ध है । इस स्तोम से नीचे नीचे अहः-रात्रि, दोनों भावों का सम्बन्ध है । यहाँ विशुद्ध अहः की प्रधानता है, जो कि महाव्रताह—'अविवाक्यमहः' नाम से प्रसिद्ध है । अतएव इसे अतिरात्र कहना अन्वर्थ बनता है । छन्दोमात्रयी वेदलोक की अधिष्ठात्री है, पृष्ठ्यषडह पृथिव्यन्तरिक्षमापः-इस चतुर्लोकी की अधिष्ठात्री है । निम्नलिखित वचन इन्हीं पृष्ठ्यस्तोमों का स्पष्टीकरण कर रहा है—

(२३६, तथा २३७ के मध्य में)

(२१)—मण्डलात्मक-पृष्ठ्य-रश्म्यात्मक अभिप्लव-मण्डलस्वरूपपरिलेखः—



१—"पृष्ठ्यः षडहश्छन्दोम-पवमानं महाव्रतमतिरात्रः। उभये स्तोमाः-युग्मन्तश्च, अयुजश्च। तन्मिथुनम्। मिथुनात् प्रजायते"

(ताण्ड्यम० ब्रा० २२।७।१,५।)

दूसरा आदित्यप्राणप्रधान सहस्ररश्मिरूप अभिप्लवस्तोम है। प्राजापत्यवेदमहिमा में यह विस्तार से बतलाया जा चुका है कि, केन्द्रस्थ आदित्यप्राण 'बृहत्प्राण'-'बृहतीप्राण' इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है। यह बृहत्प्राण आरम्भ में एकरूप रहता हुआ रश्मिवितान के कारण पहिले चार भागों में परिणत होता है, चार के दस विभाग होते हैं दस शतगुण बनता है, शतगुण सहस्र से गुणित है। इस पारम्परिक रश्मिवितान से एक के ३६००० (छत्तीसहजार) विवर्त हो जाते हैं। बृहतीप्राण के इस व्यूहन का स्वरूप पूर्व प्रकरणों में बताला ही जा चुका है। इस सम्बन्ध में विशेष जिज्ञासा रखने वालों को ऋग्वेद के ३-५५ सू०,-५-४७ सू०, इन प्रकरणों का अन्वेषण करना चाहिए। यहां व्यूहनप्रक्रिया के सम्बन्ध में केवल एक मन्त्र उद्धृत किया जा रहा है।

"चत्वार ईं बिभ्रति क्षेमयन्तो दश गर्भं चरसे धापयन्ते।
त्रिधातवः परमा अस्य गावो दिवश्चरन्ति परि सद्यो अन्तान्"

—ऋक् सं० ५।४७।४।

"चार इसे क्षेमार्थ धारण किए हुए हैं। चरण (गमन) के लिए दश-गर्भों को प्रेरित करते हैं। इस की त्रिधातुमूर्ति गाएँ चारों ओर द्युलोक में व्याप्त हो रहीं हैं" इस अक्षरार्थ को व्यक्त करने वाला उक्त मन्त्र सूर्यदृष्टान्त के द्वारा प्रत्येक वस्तुपिण्ड के अभिप्लवात्मक रश्मि-व्यूहन का ही स्पष्टीकरण कर रहा है। प्रत्येक वस्तुपिण्ड का स्वरूप चतुर्भुज माना गया है। वर्त्तुल वस्तुपिण्ड में चारों दिशाओं के आधार पर ९०-९०-९०-९० इस क्रम से चार भुजा बनतीं हैं। इन चार भुजाओं से ही वस्तुपरिणाह (वृत्त) के ३६० अंश (डिग्री) हो जाते हैं। मूलस्थ सौर प्राण-'स्वरहर्देवाः सूर्य्यः' के अनुसार स्वरात्मक है। स्वर नव-बिन्द्वात्मक माना गया है, जैसाकि अन्यत्र विस्तार से प्रतिपादित है। नव बिन्द्वात्मक स्वर ही चतुर्भुज बन कर सौरसंस्था की मूलप्रतिष्ठा बनता है। एक दृष्टि से यही नवसंख्या जहाँ ९० के चतुर्गुणन से ३६० अंशों की स्वरूपसमर्पिका बनती है, वहाँ यही संख्या ९ के चतुर्गुणन से ३६ की स्वरूपसमर्पिका बन रही है। मूल में इसका रूप ३६ ही माना जायगा, एवं यही नवबिन्द्वात्मक प्राण का प्रथम व्यूहन माना जायगा, जो वस्तुप्रतिष्ठा का मूलस्तम्भ है। इसी मूलस्थितिलक्षण प्रथम व्यूह का 'चत्त्वार ईं बिभ्रत्ति' से स्पष्टीकरण हुआ है।

अब इसी प्रथम व्यूह के तीन व्यूहन और होते हैं। एवं प्रत्येक में दश-दश संख्याओं का समावेश है। ९ के ३६ पहिला व्यूहन था। ३६ को यदि दस से गुणित किया जाता है, तो ३६० हो जाते हैं। ३६० को यदि दस से गुणित किया जाता है, तो ३६०० हो जाते हैं। ३६०० को दश गुणित करने से ३६००० हो जाते हैं। यहाँ विकासमात्रा का अवसान है, गर्भीभूत विराट्-भाव का अवसान है। इसप्रकार '३६-३६०-३६००-३६००० इस क्रम से चार व्यूहन हो जाते हैं। इस व्यूहन से आरम्भ में ९ बिन्द्वात्मक रहने वाला

वही प्राण वितानभाव से सर्वान्त में बृहतीसहस्र (३६०००) संख्या में परिगणित हो जाता है। प्रत्येक व्यूहन में त्रिभुजभाव का (त्रिधातवः) का सम्बन्ध है। इस वितान से मूल केन्द्र के आधार पर सहस्र किरणों की व्याप्ति हो जाती है। इसी सहस्र व्याप्ति को एक विशेष हेतु से बृहतीसहस्ररूप में परिणत होना पड़ रहा है। एवं वह विशेष कारण है–पृष्ठ्यस्तोमात्मक सहस्रसाममण्डल। इस व्याप्ति का विचार पीछे कीजिए। पहले परिलेख के द्वारा 'दशगर्भं चरसे धापयन्ते' से सम्बद्ध गमनभाव का स्पष्टीकरण कर लीजिए।

आभिप्लवः—

❀ ९ ❀ १—९–९–९–९———————{ चत्त्वार इं विंश्रति–(मूर्त्तिम्)।

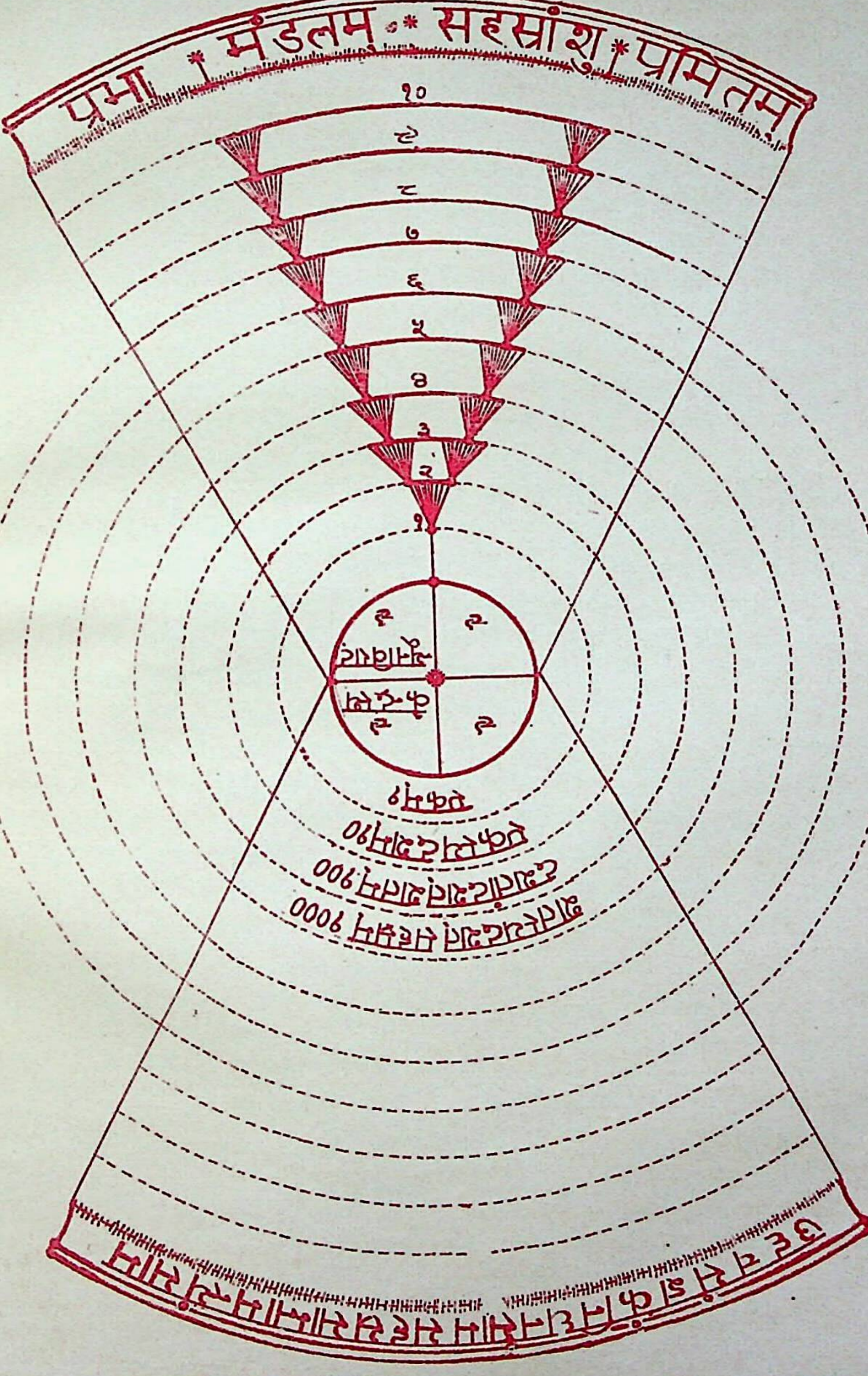
❀……१०—एकस्य दशत्—(दशत्)
❀……१००–दशतां दशत्—(दशत्) —दश गर्भं चरसे धापयन्ते (रश्मिमण्डलम्)
❀……१०७०–शतस्य शतम्—(दशत्)

रश्मियाँ एक सहस्र, फिर बृहतीसहस्रभाव का उदय किस आधार पर हुआ ?, इस प्रश्न का समाधान यद्यपि पूर्व से गतार्थ है। तथापि एक दूसरे दृष्टिकोण से समाधान और सुन लीजिए। जिन आभिप्लविक रश्मियों की संख्या एक सहस्र बतलाईं हैं, उन्हें थोड़ी देर के लिए ३६० मान लीजिए। इसलिए मान लीजिए कि, इन्हीं रश्मियों के वितान से अहोरात्र की स्वरूपनिष्पत्ति हुई है। मूल में ९, आगे जाकर ३६, संख्या में विभक्त होने वाला बृहतीछन्दोऽवच्छिन्न बृहत्प्राण ३६० ही सूत्रों में विभक्त होता है। इन विभागों की मध्य विभक्तियाँ हीं 'अह्नां विभक्तयो रात्रयः' परिभाषानुसार ३६० रात्रियाँ हैं। इसप्रकार इन रात्रियों का स्वरूप इन्हीं ३६० अहःसूत्रों में अन्तर्भुक्त है। यही अहोरात्र की मौलिक व्याप्ति है। मूर्त्तिपृष्ठ से मण्डलपरिधि पर्य्यन्त सीधी ३६० रेखाएँ ले जाइए। ये ही ३६० अहोरात्रसूत्र होंगे। इन्हीं को A 'नाड्य' कहा जायगा। इन सूत्रों को काटते हुए एक सहस्र पृष्ठ्यस्तोमात्मक साममण्डल बनाइए। आप देखेंगे कि, प्रत्येक सूत्र का प्रत्येक मण्डल के साथ सम सम्बन्ध हो रहा है। मण्डल क्योंकि एक सहस्र हैं, उधर सूत्र ३६० हैं। फलतः प्रत्येक मण्डल के साथ ३६० सूत्रों का सम्बन्ध हो जाता है। इसप्रकार एक षष्टित्रिशती सहस्र-षष्टित्रिशतो रूप में परिणत हो रही है। यही ३६० की ३६००० व्याप्तियाँ है, सहस्र का बृहतीसहस्रत्व है। यही हमारे परिगणित आयुःसूत्र हैं, जैसाकि प्राजापत्यप्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है।

A –"सर्वाणि ह त्वेव भूतानि, सर्वे देवा एषोऽग्निश्चितः। तस्य नाड्या एव परिश्रितः। ताः षष्टिश्च, त्रीणि च, शतानि भवन्ति। षष्टिश्च ह वै त्रीणि च शतानि–आदित्यं नाड्याः समन्तं परियन्ति। षष्टिश्च ह वै त्रीणि च शतानि–आदित्यं नाड्या अभिक्षरन्ति" (शत० १०।२।४।१४)।

(३३८, तथा ३३६ के मध्य में)

(२२)-अभिप्लवस्तोमार्कवितानपरिलेखः—



सामान्यदृष्टि भी यही सिद्ध कर रही है। मण्डलात्मक प्रत्येक वृत्त के ३६० अंश मानें गए हैं। जब साममण्डल १००० हैं, तो इनके सब अंशों के संकलन से ३६००० ही संख्या ठहरती है।

जिन मण्डलों के आधार पर ३६० सूत्र बृहतीसहस्त्ररूप में परिणत हो रहे हैं, उन मण्डलों का नाम ही वितानवेदात्मक सामवेद है। सामवेद वस्तुतत्त्व नहीं है, केवल आयतनमात्र है, यह स्पष्ट किया जा चुका है। इस स्थिति का लक्ष्य में रखते हुए सामत्रयी का विचार कीजिए। इन साममण्डलों को हम **'पूर्वमण्डल. उत्तरमण्डल, मध्यपतित मूर्त्तिमण्डल'** भेद से तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। पूर्व पूर्व मण्डल उत्तर उत्तर मण्डल का उपक्रमस्थान है, प्रस्तावभूमि है। उधर वेदपरिभाषानुसार प्रस्ताव को ही 'ऋक्' कहा गया है। ऋगनुबन्धनी प्रस्तावात्मिका इस सामान्यपरिभाषा के अनुसार अन्त के एक निधनसाममण्डल को छोड़ कर हम पूर्व-पूर्व के ९९९ मण्डलों को अवश्य ही **ऋक्** कह सकते हैं। पूर्व पूर्व-मण्डल से उत्तर उत्तर मण्डल समतुलित है। यद्यपि पूर्वप्रतिपादित 'पर उर्व्यः' के अनुसार सहस्रों सामपृष्ठ परस्पर विषम हैं। पूर्व-पूर्वमण्डलापेक्षया उत्तरोत्तर मण्डल बृहदाकार बनता हुआ विषम है, तथापि अंश-साम्य को लेकर हम अवश्य ही पूर्वापेक्षया उत्तरमण्डल को साम मान सकते हैं। सूत्रानुबन्धिनी षष्टित्रिशती (३६०) जो मर्य्यादा पूर्व के छोटे साममण्डल में है, वही मर्य्यादा उत्तर सामण्डल में है। सहस्रों मण्डल ३६० अंशों से युक्त रहते हुए (आकार से विषमपृष्ठ बनें हुए भी) अंशमर्य्यादा के समतुलन से सम ही बने हुए हैं। साम का **'ऋचा समं मेने'** यह लक्षण माना गया है। क्योंकि ऋक्स्थानीय पूर्व पूर्व साममण्डलापेक्षया उत्तरोत्तर साममण्डल अंशमर्य्यादा से समतुलित हैं, ऋङ्मण्डलों के सम है, अतएव आरम्भ के एक मण्डल को छोड़कर अन्त के ९९९ मण्डलों को हम अवश्य ही **'साम'** कह सकते हैं। ९९९ में ही क्यों, यदि मण्डलत्वेन उस ओर से विचार किया जायगा तो निधनसाम ऋक् बन जायगा, प्रस्तावात्मक इस ओर का प्रथम साम निधनात्मक साम मान लिया जायगा। इसप्रकार पूरे सहस्रमण्डल सामात्मक माने जा सकेंगे, पूरे सहस्रमण्डल हीं ऋगात्मक मानें जा सकेंगे। **'ऋचा समं मेने'** से सम्बन्ध रखने वाले अंश-साम्य के अतिरिक्त दूसरे प्रकार से भी देखा जा सकता है। पूर्वसाममण्डल में वितान (फैलाव) की जितनी मात्रा है, उत्तर साममण्डल में भी मात्रा वही है। पूर्व में थोड़े प्रदेश में वही मात्रा है, उत्तर में अधिक प्रदेश में वही मात्रा है। इस मात्रासाम्य से उत्तरमण्डल साम मान लिए जायँगे। यदि रसवेद के पक्षपाती उत्तरोत्तर बिन्दुद्वय के अनुपात से मात्रा में अल्पता मानते हुए इस कथन का विरोध करेंगे, तो हम **'ऋच्यधूढं साम गीयते'** इस लक्षण का समन्वय तो निर्बाध कर ही सकते हैं। पूर्वमण्डल के आधार पर ही उत्तरमण्डल का गान (विस्तार) हुआ है। फलतः ऋक्रूप पूर्वमण्डल पर प्रतिष्ठित होकर ही उत्तरमण्डलात्मक साम का गान हुआ है।

४०-सामवेद में वेदत्रयी का उपभोग—

पूर्वोद्धृत परिलेखों में यत्र तत्र यह स्पष्ट हो चुका है कि, दोनों मण्डलों के मध्य में व्यासानुगत मूर्त्तियाँ समन्तात् प्रतिष्ठित हैं। वहीं यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि, सहस्रधा महिमानः सहस्रं भाव में परिणत इन मूर्त्तियों के आधार पर ही साममण्डलों का वितान हुआ है। पहिली मूर्त्ति छन्दोवेदत्रयीरूपा महदुक्थलक्षणा महामूर्त्ति है। इसका घेरा एक साम है। इसके अनन्तर परितः मूर्त्तिस्तर है, पुनः साममण्डल

है, पुनः मूर्तिस्तर है। इसप्रकार इस ओर मण्डल, उस ओर मण्डल, मध्य में मूर्तियाँ, यह धारावाहिक क्रम महदुक्थपृष्ठ से निधनसाम पर्य्यन्त व्याप्त है। मूर्तिगत वस्तुतत्त्व का जहाँ हम रसवेदत्रयी में अन्तर्भाव मानेंगे, वहाँ इस मूर्तिमण्डल को (मूर्ति के चारों ओर के घेरे को) मण्डलत्वेन अवश्य ही साम मान लिया जायगा। मूर्तिमण्डलात्मक मध्यपतित इस साम को हम यजुर्वेद कहेंगे। यजुर्वेद की -'ऋक्‌सामे-यजुरपि तः' यह परिभाषा है। ऋक्‌साम दोनों यजु के अनुगत रहते हैं। वयोलक्षण यजु ऋक्-सामोदर में प्रतिष्ठित रहता है। यहाँ ठीक यही परिस्थिति है। उत्तर मण्डलात्मक साम, पूर्वमण्डलात्मिका ऋक्, दोनों के मध्य में भुक्त मूर्तिमण्डल प्रतिष्ठित है। अतएव इसे वयोलक्षण मानते हुए अवश्य ही यजु कहा जा सकता है।

इसप्रकार मण्डलात्मक केवल सामवेद में पूर्वमण्डल, उत्तरमण्डल, मध्यस्थ मूर्तिमण्डल, भेद से 'ऋक्-साम-यजुः' तीनों वेदों का उपभोग सिद्ध हो जाता है। यही प्रकृत प्रकरण की दूसरी वितानवेदत्रयी है, जो छन्दोवेदत्रयी पर प्रतिष्ठित है। छन्दोवेदत्रयी ऋक् है, वितानवेदत्रयी साम है। अब शेष रहती है रसवेद-त्रयी, जिसे हम यजुः कहा करते हैं। उसी का स्पष्टीकरण करता हुआ प्रकृत स्तम्भ उपरत हो रहा है।

१—पूर्व-पूर्व-मण्डलानि——— —{ ऋचः
२—उत्तरोत्तर-मण्डलानि———{ सामानि
३—मध्यस्थमूर्त्ति-मण्डलानि———{ यजूंषि

} { तदित्थं वितानात्मके मण्डललक्षणे सामवेदे-वेदत्रयोपभोगः

*

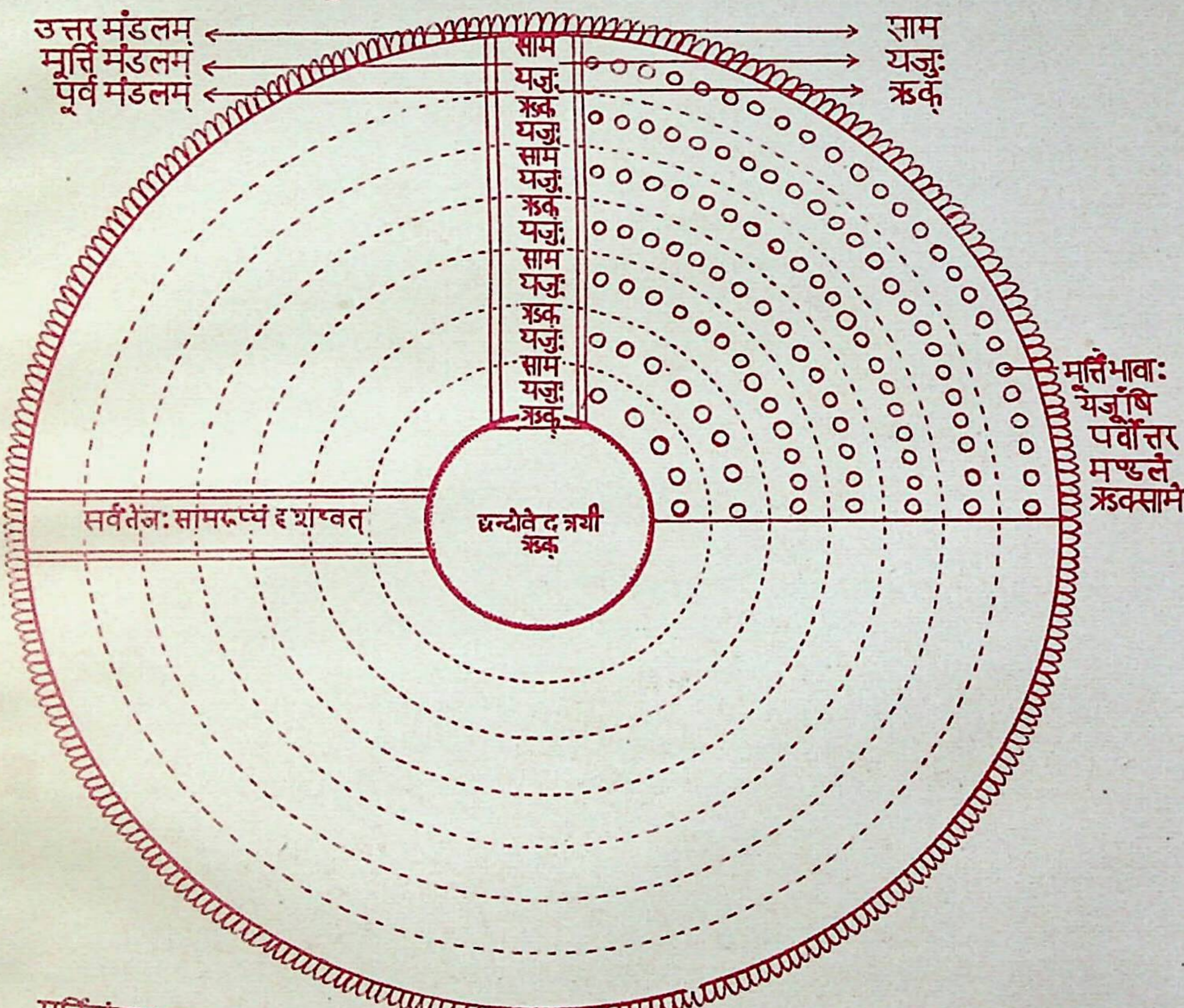
४१-रसलक्षण यजुर्वेद का उपक्रम—

वयोनाधलक्षण ऋक्-साम, दोनों समानधर्म्मा हैं। अतएव त्रयीवेदगणना में 'ऋक्‌साम' यह स्वतन्त्ररूप से उद्धृत रहता है, 'यजुः' का स्वतन्त्र निर्देश रहता है। साथ ही ऋक् साम दोनों से ही यजुः का स्वरूप परिगृहीत है। विना ऋङ्मय मूर्त्तिभाव के, साममय मण्डलभाव के न तो स्वयं वस्तुतत्त्व ही स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रह सकता, एवं न हमें हीं उस वस्तुतत्त्व की उपलब्धि हो सकती। एकमात्र इसी हेतु से पहिले वयोनाधलक्षणा ऋग्वेदत्रयी (छन्दोवेदत्रयी), एवं सामवेदत्रयी (वितानवेदत्रयी) का निरूपण आवश्यक समझा गया। अब क्रमप्राप्त उस यजुर्वेदत्रयी (रसवेदत्री) का ही संक्षिप्त स्वरूप पाठकों के सम्मुख उपस्थित हो रहा है, जिसकी ऋक्-साम के आधार पर हमें उपलब्धि होती है, जिस उपलब्धि से हम तृप्तिलक्षण रसोद्रेक का अनुभव करते हैं।

वितानवेदनिरुक्ति में एक स्थान पर यह कहा गया है कि, न तो चक्षुरिन्द्रिय विषय पर जाती, न वस्तुपिण्ड चक्षु पर आता। एवं न वस्तुपिण्ड के साममण्डल की ही कोई वस्तु हमारा ब्रह्मौदन बन सकती। अपितु हमारा प्रज्ञानज्ञान चाक्षुषसामातिमान के आधार पर अपूर्व वस्तु का निर्म्माण करता है। कोई भी पदार्थ अपने प्रातिस्विक ब्रह्मौदन का परस्पर आदान-प्रदान नहीं कर सकता। इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में एक महाविप्रतिपत्ति उपस्थित हो रही है। चक्षुरिन्द्रिय सम्बन्धी रूपानुभव के सम्बन्ध में उक्त सिद्धान्त को थोड़ी देर के लिए स्वीकार करते हुए भी रसनेन्द्रिय के सम्बन्ध में हम उक्त सिद्धान्त का विरोध देख रहे हैं। पुरोऽवस्थित

(३४०, तथा ३४१ के मध्य में)

(२३)--परिणाहात्मकसहस्रसामवितानपरिलेखः —



मूर्त्तिमंडल यजु ऋक्, साम के बीच में है

भोग्य सामग्री अशनायासूत्र से आकर्षित होकर हाथों के द्वारा मुखविवर में प्रविष्ट होती है, गले से नीचे जाती है, अशनाया शान्त हो जाती है, तृप्तिभाव उदित हो जाता है। भुक्त अन्न 'ऊर्क्' नामक रसविशेष में परिणत होता है, उर्क्-रस प्राणाग्नि-अवस्था में परिणत होता है। प्राणाग्नि विस्रंसनधर्म्म से पुनः अशनाया के द्वारा अन्नाकर्षण का अधिष्ठाता बनता है। अन्न पुनः उर्क्, ऊर्क् पुनः प्राणाग्नि बनता है। इसप्रकार 'अन्नोर्क् प्राणानामन्योऽन्यपरिग्रहो यज्ञः" लक्षण के अनुसार वस्तुमात्र में अन्नादानप्रदानलक्षण अहरहर्यज्ञ (भैषज्ययज्ञ) निरन्तर होता रहता है। 'यत् सप्तान्नानि तपसाजनयत् पिता' इस औपनिषद सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान[1], क्रिया[2], आकाश[3] (शब्द), वायु[4] (श्वासप्रश्वास), अग्नि[5] (प्रकाश), जल[6], मिट्टी[7] (गोधूम यवादि एवं ओषधि-वनस्पतियाँ) ये सातों अन्न ग्राहक की योग्यता के तारतम्य से वस्तुमात्र के अन्न बने हुए हैं। बिना परादान के कोई भी पदार्थ स्वसंस्था को सुरक्षित नहीं रख सकता। यदि यह परस्परादान-प्रदान न होता, तो सृष्टिस्वरूप का विकास ही असम्भव हो जाता। इसी अन्नादान से हमारे शरीर की आयतन-वृद्धि होती है। ह्रास-वृद्धि-कृश-स्थूल आदि आदि अवस्थाविपर्य्यय ही इस सम्बन्ध में प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि, अवश्य ही एक वस्तु का दूसरी वस्तु के साथ अन्नादानप्रदानलक्षण यज्ञसम्बन्ध सुरक्षित है। ऐसी दशा में यह कहना कि, न हम अपना ब्रह्मौदन दे सकते, न किसी का ब्रह्मौदन ले सकते, कैसे समीचीन बन सकता है ?।

४२-प्रवर्ग्य का आदान प्रदान—

इस में तो कोई सन्देह नहीं कि, ब्रह्मौदन भाग का परस्पर आदान-प्रदान असम्भव है। परन्तु साथ ही यह भी असंदिग्ध है कि, स्वाभाविक यज्ञकर्म्म की रक्षा के लिए वस्तुभावों का परस्पर आदान-प्रदान होता रहता है। यह आदान-प्रदान भाव एकमात्र 'प्रवर्ग्यवस्तु' पर ही निर्भर है। प्रवर्ग्य भाग ही एक दूसरे की अन्नाहुति बनता है। इसी को अथर्व ने उच्छिष्ट कहा है, एवं इसी उच्छिष्ट से अथर्व ने विश्व की उत्पत्ति मानी है। यह उच्छिष्ट क्या है ?, इस प्रश्न का उत्तर न तो मूर्तिलक्षण छन्दोवेद (ऋग्वेद) दे सकता, न मण्डललक्षण वितानवेद (सामवेद) ही दे सकता। अपितु पुरुषलक्षण रसवेद (यजुर्वेद) ही इस प्रश्न का समाधान कर सकता है। मूर्ति एक आकारविशेष है, मण्डल भी एक आकारमात्र है। आकारभाव स्व-स्वस्थान में चात्वालमण्डलवत् प्रतिष्ठित रहते हैं। न इन में गति है, न आगति। न इनका आदान सम्भव, न प्रदान ही सम्भव। किसी वस्तु को जब आप अपना अन्न बनाने आगे बढ़ेंगे, तो पहिले उसका रक्षादुर्ग तोड़ना पड़ेगा। छन्द पर आक्रमण करना पड़ेगा। तभी वह स्वच्छन्दस्क पदार्थ आपकी छन्दः सीमा में आता हुआ परछन्दोऽनुवर्त्ती बन सकेगा। मण्डल स्वयं कोई वस्तु नहीं, मूर्ति भी कोई वस्तुतत्त्व नहीं। जिसका यह मण्डल है, जिसकी यह मूर्ति है, वही वस्तुतत्त्व स्वाभाविक रसनभाव से गति-आगति भावों का अनुगामी बनता हुआ यज्ञकर्म्म का प्रवर्त्तक बनता है। इसका जो भाग मूर्ति-मण्डल सीमा से बाहिर निकल जाता है, वही प्रवर्ग्यांश है। इसी प्रवर्ग्यादानप्रदान से भैषज्ययज्ञ सञ्चालित है। जब तक छन्द पर आक्रमण नहीं किया जाता, तब तक वह वस्तुतत्त्व ब्रह्मौदन है, और तब तक इसका आदान असम्भव है। छन्दःसीमा की विच्युति से ही वह प्रवर्ग्यरूप में परिणत होता है। एवं प्रवर्ग्यावस्था में आकार ही वह हमारा अन्न बनता है।

प्रमाणवादप्रकरण में इसी अभिप्राय से वेद का 'घर्म्मवेद' नाम से दिग्दर्शन कराया गया है। प्रवर्ग्य ही घर्म्म है-(देखिए पृ० सं० ११५)। ऋक्-सामरूप वयोनाधों से सम्बद्ध यजुर्ल्लक्षण वय को इसी

आधार पर अन्न माना गया है। क्योंकि वयोविध रसवेद ही प्रवर्ग्य भाव में परिणत होकर आहुतिद्रव्य बनता है। मूर्त्तिलक्षण ऋक् भी गतिशून्य है, मण्डललक्षण साम भी गतिशून्य है। गतिमत् है एकमात्र वस्तुतत्त्वलक्षण यजुः। यजु के गमन से ही स्थितिलक्षणा आयतनरूपा मूर्त्ति का वितान हुआ है। गति-रस ही ऊर्ध्व-अधः-चारों ओर गमन करता है। इसका जैसा संस्थान होता है, मूर्त्ति-मण्डल का भी वैसा ही संस्थान हो जाता है। गतिधर्म्म ही इसके रसनभाव का मुख्य हेतु है। रसन ही गमन है, गमन ही रसन है। इसी गमनवृत्ति से इस स्थितिगर्भित गतिलक्षण यजुः को रसवेद कहना अन्वर्थ बनता है। इसी का प्रवर्ग्यरूप से विस्रंसन होता है। अन्य पदार्थों के प्रवर्ग्यरूप विस्रस्त भावों से इसी विस्रस्त यजुः का पुनः सन्धान होता रहता है।

४३-प्राणवायु और यजुर्वेद—

प्राणवायु ही इस यजुर्वेद का मौलिक रूप है, जो कि प्राणवायु इस ओर से मूर्त्तिद्वारा, उस ओर से मण्डलद्वारा सीमित बना रहता है। कराघात न मण्डलपर होता, न मूर्त्ति पर। अपितु मूर्त्ति में प्रतिष्ठित यजु पर होता है। प्रत्यक्ष भी न मण्डल का होता, न मूर्त्ति का होता। अपितु मण्डलाहित यजुः का होता है। इसप्रकार अनेक दृष्टियों से यजुः का मूर्त्ति-मण्डलों से पृथक्करण किया जा सकता है। अपनी सम्वत्सर-चिति की महिमा से यह वयोविध यजु एकशतविध (१०१ प्रकार का) है, जैसाकि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। यजुः साक्षात् रसवेद है, इस सम्बन्ध में महर्षि जैमिनि (वेदर्षि) का निम्नलिखित वाक्य-संग्रह हमारे सामने आता है—

"प्रजापतिर्वा इदं त्रयेण वेदेनाजयत, यदस्येदं जितं तत्। स ऐक्षत-इत्थं चेद्वा अन्ये देवा अनेन वेदेन यक्ष्यन्ते, इमां वाव ते जितिं जेष्यन्ति, ये ऽयम्मम। हन्त त्रयस्य वेदस्य रसमाददा इति। स भूरित्येवर्ग्वेदस्य रसमादत्त। सेयम्पृथिव्यभवत्। तस्य यो रसः प्राणेदत्, सोऽग्निरभवद्रसस्य रसः। भुव इत्येव यजुर्वेदस्य रसमादत्त। तदिदमन्तरिक्षमभवत्। तस्य यो रसः प्राणेदत्, स वायुरभवद्रसस्य रसः। स्वरित्येव सामवेदस्य रसमादत्त। सोऽसौ द्यौरभवत्। तस्य यो रसः प्राणेदत्, स आदित्यो-ऽभवद्रसस्य रसः। तस्या उ प्राण एव रसः" (जै० उ० ब्रा० १।१।)।

"प्रजापति ने अग्नि-वायु-आदित्य रूप से तीनों वेदों का रस ग्रहण कर लिया। प्राण ही वह रस था" इस तात्पर्य को अपने गर्भ में रखने वाली उक्त जैमिनिश्रुति स्पष्ट ही वेदत्रयी को रसात्मिका मान रही है। यहाँ अग्नि, और आदित्य को भी ऋक्-सामात्मक रसवेद बतलाया गया है। ऋक्-साम का यह रसत्त्व यजुः से सम्बन्ध रखता हुआ यजुर्म्मय ही माना जायगा। जिस प्रकार अग्निप्रधान मूर्त्तिलक्षण ऋग्वेद में अग्नि-वायु-आदित्य भेद से तीनों वेदों का समन्वय है। आदित्यप्रधान सामवेद में अग्नि-वायु-आदित्य भेद से तीनों वेदों का उपभोग है। एवमेव वायु (प्राण) प्रधान इस यजुर्वेद में भी अग्नि-वायु-आदित्य भेद से तीनों वेदों का उपभोग हो रहा है। यह यजुर्वेदत्रयी रसप्रधाना है, रसन प्राण का धर्म्म है, प्राणात्मक

एकमात्र गतिलक्षण यजुर्वेद है। फलतः उक्त श्रुति की वेदत्रयी का यजुर्म्मयत्व ही सिद्ध हो जाता है। 'तस्या उ प्राण एव रसः' इस उपसंहारवाक्य से स्वयं श्रुति ने भी अन्त में यही सिद्ध किया है।

आकाशात्मा वाक् ही ऋक् है, वाक् ही साम है। वाक् से ही रसरूप यजु का उपक्रम है, वाक् पर ही यजु का उपसंहार है। स्थितिलक्षण वाङ्मय आकाश ही वह महा आयतन है, जिसके गर्भ में-"यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्" (गीता ६।६।) के अनुसार त्रयोविध प्राणलक्षण यजुः प्रतिष्ठित है। मूर्त्तिलक्षणा ऋक् भी वाङ्मयी है. मण्डललक्षण साम भी वाङ्मय ही है। तभी तो साममण्डल को 'वषट्कारमण्डल' नाम से व्यवहृत करना अन्वर्थ बनता है। मूर्त्तिमय वागाकाश के पीड़न से ही प्राणात्मक रसलक्षण यजुर्वेद का विनिर्गम हुआ है। वाङ्मय ऋक्पिण्ड में परिपूर्ण प्राणात्मक यजुः रस ही हृद्य व्यापार से उर्ध्व वितत होकर वाङ्मय महिममण्डलायतन में व्याप्त होता है। यही प्राणाग्निविध यजु महिमा में जाकर अग्नि-वायु-आदित्यविध बनता हुआ त्रयीविद्यारूप में परिणत हो जाता है। यज्ञप्रक्रिया में जो सामगान होता है, उस से परम्परया इसी रस की अध्यात्मसंस्था में प्रतिष्ठा होती है। प्रणवात्मक सामगान स्वरात्मक बनता हुआ अक्षरात्मक है। इस स्वरसंधानलक्षण रससंधान से व्याहृति की, व्याहृति के द्वारा वेदत्रयी की, वेदत्रयी के द्वारा देवत्रयी की, देवत्रयी के द्वारा लोकत्रयी की, लोकत्रयी के द्वारा त्रैलोक्य व्यापक वागक्षर की, वागक्षर के द्वारा वाक् को, वाक् (इन्द्रपत्नीनामक मर्त्याकाश) के द्वारा आकाश (इन्द्र नामक अमृताकाश) की तृप्ति होती है। इसप्रकार प्राकृतिक साममण्डलाधार पर वितत इस शब्दात्मक सामगान की यथानुरूपता से यज्ञकर्त्ता यजमान का वह आधिदैविक खगोल शान्ति-समृद्धि-पूर्णता-प्रजावृद्धिका कारण बन जाता है, जोकि खगोलीय आकाशमण्डल यजमान के शिरोमण्डलस्थानीय खस्वस्तिक से बद्ध रहता हुआ यजमान का प्रातिस्विक पुराणाकाश बना हुआ है। प्रत्येक व्यक्ति का खस्वस्तिकानुबन्धी आकाश कश्यपसंस्था से सम्बन्ध रखने वाली हृद्बिन्दु के भेद से पृथक् पृथक् है। प्रतिव्यक्ति के लिए नियत सम्वत्सरात्मक आकाश ही विकृतिलक्षण व्यक्ति (मनुष्य) की प्रकृति है। वहाँ से धारावाहिकरूप से इसे शुभाशुभ भाव मिला करते हैं। यदि व्यक्ति की चर्य्या प्रकृत्यनुकूल है, तब तो इसका प्राकृत आकाश शान्त समृद्ध रहता हुआ इस की गार्हपत्य-संस्था को शान्त-समृद्ध रखता है। यदि व्यक्ति का वैकारिक मण्डल प्रकृतिसंस्था से विरुद्ध गमन करने लगता है, तो विकृति से सम्बद्ध प्राकृताकाश भी कुपित हो जाता है। फलतः इसे उस कोपका लक्ष्य बनना पड़ता है। यदि राष्ट्र में अधिक व्यक्ति प्रज्ञापराधवश प्रकृतिविरुद्ध (अशास्त्रीय) आचरण करने लगते हैं, तो सम्पूर्ण राष्ट्र को कोपभाजन बनना पड़ता है। भूकम्प, महामारी, दुर्भिक्ष, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, आदि ही कोप के प्रत्यक्ष निदर्शन हैं। ठीक इसके विपरीत जहाँ के राष्ट्रीय व्यक्ति प्राकृतिक यज्ञादि कर्म्मों के द्वारा प्रकृति को शान्त रखते हैं, प्राकृताकाश का आप्यायन करते रहते हैं, वे-"निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु, फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां, योगक्षेमो नः कल्पताम्" लक्षण प्राकृतानुग्रह के सत्पात्र बने रहते हैं। और यह सत्पात्रता मिलती है उस सामगान से, जो प्राकृतिक साममण्डल के द्वारा पूर्वोक्त परस्परा के अनुसार आकाशाप्यायन का कारण बनता है। (देखिए, जै उप० ब्रा० ७।२।)। उक्त कथन से प्रकृत में यही कहना है कि, यजुर्वेद प्राणात्मक बनता हुआ रसवेद है। इस का आयतन वाङ्मयी मूर्त्ति, वाङ्मयमण्डल है। मूर्त्ति-मण्डलात्मक, वागाकाशरूप ऋक्-सामायतन में व्याप्त प्राणात्मक यजु आगे जाकर देवत्रयी भेद से रसत्रयीरूप में विभक्त होता हुआ रसवेदत्रयीरूप में परिणत हो जाता है, जैसाकि निम्नलिखित श्रुति से स्पष्ट है—

"असदेवेदमग्र आकाश आमान , म उ एवाप्येतर्हि । स यस्स आकाशः, वागेव सा । तस्मादाकाशाद्वागवदति । तामेतां प्रजापतिरभ्यपीडयत् । तस्या अभिपीडितायै रसः प्राणेदत् । सा त्रयीविद्याभवत्" ।

—(जै० ब्रा० ७।१।) ।

* रसात्मक यजुः की व्याप्ति अग्निविकास से सम्बन्ध रखती है, जिसका विशद वैज्ञानिक विवेचन अगले प्रकरण में किया जाने वाला है । यहाँ अग्निविकासलक्षण इस रसवेद के केवल उन तीन विवर्त्तों का ही संक्षिप्त स्पष्टीकरण अपेक्षित है, जिन के समन्वय से केवल यजुर्वेद भी ऋक्–सामवत् त्रयीवेदरूप में परिणत हो रहा है ।

४४–सूच्यग्र–सूचीमुख–ऋजुभावापन्न यजु—

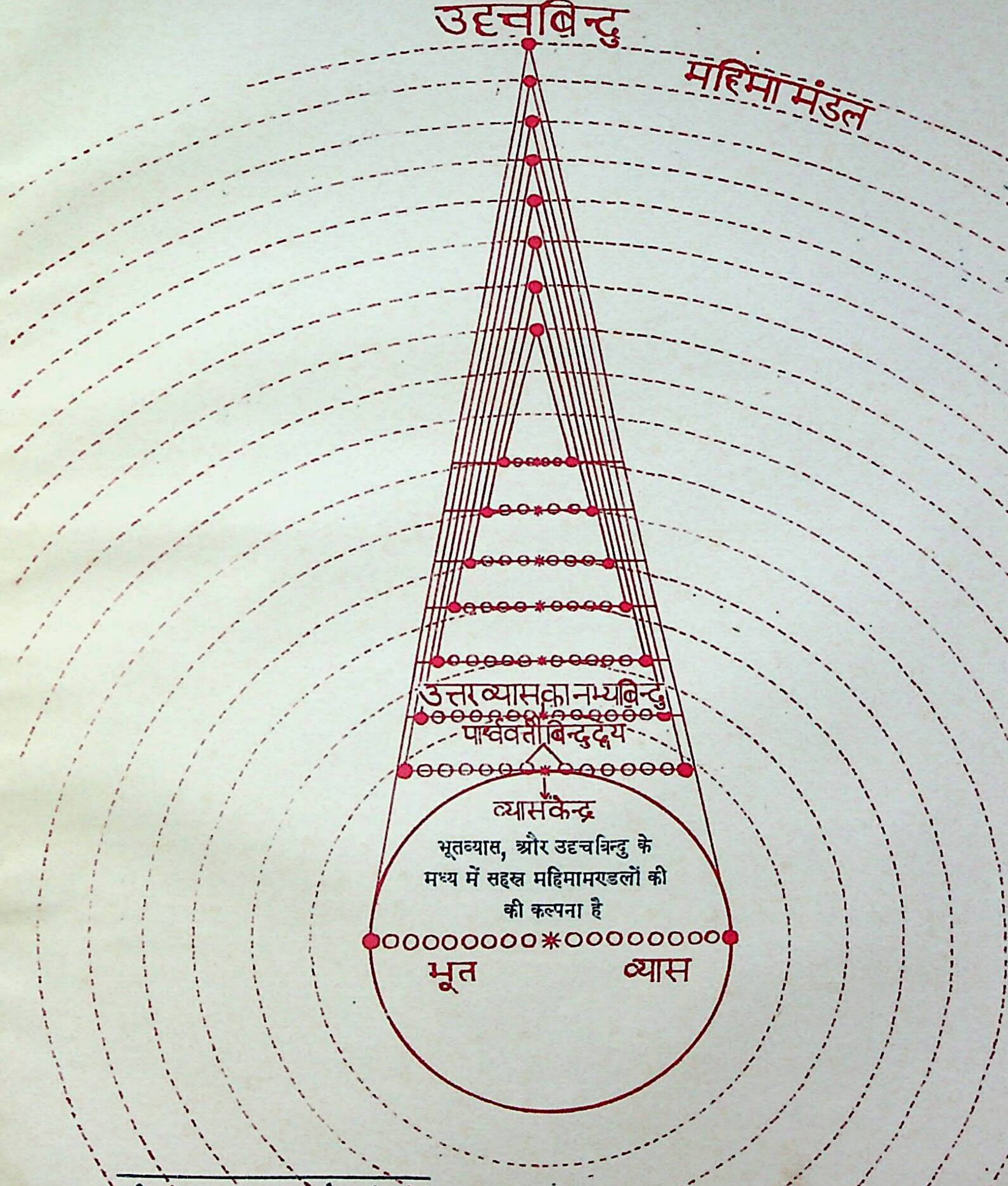
वस्तुकेन्द्र में बीजरूप से प्रतिष्ठित यह तेजोरस ऊर्ध्वगमन करता है, यह कहा जा चुका है । ऊर्ध्वगमन करते हुए इस यजु रस की 'सूच्यग्र, सूचीमुख, ऋजुमुख', रूपसे तीन अवस्था हो जाती है । सूच्यग्र वही यजु ऋक है, सूचीमुख वही यजु साम है, एवं ऋजुमुख वही यजु यजु है । इसप्रकार रसात्मक केवल यजुर्वेद में ही तीनों वेदों का उपभोग हो रहा है । वितानवेदनिरुक्ति में हृदय-व्यास–परिधि का ऊर्ध्ववितान बतलाया गया है । यह वितान वस्तुतः रसात्मक यजुर्वेद का वितान माना जायगा ! वितानाख्य सामवेद का तो उन सहस्र साममण्डलों से सम्बन्ध है, जिनकी प्रतिष्ठा ३६० अहोरात्रसूत्र बने हुए हैं । बहिर्मण्डलावच्छिन्न सहस्र विष्कम्भ उत्तरोत्तर छोटे होते जाते हैं । इस का कारण पूर्वनिरुक्ति में यह बतलाया गया है कि, पूर्वव्यास के पार्श्ववर्त्ती अणुद्वय एक सिद्धाणुरूप में परिणत होकर उत्तर–व्यास की नभ्यबिन्दु बनते हैं । उत्तरोत्तर दो दो बिन्दु कम हो जाती हैं, अतएव पूर्व पूर्व व्यास की अपेक्षा उत्तर–उत्तर का व्यास छोटा हो जाता है । बिन्दु–द्वय के अभाव में व्यासवितान का अवसान हो जाता है । केवल नभ्यबिन्दुमात्र शेष रह जाती है । यही व्यास–परम्परासूत्र–की निधनबिन्दु है, यही याज्ञिकों का यज्ञमण्डलावसानलक्षण 'निधन' नामक उदृच साम है, जिस की–"यज्ञस्योदृचं गच्छानि' इत्यादिरूप से याज्ञिक लोग आशंसा किया करते हैं । परिलेख में पाठक देखेंगे कि, त्रिभुजक्रम से आगे का व्यास छोटा होता जा रहा है, एवं पूर्वव्यास के पार्श्ववर्त्ती अणुद्वय ही उत्तर व्यास का नभ्य आत्मा (केन्द्रबिन्दु) बन रहा है ।

कूटस्थ व्यासकेन्द्र, एवं भूतव्यासकेन्द्रों के पार्श्ववर्त्ती बिन्दु (अणु) द्वय से निष्पन्न सिद्धाणु जैसे उत्तर भूतव्यास की नभ्यबिन्दु बनता है, वैसे ही व्यास पार्श्ववर्त्ती अन्तिम अणुद्वय से सम्पन्न एक एक सिद्धाणु उस उस व्यास का महिमामण्डल बना करता है, जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है । वहाँ कूटस्थ व्यास-

* "तस्य वा एतस्य यजुषः–'रस' एवोपनिषत् । तस्माद्यावन्मात्रेण यजुषा–अध्वर्युर्ग्रहं गृह्णाति, स उभे स्तुतशस्त्रे अनुविभवति, उभे स्तुतशस्त्रेऽअनुव्यश्नुते । तस्माद्यावन्मात्र–इवान्नस्य रसः, सर्वमन्नं भवति, सर्वन्नमनुव्येति"।

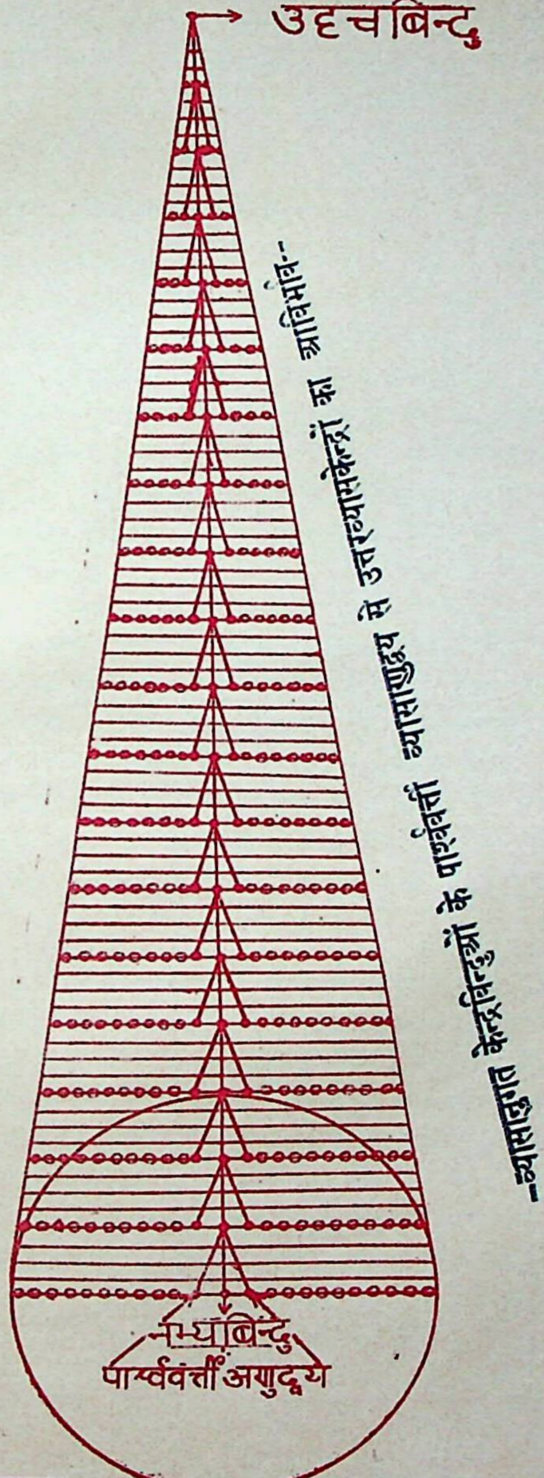
(शत० १०।३।५।१२।) ।

(२४)—प्रकान्तरेण—सहस्रसामवितानपरिलेखः—



श्री बालचन्द्रयन्त्रालय, दुर्गापुरा (जयपुर)

(२५)-विष्कम्भ-मूर्त्ति-वितान-समष्टिपरिलेख :—



विन्दुओं की अन्तिम विन्दु से सम्बन्ध रखने वाले अन्तिम साममण्डल का स्वरूप उद्धृत हुआ है। ठीक वही क्रम आगे के भूतव्यासों में समझना चाहिए। तात्पर्य्य कहने का यही है कि, सिद्धाणु का वितान दो प्रकार से होता है। व्यासाणुओं के अन्तिम दो व्यासाणुओं से जहाँ उसी व्यास से सम्बद्ध महिमामण्डल का आविर्भाव होता है, वहाँ व्यासकेन्द्रविन्दु के पार्श्ववर्त्ती व्यासाणुओं से उत्तरव्यास-केन्द्रों का आविर्भाव होता है, जैसाकि निम्न लिखित दोनों परिलेखों से स्पष्ट है।

४५-वास-व्युत्क्रम-स्वरूप-भेदभिन्न अग्नि—

वेदपदार्थ की जटिलता के समाधान का ज्यों ज्यों प्रयत्न किया जाता है, त्यों त्यों विषय दुरूह बनता जाता है। यजुर्वेद का जो स्वरूप हम यहाँ बतलाने चले हैं, एवं पूर्व में-ऋक्, सामवेदों का जो स्वरूप बतलाया गया है, वह तत्त्वतः विस्पष्ट रहता हुआ भी कुछ एक समानताओं से विश्लिष्ट सा बन रहा है। इस सङ्करता-निवृत्ति के लिए दो शब्दों में इन तीनों वेदों के तीनों विवर्त्तों का स्पष्टीकरण कर लेना आवश्यक है। वेदत्रयी के सम्बन्ध में सब से मुख्य लक्ष्य है-'अग्नि'। अग्निवेद का ही नाम त्रयीवेद है। छन्द, वितान, रस, तीनों एक ही अग्नि के महिमाभाव हैं। दूसरे शब्दों में वेदपदार्थ का-**'मनोमयः-प्राणगर्भिता वागेव वेदः'** यह लक्षण भी किया जा सकता है। **'अग्नेर्वागेवोपनिपत्'** के अनुसार यह मनःप्राणगर्भिता वाक् अग्नि का ही मौलिक रूप है। अतएव वेद के सम्बन्ध में-**'वाग्विवृताश्च वेदाः'**-**'अग्निविवृताश्च वेदाः'** दोनों बातें घटित हैं। दोनों का तात्पर्य समान है।

इस वाग्रूप वेदाग्नि के प्रत्येक पदार्थ में **'वास, व्युत्क्रम, स्वरूप'** भेद से तीन प्रकार से दर्शन किए जा सकते हैं। अथवा इन तीनों का 'वास-स्वरूप' इन दो भेदों में हीं पर्य्यवसान माना जा सकता है। अग्नि के रहने का स्थान **'अग्निवास'** कहलाएगा, एवं स्वयं अग्नि **'अग्निस्वरूप'** माना जायगा। अपने वास (निवास-स्थान) मे रहने वाले इस अग्नि के **'चित्य-चित्येनिधेय'** भेदसे दो स्वरूप मानें गए हैं। भूतप्रधान वही अग्नि क्षरभावात्मक बनता हुआ मर्त्य है, विस्रंसनधर्म्मा है। एवं अग्नि के भूतात्मक इसी मर्त्य-क्षररूप को 'चित्याग्नि' कहा जाता है। प्राणप्रधान (शक्तिरूप-देवात्मक) वही अग्नि अक्षरभावात्मक बनता हुआ अमृत है, एकरस है। एवं अग्नि के प्राणात्मक इसी अमृत-अक्षररूप को 'चितेनिधेय' कहा जाता है।

वस्तुपिण्ड सांकेतिक भाषा में **'कृष्णाजिन'** है, वस्तुमहिमा **'पुष्करपर्ण'** नाम से प्रसिद्ध है। दोनों में अग्नि के दोनों रूप प्रतिष्ठित है। अन्तर केवल यही है कि, वस्तुपिण्डात्मक कृष्णाजिन में (मूर्त्तिपिण्ड में) निवास करने वाला अग्नि प्राणाग्नि को गर्भ में रखता हुआ भूतप्रधान है, एवं वस्तुमहिमामण्डलात्मक पुष्कर-पर्ण में निवास करने वाला अग्नि भूताग्नि को अपने गर्भ में रखता हुआ प्राणप्रधान है। इसप्रकार यद्यपि अग्नि अपने दोनों हीं वासस्थानों में अपने दोनों सम्मिलितरूपों से प्रतिष्ठित है। तथापि 'तद्वादन्याय' के अनुसार पिण्डाग्नि भूताग्नि मान लिया जाता है, महिमाग्नि प्राणाग्नि मान लिया जाता है। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि, वस्तुपिण्ड मर्त्य है, विनाशशील है। एवं वस्तुमहिमा अमृत है, अविनाशी है। तत्त्व-वाद की इसी मौलिकता के आधार पर यह लौकिक किंवदन्ती प्रतिष्ठित है कि,-**'शरीर नष्ट हो गया, किन्तु यश (महिमा) आजतक बना हुआ है'**। सामान्य भाषा में अग्नि के उक्त दोनों रूपों का **'शक्ति-**

शक्तिमान्' द्वारा अभिनय कर सकते हैं। यद्यपि दोनों ही शब्द तत्त्वस्पष्टीकरण में असमर्थ हैं। तथापि उपलालन दृष्टि से यहां इन शब्दों का प्रयोग सम्भव बन रहा है। यह सभी को विदित है कि, प्रत्येक भौतिक पदार्थ में एक शक्तिविशेष प्रतिष्ठित रहती है। पदार्थ पाञ्चभौतिक बनता हुआ भूतप्रधान है। यही वैज्ञानिकों का 'मेटर' है। इन पदार्थों में रहने वाली वह शक्ति, जिसके रहने पर वस्तुगत क्षरपरमाणु परस्पर समन्वित रहते हैं, संघटित रहते हैं, 'प्राण' नाम से प्रसिद्ध है। इसी प्राणने क्षरपरमाणुओं का एकसूत्र में विधरण कर रक्खा है। अतएव वैदिकविज्ञान में प्राणतत्त्व 'विधर्त्ता' नाम से व्यवहृत हुआ है। लौकिक मनुष्य इसी को शक्ति (दम) कहते हैं। यही प्रतीच्य वैज्ञानिकों का 'फोर्स' है। प्राणलक्षणा शक्ति क्योंकि क्षरकूटरूप भूतपिण्ड के आधार पर प्रतिष्ठित रहती हुई भूतपिण्ड को संघठनात्मक स्वरूप से सुरक्षित रखती है, अतएव इसे दार्शनिक भाषा में 'कूटस्थ' कहा गया है। रूप–रस–गन्ध–स्पर्श–शब्द, इन पाँचों तन्मात्राओं का सम्बन्ध क्षरपरमाणुसंघरूप भूतपिण्ड के साथ है। 'अवैकारिक रूढ क्षरपञ्चक' का ही नाम पञ्चतन्मात्रा है, यही 'गुणभूत' हैं। यही विज्ञानभाषा का 'विश्वसृट्' है। 'वैकारिक विशुद्ध रूढ क्षर' ही 'अणुभूत' हैं, यही 'पञ्चजन' है। 'वैकारिक पञ्चीकृत रूढ क्षर' ही 'रेणुभूत' है, यही 'पुरञ्जन' है। 'वैकारिक सर्वरूप पञ्चधा–पञ्चीकृत रूढ क्षर' ही 'महाभूत' है, यही 'पुर' है। इसप्रकार गुणात्मिका तन्मात्राएँ हीं भूतपिण्ड स्वरूपोदय की उपादान बन रही हैं, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

१–अवैकारिकरूढक्षराः———गुणभूतानि— विश्वसृजः

२–वैकारिकविशुद्धरूढक्षराः———अणुभूतानि—* पञ्चजनाः

३–वैकारिकपञ्चीकृतरूपा रूढक्षराः-रेणुभूतानि—* पुरञ्जनाः

४–वैकारिकसर्वरूपा रूढक्षराः——महाभूतानि—* पुराणि (पदार्थाः)

गुणाणुरेणुभूतों से सम्पन्न पांच महाभूतों में आकाश, और तेज (प्रकाश), जब कि ये दोनों भूत भूत रहते हुए भी धामच्छद (स्थानावरोधक) नहीं हैं, तो भूतातीत शक्तिलक्षण अक्षरमूर्त्ति प्राण धामच्छद कैसे हो सकता है। इसी आधार पर इस प्राण का–'रूपरसगन्धस्पर्शशब्दशून्यत्त्वे सत्यधामच्छदत्त्वम्' यह लक्षण किया जाता है। प्राण प्रदेश नहीं रोकता, अतएव प्राणात्मक पार्थिव सौरसाममण्डलों का परस्पर अतिमान हो जाता है, जैसाकि पूर्व के अतिमान–परिलेखों से स्पष्ट है। भूतपिण्ड ही धामच्छद माना गया है। जब तक भूतपिण्ड प्राणशक्ति से युक्त रहता है, तब तक भूतपरमाणु संघठित रहते हैं। प्राणोत्क्रान्ति पर परमाणु विशकलित हो जाते हैं, संघठन टूट जाता है, वस्तुपिण्डस्वरूप पलायित हो जाता है। और उसी दशा के लिए सर्वसाधारण में–'**अरे अब इस में दम (प्राण) नहीं रहा**' यह कहावत प्रचलित है।

प्राण–भूत के उक्त स्वरूप निदर्शन से प्रकृत में यही कहना है कि, भूत उसी अग्नि का मर्त्य–चित्य–रूप है, प्राण उसी अग्नि का अमृत–चितेनिधेयरूप है, दोनों रूपों की समष्टि 'अग्नि' नामक प्रजापति है, जो केन्द्र में अनिरुक्तरूप से, महिमा में सर्वरूप से प्रतिष्ठित रहता हुआ–'अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्य-

* इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन ईशभाष्य प्रथमखण्ड में देखना चाहिए।

मासीदर्द्धममृतम्' इस लक्षण को चरितार्थ कर रहा है। इसप्रकार स्वयं अग्नि अग्नित्वेन भूत (मूर्त्ताग्नि), प्राण (अमूर्त्ताग्नि) भेद से दो भागों में विभक्त हो रहा है। भागद्वयात्मक यही अग्नि पूर्व कथित **'रस'** है।

यह रसाग्नि जिस 'वास' का अनुगामी बना रहता है, वह 'वास' ही इस अग्नितत्त्व (वस्तुतत्त्व) का छन्द माना गया है। इसी छन्दोरूप आयतन में यह उभयविध रसाग्नि प्रतिष्ठित रहता है। पाठकों को स्मरण होगा कि, प्राजापत्यवेदप्रकरण में **'छन्दांसि और त्रयीवेद'** नामक परिच्छेद में **'तस्माद्यज्ञात्०'** इत्यादि यजुर्म्मन्त्र की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि, आपोमय अथर्ववेद की ओर सङ्केत करता हुआ यह 'छन्दांसि'-पद वयोनाध का ही सूचक है अब यहाँ दूसरे दृष्टिकोण से छन्दांसि का विचार किया जाता है। **'ऋचः सामानि जज्ञिरे, छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात्'** इत्यादि वाक्य में पठित 'सामानि', 'छन्दांसि' दोनों पद वस्तुतः साम के ही सूचक हैं। छन्द ही वयोनाध है, वयोनाध ही परिणाह है, परिणाह ही साम है।

अग्निवास ही छन्द है। क्योंकि पूर्वकथनानुसार अग्नि के 'चित्य'-'चितेनिधेय' दो रूप है। अतएव वासलक्षण-छन्द भी दो भागों में विभक्त हो जाता है। चित्याग्नि का छन्द (आयतन) 'छन्दांसि' है, एवं चितेनिधेयाग्नि का छन्द 'सामानि' है। चित्यछन्द 'छन्दःसाम' कहलाया है, चितेनिधेयछन्द 'वितानंसाम' कहलाया है। **'ऋचां परिणाहः-अर्चिः'** के अनुसार ऋङ्मूर्त्तियों का परिणाह ही अर्चि है, अर्चि ही साम है। परिणाहरूप इस अर्चिःसाम के ही **'छन्दार्चिक'** एवं **'उत्तरार्चिक'** भेद से दो विभाग माने गए हैं। छन्दार्चिक चित्याग्नि का छन्द है, उत्तरार्चिक चितेनिधेयाग्नि का छन्द है। पिण्डपरिणाह छन्दार्चिक है, मण्डलपरिणाह उत्तरार्चिक है। छन्दार्चिक 'छन्दांसि' है, उत्तरार्चिक 'सामानि' है। विष्कम्भ भी (छन्दोवेद प्रकरण में) छन्द माना गया है। इसके त्रिगुणन से पिण्डपरिणाह को छन्दः न कह कर 'छन्दांसि' कहा गया है। उधर मण्डलपरिणाह भी एक सहस्र हैं। अतएव उनके लिए भी 'साम' के स्थान में 'सामानि' कहना ही अन्वर्थ बनता है।

निष्कर्ष यही है कि, मौलिक अग्नितत्त्व 'वय' है, इसका 'वास' ही वयोनाध है। अग्निद्वैविध्य से वास भी दो हो जाते हैं। मण्डलात्मक वासस्थान में अग्नि का ही व्युत्क्रम हुआ है। अतएव इसे हम वितान भी कह सकते हैं। उधर पिण्डात्मक वासस्थान में अग्नि ही चित्यरूप से प्रतिष्ठित है, अतएव इसे हम 'छन्द' कह सकते हैं। यह छन्द वही 'छन्दांसि' है, यह वितान वही 'सामानि' है। अग्नि के ही **'अग्निस्वरूप'** **'अग्निवास'**, **'अग्निव्युत्क्रम**, भेद से तीन विवर्त्त हो जाते हैं। ये ही तीनों विवर्त्त क्रमशः 'यजुः, ऋक्, साम' हैं। अग्निस्वरूपलक्षण यजु रस है, अग्निवासलक्षण ऋक् छन्द (छन्दांसि) है, एवं अग्निव्युत्क्रमलक्षण (प्राणाग्निवासलक्षण) साम वितान (सामानि) है, तीनों विवर्त्त एक ही प्रजापति के विवर्त्त हैं। इसप्रकार तीनों वेदों का अग्निविवर्त्तत्व भलीभाँति सिद्ध हो जाता है।

४६-व्युत्क्रमण-विक्रमण, एवं उत्क्रमण—

व्युत्क्रमण, विक्रमण, उत्क्रमण, तीनों व्यापारों का क्रमशः अग्नि, विष्णु, इन्द्र, इन देवताओं के साथ सम्बन्ध है। केन्द्र को आधार बना कर (पकड़े हुए) आगे बढ़ना विक्रमण है, केन्द्र को छोड़ कर आगे बढ़ना उत्क्रमण है, एवं जिस व्यापार में दोनों का समन्वय रहे, वही व्युत्क्रम है। यह सिद्धान्तपक्ष है कि, इन्द्राविष्णू की प्रतिस्पर्द्धा से ही अग्निमयी वेदसाहस्री का प्रादुर्भाव हुआ है। अतएव अग्नि में इन्द्राविष्णु

के उत्क्रमण, विक्रमणधर्म्मों का समावेश आवश्यक बन जाता है। उभयधर्म्मावच्छिन्न अग्नि के व्युत्क्रम से ही महिमामण्डल पूर्ण बनता है। छन्दो-वितान-रसलक्षणा वेदत्रयी की ये ही कुछ एक सामान्य परिभाषाएँ हैं, जिन्हें लक्ष्य में रखने से वेदतत्त्वसम्बन्धिनी जटिलता का एकान्ततः निरसन सम्भव है। पाठकों से सानुरोध निवेदन किया जायगा कि, वे अग्नि की इस पारिभाषिक व्याप्ति को लक्ष्य में रख कर ही त्रयीवेद की त्रयीमहिमा से सम्बन्ध रखने वाले त्रिवृद्भाव का समन्वय करें। फिर विरोध, किंवा दुरूहता का अणुमात्र भी अवसर नहीं है।

४५-अग्निपरिभाषा—

१—"वाक्-अग्निः, अग्निर्वाक्। तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषदित्याहुः। सैषा वाक् प्राणगर्भिता। प्राणश्च मनोमयः। अतश्च मनोमयप्राणगर्भिता वाक्, एव वाक्। सोऽग्निः। स एव वेदः। मनोमयप्राणगर्भिता वाक्-वेदः। वाग्विवृताश्चवेदाः, इत्याहुः। 'अग्निविवृताश्च वेदाः' इति निष्कर्षः।

२-१-इन्द्रः—उत्क्रमते—केन्द्रविच्युतिः
२-विष्णुः-विक्रमते—केन्द्रपरिग्रहः
३-अग्निः-व्युतक्रमते—उभयोः परिग्रहः
} उत्क्रमण-विक्रमण-संयोगादेवाग्नि-व्युतक्रमते।

३- —चित्याग्निः (भूताग्निः)......रसः
— चितेनिधेयाग्निः (प्राणाग्निः)...रसः
} रसवेदः......यजुः

—चित्याग्नेश्छन्दः..............छन्दः } —छन्दोवेदः... ऋक्
—चितेनिधेयाग्नेश्छन्दः...... वितानम् } वितानवेदः... साम

} अग्निवेदत्रय

४-१-छन्दः—ऋक्
२-वितानम्-साम
३-रसः—यजुः
} अग्निः (अग्निवेदस्त्रयीवेदः)।

❀-योनिः—अथर्वः } —सोमः (सोमवेदश्चतुर्थवेदः)।

} —"सर्वे वेदाः"

५—१-अग्नेर्वासश्छन्दः———ऋक २-अग्नेर्व्युत्क्रमो वितानम्-साम	⎬ वयोनाधौ	⎬ "सर्वमिदं वयुनम्"।
३-अग्नेः स्वरूपम्———यजुः	⎬—वयः	

६—१-छन्दोवेदे परिणाहात्मकं यत् साम (पिण्डसाम-छन्दांसि)-तत्-"छन्दार्चिकं साम"।

२-वितानवेदे परिणाहात्मकं यत् साम (मण्डलसाम-सामानि)-तत्-"उत्तरार्चिकं साम"।

※-"ऋचां परिणाहोऽर्चिः। अर्चिर्दीप्यते, तानि सामानि, स साम्नां लोकः"।

१-छन्दार्चिकसामप्रकरणे —१—ऋक् (पिण्डव्याप्तिः)।

२-उत्तरार्चिकसामप्रकरणे —३—ऋचः (मण्डलव्याप्तिः)।

※

७—१-मूर्त्तिः (पदम्)........पिण्डः-छन्दोवेदः-छन्दोलक्षणः (अत्रापि वेदत्रयोपभोगः)।

२-मण्डलम् (पुनःपदम्)...तेजः—सामवेदः—वितानलक्षणः (अत्रापि वेदत्रयोपभोगः)।

३-पद्भ्यांप्रतिष्ठितः...... गतिः—यजुर्वेदः——रसलक्षणः (अत्रापि वेदत्रयोपभोगः)।

※

८—१-मूर्त्तिः——ऋग्वेदः २-गतिः——यजुर्वेदः ३-तेजः——सामवेदः	⎬ त्रयीविद्या-देवविद्या	⎬ "सैषा अपराविद्याचतुष्टयी"
४-प्रतिष्ठा——अथर्ववेदः	⎬ अथर्वविद्या-भूतविद्या	

※—"अथर्ववेदः सौम्यः, आप्यः। आपो वै सर्वाणि भूतानि (शत० १०।५।४।१३।)। त्रय्यां वाव विद्यायाम् ऋग्-यजुः-साममय्यां प्रजापतिः सर्वाणि-अथर्वमयानि भूतान्यपश्यत्"।

४८—त्रयीभावों का समन्वय—

उक्त परिभाषाओं को लक्ष्य में रखते हुए पूर्व की छन्दोलक्षण वेदत्रयी, एवं वितानलक्षण वेदत्रयी का विचार कीजिए। दोनों का यथावत् समन्वय हो जायगा। हृदय, विष्कम्भ, परिणाह, ये तीनों भाव अग्निर्वास-लक्षण छन्दोमय ऋग्वेद के विवर्त्त हैं। ये ही क्रमशः ऋग्वेदीय 'यजुः-ऋक्-साम' हैं। महिमामण्डल के नाभ्य ३६० सूत्रों मे सम्पन्न सहस्र साममण्डलों की समष्टि ही वितानलक्षण मण्डलात्मक सामवेद है पूर्व मण्डलात्मक साम ऋक् है, उत्तरमण्डलात्मक साम साम है, मध्यस्थ 'उक्थामद' नामक मूर्तियों के परिणाह यजु हैं। महिमावितानलक्षण इसी सामवेदत्रयी का निम्नलिखित मन्त्र से स्पष्टीकरण हुआ है—

"यजूदरः सामशिरा असावृङ्मूर्त्तिरव्ययः।
स ब्रह्मेति हि विज्ञेयः, ऋषिर्ब्रह्ममयो महान्" (कौ० उप० १।७)।

वस्तिगुहा, उदरगुहा, शिरोगुहा, भेद से त्रिधा विभक्त आध्यात्मिक संस्था के साथ तुलना करते हुए श्रुति ने वस्तिगुहा-स्थानीय पूर्वमण्डलात्मिका ऋक् को 'मूर्त्ति' कहा है। उदरगुहा-स्थानीय मध्यस्थ मूर्त्ति-मण्डलात्मक यजु को 'उदर' कहा है, एवं शिरोगुहास्थानीय उत्तरमण्डलात्मक साम को 'शिरः' कहा है। इस प्रकार मण्डलत्रयी के भेद से *अहर्गणात्मक सामवेद में भी छन्दोवेदमय ऋग्वेदवत् तीनों वेदों का उपभोग हो रहा है। मण्डलात्मक इस सामत्रयी के सम्बन्ध में दो चार प्रासङ्गिक परिभाषाओं पर और दृष्टि डाल लेनी चाहिए।

४९—सामव्यूहनरहस्य—

'नासामा यज्ञोऽस्ति' के अनुसार बिना साम के त्रयीविद्या से सम्बन्ध रखने वाले यज्ञ का २१ पर्य्यन्त वितान असम्भव है। सामवितान के आधार पर ही श्रुति की "यज्ञं कृत्वा सत्यं (वेदं) तनवामहै" प्रतिज्ञा कार्यरूप में परिणत हो रही है। इसीलिए वैध-यज्ञ में भी यज्ञारम्भ में हिङ्काररूप से, यज्ञमध्य में उद्-गीथरूप से, एवं यज्ञसमाप्ति पर निधन (उदृच) रूप से उद्गाता लोग सामगान किया करते हैं। अतएव साम को हम यज्ञस्वरूपसम्पादक कह सकते हैं। सामवितान का पूर्व में सहस्रमण्डलरूप से दिग्दर्शन कराया गया है। अब विशुद्ध याज्ञिक दृष्टि से भी वितानलक्षण सामव्यूहन का प्रकार देख लीजिए।

- मनःप्राणगर्भिता वाक्-गौः-सैषा गौसाहस्री।
* गौसमष्टिः-अहर्गणाः।
* अहर्गणसमष्टिः— स्तोत्राणि।
* स्तोत्रसमष्टिः— स्तोत्रियाः।
* स्तोत्रियासमष्टिः— सामवेदो वितानाख्यः

} सामवितानपरम्पराक्रमः

मूर्त्तिमात्र के साथ 'स्पृश्य, दृश्य, पारावत' इन तीन पृष्ठों का सम्बन्ध है । चौथा नभ्य (केन्द्र) पृष्ठ इन तीनों पृष्ठों का मूलाधार है । नभ्यपृष्ठ के आधार पर प्रतिष्ठित स्पृश्यपृष्ठ ही 'पदं' लक्षण 'अन्तःपृष्ठ' है । अन्तःपृष्ठ (वस्तुपिण्ड) के आधार प· वितत होने वाला ४८ अहर्गणात्मक महिमामण्डल ही 'पुनःपदं' लक्षण 'बहिःपृष्ठ' है । सामनिरुक्ति में चाक्षुषसामातिमान का स्वरूप बतलाते हुए यह कहा गया था कि, वस्तुपिण्ड को हम छू सकते हैं, देख नहीं सकते । एवं महिमामण्डल को देख सकते हैं, छू नहीं सकते । अब इस सम्बन्ध में थोड़ा संशोधन करना पड़ेगा । पूरा महिमामण्डल कभी दृश्य नहीं बन सकता । इस महिमामण्डल में जहाँ तक रसाग्नि का व्युतक्रम है, वहीं तक वस्तुस्वरूप का प्रत्यक्ष सम्भव है । 'यच्च-किञ्चिद्दार्ष्टिविषयकम् अग्निकर्म्मैव तत्'' (यास्कनिरुक्त) के अनुसार अग्नि ही दृष्टिकर्म्म का अतिष्ठाता (अधिष्ठाता) माना गया है । एवं ४८ वें अहर्गण पर्य्यन्त व्याप्त रहने वाले महिमामण्डल के २१ वें अहर्गण पर्य्यन्त ही अग्नि (अग्नि–वायु–आदित्यात्मिका अग्नित्रयी) की व्याप्ति मानी गई है । जहाँ तक अग्नि की व्याप्ति है, वहीं तक हम वस्तु देख सकते हैं । २१ से बाहिर की महिमामयीं मूर्त्तियाँ स्पृश्यपिण्डवत् प्रत्यक्षमर्य्यादा से सर्वथा अतीत हैं । इसप्रकार अष्टाचत्वारिंशदहर्गणात्मक बाह्यपृष्ठ के दो विभाग हो जाते हैं । २१ पर्य्यन्त का महिमामण्डल दृश्यपृष्ठ है, ४८ तक का महिमामण्डल पारावतपृष्ठ है । पारावतपृष्ठ निधन-साम है, यहाँ सीमा समाप्त है । दृश्यपृष्ठ उद्गीथसाम है, एवं स्पृश्यपिण्ड प्रस्ताव है । इसप्रकार पृष्ठत्रय के भेद से प्रत्येक पदार्थ में त्रिपृष्ठ साम का समन्वय किया जा सकता है ।

❀—नभ्यपृष्ठम् (हृदयम्)———मूलप्रतिष्ठा

१—स्पृश्यपृष्ठम् (वस्तुपिण्डः)—प्रस्तावः—उत्
२—दृश्यपृष्ठम् (२१ मण्डलम्)—उद्गीथः—गीः
३—पारावतपृष्ठम् (४८ मण्डलम्)—निधनम्—थम्

} —त्रिपृष्ठं साम

दूसरी दृष्टि से मूर्त्तिस्वरूप की मीमाँसा कीजिए । प्रत्येक मूर्त्ति में पाँच पृष्ठों का समन्वय किया जा सकता है । ''प्रजापति,[१] चित्याग्निपिण्ड,[२] चितेनिधेयाग्निमण्डल,[३] सौम्यमण्डल,[४] प्राणमण्डल''[५] भेद से मूर्त्तिविवर्त्त पञ्चधा विभक्त है । नभ्य आत्मा प्रजापति है, यही नभ्यपृष्ठ है । मर्त्याग्निपिण्ड चित्याग्नि-पिण्ड है, यही स्पृश्यपृष्ठ है । अमृताग्निमण्डल चितेनिधेयाग्निमण्डल है, यही दृश्यपृष्ठ है । आपोमण्डल सौम्य मण्डल है, यही 'अपांपृष्ठ' नामक पारावतपृष्ठ है । वाङ्मय मण्डल प्राणमण्डल है, यही 'ब्रह्मपृष्ठ' है । ये पाँचों पृष्ठ क्रमशः हिङ्कार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतीहार, निधन, इन नामों से व्यवहृत हुए हैं ।

नभ्यपृष्ठ सर्वपृष्ठात्मक बनता हुआ अपृष्ठात्मक एकाकीपृष्ठ है । स्पृश्यपृष्ठ–हृत्पृष्ठ, विष्कम्भपृष्ठ, परिणाहपृष्ठ, भेद से त्रिपृष्ठ है । दृश्यपृष्ठ–त्रिवृदग्निपृष्ठ पञ्चदशवायुपृष्ठ, एकविंश आदित्यपृष्ठ भेद से त्रिपृष्ठ है ।

पारावतपृष्ठ–एकादश आप्यपृष्ठ, द्वाविंश वायुपृष्ठ, त्रयस्त्रिंश सौम्यपृष्ठ भेद से त्रिपृष्ठ है । एवं ब्रह्मपृष्ठ–चतुर्विंश-गायत्रपृष्ठ, चतुश्चत्त्वारिंश त्रैष्टुभपृष्ठ, अष्टाचत्त्वारिंश जागतपृष्ठ भेद से त्रिपृष्ठ है । इसप्रकार हृल्लक्षण, त्र्यक्षरमूर्त्ति, नभ्यपृष्ठात्मक, सर्वपृष्ठात्मक, अपृष्ठात्मक सत्यप्रजापति के त्रिःसत्यभाव के आधार पर वितत चार पृष्ठों में तीन–तीन अवान्तर पृष्ठ व्याप्त हो रहे हैं । चार महापृष्ठों के बारह अवान्तरपृष्ठ हो जाते हैं । यही द्वादशाक्षरा जगती है, जिस द्वादशाक्षर जगतीमण्डल को उस नभ्यप्रजापति का जगत् कहा जाता है । जगती के आयतन में प्रतिष्ठित देव–लोक–वेद–छन्द–पशु–स्तोम–आदि सब कुछ उसी नभ्य ईशप्रजापति की सत्ता से आक्रान्त है जैसाकि—'**ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्**' इत्यादि से उपवर्णित है ।

उक्त पृष्ठों के सम्बन्ध में एक रहस्य पूर्ण घटना है–"अप्तत्त्व की सर्वव्याप्ति" । "**इन्द्रश्च विष्णू यदपस्पृधेथां, त्रेधा सहस्रं वितदैरयेथाम**" इत्यादि मन्त्रवर्णन के अनुसार अप् के आधार पर होने वाली इन्द्राविष्णू की प्रतिस्पर्द्धा से ही 'साहस्री' लक्षण महिमामण्डल का विकास हुआ है । कृष्णाजिन–पुष्कर-पर्णों का तात्त्विक स्वरूप बतलाते हुए पूर्व प्रकरणों में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, वस्तुपिण्ड कृष्णाजिन है, महिमामण्डल पुष्करपर्ण है, एवं '**आपो वै पुष्करपर्णम्**' के अनुसार अबमण्डल ही पुष्करपर्ण है । इसी से अन्तःपुरलक्षण पिण्ड का निर्म्माण हुआ है; एवं यही बहिष्पुरलक्षण महिमामण्डल का स्वरूप समर्पक बन रहा है । मूर्त्ति एवं मण्डल, दोनों का मूलाधारभूत यह अप्तत्त्व वह रहस्यपूर्ण तत्त्व है, जिसके गर्भ में देवत्रयी, वेदत्रयी, लोकचतुष्टयी, यज्ञ, छन्दः, स्तोमादि, सब कुछ प्रतिष्ठित हैं । पूर्वोक्त द्वादशाक्षरा जगती का मौलिक स्वरूप यही अप्तत्त्व है, जिसे वैज्ञानिक लोग भृग्वङ्गिरोमय 'अथर्ववेद' कहा करते हैं, एवं सर्वोपबृंहण का मूल होने से सर्वप्रतिष्ठा होने से जो अथर्वतत्त्व "**सर्वं हेदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्**" (तैत्तिरीयब्राह्मण) इत्यादि श्रुति के अनुसार 'ब्रह्म' नाम से प्रसिद्ध है । त्रयीवेद एक ओर है, ब्रह्मवेद एक ओर है । ब्रह्मवेदमूर्त्ति, अथर्वलक्षण, भृग्वङ्गिरोमय इस पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व के 'भृगु–अङ्गिरा–अत्रि' नाम के तीन मनोता हैं । इनमें भृगुमनोता 'आपः–वायुः–सोमः' भेद से तीन भागों में विभक्त है, अङ्गिरा मनोता '**अग्निः–वायुः–आदित्यः**' भेद से तीन भागों विभक्त हैं, एवं अत्रिमनोता एकरूप बनता हुआ–'न त्रिः'–निर्वचन से 'अत्रि' नाम से प्रसिद्ध है । 'वागेवात्रिः' के अनुसार वाक्तत्त्व ही अत्रि है । इस वाग्रूप अत्रिमनोता के गर्भ में भृगुत्रयी प्रतिष्ठित है, एवं भृगुत्रयी के गर्भ में अङ्गिरात्रयी प्रतिष्ठित है । तीनों मनोताओं की अमृत–मर्त्य भेद से दो अवस्थाएँ हैं । मर्त्यलक्षणा मनोतात्रयी से मूर्त्ति का निर्म्माण हुआ है, अमृतलक्षणा मनोता-त्रयी से मण्डल का विकास हुआ है । अपने इन्हीं तीन मनोताओं के आधार पर सर्वत्र व्याप्त रहने वाला सर्वरूप यह '**आपः**'—'**यदाप्नोत्–यदवृणोत्**' इत्यादि निर्वचनों के अनुसार 'आपः' नाम से प्रसिद्ध है ।

वस्तुकेन्द्र से आरम्भ कर अष्टाचत्वारिंशस्तोम पर्य्यन्त व्याप्त रहने वाले अत्रिलक्षण वाङ्मय मनोता को ही ब्रह्मपृष्ठ कहा जायगा । वस्तुकेन्द्र से आरम्भ कर त्रयस्त्रिंशस्तोम पर्य्यन्त व्याप्त रहने वाले भृगुमनोता को ही अपांपृष्ठ कहा जायगा । वस्तुकेन्द्र से आरम्भ कर एकविंशस्तोमपर्य्यन्त व्याप्त रहने वाले अङ्गिरामनोता को ही अग्निलक्षण दृश्यपृष्ठ कहा जायगा । एवं वस्तुकेन्द्र से आरम्भ कर मूर्त्तिपर्य्यन्त व्याप्त रहने वाले मर्त्य भृगु–अङ्गिरा–अत्रिमनोता ही स्पृश्यपृष्ठ कहलाएगा । अत्रिमनोता नामक वाङ्मय ब्रह्म-पृष्ठ के २४–४४–४८, भेद से तीन अवान्तर पृष्ठ होंगे । भृगुमनोता नामक अपांपृष्ठ के ३३–२२–११ भेद से तीन अवान्तर पृष्ठ होंगे । अङ्गिरामनोता नामक अग्निपृष्ठ (दृश्यपृष्ठ) के २१–१५–९ भेद से तीन

अवान्तर पृष्ठ होंगे । एवं मर्त्य भृग्वङ्गिरोऽत्रि–मनोता नामक स्पृश्यपृष्ठ के हृदय–विष्कम्भ–परिणाह भेद से तीन पृष्ठ होंगे । इसप्रकार हमारे विज्ञ पाठक अप्तत्त्व की व्याप्ति का विचार करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि, अप्तत्त्व ही अपने तीन मनोताओं के आधार पर सर्वरूप बन रहा है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट हो जाता है––

❀–नभ्यप्रजापतिः————नभ्यपृष्ठम्—हिङ्कारः
1–चित्याग्निपिण्डः————स्पृश्यपृष्ठम्–प्रस्तावः
2–चितेनिधेयाग्निमण्डलम्—दृश्यपृष्ठम्—उद्गीथः
3–सौम्यमण्डलम्————अपांपृष्ठम्—प्रतीहारः
4–प्राणमण्डलम्————ब्रह्मपृष्ठम्—निधनम्

—"पञ्चविधं सामोपासीत"

❀–नभ्य–आत्मा————सर्वपृष्ठात्मकोऽपृष्ठः
1–मर्त्यभृग्वङ्गिरोऽत्रिपिण्डः–त्रिपृष्ठात्मकः–स्पृश्यः
2–अमृत–अङ्गिरोमण्डलम्—त्रिपृष्ठात्मकं–दृश्यम्
3–अमृत–भृगुमण्डलम्——त्रिपृष्ठात्मकं-पारावतम्
4–अमृतात्रिमण्डलम्———त्रिपृष्ठात्मकं–ब्रह्म

—"सर्वं भृग्वङ्गिरोमयम्"

3–अत्रिः—वाक्
2–भृगुः—आपः
1–अङ्गिराः–अग्निः

—अमृतप्रधाना मनोतात्रयी–'आपः' (मण्डलम्)

1–अङ्गिराः–अग्निः
2–भृगुः—आपः
3–अत्रिः—वाक्

—मृत्युप्रधाना मनोतात्रयी–'आपः' (मूर्त्तिः)

'सर्वं भृग्वङ्गिरोमयम्'
'सर्वमापोमयं जगत्'

❀
(१२) ३–जागतपृष्ठम् (४८)–वाक्
(११) २–त्रैष्टुभपृष्ठम् (४४)–वाक् —अत्रिः (अमृतम्)——वाक्—ब्रह्मपृष्ठम्
(१०) १–गायत्रपृष्ठम् (२४)–वाक्

❀

(९) ३–सौम्यपृष्ठम् (३३)–सोमः
(८) २–वायव्यपृष्ठम् (२२)–वायुः —भृगुः (अमृतम्)——आपः–पारावतपृष्ठम्
(७) १–आप्यपृष्ठम् (११)–अग्निः

❀

(६) ३–आदित्यपृष्ठम् (२१)–आदित्यः
(५) २–वायव्यपृष्ठम् (५)—वायुः —अङ्गिराः (अमृतम्)–अग्निः–हरयपृष्ठम्
(४) १–आग्नेयपृष्ठम् (९)—अग्निः

❀

(३) ३–परिणाहपृष्ठम् ❀
(२) २–व्यासपृष्ठम् ❀ —भृग्वङ्गिरोऽत्रयः—(मर्त्यम्)—धृष्यपृष्ठम्
(१) १–हृत्पृष्ठम् ❀

❀

❀—नभ्य आत्मा–जगदीश्वरः

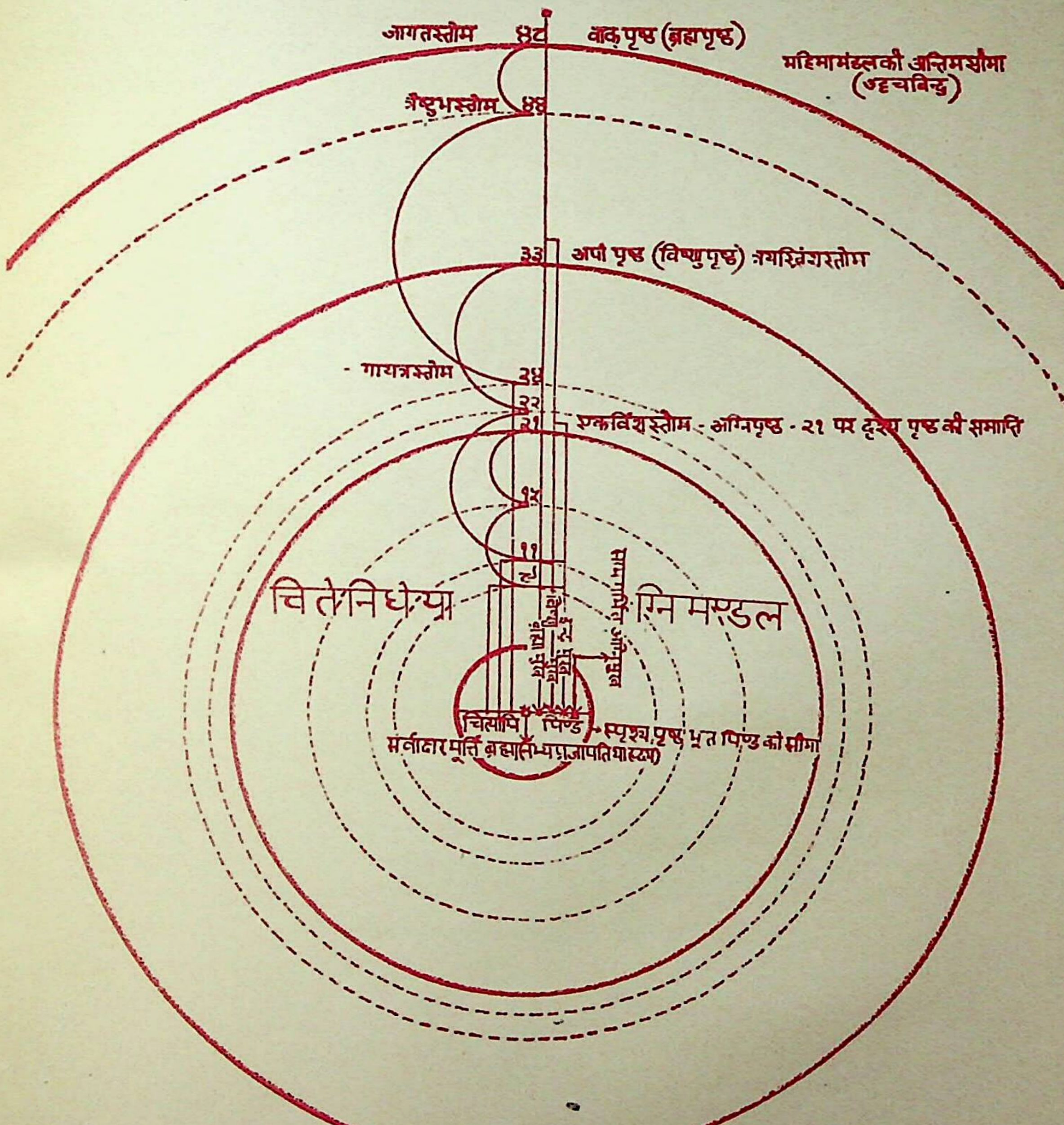
❀

जगदीश्वरः
द्वादशात्मा जगती—
तदिदं जगत्—
"इन्द्रस्य विष्णो अष्टपृष्ठ्या, त्रेधा सहस्रं वि तदैरयेथाम्"

सामात्मक पृष्ठों के उक्त पञ्चक का 'सप्तविधं सामोपासीत' के साथ भी समन्वय किया जा सकता है। मूर्तिपिण्ड के आधार पर प्रतिष्ठित महिमामण्डल के अपाँपृष्ठ में सौम्य–वायव्य–आप्य–भेद से तीन पृष्ठ बतलाए गए हैं। यदि अयुग्मस्तोमदृष्टि से त्रिपृष्ठात्मक इस अपाँपृष्ठ का अवलोकन किया जाता है, तो इसके त्रिवृत्–पञ्चदश–सप्तदश–एकविंश–त्रिणव–त्रयस्त्रिंश (१/९–२/१५–३/१७–४/२१–५/२७–६/३३) भेद से ६ पृष्ठ हो जाते हैं। स्वयं मूर्त्तपिण्ड 'हिंकार' पृष्ठ है, त्रिवृत्पृष्ठ 'प्रस्ताव' है, पञ्चदशपृष्ठ 'आदि' है, सप्तदशपृष्ठ

(३५४, तथा ३५५ के मध्य में)

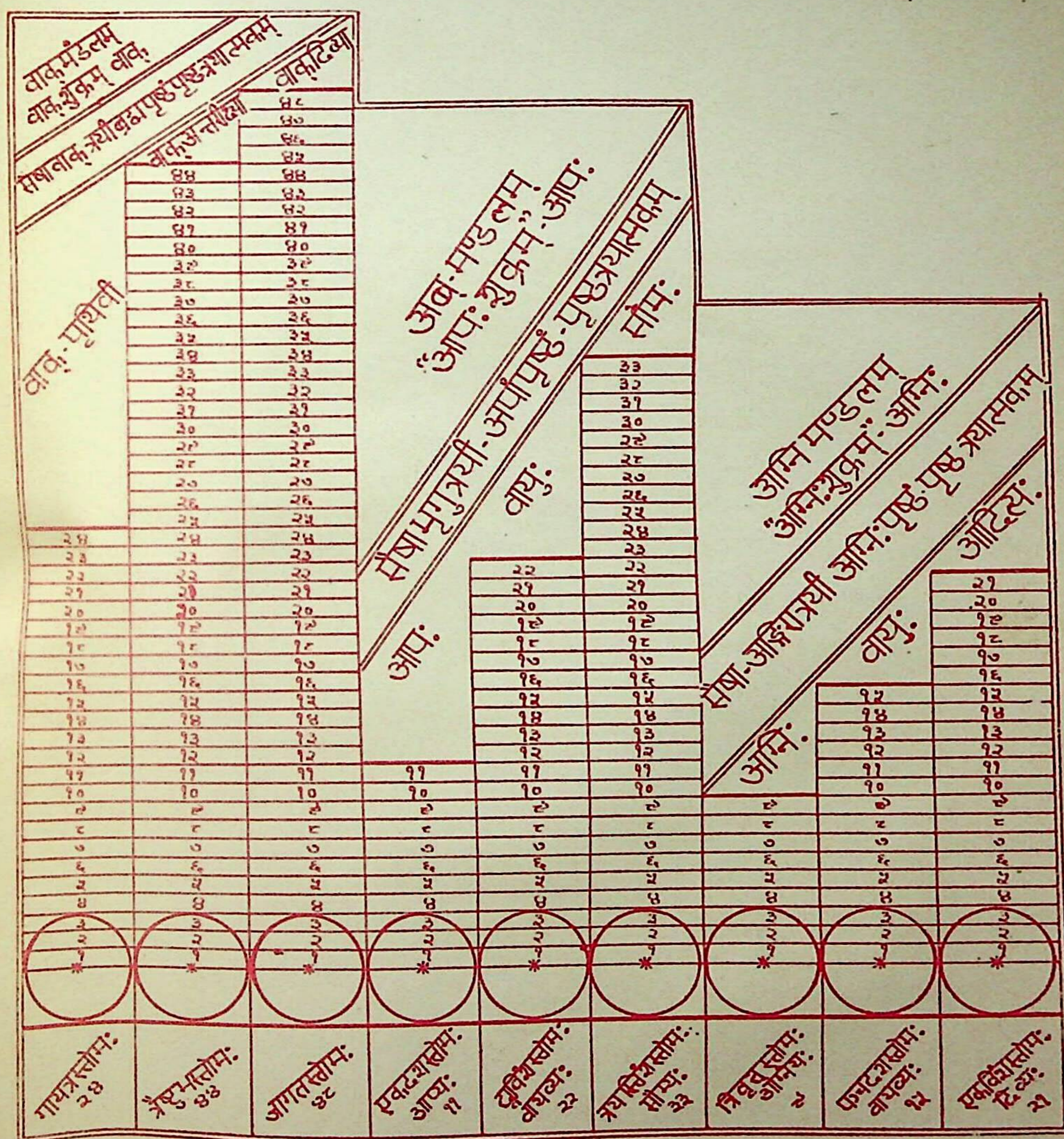
(२६)—पारावतपृष्ठानुगत—पार्थिव—जागतमण्डलपरिलेखः—



श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, दुर्गापुरा (जयपुर)

(३५४, तथा ३५५ के मध्य में)

(२७)-त्रैलोक्य—त्रिलोकीरूपस्तौम्यत्रैलोक्यानुगत—महापृथिवीपरिलेखः—



श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, दुर्गापुरा (जयपुर)

(३५४, तथा ३५५ के मध्य में)

(२८)--पञ्चविधसामानुगत—पार्थिवमण्डलपरिलेखः—



श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय

'उद्गीथ' है, एकविंशपृष्ठ 'प्रतीहार' है, त्रिणवपृष्ठ 'उपद्रव' है, एवं त्रयस्त्रिंशपृष्ठ 'निधन' है। वर्णा-त्मिका, तथा सत्त्वात्मिका वाक् में भी इन सातों सामपर्वों का साक्षात्कार किया जा सकता है।

शब्दोत्पत्ति से पहिले होने वाला अग्नि का नोदनात्मक व्यापार, एवं वायुका प्रक्रमणव्यापार, दोनों की समष्टि 'हिङ्कार' है। स्थान-करणसंयोग से मुख में उत्पन्न शब्द 'प्रस्ताव' है। मुखविवर से विनिर्गत, वाक्समुद्र में वीचि-उत्पन्न करने वाला शब्द 'आदि' है। अन्य व्यक्ति के श्रोत्र में (वीचिन्याय से) पहुँचने-वाला (शब्दवीचिद्वारा श्रोत्रस्थान में प्रादुर्भूत होने वाला तात्कालिक) शब्द 'उद्गीथ' है। शब्दश्रवण का क्रमशः मन्द होते जाना 'प्रतीहार' है। श्रवणाश्रवणवृत्ति 'उपद्रव' है, एवं शब्दश्रवणव्यापार का उपराम ही 'निधन' है।

यद्यपि पदार्थमात्र सत्त्वात्मिका वाक् के उदाहरण मानें जा सकते हैं। तथापि सूर्य्य के साथ सातों का समन्वय इसलिए विस्पष्ट माना गया है कि, सूर्य्य-संस्था वाक् की प्रत्यक्ष प्रतिमा मानी गई है। अरुणो-दय हिङ्कार है, प्रथमोदय प्रस्ताव है, संगव आदि है, मध्याह्न उद्गीथ है, मध्याह्नोत्तरकाल प्रतीहार है, अपरा-ह्णकाल उपद्रव है, सायंकाल निधन है। इसप्रकार सभी वाक्प्रपञ्चों में दृष्टिकोण के भेद से इन सप्तविध सामभक्तियों का समन्वय किया जा सकता है।

१—अपांपृष्ठे सप्तविधं सामोपासीत—

७—त्रयस्त्रिंशस्तोमः (३३)—निधनम्	(परमआवश्यक)		
६—त्रिणवस्तोमः (२७)—उपद्रवः	(आपेक्षिक)		
५—एकविंशस्तोमः (२१)—प्रतीहारः	(आवश्यक)		
४—सप्तदशस्तोमः (१७)—उद्गीथः	(आवश्यक)		—'पदार्थेषु सप्तविधं सामोपासीत'
३—पञ्चदशस्तोमः (१५)—आदिः	(आपेक्षिक)		
२—त्रिवृत्स्तोमः (९)—प्रस्तावः	(आवश्यक)		
१—स्पृश्यपिण्डः * —हिङ्कारः	(परमावश्यक)		

२—शब्दवाक्प्रपञ्चे सप्तविधं सामोपासीत—

७—शब्दश्रवणव्यापारोपरतिः—	निधनम्	'शब्दात्मिकायां वाचि सप्तविधं सामोपासीत'
६—श्रवणमश्रवणं, नादमात्रं, वर्णश्रुत्यभावः	उपद्रवः	
५—शब्दश्रवणमान्द्यम्	प्रतीहारः	
४—अन्यश्रोत्रेन्द्रिये वीचिन्यायेन गतः शब्दः	उद्गीथः	
३—मुखाद्विनिर्गमनं बहिः—शब्दस्य	आदिः	
२—शब्दप्रादुर्भावो मुखे—	प्रस्तावः	
१—शब्दोत्पत्तेः पूर्वव्यापारः—नादः प्रक्रम-स्थान-भेदभिन्नः—	हिङ्कारः	

३—सत्त्ववाक्प्रपञ्चे सप्तविधं सामोपासीत—

७—सायम्—	निधनम्	—'सत्त्वात्मिकायां वाचि सप्तविधं सामोपासीत'
६—अपराह्णः—	उपद्रवः	
५—सन्धिः—	प्रतीहारः	
४—मध्यन्दिनम्—	उद्गीथः	
३—सङ्गवः (६)—	आदिः	
२—प्रथमोदयः—	प्रस्तावः	
१—अरुणोदयः—	हिङ्कारः	

५०-यजुर्वेदत्रयी का मौलिक रहस्य—

आगे जाकर 'यिष्टुति' के सम्बन्ध से इन सात सामभक्तियों के अवान्तर सहस्र विभाग हो जाते हैं, जिन्हें विस्तारभय से छोड़ते हुए साम-प्रासङ्गिक चर्चा यहीं समाप्त कर पुनः प्रकृत की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। यह कहा जा चुका है कि, अग्निस्वरूप का ही नाम यजुर्लक्षण रसवेद है, एवं अग्निवास

ऋग्लक्षण छन्दोवेद है, तथा अग्निव्युत्क्रमण सामलक्षण वितानवेद है। अग्निरस का साममण्डल के द्वारा ऊर्ध्व गमन होता है। जाते हुए इस अग्निरस की तीन संस्था बन जाती है, जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है।

पिण्डस्थ अग्नि पुरुष है, यही रसात्मक यजुर्वेद है। विस्रस्त होकर ऊर्ध्व गमन करने वाला अग्नि महदुक्थ है, यही रसात्मक ऋग्वेद है। विस्रस्तभागपूरक आगच्छत् अग्नि महाव्रत है, यही रसात्मक सामवेद है। अग्नि स्वयं रस है, रस ही यजु है। पुरुष, महदुक्थ, महाव्रत, तीनों रसाग्निरूप हैं, अतएव इन तीनों को हम 'यजुः' ही कहेंगे। रसात्मिका इसी यजुर्वेदत्रयी का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

(मूलसूत्र) *—"अग्निरेष पुरस्ताच्चीयते सम्वत्सरं, उपरिष्टान्महदुक्थं शस्यते।

१—"प्रजापतेर्विस्रस्तस्याग्रं रसोऽगच्छत्। स यः स प्रजापतिर्व्यस्रंसत-सम्वत्सरः सः। अथ यान्यस्य तानि पर्वाणि व्यस्रंसन्त—अहोरात्राणि तानि। तदेतदत्रैव यजुश्चितं, अत्राप्तम्"।

२—"अथ योऽस्य सोऽग्रं रसोऽगच्छत्, महदुक्थम्। तं रसं ऋक्-सामभ्यामनुयन्ति। यजुः पुरस्तादेति, अभिनेतैव तदेति"।

३—"तमध्वर्युर्ग्रहेण गृह्णाति। यद्गृह्णाति, तस्माद्ग्रहः। तस्मिन्नुद्गाता महाव्रतेन रसं दधाति। सर्वाणि हैतानि सामानि, यन्महाव्रतम्। तदस्मिन्त्सर्वैः सामभी रसं दधाति। तस्मिन् होता महोक्थेन रसं दधाति। सर्वा हैता ऋचो, यन्महदुक्थम्। तदस्मिन्त्सर्वाभिर्ऋग्भी रसं दधति"।

४—"ते यदा स्तुवते, यदानुशंसति, अथास्मिन्नेतं वषट्कृते जुहोति। तदेनमेष रसोऽप्येति। न वै महाव्रतमिदं स्तुतं शेते, इति पश्यन्ति, नो महदुक्थमिति। अग्निमेव पश्यन्ति। आत्मा ह्यग्निः। तदेनमेतेऽउभे रसोभूत्वा अपीत ऋक् च, साम च। तदुभे ऋक्सामे यजुरपीतः"।

५—"स एष मिथुनोऽग्निः। प्रथमा च चितिः, द्वितीया च, तृतीया च, तुचर्थी च, अथ पञ्चम्यै चितेः। यश्चितेऽग्निर्निधीयते, तन्मिथुनम्। मिथुन उ एवायमात्मा" (शत० १०।१।१।१–७ कं०)।

"*—(विस्रस्त सम्वत्सर की क्षतिपूर्ति के लिए, रिरिचान प्रजापति के विरिष्टसन्धान के लिए) पहिले अग्नि का (पार्थिव प्रवर्ग्याग्नि का) सम्वत्सर में चयन होता है, अनन्तर महदुक्थ का शंसन होता है। (१)—

विस्रस्त प्रजापति का रस आगे (आगे) चला। जो वह प्रजापति विस्रस्त हुआ, वह यह सम्वत्सर है। जो कि इस प्रजापति के वे पर्व विस्रस्त हुए, वे (पर्व) अहोरात्र हैं। इन्हीं (दोनों विस्रस्त भागों में) यजु चित है, यजु इनमें व्याप्त है। (२)–प्रजापति का जो रस आगे निकला, वह महदुक्थ है। इस रस को ऋक् साम (के आधार मे) लेते है। यजु आगे आगे चलता है। यह (यजु) अभिनेता (सूत्रधार) की भाँति आगे आगे चलता है। (३)–(आगे जाते हुए) इस (यजुः) को अध्वर्यु ग्रह से ग्रहण करता है। ग्रहण करने से ही (यजुः) 'ग्रह' कहलाया है। इस (ग्रहरूप यजु में) उद्गाता महाव्रत से रस का आधान करता है। ये सम्पूर्ण साम (मण्डल) ही महाव्रत है। इन्ही सामों से वह यजु में रस डालता है। इस (ग्रहरूप यजु) में होता महोक्थ से रस डालता है (४)–[वे उद्गाता लोग जब स्तवन करते हैं.) होता लोग जब शंसन करते हैं, उसी समय 'वौषट्' बोलता हुआ अध्वर्यु आहुति देता है। इससे यह उस रस को आप्यायित कर देता है। न तो महाव्रत ही वस्तुतत्त्व है, न महदुक्थ ही वस्तुतत्त्व है। अपितु अग्नि ही वस्तुतत्त्वरूप से देखा जाता है। अग्नि ही आत्मा (वस्तुतत्त्व) है। इस आत्मरूप अग्नि को ये ऋक्–साम रसरूप बन कर आप्यायित करते हैं। ये दोनों ऋक् साम यजु के आप्यायन के कारण बन रहे हैं। (५–यह आत्मरूप अग्नि मिथुन है। प्रथमा–द्वितीया–तृतीया–चतुर्थी, पञ्चमी, इन पाँच चितियों का नाम चित्याग्नि है। चित्य के आधार पर जिस अग्नि का आधान होता है, वही मिथुनभाव का स्वरूपसमर्पक है। यही अग्नि का मिथुनरूप (चित्य–चितेनिधेय) है। मिथुन ही आत्मा (अग्नि) है"।

५१–शस्त्र, स्तोत्र, एवं ग्रह-स्वरूपविज्ञान—

रसवेदत्रयी (यजुर्वेदत्रयी) का स्पष्टीकरण करने वाली उक्त 'अग्निरहस्य' श्रुति की पूरी व्याख्या के लिए तो एक स्वतन्त्र ग्रन्थ अपेक्षित है। दिङ्मात्र से भी प्रकरण का कलेवर बढ़ रहा है। अतः प्रकृत में इस सम्बन्ध में केवल ६ शब्दों के पारिभाषिक अर्थों का ही दिग्दर्शन कर देना पर्य्याप्त होगा! 'शस्त्र[१]–स्तोत्र[२]–ग्रह[३]'–'महदुक्थ[४]–महाव्रत[५]–पुरुष[६]' इन ६ शब्दों के पारिभाषिक अर्थपरिज्ञान से रसवेद का स्वरूप गतार्थ बन जाता है। कर्म्मकाण्डनिष्णात कर्म्मठ याज्ञिकों को यह विदित है कि, वैधयज्ञ में 'अध्वर्यु, होता, उद्गाता, ब्रह्मा' नाम के चार ऋत्विक् होते हैं। साथ ही अध्वर्यु यजुर्वेदी, होता ऋग्वेदी, उद्गाता सामवेदी, तथा ब्रह्मा त्रयीविद्या के साथ साथ अथर्ववेदी होता है। यजुर्वेदी अध्वर्यु यजुर्म्मन्त्रों से वषट्कारद्वारा आहुतिप्रदानलक्षण 'याज्या' कर्म्म करता है। ऋग्वेदी होता ऋङ्मन्त्रों से 'अनुवाक्या' (पुरोऽनुवाक्या) कर्म्म करता है। सामवेदी उद्गाता साममन्त्रों से 'स्तोत्रिया' लक्षण सामगान करता है। एवं चतुर्वेदी ब्रह्मा चारों वेदमन्त्रों से यज्ञत्रुटि का पुनःसन्धान करता हुआ यज्ञ का निरीक्षण करता रहता है। पहिले होता अध्वर्यु के प्रैष (अनुज्ञा) से पुरोऽनुवाक्या करता है, अनन्तर अध्वर्यु याज्या करता है, अनन्तर उद्गाता सामगान करता है। उद्यचसामगान से यज्ञस्वरूप सर्वात्मना सुसम्पन्न हो जाता है।

'पुरोऽनुवाक्या, याज्या, स्तोत्रिया', इन्हीं तीनों कर्म्मों के लिए क्रमशः 'शस्त्र–ग्रह–स्तोत्र' शब्द नियत हैं। पुरोऽनुवाक्या 'शस्त्र' कर्म्म है, साधन ऋङ्मन्त्र हैं। याज्या 'ग्रह' कर्म्म है, साधन यजुर्म्मन्त्र हैं। स्तोत्रिया 'स्तोत्र' कर्म्म है, साधन साममन्त्र हैं। यह है वैधयज्ञकर्म्मत्रयी का संक्षिप्त स्वरूपपरिचय। आध्यात्मिक, आधिदैविक और और जितनें भी प्राकृतिक नित्य ईश्वरीययज्ञ हैं, सबमें इसी कर्म्मत्रयी का समन्वय है। दूसरे शब्दों में यों कहना चाहिए कि, पदार्थमात्र यज्ञात्मक हैं, यज्ञरूप हैं। एवं यज्ञात्मक प्रत्येक पदार्थ में

शस्त्र-स्तोत्र-ग्रह, तीनों कर्म्मों का समन्वय हो रहा है। पदार्थ में भुक्त ऋक्तत्त्व से पदार्थानुबन्धी शस्त्रकर्म्म होता है, यजु से ग्रहकर्म्म होता है, साम से स्तोत्रकर्म्म होता रहता है। पदार्थस्वरूपसम्पादिका देवत्रयी के अग्निभाग से ऋक्द्वारा शस्त्रकर्म्म होता है, वायुभाग से ग्रहकर्म्म होता है, आदित्यभाग से स्तोत्रकर्म्म होता है। पदार्थ में प्रतिष्ठित ये ही तीनों प्राणदेवता अपनी अपनी यज्ञसंस्था के ऋग्वेदी-यजुर्वेदी सामवेदी ऋत्विक् हैं। भृग्वङ्गिरोलक्षण अप्तत्त्व ही अथर्व है। चन्द्रमा वै ब्रह्मा कृष्णः" के अनुसार पदार्थ में प्रतिष्ठित चान्द्रसोमभाग ही अथर्ववेदी ब्रह्मा है। इसके आपोमय मण्डल के गर्भ में ही अग्नित्रयी के द्वारा यज्ञ-कर्म्मत्रयी का वितान हो रहा है। यहां आपोमय अथर्वा यज्ञविरिष्टिसन्धाता बन रहा है। जैसा कुछ हम अपने यज्ञ में किया करते हैं, ठीक वैसा ही वहाँ हो रहा है, सर्वत्र हो रहा है। वहाँ ऐसा हो रहा है, इसीलिए तो हमें अपने वैधयज्ञ में ऐसा ही करना पड़ता है। हमारा यज्ञकाण्ड तो विशुद्ध प्रकृति की प्रतिकृति है। वेद-ऋत्विक्-कर्म्म-आदि सब प्राकृतिक वेद-ऋत्विक्-कर्म्म आदि से समतुलित हैं।

वेदत्रयी के आधार पर वितत होने वाले शस्त्र, ग्रह, स्तोत्रकर्म्मत्रयीरूप यज्ञसंस्कार का ही नाम 'दैवात्मा' है। यही दैवात्मा यज्ञकर्त्ता यजमान की स्वर्गप्राप्ति का कारण बनता है। दैवात्मा आत्मा है, आत्मा मनःप्राणवाङ्मय है। उधर तात्त्विक वेदत्रयी का ऋक्-साम भाग 'वाङ्मय' है, वाग्रूप है, यजुर्भाग प्राण-गर्भित मनोमय है, मनोरूप है। ऋग्लक्षणा मूर्त्ति चित्यवाक्पिण्ड है, सामलक्षण मण्डल चितेनिधेय वाङ्मण्डल है, दोनों निरुक्त हैं। हृत्प्राणावच्छिन्न यजुर्लक्षण रसभाग उपांशु है, अनिरुक्त है (देखिए शत० ४।६।७।१७)। मण्डलात्मिका साममयी वाक् का मूलाधार पिण्डात्मिका ऋङ्मयी वाक् है। ऋङ्-मयी पिण्डवाक् के आधार पर ही साममयी मण्डलवाक् का केन्द्र से चारों ओर सहस्ररूपेण वितान होता है। आगे आगे साममण्डल बनते जाते हैं, साममण्डल के अनुगत मूर्त्तियों का वितान होता जाता है। जहाँ मण्डलात्मक साम पिण्डात्मिका ऋक् के आधार पर प्रतिष्ठित है, वहाँ पिण्डात्मिका ऋङ्मूर्त्तियाँ (उक्थामद-लक्षण मण्डलभुक्त दृश्य मूर्त्तियाँ) मण्डलात्मक सामों के अनुगत हैं। दूसरे शब्दों में आगे आगे उत्तरोत्तर मण्डलों का वितान होता जाता है, इसके साथ साथ ऋङ्मूर्तिलक्षण विष्कम्भों का वितान होता जाता है। क्योंकि इस दृष्टिकोण से ऋङ्मयी वाक् साममयी वाक् के अनुगत है, अतएव इसे 'अनुवाक्' (पीछे पीछे चलने वाली मूर्त्तिमयी ऋक्-वाक्) कहा जाता है। इस अनुवाक् सम्बन्ध से ही होता के द्वारा होने वाले ऋङ्-मय शस्त्रकर्म्म को 'अनुवाक्या' कहा जाता है।

जैसी अनुवाक्या, वैसा स्तोत्र। जैसे अनुवाक्या-स्तोत्र, वैसा ग्रहकर्म्म। तात्पर्य्य यह हुआ कि, जिस प्रकार पानी का स्वरूप तदाधारभूत पात्रों के उच्चावच्च आकारों से समतुलित है, उसी पकार रसरूप यजुः का स्वरूप आयतनरूप ऋक्सामों से समतुलित है। पानी गोलपात्र में गोल है, चतुष्कोण में चतुष्कोण है। पानी का अपना कोई आकार नहीं है। आधारपात्रों का जैसा, जो आकार (वयोनाध-छन्द) है, पानी का भी वैसा वही आकार है। एवमेव रसलक्षण यजु का (प्राणगर्भित मन का) भी अपना आकार नहीं है। हम प्रत्यक्ष में अनुभव करते हैं कि, प्राणगर्भित हमारा मन बाह्य मूर्त्तियों के संस्काराकारों से छोटा-बड़ा बनता रहता है। हाथी के प्रतिबिम्ब से वही मन तदाकार है, सर्षप प्रतिबिम्ब से वही मन तदाकार है। 'यद्य-च्छरीरमादत्ते, तेन तेन स युज्यते'-'यो यच्छ्रद्धः, स एव सः'-'तं यथा यथोपासते, तथैव भवति' इत्यादि श्रुति-स्मृतियाँ इसी सिद्धान्त का समर्थन कर रहीं हैं।

पिण्ड यदि गोल है, तो मण्डल भी गोल हैं, एवं पिण्ड-मण्डल में भुक्त प्राणरस भी तदाकार ही है। इसप्रकार मण्डल और प्राणरस, दोनों का आकार मूर्त्ति-पिण्ड के आकार से समतुलित रहता है। मूर्त्ति की जैसी काट-छाँट रहेगी, मण्डल, तथा रस स्वत एव उसी आकार में परिणत हो जायँगे। शिल्पी एक पाषाण खण्ड को शस्त्रविशेषों से (टाँकी, छेनी, आदि औजारों से) जैसा स्वरूप प्रदान कर देता है, पाषाणखण्ड उसी आकार (मूर्त्ति) में परिणत हो जाता है। एवं शिल्पी के इस शस्त्रकर्म्म से सम्पन्न मूर्त्ति का जैसा आकार एकबार बन जाता है, मण्डल, रस का भी वही आकार बन जाता है। प्रत्येक पदार्थ के केन्द्र में प्रतिष्ठित रहने वाला हृद्प्रजापति (अन्तर्य्यामी) ही शिल्पी है। मूर्त्तिबीजलक्षण 'ऋक्' ही इस शिल्पी के शिल्प-साधक (मूर्त्तिनिर्म्माणसाधक) शस्त्र (औजार) हैं। इस शस्त्र से मूर्त्ति बना डालना ही प्रजापति का शस्त्र-कर्म्म है। यही इस का शंसन है। चतुरशीतिलक्ष मूर्त्तियाँ महद्योनि में प्रतिष्ठित इसी शिल्पी के ऋङ्मय शस्त्रकर्म्म हैं। क्योंकि ऋक्-रूप शस्त्र से मूर्त्ति का निर्म्माण हुआ है, अतएव ऋक्कर्म्म को अवश्य ही 'शस्त्रकर्म्म' कहा जा सकता है। इसी तत्त्वमर्य्यादा के आधार पर ऋग्वेदी होता तात्त्विक ऋक् की प्रतिकृतिभूत ऋङ्मन्त्र से शस्त्रकर्म्म करता है। पिण्डवाक्लक्षणा पुरोऽनुवाक्या ही इस का शस्त्रकर्म्म है। दैवात्मा की मूर्त्ति बनाना इसी ऋत्विक् का काम है। मूर्त्ति मण्डलसापेक्ष है। कहा जा चुका है कि, जैसी मूर्त्ति, वैसा मण्डल। जैसी ऋक्, वैसा साम। उद्गाता नाम का ऋत्विक् मूर्त्तिमयी वाक् का मण्डल रूप से वितान करता है, फैलाता है। यही इसका स्तोत्रकर्म्म है। उद्गाता के स्तोत्रकर्म्म (सामगान) से दैवात्ममूर्त्ति को मण्डलविभूति प्राप्त होती है। इसप्रकार आत्मा की 'मनः-प्राण-वाक्' कलाओं में से 'वाक्' कला का सम्पादन होता, एवं उद्गाता के द्वारा हो जाता है। एक (होता) ऋक्से शस्त्र करता हुआ पिण्डवाक् (शरीर) का निर्म्माण कर देता है, दूसरा (उद्गाता) साम से स्तोत्र करता हुआ मण्डलवाक् (महिमा) का विकास कर देता है। अब इन दोनों में रसाधान शेष रह जाता है।

शेष बचीं हुई दो कलाओं (मन-प्राण) का अध्वर्यु, तथा ब्रह्मा के द्वारा स्वरूप सम्पादन होता है। अध्वर्यु प्राणकला का स्वरूप सम्पादक बनता है, ब्रह्मा मनोभाव का स्वरूप संग्राहक बनता है। इधर मूर्त्ति केन्द्र है, उधर परिधि साम है, मध्यमें रसलक्षण प्राणगर्भित मन व्याप्त है। यही ग्रह है। मूर्त्ति-मण्डल, दोनों आकारमात्र हैं। हम इन का ग्रहण नहीं किया करते। अपितु इन के आधार (आयतन) पर प्रतिष्ठित उस रस का ग्रहण करते हैं, जो तृप्ति का कारण बनता है। रस से तृप्ति होती है। केवल आकार तृप्ति के कारण नहीं बना करते। क्योंकि ग्रहणमर्य्यादा का प्रधान स्थल रस है। अतएव प्राणगर्भित मन को, किंवा मनोगर्भित प्राणरस को अवश्य ही 'ग्रह' कहा जा सकता है। प्राणलक्षण गतितत्त्व ही यजु है। यही ग्रह है, यही रस है। अध्वर्यु अपने यजुर्मन्त्र से याज्या कर्म्म करता हुआ इसी रस को उस ऋक्-सामात्मक वाङ्मय दैवात्मा में आधान करता है। इस दृष्टि से अध्वर्यु को मनोव्यापार, तथा प्राणव्यापार, दोनों का सञ्चालक माना जा सकता है। मनःप्राणमय यजुर्लक्षण 'ग्रह' भाव ही मूर्त्तिकेन्द्र से आरम्भ कर मण्डलपरिधि पर्य्यन्त उत्तरोत्तर चलता है, अतएव इस ग्रहभाव को 'ग्रह' न कह कर 'ग्रहपुरश्चरण' (उत्तरोत्तर वितत होने वाला ग्रह-यजुर्भाव) कहा गया है। चौथा ब्रह्मा नाम का ऋत्विक् इन तीनों ऋत्विजों के व्यापार का भी निरीक्षण करता है, साथ ही मनोयोग द्वारा विशुद्ध मनःसम्पति का भी आधान करता जाता है। इसप्रकार चारों ऋत्विजों के व्यापार से यज्ञकर्त्ता यजमान का स्वर्गप्रापक मनः-प्राणवाङ्मय दैवात्मा सुसम्पन्न बन जाता है।

यही यज्ञकर्म्म भूतप्रधानता से वस्तुमात्र में हो रहा है। प्रतिज्ञात ६ शब्दों में से 'शस्त्र-स्तोत्र-ग्रह' इन तीन शब्दों का यही पारिभाषिक अर्थ है। जिन में से प्रकृत में ग्रहशब्दवाच्य यजुः-रस ही प्रधान लक्ष्य है। वेदत्रयी के इसी मन.प्राणवाङ्मय आत्मभाव का विस्पष्ट शब्दों में स्पष्टीकरण करती हुई वाजिश्रुति कहती है—

"वागेव-ऋचश्च, सामानि च। मन एव यजूंषि। स यऽऋचा च, साम्ना च चरन्ति,वाक्-ते भवन्ति। अथ ये यजुषा चरन्ति, मनस्ते भवन्ति। तस्मात्-नानभिप्रेषितमध्वर्युणा किञ्चन क्रियते। यदेवाध्वर्युराह-'अनुब्रूहि', 'यज' इति, अथैव ते कुर्वन्ति-यऽऋचा कुर्वन्ति। यदेवाध्वर्युराह-'सोमः पवतऽउपावर्त्तध्वम्' इति, अथैव ते कुर्वन्ति, ये साम्ना कुर्वन्ति। नो ह्यनभिगतं मनसा वागवदति। तद्वाऽएतन्मनोऽध्वर्युः पुर-इवैव चरति। तस्मात्पुरश्चरणं नाम"।

(शत० ४।६।७।१६,२०,)।

१*-मनः—(समष्टिः)—दैवात्मा—सर्वमत्र प्रतिष्ठितम्।				
२-मनःप्राणौ-(यजूंषि)—ग्रह-पुरश्चरणम्-याज्या	(अध्वर्युर्गृह्णाति)	—"वेदत्रयी"		
३-मर्त्यावाक्-(सामानि)—स्तोत्रम्—सामगानम्	(उद्गाता-स्तौति)			
४-अमृतावाक्-(ऋचः)—शस्त्रम्—पुरोऽनुवाक्या	(होता शंसते)			

५२-महदुक्थ-महाव्रत, एवं पुरुष—

उक्त वेदत्रयी का व्यवहार यज्ञकाण्ड से प्रधान सम्बन्ध रखता है। विज्ञानकाण्ड में शस्त्र-स्तोत्र-ग्रह शब्दों के स्थान में 'महदुक्थ-महाव्रत-पुरुष' शब्द प्रयुक्त हुए हैं। ऋक्शस्त्रात्मक मूर्त्तिपिण्ड 'महदुक्थ' है, सामस्तोत्रात्मिका मण्डलसाहस्री 'महाव्रत' है, एवं यजुर्ग्रहात्मक प्राणरस पुरुष है। मूर्तिपिण्ड स्वयं ऋक् है। ऋक् को विज्ञानभाषा में 'उक्थ' कहा गया है। क्योंकि इसी के आधार पर वस्तुप्राण का उत्थान होता है। प्राणवितानप्रभवस्थानीया मूर्त्ति उक्थ है, अतः इसे उक्थ ही कहना चाहिए था। परन्तु क्योंकि वितानमण्डल से सम्बन्ध रखने वालीं 'सहस्रधा महिमानः सहस्रं' मूर्त्तियों का यह मूलपिण्ड आधार है, अतएव इसे 'महदुक्थ' कह दिया गया है। वितानवेदात्मक साममण्डल में भुक्त अवान्तर मूर्त्तियाँ भी अपनी अपनी साहस्री की अपेक्षा से उक्थ हैं। इन्हें-'उक्थामद' कहा जाता है। विकास साम का धर्म्म है, संकोच ऋक् का धर्म्म है। विकास हर्ष है, संकोच ग्लेपन है। हर्ष बढ़ाव है, ग्लेपन घटाव है मूर्त्तियाँ उत्तरोत्तर आकार में घटतीं जातीं

* इह विषय का विषद वैज्ञानिक विवेचन शतपथविज्ञानभाष्य प्रथम वर्ष-प्रथमाङ्क में (पृ० सं० ४ से २५) देखना चाहिए।

हैं, मण्डल उत्तरोत्तर आकार में बढ़ते जाते हैं। वितानवेदनिरुक्त में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, पूर्वमण्डल उत्तरमण्डल का 'मद' है, उत्तरमण्डल साम हैं। उत्तरमण्डल का अपेक्षा पूर्वमण्डल का श्लेपन है, पूर्वमण्डल की अपेक्षा मद है। दोनों भाव प्रत्येक मण्डल में, एवं प्रत्येक मूर्त्ति में विद्यमान है। इसी अभिप्राय से वितानमण्डलभुक्त मूर्त्तियों को 'उक्थामद' कहा गया है मण्डलावच्छिन्न मूर्त्तियों की समष्टि 'उक्थामद' कहलाएँगी, प्रत्येक मूर्त्ति 'उक्थ' कही जायगी, एवं मूलपिण्ड 'महदुक्थ' माना जायगा, यही निष्कर्ष है।

महिमामण्डल समष्टिरूप से 'महाव्रत' कहलाएगा। एवं व्यष्टिरूप से 'व्रत' कहलाएगा। मूर्त्ति–मण्डल-भुक्त प्राणाग्निरस ही 'पुरुष' कहलाएगा। इसी को यजुर्वेद कहा जायगा। यही प्रकृत निरुक्ति का रसवेद माना जायगा।

५३–पुरुषलक्षणा यजुर्वेदत्रयी—

महदुक्थलक्षणा ऋग्वेदत्रयी, महाव्रतलक्षणा सामवेदत्रयी, दोनों के क्रमिक निरूपण के अनन्तर पुरुषलक्षणा यजुर्वेदत्रयी का स्वरूप पाठकों के सम्मुख उपस्थित हुआ है। वितानवेदनिरुक्ति में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, उत्तरोत्तर (बिन्दुद्वय–ह्रास से) छोटे होने वाले व्यास ऋक् हैं। हृद्यभावात्मक ये व्यास ही (तत्त्वात्मक प्राणबिन्दुसमष्टि ही) यजुर्वेदीय यजु है। एवं व्यासपार्श्वानुबन्धी प्राणबिन्द्वात्मक मण्डल ही यजुर्वेदीय साम है। इसी आधार पर यजु की सूच्यग्रादि तीन अवस्था बतलाई गई हैं। सूच्यग्र यजु के आधार पर व्यास का, सूचीमुख यजु से बहिर्मण्डलों का, एवं ऋजुभावापन्न यजु से केन्द्र का विकास हुआ है, यह भी वहीं स्पष्ट किया जा चुका है। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि, सूच्यग्र व्यास, सूचीमुख मण्डल, एवं ऋजुभावापन्न केन्द्र, तीनों आयतनमात्र हैं, वस्तुतत्त्व नहीं हैं। परन्तु यह भी असंदिग्ध है कि, ये तीनों वितान यजू–रस से हीं परिपूर्ण हैं। यजु की व्याप्ति ही तीन प्रकार से हो रही है। इसीलिए इस आयतनत्रयी, एवं तत्प्रतिष्ठ यजुस्त्रयी में अभेद मान लिया गया है। इस अभेद का—'सूच्यग्र व्यास ऋक् है, सूचीमुख मण्डल साम है। एवं—'सूच्यग्रव्यासावच्छिन्न वही यजुरस (प्राणाग्नि) ऋक् है, सूचीमुख मण्डलावच्छिन्न वही यजुरस साम है, ऋजुभावापन्न हृदयावच्छिन्न वही यजुरस यजु है' इन शब्दों में भी अभिनय किया जा सकता है। कूटस्थव्यास के आधार पर भूतव्यासों के वितान से जो व्याससाहस्री प्रादुर्भूत हुई है, वही यजुर्वेदत्रयी की मुख्य प्रतिकृति है। मूर्तिपिण्ड को एक स्थान पर प्रतिष्ठित करते हुए उससे चारों ओर 'परोहयः', सूच्यग्र विष्कम्भ, 'पर उर्व्यः' सूचीमुख पृष्ठ, एवं ऋजुरेखा बनाते जाइए, यजुर्वेदत्रयी का चित्र बन जायगा। उस चित्र में आगे जाकर वितानवेदत्रयी, तथा छन्दोवेदत्रयीं का समावेश कर देने से पाठक इस निष्कर्ष पर पहुँचेगे कि, मूर्तिपिण्ड के केन्द्र में प्रतिष्ठित हृद्यप्रजापति ही केवल संस्थानभेद से शस्त्र–स्तोत्र–ग्रह–कर्म्म भेद से महदुक्थ–महाव्रत–पुरुष–रूप में परिणत होता हुआ छन्दोलक्षणा ऋक्, वितानलक्षण साम, रसलक्षण यजुः–रूप में विभक्त रहता हुआ भी तत्त्वतः अविभक्त है। यही छन्दो–वितान–रस–लक्षणा त्रिवृता वेदत्रयी का संक्षिप्त स्वरूपपरिचय है, जिसका केवल मन्त्रात्मक वेदग्रन्थों के आधार पर ही समन्वय नहीं किया जा सकता। विश्व में कौन सा ऐसा पदार्थ है, जो वेदशून्य है ?। किस पदार्थ में मूर्ति–मण्डल–रस' रूप से वेदत्रयी प्रतिष्ठित नहीं है ?। हम जो कुछ देख रहे है, वेदत्रयी की ही महिमा है। ब्रह्मनिः-श्वसितलक्षणा स्वायम्भुवी वेदत्रयी के गर्भ में हीं गायत्रीमात्रिकलक्षणा सौरवेदत्रयी के द्वारा यज्ञमात्रिकलक्षणा भूतरूपा पार्थिववेदत्रयी का ही हमें साक्षात्कार हो रहा है। यही हमारा नित्य–कूटस्थ–अपौरुषेय वेदतत्त्व है ! इसी के आधार पर शब्दात्मक वेदग्रन्थों का आविर्भाव हुआ है, जैसा कि पाठक अगले प्रकरण में देखेंगे।

३—तदित्थं—रसत्रयव्याप्तिभेदाद्यजुर्वेदे रसाख्ये वेदत्रयोपभोगः—

१—सूच्यग्रभावाः—विष्कम्भावच्छिन्नो रसः—यजुर्वेदमयो ऋग्वेदः

२—सूचीमुखभावाः—पृष्ठावच्छिन्नो रसः——यजुर्वेदमयः सामवेदः

३—ऋजुमुखभावाः—हृदयावच्छिन्नो रसः——यजुर्वेदमयो यजुर्वेदः

—रसवेदत्रय

समष्टिपरिलेखः—(छन्दोवितानरसलक्षणा वेदत्रयी)।

१—छन्दोवेदत्रयी (ऋग्वेदत्रयी)—

मूर्त्तिवेदः ऋक

१

१—कूटस्थविष्कम्भः—ऋग्वेदः (ऋक्)

२—पिण्डपरिणाहः——सामवेदः (ऋक्)

३—कूटस्थहृदयम्——यजुर्वेदः (ऋक्)

—ऋक्प्रतिकृतिः (पृथक्द्रष्टव्या)

२—वितानवेदत्रयी (सामवेदत्रयी)

तेजोवेदः साम

२

१—पूर्वपूर्वमण्डलम्——ऋग्वेदः (साम)

२—उत्तर-उत्तरमण्डलम्—सामवेदः (साम)

३—मण्डलद्वयभुक्ता मूर्त्तयः—यजुर्वेदः (साम)

—सामप्रतिकृतिः (पृथक्द्रष्टव्या)

३—रसवेदत्रयी (यजुर्वेदत्रयी)

गतिवेदः यजुः

३

१—उत्तरोत्तरं ह्रस्वीभवन्तो विष्कम्भाः—ऋग्वेदः (यजुः)

२—उत्तरोत्तरं वृद्धिमन्ति पृष्ठानि——सामवेदः (यजुः)

३—ऋजुभावापन्ना रेखा————यजुर्वेदः (यजुः)

—यजुःप्रतिकृतिः (पृथक्द्रष्टव्या)

उक्थम्—१-छन्दोवेदः—मूर्त्तिः—महदुक्थम्—ऋग्वेदः	} —"मूलवेदत्रयी"
साम——२-वितानवेदः—मण्डलम्-महाव्रतम्—सामवेदः	
ब्रह्म——३-रसवेदः——प्राणाग्निः-पुरुषः——यजुर्वेदः	

———————*

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-द्वितीयखण्डान्तर्गत

"अपौरुषेय वेद का तात्त्विक इतिवृत्त" नामक

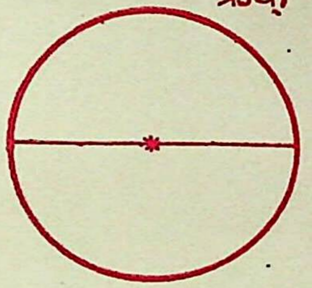
चतुर्थ स्तम्भ उपरत

—४—

(३६४ के अन्त में)

(२६)-छन्दो-वितान-रस-भावानुगत-त्रयीवेदस्वरूपपरिलेखः—

ऋक् प्रतिकृतिः



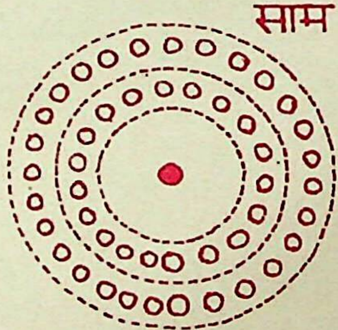
(१)-सैषा छन्दोवेदत्रयी (ऋग्वेदत्रयी)-

१-कूटस्थविष्कम्भः—ऋग्वेदः—ऋक्

२-पिण्डपरिणाहः—सामवेदः-ऋक्

३-कूटस्थहृदयम्—यजुर्वेदः--ऋक्

साम प्रतिकृतिः

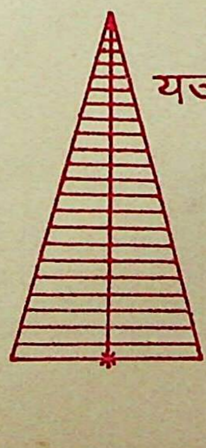


(२)-सैषा वितानवेदत्रयी (सामवेदत्रयी)-

१-पूर्वपूर्वमण्डलम्———-ऋग्वेदः--साम

२-उत्तर-उत्तरमण्डलम्—--सामवेदः—साम

३-मण्डलद्वयभुक्ता मूर्त्तयः—यजुर्वेदः--साम



यजुः प्रतिकृतिः

(३)-सैषा रसवेदत्रयी (यजुर्वेदत्रयी)-

१-उत्तरोत्तरं ह्रस्वीभवन्तो विष्कम्भाः—ऋग्वेदः—यजुः

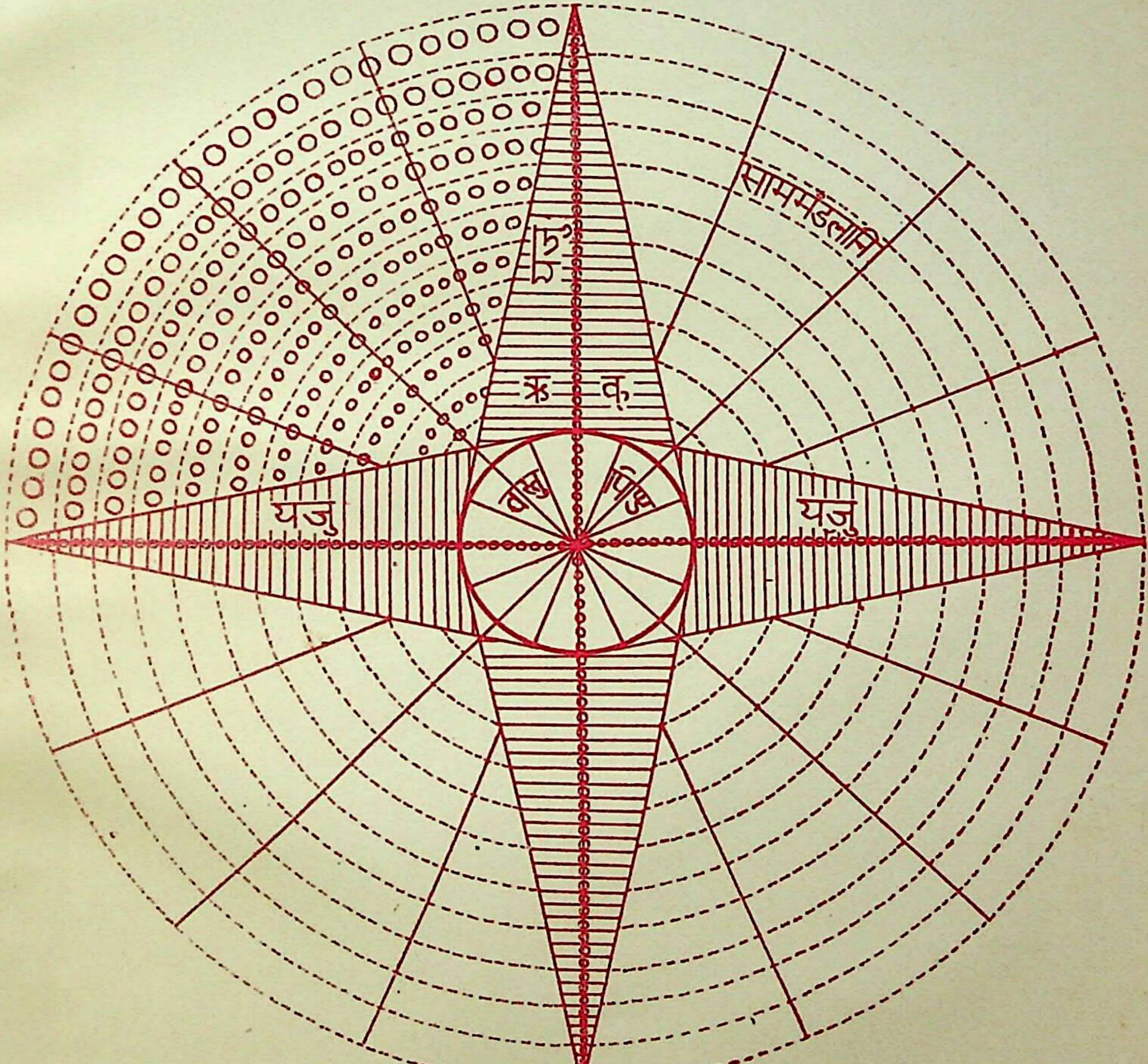
२-उत्तरोत्तरं वृद्धिमन्ति पृष्ठानी——सामवेदः—यजुः

३-ऋजुभावापन्ना रेखा———-यजुर्वेदः--यजुः

श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, दुर्गापुरा (जयपुर)

(३६४ के अन्त में)

(३०)–वेदत्रयी--समष्टिपरिलेखः—



श्री:

'उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-द्वितीयखण्डान्तर्गत

"अपौरुषेयवेद का तात्त्विक इतिवृत्त" नामक

चतुर्थस्तम्भ--उपरत

४

श्री:

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-द्वितीयखण्डान्तर्गत-

"अग्निविकासरहस्य, और वेदशाखा-विभाग" नामक

पंचम-स्तम्भ

५

---*---

श्री;

अग्निविकासरहस्य, और वेदशाखाविभाग

१–शास्त्रवेद और ब्रह्मवेद—

तात्त्विकवेद से सम्बन्ध रखने वाले पूर्वप्रतिपादित अपौरुषेयवेदेतिवृत्त से अनुप्रमाणित वेदस्वरूपावलोकन से सम्भवतः विज्ञ पाठकों का दृष्टिकोण इस तात्त्विक सिद्धान्त की ओर अवश्य ही आकर्षित हुआ होगा कि, "वेद एक तात्त्विक पदार्थ है, सृष्टि का मूलकारण है। एवं यह वेद नित्य, तथा अपौरुषेय है"। शब्दात्मक वेद-शास्त्र 'शास्त्रवेद' है, तत्त्वात्मकवेद 'ब्रह्मवेद' है। ब्रह्मवेद यदि शास्त्रवेद का आत्मा है, तो शास्त्रवेद ब्रह्मवेद का शरीर है। आत्मस्थानीय ब्रह्मवेद यदि कूटस्थ नित्य है, तो शरीरस्थानीय शास्त्रवेद कृतक-मर्य्यादा से युक्त है। शरीरस्थानीय इस शास्त्रवेद के ११३१ विभाग विद्वत्समाज में सुप्रसिद्ध हैं, एवं आत्मस्थानीय ब्रह्मवेद के ८६४००० विभाग वैज्ञानिक समाज में सुप्रसिद्ध हैं। दोनों वेदों का यह संख्या-वैषम्य ही यह सिद्ध करने के लिए पर्य्याप्त प्रमाण है कि, तत्त्वात्मक ब्रह्मवेद पृथक् वस्तु है, एवं शब्दात्मक शास्त्रवेद पृथक् वस्तु है।

शब्दात्मक शास्त्रवेद की शाखाओं का, मण्डल, वर्ग, अष्टक, ऋचा, अध्याय, काण्ड, शब्द, अक्षर, इत्यादि का विभाग विद्वत्समाज के लिए तिरोहित नहीं है। जो महानुभाव वेदशाखादि से अपरिचित हैं, उन्हें एकबार 'चरणव्यूह' प्रकरण देख लेना चाहिए। चरणव्यूह में शब्दवेद का जो विभाग हुआ है, उसे सामने रखिए, एवं, 'प्राजापत्यवेदमहिमा' नामक पूर्व प्रकरण में २४ बृहतीसहस्र-संख्यात्मक जिस तत्त्ववेद का निरूपण हुआ है, उसे सामने रखिए। दोनों की संख्याओं का विचार कीजिए। प्राजापत्य नित्य तात्त्विक वेद त्रयी में भुक्त ऋग्वेद की ४३२००० ऋचाएँ होंगीं, यजुर्वेद के २८८००० यजु होंगे, सामवेद के १४४००० साम होंगे। एवं तीनों के संकलन से त्रयीवेद की कुल संख्या ८६४००० होगी। शब्दात्मक वेदमन्त्रों की संख्या का भी प्रकरण सङ्गति के लिए संक्षेप से निदर्शन करा देना अनुचित न होगा।

A चरणव्यूहानुसार शब्दात्मक (मन्त्रात्मक) वेद के 'ऋक्-यजुः-साम-अथर्व' भेद से चार भेद हैं। *B* इनमें ऋग्वेद की २१ शाखा हैं, यजुर्वेद की १०१ शाखा हैं, सामवेद की १००० शाखा हैं, एवं

A—"अथातश्चरणव्यूहं व्याख्यास्यामः। तत्र निरुक्तं चातुर्विध्यम्। चत्वारो वेदा विज्ञाता भवन्ति"।

B—"महान् शब्दस्य प्रयोगविषयः। सप्तद्वीपा वसुमती, त्रयो लोकाः, चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधा भिन्नाः। एकशतमध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा-बाह्वृच्यं, नवधाऽथर्वणो वेदः" इति (पातञ्जलमहाभाष्य-'सन्त्यप्रयुक्ताः')।

अथर्ववेद की ६ शाखा हैं। चारों के संकलन से ११३१ वेदशाखा होतीं हैं। 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इस आप्त सिद्धान्त के अनुसार शब्दात्मक वेदशास्त्र मन्त्र-ब्राह्मण भेद से दो भागों में विभक्त है। वेदशास्त्र का मन्त्रभाग **'ज्ञातव्यवेद'** माना जा सकता है, एवं ब्राह्मणभाग को **'कर्त्तव्यवेद'** कहा जा सकता है। ज्ञातव्यवेद केवल जानने की वस्तु है, कर्त्तव्यवेद व्यवहार की वस्तु है। **'ज्ञात्त्वा'** का मन्त्रवेद से सम्बन्ध है, **'कर्म्माणि कुर्वीत'** का ब्राह्मणवेद से सम्बन्ध है। वर्त्तमान दृष्टिकोण के अनुसार यों कहा जा सकता है कि, सिद्धान्तपरिज्ञानात्मक (थ्योरिटिकल नॉलेज) वेदभाग मन्त्रवेद है, एवं व्यवहारात्मक (प्रेक्टिकल नॉलेज) वेदभाग ब्राह्मणवेद है। त्रिःसत्य प्राणदेवताओं की प्राणविभूति का स्पष्टीकरण करने वाले मन्त्रवेद के ज्ञातव्यविषय **'विज्ञान-स्तुति-इतिहास'** तीन भागों में विभक्त हुए हैं, एवं ब्राह्मणवेद के कर्त्तव्य विषय **'कर्म्म-उपासना-ज्ञान'** तीनों भागों में विभक्त होते हुए अपनी त्रित्वमर्य्यादा का स्पष्टीकरण कर रहे हैं। मन्त्रवेदचतुष्टयी के कुछ एक मन्त्र तो प्राकृतिक सृष्टिविज्ञान का विशुद्ध 'विज्ञान' रूप से निरूपण कर रहे हैं। कुछ एक मन्त्रों के द्वारा प्राणदेवताओं की स्तुति के द्वारा विज्ञान का प्रतिपादन हुआ है। एवं कुछ एक मन्त्र इतिहास के द्वारा विज्ञान का प्रतिपादन कर रहे हैं। मन्त्रवेद का प्रधान लक्ष्य है 'सृष्टि-विज्ञानप्रतिपादन'। यही कारण है कि ऐतिह्य मन्त्रों में भी परोक्षविधि से विज्ञान का निरूपण हुआ है, एवं स्तुतिमन्त्रों में भी देवस्तुति के साथ साथ प्राणदेवताओं के वैज्ञानिक स्वरूप का ही विश्लेषण हुआ है।

२-वैदिक इतिहासदृष्टि—

अपनी शब्दवेदभक्ति को अणुमात्र भी कम न करते हुए हमें यह कहना ही पड़ता है कि, ब्राह्मणवेद की कौन कहे, स्वयं मन्त्रवेद भी ऐतिह्य मर्य्यादा से शून्य नहीं है। अपौरुषेय भावानुगता भ्रान्ति ने अपनी स्वरूप-रक्षा के लिए इस एक दूसरी भ्रान्ति को जन्म दे डाला है। अपौरुषेयता की रक्षा के लिए ही वेदभक्तों को आगे जाकर अपना यह मन्तव्य बनाना पड़ा कि, वेद क्योंकि अपौरुषेय हैं, ईश्वरप्रणीत हैं, ईश्वर के निःश्वास हैं, अतएव इनमें इतिहास (मानव चरित्र) नहीं हो सकता। 'त्रिकालज्ञ ईश्वरप्रजापति अपने से पीछे होने वाले सूर्य्य-चन्द्र-पृथिवी-अग्नि-इन्द्र-वरुण-आदि का तो प्रतिपादन कर सकता था, किन्तु मानवचरित्र इसे विदित नहीं था'' इस हेतु का हम किस आधार पर समन्वय करें, यह आज तक समझ में न आ सका। सह-योगियों की अपौरुषेयभक्ति का अभ्युपगमवाद से अभिनन्दन करते हुए क्या उनसे यह नहीं कहा जा सकता कि-भगवन्! मानवचरित्र के समावेशमात्र से भय करने की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि वह उत्तरभावी सृष्टिपर्वों का निरूपण करता हुआ अपनी कृति का अनादित्व सिद्ध कर सकता है, तो उत्तरभावी मानवचरित्र के समावेश से भी इसकी कृति के अपौरुषेयत्त्व पर कोई आक्रमण नहीं हो सकता। इतिहास मान लेने पर भी विश्व का कोई भी विद्वान् वेद की स्वतःप्रमाणता में सन्देह नहीं कर सकता।

उधर हमारे दृष्टिकोण से तो शब्दात्मक वेदशास्त्र ऋषियों की पवित्र वाणी है, सहजज्ञान से सम्बन्ध रखने वाली सहजकृति है, जैसाकि तृतीयखण्ड में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। ऋषि मनुष्य थे, आकार-प्रकार में ठीक हमारे ही जैसे थे। उन्होंने अपने सहजज्ञान से ईश्वरीय तत्त्ववेद का साक्षात्कार किया, विविध वैज्ञानिक (याज्ञिक) प्रक्रियाओं का आविष्कार किया। इन आविष्कारों को सहजवाणी में गुम्फित

किया। साथ साथ तत्कालीन मानवचरित्र का भी अपनी सहजवाणी से निरूपण किया। वही ऋषिग्रन्थ शब्दात्मक शास्त्रवेद कहलाया। **'अनृतसंहिता वै मनुष्याः'** सिद्धान्त पर कोई आपत्ति न करते हुए भी 'ऋषि' स्थान पर पहुँचे हुए (आप्त) पुरुषों के सम्बन्ध में इस सिद्धान्त को अपवाद ही मानना पड़ेगा। जो महानुभाव शब्दवेद को अपौरुषेय मानते हैं, उन्हें भी अपने **'शास्त्रयोनित्त्वात्'–'आप्तोपदेशः प्रमाणम्'–'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते'–'यदस्माकं शब्द आह, तदस्माकं प्रमाणम्'** इत्यादि आप्त सिद्धान्तों की रक्षा के लिए आप्त पुरुषों की वाणी निर्भ्रान्त माननी ही पड़ती है। वे भी यह स्वीकार करते हैं कि, जिन्हें दिव्यदृष्टि प्राप्त हो जाती है, वे विदितवेदितव्य बन जाते हैं। भूत–भविष्यत्–वर्त्तमान, तीनों उनके लिए प्रत्यक्षवत् हो जाते हैं। ऐसे त्रिकालज्ञ जो कुछ कहते हैं, वह हमारे लिए निःसदिग्ध प्रमाण है। **'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'** यह वचन स्पष्ट ही ब्रह्मवेत्ता के वचन को 'ब्रह्मवाक्य' (ईश्वरवाक्य) बतला रहा है। त्रिकालज्ञ ऋषि ईश्वर के प्रतिनिधि हैं, प्रतिकृतिरूप हैं। ये जो कुछ कह रहे हैं, ईश्वर कथनवत् हमारे लिए मान्य है। एवं इसी दृष्टि से यदि आस्तिक प्रजा वेदशास्त्र को ईश्वरप्रणीत कहे, तो किसी को भी कोई भी आपत्ति नहीं हो सकती।

यद्यपि यह ठीक है कि, मन्वादि धर्म्मशास्त्र, वेदान्तादि दर्शनशास्त्र, ब्रह्मादि पुराणशास्त्र, गोभिलादि सूत्रग्रन्थ श्रुतिप्रामाण्य के आधार पर प्रतिष्ठित होने से ही प्रमाणभूत हैं। अतएव इन्हें 'परतःप्रमाण' कहना अन्वर्थ बनता है। परन्तु कोई भी आस्तिक मन्वादि शास्त्रों को अनाप्तवाक्य कहने का साहस नहीं कर सकता। यदि इन की आप्तता में सन्देह किया जायगा, तो आर्षप्रजा के श्रौत–स्मार्त्त संस्कारों की प्रामाणिकता एकान्ततः उच्छिन्न हो जायगी। श्रौत, तथा स्मार्त्त सूत्रग्रन्थों में श्रोत–स्मार्त्त जिन ४८ संस्कारों की इतिकर्त्तव्यता (पद्धति) प्रतिपादित हुई है, मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र में उस इतिकर्त्तव्यता का अभाव है। जब स्वतः–प्रमाणभूत वेदशास्त्र में संस्कारों की इतिकर्त्तव्यता नहीं, तो परतःप्रमाणरूप सूत्रग्रन्थों की संस्कारेतिकर्त्तव्यता का क्यों समादर किया जाय ?। ऐसी ऐसी अनेक विभीषिकाएँ उपस्थित हो सकतीं हैं उस समय, जब कि हम वेदशास्त्रातिरिक्त शास्त्रों की आप्तता में, निःसदिग्ध प्रामाणिकता में, सन्देह करने लगते हैं तो। वसिष्ठ, भरद्वाज, कश्यप, भृगु, अङ्गिरा, आदि वेदद्रष्टा महर्षियों की तुलना में राजर्षिमनु, भगवान्व्यास, कणाद, कपिल, गोतम, जैमिनि, पतञ्जलि, आदि आप्तपुरुषों का महत्त्व कभी कम नहीं किया जा सकता। इनके आदेश आर्षप्रजा को वेदवत् मान्य हैं। क्योंकि सभी अपने अपने विषय के द्रष्टा विद्वान् हैं। सभी अपने अपने स्थान में ऋषि हैं। निवेदन करने का अभिप्राय यही है कि, जिस भय से सहयोगी, एवं असहयोगी वेद को पुरुष–रचना मानने में संकोच करते हैं, वेद की स्वतःप्रमाणता सुरक्षित रखने के लिए 'भ्रान्तपुरुषकल्पना' से बचाने के लिए वेद को ईश्वरकृत मानते हैं, उन्हें भी यह स्वीकृत है कि, आर्षदृष्टियुक्त आप्तपुरुष भ्रान्तसिद्धान्त के अपवादस्थल हैं। आप्तपुरुषों के वचन कभी भ्रान्त नहीं हो सकते। एकमात्र इस दृष्टिकोण के आधार पर भी वे पुरुषमूलक भ्रान्तिसम्बन्ध को 'पौरुषेयवेदशास्त्र' से विच्छिन्न कर सकते हैं।

विषय अप्रस्तुत है। विस्तार सापेक्ष है। अन्य किसी स्वतन्त्र निबन्ध में वैदिक इतिहास का विवेचन किया जायगा। यहाँ हमें **"वेदों में अवश्य ही इतिहास है"** इस सिद्धान्त का समर्थन करते हुए ही प्रकृत का अनुगमन करना है। मौलिक इतिहास, जातीयता के मूलसूत्र, सभ्यता, राज्यप्रणाली, आदर्श, साम्राज्यवैभव, आदि अतीत विभूतियों का यदि यथार्थ परिचय प्राप्त करना है, तो हमें वैदिक इतिहास की ही शरण में जाना

पड़ेगा । 'पौरुषेयत्वापौरुषेयत्व' जैसे निस्तत्त्व, निरर्थक, शुष्क कलह में पड़ कर अपनी कल्पित, भ्रान्त आस्तिकता के मोहमें पड़ कर, जिस क्षण से भारतीयों नें वेदशास्त्र को इतिहासमर्य्यादा से पृथक् किया है, उसी क्षण से हमारा गौरवपूर्ण अतीत इतिवृत्त स्मृतिगर्भ में विलीन हो गया है । हमारा अपना तो यह निश्चित दृष्टिकोण है कि, यदि हमें अपने अतीत का वास्तविक स्वरूपज्ञान प्राप्त करने की जिज्ञासा है, तो हमें वैदिक इतिहास को ही अपना प्रधान लक्ष्य बनाना पड़ेगा । 'हम क्या थे ?, क्या हो गए ?, क्या होते जा रहे है ?, इस का पूरा पूरा समाधान वैदिक इतिवृत्त से ही सम्भव है ।

३–मूल, एवं तूलवेद्—

* 'विज्ञान, स्तुति, इतिहास' इन तीन ज्ञातव्य विषयों का निरूपण करने वाला मन्त्रात्मक वेदभाग जहाँ मूलवेद है, वहाँ कर्त्तव्यविषयप्रतिपादक ब्राह्मणात्मक वेदभाग तूलवेद है । दोनों का बीज-वृक्षवत् घनिष्ठ सम्बन्ध है । कर्म्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड, ज्ञानकाण्ड, भेद से आर्षप्रजा के कर्त्तव्य + आश्रमव्यवस्थानुबन्धी गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम, संन्यासाश्रम, इन तीन आश्रमों में विभक्त हैं । गृहस्थाश्रम कर्म्मप्रधान है, वानप्रस्थाश्रम उपासनाप्रधान है, एवं संन्यासाश्रम ज्ञानप्रधान है । कर्त्तव्यकर्म्मप्रतिपादक ब्राह्मणभाग 'विधि' नाम से, कर्त्तव्योपासनाप्रतिपादक ब्राह्मणभाग 'आरण्यक' नाम से, एवं अनुष्ठेय ज्ञानप्रतिपादक ब्राह्मणभाग 'उपनिषत्' नाम से प्रसिद्ध है ।

कहा जा चुका है कि, ज्ञातव्यवेद की ११३१ शाखा हैं । क्योंकि कर्त्तव्यवेद इसी ज्ञातव्यवेद का तूलरूप है, अतएव इस की भी इतनीं हीं शाखा हो जातीं हैं । वर्त्तमान में 'ब्राह्मण' नाम से प्रसिद्ध विधिग्रन्थ, आरण्यकग्रन्थ, उपनिषत्ग्रन्थ, प्रत्येक वेदशाखा के साथ तीनों तूलवेदों का सम्बन्ध है । यदि ऋग्वेद की २१ शाखा हैं, तो २१ ब्राह्मण हैं, २१ हीं आरण्यक हैं, २१ हीं उपनिषत् हैं । 'मन्त्रसंहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उनिषत्' चारों को मिलाकर एक शाखावेद का स्वरूप सम्पन्न हुआ है । मन्त्रभाग वेद का आदि है, उपनिषत्भाग वेद का अन्त है, अतएव 'सर्वे-वेदान्ताः' इत्यादिरूप से प्राचीन परिपाटी में उपनिषद्भाग 'वेदान्त' (वेद का अन्तभाग) नाम से प्रसिद्ध है । इन सब विषयों का विवेचन भूमिका प्रथम खण्ड के–'उपनिषच्छब्दार्थ' प्रकरण में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है । यहाँ वक्तव्य यही है कि, यदि शब्दात्मक शास्त्रवेद की संख्याओं संकलन किया जाता है, तो हमें निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है—

* देखिए, गीताविज्ञानभाष्यभूमिका, द्वितीयखण्ड 'क' विभाग, आत्मपरीक्षा,

\+ देखिए, गी० भूमिका, द्वितीयखण्ड 'ख' विभाग कर्म्मयोगपरीक्षा

१–ऋग्वेदशाखाः–२१	ब्राह्मणानि २१	आरण्यकानि २१	उपनिषदः २१	८४
२–यजुर्वेदशाखाः–१०१	ब्राह्मणानि १०१	आरण्यकानि १०१	उपनिषदः १०१	४०४
३–सामवेदशाखाः–१०००	ब्राह्मणानि १०००	आरण्यकानि १०००	उपनिषदः १०००	४०००
४–अथर्ववेदशाखाः–९	ब्राह्मणानि ९	आरण्यकानि ९	उपनिषदः ९	३६
११३१	११३१	११३१	११३१	४५२४
मूलवेदशाखाः— ११३१	तूलवेदविवर्त्तभावाः—		३३९३	

४–शाखाविभाग, और प्राचीन दृष्टि—

मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद की उक्त शाखा-संख्याओं का क्या कारण ?, ऋग्वेद की २१ संहिताओं, २१ ब्राह्मणों, २१ आरण्यकों, २१ उपनिषदों में, एवमेव अन्यान्य संहिता–ब्राह्मणादि में प्रतिपादित विषयों की समानता है, अथवा विभिन्नता ?, इत्यादि प्रश्नों के उपस्थित होने पर प्राचीन व्याख्याता यह समाधान करते हैं कि, वेदाध्ययनसम्प्रदायप्रवर्त्तक आचार्य्यपरम्परा ही इस शाखाभेद का कारण है। अध्ययनसम्प्रदायभेद का, एवं सूत्रभेद का तात्पर्य्य समान है। "शाकल, शाङ्खायन, आश्वलायन, माण्डूक, वाष्कल, ऐतरेय, कौषीतकि, पैङ्ग्य, मुद्गल, गोकुल, वात्स्य, शौशिर, शिशिर," आदि स्वाध्यायप्रवर्त्तक आचार्य्यों की भेद परम्परा ही शाखाभेद का मूल है। प्राचीनों के इस उत्तर का प्रतिवाद करना तो इस लिए धृष्टता है कि, वेदतत्त्वाध्ययन-परम्परा से वञ्चित हम लोगों का मूलमन्त्र 'तातस्य कूपः' बन रहा है। यदि हम थोड़ी देर के लिए भी वेद के तात्विक स्वरूप पर दृष्टि डालने का अनुग्रह करते, तो शाखा–विभाग जैसे मौलिक–तात्विक–वैज्ञानिक भेद का केवल अध्ययनभेद पर ही विश्राम मानने की भूल न करते। शाखाभेद का वह मौलिक कारण क्या है ?, यह तो पाठक अनुपद में हीं विस्तार से प्रतिपादित देखेंगे हीं ; पहिले प्रसङ्गोपात्त चरणव्यूह–सम्मत मन्त्र-संहिताओं के अवान्तर पर्वों की ही संख्या का विचार कर लीजिए।

५–वेदसंख्यान—

पहिले क्रमप्राप्त ऋग्वेद को ही लीजिए। ऋग्वेद की जो शाखा व्यवहार में प्रचलित है, शाखा-रहस्यानभिज्ञ बन्धुओं नें जिस शाखा को मूलवेद, एवं इतर उपलब्ध–अनुपलब्ध ऋक्शाखाओं को वेदमर्यादा

से बहिष्कृत समझने की भूल कर रक्खी है, उस ऋग्वेद शाखा में १० मण्डल हैं, ६४ अध्याय हैं, ८ अष्टक हैं, २००६ वर्ग हैं, १०१७ सूक्त हैं, १०५८० ऋचा हैं, १५३४२६ शब्द हैं, ४३२००० अक्षर हैं।

यजुर्वेद शुक्ल-कृष्णभेद से दो भागों में विभिक्त है। शुक्लयजुर्वेद की १५ शाखा हैं, कृष्णयजुर्वेद की ८६ शाखा है। सम्भूय यजुर्वेद १०१ शाखाओं में विभक्त है। कथानक प्रसिद्ध है कि, गुरुप्रदत्त यजुर्वेद का याज्ञवल्क्य ने तिरस्कार कर दिया, गुरु ने तित्तिर (तीतर) बन कर याज्ञवल्क्य से निकले हुए अपने वेद का संग्रह किया, वही कृष्णयजुर्वेद कहलाया, एवं स्वयं याज्ञवल्क्य ने अश्व (सूर्य्य) द्वारा जो नवीन वेद प्राप्त किया, वह शुक्लयजुर्वेद कहलाया। सम्प्रदायसिद्ध इस कथानक में ऊहापोह न करते हुए यह कहना पड़ेगा कि, यजुर्वेद के १०१ विभाग मौलिक यजुर्वेद की शाखाओं पर ही प्रतिष्ठित हैं। इन १०१ शाखाओं के नाम भी जब उपलब्ध नहीं होते, तो इन शाखाओं की उपलब्धि में कुछ भी कहना परितापवृद्धि का ही कारण होगा। ग्रन्थों में उपलब्ध होने वाले—चरक, आह्वरक, कठ, प्राच्यकठ, कापिष्ठल, वारतन्तवीय, श्वेत, श्वेताश्वतर, औपमन्यव, पाताण्डिनेय, मैत्रायणीय, मानव, वाराह, दुन्दुभ, छागलेय, आपस्तम्ब, बौधायन, हिरण्यकेश, शाट्यायन, इत्यादि कतिपय नामों का भी वस्तु-स्वरूप आज हमारे दुर्भाग्य से विलुप्त हो चुका है। इसके अतिरिक्त शुक्ल यजुर्वेद की "काण्व, माध्यन्दिन, जाबाल, बुधेय, शाकेय, तापनीय, कपोल, पौण्ड्रवत्स, आवटि, परमावटिक, पाराशरीय, वैनेय, वैधेय, औधेय, गालव" इन १५ शाखाओं में काण्व, तथा माध्यन्दिन नाम की दो शाखा सौभाग्य से बच रहीं हैं। शेष संहिताएँ या तो किसी भाग्यशाली विद्वान् के घर में ताड़पत्रों से सुरक्षित हैं, अथवा स्मृतिगर्भ में विलीन हो चुकीं हैं। शुक्लयजुर्वेद का प्राकृतिक 'वाज' (सूर्य्याश्व) से सम्बन्ध है, अतएव इन १५ हीं शाखाओं को 'वाजसनेय' कहा जाता है। माध्यन्दिनी शाखा से सम्बद्ध व्यवहार में प्रचलित शुक्लयजुर्वेदसंहिता में ४० अध्याय हैं, १९०० मन्त्र हैं।

सामवेद की १००० शाखा प्रसिद्ध हैं। सुनते हैं, अनध्यायों में वेदस्वाध्याय करने वाले शाखाध्यायी इन्द्र के द्वारा मार डाले गए। फलतः सामवेद की अनेक शाखाएँ उच्छिन्न हो गईं। 'राणायनीय, शाट्यमुग्र, कापोल, महाकापोल, लाङ्गलिक, शार्दूल, कौथुम, आसुरायण, वातायन, प्राञ्जलि, वैनधृत, प्राचीनयोग्य, नैगेय, इत्यादि जो कुछ एक सामशाखाओं के नाम सुने जाते हैं, वे भी अपनी नाममर्य्यादा पर ही विश्रान्त हैं। इसी प्रकार अथर्ववेद की ९ शाखा भी आज केवल संख्यागणना की ही आधारभूमि बनी हुई हैं। सब्राह्मण, सारण्यक, सोपनिषत्क मन्त्रवेद के ४५२४ ग्रन्थों में से आज आर्षसाहित्य-भाण्डार में कितनें ग्रन्थ उपलब्ध हैं?, यह जान कर खेद तो इसलिए नहीं होता कि, जो १०-५ ग्रन्थ उपलब्ध हो रहे हैं, वे भी आडम्बरपूर्ण अनार्षग्रन्थों के आवरण से स्वाध्याय परम्परा से वञ्चित हो चुके हैं। अस्तु, इन सब नियति-चर्चाओं की मीमांसा करना अनधिकारचेष्टा है। प्रकृत में इस वेदसंख्यान से हमें यही बतलाना है कि, ब्राह्मणग्रन्थों में तात्त्विकवेद की जो संख्या बतलाई गई है, वह इस शास्त्रवेदसंख्या से विषम बनती हुई यह सिद्ध करने के लिए पर्य्याप्त प्रमाण है कि, ये वेदग्रन्थ वेद के ग्रन्थ हैं, तात्त्विकवेद का स्पष्टीकरण करने वाला शब्दप्रपञ्च है। तात्त्विकवेद आत्मा है, शास्त्रवेद शरीर है। आत्मस्थानीय तात्त्विकवेद कूटस्थ नित्य है, अपौरुषेय है। शरीरस्थानीय शास्त्रवेद अनित्य है, पौरुषेय है। तात्त्विकवेद ऋषिदृष्ट है, शास्त्रवेद ऋषिकृत है। तात्त्विकवेद की दृष्टि से महर्षि जहाँ 'मन्त्रद्रष्टा' हैं, वहाँ शास्त्रवेद दृष्टि से महर्षि मन्त्रकृत हैं—"नमः ऋषिभ्यः मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यः"।

६-मन्त्रब्राह्मणात्मक तात्विकवेद—

"मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" इस आप्त सिद्धान्त के अनुसार ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषत्-समष्टिरूप ब्राह्मणवेद, एवं ऋग्-यजुः साम-अथर्व-समष्टिरूप मन्त्रवेद, दोनों हीं 'वेद' शब्द से ग्राह्य हैं। क्यों कि प्राकृतिक नित्यवेद स्वयं मन्त्र-ब्राह्मणभेद से दो भागों में विभक्त हो रहा है। शास्त्रवेद क्यों दो भागों में विभक्त हुआ ?, इस प्रश्न का उत्तर वही तात्विकवेद है । तात्विकवेद के मन्त्र-ब्राह्मणविवर्त्तों के परिज्ञान के लिए हमें 'अदितिसंहिता' का आश्रय लेना पड़ेगा। पाठक देखेंगे कि, अदितिसंहितारूप तात्विक मन्त्रवेद अपने अपने तीन पर्वों से ब्राह्मणवेद को अपने गर्भ में प्रतिष्ठित किए हुए हैं।

७-अदितिस्वरूपपरिचय-

भूपिण्ड से सम्बन्ध रखने वाली अदिति का स्पष्टीकरण विस्तारसापेक्ष है। अतः इस सम्बन्ध में तो पाठकों से हम यही अनुरोध करेंगे कि, अन्य ग्रन्थों में प्रतिपादित अदितिस्वरूप का अवलोकन करने का कष्ट उठावें *। यहाँ इस सम्बन्ध में केवल यही स्पष्टीकरण पर्य्याप्त होगा कि, चतुर्लोकात्मिका पृथिवी का वह अर्द्ध भाग, जो कि सूर्य्यसमसाम्मुख्य से ज्योतिर्म्मय बना हुआ है, अदिति है। एवं वह विरुद्ध भाग, जहाँ सौरज्योतिका अभाव है, दिति है। वही पार्थिव ज्योतिर्म्मण्डल अदिति है, एवं वही पार्थिव तमोमण्डल दिति है।

भूपिण्ड को केन्द्र में रखते हुए २१ वें अहर्गण पर्य्यन्त एक मण्डल बना डालिए। यही मण्डल पार्थिव रथन्तर-साममण्डल कहलाया है, जैसाकि पूर्व के सामातिमान-परिच्छेद में विस्तार से बतलाया जा चुका है। भूकेन्द्र से निकलकर २१ स्तोमावच्छिन्न साममण्डल में व्याप्त रहने वाला प्राजापत्य-प्राणाग्नि पार्थिव अग्नि है। इस अग्निमण्डल का ही नाम अदिति है, इसी का नाम दिति है। जो अग्निमण्डल सौरप्रकाश से अविच्छिन्नरूप से युक्त होकर ज्योतिर्म्मय बन रहा है, वही अदितिमण्डल है। जो अग्निमण्डल सौरप्रकाश से विच्छिन्न होकर तमोमय बन रहा है, वही दितिमण्डल है। अदितिमण्डलस्थ वही प्राणाग्नि ज्योतिर्म्मय बनता हुआ ज्योतिःप्रधान प्राणदेवताओं का दूत है, एवं दितिमण्डलस्थ वही प्राणाग्नि तमोमय बनता हुआ तमःप्रधान असुरप्राण का दूत है। देवाग्नि **'अग्नि'** नाम से प्रसिद्ध है, एवं असुराग्नि **'सहरक्षा'** नाम से प्रसिद्ध है—(देखिए शत० १।४।१।३४)।

आसुरभाव से सम्बन्ध रखने वाला पार्थिव तमोमय प्राण उसी पार्थिव प्रजापति का 'अवाङ्प्राण' है, दिव्यभाव से सम्बन्ध रखने वाला पार्थिव ज्योतिर्म्मय प्राण उसी का 'ऊर्ध्वप्राण' है। अदितिमण्डलावच्छिन्न ऊर्ध्वप्राण से देवसृष्टि हुई है, दितिमण्डलावच्छिन्न अवाङ्प्राण से आसुरी सृष्टि का विकास हुआ हैं (देखिए, शत० ११।१।६।८)। जिस अदितिभाग से देवसृष्टि का सम्बन्ध है, उसके स्तोमभेदभिन्न तीन लोक प्रसिद्ध हैं। स्वयं अदितिमण्डल एक पार्थिवमण्डल है। क्यों कि भूकेन्द्र से आरम्भ कर एकविंशस्थ सूर्य्य पर्य्यन्त (सूर्य्य से भी कुछ ऊपर तक, २२ वें अहर्गण पर्य्यन्त) पार्थिव प्राणाग्नि व्याप्त है। अवार-पारीण इसी प्राणाग्नि का

---

* अदिति, दिति के स्वरूप परिचय के लिए-शतपतब्राह्मणहिन्दीविज्ञानभाष्य का अष्टविध देवता-प्रकरण, एवं गीताभूमिकाकर्म्मयोगपरीक्षा-खण्डान्तर्गत 'अदितिमूला वर्णसृष्टि' नामक प्रकरण देखना चाहिए।

नाम 'प्रजापति' है, जिस का देव-भूत-लोक-वेद-छन्द-स्तोमादि-निर्म्माण में विलसन हुआ करता है। इस अविच्छिन्न धरातलस्थानीय प्राणाग्नि के आधार पर "त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंश" भेद से तीन स्तोमविभाग प्रतिष्ठित हैं। त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न पार्थिव प्रदेश इस अदितिमण्डलात्मक पार्थिव मण्डल का 'पृथिवीलोक' है, तदवच्छिन्न घनभावापन्न, अतएव 'अग्नि' नामक पार्थिव अग्नि 'लोकाधिष्ठाता' है, अष्टाक्षर गायत्रीछन्द से यह छन्दित है, प्रातःसवन का अधिष्ठाता है। पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न पार्थिव प्रदेश 'अन्तरिक्षलोक' है, तदवच्छिन्न तरलभावापन्न, अतएव 'वायु' नाम से प्रसिद्ध पार्थिव अग्नि लोकाधिष्ठाता है, एकादशाक्षर त्रिष्टुप्छन्द से यह छन्दित है, माध्यन्दिनसवन का अधिष्ठाता है। एकविंशस्तोमावच्छिन्न पार्थिव प्रदेश 'द्युलोक' है, तदवच्छिन्न विरलभावापन्न, अतएव 'आदित्य' नाम से प्रसिद्ध पार्थिव अग्नि लोकाधिष्ठाता है, द्वादशाक्षर जगतीछन्द से यह छन्दित है, सायंसवन का अधिष्ठाता है। पार्थिव अग्नि का आठ वसुगणरूप से, आन्तरिक्ष्य वायु का ग्यारह रुद्रगणरूप से, एवं दिव्य आदित्य का बारह आदित्यगणरूप से विकास हुआ है। प्रजापति मूल धरातल है, उस पर अग्नि-वायु-आदित्य नामक तीन मुख्य अतिष्ठावा देवता प्रतिष्ठित हैं। तीनों के आधार पर क्रमशः ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, ये ३१ गणदेवता प्रतिष्ठित हैं, साध्य नासत्य, दस्रप्राण ३३ संख्या के पूरक हैं। इसप्रकार अदितिगर्भमें ३३ प्राणदेवताओं की सत्ता सिद्ध हो जाती है +। देवताओं के अतिरिक्त तीनों लोक, तीनों छन्द, तीनों सवन भी इसी अदितिगर्भ में प्रविष्ट हैं।

'द्यौष्पितः पृथिवि मातर०" इत्यादि वैदिक परिभाषा के अनुसार पृथिवी शब्द 'माता' का सूचक है, 'द्यु' शब्द पिता का द्योतक है। उक्त अदितिमण्डल का ही त्रिवृत्प्रदेश पृथिवीलोक है। इस दृष्टि से इसी अदिति को 'माता' कहा जा सकता है। अदितिमण्डल का ही एकविंशप्रदेश द्युलोक है, एवं इस दृष्टि से इसी अदिति को 'पिता' कहा जा सकता है। ३३ देवता अदितिरस से ही समुद्भूत हैं, इस दृष्टि से इसी अदिति को 'पुत्र' भी माना जा सकता है। इसप्रकार भूकेन्द्र से २१ पर्य्यन्त व्याप्त अदितिमण्डल का सर्वरूपत्व सिद्ध हो जाता है। अदिति की इसी सर्वरूपता का स्पष्टीकरण करते हुए ऋषिने कहा है—

"अदितिर्द्यौः, अदितिरन्तरिक्षम्, अदितिर्म्माता, स पिता, स पुत्रः।
विश्वे देवा अदितिः, पञ्चजना, अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्"

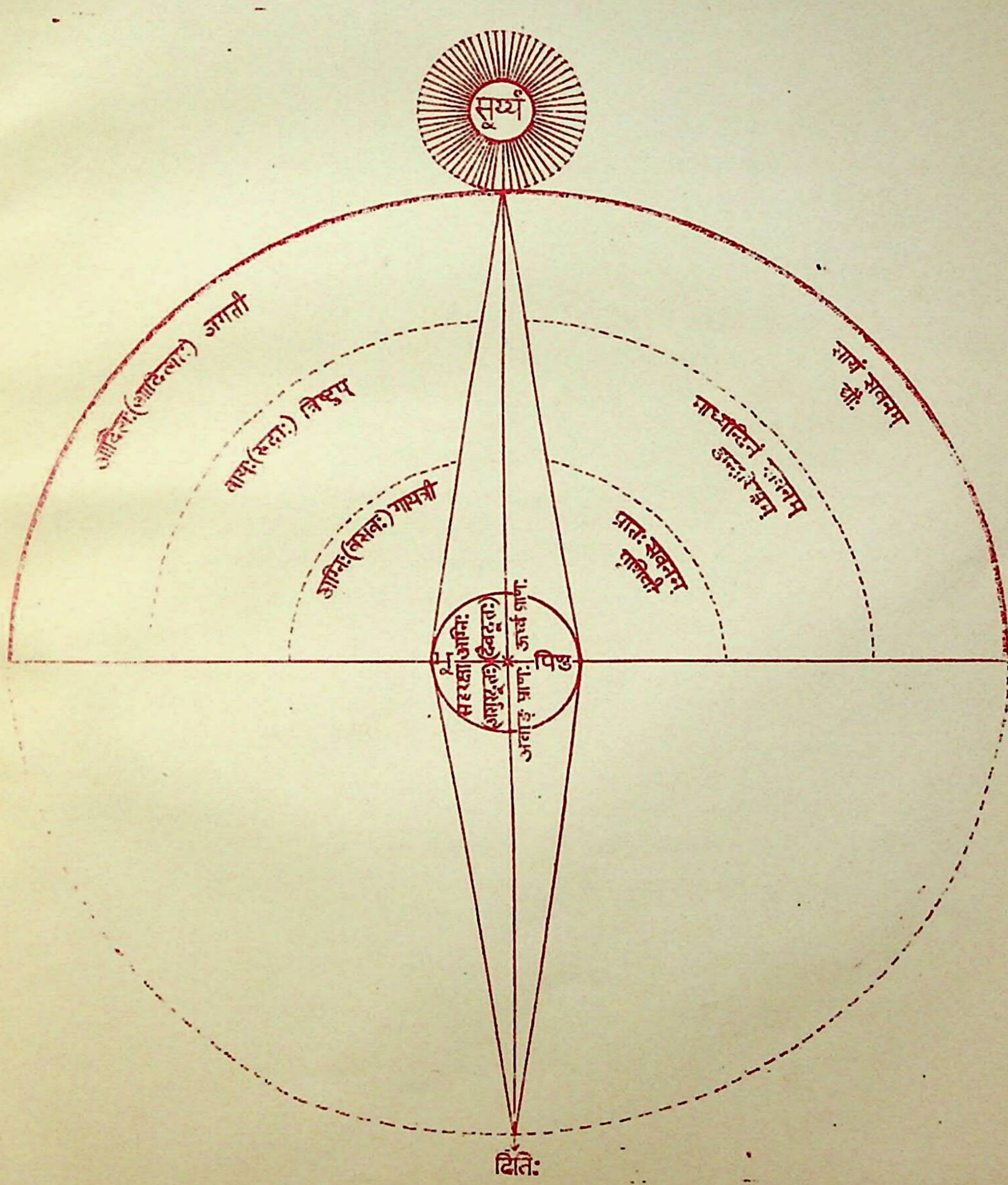
	त्रयस्तोमाः ३	त्रयो लोकाः ३	त्रयो देवाः ३	त्रयंस्त्रिंशद्गण देवाः ३३	त्रीणि छन्दांसि ३	त्रीणि सवनानि ३
अदितिः-	३-एकविंशस्तोमः (२१)	द्यौः	आदित्यः	आदित्याः	जगती	सायंसवनम्
	२-पञ्चदशस्तोमः (१५)	अन्तरिक्षम्	वायुः	रुद्राः	त्रिष्टुप्	माध्यन्दिनस०
	१-त्रिवृत्स्तोमः (९)	पृथिवी	अग्निः	वसवः	गायत्री	प्रातःसवनम्

+ अदित्यां जज्ञिरे देवास्त्रयस्त्रिंशदरिन्दम !
आदित्या (१२), वसवो (८), रुद्रा (११) अश्विनौ च परन्तप !" (वाल्मीकिः)।

(३७६, तथा ३७७ के मध्य में)

(३१)—सौर—अदितिमण्डलपरिलेख :—

—नमस्त्रिमूर्त्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टेः केवलात्मने—



८-संहिता के विविधरूप—

'अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः' इत्यादि श्रुति के अनुसार उक्त तीन अग्नि-वायु-आदित्य-लोकों से अतिरिक्त एक चौथा आपोलोक (सोम) है। बात यथार्थ में यह है कि, त्रयस्त्रिंशत् (३३) अहर्गणात्मक पार्थिव वषट्कारमण्डल में अग्नि-सोम, दोनों का भोग हो रहा है। ३३ के आधे भाग में (१६ पर्य्यन्त) तो अग्नि का साम्राज्य है, एवं आधे में (३३ पर्य्यन्त) सोम का साम्राज्य है। ३३ का केन्द्र १७ वाँ अहर्गण है। यही 'सप्तदश' नामक उद्गीथप्रजापति है। पूर्व की १६ अहर्गणसमष्टि 'उत्' है, उत्तर की १६ अहर्गण समष्टि 'थम्' है, मध्यस्थ १७ वाँ अहर्गण 'गीः' है, सम्पूर्ण समष्टि 'उद्गीथम्' है। भूकेन्द्रस्थ प्रजापति 'अनिरुक्त' है, वषट्कारमण्डलकेन्द्रस्थ सप्तदश प्रजापति 'उद्गीथ' है, एवं चतुस्त्रिंशप्रजापति 'सर्व' है। इसी त्रित्व के कारण ओङ्कारमूर्त्ति प्रजापति के-**'प्रणवोङ्कार, उद्गीथोङ्कार, सर्वोङ्कार'**, भेद से तीन विवर्त्त हो जाते हैं, जिनका ईशादिभाष्यों में विस्तार से उपबृंहण हुआ है।

तीनों प्रजापतियों में से प्रकृत में सप्तदशस्थानीय उद्गीथप्रजापति ही लक्ष्य है। सप्तदश स्थान पार्थिव-यज्ञ का 'आहवनीयकुण्ड है, तत्रस्थ दाहक प्राणाग्नि **'आहवनीयाग्नि' है**, १७ से ऊपर व्याप्त दाह्य सोम 'आहुतिद्रव्य' है। इस सोम की उस प्राणाग्नि में आहुति होती है। दाह्य सोमाहुति से दाहक अग्नि प्रज्वलित हो पड़ता है। यह प्रज्वलित अग्नि २१ वें अहर्गण पर्य्यन्त व्याप्त हो जाता है। इसप्रकार मूलस्थिति में १७ पर्य्यन्त रहने वाला अग्नि सोमाहुति के प्रभाव से २१ पर्य्यन्त चला जाता है। यही यज्ञाग्निमूर्त्ति विष्णु* के तीन विक्रम हैं। त्रिवृत् पहिला विक्रम है, पञ्चदश दूसरा विक्रम है, एकविंश तीसरा विक्रम है, जैसाकि शतपथभाष्यान्तर्गत 'वेदि-विज्ञानब्राह्मण' में विस्तार से प्रतिपादित है।

'पूर्वरूप, उत्तररूप, सन्धि, सन्धान' इन चारों पर्वों की समष्टि ही वैदिकपरिभाषा में **'संहिता'** नाम से व्यवहृत हुई है। ऐतरेय-आरण्यक में इन संहिताओं का विस्तार से निरूपण हुआ है। **'माण्डूकेय'** महर्षि के अनुसार 'वायु' संहिता है। क्योंकि अग्निस्थानीय पृथिवीलोक पूर्वरूप है, आदित्यस्थानीय द्युलोक उत्तररूप है, वायुस्थानीय अन्तरिक्षलोक सन्धि है, स्वयं वायु **"वायुर्वै गौतम! तत्सूत्रम्। वायुना वै गौतम! सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः, सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्ति"** (शत० १४।६।७।६।) इत्यादि के अनुसार सन्धाता है। चारों पर्वों की सम्मिलित अवस्था ही संहिता है। वायु ही इन चारों पर्वों के सह-समन्वय का कारण है, अतएव वायु को ही 'संहिता' उपाधि प्रदान की जा सकती है A।

'माक्षव्य' महर्षि के अनुसार 'आकाश' संहिता है। माक्षव्य का अभिप्राय यही है कि, वायु व्याप्य है, आकाश व्यापक है। आकाश से वायु का ग्रहण सिद्ध है, परन्तु वायु से आकाश का ग्रहण सम्भव नहीं है। त्रैलोक्यात्मिका संहिता की मूलप्रतिष्ठा एकायतनरूप आकाश ही है। वैसे भी वायुस्थानीय अन्तरिक्ष सन्धि ही

---

*-**"अग्निर्विष्णुः सर्वभूतान्यनुप्रविश्य प्राणान् धारयति"** (महा० शा० ३४२ अ० १५ गद्य)

A-**"अथातः संहिताया उपनिषत्। पृथिवी पूर्वरूपं, द्यौरुत्तररूपं, वायुः-संहितेति माण्डूकेयः"** (ऐ० आ० ३।१।)।

बन रहा है। सन्धाता चौथा पर्व होना चाहिए। वह आकाश ही बन सकता है। पृथिवी--अन्तरिक्ष--द्यौ--आकाश, चारों क्रमशः पूर्वरूप, सन्धि, उत्तररूप, एवं सन्धान हैं। सन्धाता आकाश ही संहिता की मूलप्रतिष्ठा है B।

'आगस्त्य' महर्षि ने दोनों पक्षों का समादर करते हुए यह सिद्धान्त व्यवस्थित किया है कि, माण्डूकपुत्र का वायु को संहिता मानना इसलिए सुसङ्गत है कि, सूत्रात्मारूप से वायु ही लोकसन्धाता बन रहा है। उधर मक्षुपुत्र का आदित्य को संहिता बतलाना भी निर्विरोध है। क्योंकि पाञ्चभौतिक सृष्टिधाराक्रम की अपेक्षा आकाश ही सबका एकायतन बनता हुआ सन्धाता बन रहा है। C।

"शूरवीर" नामक एक दूसरे माण्डूकेय महर्षिने आध्यात्मिक दृष्टि से संहिता का विचार करते हुए यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि, वाक् पूर्वरूप है, मन उत्तररूप है, प्राणस्थान सन्धि है, स्वयं प्राण सन्धाता हैं। शूरवीर का अभिप्राय यही है कि, वाक् अग्निप्रधान बनती हुई पृथिवी--स्थानीया है, अतएव इसे पूर्वरूप माना जा सकता है। चान्द्रमन सोमप्रधान बनता हुआ तृतीय द्युस्थानीय है, अतएव इसे उत्तररूप माना जा सकता है। नासाप्राण--वायुप्रधान बनता हुआ अन्तरिक्षस्थानीय है, अतएव इसे सन्धि, एवं सन्धानस्थानीय मानते हुए 'संहिता' माना जा सकता है।

शूरवीर के ज्येष्ठपुत्र इस सम्बन्ध में पिता से विपरीत सम्मति प्रकट करते हुए कहते हैं कि, मन पूर्वरूप है, वाक् उत्तररूप है। हम देखते हैं कि,--'यन्मनसा मनुते, तद्वाचमपिगच्छति' सिद्धान्त के अनुसार मानस संकल्प का ही वाक् के द्वारा बाह्य वातावरण में चित्रण होता है। पहिले मानस संकल्प है, अनन्तर वाग्व्यापार है। एवं इस दृष्टि से हम वाक् को पूर्वरूप न कह कर उत्तररूप कहेंगे, एवं मन को उत्तररूप न कह कर पूर्वरूप मानेंगे।

महर्षि ऐतरेय दृष्टिकोण--भेद से दोनों पक्षों का समर्थन करते हुए अपना यह अभिप्राय व्यक्त कर रहे हैं कि, ऐन्द्रियकदृष्टि से शूरवीर का वाक् को पूर्वरूप, मन को उत्तररूप बतलाना यथार्थ है। अग्निप्रधान वागिन्द्रिय, वायुप्रधान प्राणेन्द्रिय, सोमप्रधान इन्द्रियमन, तीनों की क्रमशः 'मुख--नासिका--ब्रह्मरन्ध्र' स्थानों में प्रतिष्ठा है। मुख पूर्वभाग है, ब्रह्मरन्ध्र उत्तरभाग है, नासिका मध्यभाग है। इस दृष्टि से शूरवीर का सिद्धान्त मान्य है। एवं आत्मदृष्टि से शूरवीर के ज्येष्ठपुत्र का सिद्धान्त सुव्यस्थित है। मनःप्राणवाङ्मयी आत्मसंस्था में 'मन--प्राण--वाक्' यह क्रम है। मनसे संकल्प का उदय होता है, यही कामना है। संकल्पानुसार प्राणव्यापार होता है, यही तप है। प्राणव्यापारानन्तर वाग्व्यापार (भूतव्यापार) होता है, यही श्रम है। इस दृष्टि से मन पूर्वरूप है, वाक् उत्तररूपर है।

B "आकाशः संहिता' इति--अस्य माक्षव्यो वेदयाञ्चक्रे। स ह्यविपरिहितो मेने। न मेऽस्य पुत्रेण समगात्' इति"। (ऐ० आ० ३।१।१।)।

C "समाने वै तत् परिहितो मेने--इत्यागस्त्यः। समानं ह्येतद्भवति, वायुश्चाकाशश्च, इति" (ऐ० आ० ३।१।)। इत्यधिदैवतम्।

अथवा केवल ऐन्द्रियक दृष्टि से भी दोनों पक्षों का समर्थन किया जा सकता है। स्थितिदृष्टि से शूरवीर का पक्ष ठीक है। क्योंकि स्थितिक्रमानुसार 'वाक्-प्राण-मन' यह संस्थान है। व्यापारदृष्टि से ज्येष्ठ-पुत्र का कथन निर्विरोध है। क्योंकि व्यापारकाल में मन पहिले है, वाणी का उच्चारण पीछे है। इसी आध्यात्मिक संहिता का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् ऐतरेय कहते हैं—

> "अथाध्यात्मम्-वाक् पूर्वरूपं, मन उत्तररूपं, प्राणः संहितेति शूर-वीरो माण्डूकेयः। अथ हास्य पुत्र आह-ज्येष्ठः-मनः पूर्वरूपं, वागुत्तररूपम्। मनसा वा अग्रे संकल्पयति, अथ वाचा व्याहरति। तस्मान्मन एव पूर्वरूपं, वागुत्तररूपं, प्राणस्त्वेव संहितेति। समान-मेनयोरत्र पितुश्च, पुत्रस्य च"।
>
> (ऐ०आ० ३।२।१।)।

'इति नु माण्डूकेयानाम्' इस ऐतरेय वचन के अनुसार उक्त आधिदैविक, आध्यात्मिक संहिताएँ मण्डूकमहर्षि की सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखतीं हैं। महर्षि 'शाकल्य' दूसरे ही दृष्टिकोण से इन संहिताओं का समन्वय कर रहे हैं। उनका कहना है कि, पृथिवी पूर्वरूप है, द्यौ उत्तररूप है, वृष्टि (पानी-आन्तरिक्ष्य जल) सन्धि है, पर्जन्य (जलवर्षक सौम्य वायु) सन्धाता है। चारों की समष्टि आधिदैविक संहिता है। इन्द्र के वज्रप्रहार से जब जलावरोधक 'नमुचि*' नामक आसुर अश्माप्राण का संघात टूट जाता है, तो जलवर्षक पर्जन्यवायु (मान्सून) बलवान् बन जाता है। अहोरात्र वृष्टिमय बन जाते हैं। मूसलधार वृष्टि के समय ऐसा प्रतीत होने लगता है, मानो पृथिवी और द्यु (जमीन, आसमान) मिलकर एक हो गए हों। जल-थल का भी (अन्तरिक्ष और पृथिवी का भी) भेद जाता रहता है। इसप्रकार वृष्टिकाल इस पर्वचतुष्ट्यात्मिका आधिदैविकी संहिता का प्रत्यक्ष निदर्शन बन जाता है +।

पुरुष का निर्म्माण इसी आधिदैविकी संहिता से हुआ है। अतएव इस में भी संहिता के चारों पर्व ज्यों के त्यों प्रतिष्ठित हैं। पुरुषशरीर के त्रैलोक्यस्वरूप का अनेक प्रकार से समन्वय किया जा सकता है। पहिले 'अर्द्धवृगल' दृष्टि से ही विचार कीजिए। ईश्वरीय देवसत्यात्मक साक्षी सुपर्ण जहाँ पूरे खगोल को

---

* "अपां फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रोदवर्त्तयः, विश्वा यदजयः स्पृधः"
(ऋक्सं० ८।१४।१३।)।

"पाप्मा वै नमुचिः" (शत० १२।७।३।४।)—'न मुञ्चति-आपः-इति नमुचिः-अश्मासोमः)।

\+ "अथ शाकल्यस्य-पृथिवी पूर्वरूपं, द्यौरुत्तररूपं, वृष्टिः सन्धिः, पर्जन्यः सन्धाता। तदुताऽपि यत्रैतद्बलवदनुदृगृह्णन्त्संदधत्-अहोरात्रे वर्षति। 'द्यावापृथिवीव्यौ समधातां' इत्युताप्याहुः। इति न्वधिदैवतम्"। (ऐ० आ० ३।१।२)।

अपनी स्वरूपप्रतिष्ठा बनाता हुआ पूर्णेन्द्र है, सर्वतः पाणिपादादिशिरोमुख है, वृत्तौजा (वर्तुलाकार) है, वहाँ अर्द्ध खगोलीय रस से कृतरूप पुरुष अर्द्धेन्द्र है, नियत पाणिपादादिशिरोमुख है, अर्द्धवृत्ताकाराकारित है। सूर्य्यानुगृहीत आधे अग्निप्रधान दृश्य कश्यप-रस से पुरुष का निर्म्माण हुआ है, चन्द्रानुगृहीत आधे सोमप्रधान कश्यप-रस से स्त्री का निर्म्माण हुआ है। सूर्य्यानुगत अहःकाल पुरुषसंस्था की प्रतिष्ठा है, चन्द्रानुगत रात्रिकाल स्त्रीसंस्था की प्रतिष्ठा है।

दृश्य अर्द्ध खगोलात्मक पुरुष बाह्यसंस्थानुगत है, अदृश्य अर्द्ध खगोलात्मिका स्त्री अन्तःसंस्थानुगता है। बाह्यक्षेत्र में पुरुष की प्रधानता है, गृह्यक्षेत्र में स्त्री की प्रधानता है। पुरुष में दिव्यसंस्थानुगत सौर अग्नि का प्राधान्य है, अतएव इसे 'द्यु' लोक माना जा सकता है। स्त्री में पार्थिव संस्थानुगत चान्द्रसोम का प्राधान्य है, अतएव इसे 'पृथिवी' लोक माना जा सकता है। खगोलमध्यस्थ विषुवद्वृत्त (इक्वेटर) ही मेरुदण्ड का निर्म्मापक है। अर्द्ध मेरुदण्ड पुरुष में है, अर्द्ध मेरुदण्ड स्त्री में है। स्वतन्त्र रहते हुए दोनों अर्द्धेन्द्र हैं, अर्द्धवृगल (समानरूपात्मक विभक्त खण्ड) हैं। 'सोऽयमाकाशः पत्न्यापूर्य्यते' के अनुसार पुरुष के आधे आकाश की पूर्त्ति स्त्री-सम्बन्ध पर निर्भर है। दाम्पत्यभाव ही दोनों की पूर्णेन्द्रता का अधिष्ठाता है *। इस परिस्थिति के आधार पर यह कहा जा सकता है कि, पार्थिवतत्त्वप्रधाना स्त्री पूर्वरूप है, सौरतत्त्वप्रधान पुरुष उत्तररूप है, दाम्पत्यभाव का फलस्वरूप पुत्र सन्धि है, प्रजननकर्म्म सन्धाता है, चारों की समष्टि आध्यात्मिक-संहिता है। पुरुष द्युलोक है, स्त्री पृथिवीलोक है, पुत्र अन्तरिक्षलोक है। इसप्रकार 'नारी-नर' के समन्वित-रूप में त्रैलोक्य का समन्वय हो रहा है।

अब केवल पुरुषस्वरूप में हीं संहिता का समन्वय देखिए। अपान, व्यान, उदान, प्राणभेदसे शरीर में पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, तीनों लोक प्रतिष्ठित हैं। मूलग्रन्थि, एवं नाभि दोनों के मध्य में पार्थिव अपान-प्राण का सञ्चार है। शिरः, कण्ठ, दोनों के मध्य में तैजसनाड़ी के द्वारा दिव्य उदानप्राण का संचार है। नाभि-हृदय, दोनों के मध्य में आन्तरिक्ष्य वायव्य प्राणका सञ्चार है। अपानप्राणभूमि उत्तररूप है, व्यानप्राणभूमि सन्धि है, हृदय में उक्थरूप से व्याप्त, किन्तु सर्वाङ्गशरीर में अर्क (रश्मि) रूप से व्याप्त व्यानवायु सन्धाता है। चारों की समष्टि आध्यात्मिक संहिता है।

उदरगुहा, उरोगुहा, शिरोगुहा, तीनों को क्रमशः पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यु लोक माना जा सकता है। उदरगुहा में पार्थिवाग्निप्रधान चतुर्विधान्नपाचक अर्थमूर्त्ति 'वैश्वानर' प्रतिष्ठित है। उरोगुहा में आन्तरिक्ष्य वायुप्रधान क्रियामूर्त्ति 'तैजस' प्रतिष्ठित है। एवं शिरोगुहा में दिव्य आदित्यप्रधान ज्ञानमूर्ति 'प्राज्ञ' प्रतिष्ठित हैं। वैश्वानर पूर्वरूप है, प्राज्ञ-उत्तररूप है, तैजस सन्धि है, वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ-कृतमूर्त्ति, अतएव त्रिमूर्त्ति, कर्म्मभोक्ता कर्म्मात्मा सन्धाता है। चारों की समष्टि आध्यात्मिक संहिता है।

---

* इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन 'गीताविज्ञानभाष्यभूमिका' द्वितीयखण्ड के 'ग' विभागात्मक 'कर्म्मयोगपरीक्षा' खण्ड के 'संस्कारविज्ञानान्तर्गत'-'विवाहसंस्कारोपपत्ति' प्रकरण में देखना चाहिए।

'मूलरन्ध्र, मध्यरन्ध्र, ऊर्ध्वरन्ध्र' इन तीनों रन्ध्रों की प्रतिष्ठा क्रमशः शिश्न, हृदय, चक्षु, माने गए हैं। मूलरन्ध्र पृथिवी है, मध्यरन्ध्र अन्तरिक्ष है, ऊर्ध्वरन्ध्र द्युलोक है। जिस प्रकार पृथिवी में 'अग्निज्योति', अन्तरिक्ष में (वायु–सोमगर्भित) 'विद्युज्ज्योति', द्युलोक में 'आदित्यज्योति' प्रतिष्ठित है। एवमेव मूलरन्ध्र (मूलग्रन्थि) की प्रतिष्ठारूप शिश्न अग्निज्योतिप्रधान है, मध्यरन्ध्र की प्रतिष्ठारूप हृदय विद्युज्ज्योतिःप्रधान है, एवं ऊर्ध्वरन्ध्र (ब्रह्मरन्ध्र) की प्रतिष्ठारूप चक्षु आदित्यज्योतिप्रधान है। मूलरन्ध्रात्मक पृथिवीलोक पूर्वरूप है, ऊर्ध्वरन्ध्रात्मक द्युलोक उत्तररूप है, मध्यरन्ध्रात्मक अन्तरिक्षलोक सन्धि है, व्याप्त प्राणाग्नि सन्धाता है, चारों की समष्टि आध्यात्मिक संहिता है।

वहाँ जैसे द्युलोक में आदित्य प्रतिष्ठित है, तद्वत् यहाँ द्युलोकस्थानीय ऊर्ध्वरन्ध्रप्रदेश (शिरोमण्डल) में चक्षु प्रतिष्ठित हैं। वहाँ जैसे अन्तरिक्ष में वायुलक्षण विद्युत् प्रतिष्ठित है, तद्वत् यहाँ अन्तरिक्षस्थानीय मध्यरन्ध्रप्रदेश में (हृदयाकाश में) हृदयरूप विद्युत् प्रतिष्ठित है। वहाँ जैसे पृथिवी में अग्नि–प्रतिष्ठित है, तद्वत् यहाँ मूलरन्ध्रप्रदेशस्थ उपस्थ में सारवद् रेत प्रतिष्ठित है। श्री सायणाचार्य्य ने पाद से आरम्भ कर अधरोष्ठ पर्यन्त पृथिवीलोक माना है, उत्तरोष्ठ से आरम्भकर केशान्तपर्य्यन्त द्युलोक माना है, मुखविवर को अन्तरिक्षलोक माना है। और अपना यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि, जैसे ब्रह्माण्ड के पृथिवी–द्युरूप दो दल सर्वथा विभक्त प्रतीत हो रहे हैं, एवमेव अधरोष्ठ, उत्तरोष्ठ रूप से शरीर में भी दो दल विभक्त प्रतीत हो रहे हैं। कल्पना सुन्दर है, परन्तु–'एवमिदमात्मनि हृदयम्' इस वाक्य से विरुद्ध जाती हुई प्रौढिवादग्रस्त है। 'चत्वार आत्मा' के अनुसार पक्षपुच्छशिरो–व्यतिरिक्त मध्यस्थ शरीरयष्टि आत्मा है, इसी दृष्टि से 'आत्मा वै तनूः' (शत० ६।७।२।६।) यह कहा गया है। हृदय को अन्तरिक्ष मानने वाली श्रुति का समन्वय मुखविवर से कैसे हो गया ?, इस प्रश्न की मीमांसा व्यर्थ है। वक्तव्य प्रकृत में यही है कि, आध्यात्मिक संहिता का अनेक दृष्टियों से समन्वय किया जा सकता है। इसी संहिता का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् ऐतरेय कहते हैं—

"अथाध्यात्मम्–पुरुषो ह वा अयं सर्वं आन्दं द्वे विदले भवतः-इत्याहुः। तस्येदमेव पृथिव्या रूपं, इदं दिवः। तत्रायमन्तरेणाकाशः (हृदयाकाशः), यथासौ द्यावापृथिव्यावन्तरेणाऽऽकाशः। तस्मिन्हास्मिन्नाकाशे प्राण आयत्तः, यथाऽमुष्मिन्नाकाशे वायुरायत्तः। यथाऽमूनि त्रीणि ज्योतींषि, एवमिमानि पुरुषे त्रीणि ज्योतींषि। यथासौ दिव्यादित्यः, एवमिदं शिरसि चक्षुः। यथाऽसावन्तरिक्षे विद्युत्, एवमिदमात्मनि (मध्यशरीरयष्टौ) हृदयम्। यथाऽयमग्निः पृथिव्याम्, एवमिदमुपस्थे रेतः। एवमु ह स्म सर्वलोकमात्मानमनुविधायाऽऽह। इदमेव पृथिव्या रूपम्, इदं दिवः। स य एवमेतां संहितां वेद, सन्धीयते प्रजया पशुभिर्यशसा ब्रह्मवर्चसेन स्वर्गेण लोकेन। सर्वमायुरेति"।

(ऐ० आ० ३।१।२।)।

सामरहस्यवेत्ता भगवान् 'ताण्ड्य' ने 'सामातिमानसंहिता' का विश्लेषण किया है। पार्थिव साम रथन्तर है, सौरसाम बृहत् है। दोनों स्वतन्त्र दो संहिता हैं। दोनों के साम अतिमानसम्बन्ध से परस्पर ओत-

प्रोत हैं। फलतः दोनों संहिता मिल कर सामातिमानात्मिका एक द्यावापृथिव्य-संहिता बन जाती है, जैसाकि पूर्वप्रकरण के सामातिमानपरिच्छेद में विस्तार से बतलाया जा चुका है। बृहद्रथन्तरात्मिका संहिता आधिदैविक संहिता है, वाक्-प्राणात्मिका संहिता आध्यात्मिक संहिता है। हमारी वागिन्द्रिय पार्थिव आग्नेय रथन्तरसाम की, एवं प्राण सौर बृहत्साम की प्रतिकृति है। वाक्-प्राण दोनों के सन्धान से ही आध्यात्मिक संहिता का स्वरूप निष्पन्न हुआ है। *A*

इसी आध्यात्मिक वाक्-प्राणसंहिता को महर्षि कौण्ठरव्य 'अवरपरासंहिता' बतला रहे हैं। उनका कहना है कि, वाक् प्राण से संहित है, प्राण दिव्य पवमानसाम से, पवमानसाम विश्वेदेवों से, विश्वेदेव स्वर्ग से, स्वर्ग परब्रह्म से संहित है। यज्ञप्रयोग से अवरसंहिता के द्वारा परःसन्निकर्ष प्राप्त करते हुए अन्त में परब्रह्मसंहिता से आध्यात्मिक संस्था का योग हो जाता है। *B*

महर्षि 'पञ्चालचण्ड' ने वाक्संहिता' का स्पष्टीकरण किया है। आपका कहना है कि, संहिता की मूलप्रतिष्ठा 'वाक्' तत्त्व ही है। मनःप्राणवाङ्मय आत्मा ने अर्थप्रधाना वाक् के आधार पर ही सर्वत्र योग कर रक्खा है। मनःप्राण असङ्ग हैं, अमूर्त हैं। अतएव इनका किसी से साक्षात् योग नहीं हो सकता। भूतमात्रालक्षणा, मूर्त्ता वाक् के द्वारा ही इनका योग सम्भव है। अतएव यच्च यावत् संहिताओं को हम 'वाक्संहिता' ही कहेंगे। स्वायम्भुवी सत्यावाक् के द्वारा ही ऋक्-यजुः-सामात्मक तीनों वेदों का परस्पर सन्धान हुआ है। वाङ्मय वषट्कारमण्डल ही वेदसाहस्री की प्रतिष्ठा है। गायत्र्यादि सातों छन्दों (अहोरात्रवृत्तों) का परस्पर में सौरी गौरीविता वाक् के आधार पर ही संधान हुआ है। शब्दात्मिका वाक् से, एवं अर्थरूपा (वस्तूपहाररूपा) वाक् के आदान प्रदान से ही मित्रों का परस्पर संधान होता है। सर्वव्यापिका, आपोमयी, मनःप्राणगर्भिता आम्भृणी पारमेष्ठिनी वाक् से ही आपोमय भूतों का परस्पर संधान हुआ है। कहाँ तक गिनावें-सर्वत्र इसी वाक्संहिता का साम्राज्य है। आध्यात्मिक-वाक्संहिता में वाक्-प्राण का माता-पुत्र सम्बन्ध है। मन पिता है, वाक् माता है, प्राण पुत्र है। मनोवाक् रूपा वर्त्तनी में प्राणपुत्र प्रतिष्ठित है। मनोयुक्ता वाङ्मयी माता कभी अपने पुत्र प्राण को चाटती रहती है, कभी पुत्रप्राण माता वाक् को चाटता रहता है। माता पुत्र के सहज श्रद्धा-वात्सल्य प्रेम का यह एक अपूर्व निदर्शन है। स्वाध्यायकाल में, अथवा सामान्य वाग्व्यापार काल में (वैदिक तथा लौकिक वाक् प्रयोगकाल में) प्राण वाक् में डूबा रहता है, प्राणपुत्र माता वाक् को चाटता रहता है। एवं सुषुप्ति-अवस्था में, तथा मौन समय में वाक् प्राण में लीन रहती है, वाक्-माता प्राणपुत्र को चाटती रहती है। वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञलक्षण पार्थिव-आन्तरीक्ष्य-दिव्य प्राणात्मक, प्राणत्रयी-मूर्त्ति

A -"बृहद्रथन्तरयो रूपेण संहिता सन्धीयते, इति ताक्ष्र्यः। वाग्वै रथन्तरस्य रूपं,प्राणो-बृहतः। उभाभ्यां-उ-खलु संहिता सन्धीयते-वाचा च, प्राणेन च-इति"।
(ऐ० आ० ३।१।६।)।

B -"वाक् प्राणेन संहिता-इति कौण्ठरव्यः, प्राणः पवमानेन, पवमानो विश्वैर्देवैः, विश्वे देवाः स्वर्गेण लोकेन, स्वर्गो लोको ब्रह्मणा। सैषा 'अवरपरसंहिता"।
(ऐ० आ० ३।१।६।)।

कर्म्मभोक्ता सुपर्ण (जीव-प्राणी) शुक्र-शोणितात्मक मातापिता के आपोमय समुद्र में प्रविष्ट होकर अन्नरूप से ही पुरुषाकार रूप में परिणत होता है, जैसाकि, 'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' इत्यादि छान्दोग्य वचन से स्पष्ट है। आपोमय समुद्र में प्रविष्ट इस प्राणात्मक सुपर्ण को पूर्वकथनानुसार वाङ्-मयी माता वात्सल्यपूर्वक मनोभाव से चाटती रहती है, यह भी उसे चाटता रहता है। यही वाक्संहिता का संक्षिप्त इतिवृत्त है। पञ्चालचण्ड की इसी वाक्संहिता का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् ऐतरेय कहते हैं—

"वाक् संहिता-इति पञ्चालचण्डः। वाचा (स्वा० सत्यवाचा) वै वेदाः सन्धीयन्ते, वाचा (सौरवाचा) छन्दांसि, वाचा (अनुष्टुप्-वाचा) मित्राणि संदधति, वाचा (पार० आम्भृण्या वाचा) सर्वाणि भूतानि। अथो वागेवेदं सर्वम्। तद्यत्रैतदधीते (वैदिकीं वाचं प्रयुङ्क्ते), वा भाषते वा (लौकिकीं 'वाचं' प्रयुङ्क्ते वा), वाचि तदा प्राणो भवति। वाक् तदा प्राणं रेहि्ल। अथ यत्र तूष्णीं वा भवति, स्वपिति वा, प्राणे तदा वाग् भवति। प्राणस्तदा वाचं रेहि्ल। तावन्योऽन्यं रीहलः। वाग्वै माता, प्राणः पुत्रः। तदेतद् ऋषिणोक्तम्—(ऐ० आ० ३।१।६।)।

एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश स इदं विश्वं (शरीरं) भुवनं विचष्टे।
तं पाकेन मनसाऽपश्यमन्तितस्तं माता रेह्लि स उ रेह्लि मातरम् ॥
(ऋक्० सं० १०।११४।४।)

६-व्यासदेव की वेदसंहिता, और पुराणसंहिता—

वेदसंहिता के प्रसङ्ग से विविध संहिताओं का दिग्दर्शन कराना पड़ा। अब प्रकृत विषय की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। शब्दात्मिका वेदसंहिताओं का नाम 'संहिता' क्यों हुआ ?, इस प्रश्न का समाधान प्राचीन सम्प्रदाय यह करता है कि, भगवान् व्यास के समय में ऋग्-यजुः-साम-अथर्वमन्त्र तत्तद्-द्रष्टा ऋषिवंशों में प्रतिष्ठित थे। बदरिकाश्रम में बैठ कर भगवान् व्यास ने उन सब मन्त्रों का संग्रह किया, एवं उन्हें चार संहिताओं का रूप दिया। क्योंकि व्यास ने इनका एकत्र संकलन कर इन्हें सुव्यवस्थित रूप दिया, इसी संकलन से संघातभाव से इन्हें 'संहिता' नाम से व्यवहृत किया गया। इन वेदसंहिताओं को अपने प्रिय शिष्यों में क्रमशः प्रतिष्ठित किया।

पूर्व में यह बतलाया गया है कि, वेदशाखा-विभाग का कारण अध्ययन-सम्प्रदाय भेद माना जा रहा है। परन्तु कूर्म्मपुराण के अवलोकन से यह निष्कर्ष निकलता है कि, जिस प्रकार 'वेदसंहिता' का स्वरूप व्यास ने व्यवस्थित किया था, एवमेव शाखाविभाग भी इन्हीं की ओर से व्यवस्थित हुआ था। यही क्यों, वहां तो यह भी स्पष्ट किया गया है कि, पहले केवल एक 'यजुर्वेद' ही था। उसीका यज्ञकर्म्म के भेद से ऋक्-यजुः-साम-अथर्वरूप से हौत्र-आध्वर्य्यव-औद्गात्र-ब्रह्मत्व-कर्म्मसिद्धि के लिए चार वेदों में विभाग किया गया। यजुर्वेद को सर्ववेदमय बतलाना उस रहस्यात्मक तत्त्ववेद से ही सम्बन्ध रखता है। 'ऋक्सामे यजुरपीतः'

इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार वयोनाधलक्षण ऋक्-साम भी यजु के आधार पर ही प्रतिष्ठित हैं, एवं सामात्मक भृग्वङ्गिरोमय अथर्ववेद भी यजुरग्नि की अन्नाद सीमा में भुक्त होता हुआ तद्ग्रहण से ही गृहीत है। सङ्केतरूप से इसी तत्ववेद का रहस्य सूचित करने के लिए पुराणकार ने-"एक आसीद् यजुर्वेदस्तत-चतुर्द्धा व्यकल्पयत्" यह कह दिया है। ऋषिवंशों में सुरक्षित वेदमन्त्रों को चार संहिताओं का रूप प्रदान करना, प्रत्येक की क्रमशः '२१-१०१-१०००-९' शाखाएँ व्यवस्थित करना व्यासदेव का ही कर्म्म है, यह निःसंदिग्ध है।

सशाख-चतुर्वेद संहिताओं के अतिरिक्त सर्वप्रथम भगवान् बादरायण ने उस 'पुराणसंहिता' का भी आविर्भाव किया, जिसमें-सृष्टि[1], प्रतिसृष्टि[2], वंश[3], वंशानुचरित[4], आख्यान[5]*, उपाख्यान[6], मन्वन्तर[7], गाथा[8], कल्पशुद्धि[9], मन्त्र[10], तन्त्र[11], यन्त्र[12], डामर[13], यामल[14], सिद्धान्त[15], वेदचरित्र[16], ज्यौतिष्चक्र[17], भुवनकोश[18]," इन अठारह पर्वों का समावेश हुआ। इन अठारह पर्वों के समावेश से ही पुराण 'अष्टादशपर्वात्मक' कहलाया। जिस प्रकार वेदमन्त्र व्यास की अपनी कृति नहीं है, एवमेव पुराणोक्त वैज्ञानिक आख्यान भी व्यास की अपनी कृति नहीं है। ये पौराणिक वैज्ञानिक आख्यान वेदमन्त्रों से भी प्राचीन हैं। वैदिकमन्त्र-ब्राह्मणोक्त आख्यानों की मूलप्रतिष्ठा गाथात्मक ये ही पुराणाख्यान हैं, जैसाकि-'एतद्ध सौपर्णकमाख्यानमाख्यानविद आचक्षते" इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है। इसी दृष्टि से इन पुराणाख्यानों को हम वेद से भी प्राचीन मानने के लिए सन्नद्ध हैं। यही पुराणशास्त्र का पुराणत्व (प्राचीनत्व) है A। वेदसंहिता, तथा पुराणसंहिताओं के सम्बन्ध में भेद केवल यही है कि, वेदसंहिता की भाषा व्यास की नहीं है, किन्तु पुराणसंहिता की भाषा व्यास की है। आख्यानदृष्टि से पुराणशास्त्र वेद से भी प्राचीन है। किन्तु व्यासभाषामयी पुराणसंहिता अर्वाचीन है। जिस प्रकार चार वेदसंहिताओं के लिए 'पैल, वैशम्पायन, सुमन्तु, जैमिनि' नामक चार शिष्य बनाए थे, एवमेव अष्टादशपर्वात्मिका पुराणसंहिता, एवं अष्टादशपर्वात्मक भारत के लिए सूत को प्रधान शिष्य बनाया गया था।

सनातनधर्म्मावलम्बी जगत् की, यह मान लेने में कोई भी क्षति नहीं है कि, सृष्टितत्वप्रतिपादक १-नारद[1], २-भागवत[2], ३-वायु[3], ४-विष्णु[4] ५-पद्म[5], ६-ब्रह्म[6], ये ६ पुराण, मतवादप्रतिपादक १-मार्कण्डेय[7], २-आग्नेय[8], ३-भविष्य[9], ४-ब्रह्मवैवर्त्त[10], ये ४ पुराण, अवतारवादप्रतिपादक १-लिङ्ग[11], २-वराह[12], ३-स्कन्द[13], ४-वामन[14], ५-कूर्म्म[15], ६-मत्स्य[16], ये ६ पुराण, आयतीवादप्रतिपादक गरुड़पुराण[17], तथा आयतनवादप्रतिपादक ब्रह्माण्डपुराण[18], ये अठारह पुराण पुराणरहस्यवेत्ता 'सूत' की ही कृति हैं। विषय सब व्यास का है, इसलिए तो-'अष्टादशपुराणानां कर्त्ता सत्यवतीसुतः' निर्बाध है। एवं भाषा सूत की है, इसलिए सूत इनके कर्त्ता मानें जा सकते हैं। अस्तु इन सब विषयों का

---

*-आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिः कल्पशुद्धिभिः।
पुराणसंहितां चक्रे भगवान् बादरायणः॥

A-पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः॥

सोपपत्तिक निरूपण तो 'पुराणरहस्या' दि अन्य निबन्धों में ही देखना चाहिए। प्रकृत में इस पुराण प्रसङ्ग से यही बतलाना है कि, वेदसंहितावत् अष्टादशपर्वात्मिका व्यासरचित पुराणसंहिता भी इतर शाखावेदसंहिताओं की भाँति विलुप्त हो चुकी है। संहिता नामकरण का मुख्य आधार व्यास का मन्त्रसंकलन है, निम्नलिखित वचन यही प्रमाणित कर रहे हैं।

१—अष्टाविंशे पुनःप्राप्ते ह्यस्मिन् वै द्वापरे द्विजाः।
पराशरसुतो व्यासः कृष्णद्वैपायनोऽभवत् ॥

२—य एकः सर्ववेदानां पुराणानां प्रदर्शकः (न तु कर्त्ता-द्रष्टा वा)।
पाराशर्यो महायोगी कृष्णद्वैपायनो हरिः ॥

३—आराध्य देवमीशानं दृष्ट्वा साम्बं त्रिलोचनम्।
तत् प्रसादादसौ व्यासो वेदानामभवत् प्रभुः ॥

४—अथ शिष्यान् प्रजग्राह चतुरो वेदपारगान्।
जैमिनिञ्च, सुमन्तुञ्च, वैशम्पायनमेव च ॥

५—पैलं तेषां चतुर्थञ्च, पञ्चमं मां महामुनिः। (मां-सूतम्)।
ऋग्वेदश्रावकं पैलं प्रजग्राह महामुनिः ॥

६—यजुर्वेदप्रवक्तारं वैशम्पायनमेव च।
जैमिनिं सामवेदस्य श्रावकं सोऽन्वपद्यत ॥

७—तथैवाथर्ववेदस्य सुमन्तुमृषिसत्तमम्।
इतिहासपुराणानि प्रवक्तुं मामयोजयत् ॥

८—"एक आसीद्यजुर्वेदस्तच्चतुर्द्धा व्यकल्पयत्"
चातुर्होत्रमभूद्यस्मिंस्तेन यज्ञमथाकरोत्।

---

*"अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म्म" (मुण्डकोपनिषत्) के अनुसार यज्ञकर्म्म के भी १८ पर्व हैं, 'स सप्तदशकेनापि राशिना युज्यते पुनः" (महाभारत) के अनुसार जीवात्मप्रपञ्च भी १८ भागों में ही विभक्त है। पुराण के विषय भी १८ हीं है, स्वयं पुराण भी १८ ही हैं। महाभारत के भी १८ ही पर्व हैं, महाभारत की उज्ज्वल निधि गीता के भी १८ ही अध्याय हैं। अवश्य ही ६ की भांति १८ संख्या भी एक रहस्यपूर्ण संख्या है, जिसका गीताविज्ञानभाष्यभूमिका के 'बहिरङ्गपरीक्षात्मक' प्रथम खण्ड में दिग्दर्शन कराया गया है।

९—आध्वर्य्यं यजुर्भिस्यादृग्भिर्होत्रं द्विजोत्तमाः ।
औद्गात्रं सामभिश्चक्रे ब्रह्मत्वञ्चाप्यथर्वभिः ॥

१०-ततः स ऋच उद्धृत्य ऋग्वेदं कृतवान् प्रभुः ।
यजूंषि च यजुर्वेदं सामवेदञ्च सामभिः ॥

११-एकविंशतिभेदेन ऋग्वेदं कृतवान् पुरा ।
शाखानान्तु शतेनाथ यजुर्वेदमथाकरोत् ॥

१२-सामवेदं सहस्रेण शाखानाञ्च विभेदतः ।
अथर्वाणमथो वेदं बिभेद नवकेन तु ॥

१३-भेदैरष्टादशैर्व्यासः पुराणं कृतवान् प्रभुः ।
योऽयमेकश्चतुष्पादो वेदः पूर्वं पुरातनात् ॥

१४-इत्येतदक्षरं वेद्यमोङ्कारं वेदमव्ययम् ।
अत्रेदञ्च विजानाति पाराशर्य्यो महामुनिः ॥

(कूर्म्मपुराण, ४९ अध्याय) ।

उक्त कूर्म्मसिद्धान्त सर्वथा व्यवस्थित है । इस सम्बन्ध में जिज्ञासा केवल शेष यही रह जाती है कि, शाखवेदशास्त्र के शाखाविभाग विशुद्ध कल्पना है ?, अथवा इस कल्पना के मूल में कोई तत्त्व अन्तर्निहित है ? । वैज्ञानिक समाधान करते हैं कि, मन्त्रों के एकत्र संकलन से जहाँ इन वेदग्रन्थों को 'संहिता' शब्द से व्यवहृत किया जा सकता है, वहाँ प्राकृतिक तात्त्विक वेदसंहिता की दृष्टि से वाच्य-वाचक-अभेद मर्य्यादा से (शब्दार्थ-तादात्म्यसे) इन वेदग्रन्थों का 'संहिता' नामकरण एक वस्तुतत्त्व भी बना हुआ है । जिस अदितिगर्भ में नित्य वेदसंहिता प्रतिष्ठित हैं, अदितिगर्भ में प्रतिष्ठित संहिताओं की जो ११३१ शाखाएँ सुव्यवस्थित हैं, उस शाखानुगत वेदसंहिता के प्रतिपादक शब्दात्मक वेदशास्त्र में वही संहिताविभाग हुआ है, एवं वही शाखा-विभाग हुआ है । दोनों का समतुलन है । जैसी व्यवस्था वहाँ है, ठीक वैसी ही व्यवस्था यहाँ है । भले ही शाखाविभाग का कारण अध्ययन-सम्प्रदायभेद मान लिया जाय । अथवा तो यह मान लिया जाय कि, ये विभाग व्यासने किए हैं। परन्तु '२१-१०१-१०००-९' संख्या, एवं ऋक्-यजुः-साम-अथर्व-इन चारों संहिताओं के ११३१ भेद अदितिसंहिता-भेदों को ही अपना मूलस्तम्भ बनाए हुए हैं। सम्प्रदायभेद ११३१ पर ही क्यों विश्रान्त गया ?, इस प्रश्न का एकमात्र उत्तर अदिति-संहिता ही है ।

१०—अदितिसंहिता के चार पर्व—

'अदिति' का स्वरूप बतलाते हुए पूर्व में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, भूकेन्द्र से आरम्भ कर ३३ वें अहर्गण पर्य्यन्त अग्नी-षोमात्मक पार्थिव प्रजापति का साम्राज्य है । इन में '९-१५-२१' भेद से अग्नि के 'अग्नि-वायु-आदित्य' ये तीन रूप प्रतिष्ठित हैं । एवं '२७-३३' भेद से सोम के 'भास्वर सोम-

दिक्सोम' ये दो रूप प्रतिष्ठित हैं। अग्नित्रयी, सोमद्वयी की समष्टि ही पार्थिव प्रजापति है, जिस का सम्वत्सररूप से पूर्व प्रकरणों में यशोगान किया जा चुका है। २१ पर्य्यन्त अदितिसंहिता है, ३३ पर्य्यन्त प्रजापतिसंहिता है, दोनों तत्त्वतः अभिन्न हैं। अतएव श्रुति ने प्रजापतिसंहिता को 'अदितिसंहिता' नाम से व्यहृत कर दिया है।

त्रिवृत्स्तोमस्थानीय अदिति का आग्नेय पार्थिवभाग पूर्वरूप है, एकविंशस्तोमस्थानीय अदिति का आदित्यात्मक द्यु भाग उत्तररूप है, पञ्चदशस्तोमस्थानीय अदिति का वायव्य आन्तरिक्ष्यभाग सन्धि है, प्रजा-प्रजनकर्म्म सन्धान है, चारों पर्वों की समष्टि प्रजापतिसंहिता, किंवा अदितिसंहिता है। पार्थिवभाग जाया है, यही पूर्वरूप है। द्यु भाग पति है, यही उत्तररूप है। अन्तरिक्षभाग पुत्र है, यही सन्धि है। प्रजननकर्म्म सन्धान है। इसी अदितिसंहिता का स्पष्टीकरण करते हुए महर्षि ऐतरेय कहते हैं—

"अथातः प्रजापतिसंहिता। जाया पूर्वरूपं, पतिरुत्तररूपं, पुत्रः सन्धिः, प्रजननं सन्धानम्। सैषाऽदितिःसंहिता। अदितिर्हीदं सर्वं यदिदं किञ्च-पिता च, माता च, पुत्रश्च, प्रजननञ्च। तदप्येतदृषिणोक्तं—'अदितिर्द्यौः०' इति"। (ऐ० आ० ३।१।६।)।

अब यह स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं है कि, पार्थिव अग्नि से ऋक्तत्त्व का, आन्तरिक्ष्य वायु से यजुः का, दिव्यादित्य से साम का, चतुर्थलोकस्थानीय आपः से अथर्व का सम्बन्ध है। एक संहिता है, इस के 'ऋक्-यजुः-साम-अथर्व' ये चार पर्व हैं। समुदायावयवन्याय से समष्टि में प्रतिष्ठित 'संहिता' शब्द प्रत्येक पर्व के साथ भी युक्त हो रहा है। इसप्रकार अदितिसंहितारूपा एक वेदसंहिता चार संहितारूपों में परिणत हो रही है। ऋग्वेद जायास्थानीय बनता हुआ पूर्वरूप है, यजुर्वेद पुत्रस्थानीय बनता हुआ सन्धि है, सामवेद पितास्थानीय बनता हुआ उत्तररूप है, एवं अथर्ववेद प्रजननस्थानीय बनता हुआ सन्धान है, समष्टि एक वेदसंहिता है।

११—अथर्व का अन्नभाव—

'सर्वं हेदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्' के अनुसार सोममूर्त्ति अथर्वब्रह्म ही अग्नित्रयमूर्त्ति वेदत्रय से युक्त होकर प्रजननकर्म्म की प्रतिष्ठा बनता है। प्रजनन सोमाहुति पर ही निर्भर है। एवं अथर्व सोमात्मक माना गया है। इसी अग्नि-सोम भेद से 'त्रयीवेद-अथर्ववेद' यह भेदव्यवहार प्रचलित हुआ है। अग्नित्रयी का एक स्वतन्त्र विभाग है, अतएव 'त्रयीवेद' स्वतन्त्र बन गया है। सोमद्वयी का भास्वरसोम घोराङ्गिरा है, दिक्सोम अथर्वाङ्गिरा है। इसप्रकार अग्निवेदकी भाँति यद्यपि सोमवेद के भी दो ही पर्व हो जाते हैं। परन्तु आपोलोक के अनद्धभाव के कारण दोनों एक 'अथर्व' नाम से ही व्यवहृत कर दिए गए हैं। श्रुति ने भी इसी अनद्धभाव के कारण सोमलोक के २७-३३ दो विभाग न कर 'चतुर्थदेवलोक*' नाम से एक आपोलोक ही मान लिया है। पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ, तीनों लोक अद्धा (स्पष्ट) हैं, परन्तु चौथा आपोलोक अप्रकट बनता

---

* "अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः" (कौ० ब्रा० १८।२।)

हुआ अनद्धा है + । अपने इसी अनद्धाभाव से चतुर्थलोकात्मक एक लोकरूप से न तो अथर्व वेदत्रयी की भाँति वेदद्वयी नाम से ही प्रसिद्ध हुआ, एवं न इस का व्यवहार ही प्रधान रहा । व्यवहाराप्रधानता का दूसरा कारण यह भी है कि, वेदत्रयी अग्नित्रयीरूपा बनती हुई 'अन्नादप्रधाना' है, एवं अथर्ववेद सोमात्मक बनता हुआ 'अन्नप्रधान' है । अन्नात्मक अथर्व प्रजननकर्म्म की सिद्धि के लिए अन्नादात्मिका वेदत्रयी के गर्भ में प्रविष्ट है । अन्नसोमाहुति ही से तो १६ वें अहर्गण पर्य्यन्त व्याप्त रहने वाला अग्नि २१ पर्य्यन्त व्याप्त हुआ है । हम देखते हैं कि, जब तक अन्न अन्नादसीमा से बाहिर रहता है, तभी तक वह अपनी स्वतन्त्रसंज्ञा सुरक्षित रखने में समर्थ होता है । जब अन्न शारीराग्नि में हुत हो जाता है, तो–'तद्यदोभयं समागच्छति, अत्तैवाख्यायते नाद्यम्' (शत० १०।६।२।१।) के अनुसार वह अपना स्वातन्त्र्य खो देता है । इस सामान्य नियमके अनुसार अन्नात्मक अथर्ववेद अन्नादात्मिका वेदत्रयी के ग्रहण से ही गृहीत है । यही कारण है कि, वेदगणना में त्रयीवेद शब्द ने ही प्रधानता ग्रहण कर रक्खी है । जो काल्पनिक यह कहते हैं कि, अथर्ववेद बहुत पीछे बना है, इसलिए इस का व्यवहार कम हुआ, उन का यह कथन सर्वथा निस्तत्त्व है । अथर्वव्यवहार की शिथिलता का कारण अथर्व का अन्नभाव ही माना जायगा ।

१२–मन्त्रब्राह्मणात्मक अपौरुषेय तात्त्विक वेद—

मनःप्राणवाङ्मय सृष्टिसाक्षी सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति अपने तीनों रूपों से अप्समुद्र में (अथर्वमय पारमेष्ठ्य समुद्र में) प्रविष्ट होकर आण्डसृष्टि के स्वरूप समर्पक बनते हैं, जैसाकि खण्डारम्भप्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है । प्रजापति की मनः–प्राण–वाक्–कलाओं से आपोमय अथर्व भी मनः–प्राण–वाङ्मय बना हुआ है । इसी अथर्वाप्रजापति के गर्भ में वेदत्रयीमूर्त्ति उस सुपर्ण का आविर्भाव होता है, जिस का (आध्यात्मिक दृष्टि से) पूर्व की वाक्संहिता में दिग्दर्शन कराया जा चुका है । आपोमय शरीर में प्रविष्ट क्षुद्र सुपर्ण भोक्ता है, आपोमय पारमेष्ठ्य मण्डल में प्रविष्ट महासुपर्ण साक्षी है । दोनों अश्वत्थवृक्ष की पार्थिव शाखा पर प्रतिष्ठित हैं* । वह पार्थिव त्रिलोकी में व्याप्त है, यह शारीरत्रिलोकी में व्याप्त है । उस के सर्वज्ञ–हिरण्यगर्भ–विराट् तीन रूप हैं, इस के प्राज्ञ–तैजस–वैश्वानर, तीन रूप हैं ।

+ "स वै त्रिर्यजुषा हरति । त्रयो वा इमे लोकाः । एभिरेवैनमेतल्लोकैरभिनिदधाति । अद्धा वै तत्, यदिमे लोकाः । अद्धो तत्, यद्यजुः । तस्मात् त्रिर्यजुषा हरति । तूष्णीं चतुर्थम् । स यदिमाँल्लोकानति चतुर्थं, अस्ति वा न वा । अनद्धा वै तत्, यदिमाँल्लोकानति–चतुर्थमस्ति, वा न वा । अनद्धो तत्, यत् तूष्णीम् । तस्मात्तूष्णीं चतुर्थम्"

(शत० १।२।४।२०,२१,)

* "द्वा सुपर्णा सयुजा सखायौ समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति"

'त्रयो वा इमे त्रिवृतो लोकाः' के अनुसार अदितिमण्डलात्मिका महापृथिवी के ९-१५-२१ स्तोम-भागों में विभक्त पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, तीनों लोक (प्रत्येक) त्रिवृद्भाव से युक्त हैं। इस त्रिवृद्भाव का रहस्य यही है कि, तीनों में प्रतिष्ठित अग्नि-वायु-आदित्य नामक तीनों प्राणदेवताओं का साममण्डलों के द्वारा सामातिमान के साथ साथ अतिमान हो रहा है, जो कि देवातिमानप्रक्रिया यज्ञपरिभाषा में 'तानूनप्त्र' नाम से प्रसिद्ध है। इस पारस्परिक सहयोग से तीनों लोकों में (प्रत्येक में) गौण-प्रधानरूप से तीनों देवताओं की सत्ता सिद्ध हो जाती है।

तत्त्वतः त्रिवृत्स्थानीया पृथिवी आत्मा के वाग्-भाव की, पञ्चदशस्थानीय अन्तरिक्ष प्राण-भाव की, एकविंशस्थानीय द्युलोक मनो-भाव की विकासभूमि है। इसप्रकार पारमेष्ठ्य मनःप्राणवाङ्मय प्रजापति तीन लोकों में क्रमशः वाक्-प्राण-मनों-रूप से विभक्त हो रहा है। तीनों पर्व क्रमशः 'ज्ञान-क्रिया-अर्थ' प्रधान हैं। इस स्वाभाविक संस्थाविभाग के अनुसार पार्थिव वाङ्मय अग्नि वाक्प्रधान बनता हुआ अर्थप्रधान है। आन्तरिक्ष्य प्राणमय वायु प्राणप्रधान बनता हुआ क्रियाप्रधान है। दिव्य मनोमय आदित्य मनःप्रधान बनता हुआ ज्ञानप्रधान है। अर्थप्रधान वाङ्मय पार्थिव अग्नि से ही ऋग्वेदका विकास हुआ है, क्रियाप्रधान प्राणमय वायु से ही यजुर्वेद का, ज्ञानप्रधान मनोमय आदित्य से ही सामवेद का विकास हुआ है। एवं मनः-प्राणवाङ्मय आपोमय पारमेष्ठ्य प्रजापति ही अथर्ववेद की विकासभूमि है।

मनःप्राणवाक् के त्रिवृद्भाव से लोक त्रिवृत बनते हैं, लोकत्रयी के त्रिवृद्भाव से लोकी-(देवता) त्रिवृत बन जाते हैं। फलतः तीनों लोकों में गौणमुख्यरूप से आत्मा की तीनों कलाओं के साथ साथ तीनों प्राणदेवताओं का भोग सिद्ध हो जाता है। मनःप्रणगर्भित वाक्प्रधान अग्नि अर्थप्रधान बनता हुआ मनः-प्राण सम्बन्ध से ज्ञानक्रियामय भी है। मनोवाग्गर्भित प्राणप्रधान वायु क्रियाप्रधान बनता हुआ मनोवाक् सम्बन्ध से ज्ञान-अर्थमय भी है। एवं वाक्-प्रागर्भित मनःप्रधान आदित्य ज्ञानप्रधान बनता हुआ वाक्-प्राण सम्बन्ध से अर्थ-क्रियामय भी है। अर्थ-क्रिया-ज्ञान-भाव अग्नि-वायु-आदिन्य के मुख्य रूप हैं। ज्ञान-क्रिया, ज्ञान-अर्थ, अर्थ-क्रिया, ये दो दो रूप तीनों के गौणरूप हैं।

निष्कर्ष यह हुआ कि, आपोमय परमेष्ठी प्रजापति तो स्वस्वरूप से मनःप्राणवाङ्मय बनता हुआ ज्ञानक्रियार्थमय है। एवं अदितिमण्डलावच्छिन्न सुपर्ण-प्रजापति त्रिवृद्भाव के अनुग्रह से अपनी प्रत्येक कला से मनःप्राणवाङ्मय बनता हुआ ज्ञानक्रियार्थमय है। तीनों लोकों में अग्नि-वायु-आदित्य की व्याप्ति है। पार्थिव अग्नि 'पवमान' नाम से प्रसिद्ध है, आन्तरिक्ष्य अग्नि 'पावक' नाम से, दिव्य अग्नि 'शुचि' नाम से प्रसिद्ध है। पार्थिव वायु 'मातरिश्वा' नाम से, आन्तरिक्ष्य वायु 'हंस' नाम से, एवं दिव्य वायु 'सूत्र' नाम से प्रसिद्ध है। पार्थिव आदित्य (इन्द्र) 'वासव' नाम से, आन्तरिक्ष्य इन्द्र मरुत्वान्' नाम से, एवं दिव्य इन्द्र 'मघवा' नाम से प्रसिद्ध है। तीनों का तीनों के साथ तानूनप्त्रलक्षण अन्तर्याम सम्बन्ध है। अग्नि-वायु-आदित्य की समष्टि 'विराट्' है, वायु-अग्नि-आदित्य की समष्टि 'हिरण्यगर्भ' है, आदित्य-अग्नि-वायु की समष्टि 'सर्वज्ञ' है। तीनों की समष्टि साक्षी सुपर्ण-प्रजापति है। अर्थप्रधान विराडग्नि में भी क्रिया-ज्ञानका समावेश है, क्रियाप्रधान हिरण्यगर्भ वायु में भी अर्थ-ज्ञान का समावेश है, एवं ज्ञानप्रधान आदित्य

में भी अर्थ–क्रिया, दोनों का समावेश है। 'अर्थ–क्रिया–ज्ञान' तीनों अग्नि–वायु–आदित्य के मूलरूप हैं, एवं 'अर्थ–क्रिया–ज्ञान' तीनों प्रत्येक के तूलरूप हैं।

अर्थप्रधान मूल अग्नि (वागग्नि) प्रजापतिसंहिता का–'ऋक्संहिता' नामक प्रथम पर्व है, यही मूर्त्तिभाव की प्रतिष्ठा है। क्रियाप्रधान मूल वायु (प्राणवायु) प्रजापतिसंहिता का 'यजुःसंहिता' नामक द्वितीय पर्व है, यही गतिभाव की प्रतिष्ठा है। ज्ञानप्रधान मूल आदित्य (मनोमय आदित्य) प्रजापतिसंहिता का 'साससंहिता' नामक तृतीय पर्व है, यही तेजोलक्षण विकासभाव की प्रतिष्ठा है। मनःप्राणवाङ्मय आपो–भाव मूल आपः हैं, यही प्रजापतिसंहिता का 'अथर्वसंहिता' नामक चौथा पर्व है। चारों संहिताओं की समष्टि ही मूलवेद है *।

अर्थ–क्रिया–ज्ञानमूर्त्ति तूल अग्नि (वायु–आदित्यगर्भित त्रिवृन्मूर्त्ति विराडग्नि) मूल ऋक्संहिता का तूल पर्व है, यही तूलरूप मूल ऋग्वेद का विवर्त्तभाव है। क्रिया–अर्थ–ज्ञानमूर्त्ति तूल वायु (अग्नि–आदित्य–गर्भित त्रिवृन्मूर्त्ति हिरण्यगर्भ वायु) मूल यजुःसंहिता का तूल पर्व है, यही तूलरूप मूल यजुर्वेद का विवर्त्तभाव है। ज्ञानक्रियार्थमूर्त्ति तूल आदित्य (अग्नि वायुगर्भित त्रिवृन्मूर्त्ति सर्वज्ञ आदित्य) मूल साम–संहिता का तूलपर्व है, यही तूलरूप सामवेद का विवर्त्तभाव है। ज्ञानक्रियार्थमूर्त्ति तूल आपः मूल अथर्वसंहिता का तूल पर्व है, यही तूलरूप अथर्ववेद का विवर्त्तभाव है। इसप्रकार चारों तूल संहिताओं के साथ तीन तीन तूल वेदविवर्त्तभावों का सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है।

ऋगादिसंहिताओं के '२१–१०१–१०००–९' ये मूल रूप हैं, प्रत्येक के साथ तीन तीन तूल विवर्त्तों का सम्बन्ध है। फलतः तूलवेद के '३३९३' पर्व हो जाते हैं। समष्टि–संख्या का विश्राम ४५२४ पर है। तात्पर्य्य यही हुआ कि, अग्नि–वायु–आदित्य–आपः, मय–ऋक्–यजुः–साम–अथर्वतत्त्व मूलवेद हैं। प्रत्येक–वेदसंहिता के साथ सम्बद्ध ज्ञान–क्रिया–अर्थभाव तूलवेद हैं। मूलवेद को जैसे 'संहिता' कहा जाता है, तूलवेद के 'अर्थ–क्रिया–ज्ञानपर्व' (शब्दवेदपरिभाषापेक्षया) क्रमशः 'ब्राह्मण'–'आरण्यक'–'उपनिषत्' नामों से प्रसिद्ध हैं।

विज्ञ पाठक यह जानते हैं कि, वेद का 'विधिरूप' ब्राह्मणभाग कर्म्मकाण्डात्मक है, आरण्यकरूप ब्राह्मणभाग उपासनाकाण्डात्मक है, उपनिषद्रूप ब्राह्मणभाग ज्ञानकाण्डात्मक है, संहितारूप मन्त्रभाग विज्ञान–स्तुति–इतिहास–प्रतिपादक है। मन्त्रवेद मूलवेद हैं, ब्राह्मणवेद तूलवेद है। जो व्यवस्था इस शब्दवेद में है, वही उस तत्त्ववेद है। वहाँ क्योंकि ऐसी ही व्यवस्था है, इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर ऋषियोंनें शब्दवेद के उतनें ही वैसे ही शाखाविभाग किए हैं। वहाँ चार मूल संहिताएँ हैं, यहाँ भी चार मूलसंहिताओं का आविर्भाव है। वहाँ प्रत्येक मूलसंहिता के २१–१०१–१०००–९ पर्व हैं, यहाँ भी प्रत्येक संहिता की इतनी

* "ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्त्तिमाहुः, सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्।
सर्वं तेजः सामरूपं ह शश्वत्, सर्वं हेदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्।"
(तै० ब्राह्मण)।

हीं शाखाएँ हुईं हैं। वहां शाखावेदात्मक प्रत्येक संहितावेद 'ज्ञान-क्रिया-अर्थ' नामक तूलपर्वों से युक्त है, यहाँ भी प्रत्येक शाखावेद के साथ ज्ञान-क्रिया-अर्थात्मक उपनिषत्-आरण्यक-ब्राह्मणग्रन्थों का समावेश हुआ है। अर्थरूप कर्म्म का प्रतिनिधि ब्राह्मणग्रन्थ बना, क्रियारूपा उपासना का प्रतिनिधि आरण्यकग्रन्थ बना, ज्ञानरूपा परिव्रज्या का प्रतिनिधि उपनिषद्ग्रन्थ बना। मन्त्रब्राह्मणात्मक वह तत्त्ववेद अपौरुषेय कहलाया है। मन्मब्राह्मणात्मक शब्दवेद क्या कहलाया ?, इस प्रश्न का सामान्य समाधान अग्रिम परिच्छेद से, तथा विशेष समाधान अग्रिम (तृतीय) खण्ड से अनुप्राणित है। वक्तव्यांश यही है कि, शाखाविभाग का कारण केवल अध्ययनपरम्परा ही नहीं है। अपितु प्राकृतिक नित्य तात्त्विक मूल-तूल वेद के जितनें पर्व हैं, शब्दवेद के उतनें हीं पर्व व्यवस्थित हुए हैं। निम्नलिखित तालिकाओं से तत्त्ववेद का उक्त संस्थाविभाग स्पष्ट हो जाता है—

(क) ४—मनःप्राणवाङ्मयः—आपः—त्रिणवत्रयस्त्रिंशस्तोमावच्छिन्नाः (दिश्याः)—दिशः

३—मनोमयः·········—आदित्यः-एकविंशस्तोमावच्छिन्नः (दिव्यः)—द्यौः

२—प्राणमयः·········—वायुः—पञ्चदशस्तोमावच्छिन्नः (आन्तरीक्ष्यः)-अन्तरिक्षम्

१—वाङ्मयः·····················अग्निः—त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्नः (पार्थिवः)—पृथिवी

(ख) ४—मूल-आपः—अथर्वविकासभूमिः—अथर्ववेदो मूलवेदः (अथर्वाणः)।

३—मूल-आदित्यः-सामविकासभूमिः—सामवेदो मूलवेदः (सामानि)।

२—मूल-वायुः—यजुर्विकासभूमिः—यजुर्वेदो मूलवेदः (यजूंषि)।

१—मूल-अग्निः—ऋग्विकासभूमिः—ऋग्वेदो मूलवेदः (ऋचः)।

(ग) ४—अथर्ववेदः—अथर्वसंहिताः ९
३—सामवेदः—सामसंहिताः १०००
२—यजुर्वेद —यजुःसंहिताः १०१
१—ऋग्वेदः—ऋक्संहिताः २१

} —सैषा मूलवेदात्मिका 'अदितिसंहिता'

(घ ४—पारमेष्ठ्य सोमः—तन्मयः—अथर्ववेदः—अथर्वसंहिता
३—दिव्यआदित्यः—तन्मयः—सामवेदः—सामसंहिता
२—आन्तरिक्ष्यवायुः—तन्मयः—यजुर्वेदः—यजुसंहिता
१—पार्थिवाग्निः—तन्मयः—ऋग्वेदः—ऋक्संहिता)

—सैषा 'मूलवेदचतुष्टयी'

———————————*

(ङ) ४—मनःप्राणवाङ्मय्यः—सोमकलाः—ज्ञानक्रियार्थरूपाः—आपो—वायुः—सोममय्यः।

३—मनःप्राणवाङ्मय्यः—आदित्यकलाः-ज्ञानक्रियार्थरूपाः—आदित्य-वायु—अग्निमय्यः।

२—प्राणवाङ्मनोमय्यः—वायुकलाः—क्रियाज्ञानार्थरूपाः-वायु—अग्नि-आदित्यमय्यः।

१—वाक्प्राणमनोमय्यः—अग्निकलाः-अर्थक्रियाज्ञानरूपाः-अग्नि—वायु—आदित्यमय्यः।

———————————*

च-

आप्यवेदः अथर्ववेदः ❀	आदित्यवेदः सामवेदः ❀	वायुवेदः यजुर्वेदः ❀	अग्निवेदः ऋग्वेदः ❀	मन्त्रवेदः (मूलवेदः)
१–विधिवेदः २–आरण्यकवेदः ३–उपनिषद्वेदः	१–विधिवेदः २–आरण्यकवेदः ३–उपनिषद्वेदः	१–विधिवेदः २–आरण्यकवेदः ३–उपनिषद्वेदः	१–विधिवेदः २–आरण्यकवेदः ३–उपनिषद्वेदः	ब्राह्मणवेदः (तूलवेदः)

मन्त्रब्राह्मणात्मकः अथर्ववेदः ४

१—मन्त्रः——(मनःप्राणवाङ्मय्यः, भृग्वङ्गिरोरूपाः—मूलापः)—अथर्वसंहिता ९ भेदभिन्ना

२—ब्राह्मणम्
- १—विधिः (वाङ्मय्यः, अर्थशक्तिप्रधानाः——तूलापः)—ब्राह्मणम् ९ भेदभिन्नम्
- २—आरण्यकम् (प्राणमयः, क्रियाशक्तिप्रधानः——तूलवायुः)—आरण्यकम् ९ भेदभिन्नम्
- ३—उपनिषत् (मनोमयः, ज्ञानशक्तिप्रधानः——तूलसोमः)—उपनिषत् ९ भेदभिन्ना

मन्त्रब्राह्मणात्मकः सामवेदः ३

१—मन्त्रः——(प्राणवाग्गर्भितः, मनःप्रधानः, ज्ञानशक्तिमयः—मूलआदित्यः)—सामसंहिता १००० भेदभिन्ना

२—ब्राह्मणम्
- १—विधिः (वाङ्मयः, अर्थशक्तिप्रधानः, तूलाग्निः——आदित्यविधः)—ब्राह्मणम् १००० भेदभिन्नम्
- २—आरण्यकम् (प्राणमयः, क्रियाशक्तिप्रधानः, तूलवायुः——आदित्यविधः)—आरण्यकम् १००० भेदभिन्नम्
- ३—उपनिषत् (मनोमयः, ज्ञानशक्तिप्रधानः, तूलादित्यः——आदित्यविधः)—उपनिषत् १००० भेदभिन्ना

मन्त्रब्राह्मणात्मकः यजुर्वेदः २

१—मन्त्रः——(मनोवाग्गर्भितः, प्राणप्रधानः क्रियाशक्तिमयः—मूलवायुः)—यजुःसंहिता १०१ भेदभिन्ना

२—ब्राह्मणम्
- १—विधिः (वाङ्मयः, अर्थशक्तिप्रधानः, तूलाग्निः, वायुविधः)—ब्राह्मणम् १०१ भेदभिन्नम्
- २—आरण्यकम् (प्राणमयः, क्रियाशक्तिप्रधानः तूलवायुः, वायुविधः)—आरण्यकम् १०१ भेदभिन्नम्
- ३—उपनिषत् (मनोमयः, ज्ञानशक्तिप्रधनः, तूलादित्यः, वायुविधः)—उपनिषत् १०१ भेदभिन्ना

मन्त्रब्राह्मणात्मकः ऋग्वेदः १

१—मन्त्रः——(मनःप्राणगर्भितः, वाक्प्रधानः, अर्थशक्तिमयः, मूलाग्निः) ऋक्संहिता २१ भेदभिन्ना

२—ब्राह्मणम्
- १—विधिः (वाङ्मयः, अर्थशक्तिप्रधानः, तूलाग्निः अग्निविधः) ब्राह्मणम् २१ भेदभिन्नम्
- २—आरण्यकम् (प्राणमयः, क्रियाशक्तिप्रधानः, तूलवायुः, अग्निविधः) आरण्यकम् २१ भेदभिन्नम्
- ३—उपनिषत् (मनोमयः, ज्ञानशक्तिप्रधानः, तूलादित्यः, अग्निविधः) उपनिषत् २१ भेदभिन्ना

संहिता–ब्राह्मण–आरण्यक–उपनिषद्–भेदभिन्ना ४५२४ संख्यात्मिका सैषा वेदराशिः ! सोऽयमपौरुषेयोवेदो मन्त्र–ब्राह्मणात्मकः। तदनु तत्संख्यासमतुलितः पौरुषेयवेदः शब्दमयः।

१३–अग्नीषोमात्मक शिव–शक्तिभाव—

'अग्नि ऋक् है, वायु यजु है, आदित्य साम है, आपः (सोम) अथर्व है' जहाँ पूर्व निरूपण से यह भली भाँति स्पष्ट हो जाता है, वहाँ यह भी सिद्ध विषय है, कि प्रत्येक पदार्थ में इन चारों मूलवेदों का उपभोग हो रहा है। पूर्वरूप, उत्तररूप, सन्धि, सन्धान–लक्षणा चतुर्वेदरूपा अदितिसंहिता की समष्टि-व्यष्टिरूप से सर्वत्र व्याप्ति हो रही है। इस मूलवेदसंहिता के अतिरिक्त ज्ञान–क्रिया–अर्थरूप से तूलब्राह्मणवेद की भी सर्वत्र व्याप्ति स्वाभाविक है। प्रत्येक पदार्थ हृद्य आत्मदृष्टि से मनःप्राणवाङ्मय बनता हुआ ज्ञानक्रियार्थ–रूप है, यही प्रत्येक पदार्थ में भुक्त रहने वाले विधि–आरण्यक–उपनिषल्लक्षण ब्राह्मणवेद का प्रत्यक्ष निदर्शन है। प्रत्येक पदार्थ अग्निस्थानीय पूर्वरूप, आदित्यस्थानीय उत्तररूप, वायुस्थानीय संधि, आपःस्थानीय संधान-रूप से ऋक्–साम–यजुः–अथर्वमूर्त्ति बन रहा है। प्रत्येक पदार्थ में उपभुक्त ऋक्–साम–यजुः–अथर्वलक्षण मन्त्रवेद का यही प्रत्यक्ष निदर्शन है। एवं इस दृष्टि से मन्त्र–ब्राह्मणात्मक मूलतूलवेदरूप सम्वत्सरप्रजापति के गर्भ में उत्पन्न होने वाले यच्चयावत् साम्वत्सरिक पदार्थ भी मन्त्र–ब्राह्मणात्मक मूलतूल वेदरूप बने हुए हैं। इसप्रकार भगवान् मनु का **'सर्वं वेदात् प्रसिद्धयति'** यह कथन सर्वात्मना अन्वर्थ बन रहा है।

'अग्नीषोमात्मकं जगत' इस बृहज्जाबाल सिद्धान्त के अनुशार जगत्, एवं जगत्–गर्भ में प्रतिष्ठित पदार्थ अग्नीषोमात्मक हैं। अग्नि के अग्नि–वायु–आदित्य, ये तीन रूप हैं। सोम के भास्वरसोम–दिक्सोम ये दो रूप हैं। अग्नित्रयी वेदत्रयी है, सोमद्वयी अथर्ववेद है। **'ताप, विद्युत्, प्रकाश'** का प्रत्येक पदार्थ में समन्वय है। वर्त्तमान विज्ञान इन्हीं को **'हीट, इलेक्ट्री, लाइट'** नामों से व्यवहृत किया करता है। ताप अग्नि से, विद्युत् वायु से, प्रकाश आदित्य (इन्द्र) से सम्बन्ध रखता है। वैदिकविज्ञानपरिभाषानुसार 'ताप–विद्युत्–प्रकाश' तीनों 'तेजः' पदार्थ हैं। तेजःपदार्थ विकासधर्म्मा है, विशकलनधर्म्मा है। इस विकास–धर्म्म की रक्षा संकोचधर्म्मा स्नेहतत्त्व से हो रही है। विकासधर्म्मरक्षक संकोचधर्म्मावच्छिन्न वही स्नेह-तत्त्व 'सोम' नाम से प्रसिद्ध है। इसप्रकार 'तेजः–स्नेह' दृष्टि से भी सर्वत्र चतुर्वेदसंहिता के दर्शन किए जा सकते हैं। तेज 'प्राण' है, स्नेह 'रयि' है। प्रश्नोपनिषत् ने रयि–प्राण के मिथुनभाव को ही विश्व का मूल माना है। प्राण वृषा है, रयि योषा है। वृषा पुरुष है, योषा स्त्री है। दोनों का दाम्पत्यभाव ही सृष्टि का मूल है- **"अर्द्धेन पुरुषोऽभवत्, अर्द्धेन नारी, तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः'** यह मनुवचन भी इसी अग्नी–षोममयी सृष्टिविद्या का स्पष्टीकरण कर रहा है। अग्नि–सोम के इस चक्र का सम्बन्ध अर्द्धनारीश्वर भगवान् शङ्कर की उपासना पर अवलम्बित है। प्रसङ्गोपात्त संक्षेप से इस पार्थिव–अग्नीषोमचक्र का स्वरूप जान लेना भी आवश्यक होगा।

एक सहस्र ऋतमात्राओं के घनीभाव से 'अग्नि' नामक विशेषभाव का उदय होता है, जैसाकि आगे के परिच्छेदों में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। अप्तत्त्व ही का नाम 'ऋत' है, एवं अप्तत्त्व के घनी–भाव से ही पिण्डभावस्वरूपसमर्पक अग्नि का जन्म हुआ है। पिण्डस्वरूपलक्षण इस अग्नि को 'सत्य' कहा जाता है। इस सत्याग्नि का हृदय से आरम्भ कर महिमा–प्रधिपर्य्यन्त सहस्ररूप से वितान होता है, जो कि साहस्री **'वेदसाहस्री'** नाम से प्रसिद्ध है। जब यह सत्याग्नि विकास की चरमसीमा पर पहुँच जाता

है, तो तत्काल ऋत आपः (सोम) रूप में परिणत हो जाता है। इसप्रकार वही ऋत आपः (सोम) हृदयविन्दु में आकर सत्याग्नि बन जाता है, वही सत्याग्नि प्रधिस्थान पर आकर ऋतसोम बन जाता है।

अग्नि का अङ्गिरा से सम्बन्ध है, सोम का भृगु से सम्बन्ध है। अङ्गिरा अग्नि–वायु–आदित्य, भेद से तीन अवस्थाओं में परिणत रहता हुआ हृदय से परिधि की ओर उत्तरोत्तर विकसित होता रहता है, जैसाकि 'द्यामङ्गिरसो ययुः' इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है*। भृगुतत्त्व आपः–वायुः–सोम, भेद से तीन अवस्थाओं में परिणत रहता हुआ प्रधि से हृदय की ओर उत्तरोत्तर संकुचित होता रहता है। तत्त्वतः अङ्गिरात्रयीलक्षणा अग्निसाहस्री हृदय से परिधि की ओर वितत होती है, एवं भृगुत्रयीलक्षणा सोमसाहस्री परिधि से हृदय की ओर अनुगत रहती है। सोमवंशी भृगु के आपः–वायुः–सोम, तीनों पर्व मण्डलप्रदेश को अपना व्याप्तिस्थान बनाते हुए परिधि से केन्द्र की ओर आते हैं। केन्द्रातिरिक्त माण्डलिक प्रदेश में भृगु के इन तीनों पर्वों को रहने के लिए पर्य्याप्त अवकाश मिल जाता है, अतएव पारस्परिक संघर्ष को अवसर नहीं मिलता। जब तीनों भृगुपर्व केन्द्रबिन्दु पर आ जाते हैं, तो प्रदेशशून्य हृद्बिन्दुस्थान इन तीनों के संघर्ष का कारण बन जाता है। तीनों के संघर्षबल का ही नाम 'सहोबल' है। इससे अविलम्ब अङ्गिरात्रयी का प्रादुर्भाव हो पड़ता है। अप्–वायु–सोम का संघर्ष ही अङ्गिरात्रयी का जन्मदाता बन जाता है। जब भृगुत्रयी अङ्गिरात्रयीरूप में परिणत हो जाती है, तो इसका केन्द्र से परिधि की ओर गमन आरम्भ हो जाता है। अग्नि उत्तरोत्तर विकसित होता हुआ परिधि की ओर जाता है। प्रथम विकास अग्नि है, द्वितीय विकास वायु है, तृतीय विकास आदित्य है। विकास की चरम सीमा परिधि पर समाप्त है। यहाँ विकासमात्राओं का अवसान है। बस इस स्थान पर पहुँचते ही विकासभाव शान्त हो जाता है, संकोचधर्म्म का प्रादुर्भाव हो जाता है। वही अङ्गिरात्रयी विकास की चरमसीमा (परिधि) पर पहुँच कर भृगुत्रयीरूप में परिणत हो जाती है। तत्काल इसका पुनः केन्द्र की ओर संकोचरूप से आगमन आरम्भ हो जाता है। इसप्रकार 'हृदय–परिधि' इन दो सीमाओं के सम्बन्ध से अङ्गिरा (अग्नि), भृगु (सोम) का चक्रवत् परस्पर विनिमय होता रहता है। ऋतसोम सत्याग्नि बनता रहता है, सत्याग्नि ऋतसोम में परिणत होता रहता है। **'ऋतं सत्येऽधायि, सत्यं–ऋतेऽधायि'** वचन इसी चक्ररहस्य का स्पष्टीकरण कर रहा है। अवस्थाभेद ही तत्त्वभेद का कारण है। वस्तुतः वही अग्नि है, वही सोम है। वही वृषा है, वही योषा है। वही हृदयप्रतियोगिक परिधि–अनुयोगिकरूप से अग्निलक्षण बनता हुआ पुरुष है। एवं परिधिप्रतियोगिक, हृदयानुयोगिकरूप से सोमलक्षण बनता हुआ स्त्री है। दोनों के इस पारस्परिक अन्तर्य्यामलक्षण चितिसम्बन्ध का ही नाम 'याग' (यज्ञ) है। जब तक अग्नि–सोम का समन्वय है, तब तक यज्ञ है। जब तक यज्ञ है, तब तक पदार्थसंस्था का स्वस्तिभाव है। स्वस्ति–भाव ही शिवभाव है, शिवभाव ही वस्तुस्वरूप की प्रतिष्ठा है। जिस दिन दोनों का सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है, शिवसंस्था रुद्ररूप में परिणत होती हुई नष्ट हो जाती है। अर्द्धनारीश्वर शिव ही शिवभाव के रक्षक हैं। क्योंकि इनमें अग्निलक्षण 'नर', सोमलक्षण 'नारी', दोनों का समन्वय है।

अग्नि स्वस्वरूप से उग्र बनता हुआ रुद्र है, जैसाकि–'अग्निर्वारुद्रः' इत्यादि श्रौत सिद्धान्त से प्रमाणित है। सोमान्नसहयोग से रुद्राग्नि की उग्रता शान्त हो जाती है, रुद्र शिवरूप में परिणत हो जाते हैं।

*** इत एत उदारुहन्, दिवस्पृष्ठान्यारुहन्।**
प्रभूर्जयो यथापथि द्यामङ्गिरसो ययुः॥

जहाँ अग्नि इन का घोर शरीर है, वहाँ सोम अघोर शरीर है। तत्त्वतः सोमानुगत अग्नि ही 'शिव' है। सोम ही अग्नि की शक्ति है। जब तक सोमान्न शारीराग्नि में आहुत होता रहता है, तभीतक अग्नि सशक्त रहता है। अतएव सोम को हम 'शिवशक्ति' (शिवात्मक रुद्राग्नि की शक्ति) कह सकते हैं।

शिवशक्तिलक्षण सोम, एवं शक्तिविशिष्ट शिव, दोनों का पार्थिव सम्वत्सरचक्रमें समन्वय देखिए। पार्थिव सम्वत्सरचक्र में दक्षिणादिक् अधोदिक् मानी गई है, उत्तरादिक् ऊर्ध्वादिक् मानी गई हैं। उत्तरदिशा सौम्या है, दक्षिणदिशा आग्नेयी है, याम्या है। रुद्राग्नि ही अवसान का प्रवर्त्तक है, अतएव -'दद्राधमोऽवसानं पृथिव्याः' के अनुसार विशुद्ध रुद्राग्नि को 'यम' (अन्तक) मान लिया जाता है। इसीलिए आग्नेयी दक्षिणादिक् याम्यादिक् कहलाई है। इस दिक् से रुद्राग्नि निरन्तर उत्तर की ओर जाया करता है, एवमेव उत्तरादिक् से सोम निरन्तर दक्षिण की ओर आया करता है*। दोनों के समन्वय से अग्नीषोमात्मक सम्वत्सर यज्ञ का प्रादुर्भाव होता है। यही यज्ञ विश्वसृष्टि के शिवभाव की मूलप्रतिष्ठा बनता है।

उक्त यज्ञस्थिति से प्रकृत में यही वक्तव्य है कि, रुद्राग्नि को शिवरूप प्रदान करने वाला शिवशक्तिलक्षण सोम उत्तर में प्रतिष्ठित होता हुआ दक्षिणस्थ अग्नि की अपेक्षा अपना ऊर्ध्वस्थान रखता है। शक्ति (सोम-स्त्री) का आसन ऊँचा (उत्तर) है, शिव (अग्नि-पुरुष) का आसन नीचा (दक्षिण) है। शिव अधस्तल में स्थित हैं, शक्ति इन पर खड़ी हुई है। इसी प्राकृतिक शिव-शक्ति-चरित्र की अभिव्यक्ति के लिए वैज्ञानिकों नें उपासनाकाण्ड में शिवप्रतिमा को धरातल पर रखते हुए वक्षस्थलपर शक्तिप्रतिमा खड़ी की है।

अग्नि-सोम, दोनों में आधार अग्नि है। अतएव सोमापेक्षया प्रधानता अग्नि की ही मानी गई है। अतएव 'अर्द्धनारीश्वर' से 'अग्नि' का ही ग्रहण किया जाता है। अग्नि का अन्नादभाव भी इसी प्रधानता का सूचक है। इसप्रकार यद्यपि अर्द्धनारीश्वर शब्द से अग्नि का ही ग्रहण करना न्यायसङ्गत है। तथापि व्यवहार में शिवशक्तिसमन्वितरूप को 'सोमः' ही कहा जायगा। यही कारण है कि, अग्नि प्राणप्रधान बनता हुआ नीरूप है, अतएव स्वस्वरूप से अव्यवहार्य्य है। उधर सोम रयिप्रधान बनता हुआ भूतमय है, अतएव व्यवहार्य्य है। प्राणलक्षण अग्नि अमूर्त्त बनता हुआ अव्यक्त है, भूतलक्षण सोम मूर्त्त बनता हुआ व्यक्त है। जैसाकि 'मूर्त्तिरेव रयिः' (सोमः) इत्यादि उपनिषच्छ्रुति से स्पष्ट है। व्यक्त सोम ही अव्यक्त अग्नि के पिण्डभाव का कारण बनता हुआ अग्नि के व्यक्तीभाव का कारण बन रहा है व्यक्त सोमसमन्वय से ही अव्यक्त अग्नि पिण्डरूप में परिणत हुआ है। तत्त्वतः व्यक्त सोम ही अव्यक्त अग्नि का लिङ्ग (परिचायक) है। अतएव तद्रूप से ही शिवोपासना प्रक्रान्त है।

जिस शिवशक्ति को अबतक हमने 'सोम' नाम से व्यवहृत किया है, वस्तुतः उस का नाम है 'उमा'। केनोपनिषत् में जिस हैमवती 'उमा' के द्वारा इन्द्र को ब्रह्मसाक्षात्कार हुआ है, वह यही शिवशक्ति है। उकार प्राण का वाचक है, प्राण ही शिव है। 'मा' भाग्यसम्पत् का सूचक है। उकार की (प्राणात्मक शिव की) मा (भाग्यलक्ष्मी-स्वरूपाधिष्ठात्री-शक्ति) ही 'उमा' है। ऐसी उमा से युक्त शिव ही-'उमयासहितः शिवः' इस निर्वचन से 'सोम' नाम से प्रसिद्ध है। इसप्रकार केवल 'सोम' शब्द 'शिव-शक्ति' दोनों का संग्राहक बन रहा है।

---

* इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन प्रकाशित 'शतपथ विज्ञानभाष्य' में देखना चाहिए।

शिव भूतपति हैं, परन्तु इन का यह पतित्व जगन्माता के * पाणिग्रहण पर ही अवलम्बित है। जिस दिन पतिदेव पत्नी का सहयोग खो बैठते हैं, प्रचण्डरूप में परिणत हो जाते हैं। विशुद्ध अग्नि ही पत्नीवञ्चित रुद्र है। शक्तियुत अग्नि जहाँ शान्त था, भीषणरव से वर्जित था, वहाँ शक्तिशून्य अग्नि भीषणरव से युक्त बनते हुए 'भैरव' हैं। ये ही जगन्माता के पुत्र हैं। शक्तिविरहित शिवभाव का उपमर्द्दन ही इन का मुख्य कर्म्म हैं। शक्ति (इकार) शून्य शिव—'शव' है। यही (श्वान ही) भैरव का वाहन है। अस्तु इस तान्त्रिक रहस्य का स्पष्टीकरण अप्राकृत है। प्रकृत में अग्नि—सोम के इस चङ्क्रमण से यही कहना है कि, अग्नी—षोम के समन्वितरूप का ही नाम जगत् है। जगत् का प्रत्येक पदार्थ जब अग्नीषोमात्मक है, अग्नित्रयी का ही नाम जब वेदत्रयी है, सोमद्वयी ही जब अथर्ववेद है, तो प्रत्येक पदार्थ को हम अवश्य ही चतुर्वेदमूर्त्ति कह सकते हैं। अग्नी—षोम से यदि कोई अव्याप्त नहीं है, तो तद्रूपा वेदचतुष्टयी से भी—'नाव्याप्तमिह किञ्चन'। अग्निसोम की इसी सर्वव्याप्ति का स्पष्टीकरण करती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है—

(१)—अग्निराचक्षते रौद्री घोरा या तैजसी तनूः।
सोमशक्त्याऽमृतमयः सोमशक्तिकरी तनूः ॥१॥
अमृतं यत् प्रतिष्ठा सा तेजोविद्याकला स्वयम्।
स्थूलसूक्ष्मेषु भूतेषु स एव 'रस—तेजसी' ॥२॥

(२)—द्विविधा तेजसो वृत्तिः सूर्य्यात्मा चानलात्मिका।
तथैव रसशक्तिश्च सोमात्मा चानलात्मिका ॥३॥
वैद्युदादिमयं तेजो मधुरादिमयो रसः।
तेजो—रस—विभेदैस्तु वृत्तमेतच्चराचरम् ॥४॥

(३)—अग्नेरमृतनिष्पत्ति+रमृतेनाग्निरेधते।
अतएव हविःक्लृप्त—"मग्नीषोमात्मकं जगत्" ॥५॥
ऊर्ध्वशक्तिमयः सोम—अधःशक्तिमयोऽनलः।
ताभ्यां सम्पुटितं तस्माच्छश्वद् विश्वमिदं जगत् ॥६॥

(४)—अग्नेरूर्ध्वं भवत्येषा (शक्तिः) यावत् सौम्यं परामृतम्।
यावदग्न्यात्मकं सौम्यममृतं विसृजत्यधः ॥७॥

---

*चिताभस्मालेपो, गरलमशनं, दिक्पटधरः, जटाधारी, कण्ठे भुजगपतिहारिः पशुपतिः। कपाली, भूतेशो, भजति जगदीशैकपदवीं भगवानीत्वत्पाणिग्रहणपरिपाटीफलमिदम्।

\+ अमृतेन—पारमेष्ठ्यसोमेन।

अतएव हि कालाग्निरधस्तच्छक्तिरुर्ध्वगा ।
यावदादहनश्चोर्ध्वमधस्तात्पावनं भवेत् ॥८॥
आधारशक्त्यावधृतः कालाग्निरयमूर्ध्वगः ।
तथैव निम्नगः सोमः "शिवशक्तिपदास्पदः" ॥९॥

(५)—तदित्थं शिव-शक्तिभ्यां नाव्याप्तमिह किञ्चन ॥१०॥

—बृहज्जाबालोपनिषत् २ ब्राह्मण

१४-वेदशाखाविभागोपपत्ति—

"अग्नीषोमसमष्टिरूप पदार्थों में समष्टि-व्यष्टिरूप से अग्नित्रयीलक्षणा वेदत्रयी, सोमद्वयीलक्षण अथर्व, शाखयुक्त ये चारों वेद प्रतिष्ठित हैं। साथ ही ज्ञान-क्रिया-अर्थरूप ब्राह्मणवेद भी प्रतिष्ठित हैं" यह पूर्व परिच्छेद से गतार्थ है। वेदचतुष्टयी के अग्निरूप ऋक्, वायुरूप यजुः, आदित्यरूप साम, सोमरूप अथर्व, चारों मूलपर्व क्रमशः २१-१०१-१०००-९ भागों में परिणत रहते हैं। पहिले वेदत्रयी के पर्वों की ही उपपत्ति का समन्वय कीजिए।

पूर्वप्रतिपादित अदितिस्वरूपपरिचय में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, भूकेन्द्र से आरम्भ कर १७वें अहर्गण पर्य्यन्त अग्नि का साम्राज्य है। सप्तदशस्तोमस्थ इस आहवनीय प्राणाग्नि में ३३ वें अहर्गण पर्य्यन्त प्रतिष्ठित सोम की आहुति होती है। इस सोम की आहुति से यह अग्निविकास २१ वें अहर्गण पर्य्यन्त व्याप्त हो जाता है। इसप्रकार केन्द्र से रथन्तरसाम पर्य्यन्त व्याप्त रहने वाले अग्नि के स्तोमसम्बन्ध से २१ पर्व हो जाते हैं। अग्नि से ही ऋग्वेद का विकास हुआ है, दूसरे शब्दों में अग्नि ही ऋग्वेद है। यही-'एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्' है। प्रत्येक पदार्थ के महिमामण्डल में २१ पर्य्यन्त व्याप्त रहने वाला ऋगग्नि २१ पर्वों में विभक्त है। यही ऋग्वेद की २१ शाखा हैं। इसी रहस्य को सूचित करने के लिए २१ पर्वात्मिका ऋक्संहिता की प्रतिकृतिकृतरूपा शब्दात्मिका ऋक्संहिता की २१ शाखाओं का आविर्भाव हुआ है।

वस्तुपिण्ड को केन्द्र बना कर चारों ओर एक सहस्र परिणाहमण्डलों का वितान होता है, जैसाकि पूर्व प्रकरण की 'सामवेदनिरुक्ति' में विस्तार से बतलाया जा चुका है। कूटस्थ व्यास के आधार पर प्रतिष्ठित एकसहस्र भूतव्यासों के आधार पर प्रत्येक वस्तु में एकसहस्र मण्डल हैं। मण्डल ही साम है, साम ही आदित्य है। अग्नि की विरलावस्था (प्राणावस्था) ही आदित्य है। इसी से सामवेद का विकास हुआ है। दूसरे शब्दों में आदित्य ही सामवेद है। यही 'सहस्रवर्त्मा सामवेदः' है। प्रत्येक पदार्थ के महिमामण्डल में भुक्त सामादित्य के १००० पर्व ही एकसहस्र सामशाखा हैं। इसी रहस्य को सूचित करने के लिए सहस्रपर्वात्मिका सामसंहिता की प्रतिकृतिरूपा शब्दात्मिका सामसंहिता की एकसहस्र शाखाओं का आविर्भाव हुआ है।

अग्नि की तरलावस्थारूप स्थिति-(आकाश)-गर्भित गति-(वायु)-तत्त्व ही (अनेजदेजत् तत्त्व ही) यजुर्वेद है। मण्डल ऋक् है, अर्चि साम है, अग्नि पुरुष है, यही पुरुषाग्नि यजुः है। (देखिए-शत०

१०।५।२।१,२,)। तात्पर्य्य इस का यही है कि, ऋक्–साम दोनों आयतन हैं, छन्द हैं, वस्तुतत्त्वलक्षण अग्नि को अपनी सीमा में प्रतिष्ठित रखनें वाले लेखात्मक पुर हैं। क्योंकि अग्नि इन पुरों से सीमित रहता है, अतएव इसे 'पुरुष' कहा जाता है। ऋक्सामपुर में प्रतिष्ठित स्थितिगर्भित गतिलक्षण वस्तुभूत अग्निरस ही पुरुषविध यजुः है। ऋक्–सामावच्छिन्न यजुः–रस की ही हमें उपलब्धि होती है, यही रसोपलब्धि (रसात्मक यजुर्वेदो-पलब्धि) ही आत्मतृप्ति का कारण बनती है। इसी तृप्तिभाव की दृष्टि से रसात्मक इस यजुः को 'वय' (अन्न) कह दिया जाता है।

कहने को ऋक् (मूर्त्ति), साम (मण्डल) हीं उपलब्धि की प्रतिष्ठा हैं, परन्तु वस्तुतः उपलब्धि होती है—'यजु' की। आत्मानन्द का उद्रेक यजु की उपलब्धि पर ही निर्भर है। यजुरुपलब्धि से तृप्ति होती है, तृप्ति ही शान्तानन्दलक्षण आत्मानन्द है, आत्मानन्द ही इस यजु का वास्तविक विज्ञान (स्वरूपपरिचय) है। क्योंकि ऋक्–साम–यजुः–तीनों में यजु ही आत्मतृप्ति का कारण बनता है, अतएव इसे **'देवानामद्धा-विद्या'** कहा गया है। ऋक्–साम अद्धा (प्रकट) होते हुए भी बनन्द्धा हैं, यजु–अनद्धा (अनिरुक्त-उपांशु) रहता हुआ भी अद्धा (निरुक्त) है। भगवान् याज्ञवल्क्य ने कहा है कि, जो विद्वान् यजुर्विद्या के तृप्तिलक्षण इस अद्धारूप को जानता है, वह सामान्य मनुष्य नहीं है, अपितु वह देवता है।

स्थिति आकाश है, यही जू है। गति वायु है, यही यत् है। यत्–और जू की समष्टि ही 'यज्जू' है। यज्जू ही परोक्षभाषा में 'यजुः' है। प्रियव्रत रौहिणायन ने आकाशगर्भित वायुरूप यजु को ही आत्मानन्द की मुख्य विकासभूमि माना है। लोकव्यवहार में भी वायु को आनन्दविकास का हेतु माना गया है। निरावरणभावात्मक सौर्य्यमारुतिक प्रदेश ही उन्मुक्त वायव्य प्रदेश (खुली जगह, खुली हवा) माना गया है। और ऐसा वायव्य उन्मुक्त प्रदेश सावरण वारुण प्रदेश के समतुलन में स्वास्थ्यकर–आनन्दप्रद–तुष्टिप्रद माना गया है। खुली हवा के संस्पर्श मात्र से मानव एक प्रकार की तुष्टि–तृप्ति का अनुभव करने लगता है। स्थूल भूतवायु के आधार से हमें प्राणात्मक तृप्तिकर यजुर्वायु उपलब्ध होता है। इसप्रकार तीनों वेदों में रसात्मक, गतिभावापन्न, वायुलक्षण यजुः ही मुख्य वस्तुतत्त्व बन रहा है।

इसी मुख्यभाव के कारण यजु को **'ज्येष्ठब्रह्म'–'अपूर्वमपरब्रह्म'** इत्यादि नामों से व्यवहृत किया गया है। यजु के इसी तात्त्विक स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए निम्नलिखित श्रौतवचन हमारे सम्मुख उपस्थित हो रहे हैं—

१—"अयं वाव यजुः, योऽयं पवते। एष हि यन् (गच्छन्) एवेदं सर्वं जनयति, एतं यन्तमिदमनु प्रजायते, तस्माद्वायुरेव यजुः। अयमेवाकाशो जूः–यदिद-मन्तरिक्षम्। एतं ह्याकाशमनु जवते। तदेतद्–यजुः–वायुश्च, अन्तरिक्षञ्च। यच्च, जूश्च। तस्माद्यजुः। एष एव यत्, एष ह्येति। तदेतद्यजुः–ऋक्–सामयोः प्रतिष्ठितं, ऋक्सामे वहतः" (शत० १०।३।५।१,२,।)–(अधिदैवतम्)।

२—"अथाध्यात्मम्—'प्राण एव यजुः। प्राणो हि यन्नेवेदं सर्वं जनयति, प्राणं यन्तमनु प्रजायते, तस्मात् प्राण एव यजुः। अयमेवाकाशो जूः—योऽयमन्तरात्मन्नाकाशः। एतं ह्याकाशमनु जवते। तदेतद्यजुः—प्राणश्च, आकाशश्च। यच्च, जूश्च। तस्माद्यजुः। प्राण एव यत्, प्राणो ह्येति" (शत० १०।३।५।४,५,)।

३—"अन्नमेव यजुः। अन्नेन हि जायते, अन्नेन जवते। तदेतद्यजुरन्ने प्रतिष्ठितं, अन्नं वहति। तस्मात्समानऽएव—प्राणेऽन्यदन्यदन्नं धीयते"

(शत० १०।३।५।६)।

४—"तदेतज्ज्येष्ठं ब्रह्म। नह्येतस्मात् किञ्चन ज्यायोऽस्ति। ज्येष्ठो ह वै श्रेष्ठः स्वानां भवति, य एवं वेद। तदेतत्—'ब्रह्मापूर्वमपरवत्'। स यो हैतदेवं ब्रह्मापूर्वमपरवद्वेद, न हास्मात् कश्चन श्रेयान्त्समानेषु भवति। श्रेयांसः—श्रेयांसो हैवास्मादपरपुरुषा जायन्ते" (शत० १०।३।५।१०,११,)।

५—"तस्य वा एतस्य यजुषः 'रस' एवोपनिषत्। तस्माद्यावन्मात्रेण यजुषा अध्वर्युर्ग्रहं गृह्णाति, स उभे स्तुतशस्त्रे—अनुविभवति, उभे स्तुतशस्त्रे (ऋक्-सामे) अनुव्यश्नुते। तस्माद्यावन्मात्र—इवान्नस्य रसः, सर्वमन्नमवति, सर्वमन्नमनुव्येति" (शत० १०।३।५।१२)।

६—"तृप्तिरेवास्य गतिः। तस्माद्यदान्नस्य तृप्यति, अथ स गत—इव मन्यते। आनन्द एवास्य विज्ञानमात्मा। आनन्दात्मानो हैव सर्वे देवाः। सा हैषैव 'देवानामद्धाविद्या'। स ह स न मनुष्यः, य एवंवित्। देवानां हैव स एकः" (शत० १०।३।५।१३।)।

७—"एतद्ध स्म वै तद्विद्वान् प्रियव्रतो रौहिणायन आह वायुं वान्तं—'आनन्दस्त आत्मा, इतो वा वाहि, इतो वेति। स ह स्म तथैव वाति। एतां ह वै तृप्तिं, एतां गतिं, एतमानन्दं, एतमात्मानमभिसम्भवति, य एवंवेद"।

(शत० १०।५।३।१४।)।

८—"तदेतद्यजुः—उपांश्वनिरुक्तम्। प्राणो वै यजुः, उपांश्वायतनो वै प्राणः। तस्य ह यो निरुक्तमाविर्भावं वेद, आविर्भवति कीर्त्या, यशसा, ब्रह्मवर्चसेन। क्षिप्रऽउ हैवाविदं गच्छति, स ह यजुरेव भवति, यजुषैनमाचक्षते"।

(शत० १०।३।५।१५,१६,)। इति।

उक्त यजुःस्वरूप परिचय से निष्कर्ष यह निकलता है कि, अथर्वगर्भित वेदत्रयीमूर्त्ति पार्थिव सम्वत्सर-प्रजापति का प्रजापतित्त्व वायुविध यजुःपुरुष पर ही अवलम्बित है। प्रजाजनकत्व ही प्रजापति शब्द का अव-च्छेदक है, एवं-'एष हि यन्नेवेदं सर्वं जनयति' इत्यादि श्रुति के अनुसार यजुः ही जनकभाव से युक्त है। अने-जदेजत्-लक्षण, वायुविध अग्निमूर्त्ति-ऋक्-सामावच्छिन्न सम्वत्सर ही यजु है, यही सम्वत्सर है, यही प्रजापति है। इस सम्वत्सराग्नि (वायु) रूप यजुः के ही १०१ पर्व मानें गए हैं। यही व्यवस्था सौर सम्वत्सर में घटित है। दोनों में अन्तर केवल यही है कि, पार्थिव सम्वत्सर में अग्नि की प्रधानता है, एवं सौर सम्वत्सर में आदित्य की प्रधानता है। आदित्यात्मक दिव्य सम्वत्सर रश्मिभाव से एकशतविध है, अग्न्यात्मक पार्थिव सम्वत्सर चिति-भाव से एकशतविध है। ५० प्राणभृत-इष्टकाचिति, ५० यजुष्मती इष्टकाचिति, सादन-सूददोहन, दोनों मिलकर १ चिति, इसप्रकार पार्थिव चित्याग्नि के १०१ पर्व हो जाते हैं। इसप्रकार सप्तपुरुष-पुरुषात्मक, अतएव 'सप्तविध' नाम से प्रसिद्ध प्रजापति के १०१ पर्व हो जाते हैं। इन्हीं संख्याओं के प्रक्रम से उत्तरा-वेदिलक्षणा महापृथिवी का वितान हुआ है, जैसाकि चयनब्राह्मणविज्ञान में विस्तार से निरूपित है। प्रकृत में केवल यही दिखलाना है कि, यजुरग्नि के १०१ पर्व होते हैं। निम्नलिखित वचन इन्हीं पर्वों का स्पष्टी-करण कर रहे हैं—

१—"सम्वत्सरो वै प्रजापतिः। स एकशतमात्मानं व्यधत्त। स एकशतधात्मानं विधाय अग्निं सर्वान् कामानामात्मानमभि समचिनुत, स सर्वे कामा अभवत्। तस्मान्न कश्चन बहिर्धा कामोऽभवत्। तस्मादाहुः-'सम्वत्सरः सर्वे कामाः'"।

(शत० १०।२।४।१।)।

२—"स यः स सम्वत्सरः, असौ स आदित्यः। स एष एकशतविधः। तस्य रश्मयः शतं विधाः। एष एवैकशततमः, य एष तपति, अस्मिन्त्सर्वस्मिन् प्रतिष्ठितः"।

(शत० १०।२।४।३-सौरसम्वत्सरः)।

३—"सप्तविधो वाऽअग्रे प्रजापतिरसृज्यत। स एतमेकशतधात्मानं विहितमपश्यत्। प्राणभृत्सु पञ्चाशदिष्टकाः, पञ्चाशद्यजूंषि, तच्छतम्। सादनञ्च, सूददोहाश्चैक-शततमे, तत् समानम्। सादयित्वा हि सूददोहसाधिवदति। स एतेनैकशतविधे-नात्मनेमां जितिमजयत्, इमां व्यष्टिं व्याश्नुत। स य एवैकशतविधः, स सप्त-विधः। यः सप्तविधः, स एकशतविधः। इति नु विधानां (मीमांसा)"।

(शत० १०।२।४।८,६,)।

४—"सम्वत्सरो वै प्रजापतिरेकशतविधः। तस्याहोरात्राण्यर्धमासा, मासा, ऋतवः। षष्टिर्मास्यस्याहोरात्राणि। मासि वै सम्वत्सरस्याहोरात्राण्याप्यन्ते। चतुर्विंशति-

र्धमासाः, त्रयोदशमासाः, त्रय ऋतवः, ताः शतविधाः । सम्वत्सर एवैकशततमी विधा" * (शत० १०।२।६।१।) ।

५—"सऽउ वा इष्टकैकशतविधः । याः पञ्चाशत् प्रथमा इष्टकाः, याश्चोत्तमाः, ताः शतंविधाः । अथ या एतदन्तरेणेष्टका उपधीयन्ते, सैवैकशततमी विधा" ।

(शत० १०।२।६।११।) ।

६—"स उ एव यजुस्तेजाः, 'यजुरेकशतविधः' । यानि पञ्चाशत् प्रथमानि यजूंषि, यानि चोत्तमानि, ताः शतं विधाः । अथ यान्येतदन्तरेण यजूंषि क्रियन्ते, सैवैकशततमी विधा । एवमु सप्तविध एकशतविधो भवति" ।

(शत० १०।२।६।१२। ।

७—"एवं वा सर्वे यज्ञा एकशतविधाः, आ—अग्निहोत्रात्—ऋग्भिः, यजुर्भिः, सामभिः । स यः शतायुतायां कामः, य एकशतविधे, यः सप्तविधे, यज्ञेन । यज्ञेन हैव तमेवंविदाप्नोति" (शत० १०।२।६।१३।) ।

इसप्रकार हमारा यजुःपुरुष १०१ भागों में विभक्त हो रहा है, और यही 'एकशतमध्वर्युशाखाः' है । इसी रहस्य को सूचित करने के लिए १०१ पर्वात्मिका यजुःसंहिता की प्रतिकृतिरूपा शब्दात्मिका यजुःसंहिता की १०१ शाखाओं का आविर्भाव हुआ है ।

सर्वान्त में चौथा अथर्ववेद हमारे सामने आता है । अथर्ववेद सोमात्मक है । एवं यह सोमतत्त्व दसभागों में विभक्त है । दशधा विभक्त सोम ऋणभाव से नवधारूप में परिणत हो जाता है, जैसाकि आगे के 'ऋणधन' परिच्छेद में स्पष्ट होने वाला है । सोम ही अथर्व है, यही 'नवधाऽऽथर्व्वणो वेदः' है । इसी रहस्य को सूचित करने के लिए ९ पर्वात्मिका अथर्वसंहिता की प्रतिकृतिरूप शब्दात्मिका अथर्वसंहिता की ९ शाखाओं का आविर्भाव हुआ है । इसप्रकार शब्दात्मक वेद की शाखाओं के मूल तत्त्वात्मक वेद के शाखाविभाग ही बन रहे हैं ।

---

* १—अहोरात्राणि—६०
२—अर्द्धमासाः—२४
३—मासाः———१२
४—ऋतवः———३
५—सम्वत्सरः—–१

१०१

१५-वेदचतुष्टयी के उपक्रम मन्त्र, और तात्त्विक वेदस्वरूप—

अग्नीषोमात्मिका तात्त्विक-वेदचतुष्टयी के क्योंकि ११३१ विभाग हैं, अतएव तत्प्रतिपादिका शब्द-वेदचतुष्टयी के भी इतनें हीं शाखाविभाग वेदद्रष्टा महर्षियों की ओर से व्यवस्थित हुए हैं। तात्त्विकवेद में, एवं तत्प्रतिपादिक शब्दवेद में कैसी समानता है, यह शब्दवेद के उपक्रमों से भलीभाँति सिद्ध हो जाता है। अग्नित्रयी (अग्नि-वायु-आदित्य) ही तात्त्विक-वेदत्रयी (ऋक्-यजुः-साम) है। तीनों अग्निवेद क्रमशः पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यु, लोकों में प्रतिष्ठित हैं। ऋङ्मूर्त्ति पार्थिव अग्नि अस्मदादि पार्थिव प्राणियों के लिए समीप है, सामने रक्खा है। अतएव इसे हम 'पुरोधा' कह सकते हैं। अपिच यही पार्थिव अग्नि गायत्रीरूप में परिणत होकर तृतीय द्युलोकस्थ सोम का अपहरण करता है। साथ ही गायत्रीरूपात्मक इस पार्थिव अङ्गिरोऽग्नि के सामातिमान से दिव्य सौर सावित्राग्नि का पार्थिव प्रजा के शारीर-पार्थिव अग्नि में ग्रन्थिबन्धन होता है, अतएव इसे 'होता' कहा जा सकता है। द्युलोकस्थ दिव्याग्नि का आह्वान करने के कारण यह पार्थिव अग्नि होता है। पार्थिव ऋगग्नि पार्थिवप्रजा के पुरः (सम्मुख-समीप) हित (प्रतिष्ठित) है। शब्दात्मिका ऋग्वेद-संहिता इसी पार्थिव पुरोहित ऋगग्नि की प्रतिकृति है, अतएव इसका उपक्रम निम्नलिखित मन्त्र से हुआ है—

ऋग्वेदोपक्रमः—"**अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्त्विजम्। होतारं रत्नधातमम्**"

(ऋक्सं० १।१।१।)।

अग्नि की दूसरी अवस्था वायु है, यही वायव्याग्नि यजुःपुरुषाग्नि है। ऋगग्नि जहाँ अर्थशक्ति का प्रवर्त्तक बनता हुआ पुरोहित है, रत्नधातम है, वहाँ यजुरग्नि अपने वायव्यधर्म्म से क्रियाशक्ति का प्रवर्त्तक बनता हुआ व्रतपति बन रहा है। किसी भी कर्म्म (क्रिया) में अनन्यभाव से प्रतिष्ठित रहना 'व्रत' है। इस व्रत का अध्यक्ष एकमात्र प्राणवायुप्रधान शारीर यजुरग्नि ही है। शब्दात्मिका यजुर्वेदसंहिता इसी आन्तरीक्ष्य व्रतपति यजुरग्नि की प्रतिकृति है, अतएव इसका उपक्रम निम्नलिखित मन्त्र से हुआ है—

यजुर्वेदोपक्रमः—"**अग्ने! व्रतपते! व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्। इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि**" (यजुः सं० १।४।)।

उपलब्ध होने वाली माध्यन्धिनीया यजुर्वेदसंहिता का उपक्रम यद्यपि '**इषे त्वोर्जेत्त्वा वायवस्थ देवः०**' (यजुः सं० १।१।) इस मन्त्र से हुआ है। तथापि एक विशेष कारण से इसे उपक्रम न मानते हुए '**अग्ने व्रतपते०**' इत्यादि चतुर्थमन्त्र को ही हम इस संहिता का उपक्रम मन्त्र मानते हैं। 'इषे त्वा०' से आरम्भ कर 'ऊर्जं वहन्ती०' (२।३४) इस मन्त्र पर्य्यन्त दो अध्यायों में दर्शपूर्णमासेष्टि का निरूपण हुआ है। दर्शेष्टि में इन्द्र के लिए '**सान्नाय्य**' (दधि) द्रव्य सम्पन्न किया जाता है। इष्टिदिन से प्रथम दिन सान्नाय्य सम्पादन के लिए गोदोहन कर्म्म होता है। "**इषे त्वोर्जे त्वा०**" (१।१)-"वसोः पवित्रमसि" (१।२।)-"वसोः पवित्रमसि" (१।३) इन तीन मन्त्रों से गोदोहन कर दुग्ध से सान्नाय्यकर्म्म की इतिकर्त्तव्यता पूरी की जात है। जब तीनों मन्त्रों के विनियोग से पहिले दिन सान्नाय्यद्रव्य सम्पन्न हो जाता है, तो दूसरे दिन इष्टिकर्म्म के लिए '**अग्ने व्रतपते०**' (१।४) इत्यादि मन्त्र बोलते हुए अग्नि (यजुरग्नि) की साक्षी में '**व्रतग्रहण**' कर्म्म

किया जाता है। यही कर्म्मारम्भोपक्रम–मन्त्र है। इस दृष्टि से यजुःसंहिता का उपक्रम 'अग्ने व्रतपते०' इत्यादि मन्त्र ही बनता है। ब्राह्मणग्रन्थों में सुप्रसिद्ध **'शतपथब्राह्मण'** इसी यजुःसंहिता का व्याख्याग्रन्थ है। क्योंकि संहिता का वैज्ञानिक उपक्रम 'अग्ने व्रतपते०' यह मन्त्र है। अतएव परमवैज्ञानिक भगवान् याज्ञवल्क्य के इस ब्राह्मण का उपक्रम भी–**'व्रतमुपैष्यन्नन्तरेणाहवनीयञ्च गार्हपत्यञ्च प्राङ् तिष्ठन्०'** (शत० १।१।१।१।) इत्यादि रूप से ही हुआ है। शतपथ ने 'अग्ने व्रतपते० को उपक्रम मानते हुए इसी को आरम्भ-मन्त्र माना है। इन्हीं सब प्रत्यक्ष निदर्शनों से हमनें 'अग्ने व्रतपते०' को ही यजुःसंहिता का उपक्रम मन्त्र माना है।

अग्नि की तृतीयावस्था आदित्य है, यही आदित्य सामवेद है। आदित्यात्मक सामवेद ज्ञानशक्तिप्रधान बनता हुआ भोक्ता है। अपनी इसी 'आददान' वृत्ति से सामात्मक दिव्य प्राणाग्नि 'आदित्य' नाम से व्यवहृत हुआ है। 'अर्थ–क्रिया–ज्ञान' तीनों में अर्थ भोग्य (अन्न) बनता है, क्रिया भोगसाधन बनती है, ज्ञान भोक्ता बनता है। इसीलिए ज्ञानप्रधान इस आदित्यात्मक सामाग्नि को 'भोक्ता' कह सकते हैं। यह सामाग्नि तृतीय–लोक में (द्युलोक में) उक्थरूप से प्रतिष्ठित रहता हुआ अर्करूप से अन्नादान के लिए पृथिवी में आता है। पार्थिव अग्निवत् यह हमारे पुरः हित नहीं है, अपितु विदूर है। जो दूर होता है, उसे ही बुलाया जाता है। अतएव इस सामाग्नि के लिए–'अग्न आयाहि वीतये' हे अग्ने ! आप अन्नभोगार्थ (यहाँ–पृथिवी पर) पधारिए !, यह कहना अन्वर्थ बनता है। शब्दात्मिका सामसंहिता इसी तत्त्ववेद की प्रतिकृति है, अतएव निम्नलिखित मन्त्र से ही इस संहिता का उपक्रम हुआ है—

सामवेदोपक्रमः—"अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये। नि होता सत्सि बर्हिषि"।
(सामसं० १।१।)।

अग्नि, वायु, आदित्य ही ऋक्–यजुः–साम हैं, तीनों एक ही अग्नि के तीन विवर्त्त हैं। वेदत्रयी के अग्निप्रधान तीनों उपक्रममन्त्र इसी अग्नित्रयी–रूपा वेदत्रयी का स्पष्टीकरण कर रहे हैं।

※सोमात्मक अथर्वतत्त्व 'ब्रह्मवेद' नामक चतुर्थ वेद है। "सर्वं हेदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्" इस तैत्तिरीय सिद्धान्त के अनुसार अथर्वब्रह्म ही अपने अन्नधर्म्म से अन्नादलक्षणा वेदत्रयी की प्रतिष्ठा बन रहा है। 'यदपस्पृधेथां, त्रेधा सहस्र' वितदैरयेथाम्' इत्यादि श्रुति के अनुसार अप्तत्त्वलक्षण अथर्वब्रह्म के आधार पर ही त्रयीवेदसाहस्री का वितान हुआ है। 'अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसः श्रिताः' (गोपथ) इत्यादि अथर्वब्राह्मण के अनुसार भृग्वङ्गिरोमय अप्मूर्त्ति अथर्वब्रह्म के गर्भ में ही त्रयीवेद प्रतिष्ठित है। इन्हीं सब कारणों से इसे सर्ववेदमूर्त्ति कहा जा सकता है। इसी आधार पर अथर्वमन्त्र सर्वसाधक मानें गए हैं।÷

※ "आप इत्येवं ब्रह्मभूतसंज्ञकेऽद्वितीये प्रतिष्ठिते"। (महा० शा० मो० ३४२ अ० ४।)।

÷ न तिथिर्न च नक्षत्रं न ग्रहो न च चन्द्रमाः।
अथर्व्वमन्त्रसम्प्राप्त्या सर्वसिद्धिर्भविष्यति ॥ (प० २।५।)।

पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यु, तीन लोक हैं। तीनों के क्रमशः अग्नि, वायु, आदित्य, तीन अतिष्ठावा देवता हैं। तीनों अतिष्ठावा देवता क्रमशः ऋक्-यजुः-साममय हैं। पार्थिव सम्वत्सरमण्डल इसप्रकार तीन पर्वों में विभक्त हैं। ये तीनों पर्व (त्रिपर्वात्मक सम्वत्सरप्रजापति) सप्त-ऋषि, सप्त-ग्रह, सप्त-मरुद्गण, सप्त-देवलोक, इत्यादि सप्त-विभूतियों से युक्त रहते हुए-'त्रिषप्ताः' बन रहे हैं। अथवा *A*"आरोग, भ्राज, पटर, पतङ्ग, स्वर्णर, ज्योतिपीमान्, विभास" ये सात दिशाएँ, "*B* मित्र, वरुण, धाता, अर्य्यमा, अंशु, भग, इन्द्र, विवस्वान्" ये सात आदित्य, सप्त होता, इस दृष्टि से भी ये सम्वतसर पर्व 'त्रिषप्ताः' बन रहे हैं। अथवा क्षीरोदकादि *C*सप्तसमुद्र, भूरादि सप्तलोक, सप्तदिशा भेद से भी सम्वत्सर 'त्रिषप्ताः' बन रहा है। अथवा *D*द्वादशमास, पांच ऋतु, तीन लोक, आदित्य, भेद से सम्वत्सर के २१ पर्व हैं, एवं इस दृष्टि से भी सम्वत्सर 'त्रिषप्ताः' बन रहा है। आध्यात्मिक दृष्टि से शरीरारम्भक पञ्च महाभूत, प्राणादि पञ्चप्राण, पञ्चज्ञानेन्द्रियवर्ग, पञ्चकर्म्मेन्द्रियवर्ग, सर्वेन्द्रिय मनोरूप से भी सम्वत्सर 'त्रिषप्ताः' बन रहा है।

उक्त त्रिसप्त विवर्त्तात्मक, वेदत्रयीरूप सम्वत्सरप्रजापति वाङ्मय है। त्रैलोक्य सृष्टि का निर्म्माण, एवं धारण इसी वाग्विवर्त्त पर अवलम्बित है। सम्पूर्णरूप इसी प्रजापति पर प्रतिष्ठित हैं। यह सर्वाधिष्ठाता वाङ्मूर्त्ति प्रजापति 'वाचस्पति' पर प्रतिष्ठित है, जिस वाचस्पति को हम 'अथर्वब्रह्म' कहेंगे। आम्भृणीवाक् का अधिपति यही आपोमय अथर्वब्रह्म है। यही अप्तत्त्व वेदत्रयीमूर्त्ति सम्वत्सरप्रजापति में बलाधान करता है। इसी की आहुति से ये अन्नादप्राण बलवान् बनते हैं, यही इनका शरीरनिर्म्माता है। शब्दात्मिका अथर्वसंहिता वाचस्पति नामक, देवबलप्रवर्त्तक, शरीरभावसम्पादक, त्रिःसप्तभावानुयोगिक, इसी अथर्वब्रह्म की प्रतिकृति है। इसी अथर्वरहस्य को सूचित करने के लिए इस संहिता का उपक्रम निम्नलिखित मन्त्र से हुआ है—

अथर्ववेदोपक्रमः—"ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे।"।

(अथर्व सं० १।१।)।

A—"आरोगो, भ्राजः, पटरः, पतङ्गः, स्वर्णरो, ज्योतिषीमान्, विभासः"।

(तै० ब्रा० १।७।१।)

B—"सप्तदिशो नाना सूर्य्याः, सप्त होतारः, ऋत्विजः। देवा आदित्या ये सप्त"।

(ऋक्० सं० ६।११४।३।)।

C—"यः सप्त सिन्धून् अदधात् पृथिव्याम्। यः सप्तलोकानकृणोद्, दिशश्च"।

(तै० ब्रा० ८।८।३।८)।

D—"द्वादश मासाः, पञ्चर्त्तवः, त्रय इमे लोकाः, असावादित्य एकविंशः"।

(तै० सं० ७।३।१०।५)

१६—विषयसन्दर्भसमन्वय—

प्रकरणारम्भ से अब तक वेदशाखाओं के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है, उस के आधार पर शास्त्रवेद, एवं तत्त्ववेद का समतुलन करते हुए हमें निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुंचना पड़ता है—

१—आधिदैविक (प्राकृतिक) अग्नित्रयी-विवर्त्त तात्त्विक वेदमयी है, एवं सोमद्वयी-विवर्त्त अथर्ववेद है। वेदत्रयी अग्निमय बनती हुई अन्नादात्मिका है, अथर्व सोममय बनता हुआ अन्नात्मक है। अन्नात्मिका अथर्वाहुति से ही त्रयी वेद का विकास हुआ है।

२—घनाग्निलक्षण अग्निमय ऋक्तत्त्व की सोमाहुति के प्रभाव से २१ स्तोमपर्वों में व्याप्ति है, ये ही तात्त्विक ऋक् की २१ शाखा हैं। तरलाग्निलक्षण वायुमय यजुः की चिति-सम्बन्ध से १०१ अवस्था हो जातीं हैं, ये ही तात्त्विक यजुः की १०१ शाखा हैं। विरलाग्निलक्षण आदित्यमय साम के मण्डल सम्बन्ध से १००० पर्व हैं, ये ही तात्त्विक साम की १००० शाखा हैं। सोमात्मक अथर्व के ऋतसम्बन्ध से ६ पर्व हैं, ये ही तात्त्विक अथर्व की ६ शाखा हैं।

३—ऋक्[१]-यजुः[२]-साम[३]-अथर्व[४], चारों क्रमशः क्रिया-ज्ञान-गर्भित अर्थप्रधान[१], अर्थ-ज्ञान गर्भित-क्रियाप्रधान[२], अर्थ-क्रिया-गर्भित ज्ञानप्रधान[३], ज्ञानक्रियार्थमय[४], बनते हुए ज्ञानक्रियार्थ तीनों भावों से युक्त हैं। ज्ञानभाव तात्त्विक उपनिषत् है, क्रियाभाव तात्त्विक आरण्यक है, अर्थभाव तात्त्विक ब्राह्मण है। चारों तात्त्विक मूलवेदों के जितनें पर्व हैं, तीनों तात्त्विक मूलवेदों के भी उतनें ही पर्व हैं। सब पर्वों के संकलन से तत्त्वात्मक, मन्त्रब्राह्मणलक्षण, इस अपौरुषेय नित्य वेद के ४५२४ पर्व हो जाते हैं।

४—शब्दात्मक, पौरुषेय, मन्त्रब्राह्मणरूप अनित्यवेद निरूपक है। तत्त्वात्मक, अपौरुषेय, मन्त्रब्राह्मणरूप, आधिदैविक नित्यवेद निरूप्यवेद है। निरूप्यवेद के क्योंकि ४५२४ पर्व हैं, अतएव निरूपक शब्दवेद के भी इतनें हीं शाखाविभाग किए गए हैं। "गुरुशिष्याध्ययनसम्प्रदायभेद से शब्दवेद के शाखाविभाग हो गए हैं" इस कथन का तात्त्विक वेदस्वरूप से परिचय रखनें वाले वैज्ञानिकों की दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं है।

इसी सिंहावलोकन के सम्बन्ध में शब्दवेदभक्तों को यह स्मरण रखना चाहिए कि, यदि शब्दवेद के शाखाविभागों का एकमात्र कारण सम्प्रदायभेद ही रहा होता, तो पदार्थस्वरूपनिरूपक 'सहस्र' शब्द की व्याख्या में प्रयुक्त श्रुति के—'किं तत् सहस्रमिति ?, इमे लोकाः, इमे वेदाः, अथो वागिति ब्रूयात्" इस कथन का कोई तात्पर्य्य न होता। "*अप्तत्त्व पर इन्द्रा-विष्णू की स्पर्द्धा हुई, इस स्पर्द्धा से तीन साहस्रियां

---

*—१—उभा जिग्यथुर्न पराजयेथे, न पराजिग्ये कतरश्च नैनोः।
इन्द्रश्च विष्णू यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वितदैरयेथाम् ॥
२—सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद्द्यावापृथिवी तावदित्तत्।
सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद् ब्रह्मविष्ठितं तावती वाक् ॥

उत्पन्न हुईं, वे ही तीन साहस्रियाँ क्रमशः लोक, वेद, वाक् (वषट्कार) नाम से व्यवहृत हुईं" यह श्रौत-सिद्धान्त विस्पष्ट शब्दों में प्राणात्मिका, गौरूपा, एक सहस्ररश्मियों के आधार पर वेदसाहस्री का वितान बतलाता हुआ वेदशाखाविभाग की मौलिकता का ही समर्थन कर रहा है।

इसी सम्बन्ध में हम महाभारत के उस वचन की ओर भी अपने विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं, जिसने ऋग्वेद के २१ सहस्र पर्व मानें हैं। वचन का स्वरूप निम्नलिखित है—

एकविंशतिसाहस्रं ऋग्वेदं मां प्रचक्षते।
सहस्रशाखं यत् साम ये वै वेदविदो जनाः।। (म०शा०मो०३४२ अ०६७ श्लो०)

वचन का तात्पर्य्य यही है कि, आपोमय पारमेष्ठ्य विष्णु ऋङ्मय हैं, एवं इस ऋक् के २१ सहस्रपर्व है। ये ही विष्णु साममय हैं, एवं साम के एकसहस्र पर्व हैं। तात्त्विकवेद का परिज्ञाता इसका समाधान यह करेगा कि, विष्कम्भभावात्मिका ऋक् से चारों ओर सहस्र सहस्र प्राणों का वितान होता है, जैसाकि—'**सहस्रधा महिमान सहस्रम्**' इत्यादि मन्त्रवर्णन से प्रमाणित है। ऋगग्नि व्यासलक्षण है। इस ऋगग्नि के २१ उक्थपर्व हैं, प्रत्येक उक्थपर्व से एक एक सहस्र अर्कपर्वों का वितान हुआ है। इसप्रकार 'एकविंशातिधा बाहृच्यम्' का 'एकविंशतिसहस्रधा बाहृच्यम्' इस वाक्य पर भी पर्य्यवसान माना जा सकता है। परन्तु जो वेदभक्त शब्दात्मक वेद पर ही वेदसीमा समाप्त किए बैठे हैं, वे न तो अपने 'एकविंशतिधा बाहृच्यम्' सिद्धान्त को ही सुरक्षित रख सकते, एवं न उनके कोश में '**एकविंशतिसाहस्रं ऋग्वेदं मां प्रचक्षते**' इस भारत वचन के समन्वय का ही कोई उपाय बच रहता *।

१७-शून्य, एवं पूर्णभाव—

अब यह सर्वात्मना सिद्ध हो चुका है कि, शब्दात्मिका वेदशाखाओं का मूलकारण अग्नीषोमात्मक वेदतत्त्व का शाखाविभाग ही है। अग्नि-सोमविकास तत्त्वात्मक वेदशाखाविभाग का कारण है, एवं निरूप्य वेदशाखा-विभाग निरूपक शब्दवेदशाखाविभाग का कारण है। तत्त्वात्मक वेदशाखानुबन्धी जिस अग्नी-सोम विकास का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, वह अभी अपूर्ण है। अथवा विभिन्न दृष्टिकोण से सम्बन्ध रखने वाला है। अतएव आवश्यक है कि, अग्नि-सोम विकास का तात्त्विक स्वरूप संक्षेप से पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर दिया जाय, एवं इस लक्ष्यसिद्धि के लिए सर्वप्रथम '**शून्य-पूर्ण**' भावों की ओर उनका ध्यान आकर्षित किया जाय।

"शून्यमन्यत्-स्थानं,-पूर्णमन्यत्-स्थानम्" इस विज्ञान-सिद्धान्त के अनुसार अमृतमृत्युमय, रस-बलात्मक, सदसल्लक्षण, अनिरुक्तनिरुक्तकृतमूर्त्ति, विद्याकर्म्मानुगत, सृष्टिसाक्षी प्रजापति का 'शून्य' एक पृथक्

---

* एकबार एक मान्य विद्वान् के सम्मुख हमनें यह विप्रतिपत्ति उपस्थित की थी। आपने इसका उत्तर दिया कि—'एकविंशतिसहितं साहस्रम्' इति विग्रहः करणीयः। 'सहस्रवर्त्मा सामवेदः' इति पूर्ववाक्यतः-'सहस्रवर्त्मा' इत्यनुवर्त्य 'एकविंशतिधा' इत्यत्र 'एकविंशतिं दधाति' इत्यर्थस्वीकारेण-'एकविंशत्यधिकसहस्रवर्त्मा' इत्येवार्थ करणेनैकवाक्यता'। उत्तर कहाँ तक तथ्यपूर्ण है ?, यह भार नीरक्षीरविवेकियों पर ही छोड़ा जाता है।

स्थान माना गया है, एवं पूर्ण एक पृथक् स्थान माना गया है। वैज्ञानिकों का कहना है कि, प्रजापति ने अपने शून्य-पूर्णभावों के समन्वय से ही प्रजोत्पत्ति की है। अतएव सृष्टि का प्रजात्मक प्रत्येक पदार्थ शून्य, पूर्ण, दोनों भावों से युक्त है।

प्रजाध्यक्ष प्रजापति की वे शून्य-पूर्ण विभूतियाँ 'ऋत-सत्य' नामों से प्रसिद्ध हैं। 'ऋतं शून्यम्' है, 'सत्यं पूर्णम्' हैं। दोनों 'ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत' (यजुःसंहिता) के अनुसार प्रजापति के तप से (मनःप्राणवाङ्मय काम-तपः-श्रमसे) उत्पन्न हुए हैं। दूसरे शब्दों में पुरुषप्रजापति (सप्तपुरुषपुरुषात्ममक, असत्प्राणमूर्त्ति, स्वयम्भू प्रजापति) का ही आधा भाग सत्य बना है, एवं आधा-भाग ऋत बना है। शून्यात्मक ऋतभाव से, एवं पूर्णात्मक सत्यभाव से ही त्रैलोक्य, एवं तत्रस्थ प्रजाका विकास हुआ है। 'अहृदयमशरीरं ऋतम्'-'सहृदयं सशरीरं सत्यम्' ही ऋत-सत्य के वैज्ञानिक लक्षण हैं, जैसाकि अन्यत्र गीताभूमिकादि में विस्तार से निरूपित है।

१८-अप्तत्त्व का पञ्चधा विकास—

शून्य-पूर्णात्मक ये ऋत-सत्यभाव वे ही आप के सुपरिचित अग्नि, और सोम (आपः) हैं। अग्नि-सत्य है, यह अपने अन्नादभाव से पूर्ण है। अप्तत्त्व ऋत है, यह अपने अन्नभाव से शून्य है। शून्य-ऋत-अप्तत्त्व पूर्णता का प्रवर्त्तक है, पूर्ण-सत्य-अग्नितत्त्व शून्य का प्रवर्त्तक है। अप्तत्त्व ही केन्द्र में जाकर पिण्डभाव में परिणत होता हुआ सत्याग्नि बन जाता है, केन्द्रस्थ अग्नि ही विकास की चरसीमा पर पहुँच कर ऋतापः बनजाता है, जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। इसी आधार पर हम शून्य (आपः) को पूर्ण (अग्नि) का, एवं पूर्ण को शून्य का प्रवर्त्तक मानते हैं। अतएव च-'यद्वै-न्यूनं, तत्पूर्णं, यत्पूर्णं तन्न्यूनम्' यह लोकसिद्ध आभाणक अन्वर्थ बनता है।

पूरी संख्या अधूरी है, अधूरी संख्या पूरी है। भूमा का नाम पूर्णता है, अल्पता का नाम अपूर्णता है। १०-२०-४०-५०-१००-१०००-इत्यादि पूर्ण संख्याओं में विरामभाव का समावेश है, आगे विकास का अभाव है, समृद्धिलक्षणा पूर्णता का अवरोध है। यही अल्पता है, एवं यही इन पूर्ण संख्याओं की अपूर्णता है। ११-२१-५१-१०१-१००१-इत्यादि अपूर्ण संख्याओं में आगे विकास का समावेश है, समृद्धिलक्षणा पूर्णता प्रक्रान्त है, यही इन की पूर्णता है। यही कारण है कि, दानधर्म्म में दानद्रव्य की संख्या सदा अपूर्ण ही रक्खी जाती है। केवल निधनकर्म्म (श्राद्धकर्म्म) में पूर्ण दक्षिणा का विधान हुआ है।

इस शून्य-पूर्णविवेचन से प्रकृत में केवल यही वक्तव्य है कि, पूर्णलक्षण सत्याग्नि के विकास की मूलप्रतिष्ठा शून्यलक्ष ऋत आपः ही बनते हैं। अब् गर्भ में प्रविष्ट सत्याग्नि ही विकसित होता है। उदाहरण के लिए शारीराग्नि-विकास को ही लीजिए। 'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' इस छन्दोग सिद्धान्त के अनुसार त्र्यात्मक आपः ही हमारे पाञ्चभौतिक शरीर के आरम्भक बनते हैं। अप्गर्भ में ही शारीर-अग्नि की चिति होती है, इसी अग्निचिति से शरीरयष्टि का वितानलक्षण विकास होता है। दैनिक शारीराग्नि-यज्ञ में भी अब्-लक्षणा अन्नाहुति ही अग्निविकास का कारण बन रही है। स्नान से शारीराग्नि प्रदीप्त हो जाता है, यह सार्वजनीन है। सृष्टिचक्र में इसी आपोमय पारमेष्ठ्य समुद्र के गर्भ में अग्नितत्त्व बीजरूप से प्रकट होता हुआ अन्तमें सौर-संस्थारूप से विकसित होता है।

जिस प्रकार अप्तत्त्व के गर्भ में प्रतिष्ठित अग्नि विकसित होता है, एवमेव इस गर्भाग्नि के सम्बन्ध से परिश्रितरूप स्वयं अप्तत्त्व का भी विकास होता है। अप्तत्त्व स्वस्वरूपसे स्नेहगुणकबनता हुआ यद्यपि संकोचधर्म्मा है, तथापि गर्भस्थ, तेजोगुणक, अतएव विकासधर्म्मा अग्नि के सहयोग से इस आपः को भी विकासावस्था में आना पड़ता है। इसप्रकार गर्भस्थ अग्नि के सम्बन्ध से विकासभाव में आने वाले ये आपः ६ मार्गों में विभक्त हो जाते हैं। तत्त्वतः अप्तत्त्व का ६ प्रकार से विकास होता है।

मान लीजिए, अभी अप्तत्त्व का विकास नहीं हुआ, अभी वह अपने स्वाभाविक ऋतलक्षण शून्यभाव में परिणत है। अग्नि इस के गर्भ में प्रविष्ट हुआ। फलतः इस में विकासक्रिया का आरम्भ हुआ। इस विकासक्रिया से ही 'वायु[१]:, सोम[२]:, अग्नि[३]:, यम[४]:, आदित्य[५]:' इन पाँच रूपों का विकास हुआ, जिन्हें हम अग्निगर्भ के सम्बन्ध से ऋत आपः के सत्यरूप कह सकते हैं। इसप्रकार एक ही आपः— 'आपः-वायुः—सोमः—अग्निः—यमः—आदित्यः' इन ६ भावों में परिणत होकर 'आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम्' इस गोपथश्रुति को चरितार्थ कर रहा है। आपः—वायुः—सोम—समष्टि भृगुलक्षण आपः हैं, ये द्युलोक से मेदिनी पृष्ठ की ओर बरसते हैं। अग्निः—यमः—आदित्य—समष्टि अङ्गिरालक्षण आपः हैं, एवं ये मेदिनीपृष्ठ से द्युलोक की ओर बरसते हैं। जिसप्रकार पृथिवी पर वृष्टि होती है, एवमेव पृथिवी से द्युलोक में भी वृष्टि होती है। इस समानवर्षण के आधार बनते हैं गौरूप—अहर्गण। द्युलोक से पर्जन्य—वायु के द्वारा भार्गव पानी बरसता है, पृथिवी से आग्नेय वायु के द्वारा अङ्गिरापानी बरसता है। इसी वृष्टिविज्ञान का स्पष्टीकरण करते हुए ऋषि कहते हैं—

> समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभिः।
> भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति, दिवं जिन्वन्त्यग्नयः॥
>
> —ऋक्संहिता

उक्त ६ अवस्थाओं के सम्बन्ध से ही इस आपोमय अथर्वब्रह्म को 'षड्ब्रह्म' कहा गया है (देखिए ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य)। यही षड्ब्रह्म द्विब्रह्म (यत्—जूलक्षण यजुर्ब्रह्म) का स्वेद (पानी) होने से 'स्वेद' नाम से प्रसिद्ध है, जो कि परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्ष भाषा में 'सुवेद' नाम से व्यवहृत हुआ है। इसी को गोपथ ने 'सुब्रह्म' कहा है—गो० ब्रा० १।१।१। सुब्रह्म से ही 'सुब्रह्मण्या' वाक् का विकास हुआ है, जिसका यज्ञविशेषों में 'सुब्रह्मण्योम्' इत्यादि रूप से प्रयोग हुआ करता है। आपोमयी सुब्रह्मण्या वाक् की प्रतिष्ठारूप यह आपोमय सुब्रह्मतत्त्व अपने 'आपः' रूप से शून्यस्थान बन रहा है, एवं शेष पाँच रूपों से पूर्णस्थान बन रहा है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—

आपो भृग्वङ्गिरोरूपम्—

१— (१)—आपः——विकासात् पूर्वरूपम्— शून्यस्थानम् (ऋतम्)

२—१ (२)—वायुः——प्रथमो विकासः— पूर्णं स्थानम् (सत्यम्)

३—२ (३)—सोमः—— द्वितीयो विकासः— पूर्णं स्थानम्। (सत्यम्)

४—३ (१)—अग्निः—— तृतीयो विकासः— पूर्णं स्थानम्। („)

५—४ (२)—यमः—— चतुर्थो विकासः— पूर्णं स्थानम्। („)

६—५ (३)—आदित्यः-पञ्चमो विकासः— पूर्णं स्थानम्। („)

१६-अपूतत्त्व का चतुर्द्धा विकास—

उक्त विकासक्रम का दूसरी दृष्टि से समन्वय कीजिए। जिस बिन्दु से विकास का आरम्भ होता है, वह बिन्दु उत्तरभावी विकास का शून्यरूप है। इसी शून्यभाव के कारण इस पूर्णरूप को हम अत्र लक्षण 'अरूप-रूप' कहेंगे। इस अरूपात्मक शून्यरूप का नाम 'आपः' है। इस शून्यरूप से जो पहिला विकास हुआ है, वही 'वायु' है। वायुलक्षण इस प्रथम विकास में विकास की एक मात्रा (१) का समावेश है। एकमात्रिक वायुविकास का द्वितीय विकास 'सोम' है। इस में विकास की दो (२) मात्रा हैं। 'आपः-वायुः-सोमः', इन तीन स्थानों में तो अप् का अप्त्व सुरक्षित रहता है। जब द्विमात्रिक सोम का तृतीय विकास होता है, तो यह आपः अङ्गिरा-रूप में परिणत हो जाता है, जो कि अङ्गिराभाव अपूतत्त्वापेक्षया सर्वथा अपूर्व धर्म्म है। अपूतत्त्व की आपः, वायु, सोम, ये तीनों अवस्था स्नेहधर्म्म से युक्त थीं, अङ्गिरात्रयी तेजोधर्म्म से युक्त हैं। इसी धर्म्मवैषम्य से गतिवैषम्य उत्पन्न हो जाता है। भृगुत्रयी जहाँ आगतिधर्म्मरूपा है, वहाँ अङ्गिरा-त्रयी गतिधर्म्मावच्छिन्ना बन जाती है। साथ ही यह भी स्मरण रखने की बात है कि, तृतीय विकास में आपो लक्षण सोम अङ्गिरारूप में तो परिणत हो जाता है, परन्तु अन्तर्य्यामसम्बन्ध से सम्बद्ध अपने 'अप्त्व' का परि-त्याग नहीं करता है। इसीलिए तो अप् का भृगुवत् अङ्गिरा के साथ भी सम्बन्ध माना गया है। तीनों भृगु, एवं तीनों अङ्गिरा, छओं 'आपः' हैं। अपूतत्त्व के ही भृगु, अङ्गिरा भेद से दो श्रेणि-विभाग हैं।

भृगुत्रयी का जो तीसरा सोम भाग है, उसकी, एवं अङ्गिरात्रयी में जो पहिला अग्निभाग है, उसकी, इन दोनों की समान विकासमात्रा है। द्विमात्रिक ही सोम है, द्विमात्रिक ही अग्नि है। इस प्रकार 'सोम-अग्नि' दोनों की * समानमात्रा से विकास की चार संस्था ही रह जातीं हैं। यम तृतीय विकास है, आदित्य चतुर्थ विकास है। इस 'वायु[१], अग्निषोमौ[२], यम[३], आदित्य[४]' भेद से अपूतत्व के पूर्वोक्त पञ्चधा विकास का चतुर्द्धा विकास पर ही विश्राम हो जाता है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—

* इसी समानविकासमात्रा से अग्नि-सोम को 'सखा' माना गया है, जैसा कि—'तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः' इत्यादि रूप से पूर्व प्रकरणों में विस्तार से बताया जा चुका है।

आपो भृग्वङ्गिरोरूपम्—

१— ⁂—आपः—अरूपंरूपं शून्यस्थानम् (विकासाभावः)।
२— १—वायुः—विकासजन्यं प्रथमं रूपम् (विकासस्यैका मात्रा)।
३—, ४— } २—अग्नीषोमौ—विकासस्य द्वितीयं रूपम् (विकासस्य द्वे द्वे मात्रे)।
५— ३—यमः—विकासस्य तृतीयं रूपम् (विकासस्य तिस्रो मात्राः)।
६— ४—आदित्यः—विकासस्य चतुर्थं रूपम् (विकासस्य चतस्रो मात्राः)।

अप्तत्त्व के इन्हीं चार विकासस्थानों को इस वेदप्रकरण में क्रमशः—'एकं[१]—दशकं[२]—शतकं[३]—सहस्रम्[४]' इन नामों से व्यवहृत किया जायगा। विकासाभावरूप, अतएव अरूपात्मकरूप, अतएव च अस्थानात्मक स्थानलक्षण, अप्तत्त्व शून्यस्थान है, शून्यबिन्दु है। इसका एकमात्रिक प्रथम विकास ६ संख्याओं से युक्त है। इस प्रथमस्थानीय प्रथम विकास की मूलप्रतिष्ठा शून्यबिन्दु है, एवं चरम सीमा नवमी संख्या है। "०-१-२-३-४-५-६-७-८-९" यही इस प्रथम विकास का व्याप्तिस्थान है। (१)। प्रथम विकास की सूचिका १ संख्या है। इसको आधार मान कर उसी शून्य को मूलप्रतिष्ठा बनाते हुए द्वितीय विकास होता है, यही दशमस्थान है। द्विमात्रिक यह द्वितीय विकास ९९ संख्याओं से युक्त है। द्वितीय स्थानीय इस द्वितीय विकास की चरम सीमा नवनवति (निन्यानवी) संख्या है। "१०-११-२१-३१-४१-५१-६१-७१-८१-९१" यही इस द्वितीय विकास का व्याप्ति स्थान है। (२)।

द्वितीय विकास की सूचिका १० संख्या है। इस को आधार मान कर उसी शून्य को मूल प्रतिष्ठा बनाते हुए तृतीय विकास होता है, यही शतकस्थान है। त्रिमात्रिक यह तृतीय विकास ९९९ संख्याओं से युक्त है। तृतीयस्थानीय इस तृतीय विकास की चरमसीमा नौसो निनावीं संख्या है। "१००-१०१-१०२-१०४-१०५-१०६-१०७-१०८-१०९" यही इस तृतीय विकास का व्याप्तिस्थान है। तृतीय विकास की सूचिका १०० संख्या है। इस को आधार मान कर उसी शून्य को मूलप्रतिष्ठा बनाते हुए चतुर्थ विकास होता है, यही सहस्रस्थान है। चतुर्मात्रिक यह चतुर्थ विकास ९९९९ संख्याओं से युक्त है। चतुर्थस्थानीय इस चतुर्थ विकास की चरम सीमा नौहजार नौसौ निनानवीं संख्या है। "१०००-१००१-१००२-१००३-१००४-१००५-१००६-१००७-१००८-१०००" यही इस चतुर्थ विकास का व्याप्तिस्थान है। निष्कर्ष यही हुआ कि, शून्यस्थानीय ऋत आपः '१-१०-१००-१००९' भेद से चतुःस्थान बनता हुआ '९-९९-९९९-९९९९' इन चरम विकासभावों में परिणत होकर—चार संस्थाओं में विभक्त हो रहा है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—

चतुःसंस्थानपरिलेखः—

१-प्रथमं स्थानम् (१)-एकस्थानम् (१)-एकम्	२-द्वितीयं स्थानम् (२)-द्विस्थानम् (१०)-दशकम्	३-तृतीयं स्थानम् (३)-त्रिस्थानम् (१०००)-शतकम्	४-चतुर्थं स्थानम् (४)-चतुःस्थानम् (१०००)-सहस्रम्
०-०-(०)	१-०-(१०)	१०-०-(१००)	१००-०-(१०००)
०-१-(१)	१-१-(११)	१०-१-(१०१)	१००-१-(१००१)
०-२-(२)	२-१-(२१)	१०-२-(१०२)	१००-२-(१००२)
०-३-(३)	३-१-(३१)	१०-३-(१०३)	१००-३-(१००३)
०-४-(४)	४-१-(४१)	१०-४-(१०४)	१००-४-(१००४)
०-५-(५)	५-१-(५१)	१०-५-(१०५)	१००-५-(१००५)
०-६-(६)	६-१-(६१)	१०-६-(१०६)	१००-६-(१००६)
०-७-(७)	७-१-(७१)	१०-७-(१०७)	१००-७-(१००७)
०-८-(८)	८-१-(८१)	१०-८-(१०८)	१००-८-(१००८)
०-९-(९)	९-१-(९१)	१०-९-(१०९)	१००-९-(१००९)
९	९९	९९९	९९९९

२०-नवसंख्यावितान—

विकासानुबन्धी इन चारों संस्थानों के साथ 'नव' (९) संख्या का विशेष सम्बन्ध है। जिसप्रकार वैदिक 'अशीति' शब्द ८० संख्या का, एवं 'अन्न' का दोनों का सूचक माना गया है, एवमेव 'नव' शब्द ९ संख्या का, एवं 'नवीनता' का द्योतक माना गया है। '*नवो नवो भवति जायमानः०' इत्यादि मन्त्र

* "नवो नवो भवति जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेत्यग्रम्।
भागं देवेभ्यो वि दधात्यायन् प्र चन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः॥
(ऋक्० सं० १०।८५।१९।)

में पठित नव शब्द इस 'नूतन' भाव का ही वाचक है। 'नव' शब्द ९ संख्या, तथा नूतनता का वाचक क्यों माना गया ?, इस प्रश्न का उत्तर भी इसी मन्त्रवर्णन से मिल रहा है। जायमान वस्तु कुछ समय पर्य्यन्त (अपने अपूर्वसत्ताभाव के धारण) नवीन कहलाती है, इसलिए तो जायमान को 'नव' (नवीन) कहना अन्वर्थ बनता है। एवं उत्पत्ति का कारणभूत तत्त्व नौ संख्या से युक्त रहता है, इसलिए जायमान को नव (९) संख्या युक्त कहना अन्वर्थ बनता है।

सम्पूर्ण विश्व महाकालावच्छिन्न अग्न्यात्मक, सम्वत्सरमूर्त्ति, विराट्प्रजापति का विवर्त्तभाव है। 'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् (यजुःसंहिता) इत्यादि श्रुति के अनुसार सहस्रपादस्थानीय एककल पार्थिव वैश्वानर अग्नि, सहस्राक्षस्थानीय अष्टकल आन्तरीक्ष्य हिरण्यगर्भ वायु, सहस्रशीर्ष-स्थानीय एककल दिव्य सर्वज्ञ इन्द्र की समष्टिरूप, दशकल, अतएव 'विराट्' नाम से प्रसिद्ध, त्रैलोक्यव्यापक प्रजापतिपुरुष ही प्रजोत्पत्ति का उपादान बनते हैं। महाकालपुरुष की महाशक्ति ही 'महाकाली' नाम से प्रसिद्ध है। महाकाल के क्योंकि १० पर्व है, अतएव महासृष्टिविद्यात्मिका इस महाकाली के भी काली, तारा, षोडशी, भुवनेश्वरी, छिन्नमस्ता, आदि १० पर्व मानें गए हैं, जिनका अन्यत्र विस्तार से निरूपण हुआ है *। इस प्रकार आधिदैविक सृष्टिक्रम में उत्पत्तिकारणभूत प्रजापति अग्नि-वायु-इन्द्रानुबन्धिनी १० कलाओं से दशकल बनते हुए पूर्ण बन रहे है। इस दृष्टि से पूर्ण संख्या का विश्राम यद्यपि १०संख्या पर माना जाना चाहिए था। किन्तु १० पर आगे भूमाभाव के विकास का अवरोध है, अतः ९संख्या पर ही पूर्णता मानी गई है। पूर्ण-संख्या कभी अग्रभावी प्रजननकर्म्म का कारण नहीं बनती। "न्यूनाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते"(शत०२।१।१।१३) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार न्यूनता ही प्रजोत्पत्ति का कारण है, एवं उत्तरोत्तर विकासानुरूप प्रदेशोपलब्धि से न्यूनभावात्मक यह न्यूनसंख्याक्रम ही पूर्णसंख्याक्रम है, जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। इसी आधार पर हम १० संख्या को तो अपूर्ण कहते हैं, एवं ९ संख्या को पूर्ण कहते हैं।

ज्योतिष-परिभाषा के अनुसार शून्य (०) को पूर्ण कहा जाता है। इसी को वैदिकपरिभाषा में 'असत्' कहा गया है। सृष्टि व्यक्तभावात्मिका है, मूर्त्ता है, निरुक्ता है। इसका मूलकारण अव्यक्त है, अमूर्त्त है, अनिरुक्त है। अव्यक्तभाव के कारण ही उस सर्वमूल को 'असत्' कहा जाता है, जो कि असत् (शून्य)-A-"सदेवेदमग्रेऽसदासीत्, कथमसतः सज्जायेत" के अनुसार वस्तुतः 'सत्' (पूर्ण) है। 'पूर्ण' का लक्षण है-'वृत्तौजाः'। सर्वतःपाणिपादाक्षिशिरोमुखभाव ही वृत्तौजा है, यही पूर्णभाव है। वर्त्तुल पदार्थ के केन्द्र से निकलने वाली शक्ति का सर्वतः समानरूप से वितान होता है। जिसे हम 'शून्य' कहते हैं, वह भी इसी समान-शक्तिवितान से पूर्ण है। आगे के ९ भाव इसी शून्य नामक पूर्णात्मक बिन्दुभाव से विकसित हुए हैं। वह विकासभाव ही ९ संख्या के कारण 'नव' नाम से प्रसिद्ध है।

---

*-'कल्याण' मासिक के 'शक्त्यङ्क' में 'दशमहाविद्या' नाम से इस विषय का संक्षिप्त परिचय निकल चुका है।

A-'सदसत्' का विशद वैज्ञानिक विवेचन गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत-'ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा' नामक खण्ड में देखना चाहिए।

संख्याविज्ञानक्रम में भी पहिले शून्य ० है, पीछे क्रमशः १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, संख्याओं का समावेश है। इसके अनन्तर शून्य को आगे कर पुनः १–२–३ आदि नौ संख्याओं का समावेश हुआ है। इस धारावाहिक क्रम से १९–२९–३९–४९–इसप्रकार ९–९ का ही उत्तरोत्तर वितान है। शून्यबिन्दु से आरम्भ कर परमपरार्ध्य संख्या पर्य्यन्त ९–९ का ही साम्राज्य है। शून्याधार पर वितत ९ संख्या की यही पूर्णता है, यही सर्वता है, यही कृत्स्नता है, यही नवीनता है, एवं 'नवो-नवो भवति जायमानः' वाक्य इस नवसंख्याविज्ञान का ही स्पष्टीकरण कर रहा है। क्योंकि नवसंख्या शून्यप्रतिष्ठा के कारण पूर्ण है, अतएव ९ संख्या से सम्बद्ध संकलन का प्रत्येक पर्व ९ पर ही विश्रान्त है, जो कि समसंकलन अन्य संख्याओं में नहीं हैं। ९ के पहाड़े का प्रत्येक पर्व संकलन से आपको नवपर्वात्मक ही मिलेगा, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

०—०———०———०+—-०

१—९——(९)——०.....—९

२—१+८—(१८)—१+८—९

३—२+७—(२७)—२+७—९

४—३+६—(३६)—३+६—९

५—४+५—(४५)—४+५—९

६—५+४—(५४)—५+४—९

७—६+३—(६३)—६+३—९

८—७+२—(७२)—७+२—९

९—८+१—(८१)—८+१—९

०—९+०—(९०)—९+०—९

नवो नवो भवति-जायमानः

०–असदात्मकः शून्यलक्षणः सद्रूपः पूर्णः प्रजापतिर्विराट्—०
०–सर्वज्ञमूर्त्तिः, इन्द्रप्राणात्मकः सहस्रशीर्षस्थानीयः, एककलः—१
०–हिरण्यगर्भमूर्त्तिः वाय्वात्मकः सहस्राक्षस्थानीयः, अष्टकलः—८
०–वैश्वानरमूर्त्तिः, अग्न्यात्मकः, सहस्रपात्स्थानीयः, एककलः—१

सूर्यविराट्–नवाक्षरः
"नवो नवो भवति"

यह तो हुआ आधिदैविकसृष्टि–अनुबन्धी नवभाव। अब आध्यात्मिक दृष्टि से विचार कीजिए। शुक्र–शोणित के दाम्पत्यभाव से प्रजोत्पत्ति हुई है। शुक्र सौम्य है, शोणित आग्नेय है। आग्नेय शोणित ब्रह्मवेदमय है, सौम्य शुक्र सुब्रह्मवेदमय है । आपः ही सुब्रह्मवेद है। यही अथर्व है। भृगुत्रयी, अङ्गिरात्रयी से इसके ६ पर्व हैं। ऋक्, यत्, जू, साम, भेद से आग्नेय ब्रह्मवेद के ४ पर्व हैं। ६+४ के संकलन से शुक्र–शोणित का दाम्पत्यभाव विराट् बन रहा है। यही विराट्संख्या एकतः न्यूनभाव से प्रजोत्पत्ति का कारण बनती है। यही आध्यात्मिक प्रपञ्च का **'नवो नवो भवति जायमानः'** रहस्य है।

२१–शून्यविन्दुवितान—

जिसे हम शून्य कहते हैं, वही सृष्टि का 'बीज' है। जिस प्रकार सुसूक्ष्म वृक्षबीज कालान्तर में महावृक्ष रूप में विकसित हो जाता है, एवमेव महाकाल–महाकाली के दाम्पत्यभाव से कृतरूप यही शून्यबीज महासृष्टि–विकास का कारण बना है। संख्याविज्ञानानुसार केवल शून्यबिन्दु ही परार्ध्य–संख्यापर्य्यन्त वितत हुई है। स्वयं शून्यबिन्दु ऋतब्रह्मलक्षण अप्तत्त्व का वह पिण्डभाव है, जिसके गर्भ में अग्नि प्रतिष्ठित है। इसके विकास की चरम सीमा परार्ध्य संख्या मानी गई है। मूलपिण्ड शून्यविन्दु है, परार्ध्यभाव इसी का वितान है। यद्यपि चतुःसंस्थानात्मक हमारे वेदशास्त्रप्रकरण में इस महाविकास का कोई उपयोग नहीं है। वैदिक विकास–क्रम सहस्रसंख्या पर ही विश्रान्त है। तथापि वेदानुबन्धी **"सहस्रं वै पूर्णम्"–"पूर्णं वै सहस्रम्"** इत्यादि वचनों के आधार पर जिन काल्पनिकों नें यह कल्पना कर डाली है कि, "वैदिक युग के ऋषि एक सहस्र संख्या से ही परिचित थे, उन्हें आगे संख्या न आती थी", इस भ्रान्ति के निराकरण के लिए स्वयं वेद में ही प्रति–पादित संख्याविकास का स्वरूप प्रसङ्गतः उद्धृतः कर दिया जाता है। जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मण में इन संख्या–विकासों का विस्पष्ट निरूपण हुआ है। विस्तारभिया इस विषय को तूलरूप न देते हुए वेदसम्मता संख्यातालिका, एवं तदनुगता लोकसम्मता संख्यातालिका ही यहाँ उद्धृत कर दी जाती है।

वेदसम्मतशून्यवितानपरिलेखः—

१	एकम्	१
२	दशम्	१ ०
३	शतम्	१ ० ०
४	सहस्रम्	१ ० ० ०
५	अयुतम्	१ ० ० ० ०
६	लक्षम्	१ ० ० ० ० ०
७	प्रयुतम्	१ ० ० ० ० ० ०
८	कोटिः	१ ० ० ० ० ० ० ०
९	अर्बुदम्	१ ० ० ० ० ० ० ० ०
१०	शङ्कः	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ०
११	खर्वम्	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१२	निखर्वम्	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१३	महापद्मम्	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१४	शङ्कुः	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१५	समुद्रः	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१६	अन्त्यम्	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१७	मध्यम्	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१८	परार्द्धम्	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
		० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०

मतान्तरेण वेदसम्मतशून्यवितानपरिलेखः—

१	एकम्	१
२	दशकम्	१ ०
३	शतकम्	१ ० ०
४	सहस्रम्	१ ० ० ०
५	अयुतम्	१ ० ० ० ०
६	लक्षम्	१ ० ० ० ० ०
७	प्रयुतम्	१ ० ० ० ० ० ०
८	कोटिः	१ ० ० ० ० ० ० ०
९	शङ्कुः	१ ० ० ० ० ० ० ० ०
१०	अर्बुदम्	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ०
११	न्यर्बुदम्	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१२	खर्वः	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१३	निखर्वः	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१४	समुद्रः	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१५	महासमुद्रः	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१६	पद्मम्	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१७	महापद्मम्	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१८	अन्त्यम्	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१९	परार्द्धम्	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
		० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०

लोकसम्मतशून्यवितानपरिलेख:—

१	एकाई	१
२	दहाई	१ ० ०
३	सैंकड़ा	१ ० ० ०
४	हजार	१ ० ० ० ०
५	दसहजार	१ ० ० ० ० ०
६	लाख	१ ० ० ० ० ० ०
७	दसलाख	१ ० ० ० ० ० ० ०
८	करोड़	१ ० ० ० ० ० ० ० ०
९	दसकरोड़	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१०	अरब	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
११	दसअरब	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१२	खरब	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१३	दसखरब	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१४	नील	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१५	दसनील	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१६	पद्म	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१७	दसपद्म	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१८	संख	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
१९	दससंख	१ ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०
		० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०

२२-वेदानुबन्धी-विन्दुवितान—

यह कहा जा चुका है कि, पूर्णलक्षण शून्यविन्दु का तात्त्विकरूप अब्गर्भित अग्नि से सम्बन्ध रखता है। अब्गर्भित अग्निलक्षण शून्यविन्दु का वितान ही अप्तत्त्व का वितान है। इस वितान की चरम सीमा यद्यपि 'परमपरार्द्ध' संख्या है, तथापि मनःप्राणगर्भित वाङ्मय वषट्कारमण्डल से सम्बद्ध 'वेदसाहस्री' की अपेक्षा से परार्द्ध संख्यात्मक १६ संस्थानों का ग्रहण न होकर '१-१०-१००-१०००' इन चार संस्थानों का ही ग्रहण किया जाता है। तात्त्विकवेदवितानानुबन्धी शून्यविन्दुवितान सहस्र सहस्र संख्या पर ही समाप्त है। सहस्रसंख्यावितानात्मिका इस वेदसाहस्री का सहस्रांशु सूर्य्य को उदाहरण बना कर भलीभाँति स्पष्टीकरण किया जा सकता है।

सूर्य्यबिम्ब अब्गर्भित सावित्राग्निमय पिण्ड है। **"अपां गर्भन्त्सीद"** (ऋक् सं०)—**"या रोचने परस्तान् सूर्य्यस्य, याश्चावस्तादुपतिष्ठन्त आपः"** (ऋक् सं० ३।२२।३।) इत्यादि मन्त्र श्रुतियों के अनुसार सावित्राग्निघन सूर्य्य आपोमय पारमेष्ठ्य सरस्वान् समुद्र के गर्भ में प्रतिष्ठित है। सौररश्मियों में अप्तत्त्व अन्तर्य्याम सम्बन्ध से प्रतिष्ठित है। इसी अप्तत्त्व के समावेश से सौररश्मियाँ प्रदीप्त हैं। सौरमण्डल में जो ज्योतिर्भाव (प्रकाश) प्रतीत होता रहा है, वह इसी अन्नाहुति (सोमाहुति) की महिमा है। अप्तत्त्व ही इस सौर सावित्राग्नि का 'अन्न' है। अप्तत्त्व अवस्थाभेद से 'आपः-वायुः-सोमः' भेद से तीन भागों में विभक्त है। फलतः सौराग्नि के अन्न भी त्रिधा विभक्त हो जाते हैं। सूर्य्य मनःप्राणवाङ्मय है। मन ज्ञानशक्तियुक्त है, प्राण क्रियाशक्तियुक्त है, एवं वाग्भाव अर्थशक्तियुक्त है। ज्ञानमय मन, क्रियामयप्राणगर्भित अर्थमय वाग्भाग ही सूर्य्यमूर्त्ति है। अबन्न से सूर्य्य में अर्थशक्ति का, वाय्वन्न से क्रियाशक्ति का, सोमान्न से (ज्ञानानुगत) ज्योतिर्भाव का उदय होता है। सूर्य्य में विकासलक्षण जो प्रकाश है, वह सोमान्न का अनुग्रह है। सौररश्मियों में 'प्राणदपानत्'-लक्षण जो क्रियाभाव है, वह वाय्वन्न का अनुग्रह है, एवं सौरसावित्राग्नि में जो अर्थोपादानता है, वह अबन्न का अनुग्रह है। रश्मिवितान ही प्रकाश का जनक है। यह रश्मिवितान सोमाहुति पर ही निर्भर है। अतः हम सोमाहुति को ही प्रकाश का प्रधान जनक मानते हैं। निम्नलिखित ऋङ्मन्त्र सोमान्न के विविध कर्म्मों का ही स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

१—महत्तद् सोमो महिषश्चकार अपां यद् गर्भो अवृणीत देवान्।
अदधादिन्द्र पवमान ओजोऽजनयत् सूर्य्ये ज्योतिरिन्दुः ॥

(ऋक्सं० ६।६७।४१।)।

२—त्वमिमा ओषधीः सोम ! विश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वंगाः।
त्वमा ततोन्थोन्तरिक्षं त्वं ज्योतिषा वितमो ववर्थ ॥

(ऋक् सं० १।६१।२२।)।

'आपः-वायुः-सोमः' इन तीन अन्नों से सूर्य्य के अग्नि-वायु-आदित्य, इन तीन शरीराङ्गों का आप्यायन होता रहता है। अबन्न अग्नि का, वाय्वन्न (शिववाय्वन्न) वायु (रुद्रवायु) का, एवं सोमान्न आदित्य का आप्यायन करता रहता है। अग्निवायुआदित्यमूर्त्ति सूर्य्य अब्वायुसोमात्मक आपःसमुद्र के गर्भ में प्रतिष्ठित होकर वेदवितान का प्रवर्त्तक बन रहा है। एकमात्र अब्विकास के आधार पर ही आपः-वायुः-

सोमः-अग्निः-वायुः-आदित्यः ये ६ पर्व प्रतिष्ठित हैं। ६ओं में आपः विकासाभावलक्षण शून्यबिन्दु है। वायुः एकमात्रिक प्रथम विकास है, यही 'एकम्' (१) है। सोम द्विमात्रिक द्वितीय विकास है, सोमसमतुलित अग्नि भी द्विमात्रिक द्वितीय विकास ही है। यही 'दशकम्' (१०) है। वायु त्रिमात्रिक तृतीय विकास है, यही 'शतकम्' (१००) है। एवं आदित्य चतुर्म्मात्रिक चतुर्थ विकास है, यही 'सहस्रम्' (१०००) है। यहीं वेदानुगत विकासभाव समाप्त है। इसप्रकार आपोमय सौरसंस्था में अप्तत्त्व के आधार पर विकास की चार संस्थाएँ प्रतिष्ठित हो रही हैं, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है—

आपः—अग्निः—	अर्थः (वाक्)	मनःप्राणवाङ्मयो भृग्वङ्गिरोमूर्त्तिः सूर्य्यः
वायुः—वायुः—	क्रिया (प्राणः)	
सोमः—आदित्यः—	ज्योतिः (मनः)	

स्नेहः	तेजः
अन्नानि	अन्नादाः
भृगुः	अङ्गिराः

गर्भस्थाग्नि-वशादपां—	आपः	आपः	आपः	आपः	आपः	अपां पञ्चस्थानानि
पञ्चस्थानानि	०	१	२	३	४	विकासमात्राः
विकासरूपाणि	आपः १	वायुः २	सोमः ३	×	×	इति भृगवः स्नेहमयाः
विकासरूपाणि	×	×	अग्निः ३	वायुः ४	आदित्यः ५	इत्यङ्गिरसस्तेजोमयाः
विकासस्थानानि	०	१	१०	१००	१०००	गर्भस्थाग्निवशादपां विकासावस्थाश्च-
विकासक्रमः	विकासाभावः	प्रथमो विकासः	द्वितीयो विकासः	तृतीयो विकासः	चतुर्थो विकासः	तुर्विधाः

पाठकों को स्मरण होगा कि, वेदव्यूहन–प्रकार बतलाते हुए हमने '**दशगर्भं चरसे धापयन्ते**' का स्पष्टीकरण किया था—(देखिए 'छन्दोवितानरसलक्षणावेदत्रयी' प्रकरणान्तर्गत—'**अभिप्लव–पृष्ठ्यस्तोम–विज्ञान**' परिच्छेद, पृ० सं० ३३७, एवं—पृ० सं० २१३)। वहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि, जिस पूर्णलक्षण शून्य बिन्दु का वितान होता है, वह १० मात्रा अपने गर्भ में प्रतिष्ठित रखती है। कारण यही है कि, वेदवितान अन्नगर्भित अग्निप्रजापति के आधार पर होता है। एवं यह अग्नि पूर्वोक्त एककल वैश्वानर, ८ कल हिरण्यगर्भ, एककल सर्वज्ञ नामक अग्निवाय्वादित्य भेद से दशकल बनता हुआ विराट् है। इसी दशकल विराड्भाव की अपेक्षा से उत्तरोत्तर १०-१० के क्रम से ही अन्नगर्भित वेदाग्नि का वितान होता है। यह वितानभाव क्योंकि ४ संस्थाओं में १०-१० के क्रम से विभक्त है, अतएव '**चत्वार ईं विभ्रति दशगर्भं चरसे धापयन्ते**' यह कहा जाता है।

विकाससंस्था '१-१०-१००-१०००' भेद से चार बतलाई गई है। इनमें 'एकं' विकास शून्यबिन्दु की अपेक्षा जहाँ विकास है, वहाँ दशकादि उत्तर की संस्थाओं की अपेक्षा इसे अविकास ही माना जायगा, एवं उस स्थिति में १ को विकास की मूलप्रतिष्ठा कहा जायगा, १०-१००-१००० तीनों को क्रमशः प्रथम-द्वितीय-तृतीय विकास माना जायगा। तात्पर्य्य कहने का यही है कि, पूर्व परिलेख में हमनें १-१०-१००-१००० को क्रमशः १-२-३-४ विकास बतलाते हुए विकास को चतुःस्थान माना है। इस चतुःस्थानात्मक विकास की अपेक्षा से शून्यबिन्दु मूलप्रतिष्ठा है। शून्यबिन्दु की अपेक्षा वह एकत्व, जिसके गर्भ में विराडग्नि की दस मात्रा प्रतिष्ठित हैं, अवश्य ही प्रथम ही विकास माना जायगा। परन्तु एकत्व वस्तुतः एकत्व है। अभी इस की १० कला अविकसित हैं। इस दृष्टि से इसे भी शून्यवत् अविकासात्मक ही माना जायगा। एकत्व को मूल बना कर आगे विकसित होने वाली दस कलाओं की समष्टिरूप 'दशक' ही इस दृष्टि से प्रथम विकास माना जायगा। दशगर्भ एकत्व का प्रथम विकास 'दशकं' है। 'दशकं' की प्रत्येक कला का आगे जाकर १०-१० के क्रम से विकास होता है, फलतः १० के १०० पर्व हो जाते हैं। 'शतकं' नामक यही विकास उस 'एकं' का द्वितीय विकास माना जायगा। 'शतकं' की प्रत्येक कला का आगे जाकर १०-१० के क्रम से पुनः विकास होता है, फलतः १०० के १००० पर्व हो जाते हैं। 'सहस्रं' नामक यही विकास उस एकं का तृतीय विकास माना जायगा। इसप्रकार शून्यमूलक विकास जहाँ चतुःस्थान कहलाएगा, वहाँ 'एकं' मूलक विकास त्रिःस्थान ही माना जायगा।

सूर्य्य को उदाहरण बतलाया गया है। सूर्य्यबिम्ब अग्निगर्भित अन्नरूप है, भृग्वङ्गिरोमय है। यह सूर्य्यबिम्ब 'एकं' है। दसों दिशाओं में सर्वप्रथम इस एक सूर्य्य बिम्ब से १० राशियों का विकास होता है, यही 'दशकं' नामक प्रथम रश्मिविकास है। आगे जाकर एक एक रश्मि से १०-१० रश्मियाँ निकलतीं हैं, यही 'शतकं' नामक दूसरा रश्मिविकास है। पुनः प्रत्येक रश्मि से १०-१० रश्मियां निकलतीं हैं, यही 'सहस्रं' नामक तृतीय रश्मिविकास है। इसप्रकार महदुक्थलक्षण, महाबिम्बात्मक सूर्य्यपिण्ड '१०-१०-१०' इन तीन रश्मिव्यूहनों से अन्ततोगत्वा सहस्रांशु बन जाता है। सहस्रांशु सूर्य्य अपने सहस्ररश्मिवितानमण्डल के केन्द्र में 'तप रहा है'।

'तप रहा है' का अर्थ है—'प्रतपति'। प्रतपति का अर्थ है—'प्राणदपानती'। 'प्राणदपानती' का अर्थ है—'स्वं ददाति'। एवं यह स्वदानलक्षण प्राणदान ही सूर्य्य का तपःकर्म्म है। पिण्डस्थ प्राण का

बाहिर की ओर वितत होकर अन्य पदार्थों का उपकार करना ही प्राण का तप है। सहजभाषा में, प्राणदान करना ही तप है। सूर्य्यबिम्ब से निकल कर रश्मिसहयोग से सर्वतः व्याप्त होने वाला यही प्राण अस्मदादि पार्थिव प्राणियों में प्रविष्ट होकर प्राणिप्रजा के जीवन की प्रतिष्ठा बनता है। दूसरे शब्दों में सौर प्राणकर्म्म ही हमारे जीवन का आधार है, जैसाकि "प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्य्यः" इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है।

मनोगर्भित, वागाधार (भूताधार) पर प्रतिष्ठित रश्म्यवच्छिन्न प्राण अपने सर्वतः गमन के साथ-साथ वाङ्मयी सूर्य्यप्रतिमा को भी वितत करते हैं। तात्पर्य्य कहने का यही है कि, प्राण बिना वागाधार के आगे नहीं बढ़ सकता। फैलने का धर्म्म यद्यपि प्राण का ही है, परन्तु फैलाव की आधारभूमि वाङ्मय सूर्य्य-पिण्ड ही बनता है। परिणाम इस उक्थवितान का वह होता है, जो 'वितानात्मकसामवेद' परिच्छेद से गतार्थ है। प्रत्येक प्राणबिन्दु के साथ-साथ एक एक सूर्य्यमूर्त्ति आधाररूप से प्रतिष्ठित रहती है। प्रत्येक प्राण का अपना-अपना एक-एक स्वतन्त्र केन्द्र होता है। प्रत्येक केन्द्र से चारों ओर समबलात्मिका प्राणरश्मियों का वितान होता है। मूर्त्ति को केन्द्र बना कर समानरूप से वितत होनें वालीं रश्मियों का 'महाव्रत' नामक एक मण्डल बन जाता है, जो कि मण्डल सामवेद नाम से प्रसिद्ध है।

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, प्राणवितानद्वारा सूर्य्यसंस्था में ऐसे सहस्र मण्डल बनते हैं, प्रत्येक उत्तरोत्तर मण्डल पूर्वापेक्षया बृहत् है। पूर्वमण्डलकेन्द्रस्थ प्रतिमारस का ही उत्तरमण्डल में वितान होता है। क्योंकि पूर्व-पूर्व मण्डलापेक्षया उत्तरोत्तर मण्डल बृहत् है, अतएव पूर्व-पूर्व उक्थमूर्त्ति का रसलक्षण यजुर्वेदात्मक (उपादान) द्रव्य उत्तरोत्तरमूर्त्ति की अपेक्षा कम होता जाता है। इसी अल्पता से मण्डल जहाँ उत्तरोत्तर बड़े होते जाते हैं, वहाँ मूर्त्तियाँ उत्तरोत्तर छोटीं होतीं जातीं हैं। यही कारण है कि, हम मूल वस्तुपिण्ड से ज्यों-ज्यों दूर हटते जाते हैं, त्यों-त्यों उसका आकार उत्तरोत्तर छोटा दिखलाई पड़ने लगता है। एक बात और, उत्तरोत्तर मूर्त्तियों की अपेक्षा पूर्व-पूर्व मूर्त्तियाँ आकार में तो बड़ी रहतीं हैं, परन्तु संख्या में कम रहतीं हैं। क्योंकि उत्तरोत्तर मण्डल की अपेक्षा पूर्व-पूर्व मण्डल छोटा होता है। प्रदेश थोड़ा है, अतः मूर्त्तियाँ अधिक संख्या में वितत नहीं होतीं। साथ ही पूर्व-पूर्व मूर्त्तियों की अपेक्षा उत्तरोत्तर मूर्त्तियाँ आकार में तो छोटीं रहतीं हैं, परन्तु संख्या अधिक होतीं है। क्योंकि पूर्व-पूर्व मण्डलापेक्षया उत्तरोत्तर मण्डल बड़ा होता है। प्रदेश बहुत है, अतः मूर्त्तियाँ अधिक संख्या में परिणत हो जातीं हैं। परन्तु पूर्वमूर्त्तिरस का उत्तरमूर्त्तिरस में क्रमिक ह्रास है। अतएव संख्या में अधिक होने पर भी आरम्भक द्रव्याल्पता से उत्तर मूर्त्तियों का आकार (शरीर) क्रमशः अल्पाल्प होता जाता है।

सूर्य्यपिण्डकेन्द्र से आरम्भ कर सौरमण्डलपरिधिपर्य्यन्त प्रतिष्ठित '१-१०-१००-१०००' इन चार संस्थानों की अवस्थिति किस क्रम से व्यवस्थित है?, यह भी देख लीजिए। पिण्डमात्र पृथिवी है, महिमामात्र द्यौ है। द्यावापृथिवी शब्दों की इस सामान्य परिभाषा के अनुसार सूर्य्यपिण्ड को भी हम 'पृथिवी' शब्द से व्यवहृत कर सकते हैं। इस पृथिवी (पिण्डात्मक सूर्य्य) केन्द्र से आरम्भ कर महिमामण्डल की अन्तिम सीमा तक (निधनसामात्मक उद्दचसाममण्डलपर्य्यन्त) ऋजुरूप से पिण्डरस का वितान होता है, जैसाकि रसलक्षण यजुर्वेद नामक परिच्छेद में विस्तार से बतलाया जा चुका है। इसी ऋजुरेखा को (ऋजुरेखाओं को) हम **'विकासरेखा'** कहेंगे। इस विकासरेखा की **"पिण्डपृष्ठ-त्रिवृत्पृष्ठ-पञ्चदशपृष्ठ-एकविंशपृष्ठ'** भेद से

चार विश्रामभूमियाँ हैं। पिण्डपृष्ठ (सूर्य्यपृष्ठ) पहिला पूर्णस्थान है, यही दशगर्भ 'एकं' (१) रूप है। इसी को वितानात्मिका 'उक्थामद' नामक अनन्त ('सहस्रधा महिमानः सहस्रं' भावात्मिका), महिमा मण्डलभुक्त, मूर्त्तियों का मूलप्रभव होने से 'महदुक्थ' कहा जाता है। यही सम्पूर्ण ऋङ्मूर्त्तियों की आधार-भूमि है। यही केन्द्रस्थ पूर्णात्मिका शून्यबिन्दु का प्रथम पूर्णस्थान है। इससे पुनः विकासरेखा आगे चलती है। इसका पर्य्यवसान त्रिवृत्स्तोम (९) पर होता है। इस प्रदेश में उस एक महोक्थमूर्त्ति की दस मूर्त्तियाँ हो जातीं है। यही दूसरा 'दशकं' नामक द्वितीय पूर्णस्थान है। पुनः विकासरेखा ऊर्ध्व वितत होती हैं। इसका पर्य्यवसान पञ्चदशस्तोम (१५) पर होता है। इस प्रदेश में उन १० उक्थामद मूर्त्तियों की १०० उक्थामद मूर्त्तियाँ हो जातीं हैं। यही ' 'शतकं' नामक तृतीय पूर्णस्थान है। पुनः विकासरेखा का उर्ध्ववितान होता है। इसका पर्य्यवसान एकविंशस्तोम (२१) पर होता है। इस प्रदेश में १०० मूर्त्तियों की १००० उक्थामद मूर्त्तियाँ हो जातीं हैं। यही 'सहस्रं' नामक चतुर्थ पूर्णस्थान है। मूलकेन्द्र में बीजरूप से क्योंकि एक सहस्र रसात्मक प्राण हीं प्रतिष्ठित हैं, अतः एक सहस्र मूर्त्तियों पर विकासरेखा का निधन हो जाता है। आगे विकास के लिए केन्द्रबल समाप्त है। एकमात्र इसी पूर्णता को लक्ष्य में रख कर वेदसाहस्री के सम्बन्ध से सहस्र संख्या को पूर्णसंख्या मान लिया गया है। ऋक्-यजुः-सामातिरिक्त विकासक्रम की दृष्टि से वही शून्य ऋत ब्रह्म परमपरार्द्ध पर्य्यन्त विकसित होता है, यह पूर्वपरिच्छेद में स्पष्ट किया ही जा चुका है। 'अभिप्लवस्तोमविज्ञान' नामक परिच्छेद में इस चतुःस्थान-विकास का परिलेख द्वारा स्पष्टीकरण कर दिया गया है।

०१—मूलपिण्डः——एकम्——प्रथमं पूर्णस्थानं——दशगर्भः——एकधा

०२—त्रिवृत्स्तोमः——दशकम्——द्वितीयं पूर्णस्थानं——दशत्——दशधा

०३—पञ्चदशस्तोमः—शतकम्——तृतीयं पूर्णस्थानं——दशानांदशत्—शतधा

०४—एकविंशस्तोमः—सहस्रम्——चतुर्थं पूर्णस्थानं——शतानांदशत्—सहस्रधा

(२३)—अग्नि-सोमस्वभावानुबन्धी ऋणधनभाव—

अब हमें अपने उस वेदशाखाविभाग की ओर आना है, जिसकी ९-२१-१०१-१००० शाखाओं के वैज्ञानिक रहस्य के स्पष्टीकरण के लिए शून्यपूर्णानुबन्धी चतुःसंस्थानों की पूर्वपरिच्छेदों में मीमांसा हुई है। अपूर्णभाव ऋत है, पूर्णभाव सत्य है। ऋतभाव ऋण है, सत्यभाव धन है। भृगुत्रयी ऋत होने से ऋण है, अङ्गिरात्रयी सत्य होने से धन है। अङ्गिरोऽग्नि पूर्ण (समृद्धि) लक्षण धनात्मक है *। भार्गव सोम अपूर्णलक्षण ऋणात्मक है। अथर्ववेद आपोमय होने से ऋत है, त्रयीवेद अग्निवेद होने से सत्य है।

---

* १—"अग्नेन्यस्मै नृम्णानि धारय"—इत्यकुध्यन्नो धनानि धारय—इत्येवैतदाह" (शत. १४।२।२।३०)।

२—"विश्वानि देव वयुनानि विद्वान" (ई० उप० १८)

३—"त्वं नो अग्ने ! सनये धनानां यशसं कारु कृणुहि स्तवानः।
ऋध्याम कर्म्मापसा नवेन देवैर्द्यावापृथिवी प्रावृतं नः॥" (ऋक्सं० १।३१।८)

अथर्व का ऋतलक्षण ऋणभाव से सम्बन्ध है, सत्यवेदत्रयी का सत्यलक्षण धनभाव से सम्बन्ध है। एवं सोमाग्न्यनुबन्धी इसी ऋण-धनभाव से तात्त्विकवेदचतुष्टयी के उक्त शाखाविभाग हो रहे हैं।

भृगुत्रयी, तथा अङ्गिरात्रयी, दोनों की समष्टि को षड्ब्रह्मलक्षण 'आपः' कहा गया है। साथ ही यह भी स्पष्ट किया गया है कि, 'आपः—वायुः—सोम' तीनों में आपः शून्यस्थानीय विकासाभावरूप प्रतिष्ठाभाव है। इस का प्रथम विकास भार्गववायुलक्षण ऋततत्त्व प्रथम स्थान है। वायु की विकासावस्थारूप भार्गव सोम, एवं अङ्गिरोऽग्नि, दशकं (१०) नामक द्वितीय विकास है। अग्नि की विकासावस्थारूप रुद्रवायु 'शतकं' (१००) स्थानीय तृतीय विकास है। रुद्रविकासावस्थारूप आदित्य 'सहस्रं' (१०००) स्थानीय चतुर्थ विकास है। इसप्रकार 'आपः[१]–वायुः[२]–अग्नीषोमौ[३]–वायुः[४]–आदित्यः[५]' भेद से "१/०–२/१–३/१०–४/१००–५/१०००" आपः के ये पाँच विवर्त्त बन जाते हैं।

सोम, और अग्नि, दोनों की समान विकासमात्रा है। दशकं स्थान ही सोमस्थान है, दशकं स्थान ही अग्निस्थान है। सोम अर्वाक् है, अग्नि पराक् है। दशकलात्मक सोम पूर्व विकास है, दशकलात्मक अग्नि उत्तर विकास है। शत कलात्मक रुद्रवायु अग्न्युत्तरविकास है, सहस्रकलात्मक आदित्य रुद्रवायूत्तरविकास है। इसप्रकार शून्यलक्षण आपः के आधार पर प्रतिष्ठित एकं लक्षण भार्गववायु दशकं लक्षण अर्वाक् सोम, दशकं लक्षण पराक्–अग्नि, शतकं लक्षण रुद्रवायु, सहस्रं लक्षण आदित्य, इन चारों पर्वों की प्रतिष्ठा बना हुआ है। दशकं लक्षण दशकल सोम ही 'अथ–अर्वाक्' निवर्चन से अथर्ववेद है, दशकं लक्षण दशकल अग्नि ही पराक्–लक्षण ऋग्वेद है, शतकं लक्षण रुद्रवायु ही यजुर्वेद है, एवं सहस्रं लक्षण आदित्य ही सामवेद है। इस दृष्टि से इन चारों तात्त्विक वेदों की क्रमशः '१०-१०-१००-१०००' शाखा हैं। अग्नि-विकासानुबन्धी 'दशकं-शतकं-सहस्रं' ही 'दशकं-दशकं-शतकं-सहस्रं' बन कर सोमाग्निवाय्वादित्यरूप अथर्व-ऋग्यजुःसामवेदशाखारूपों में परिणत हो रहे हैं। पूर्व परिच्छेदानुसार सोमात्मक दशकं विकासस्थान, अग्न्यात्मक दशकं विकासस्थान, दोनों समानस्थानीय हैं। अतएव 'एकं' के आधार पर प्रतिष्ठित 'दशकं-शतकं-सहस्रं' इन तीनों विकासस्थानों के त्रित्त्व का भलीभाँति समन्वय हो जाता है। अब इस शाखाभेदसम्बन्ध में प्रश्न यह बच रहता है कि, यदि विकासस्थानों की अपेक्षा वेदशाखा १०-१०-१००-१००० इन संख्याओं में विभक्त हैं, तो फिर '९-२१-१०१-१०००' यह संख्याक्रम किस आधार पर प्रतिष्ठित हुआ ?।

उक्त प्रश्न के समाधान के लिए परिच्छेदारम्भ में दिग्दर्शित ऋण–धन–भाव की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। पूर्ण संख्या को कम कर देना संख्या का ऋणभाव है, पूर्णसंख्या को अधिक कर देना संख्या का धनभाव है। १० को ९ कर देना ऋणभाव है, १० को ११ बना देना धनभाव है। और इसी ऋण–धनभाव के कारण वेदशाखाओं का व्यावहारिक संख्याक्रम प्रतिष्ठित है। सोम दशकं-विकासस्थानीय होने से दशकल है, १० संख्या से युक्त है। इसप्रकार प्रकृत्या यद्यपि सोमात्मक अथर्व दशकं ही है। तथापि सोम के स्वाभाविक संकोचधर्म्म ने अथर्व शाखा–संख्या में ऋणभाव का समावेश कर रक्खा है। स्नेहगुणक सोम संकोचधर्म्मा बनता हुआ भी तेजोगुणक विकासधर्म्मा अग्नि की अपेक्षा ऋणात्मक है। साथ ही अपने स्वाभाविक अन्नभाव से भी यह अन्नादाग्नि की अपेक्षा ऋण है। संकोच, तथा अन्नभाव, इन दो अपूर्ण भावों से सोमस्थानीय चरम विकास (१० वाँ विकास) एकतः ऋणभाव में परिणत हो रहा

है। दूसरे शब्दों में अपने अन्तिम (१० वें) विकास के द्वारा अन्नसोम ने अन्नाद अग्नि में आत्मसमर्पण कर रक्खा है। इसी सहजसिद्ध ऋणभाव से दशकं सोम नवकं बन रहा है। एवं यही **'नवधाऽथर्वणो वेदः'** है।

क्षयोन्मुख सोम के 'नवकं' रूप 'दशकं' स्थान से समतुलित वृद्धयुन्मुख अग्नि का दशकं स्थान सोम को आत्मसात् करता हुआ विंशतिस्थान बन रहा है। **"अग्निर्जागार तमयं सोम आह"** के अनुसार अपने न्योक सोमसखा को अन्नादाग्नि ने अपने गर्भ में प्रतिष्ठित कर रक्खा है। जब आत्र सोम अत्ता अग्नि में आहुत हो जाता है, तो अग्निगर्भ में प्रविष्ट सोम अग्न्यात्मक बनता हुआ तद्व्यवहार का ही भाजन बन जाता है, जैसा कि—**'यदा द्वयं समागच्छते-अत्तैवाख्यायते, नाद्यः'** इत्यादि ब्राह्मणश्रुति से प्रमाणित है। ऋङ्मूर्त्ति अन्नादाग्नि इसी दशकं सोम को गर्भ में लेकर विंशतिभावापन्न बन रहा है। इसप्रकार अन्नात्मक दशकं के समन्वय से यह अन्नादात्मक दशकं विंशतिकलोपेत बन जाता है। सोमापेक्षया यह विंशतिकल ऋगग्नि स्वाभाविक विकासधर्म्म से वृद्धयुन्मुख बनता हुआ धनभाव से युक्त है। बहिर्विकास-स्थानीय २० वां अग्निविकास धनभाव से युक्त है। फलतः २० के स्थान में २१ संख्या प्रतिष्ठित हो रही है।

पाठक इस सम्बन्ध में यह प्रश्न कर सकते हैं कि, ऋणस्थानीय सोम जब नवकं है, तो इस समन्वय से धनस्थानीय दशकं अग्नि एकोनविंशति (१९) बन सकता है। फिर इसे विंशति कैसे माना गया?। प्रश्न-समाधि यह होगी कि, ऋणात्मक सोम का जब धनात्मक अग्नि में आत्मसमर्पण होता है, तो ऋणधन की इस समानकालीन प्रवृत्ति में ऋणसोमापेक्षया धनाग्नि बलवान् है। सोमानुबन्धी ऋणभाव, अग्न्यनुबन्धी धनभाव, दोनों जब एक साथ प्रवृत्त होने लगते हैं, तो बलवान् अग्नि के धनभाव से निर्बल सोम का ऋण-भाव अभिभूत हो जाता है। धनभाव में परिणत होता हुआ अग्नि ऋणभाव में परिणत होते हुए सोम के पूरे दशकं का निगरण कर जाता है। इसप्रकार अपने एकतः धनभाव से ११ भाव में परिणत होने वाला ऋगग्नि ऋणभावात्मक सोम की ऋणसंख्या का अभिभव करता हुआ पूरे दशकं का निगरण कर एकविंशतिधा बन जाता है। यही—**"एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्"** है।

द्वितीय विकास स्थानीय अग्नि की विकासावस्था ही वायुलक्षण यजु है। इसको 'शतकं' कहा गया है। वायु अग्नि की ही अवस्थान्तर है, अतएव यह भी अग्निवत् विकासोन्मुख बनता हुआ एकतः धनभाव से युक्त होता हुआ पूर्ण है। यही **'एकशतमध्वर्य्युशाखाः'** है। चतुर्थ विकासस्थानीय साममय आदित्य सहस्रात्मक है। वाङ्मण्डल का स्वरूपनिर्म्माण करने वाले सहस्र गौतत्त्वों की सीमा सहस्र पर समाप्त है। आगे विकास का अभाव है। वेदसाहस्री की अपेक्षा पूर्वपरिच्छेद कथनानुसार सहस्र पर पूर्णसंख्या का विश्राम है। न यहाँ ऋणभाव है, न धनभाव है। यद्यपि यह ठीक है कि, परार्द्ध संख्या से सम्बन्ध रखने वाले उत्तर संख्या-विकास की अपेक्षा सहस्रसंख्या क्षयोन्मुखा बनी हुई है। तथापि वेदसाहस्री का अवसान क्योंकि सहस्र पर ही है, अतः इस दृष्टि से उत्तरभावी क्षयभाव की अविवक्षा कर यहाँ ऋणभाव का (९९९) अभाव ही सिद्ध हो जाता है। फलतः आदित्यात्मक सामवेद की सहस्र ही शाखाएँ हो जातीं हैं। यही—**"सहस्रवर्त्मा सामवेदः"** है।

❋ प्रकरणोपसंहार—

निष्कर्ष यही हुआ कि, प्रकृतिसिद्ध ऋण-धनभावों से '१०-१०-१००-१०००' संख्या में विभक्त तात्त्विक वेदशाखाएँ 'ऋण, धन, धन, ऋणधनाभाव' भेद से '६-२१-१०१-१०००' इन शाखाओं में विभक्त हो रहीं हैं। शब्दवेद शब्दब्रह्म है, तत्त्ववेद परब्रह्म है। निरूप्य परब्रह्म का निरूपक शब्दब्रह्म परब्रह्म की प्रतिकृति है। जो शाखाविभाग परब्रह्म के हैं, वही शाखाविभाग शब्दब्रह्म में व्यवस्थित हुए है। अध्ययनसम्प्रदायभेद ही शाखाभेद का कारण नहीं है, अपितु प्राकृतिक-वेदतत्त्व-शाखा-विभाग ही शब्दात्मक वेद के शाखाविभाग की मूलप्रतिष्ठा है। यही प्रकृत प्रकरण का संक्षिप्त इतिवृत्त है, जिसका आगे के परिलेखों से भलीभांति स्पष्टीकरण हो रहा है। तत्त्वात्मक नित्यवेद का प्रतिपादन करने वाला शब्दात्मक अनित्यवेद पौरुषेय है, अथवा अपौरुषेय ?, इस प्रश्नसमाधि के लिए भूमिका-तृतीय-खण्ड की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करते हुए भूमिका द्वितीय खण्ड उपरत हो रहा है।

(क)—

		भृगुविकासरूपस्थानम्			अङ्गिरोविकासरूपस्थानम्		ऋ०	ध०		सोमः	अग्निः
आपः	भृगुः	आपः	०						शून्यस्थानम्		
आपः	भृगुः	वायुः	१				१		एकस्थानम्	०	
आपः	भृगुः	सोमः	१०	अङ्गिराः	अग्निः	१०	१	१	दशकस्थानम्	६	२१
आपः				अङ्गिराः	यमः	१००		१	शतकस्थानम्		१०१
आपः				अङ्गिराः	आदित्यः	१०००			सहस्रस्थानम्		१०००

(ख)—

१	आप	भृगुः	आपः			०		०	
२	आपः	भृगुः	वायुः			१		६ सोमः	अथर्ववेदः
३	आपः	भृगुः	सोमः	अङ्गिराः	अग्निः	१०	१०	२१ सोममयोऽग्निः	ऋग्वेदः
४	आपः			अङ्गिराः	अग्निः		१००	२०१ अग्निर्वायव्यः	यजुर्वेदः
५	आपः			अङ्गिराः	अग्निः		१०००	१००० अग्निरादित्यः	सामवेदः

(ग)—

१	१०	१०	१०	१००	१०००
सोमः	सोमः	सोमः	अग्निः	अग्निः	अग्निः
ऋणम्	ऋणम्	ऋणम्	धनम्	धनम्	धनम्
०	६	२१		१०१	१०००
	अथर्ववेदः	ऋग्वेदः		यजुर्वेद	सामवेदः
आपः	वायुः	सोमः	अग्निः	वायुः	आदित्यः
१	१०	१०	१०	१००	१०००
ऋणम् १	ऋणम् १	धनम् १		धनम् १	न ऋणम् न धनम्

(घ)—

आपः	वायुः	सोमः		सोमः १०	×	×
अथर्वा	अथर्वा	अथर्वा		अग्निः १०	वायुः १००	आदित्यः १०००
०	१	१०		ऋक्	यजुः	सामः
आपः	आपः	आपः		आपः	आपः	आपः
भृगुः	भृगुः	भृगुः		अङ्गिराः	अङ्गिराः	अङ्गिराः
आपः	वायुः-हंसः	सोमः		अग्निः	वायुः-यमः	आदित्यः
०	१	२		२	३	४
विकासाभावः	प्रथमोविकासः	द्वितीयोविकासः		द्वितीयोविकासः	तृतीयोविकासः	चतुर्थोविकासः
०	१	१०		१०	१००	१०००
ऋणम् ०	ऋणम् १	ऋणम् १		धनम् १	धनम् १	धनम् ०
०	०	६		२१	१०१	१०००

ङ—

१	१०	१०	१०	१००	१०००	विकासो वास्तविकः
सोमः	सोमः	सोमः	अग्निः	अग्निः	अग्निः	
ऋणम्	ऋणम्	ऋणम्–धनम्		धनम्	धनम्	
०	६	२१		१०१	१०००	विकासफलम्
	अथर्ववेद-शाखाः	ऋग्वेदशाखाः		यजुर्वेदशाखाः	सामवेदशाखाः	वेदब्रह्मशाखाः
आपः	वायुः	सोमः–अग्निः		यमः	आदित्यः	परब्रह्मशाखाः
१	१०	१०–१०		१००	१०००	
ऋणम् १	ऋणम् १	धनम् १		धनम् १	न ऋणं, न धनम्	

च—

	आपः	वायुः	सोमः	सोमाग्नी	वायुः	आदित्यः	
		अथर्वा	अथर्वा	ऋक्	यजुः	साम	
वाग्-आपः-अग्निः-इति त्रितयमर्थतन्त्रम्	आपः	आपः	आपः	आपः	आपः	आपः	तत्रायमापोभाग उद्गीथः
अपां द्वैभाव्यम्–भृगुः, अङ्गिराः	भृगुः	भृगुः	भृगुः	अङ्गिराः	अङ्गिरा	अङ्गिरा	उद्गीथस्याद्यश्चरो-भृगुः, ऊर्ध्वश्चरो-ऽङ्गिराः
अपांविकासक्रमसि-द्धानिरूपाणि	आपः	वायुर्हंसः	सोमः	अग्निः	वायुर्मयः	आदित्यः	
विकाससङ्केताः	०	१	२	२	३	४	
विकासोदर्काः	विकासा-भावः	प्रथमो-विकासः	द्वितीयो-विकासः	द्वितीयो-विकासः	तृतीयो-विकासः	चतुर्थो-विकासः	
विकासमात्राः	०	१	१०	१०–१०	१००	१०००	
सोमाग्निप्रकृतिभावाः	ऋणम्	ऋणम्	ऋणम्	धनम्	धनम्	धनम्	
ऋणधनस्थानानि	०	०	१	१	१	०	
विकाससिद्धा वेद–शाखाः	०	०	६	२१	१०१	१०००	

श्री:

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-द्वितीयखण्डान्तर्गत

'अग्निविकासरहस्य, और वेदशाखाविभाग' नामक

पञ्चमस्तम्भ—उपरत

५

श्रीः

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-द्वितीयखण्डान्तर्गत

शास्त्रीय–वचनाक्षरार्थसमन्वयात्मक

*परिशिष्ट-विभाग

——*——

श्री :

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका–द्वितीयखण्डान्तर्गत–शास्त्रीय–वचनाक्षरार्थसमन्वयात्मक

❋ परिशिष्ट-विभाग

——❀——

(१)–नि षु सीद गणपते ! (पृ० सं० १)—

हे गणपते ! आप गणों में (मरुद्गणों में, तथा स्तोतृगणों में) विराजिए । क्योंकि (विद्वद्गण) आप को ही कवियों में श्रेष्ठतम मेधावी समझते हैं । अपिच (हे गणपते !) आप के (अनुग्रह के) बिना लौकिक, अथवा वैदिक, कोई भी कर्म्म सुसम्पन्न नहीं हो सकता (इसलिए प्रत्येक कर्म्म के आरम्भ में आपका प्रथमस्मरण अनिवार्य्यरूप से अपेक्षित है) । हे महनीय गणपते ! आग्नेय त्रिवृत (९), वायव्य पञ्चदश (१५), दिव्य आहवनीयात्मक सप्तदश (१७), आदित्य एकविंश (२१), भास्वरसोमानुगत त्रिणव (२७), तथा दिक्सोमानुगत त्रयस्त्रिंश (३३), इत्यादि विविध वाङ्मय स्तोमों से युक्त, अतएव आर्षप्रज्ञानिष्ठों की दृष्टि से उपयोगी जो यह वाङ्मय स्तोम है, उसे आप निर्विघ्न सुसम्पन्न बनाने का अनुग्रह करेंगे, यही हमारी प्रारम्भिक मङ्गलकामना है ।

—ऋक्सं० १०।११२।९।

(२)–एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः० (पृ० सं० १)—

एक ही प्राणाग्नि अपने विभूतिभाव से अनेकरूपों से प्रज्ज्वलित हो रहा है । एक ही सूर्य्य अपने विष्कम्भ-परिणाह-एवं हृद्य-भावानुबन्धी मूर्त्ति-मण्डल-पुरुष-रूप से सम्पूर्ण विश्व में अभिव्याप्त हो रहा है । एक ही (अश्वमेध की मेध्यशिरोभूता) उषा सम्वत्सरात्मक कालचक्र के परिवर्त्तन के अनुपात से सम्पूर्ण त्रैलोक्य में प्रतिभासित है । एक ही तो ब्रह्म 'इदं' रूपेण प्रतीयमान इस सर्व-प्रपञ्च में विभूति-लक्षण विवर्त्तभाव से अभिव्याप्त है ।

—ऋक्सं० ८।५८।५८।२।

(३)–वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे० (पृ १)—

(१)–"आठ (८) वसु, ग्यारह (११) रुद्र, बारह (१२) आदित्य, दो (२) अश्विनीकुमार, इसप्रकार ३३ अवान्तर विभागों में विभक्त (१)–यज्ञियदेवता, (२)–सौम्य देवता, (३)–कर्म्मदेवता, (४)–आत्मदेवता, (५)–अभिमानीदेवता, (६)–पुरुषविध चेतन (मनुष्य) देवता, (७)–मन्त्रदेवता, (८)–चन्द्रदेवता, ये अष्टविध सम्पूर्ण देवता एकमात्र वाक्तत्त्व को आधार बना कर ही स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित हैं,

(अर्थात्-'देवपात्रं वा यदेष वषट्कारः' इत्यादि श्रुति के अनुसार वाङ्मय वषट्कार ही इन सम्पूर्ण देवताओं की आधारभूमि है)। सप्तविंशति (२७) गन्धर्व्व, पुरुष-अश्व-गौ-अवि-अज, भेद से पञ्चधा विभक्त (५) पशु, अण्डज-पिण्डज-स्वेदज-उद्भिज्ज-भेदभिन्न चतुर्विध (४) मनु, ये सब (भी) वाक्तत्त्व को आधार बना कर ही उपजीवित हैं। रोदसी-क्रन्दसी-एवं संयती नामक त्रैलोक्यत्रिलोकीरूप भूः-भुवः-स्वः-महः-जनत्-तपः-सत्यम्-इन सात लोकों की समष्टिरूप सम्पूर्ण भुवन (लोक) वाक्सूत्र में हीं प्रोत हैं। इसप्रकार देवता-गन्धर्व्व-पशु-मनु-लोक-आदि रूप से जो वाग्देवी-'अथो वागेवेदं सर्वम्' के अनुसार सर्वत्र व्याप्त हो रही है, 'इन्द्रपत्नी' नाम से प्रसिद्धा वह वाग्देवी (वेदवाङ्मय प्रस्तुत ग्रन्थानुष्ठान में) हमारी प्रार्थना सुने।

—तैत्तिरीयब्राह्मण २।८।८।४।

(४)—वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य (पृ० सं० १)—

"अक्षरमिति-(१-अ-२-क्ष-३-रम्-इति) = त्र्यक्षरम्" (ताण्ड्यब्रा० १०।५।१०)—"वाक्-इत्येकाक्षरम्"—"एकाक्षरा वै वाक्" इत्यादि श्रौत सिद्धान्तों के अनुसार वाग्रूप एकाक्षरब्रह्म, किंवा एकाक्षररूप वाग्ब्रह्म ऋत (प्राण) तत्त्व से सर्वप्रथम समुद्भूत होने के कारण 'ऋतस्य प्रथमजा' नाम से प्रसिद्ध है। ऋत की प्रथमजा यह स्वायम्भुवी वाग्देवी सहस्रधा-महिमानः-सहस्रलक्षण अनन्त वेदों की जननी है, अमृत (पारमेष्ठ्य सोम) की उद्गमभूमि है। ऐसी यह वाग्देवी अमृतवर्षण करती हुई हमारे इस वाङ्मय यज्ञ में पधारे। अपिच (अपने 'आम्भृणी' रूप अर्थस्वरूप से) हमारी रक्षा करने वाली यह वाग्देवी हमारी यह वाङ्मयी प्रार्थना सुनने का अनुग्रह करे।

—तैत्तिरीय ब्राह्मण २।८।८।८।

(५)—यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्व्वम्० (पृ० सं० १)—

(पञ्चकल 'आत्मक्षर' नाम की अपराप्रकृति से, एवं पञ्चकल 'अक्षर' नाम की पराप्रकृति से नित्य संश्लिष्ट पञ्चकल, निष्कल परात्पराभिन्न) जो अव्ययपुरुष (षोडशीप्रजापति) प्राणप्रकृतिक अव्यक्त-स्वयम्भू ब्रह्मा को (सर्वप्रथम) स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित करता है, जो अव्ययब्रह्म इस स्वयम्भूब्रह्म के लिए ऋक्-यत्-जू-साम-लक्षण ब्रह्मनिःश्वसित (तत्त्वात्मक) नित्यकूटस्थ अपौरुषेय वेदों को प्रदान करता हैं, (मानवीय आत्मा-बुद्धि-मनः-शरीर-इन चारों पर्वों में से पुरुषानुगत) आत्मा, तथा बुद्धि-इन दो पर्वों को स्वज्ञानज्योति से ज्योतिष्मान् बनाए रखने वाले इत्थंभूत विश्वाधार-सर्वाधार-(वेदैकवेद्य) उस अव्ययात्म-देव को फलासक्तिकामनाबन्धनविमोकलक्षणा मुक्ति की कामना से मैं सर्वतोभावेन आत्मसमर्पण कर रहा हूँ।

—श्वेताश्वतरोपनिषत् ६।१८।

(६)—अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते० (पृ० सं० १)—

ब्रह्मनिःश्वसित वेदमूर्त्ति स्वायम्भुव प्राणाग्निदेव (विश्वनिर्म्माण के लिए) जग पड़े हैं (व्यक्तभाव में परिणत हो गए हैं)। ऐसे जागरूक प्राणाग्नि (ब्रह्माग्नि-वेदाग्नि) की ऋचाएँ सतत कामना कर रहीं

है। अग्निदेव जग पड़े हैं, मण्डलात्मक साम इन जागरूक अग्निदेव के अनुगत हो गए हैं। अग्निदेव जग पड़े हैं। ऐसे जागरूक (यजुर्म्मूर्त्ति ऋक्साममय) इन अन्नादभूत अग्निदेव से अन्नात्मक सोमदेवता यह आवेदन कर रहे हैं कि, हे जागरूक अन्नादाग्ने ! मैं आपका न्योक (निम्न-कक्षा-छोटी श्रेणि में प्रतिष्ठित रहने वाला) मित्र हूँ।

—ऋक्सं० ५।४४।१५।

(७)-सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था० (पृ० सं० १)-

(ऋक्सामयजुर्भावों के सहस्ररश्मिरूप से वितत होने के कारण 'सहस्र' नाम से प्रसिद्ध वेदप्रजापति के) * पञ्चदशस्तोमात्मक उक्थ (नभ्यभाव) सहस्ररूप से ही परितः वितत हो रहे हैं। जिस पारावतपृष्ठ पर्य्यन्त संयतीत्रैलोक्य का द्यावापृथिवीमण्डल व्याप्त है, तत्सीमापर्य्यन्त ही यह सहस्रोक्थमूर्त्ति वेदप्रजापति व्याप्त है। केवल एक सहस्रभाव पर ही इसका स्वरूपावसान नहीं है। अपितु ऋक्सामों के अर्कात्मक व्यूहन से सम्बन्ध रखनें वालीं प्रतिफलनपरम्परम्पराओं से चारों ओर सहस्र के सहस्रधा महिमात्मक वितान हो जाते हैं। जिस पारावतपृष्ठ-सीमापर्य्यन्त स्वयम्भू ब्रह्म विशेषरूपेण अवस्थित हैं, लोक-वेद-साहस्री से समन्विता यह वाक्-साहस्री उस सीमापर्य्यन्त व्याप्त है। 'किं तत् सहस्रमिति?-इमे लोकाः, इमे वेदाः, अथो वागिति ब्रूयात्' इत्यादि श्रुत्यन्तर से अनुप्राणिता लोक-वेद-वाक्-साहस्रियों का महिमात्मक सहस्रधा-सहस्र-वितान ही तो तत्त्वात्मक वेद का वास्तविक स्वरूप है, जिसका प्रस्तुत खण्ड में दिग्दर्शन कराया गया है।

—ऋक्सं० १०।११४।८।

८-ओष्ठापिधाना नकुली० (पृ० सं० १)—

वैदिक-लौकिक-रूप सम्पूर्ण वाग्विवर्त्तों पर शासन करने वाली आम्भृणी-वाग्गर्भिता औपनिषद-सिद्धान्तरूपा पारमेष्ठिनी सरस्वती × वाग्देवी मेरे मुख से अनुद्वेगकरी-अर्थगभीरा-शिष्टजनसम्मता-शोभना वैखरीवाणी का ही उच्चारण कराने का अनुग्रह करें। इत्थंभूता वाग्देवी ओष्ठपुटद्वयरूप सीमाभाव से सुरक्षित है। वज्रवत्-घनीभूत, अतएव विस्पष्टाक्षर-वर्ण-पद-वाक्यादि के प्रयोग में सर्वथा समर्थ-दन्तपङ्क्ति से घिरी हुई है। तात्पर्य्य-प्राणमयी वाग्देवी से प्रेरिता मेरी वाक् विस्पष्ट, एवं सारार्थवती ही प्रमाणित हो।

—ऐतरेय आरण्यक ३।२।५।

---

* 'अन्तर्य्यामाद्ग्रहात्-पञ्चदशस्तोमं निरमिमीत'।

—शत० ८।१।१।८।

×—सिद्धान्तमौपनिषदं, शुद्धान्तं परमेष्ठिनः।
शोणाधरमहः किञ्चिद्-वीणाधरमुपास्महे ॥

—लघुपाराशरी

(९)-स योऽयं मध्ये प्राणः० (पृ० सं० ३)—

सो जो कि सप्तपुरुषपुरुषात्मक इन सप्तर्षिलक्षण चित्य प्राणों में मध्य में-केन्द्र में-प्रतिष्ठित प्राण है, वही इन्द्र है। अपने ऐन्द्रियक (रश्मिरूप) वीर्य्य से यह मध्यस्थ प्राण इतर प्राणों को अपने केन्द्र-स्थान से प्रज्ज्वलित करता है। सो जो कि, यह प्राणों का समिन्धन करता है, अतएव इसे 'इन्ध' कहा जा सकता है, जो कि-'इन्ध' शब्द ही देवताओं की परोक्षभाषा में 'इन्द्र' नाम से प्रसिद्ध है।

—शतपथ ब्राह्मण ६।१।१।२।

(१०)-स यदस्य सर्वस्य० (पृ० सं० ३)—

सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति ने क्योंकि इस तत्त्व को सम्पूर्ण सृष्टिसर्ग के सब से पहिले उत्पन्न किया, अतएव यह तत्त्व 'अग्रि' कहलाया। इस 'अग्रि' (अग्र-प्रथम उत्पन्न) तत्त्व को ही परोक्षभाषा में 'अग्नि' कहा गया है।

—शतपथ ब्राह्मण ६।१।१।११।

(११)—स समुद्रात्--अमुच्यत० (पृ० सं० ३)—

वह (आपोमय बन्धनपाशप्रवर्त्तक) तत्त्व पारमेष्ठ्य समुद्र से ही मुक्त हुआ, प्रवर्ग्यरूप से पारमेष्ठ्य मण्डल से पृथक् हुआ। इस मुञ्चनभाव से ही यह तत्त्व 'मुच्यु' कहलाया। उस इस तत्त्व को 'मुच्यु' कहने के स्थान में परोक्षभाषा में 'मृत्यु' कहा गया। क्योंकि देवता (सत्त्वगुणानुगत परोक्ष आत्मनिष्ठ विद्वान्) परोक्ष के तो प्रेमी होते हैं, एवं पराभव के हेतुभूत प्रत्यक्ष के शत्रु बने रहते हैं।

—गोपथब्रा० पू० १।७।

(१२)—आपः यच्च वृत्त्वा० (पृ० सं० ४)—

इन पारमेष्ठ्य पानियों (अम्भः-नामक प्राणात्मक आपः) नें सम्पूर्ण भुवनों का संवरण कर उन पर अधिकार प्राप्त कर लिया। अतएव इस संवरणधर्म्म से ही इत्थंभूत आपः-तत्त्व 'वरण' कहलाया। उस इस तत्त्व को 'वरण' कहने के स्थान में परोक्षभाषा से 'वरुण' कहा गया।

—गोपथब्रा० पू० १।७।

(१३)—स यः स वैश्वानरः० (पृ० सं० ४)—

सो जो कि वह वैश्वानर है, ये ही लोक (लोकात्मक अग्नित्रय) वह वैश्वानर है। महापृथिवी का त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न यह पृथिवीलोक ही पहिला विश्व है। इसका नर (नायक-अतिष्ठावा-अधिष्ठाता) ध्रुवावस्थापन्न (घनावस्थापन्न) 'अग्नि' नामक अग्नि ही है। पञ्चदश स्तोमावच्छिन्न यह अन्तरिक्ष लोक ही दूसरा विश्व है। इसका नर धर्त्रावस्थापन्न (तरलावस्थापन्न) 'वायु' नामक अग्नि ही है। एवं एकविंशस्तोमावच्छिन्न यह द्युलोक ही तीसरा विश्व है। इसका नर धरुणावस्थापन्न (विरलावस्थापन्न) 'आदित्य' नामक अग्नि ही है। पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यु-इन तीनों विश्वों के अग्नि-वायु-आदित्य-इन

तीन नरों के पारस्परिक संघर्षात्मक सहोत्बल से उत्पन्न तापधर्म्मा त्रैलोक्य व्यापक (**वैश्वानरो यतते सूर्य्येण, आ यो द्यां भात्यापृथिवीम्**) यौगिक अग्नि ही **'वैश्वानर'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

—शत० ब्रा० ६।३।१।३।

(१४)—वाग्वै बृहती० (पृ० सं० ४)—

अव्यक्त स्वयम्भू की वेदवाक् से समुद्भूता पारमेष्ठिनी सोमप्राणमयी सरस्वतीवाक् से अभिन्ना 'वेकुरावाक्' नाम की वाक् ही बृहतसूर्य्य की जननी बनती हुई 'बृहती' नाम से प्रसिद्ध है। **'बृहस्पतिः पूर्वेषामुत्तमो भवति, इन्द्र उत्तरेषां प्रथमः'** के अनुसार सौरमण्डल के ऊर्ध्व भाग में, एवं पारमेष्ठ्य मण्डल के अन्त में प्रतिष्ठित वाजपेययज्ञ का प्रवर्त्तक पारमेष्ठ्य उपग्रह ही इस पारमेष्ठ्य-वाक्तत्त्व का प्रवर्त्तकरूप पति है। इसीलिए यह 'बृहस्पति' (बृहतीवाक् का पति) कहलाया है, जो कि यह बृहस्पति सौरमण्डल के ग्रहभूत देवसेनाधिपति बृहस्पति से, तथा लुब्धकबन्धु नामक नाक्षत्रिक बृहस्पति से सर्वथा विभिन्न तत्त्व माना गया है।

—शत० ब्रा० १४।४।१।२२।

(१५)–सह हैवेमावग्रे लोकावासतुः (पृ० सं० ४)–

इस निगम के समन्वय के लिए हमें पार्थिवसृष्टि के उस आरम्भ की दशा को लक्ष्य बनाना पड़ेगा, जिस अवस्था में कि पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौ–आदि लोकों का विभाजन नहीं हुआ था। अपितु **'समन्तिकमिव ह वाऽइमेऽग्रे लोका आसुः। इत्युन्मृश्या हैव द्यौरास'** (शत०ब्रा० १।४।१।२२) के अनुसार भूः-अन्तरिक्ष-द्यौ-तीनों लोक समन्तिक बने हुए थे, एक दूसरे के अत्यन्त सन्निकट-एकीभूत से ही थे। द्युलोक मानो हाथ से ही छू लिया जा सकता था। यह वह अवस्था थी, जबकि भूपिण्ड का मूल उत्पादक अप्तत्त्व (**अद्भ्यः पृथिवी-** तै० उप०) फेन–मृद्–भावमात्र का अनुगामी बन पाया था। फलस्वरूप पृथिवी (भूः) उस समय सर्वथा काल्वालीकृता (कादाकीचयुक्त–प्रतिष्ठाशून्य–भाव) थी, जबकि न ओषधियाँ उत्पन्न हुईं थीं, न वनस्पतियाँ- (**'काल्वालीकृता हैव तर्हि पृथिव्यास। नोषधय आसुः, नव नस्पतयः। तदेवास्य मनस्यास'** शत० ब्रा० २।२।४।३।)। तदित्थं लोकाभिव्यक्तित्व से पूर्व की ऐसी अवस्था थी, जिसे लक्ष्य बना कर ही **'सह हैवाग्रे'** इत्यादि वचन प्रवृत्त हुआ है।

श्रुति कहती है कि—"आरम्भदशा में तीनों लोक एक साथ ही विद्यमान थे, अर्थात् तीनों एकाकार बने हुए थे। कालान्तर में घनता का आविर्भाव हुआ, एमूषवराह नामक भूवायु से पार्थिव मृत्परमाणुओं का संघटन–संवरण हुआ। परिणामस्वरूप पृथिवी, और द्यौः–इन दो पृथक् लोकों का व्यवच्छेद हो गया। पृथक् पृथक् रूप से वितत इन दोनों लोकों के मध्य का जो आकाश प्रदेश था, वही 'अन्तरिक्ष' रूप में परिणत हो गया (एवं यही तीसरा मध्यलोक कहलाया)। दोनों के मध्य में यह आकाशलोक 'देखा' गया। अतएव उस आरम्भदशा में इसका इस मध्ये–ईक्षण से विद्वानों नें 'ईक्षम्' नाम कर दिया। दोनों लोकों के अन्तर्भाग (मध्यभाग) में क्योंकि इसका ईक्षण हुआ, अतएव आगे जाकर यही 'ईक्षम्' 'अन्तरीक्षम्' नाम से प्रसिद्ध हो गया, जो कि शब्द आज लोक में 'अन्तरिक्ष' नाम से प्रसिद्ध है।

—शत० ब्रा० ७।१।२।२३।

(१६)—स ऐक्षत प्रजापतिः० (पृ० सं० ४)—

सौर सावित्राग्निरूप हिरण्यगर्भप्रजापति ने देखा कि, मैंने जो कि अपने प्राणाग्नि के प्रवर्ग्यभाग से अग्नि-वायु-आदित्य-इन तीन त्रैलोक्य-प्राणदेवताओं को उत्पन्न कर दिया, अतएव मैं सर्वात्मना क्षीण हो गया (इस निर्म्माण से)। इसी सर्वत्याग से प्रजापति 'सर्वत्सर' नाम से प्रसिद्ध हो गए, जो कि 'सर्वत्सर' शब्द ही आज 'सम्वत्सर' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है।

—शत० ब्रा० ११।१।६।१२।

(१७)—सम्पूषन् विदुषा नय० (पृ० सं० ६)—

हे पृथिवी प्रतिष्ठारूप पूषा देवता ! आप हमें उस तत्त्वज्ञ विद्वान् की शरण में ले चलिए, जो हमें सर्वथा सरलपद्धति से अपने अनुशासन में ले लेता है। एवं जो—ऐसा भी हो सकता है-वैसा भी हो सकता है-इसप्रकार सन्देह में न डाल कर-'ऐसा ही है' इस निश्चित सिद्धान्त से समन्वित कर देता है। (१)

हम पुष्टिप्रवर्त्तक, अतएव 'पूषन्' नाम से प्रसिद्ध उस पार्थिव देवता (के अनुग्रह) से समन्वित हो रहे हैं, जो भूतप्रतिष्ठा के आधारभूत हमारे गृहों का अनुशासन करता है। जो कि हमें 'ये प्रतिष्ठानस्थान हीं तुह्मारी प्रतिष्ठा हैं', हमारा इसप्रकार पार्थिव प्रतिष्ठाभावों से उद्बोधन कराते रहते हैं। (२)

इत्थंभूत पार्थिव पूषा देवता का नियति-लक्षण व्यवस्थातन्त्र कदापि नष्ट नहीं होता है। इस तन्त्रात्मक चक्र का मूलप्रतिष्ठात्मक कोश (केन्द्रप्रतिष्ठा) कभी क्षीण नहीं होता। इसका सुतीक्ष्ण तेज कभी कुण्ठित नहीं होता है। (अपितु यह सदा केन्द्रबलानुगति से हम पार्थिव प्रजाओं का अपने पुष्टिगुण से संरक्षण करता रहता है। (३)।

—ऋक् सं० ६।५४।१,२,३।

(१८)—भरद्वाजो ह वै त्रिभिरायुर्भिः० (पृ० सं. १३)—

सुप्रसिद्ध वेदस्वाध्यायनिष्ठ महर्षि भरद्वाज शत-शत-शत-रूप से अपने तीन आयुर्भोगकालों से वेद-स्वाध्याय में तल्लीन बने रहे। अपनी अन्तिम अवस्था में जबकि भरद्वाज सर्वथा श्लथ-वृद्ध-खट्वारूढवत्-बन गए थे-(इनके स्वाध्यायरूप तप से प्रसन्न हो कर अभिमानीभावानुगत) इन्द्रदेवता पधारे, और भरद्वाज को सम्बोधन कर कहने लगे कि, हे भरद्वाज ! यदि हम तुम्हें चतुर्थ आयु और प्रदान कर दें, तो तुम इस आयु का उपयोग किसमें करोगे ?। भरद्वाज कहने लगे कि, भगवन् ! मैं तो उसका भी वेदस्वाध्याय में हीं उपयोग करूँगा। इन्द्र ने भरद्वाज के इस उत्तर से मन ही मन सन्तुष्ट होते हुए वेद की अनन्तता के प्रति भरद्वाज का ध्यान आकर्षित करते हुए भरद्वाज को सर्वथा अविज्ञात पर्वताकार तीन वेदस्तूपों को दिखलाया। और फिर इन तीनों पर्वतों में से एक एक मुष्टिभर (मुट्ठीभर) तत्त्व इन्द्र ने ले लिया, एवं इन्हें लक्ष्य बना कर भरद्वाज से कहने लगे कि—भरद्वाज ! इधर देखो ! (जानते हो मेरी मुट्ठियों में क्या है ?)। ये हैं वेद। तुमनें अपने विगत तीन आयुर्भोगकालों में (३०० वर्षों में) तीन मुट्ठीभर ही वेद ले पाया है। अभी तो इतनी अनन्त राशि जानने के लिए शेष है, जिनका तो तुमनें अभी तक स्पर्श भी नहीं किया है। इसीलिए तो वेदों को अनन्त कहा गया है।

—तैत्तिरीय ब्रा० ३।१०।११।

(१६)–एहि ! इमं विद्धि० (ब्र० सं०–१४)–

(पर्वताकारस्तूप-प्रदर्शन के माध्यम से वेदों की अनन्तता, एवं तन्मूला अविज्ञेयता का दिग्दर्शन कराने के पश्चात् सावित्राग्नि के माध्यम से वेदों की विज्ञेयता का दिग्दर्शन कराते हुए आगे चल कर इन्द्र भरद्वाज से कह रहे हैं कि)–हे भरद्वाज ! आओ, देखो इधर। तुम इस तत्त्व को (सावित्राग्नि को) समझो, और यह समझो कि कि, यही 'सर्वविद्या' (अनन्तविद्या की प्रतीकभूता) है। यह उपक्रम करते हुए इन्द्र नें भरद्वाज के लिए सावित्राग्नि का ही स्वरूप विस्पष्ट किया। इसे जान कर, तन्माध्यम से अमृतसम्पत्ति (प्राणस्वरूपपरिज्ञान) प्राप्त कर भरद्वाज स्वर्लोक गमन कर गए, एवं वहाँ सावित्राग्निमूलक आदित्य (दिव्य इन्द्रप्राण) के साथ सामुज्यभाव ग्राप्त कर लिया। जो विद्वान् सावित्राग्नि के इस रहस्यपूर्ण प्राणस्वरूप को जान लेता है, वह भी प्राणात्मक बनता हुआ भरद्वाजवत् स्वर्गमन करता हुआ आदित्य के साथ सामुज्यभाव प्राप्त कर लेता है। (१)।

इन्द्र ने जिस सावित्राग्नि का स्वरूपविश्लेषण किया था, वह यह त्रयीविद्या ही तो है। जो इस त्रयीविद्यात्मिका सावित्राग्निविद्या को जान लेता है, वह उतनें (तीनों) लोकों को अपनें अधिकार में कर लेता है, जितनें कि लोक सावित्राग्निमयी त्रयीविद्या (सूर्य्यात्मिका गायत्रीमात्रिकवेदविद्या) से अनुशासित हैं। (२)।

सर्वविद्या, त्रयीविद्या, अमृतभाव, आदित्य, सावित्रतत्त्व, इत्यादि सब सौर सावित्राग्नि के ही तो (विभिन्न अवस्थानुगत) विभिन्न नाम हैं। तरलावस्थापन्न अग्नि ही तो प्राणवायु है। अतएव ये सब नाम वायु के भी मानें जासकते हैं। विरलावस्थापन्न अग्नि ही इन्द्र, किंवा आदित्य है। अतएव ये सब नाम इन्द्र के भी मानें जासकते हैं। सौर इन्द्रसीमा से संलग्न पारमेष्ठ्य बृहतीपति बृहस्पति का विकास ही तो बृहत् सूर्य्य में इन्द्ररूप से हुआ है। अतएव ये सब नाम पारमेष्ठ्य बृहस्पति के भी माने जासकते हैं। स्वयं परमेष्ठी प्रजापति ही तो अपनी आम्भृणीवाक् से समन्विता स्वरस्वतीवाक् के द्वारा वाक्पति बृहस्पति के रूप में परिणत हो रहे हैं। अतएव ये सब नाम प्रजापति के भी माने जासकते हैं। और सर्वान्त में ब्रह्मनिःश्वसित वेदमूर्त्ति अव्यक्त स्वयम्भू ब्रह्म ही तो–'**सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्**' इत्यादि के अनुसार आपोमय परमेष्ठी–प्रजापति के रूप में परिणत होरहा है। अतएव सर्वान्त में ये सब नाम ब्रह्म (स्वयम्भू) के मानें जासकते हैं। (यही तो सावित्राग्निमूला ब्रह्मान्ता अनन्तवेदमहिमा है, जिसका सावित्राग्निमाध्यम से महर्षि तित्तिरि ने स्पष्टीकरण किया है)। (३)।

अनन्तवेद का प्रतीकभूत यह अग्नि पक्ष–पुच्छ–भावों से (तद्रूप–मर्त्य–भौतिक चित्यभावों से) सर्वथा पृथक् वायु (प्राण) ही है। ऋतरूप से सौरमण्डल में व्याप्त यही प्राणाग्नि इस वेदप्रतीकभूत तत्त्व का 'मुख' है, एवं नभ्यभावात्मक स्वयं केन्द्रस्थ उक्थात्मक आदित्य (इन्द्र) शिर है। उक्थात्मक इन्द्ररूप आदित्य), एवं अर्कात्मक प्राणवायुरूप मुख, इन्हीं दोनों अग्निरूपों से वे सब इतर प्राण, तथा भूत ओतप्रोत हैं, जो इन दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित हैं। इसी 'सीव्यन' से प्राणवायु–आदित्याग्नि की समष्टि 'सावित्र' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। (४)

—तै०ब्रा० ३।३।२१।

(२०)—वनस्पते शतवल्शो विरोह० (पृ० सं० २३)—

यज्ञिय कर्म्मकाण्ड में परिगृहीत 'यूप' को लक्ष्य बना कर प्रतीकविधा से इसके माध्यम से षोडशीप्रजापतिरूप ब्रह्माश्वत्थ को लक्ष्य बनाते हुए ऋषि कह रहे हैं कि, हे वनस्पते ! आप अपनी सैकड़ों (पूर्ण) शाखाओं से वितान कीजिए। हम भी आपके वितान के साथ साथ सहस्त्रशाखारूप में (अनन्तरूप से) वितानभाव प्राप्त करें। हे वनस्पते ! सुतीक्ष्ण सौर सावित्राग्नि के तक्षणकर्म्म से ही इस यज्ञरूप महत्सौभाग्य की प्राप्ति के लिए आपको इस यज्ञ में हमनें यूपात्मक स्थाणु मूलप्रतिष्ठा) रूप में परिणत किया है।

—ऋक्सं० ३।८।११।

(२१)—गौरीर्मिमाय सलिलानि० (पृ०सं० २४)—

देखिए-उपनिषद्भूमिका तृतीयखण्ड—४४-४५ पृष्ठ

(२२)—शतब्रध्न इषुस्तव० (पृ०सं० २४)—

हे (अश्वत्थकेन्द्रस्थ) इन्द्र ! आपका यह इषु (रश्मिरूप बाण) शतभाव से वितत हो, सहस्त्र पर्णात्मक बने। आप इस शत-सहस्त्ररूप इषु से युद्धकर्म्म में असुरों को परास्त करते हैं। एक-दश-शत-सहस्त्र-रूप रश्मिभावों का ही वेदमहिमारूप में वितान होता है। यही रश्मिरूप वह सहस्त्रधा-महिमान-सहस्त्र सम्वत्सर-मण्डल है, जिसमें असुर प्रवेश नहीं कर पाते, यही रहस्यदिशा है।

—ऋक्सं० ८।६६।७।

(२३)—सहस्त्रधा पञ्चदशान्युक्था० (पृ०सं० २४)—

—देखिए उपनिषद्भूमिका द्वितीय खण्ड—परिशिष्टविभागानुगता पृ०सं० ५

(२४)—असद्वा इदमग्र आसीत्० (पृ०सं०२४)—

वर्त्तमान सृष्टिदशा में 'इदं' रूपेण (अङ्गुली-निर्देशरूपेण) जो कुछ आज हमें प्रतीत हो रहा है, वह अपनी इस व्यक्त मूर्त्त-सृष्टिदशा से पूर्व 'असत्' ही था। तात्त्विक लोग प्रश्न करते हैं कि, (सृष्टिमूलभूत) वह 'असत्' क्या था ? (अर्थात् असत्-तत्त्व का क्या स्वरूप था ?)। उत्तर देते हैं-ऋषि ही सृष्टि से पूर्व 'असत्' थे। पुनः प्रश्न हुआ-वे ऋषि कौन थे ? (अर्थात् ऋषितत्त्व का क्या स्वरूप था ?)। उत्तर प्राप्त होता है-प्राण ही वे ऋषि थे। वे तत्त्व क्यों कि इस सम्पूर्ण चर-अचर-प्रपञ्च से इसके इसीप्रकार के मूर्त्त-व्यक्त-भौतिक-स्वरूप की इच्छा करते हुए वाग्व्यापाररूप श्रम, तथा प्राणव्यापाररूप तप से गतिशील बनें। अतएव 'अरिषन्' निर्वचन से गतिधर्म्मा वे असत्प्राण 'ऋषि'नाम से प्रसिद्ध हुए।

—शत० ब्रा० ६।१।१।१।

उपरतश्चायं परिशिष्टविभागः

—–❀—–

श्रीः

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-द्वितीयखण्ड

(पञ्चस्तम्भात्मक)

उपरत

प्रीयतामनेन—आमदेवतेति शम्

श्री:

'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थानजयपुर' के तत्त्वावधान से अनुप्राणित
एवं प्राच्यवैदिक साहित्य की ज्ञानविज्ञानपरिपूर्ण परिभाषाओं से समन्वित
राष्ट्रभाषा हिन्दी में उपनिबद्ध

प्रकाशित-ग्रन्थों की सूची

[निबन्धा-मोतीलालशर्म्मा-आङ्गिरसो भारद्वाजः]

ग्रन्थनाम	पृष्ठसंख्या	मूल्य
१—शतपथब्राह्मण हिन्दीविज्ञानभाष्य-प्रथमवर्ष*	४००	१०)
२— ,, -द्वितीयवर्ष*	४००	१०)
३— ,, -तृतीयवर्ष*	४५०	१०)
४— ,, -चतुर्थवर्ष	४७०	१२)
५— ,, -पञ्चमवर्ष	३५०	७)
६—शतपथभाष्य-त्रैवार्षिकी विषयसूची *	१००	२)
७—ईशोपनिषत् हिन्दी-विज्ञानभाष्य प्रथमखण्ड (१)	५००	१२)
८— ,, द्वितीयखण्ड (२)	५००	१२)
९—माण्डूक्योपनिषत् हिन्दी-विज्ञानभाष्य*	६०	१)
१०—गीताविज्ञानभाष्यभूमिका-बहिरङ्गपरीक्षा	५००	१३)
११— ,, -आत्मपरीक्षा	५००	१३)
१२— ,, -ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा*	६००	१५)
१३— ,, -कर्म्मयोगपरीक्षा*	५००	१५)
१४— ,, -बुद्धियोगपरीक्षा-पूर्वखण्ड	७००	२०)

* चिह्नाङ्कित ग्रन्थ परिसमाप्त हैं। पुनः प्रकाशित होने पर ही ये उपलब्ध हो सकेंगे।

१५—उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-प्रथमखण्ड (१)	५००	१२)
१६— ,, -द्वितीयखण्ड (२)	५००	१५)
१७— ,, -तृतीयखण्ड (३)	५००	१५)
१८—श्राद्धविज्ञान-आत्मविज्ञानोपनिषत्-प्रथमखण्ड (१)	५५०	२०)
१९— ,, -सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत्-द्वितीयखण्ड (२)	६००	१५)
२०—भारतीय हिन्दू-मानव, और उसकी भावुकता-प्रथमखण्ड (१)	५५०	१२)

(उद्बोधनात्मक सामयिक निबन्ध)

२१—'वेदस्य सर्वविद्यानिधानत्त्वम्' (संस्कृत निबन्ध)	१००	१)
२२—भारतीय दृष्टिकोण से विज्ञान शब्द का समन्वय	... ...	१॥)
२३—सम्वत्सरमूला अग्नीषोमविद्या	... ...	१)
२४—पञ्चपर्वात्मिका विश्वविद्या	... ...	१)
२५—मानव का स्वरूप-परिचय	... ...	१)
२६—अश्वत्थविद्या का स्वरूप-परिचय	... ...	१)
२७—वेदशास्त्र के साथ पुराणशास्त्र का समन्वय	... ...	१)
२८—वेद का स्वरूप-विचार	... ...	१)
२९—मानवजीवन वर्त्तमान में, और भविष्यत् में	... ...	१)
३०—दशमहाविद्यास्वरूपपरिचय	... ...	१)
३१—रक्षाबन्धन का वैज्ञानिक रहस्य	... ...	१)
३२—दीपावली का वैज्ञानिक रहस्य	... ...	१)
३३—गोपाष्टमी का वैज्ञानिक रहस्य	... ...	१)

एकमात्र प्राप्तिस्थान—

कृष्णचन्द्रशर्म्मा

व्यवस्थापक-प्रकाशनविभाग

'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान'

मानवाश्रमविद्यापीठ

दुर्गापुरा (जयपुर-राजस्थान)

★